

**DUE DATE SLIP****GOVT. COLLEGE, LIBRARY****KOTA (Raj )**

Students can retain library books only for two weeks at the most .

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

भगवत्पतञ्जलि-विरचित

# व्याकरण-महाभाष्य

(प्रथम नवाह्निक)

का

हिन्दी अनुवाद तथा विवरण

अनुवादक व विवरणकार

श्री गान्धिवरितम्, अनुवाद-कला, उपसर्गार्थ-चन्द्रिका, प्रस्तावतरङ्गिणी,  
वाक्यमुक्तावली, व्याकरणचन्द्रोदय, शब्दापशब्दविवेक  
आदि ग्रन्थों के निर्माता तथा वाक्यपदीय के परिष्कर्ता

चारुदेव शास्त्री

एम् ए, एम्

प्रकाशक

श्री मोतीलाल बनारसीदास  
प्राच्यपुरतक-प्रकाशक व विक्रेता  
बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली



प्रकाशक :

श्री मोतीलाल बनारसीदास  
बगला रोड जवाहर नगर, दिल्ली ।

मुद्रक

देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्वर  
विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च  
इन्स्टीच्यूट प्रेस, साधु आश्रम,  
होशियारपुर ।

नमो भगवते पतञ्जलये । नमो गुरुभ्यः ।

प्रकृतकृतिनिपयकाकिञ्चिद्वक्तव्य

महाभाष्य के प्रथम आह्निकत्रय को अनुवाद प्रस्तुत करने हुए मने लिखा था—

‘यह अनुवाद किम लिये हुआ है । इस लिये नहीं कि महाभाष्य का भाषा क्लिष्ट है, दूर व्यवहित अन्वय आदि के कारण दुर्बोध है । भाषा इतनी सरल, सुन्दर तथा मधुर है जितनी कि कभी हो सकती है । वस्तुतः इतने प्रसाद और माधुर्यभरे कुछ ही ग्रन्थ समस्त सस्कृत साहित्य में मिलते हैं । जैसे मीमांसा शास्त्र भाष्य शास्त्र ब्रह्मसूत्र भाष्य, अथवा उपनिषदों के सवाद-स्थल । तो प्रश्न हाता है कि फिर इस हिन्दी अनुवाद की क्या आवश्यकता था ? उत्तर में यही कहना होगा कि भाष्याशय अति गम्भीर है जो अप्रौढवस्था सुकुमारमति छात्रों के लिये प्रायः अगम्य है । प्राचान विवरणकारा कैपट आदि महाविद्वानों के सस्कृत में ।क्य हुए व्याख्यान निद्रय ही आनकल अधिक जटिल प्रतीत होने लगे हैं, विशेषकर उद्घोतकार नागेश का उक्तियाँ दुसह तथा व्यामोहक प्रतीत होती हैं । भाष्य के विषय में भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में किना समर्थ वचन कहा है—

अल्पधागे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्टवात् ।

तस्मिन्नकृतबुद्धिना नैवावास्थित निश्चय ॥

अर्थात् भाष्य में जहाँ अथाह गहराई है वहाँ रचना-सौन्दर्य के कारण अव्यन्त प्राञ्जलता है । इत्यम्भूत भाष्य में असस्कृत (अपरिपक्व) बुद्धिवालों को भाष्य के आशय का निश्चय ज्ञान न हो सका । यदि भर्तृहरि के समय में तथा उनसे पूर्व ऐसी अवस्था थी तो आज यदि भाष्याशय की दुर्बोधता की अनुभूति हो तो क्या आश्चर्य है । अतः हम ने भाषान्तर करते हुए सर्वत्र भाष्याशय को स्पष्ट करने का यत्न किया है । स्थान-स्थान पर भाष्य के पौर्वागम्य की सगति दिखाने के लिये तथा भाष्यकार के अभिप्राय के स्पष्टीकरण के लिये सुविस्तृत टिप्पण दिये हैं । व्याख्येय पदों का अर्थ निर्देश तथा विग्रह आदि भी दिया है । इसी से इस कृति की कृतार्थता है, अन्यथा भाषान्तर मात्र ध्वंश-सा होता । मुझे पूर्ण आशा है, भाग्य-मर्मज्ञ विद्वान् इस का आदर करेंगे और भाष्यार्थ विज्ञानु सस्कृत छात्र इसे दृष्टि से पढ़ कर लाभ उठावेंगे ।’

यह मेरी आशा पूर्ण रूपसे समृद्ध हुई । वरप्रज्ञ विद्वाना ने इस कृति का मविशेष समादर किया । छात्रवर्ग में इस का प्रचुर प्रचार हुआ । इस से मुझे प्रेरणा मिली कि मैं इस अनुवादकार्य को आगे बढाऊँ । प्रकाशक



महोदय धेन्डी श्री सुन्दरलाल जी से पर्याप्त प्रवर्तना प्राप्त हुई जिस से पराङ्मुख रहना मेरे लिये दुष्कर हो गया । सो मैंने आग बडने का निश्चय किया और अगले छ आहिकों पर कार्य प्रारम्भ किया । कार्यान्तर व्यासङ्ग के कारण यह कार्य ४ वर्ष के पश्चात् सन् १९६६ में समाप्त हुआ । दो वर्ष इस के मुद्रण में लगे । प्रथम तीन आहिकों का फिर से पर्याप्त परिष्करण किया गया । भाव-प्रदर्शनार्थ अनेक नये टिप्पण दिये गये । अगले छ आहिकों की सप्रपञ्च विराद व्याख्या की गई । विस्तीर्णता का इतने से अनुमान हो सकता है कि नौ आहिकों की यह व्याख्या  $\frac{१८ \times २२}{८}$  परिमाण के ७४३ पृष्ठों में परिपूर्ण हुई है । जहाँ भाष्यस्थ पद-वाक्यों का यथेष्ट विशकलन किया है वहीं कैपट तथा नागेश की उक्तियों का भी परिस्पष्ट विवेचन किया है । यथासभव कोई भी सन्दिग्ध स्थल व्याख्यानानुसृत नहीं छोड़ा है ।

मुझे महान् परितोष है कि मुद्रण अतिसुन्दर तथा परिशुद्ध हुआ है । पाठक जन इसे अत्यन्त रोचक पायेंगे ।

मुद्रित पाठ की जो दुर्लभ परिशुद्धता सिद्ध हुई है उस में मेरे स्नेह-भाजन आयुधमान् प० दुर्नीचन्द्र शास्त्री वि० वै० शोध-पस्थान साधु आश्रम (होश्वारपुर) के अन्यतम साहित्यमशोधक ने जो मेरी सहायता की उमके लिये मैं इनका हृदय से आभारी हूँ । इस निष्कारण प्रणय का एकमात्र निर्वेश मैं इन्हें आशीर्वाद तथा धन्यवाद ही दे सकता हूँ । प० देवदत्त शास्त्री विद्याभास्कर का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने आडैरी प्रूफ का भी सावधानी से पुनः परीक्षण किया ।

मेरा संकल्प है कि इसी शैली से सम्पूर्ण महाभाष्य का अनुवाद तथा विवरण लिखूँ । यदि आयु शेष हुई और जीवन निर्बाध निरातङ्ग रहा तो यह पुण्य कार्य कुछ वर्षों में सिद्ध हो जायगा । यह मित्रि भगवत् रूप और गुहजनों के आशीर्वाद पर निर्भर है, अतः दोनों के लिये प्रार्थना करता हुआ मैं इस वक्तव्य को समाप्त करता हूँ ।

देहली }  
३/१४ रूपनगर । }  
मैशाखी पूर्णिमा, संवत् २००५ }

अनुवादक तथा विवरणकार  
विद्वच्चरणपद्मजचञ्चरीक  
चारुदेव शास्त्री ॥

## अथ शब्दानुशासनम्

अयेतयं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते । शब्दानुशासनं नाम शास्त्र-

अथ शब्दानुशासन (= शब्द शिक्षण-नाम शास्त्र) का प्रारम्भ होता है ।

यहां 'अथ' शब्द प्रारम्भ अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । शब्दानुशासन-नामक

१ व्याकरण-सम्प्रदाय में इसे भाष्यकार का वचन माना जाता है । भाष्य के लक्षण में स्वपदानि च घर्षन्ते ऐसा करने से भाष्यकार इसकी स्वयं व्याख्या करते हैं इसमें कुछ भी असमझत नहीं । पर मनुभाष्यकार मेधातिथि इसे भगवान् पाणिनि के सूत्र ग्रन्थ अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र मानते हैं । उनका कहना है कि—पौरुषेय-प्राप्य ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते । तथा हि भगवान् पाणिनिरनुक्तद्वेष प्रयोजनम् अथ शब्दानुशासनमिति सूत्रसन्दर्भमारभते ( मनु० १।१ ) । काशिकाकार अष्टाध्यायी की व्याख्या में प्रकृत हुए अथ शब्दानुशासनम् को आदि में पढ़ते हैं और इसकी व्याख्या करते हैं । इससे उनके मत में यह सूत्रकार का वचन है ऐसा झलकता है । अन्यदीय वचन से प्रारम्भ करने में कुछ भी औचित्य प्रतीत नहीं होता । किं च । पतञ्जल योगसूत्र का अथ योगानुशासनम् प्रथम सूत्र है, तो अथ शब्दानुशासनम् यह पाणिनीयाष्टक का प्रथम सूत्र क्यों न हो । महा-भाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि एक ही व्यक्ति थे, इसमें ऐतिह्य के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं । वस्तुतः शब्दानुशासन अष्टाध्यायी की मंशा है और इसी बात को भाष्यकार शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम् में नाम शब्द से स्पष्ट कर रहे हैं । अमरसिंह की अमर कृति का नाम भी प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करते हुए नामलिङ्गानुशासन है ।

शब्दानुशासन शब्द में शब्दानामनुशासनं शब्दानुशासनम् यह पठ्ठी समास है । शब्दानाम् यहां कर्म में पठ्ठी है । अनुशासन क्रिया के कर्ता आचार्य पाणिनि स्वतः गम्यमान हैं अतः उन्हें शब्द द्वारा नहीं कहा गया । केवल कर्म का ही प्रयोग किया गया है । कर्ता कर्म दोनों का प्रयोग न होने से उभय प्राप्ति नहीं है, अतः यहां उभयप्राप्ति कर्मणि से पठ्ठी न हो कर कर्तृकर्मणोः कृति से पठ्ठी हुई है । उस में कर्मणि च से पठ्ठी सनास का निषेध न होगा तो इधमप्रवचनः की तरह शब्दानुशासनम् यह समास का रूप शुद्ध बन जायगा ।

२. अथ यह निपात प्रारम्भ अर्थ का द्योतक है । बोधार्थ इसे मंगल अनन्तर, प्रारम्भ, प्रद्वन, कारस्वर्थ ( परिपूर्णता ) इन अर्थों में पढ़ते हैं । पर

मधिरुतं वेदितव्यम् । केपां' शब्दानाम् । लौकिकानां वैदिकानां च ।  
लौकिकैस्तावत्—गोरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः  
खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये (अ सं. १, १, १), इषे त्वोर्जे त्वा (तं. सं. १, १,  
१, १), अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ १, १, १), अग्न आयाहि वीतय (सा. स. १,  
१, १) इति ।

शास्त्र (यहा से) प्रारम्भ होता है ऐसा जानना चाहिए ।

कितन शब्दों का अनुशासन ? लौकिक और वैदिक—इन दोनों प्रकार के  
शब्दों का । लौकिक शब्द जैसे—गौ, भइयः, पुरयः, हस्ती, शकुनिः (=पक्षी),  
मृगः, ब्राह्मण । वैदिक भी जैसे—शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्निमीळे  
पुरोहितम्, अग्न आयाहि वातये इत्यादि ।

मगल अथ शब्द का खोस्य अर्थ नहीं । जैसे किसी दूसरे के लिये लिये जा रहे दही  
का दर्शन मगल है ऐसे ही अथ शब्द का श्रवण मगल है । भगवान् शङ्कराचार्य का  
वचन भी है—अथान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुता मङ्गलप्रयोजनो भवति ।

१ यद्यपि शब्दानुशासन शब्द में शब्द शब्द गुणीभूत है । उत्तरपद  
अनुशासन के साथ उस का अर्थ सखट है पदार्थ पदार्थेनान्वेति न तु तदेकदेशेन इस  
नियम के अनुसार शब्दानुशासन इस सम्पूर्ण पदार्थ के एकदेश शब्द शब्द का पृथक्  
परामर्श न होने से कैसा शब्दानाम् यह प्रश्न अनुपपन्न है । इस के स्थान में  
कीदृश शब्दानुशासनम् ? ऐसा प्रश्न होना चाहिये था । उसका उत्तर भी लौकिकानां  
वैदिकानां च न हो कर लौकिक वैदिक च ऐसा होना चाहिये तो भी सम्पूर्ण पदार्थ के  
एकदेश अधवा गुणीभूत शब्द शब्द का भी बुद्धि से परामर्श कर के उक्त निर्देश  
बन जायगा । अन्यत्र भी भाष्यकार के ऐसे प्रयोग हैं, जैसे राजपुरुषोऽयम् ।  
कस्य राज ॥

२. लौकिक का अर्थ है लोक में प्रसिद्ध । लोक से यहाँ सर्वलोक अभिप्रेत है ।  
साधु शब्द लोक में सर्वत्र प्रसिद्ध होते हैं और अपभ्रंश कहीं-कहीं । सो यहाँ सर्वलोक-  
प्रसिद्ध साधु शब्दों का अनुशासन है, अपभ्रंशों का नहीं । लौकिक वागव्यवहार में  
पदानुपूर्वी नियत नहीं होती, वेदवाक्यों में पदानुपूर्वी नियत है, वह बदली नहीं जा  
सकती । अतः लौकिक शब्दों को एक-एक करके स्वतन्त्र रूप में पढ़ दिया है, पर  
वैदिक शब्दों को मन्त्रस्थ क्रम विशिष्ट ही पढ़ा है ।

३ शन्नो देवी . यह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र है । श्री  
दुर्गाप्रोद्भूत भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित तथा बलिकाता संस्कृत कालेज अनुसन्धान-ग्रन्थ-माला

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः । किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदसुर-  
विषाण्यथरूपं स शब्दः । नेत्याह । द्रव्यं नाम तत् । यत्तर्हि तदिद्वितं  
चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः । नेत्याह । क्रिया नाम सा । यत्तर्हि  
तच्छुद्धो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः । नेत्याह । गुणो नाम सः ।  
यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः । नेत्याह ।

अथ गौः इत्यनेन कौनमा शब्द है । क्या जो गलकम्बल, पूँछ, कुदान, सुर,  
सौंगवाला पदार्थ है वह शब्द है ? वैयाकरण कहता है—नहीं, वह तो द्रव्य है ।

तो क्या जो सङ्केत करना (भाँस आदि में हृदय के भाव का प्रकाशन)  
चेष्टा (शरीर की हलचल) तथा आँस का झपकना, वह शब्द है ? वैयाकरण कहता  
है—नहीं, वह तो क्रिया है ।

तो क्या जो शुक्ल, नील, कपिल (भूरा), कपोत (चिटरबरा) है वह शब्द  
है । वैयाकरण कहता है—नहीं, यह तो गुण है ।

तो फिर क्या जो भिन्न-भिन्न पदार्थों (द्रव्यों) में एकत्वर है और जो उनके  
नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता, सब में साधारण, अनुगत है वह शब्द है ?  
वैयाकरण कहता है—नहीं, वह तो जाति है ।

में प्रकाशित पैपलाद संहिता प्रथम काण्ड देखें । संभवतः भाष्यकार पिपलाद  
शास्त्रीय अथर्ववेदी थे । छण्डिकोपाध्यायस्मृत्यै चपेटां ददाति इस वचन में भी भाष्य-  
कार का अथर्ववेदी होना संकेतित माना जाता है ।

१. लोक-प्रवहण से यह विदित ही है कि शब्द अर्थोपेक्षक वर्णामक  
ध्वनि को कहते हैं, तो गौ यहा शब्द कौन मा है यह जिज्ञासा ही नहीं होती ।  
फिर इस प्रश्न का क्या आशय है ? लोक में शब्द और अर्थ का अभेद में व्यवहार  
ही इस शब्दा का बीज है । सामने उपस्थित गजकन्धक आदि वाले पदार्थ के विषय में  
जब प्रश्न होता है—यह क्या है, अर्थात् इसका वाचक (नाम) क्या है, तो हमारा  
उत्तर होता है—यह गौ है । यहा यह पदार्थ का संकेत करना हुआ उद्देश्य है और  
गौ विधेय है । दोनों का सामानाधिकरण्य से निर्देश हुआ है । अर्थ शब्द है ऐसा  
बढ़ रहे हैं । सो शब्द और द्रव्य का अभेद तो इनसे ही स्पष्ट है । इसलिये हम  
अभेद के कारण द्रव्य में शब्द की शब्दा उपपन्न ही है । रही जाति, गुण, क्रिया में  
शब्द की शब्दा की उपपत्ति, मो यू है—जाति, गुण, क्रिया में, जो द्रव्य में रहते हैं,  
सीधा शब्द के साथ अभेद न सही, तो भी जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी का, क्रिया-  
क्रियावत् का अभेद होने से जाति, गुण, क्रिया से अभिन्न द्रव्य के साथ अभेद-प्राप्त  
हुए शब्द का जाति, गुण, क्रिया के साथ भी अभेद सिद्ध हो जाता है । गौः इस उच्चा-

आकृतिर्नाम सा । कस्तर्हि शब्दः । येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गुलककुद-  
खुरविपाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः ।

२१८५ (अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तद्यथा—  
शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्यं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेव-  
मुच्यते । तस्माद् ध्वनिः शब्दः)

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ३ (रक्षोहारामलघ्वसन्देहाः  
प्रयोजनम् ।) रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि

तो आखिर शब्द है क्या ?

जो उच्चारित ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर गलकम्बल, पूछ, कुडान, खुर,  
सींग वाले गो व्यक्तियों का बोध कराता है वह शब्द है ।

अथवा लोक-व्यवहार में जिस ध्वनि से अर्थ का बोध होता है वह शब्द  
कहा जाता है । जैसा कि ध्वनि करते हुए एक लड़के को उद्देश करके कहा जाता है—  
(भीर अधिक) शब्द करो, शब्द मत करो, यह लड़का शब्दकारी (शोर करने वाला)  
है । अतः ध्वनि शब्द है ।

शब्दानुशासन (शास्त्र के अभ्ययन) के क्या-क्या प्रयोजन हैं ?

रक्षा, ऊह (विभक्ति आदि का परिवर्तन), आगम (विधायक शास्त्र),  
लाघव (सरलता, आसानी), सन्देहनिवृत्ति—ये प्रयोजन हैं ।

रण के अनन्तर सुद्धि में जो नाना अर्थ (द्रव्य के अतिरिक्त) जाति गुण किया  
भासते हैं उनके साथ भी शब्द का तादात्म्य होने से उनके विषय में भी ये शब्द हैं  
यह शङ्का युक्त ही है ।

१. वैयाकरण का मत है कि उच्चारित होकर क्षणान्तर में नष्ट हो जाने वाले  
वर्ण अर्थ का बोध नहीं करा सकते । उनमें वाचकत्व नहीं । जो ध्वनण का विषय है  
वह बोधक नहीं । वैयाकरण शब्द को एक नित्य तत्त्व मानता है जो उच्चारित  
ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्त होने पर उस-उस अर्थ का बोध कराता  
है । इसलिये उसे 'स्फोट' कहते हैं, जिसका अर्थ है—स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति ।

२. यही लोक व्यवहार में जैसा शब्द समझा जाता है उसका लक्षण किया है,  
यह कार्य है, अनित्य है । नैयायिक इसे ही शब्द समझते हैं ।

सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यतीति' । ऊहः खल्वपि । न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः । ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः । तासांवैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् । आगमैः खल्वपि । ब्राह्मणेन

( वेदों की) रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिए । क्योंकि लोप, आगम, आदेश को जानने वाला वेदों की ठीक तरह से रक्षा कर सकेगा । ऊह भी प्रयोजन है । वेद में मन्त्र सभी लिट्टों में और सभी विभक्तियों सहित नहीं पढ़ गये । उन्हें यज्ञ में प्रयुक्त हुए पुरुष को अवश्य ही उचित रीति से बदलना होता है । (और) व्याकरण न जानने वाला उन्हें उचित रीति से बदल नहीं सकता । इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

शास्त्र भी (व्याकरणाध्ययन का) प्रयोजक (विधायक प्रेरक) है । (यह कहता है)

१. भाव यह है कि लोक में लोप, आगम और आदेशों को न देखकर और वेद में उन्हें देखकर व्याकरण न जाननेवाला भ्रान्त हो सकता है और लोक का अनुसरण करते हुए वैदिक शब्दों को भी वैसे ही पढ़ने की चेष्टा करेगा ऐसी सम्भावना हो सकती है । देवा अदुह—यहाँ 'रू' का आगम हुआ है और 'त' का लोप । लोक में अदुहत ऐसा लङ् बहु० आ० में प्रयोग होता है । मध्या कर्त्तवितनं सजभार—यहाँ ह् के स्थान में भ् आदेश हुआ है । लोक में सजहार रूप प्रसिद्ध है ।

२. प्रकृति याग में विनियुक्त मन्त्रों के देवतादि वाचक पदों की विकृति याग के देवता आदि का बोध कराने के लिए बदलना ऊह कहलाता है । राघ इष्टियागों की दर्शपूर्णमास प्रकृति है और सभी सोमयागों की अग्निष्टोम याग प्रकृति है । जिसमें इतिकर्त्तव्यता पूर्णरूप से ही कही होती है वह प्रकृति याग होता है और जिसमें प्रकृतिषद् विकृतिः कर्त्तव्या इस वचन से प्रकृति याग से ली जाती है वह विकृति । अप प्रकृति याग के अग्नये स्वा जुष्ट निर्वपामि इस मन्त्र में आये हुए अग्नि शब्द के स्थान पर सौर्य चरु निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम । (जलतेज चाहता हुआ सूर्य को चरु की आहुति दे ) इस वचन के अनुसार चतुर्व्यन्त स्य शब्द का प्रयोग करके सूर्याय स्वा जुष्ट निर्वपामि इस मन्त्र से आहुति देनी है । यह प्रकृति का ऊह है, विभक्ति का नहीं, विभक्ति वही रही । लिङ् का ऊह यथा—देवीराप शुद्धाः रथः में स्त्रीलिङ्ग, शुद्धाः के स्थानपर देवाऽऽज्य शुद्धमसि इस मन्त्र में आज्य शब्द के साथ अन्वित होन के कारण शुद्धम् इस प्रकार नपुंसक लिंग में विपरिणाम ।

३. आगम के साथ आया हुआ प्रयोजन शब्द प्रयोजक को कहता है । यहाँ

निष्कारणो धर्मः पड्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति । प्रधानं च पदस्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति ।

लघ्वर्थं चाध्येय व्याकरणम् । ब्राह्मणेनावश्य शब्दा ज्ञेया इति । न चान्तरेण व्याकरण लघुनोपायेन शब्दाः शब्दा ज्ञातुम् । असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिका. पठन्ति—स्थूलपृषतीमाग्निवारणीमनद्वाही-मालभेतेति । तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सेय स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति । यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्य ततो बहुमीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति ।

ब्राह्मण को बिना कारण ( लाभ आदि प्रयोजन रहित ) धर्मस्वरूप छः अंगों वाला वेद पढ़ना चाहिए और उसे जानना चाहिए । छः अंगों में व्याकरण प्रधान है और प्रधान में किन्ना हुआ यह प्रचुर फल वाला होता है ।

लघव के कारण व्याकरण पढ़ना चाहिए । ब्राह्मण को शब्द अवश्य जानने हैं । व्याकरण को छोड़ और किसी लघु ( छोटा सरल ) उपाय से शब्द जाने नहीं जा सकते ।

सन्देह की निवृत्ति के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिये । याज्ञिक (कर्मकाण्डी) लोग पढ़ते हैं—स्थूलपृषती वाय को अग्नि तथा वरुण देवताओं के उद्देश से आलम्भन करे अर्थात् भेंट दे । स्थूलपृषती इस विशेषण पद के अर्थ में सन्देह होता है, वह मोटी भी है और बिन्दुमती भी है (ऐसा अर्थ है) अथवा जिसके ( शरीर पर ) स्थूल बिन्दु है ऐसा । जो व्याकरण नहीं जानता वह उसके विषय में स्वर से निश्चय नहीं कर सकता । यदि ( समास 'स्थूलपृषती' ) के पूर्वपद ( स्थूल ) का अपना ही स्वर पढ़ा है तो यह बहुमीहि है, यदि समास का अन्त्य अक्षर उदात्त है तो यह तत्पुरुष है ।

रक्षोहाममलक्षसन्वहा यह द्वन्द्व बहुवचनान्त है, पर प्रयोजनम् यह एकवचनान्त है । महा एकशेष हुआ है—प्रयोजनी ( रक्षा ) च प्रयोजनश्च प्रयोजनश्च प्रयोजन ( लघु ) प्रयोजनश्चित् प्रयोजनम् । पक्ष म प्रयोजनानि भी होगा । इसमें नपुमकमनपुंसकेनैकव-च्चास्यान्यतरस्याम् ( १।२।६९ )—यह शास्त्र प्रमाण है ।

१ यहाँ असन्देह शब्द में सन्देह का प्रागभाव समझना चाहिये । प्रश्न नहीं । व्याकरण को सन्देह उत्पन्न होकर नष्ट नहीं होता । बल्कि उसे सर्वथा सन्देह उत्पन्न ही नहीं होता ।

२. वेदार्थ में स्वर ( उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ) नियामक है । मनमाना अर्थ

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि—तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदर्थात् । यस्तु प्रयुक्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुणेति ।

तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परावभूवुः । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितव्ये नापभाषितव्ये । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः । तेऽसुराः ।

दुष्टः शब्दः । 'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न

शब्दानुशासन के यह और भी प्रयोजन हैं—तेऽसुरा । दुष्ट शब्द । यदर्थात् । यस्तु प्रयुक्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमान् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुण इति ।

वे असुर हेलय, हेलयः ( हे द्युयो, हे द्युयो ) चिह्नाते दुष्ट पराजित हो गये । इसलिये ब्राह्मण को म्लेच्छन अर्थात् अपभाषण नहीं करना चाहिये । जो अपशब्द है वह निश्चय से म्लेच्छ है । तेऽसुरा ।

स्वर और वर्ण की दृष्टि से असुद्ध उच्चारण किया हुआ दोषयुक्त शब्द अपने विवक्षित अर्थ को नहीं कहता । वह वागीरूप वज्र हो यजमान को मार देता है जैसे इन्द्रद्युम्न ( दृत्र ) स्वर दोष के कारण मारा गया । हम दोष-युक्त शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये । दुष्ट शब्द ।

नहीं किया जा सकता । स्वर और संस्कार ( = प्रकृति प्रत्ययादि से शब्द की व्युत्पत्ति ) जाने बिना अर्थ का बोध नहीं हो सकता और स्वर सस्कार व्याकरण से ही जाने जाते हैं । स्थूलपृथ्वी शब्द के अर्थ में जर सन्देह हुआ तो इसका निश्चय स्वर से देकर ही हो सकता है । अथ व्याकरण शास्त्र बताता है बहुव्रीही प्रकृत्या पूर्वपदम् ( ६।३।१ ) अर्थात् बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का ही अपना स्वर ( = उदात्त ) रहता है शेष निपात ( अनुदात्त ) हो जाता है । कारण कि पद में ( यदा समान होकर जो नया पद बना है उसमें भी ) एक अच् उदात्त होता है ( अथवा स्वरित होता है ) शेष अनुदात्त रहता है । स्थूल शब्द अन्तोदात्त है । इसका पृथक् के साथ समास हुआ है । समस्त पद में एक ही स्वर ( उदात्त ) होने से पृथक् निपात होगा । समान होकर रीतिविवक्षा में उगितश्च ( ४।१।६ ) से जीव प्रत्यय होगा । जीव प्रत्यय भी अनुदात्त होता है, अतः पृथ्वी भी सारा अनुदात्त ही रहेगा । पर स्थूल के ल ( उदात्त ) से परे पृ अनुदात्त की उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ( ८।४।५६ ) से स्वरित होकर शेष दो अनुदात्तों का प्रत्यय रहेगा । तो स्थूलपृथ्वी ऐसे स्वराङ्गन होगा । तत्पुरुष में समासान्त उदात्त होने से स्थूलपृथ्वी ऐसा ।



तमथमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वर्तोऽपराधात् ॥  
इति । दुष्टाञ्छब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् । दुष्टः शब्दः ।

यदधीतम् । “यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्ध्यते । अनग्नाविधे  
शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥” तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं  
व्याकरणम् । यदधीतम् ।

यस्तु प्रयुङ्क्ते । “यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद्  
व्यवहारकाले । सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चाप-  
शब्दैः ॥ का । वाग्योगविदेर्धे । कुत एतत् । यो हि शब्दाज्जानात्यपशब्दा-

जा (मन्त्रादि) अक्षरादिरूप से ग्रहण तो किंवा, पर समझा नहीं कबल पाठ  
मात्र से उच्चारण किंवा, वह कभी भी प्रकाश नहीं करता जैसे अग्नि के अभाव में  
सूखा ईंधन कभी नहीं जलता । यदधीतम् ।

जो शब्दों के प्रयोगविशेष में कुशल व्यवहार के समय उन्हें ठीक ठीक प्रयोग  
करता है वह शब्दार्थ सम्बन्ध जानने वाला परलोक में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता  
और अपशब्दों से पाप का भागी होता है ।

कौन ?

शब्दार्थ सम्बन्ध जाननेवाला ही ।

१ ऐसी कथा है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार दिया । अथ  
त्वष्टा इन्द्र को मारने के लिये एक अभिचार याग करता है । उसमें वह स्वाहेन्द्रशत्रु-  
वर्धस्व ऐसा मन्त्र पढ़ता है । यहाँ शत्रु क्रिया शब्द है संज्ञा शब्द नहीं । शत्रु=शातयिता  
=नाशक । अथ त्वष्टा यह कहना चाहता था कि हे अग्नि तू ऐसे बढ़ कि तेरी ज्वालाओं  
में उत्पन्न हुआ असुर ( वृन् ) इन्द्रशत्रु अर्थात् इन्द्र का नाशक हो । यह अभिप्रेत  
अर्थ तब सिद्ध होता यदि वह इन्द्रशत्रु शब्द को तत्पुरुष समास बनाकर इसके अन्त  
में उदात्त पढ़ता । पर उसने प्रमाद से पूर्वपद के प्रकृति स्वर से युक्त पढ़ दिया जिससे  
यह बहुव्रीहि समास हो गया, जो अन्य पदार्थ प्रधान होता है जिससे वह यह कह बैठा  
कि हे अग्नि तू इन्द्र है नाशक जिसका ऐसे रूपवाला होता हुआ बढ़ । तिस पर वृन्  
उत्पन्न होता हुआ ही इन्द्र से मारा गया । यह कथा तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड  
के ५७वम अष्टक में दी गई है ।

२. अनग्नौ—यहाँ उपरलेखरूप आधार में सप्तमी है । उपरलेख=संयोग,  
सामीप्य । अर्थात् जब अग्नि का ईंधन के साथ संयोग नहीं ।

३. माह् उपपद होनेपर इह् अध्ययने का यह छद् उत्तमपुरुष बहु० में रूप है ।

४. प्रत्यासत्ति से ( पास में श्रूयमाण होने से ) वाग्योगविद् का ही दुष्यति

नप्यसौ जानाति । यद्यैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः ।  
अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति ।

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा । गौरित्यस्य शब्दस्य  
गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । अथ योऽवाग्योगविद् ।  
अज्ञानं तस्य शरणम् । विषम उपन्यासः । नात्यन्तायाऽज्ञानं शरणं भवितु-  
मर्हति । यो ह्यज्ञानं ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत्ताऽपि मन्थे पतितः  
स्यात् । एवं तर्हि । सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चाप-  
शब्देः ॥ कः । अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं तस्य  
शरणम् । क पुनरिदं पठितम् । भ्राज नाम श्लोकाः । किं च भोः श्लोका

ऐसा कैसे जाना ?

जो शब्दों को जानना है वह अपशब्दों को भी जानता है । जैसे शब्द-ज्ञान में  
धर्म है वैसे ही अपशब्दज्ञान में अधर्म भी । अपना अधिक अधर्म होता है ।

क्यों ?

इस लिये कि अपशब्द अधिक हैं, शब्द ( उनकी अपेक्षा ) थोड़े हैं ।

एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश होने हैं जैसे 'गौ' इस एक शब्द के गावी  
गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश होने हैं । अब जो वाग्य अर्थ सम्बन्ध को  
नहीं जानता उसका अज्ञान रक्षक होता है, अर्थात् अज्ञान उसे पानिय से बचायेगा ।  
यह कथन ठीक नहीं । अज्ञान पूर्णरूप में बचा नहीं सकता । जो काट न जानता हुआ  
भी ब्राह्मण की इत्यादि कर दे अथवा सुरा पीए, मैं मानता हूँ कि वह भी पतित होगा ।  
अच्छा तो सोऽनन्तमाप्नोत जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दे — यह जो  
पड़ा है यहाँ 'दुष्यति' का कर्ता कौन है ? निश्चित ही अवाग्योगविद् क्योंकि जो वाग-  
योगविद् ( शब्दार्थसम्बन्ध का जानने वाला ) है विशिष्ट ज्ञान उसका रक्षक है ।

यह बचन कहाँ पड़ा है ?

भ्राज नामक श्लोक है (वहा) ।

क्यों जी, श्लोक भी प्रमाण होने लगे ?

क्रिया-पद के साथ अन्वय होना चाहिये, ऐसा पूर्वपक्षा का अभिप्राय है । जिसे वह  
आगे युक्ति से पुष्ट करता है ।

१. कहने वाले का भाव यह है कि अज्ञान से किया हुआ कर्म मानो न कियासा  
होता है, उस से पाप का प्रसङ्ग नहीं ।

२. इसे माय्यकर स्वयं आगे चलकर अथवा पुनरस्तु ज्ञान एव धर्म-  
इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट करेंगे ।

३. भ्राज नाम से प्रसिद्ध काव्यायन प्रणीत श्लोक कहे जाते हैं ।

अपि प्रमाणम् । किं चातः । यदि श्लोका अपि प्रमाणम् , अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति । ‘यदुदुम्वरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् । पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत् क्रतुगत नयेत् ॥’ प्रमत्तगीत एव तत्रभवत् । यस्त्व-प्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते ॥

अविद्वांसः । ‘अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः । कामं तेषु तु विप्रोप्य स्त्रीष्विवायमह वदेत् ॥’ अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । अविद्वांस ॥

इससे क्या हुआ ?

यदि श्लोक भी प्रमाण है तो यह श्लोक भी प्रमाण हो जायेगा ।

जो ताँचे के वर्ण वाली मटकियों का बड़ा समूह पीला हुआ स्वर्ग की प्राप्ति नहीं करा सकता तो यह (सौत्रामणी याग) में थोड़ा सा सुरापान कभी स्वर्ग की प्राप्ति करा सकता है ?

प्रमाद (अनवधान) से पडा हुआ यह पूज्य का वचन है ।

जो (कोई अन्य) वचन सावधान होकर पढा गया है वही प्रमाण है ।

अविद्वांस : जो अविद्वान् अभिवादन के उत्तर (आशीर्वाद वाक्य) में (अभिवादक के) नाम को प्लुत करना नहीं जानते, बाहिर से आकर उन के प्रति भले ही अयमहम्=यह मैं हूँ ऐसा कहे जैसे स्त्रियों के विषय में कहने की रीति है । अभिवादन में हमारे प्रति स्त्रियों का सा व्यवहार न हो, अतः व्याकरण पढना चाहिये ।

१ सौत्रामणी याग में विहित सुरापान का विधान है, वह मज्ञाङ्ग है और अदृष्ट की उत्पत्ति में सहकारी है । उस अदृष्ट से दैत्यों को ब्रूति करने के हेतु महेश्वर न प्रमत्त सा होकर उनकी इसमें अभद्रता उत्पन्न करने के लिये यह वचन कहा— ऐसा सम्प्रदाय है ।

२ अभिवादन के विषय में मनु का ऐसा विधान है—

अभिवादात्पर विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।

असौ नामाहमस्मीति स्व नाम परिकीर्तयेत् ॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवाद न जानते ।

तान्प्राज्ञोऽयमह ब्रूयात् रित्र्य सर्वास्तथैव च ॥ ( २ । १२२ )

अर्थात् विप्र ( देवदत्त आदि ) अपने से बड़ी उम्र वाले को नमस्कार करना चाहता हुआ अपने नाम का उच्चारण करते हुए अभिवादाये देवदत्तोह भो ऐसा अभिवादन वाक्य बोले । पर उन लोगों के प्रति जो प्रत्यभिवादन में नाम को प्लुत

विभक्तिं कुर्वन्ति । याज्ञिकाः पठन्ति—प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्या इति । न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । विभक्तिं कुर्वन्ति ॥

यो वा इमाम् । यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति । आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् । यो वा इमाम् ॥

विभक्ति लगाकर उच्चारण करते हैं । यजुर्वेदी कर्मकाण्ठी लोग पढ़ते हैं—  
प्रयाज मन्त्रों को विभक्ति युक्त कर पढ़ना चाहिये, पर व्याकरण जाने बिना प्रयाजों को विभक्तियुक्त नहीं किया जा सकता । विभक्ति कुर्वन्ति ॥

जो इसको । जो इस (वाणी का पद, स्वर तथा अक्षर के विषय में ठीक-ठीक उच्चारण करता है वह आर्त्विजीन ( ऋत्विक् प्राप्ति का अधिकारी पजमान अथवा ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी याजक) होता है । हम आर्त्विजीन हों हमलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये । यो वा इमाम् ।

करना नहीं जानते, ऐसे ही सब स्त्रियों के प्रति भी अपमहम् ही कहे । भगवान् सूत्रकार पढ़ते हैं—प्रथमिवादेऽशूद्रे ( ८ । २ । ८३ ) । शूद्रविषयक प्रथमिवादन से अन्यत्र वाक्य की टि को प्लुत होना है । तदनुसार आयुष्मानेयि देवदत्ता इति प्रकार का आशीर्वाद वाक्य होता है ।

१. जब किसी कारण कर्म-विच्छेद हो जाय तो पुनराधेय इष्टि की जाती है । उम पुनराधेयिष्टि की इतिर्कर्तव्यता के विषय में यह वचन पढ़ा गया है । प्रयाज पाच होते हैं । ये पहले ही विभक्ति सहित पढ़े ही हैं, फिर इस विधान का क्या अर्थ है । विभक्ति प्रत्यय है हमस प्रकृति का आक्षेप होता है और चूंकि स्वमन्त्रे प्रयाजानां पुरस्तात् पश्चात् ऐसा वेदवाक्य है, अतः अग्नि शब्द ही यहा प्रकृति ली जाती है और इसे प्रथमा ( सम्बुद्धि ), सप्तमी, तृतीया और द्वितीया इन चार विभक्तियों से युक्त पढ़ा जाता है । समिधोऽग्ने आज्यस्य व्येतु इत्यादि पाच मन्त्र हैं । पहले चार में अग्ने अग्ने अग्नावग्ने, अग्निना अग्ने, अग्निमग्ने इस प्रकार एक और अग्नि शब्द विभक्ति युक्त पढ़ा जाता है । चतुर्थे प्रयाजेषु चतस्रो विभक्त्योर्द्विद्वितीया नोत्तमे इम आग्रस्तम्य के वचना-नुसार अन्त्य पांचवें मन्त्र में अग्नि शब्द सविभक्तिक नहीं दिया जाता ।

२. विदधाति=करोति, उच्चारण करता है । क्रिया-सामान्य से क्रियाविशेष विवक्षित है । वाजपनेय प्रातिशाख्य ( ८।१७ ) में भी कहा है—वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोपि च ।

३. आर्त्विजीन शब्द को दो प्रकार से व्युत्पादन करते हैं । सूत्रकार कहते हैं—

चत्वारि । 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो  
अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥' इति ।  
चत्वारि शृङ्गाणि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य  
पादा त्रय काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः  
कार्यश्च । सप्त विभक्तयः । त्रिधा बद्ध त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे  
शिरसीति । वृषभो वर्षणात् । रोरवीति शब्द करोति । कुत एतत् । रौति-  
शब्दकर्मा । महो देवो मर्त्या आविवेशेति महान् देव शब्दः । मर्त्या  
मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश । महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादि-  
त्यध्येय व्याकरणम् ।

अपर आह—चत्वारि वैकपरिमिता पदानि तानि विदुर्ग्राहणा ये

चार । इसके चार सींग हैं, तीन धरण हैं दो सिर हैं और सात हाथ हैं ।  
तीन स्थानों में बँधा हुआ वृषभ बड़ा शब्द करता है । महान् देव मनुष्यों में  
प्रवेश किये हुए है । जो इसक चार सींग कहे हैं वे चार पदराशियाँ हैं और ये हैं—  
नाम भारयात, उपसर्ग और निपात । जो इसके तीन पाद हैं वे भूत, भविष्यत्,  
वर्तमान—ये तीन काल हैं । जो इसक दो सिर कहे हैं वह दो प्रकार का शब्द है—  
एक निरय दूसरा कार्य (उत्पाद्य, अनित्य) । जो इसक सात हाथ हैं वे सात विभक्तियाँ  
हैं । तीन स्थानों में बँधा हुआ इस का अर्थ है—छाती, कण्ठ व सिर में बँधा हुआ ।  
(कामनाओं की) पूर्ति करने से वह वृषभ है । रोरवीति का अर्थ है शब्द करता है ।  
यह कैसे ? व धातु शब्द करने अर्थ में पड़ी है । महो देव इत्यादि का अर्थ है—  
(वह) महान् देव रूप शब्द मरण-स्वभाव वाले मनुष्यों के भीतर प्रवेश किए हुए  
है । उस महान् देव के साथ हमारा साम्य हो इसलिये व्याकरण पठना चाहिये ।

दूसरा कहता है—वाणी चार पक्षों में परिच्छिन्न है इन चार पदों को मन

यश्चत्विभ्या यज्जो ( ५ । १ । ७१ ) अर्थात् यश् और चत्विक् से उसक योग्य है  
इस अर्थ में क्रम से घ खञ् प्रत्यय होते हैं । इसल खञ्प्रत्ययान्त आत्विजीन का अर्थ  
यजमान हुआ । इस पर वार्तिककार का कहना है कि यश्चत्विभ्या सत्कर्माह्वीति चोप-  
सरयानम् इससे चत्विक् के कर्म में योग्य होनेवाले में प्रत्यय होकर आत्विजीन  
चत्विक् ( याजक ) का बोधक होता है ।

१ ऋ० ४ । ५८ । ३ ॥

१ वेद में वाक आयुदात्त पडा है । पदपाठ में भी पृथक् पद ही पडा है ।  
अतः यह प्रथमान्त स्वन-त्र पद है ऐसा प्रतीत होता है । प्रथमान्त का अन्वय सीधा

मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीय वाचो मनुष्या वदन्ति ॥  
चत्वारि चाक्षरमितानि पदानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग-  
निपाताश्च । तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । मनस ईपिणो मनीषिणः ।  
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति । गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न  
चेष्टन्ते न निमिषन्तीत्यर्थः । तुरीय वा मृतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थ-  
मित्यर्थः । चत्वारि ॥

उत त्वेः । “उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणो-  
त्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्व विसस्त्रे<sup>१</sup> जायेव पत्य उशती सुवासा ॥” उत  
त्वः अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि  
न शृणोत्येनाम् इति अविद्वांसमाहार्थम् । उतो त्वस्मै तन्व विसस्त्रे तनु  
विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासो । तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना

का सपम किये हुए ब्राह्मण जानते हैं । इसके तीन भाग गुफा में छिपे हुए चेष्टा नहीं  
करते । बाणी के चौथे भाग को मनुष्य ( साधारण अवैयाकरण ) बोलते हैं ॥ चार  
बाणी के परिच्छेदक पद समूह नाम आख्यात उपसर्ग और निपात हैं । मनीषी ब्राह्मण  
उन्हें जानते हैं । मन पर अधिकार रखने वाले मनीषी कहलाते हैं—गुहा  
नेङ्गयन्त का अर्थ यह है कि तीन (भाग) गुफा में छिपे हुए चेष्टा नहीं करते,  
सपकते नहीं । तुराय वदन्ति का अर्थ यह है कि यह बाणी का चौथा भाग है  
जो मनुष्यों में है (जो मनुष्य-अवैयाकरणों के व्यवहार में आता है) । चत्वारि ।

और एक । उत त्व — इस मन्त्र का अर्थ यह है—कोई एक बाणी को देखता  
हुआ भी नहीं देखता दूसरा इस सुनता हुआ भी निश्चय ही नहीं सुनता । ऋचा  
का यह आधा भाग अविद्वान् के विषय में है । उतो विसस्त्रे का अर्थ यह है कि और  
किसी दूसरे के प्रति अपने स्वरूप को खोल देती है । जायेव सुवासा का अर्थ यह  
है कि निम्न प्रकार सुन्दर शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए (ऋतु स्नाता) स्त्री कामना करती

लग जाता है—वाक् चत्वारि परिमितानि पदानि भवति । पद्यी पूर्ववत् समास मानने में  
जहां स्वर स विरोध पड़ता है वहां समास भी असमर्थ ही होता है क्योंकि वाक् का  
पदानि के साथ सम्बन्ध है । यही चारों पदों से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात  
का ही प्रश्न दृष्ट है, परा पश्यन्ती मथ्यमा तथा वैखरी का नहीं । पद कहने से ही  
उन्का व्यवच्छेद हो जाता है ।

१ ऋ० १।१६।४५ ॥

२. वेद में त्व एक अर्थ का वाचक सर्वनाम है ।

३ विसस्त्रे—यह विपूर्वक सू का लिट् प्रथम पु० एक० का रूप है ।

४ उशती—वश कान्ती इस धातु का शतन्त स्त्रीलिंग रूप है ।

५ सुवासा, शोभने वाससा यस्या सा । रजस्वला स्त्री मलवद्वासा ( मैले

सुवासाः स्वप्नात्मानं विवृणुते एव धाग् धाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते ।  
वाङ्मनो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम् । उत त्व ॥

सक्तुमिव । "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा  
वाचमकृत । अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैपां लक्ष्मीर्निहिताऽधि  
धाचि ॥ सक्तु सचतेर्दुर्धावो भवति । कसतेर्वा विपरीताद् विकसितो  
भवति । तितउ परिपचनं भवति । ततचद्वा तुच्चवद्वा । धीरा ध्यानवन्तः ।  
मनसा प्रज्ञानेन । वाचमकृत वाचमकृपत ।

अत्र सखाय सन्त सख्यानि जानते । कथ । य एष दुर्गो मार्ग  
एकगम्यो धाग्विपयः । के पुनस्ते । वैयाकरणाः । कुत एतत् । भद्रैपां लक्ष्मी-

हुई अपने पति के प्रति अपने शरीर को प्रकट करती है इसी प्रकार वाणी वाणी को  
जानने वाले के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है । वाणी अपने स्वरूप को  
हमारे प्रति प्रकट करे इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये । उत त्वः ।

सक्तुओं की तरह । जैसे सक्तुओं को चालनी से छानते हैं ऐसे ही जब (जिस  
अवस्था में) जानी लोग अपने प्रकृष्ट ज्ञान के बल वाणी का व्याकरण (विश्लेषण,  
प्रकृतिप्रत्यय-विभाग, शब्दापशब्द-विवेचन) करते हैं तब ( उस अवस्था में ) समान  
दर्शन वाले आपस में सायुज्य को अनुभव करते हैं । कल्याणमयी लक्ष्मी इनकी वाणी  
में निहित होती है । सक्तु सष् धातु से निष्पन्न होता है, इसे धोना (साफ करना)  
कठिन होता है । हो सकता है कि सक्तु कस् धातु के आद्यन्त विपर्यय करने से बना  
हो, खिला सा होता है ( इससे धारवर्ध की संगति होती है ) । तितउ का अर्थ  
चालनी है । यह विस्तार वाली अथवा छिद्रों वाली होती है (इस लिये तितउ नाम  
हुमा) । धीर ध्यानी होते हैं । मनसा का अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान से । वाचमकृत का  
अर्थ है वाणी को व्याकृत किया । उत त्व ॥

यहाँ समानरथाति ( समान दर्शन ) वाले होकर सायुज्य को अनुभव  
करते हैं ।

कहाँ ?

यह जो एक मात्र गम्य (सँकरा) दुर्गम वाणी का मार्ग है (वहाँ) ।

वे कौन हैं ?

कपड़ों वाली स्नान न करने से ) होती है, इसीलिये उसे मलिनो भी कहते हैं ।  
स्नान करने पर वह शुभ्र वस्त्र पहन लेती है, इसलिये उसे यहा सुवासा कहा है ।

१. अमर कोष में तितउ पुँल्लिङ्ग पड़ा है । भाष्यकार-वचन-प्रामाण्य से  
नपुंसक लिङ्ग भी साधु है ।

निहिता अधि वाचि । एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति । लक्ष्मी-  
लक्षणात् भासनात्परिवृढा भवति । सप्ततुमिष ॥

सारस्वतीम् । याज्ञिनाः पठन्ति 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य  
प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत् ।' प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं  
व्याकरणम् । सारस्वतीम् ॥

दशम्यां पुत्रस्य । याज्ञिना पठन्ति—'दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य  
जातस्य नाम त्रिदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्यममृद्ध त्रिपुण्यानूस्मनरि  
प्रतिष्ठितम् ।' तद्धि प्रतिष्ठिततम भवति द्वयक्षर चतुरक्षर वा नाम कृत  
कुर्यान्न तद्धितम् इति । न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या  
विज्ञातुम् । दशम्यां पुत्रस्य ॥

सुदेवो असि । 'सुदेवो असे वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः । अनु-  
क्षरन्ति काकुद् सूर्यं सुषिरामिष ॥' सुदेवो असि धरुण सत्यदेवोऽसि ।  
यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः । अनुक्षरन्ति काकुद्म् । काकुद्

वैयाकरण ।

बह वयो ?

क्योंकि इनकी वागो में वरुणात्मयी लक्ष्मी निदिन होती है । लक्ष्मी को  
इसलिये लक्ष्मी कहते हैं क्योंकि वह लक्षण करती है, चमकता है । अथवा भविकार  
वाली होती है ।

सारस्वती देवता को दिय जान वाला । यजुर्वेदी लोग पढ़ते हैं—अग्न्याधान  
करके अपराध का प्रयोग कर बैठने पर प्रायश्चित्त के निमित्त सारस्वती देवता के लिए  
इष्टि-याग करें । हम प्रायश्चित्त के योग्य न हो इस लिये हमें व्याकरण पढ़ना  
चाहिये । सारस्वतीम् ॥

दशमी रात्रि के अनन्तर पुत्र का । याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—पुत्र के जन्म से  
दशमी रात के बीतने पर (अर्थात् ग्यारहवें दिन) उत्पन्न हुए पुत्र का नाम रखे,  
जो आदि में घोषवान् वर्णवाला हो, बीच में अन्तःस्य वर्ण वाला हो और तद्धि स्वर  
(मा ऐ, औ) से युक्त न हो, जो पिता के तीन पूर्व पुरुषों के नाम का स्मरण कराता  
हो और जो शत्रु के नाम के रूप में प्रसिद्ध न हो । नाम दो अक्षर वाला अथवा चार  
अक्षर वाला रखें, वह कृद्न्त हो, तद्धितान्त न हो । व्याकरण के बिना कृद् वा तद्धित  
प्रत्ययों का ज्ञान ही नहीं हो सकता है । दशम्यां पुत्रम् ॥

तू शोभन देव है । हे वरुण तू सुदेव=सत्यदेव है जिसके गले से निकलती  
हुई सप्त नदियां (=यात विमन्त्रिया) तालु में बहती हैं काकुद् तालु होगा है कारण  
कि काकु नाम त्रिङ्गा का है और वह उसमें ठठाकर ढगाई जाती है । सूर्यं सुषिरामिष—



तालु । काकुर्जिह्वा, सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम् । सूर्ध्वं सुपिरामिव । तद्यथा शोभनामूर्ध्नि सुपिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति एवं ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्तावन्नुक्षरन्ति । तेनासि सत्यदेवः । सत्यदेवाः स्यामेत्य-  
ध्येय व्याकरणम् । सुदेवो असि ॥

किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमवाख्यायते न पुनरन्यदपि किञ्चित् । ओमित्युक्त्वा वृत्तान्तशं शमित्यादीन् शब्दान्-  
स्पठन्ति । पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं  
स्माधीयते । तेभ्यस्तत्तस्यानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उप-

जैसे अग्नि सुन्दर खोलखो लोहे की प्रतिमा को अन्दर प्रविष्ट होकर जलाती है इसी प्रकार सात सिन्धु अर्थात् सात विभक्तियाँ तेरे तालु में बहती हैं । इससे तू सत्यदेव है । हम भी सत्यदेव हो, अतः हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये । सुदेवो असि ।

यथा कारण है कि केवल व्याकरण पढ़ना चाहने वालों के लिये प्रयोजन बताये जा रहे हैं, कुछ और ( वद आदि ) पढ़ने वालों के लिये नहीं ? ( वेद पढ़ना चाहते हुए तो ) ओम् (स्वीकार करता हूँ) कहकर प्रपाठक प्रपाठक करके 'शम्' इत्यादि शब्दों को पढ़ते हैं । पुरातन युग में ऐसा था उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्राह्मण व्याकरण पढ़ना प्रारम्भ कर देते थे, तब जब व वर्णोच्चारण-स्थान ( कण्ठादि ) करण ( जिह्वा के अग्र, उपाग्र आदि भाग ) और अनुप्रदान ( आभ्यन्तर व बाह्य प्रयत्न=संवृत विवृत सवार विवार आदि ) जान लेते थे तो उन्हें वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था । आजकल वैसा नहीं । ( आजकल तो ) पहले वेद को पढ़ते हैं और

१. ओम् यही स्वीकार अर्थ में है, अभ्यादान अर्थ में नहीं । अधीष्ण (पढ़ो) के उत्तर में शिष्य ओम् का उच्चारण करता है, स्वीकार करता हूँ, अर्थात् जैसे आपकी आज्ञा बसे करता हूँ ।

२. वृत्तान्तश में शस् प्रत्यय वीप्सा अर्थ में है । वृत्तान्त का यही प्रपाठक अर्थ है ।

३. ब्राह्मण बालक का उपनयन आठवें अथवा गर्भ से आठवें वर्ष में करने की विधि है । ऐसी छोटी अवस्था में जब व्याकरणाध्ययन प्रारम्भ हो जाता था तो अनतिप्रौढ होने से उन बालकों को व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन विषय में जिज्ञासा नहीं होती थी, तो उस समय प्रयोजनान्वाख्यान भी नहीं होता था । पर अब वेदाध्ययन पहले ही प्रारम्भ हो जाता है । वेदाध्ययन को समाप्त कर प्रौढावस्था को प्राप्त हुए ब्रह्मचारी यह शब्दा करने लगते हैं, लोक तथा वेद से हमने उभयविध शब्द

दिश्यन्ते । तद्यत्वे न तथा । वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति—  
'वेदान्तो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः । अनर्थकं व्याकरण-  
मिति ।' तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वा आचार्य इदं  
शास्त्रमन्वाचष्टे । इमानि प्रयोजनान्यप्येयं व्याकरणमिति ।

उक्तः शब्दः । स्वरूपमप्युक्तम् । प्रयोजनान्यप्युक्तानि । शब्दानुशासन-  
मिदानीं कर्तव्यम् । तत्कथं कर्तव्यम् । किं शब्दोपदेशः कर्तव्य आहोस्विद-  
पशब्दोपदेश आहोस्विदुभयोपदेश इति । अन्यसरोपदेशेन कृतं स्यात् ।  
तद्यथा भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते । पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्युक्ते

पढ़कर उतावले हुए एक दम कहने लग जाते हैं—वेद से हमने वैदिक शब्द जान  
लिये, और लोक से लौकिक । व्याकरण का (हमें) कुछ प्रयोजन नहीं । उन विपरीत  
बुद्धि वाले छात्रों का सुहृद् बन कर आचार्य (पतञ्जलि, रक्षोहागमलष्वसन्देहाः प्रयो-  
जनम् को वार्तिक मानने वालों के मत में कात्यायन) इस शास्त्र (प्रयोजन निर्देशक)  
का अन्वाख्यान करते हैं और कहते हैं यह प्रयोजन है, व्याकरण पढ़ना चाहिए ।

शब्द से क्या माया है यह कह दिया । शब्द का स्वरूप भी कह दिया गया ।  
प्रयोजन भी कह दिये । अब शब्दानुशासन करना चाहिये । सो कैसे किया जाय ?  
क्या शब्दों का उपदेश करना चाहिये, अथवा अपशब्दों का, अथवा दोनों का ?  
किसी एक के उपदेश से काम चल जायगा । जैसे भक्ष्य का नियम करने से अभक्ष्य  
का निषेध स्वतः ही आ जाता है । पांच नखों वाले पांच ही भक्ष्य हैं ऐसा कहने से  
गिनाये हुए पांच नखों वाले पांचों से अतिरिक्त पांच नख वाले अभक्ष्य हैं, ऐसा बिना  
कहे ही प्रतीत होता है ।

लौकिक व वैदिक जान लिये, अब व्याकरण का हमें कुछ प्रयोजन नहीं रहा ।

१. त्वरिता=जात-वराः । गृहप्रवेशाय त्वरमाणाः, विवाह करके गृहस्थ बनने  
के लिये उतावले—ऐसा प्रतीपकार कैयट का भाव है । भाष्यकार को यह विवक्षित  
है वा नहीं इसमें सन्देह है ।

२. नियम शब्द यही परिसङ्ख्या अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । मीमांसक विधि  
नियम और परिसङ्ख्या का इस प्रकार लक्षण करते हैं—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते ॥

अपूर्व अत्यन्त अविदित क्रिया का जब विधान किया जाता है तब उसे विधि  
अथवा अपूर्व विधि कहते हैं जैसे मीहीनप्रोक्षति (धान पर जल छिड़कता है) ।

गम्यत एतदतोन्पेऽभक्ष्य इति । अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः । तद्यथा अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकर इत्युक्ते गम्यत एतद्—आरण्यो भक्ष्य इति । एवमिहापि । यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽपशब्दा इति । अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्—गौरित्येष शब्द इति ।

अथवा अभक्ष्य का निषेध करने से भक्ष्य का नियम हो जाता है जैसे गांव का कुक्कुट अभक्ष्य है, गाव का सूकर अभक्ष्य है ऐसा कहने से जंगल का भक्ष्य है ऐसा ( बिना कहे ही ) प्रतीत हो जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी । यदि शब्दों का उपदेश किया जाय, गौः ऐसा उपदेश करने पर यह (स्वयं) जाना जाता है कि गावी आदि अपशब्द हैं । और यदि अपशब्दों का उपदेश किया जाय, तो गायी आदि का उपदेश किये जाने पर यह ( अपने आप ) जाना जाता है कि गो शब्द है ।

यह वचन इदमप्रथमतया ( इससे पहले कोई दूसरा नहीं ) बतलाता है कि दर्शपूर्णमास इष्टियों में ग्रीहि का प्रोक्षण किया जाना चाहिये । यह ग्रीहि का संस्कारक होकर यज्ञाङ्ग है । इसका अनुष्ठान न हो तो यज्ञ विकलाङ्ग होगा । प्रवृत्त वचन न होना तो इसका हमें कैसे पता चलता ? जो किया कई प्रकार से ( क्रम से ) सम्पादन की जा सकती हो वही एकवा नियम कर देना नियम अथवा नियमविधि कहलाती है । अब यज्ञार्थ चावल ( ग्रीहि ) को वितुष ( धुप रक्षित ) करना इष्ट है । वितुष करना कई एक क्रियाओं द्वारा ( अनेक क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होने की योग्यता होने पर एक समय किसी एक से ) सम्भव है जैसे अवहनन अथवा अवघात ( उल्लसल में मूसल से बूटने ) से, मर्दन ( मसलने ) से अथवा नखविदलन ( नाखूनों से छीलने ) से । यहा शास्त्र नियम करता है ग्रीहीनवहन्ति, चावलो का अवघात ( ही ) करे । परित्यूख्या वह विधि है जो अपूर्व विधान तो कुछ नहीं करती जिसके न करने से प्रायश्चाय हो, पर एक ही समय में सम्भव, पहले से विदित, दो वा दो से अधिक क्रियाओं में से एक का निधम कर देती है । पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या । यह परिमद्ख्या है । यहा पाच पाच नखोंवाले शशक आदि का भक्षण का विधान नहीं किया गया । धुधा की निवृत्ति के लिये यत् किञ्चित् शशक आदि पदार्थ का भक्षण तो प्राप्त ही ( पहले से विदित ही ) है । मनुष्य ने इसे शास्त्र से नहीं सीखना । अब धुधा के शमन के लिये वह चाहे तो एक ही समय पाच-पाच नखों वाले शशकादि को भी खा सकता है और इन पाँचों से अतिरिक्त पाच नखोंवाले मनुष्य आदि को भी । अब इस प्रकार अनेक क्रियाओं की युगपत् प्राप्ति ( प्रसङ्ग ) होने पर शास्त्र नियम करता है पाच नखों वाले शशकादि पाँच ही भक्ष्य ( खाने योग्य ) हैं, अर्थात्

किं पुनरत्र ज्ञायः । लघुत्वाच्छब्दोपदेशः । लघीयाञ्छब्दोपदेशः । गरीयानपशब्दोपदेशः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः । इष्टान्वाटयानं खल्वपि भवति ।

अथैतस्मिन्शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः, गौरद्वयः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः । नेत्याह । अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः । एवं हि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं यपंसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाचै नान्तं जगाम । बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता,

तो इन दो उपायों में से बढ़िया उपाय कौन सा है ?

लघु होने से शब्दोपदेश । शब्दों का उपदेश दूसरे की अपेक्षा थोड़े में हो जाता है, अपशब्दों का उपदेश विस्तार से होता है । एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश (विकृत=मस्कार-रहित रूप) होते हैं । जैसे गौ इस एक शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश होने हैं । (साधु शब्द के प्रयोग में धर्म होता है इस कारण) इष्टप्राप्तिजनक शब्दों का भी इस प्रकार अन्वाटयान=अनुशासन हो जाता है ।

अब शब्दों का उपदेश होना चाहिये ऐसी व्यवस्था होने पर प्रश्न यह है कि शब्दों के बोध के लिये एक-एक करके शब्द पढ़े जायें जैसे गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः इत्यादि । नहीं ऐसा नहीं । शब्दों के बोध में शब्दों को एक-एक करके पढ़ देना कोई उपाय नहीं । ऐसा सुनते हैं—(देवगुरु) बृहस्पति ने एक हजार दिव्य यपों तक इन्द्र को प्रतिपदोक्त शब्द-पारायण पढ़ाया, पर समाप्ति तक न पहुँचे । बृहस्पति जैसा पढ़ाने वाला (भाचार्य) हो, और इन्द्र जैसा पढ़नेवाला शिष्य हो,

इन पावों से भिन्न पांच नग्नवाले श्रमश्च (न खाने योग्य) हैं । परिसङ्ख्या का निषेध में तात्पर्य होता है । प्रकृत में यदि शब्दों का उपदेश किया जाय तो उनका भक्षण से साक्षात् बोध हो जायगा और तदभिन्न अपशब्दों का निषेध साक्षात् न कहा हुआ भी गम्यमान (=प्रतीयमान) रहेगा । पांच नखोंवाले भक्ष्य ये हैं—शशकः शम्भकी गोधा खर्ग कूर्मश्च पञ्चम—खरगोश, सेहा, गोह, गण्डा और कछुआ ।

१ मानुष वर्ष ( = ३६५ दिन ) दिव्य ( देवताओं का ) एक दिन रात के बराबर है ।

२. शब्दपारायण शब्द योगसूट होकर ग्रन्थविशेष का नाम है ऐसा कैयट का कथन है । प्रतिपदोक्तानाम् इस विशेषण को देने के लिये फिर शब्दानाम् यह विशेष्य पड़ा है, यह भाग रही पुनरुक्ति को निवारण करने के निमित्त यत्न मात्र है । वस्तुतः यह वैदिक काल से चली आ रही एक शैली थी—जैसे विद्या हि त्वा गोपति शूर गोनाम् ( ऋ० १०।४।७।१ ) इत्यादि अनेक स्थलों में देखी जाती है ।

३. प्र पूर्वक ब्रू (बच्चा) का मुत्तार्थ पढ़ाना है—स्वाध्यायप्रवचनाभ्या मा प्रमदः ।

दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम किं पुनरद्यत्वे । यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति । चतुर्भिश्च प्रकारैर्विधोपयुक्ता भवति—आगमकालेन स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति । तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात् । तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः ।

कथं तर्हिमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः । किंचित्सामान्यविशेषबलक्षणं प्रवर्त्यम् । येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन् । किं पुनस्तत् । उत्सर्गापवादौ । कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः, कश्चिदपवादः । कथं-जातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्तव्यः कथंजातीयकोऽपवादः । सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः । तद्यथा कर्मण्यण् । तस्य विशेषेणापवादः । तद्यथा—आतोऽनुपसर्गे कः<sup>१</sup> ।

तिस पर भी एक हजार दिव्य वर्ष (हम्बा) पढ़ने का समय, तो भी समाप्ति न हो सकी, आज कल का तो कहना ही क्या । जो बहुत धिर तक जीता है वह सौ बरस जीता है ।

चार प्रकार से विद्या का उपयोग होता है—गुरु से पढ़ते समय, स्वयं गुरुमुख से अधीत की भावृत्ति करते समय, (शिष्यो को) पढ़ाते समय और यज्ञादि कर्म में व्यवहार (प्रयोग) के समय । उस प्रतिपद-पाठ की अवस्था में इस (विद्यार्थी) की सारी आयु गुरु से पढ़ते-पढ़ते ही समाप्त हो जायगी । अतः शब्दों के बोध के लिये प्रतिपद पाठ कोई उपाय नहीं ।

तो शब्दों को कैसे जाना जाय ?

कोई छोटा सा सामान्य-विशेष वाला शास्त्र बनाना चाहिये जिससे थोड़े से यत्न से बड़ी-बड़ी शब्द राशियों को जान जाय ।

ऐसे (शास्त्र) लक्षण का क्या स्वरूप है ?

उत्सर्ग और अपवाद । कोई लक्षण उत्सर्गात्मक होगा, कोई अपवादात्मक ।

उत्सर्ग का कैसा स्वरूप होता है । अपवाद का कैसा स्वरूप होता है ?

सामान्यरूप से कथन उत्सर्ग होता है जैसे कर्मण्यण्, कर्मकारक (मात्र) उपपद होने पर धातु मात्र से अण् प्रत्यय हो । उस उत्सर्ग का विशेष कथन से अपवाद, जैसे आतोऽनुपसर्गे क कर्म कारक (मात्र) उपपद होने पर उपसर्ग-रहित आकारान्त धातु से क प्रत्यय हो ।

१ आगमकालेन इत्यादि में आधार में करणत्व की विवक्षा करके तृतीया प्रयुक्त हुई है ऐसा नामेश का मत है । हमारा विचार है कि यहाँ उपलक्षण में तृतीया है, आगमकालेनोपलक्षिता विशेषयुक्ता उपयोगवती भवति ।

किं पुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम् । उभयमित्याह । कथं ज्ञायते । उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि । आकृतिं पदार्थं मत्वा जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम् इत्युच्यते । द्रव्यं पदार्थं मत्वा सरूपाणाम् इत्येकशेष आरभ्यते ।

क्या पद का अर्थ—जाति है अथवा द्रव्य ?

वैयाकरण कहता है—दोनों (जाति और द्रव्य) ।

(यह) कैसे जाना जाय ?

दोनों अर्थों को स्वीकार कर आचार्य पाणिनि ने सूत्र पढ़े हैं ।

पद का अर्थ जाति है ऐसा मान कर जात्याख्यायाम्—इत्यादि सूत्र पढ़ा है । द्रव्य पदार्थ है ऐसा स्वीकार कर सरूपाणाम् इत्यादि से एक शेष आरम्भ किया है ।

१ व्याकरण शास्त्र में किसी एक पक्ष से सर्वत्र व्यवस्था न हो सकने से वही जाति को पदार्थ माना है और वही व्यक्ति ( द्रव्य ) को । यदि एक ही पक्ष का सर्वत्र आश्रयण हो, व्यक्ति ही पदार्थ है ऐसा सर्वत्र इष्ट हो तो सम्पत्ता ग्रीह्य यहाँ व्यक्तियों ( धान्य के कणों ) का बहुत्व होने से बहुवचन सिद्ध है ( साध्य नहीं ) अतः उसके लिये जात्याख्यायाम्— इत्यादि बहुवचन विधान-रूप यत्र सूत्रकार क्यों करे । और यदि जाति ही पदार्थ है ऐसा मत अभिमत हो तो जाति नाम एकार्थ होना है, उसे कहने के लिये एक शब्द का ही प्रयोग प्राप्त होता है, उसी से तज्जात्यवच्छिन्न सकल व्यक्तियों की उपस्थिति हो जायगी, अतः अनेक व्यक्तियों को कहने के लिये अनेक शब्दों के प्रयोग का प्रसङ्ग ही नहीं, तो फिर सरूपाणाम् एकशेष— ( समानरूप वाले शब्दों में से एक रहे, अन्य निवृत्त हो जाय एक विभक्ति परे होने पर ) ऐसा योग-निर्माण करने का यत्र क्यों किया । इससे प्रतीत होता है कि यहाँ आचार्य पाणिनि व्यक्ति पदार्थ है ऐसा मान रहे हैं । यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिये कि जहाँ जाति पदार्थ होता है वहाँ जाति में क्रिया का अन्वय न हो सकने से जात्याश्रय ( जाति के अधिष्ठानभूत ) व्यक्ति का जाति द्वारा बोध होता है । ब्राह्मणो न हन्तव्यः । यहाँ ब्राह्मण शब्द जातिवाचक है, हनन किया ब्राह्मणत्व जाति में संभव नहीं, उसका व्यक्ति में ही अन्वय हो सकता है । जहाँ व्यक्तिपरक निर्देश है—इमा गावः सुदोहा, वहाँ जाति का उपलक्षक के रूप में बोध होता है । गावः=गोत्वो-पलक्षिता=गोत्वावच्छिन्ना गोव्यक्तयः=मास्नादिमन्तः पदार्थाः ।

किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित्कार्यः<sup>१</sup> । सद्यग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति । तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि । तत्र त्वेप निर्णयः—यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति ।

कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्—

सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे<sup>२</sup> १-१

सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ।

क्या शब्द नित्य है अथवा कार्य (अनित्य) ?

सग्रह ग्रन्थ में इस पर मुख्य रूप से विचार किया गया है कि शब्द नित्य है वा अनित्य । यहाँ दोनों पक्षों में प्रसक्त दोष कह दिये हैं । शास्त्र की प्रवृत्ति के प्रयोजन भी कह दिये हैं । वहाँ यही निर्णीत किया गया है, चाहे नित्य हो चाहे अनित्य, दोनों पक्षों में शास्त्रारम्भ होना ही चाहिये ।

तो किस अभिप्राय को लेकर भगवान् आचार्य पाणिनि का शास्त्र प्रवृत्त हुआ है ? (उत्तर)

(वा०) शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के सिद्ध रहते हुए ।

अब यहाँ सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है ?

सिद्ध शब्द नित्य का समानार्थक है ।

१. मीमांसक आदि कुछ लोग ध्वनि से व्यङ्ग्य नित्य वर्ण को ही शब्द मानते हैं । उन के मन में पद और वाक्य सब वर्ण-समूह-रूप ही हैं । वैयाकरण लोग वर्ण से भिन्न पदस्फोट या नित्य वाक्यस्फोट को ही शब्द मानते हैं । कुछ नैयायिक आदि केवल अनित्य ध्वनि को ही शब्द मानते हैं । उनके मत में सार्थक अनर्थक ध्वनि ही शब्द है । स्फोट की आवश्यकता नहीं । इस प्रकार शब्द विषय में सन्देह होने से यह प्रश्न किया गया है कि—किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित् कार्यः ।

२. दोनों अवस्थाओं में दोषों का निराकरण किया जा सकता है । इस हेतु से ।

३. किस अभिप्राय को लेकर, अर्थात् शब्द अर्थ और इनका सम्बन्ध इनकी सिद्धि को मानकर अथवा असिद्धि को । प्रश्न का तात्पर्य यह है कि यदि शब्द अर्थ और सम्बन्ध लोकसिद्ध हैं तो शास्त्रारम्भ व्यर्थ है और यदि ये असिद्ध हैं तो शास्त्रारम्भ शक्य ही नहीं । अर्थात् सर्वथा शास्त्र अनारम्भणीय ही ठहरता है ।

४. यह समाहार द्वन्द्व है—शब्दश्च, अर्थश्च, सम्बन्धश्चेति शब्दार्थसम्बन्धम्, तस्मिन् शब्दार्थसम्बन्धे । तीनों का त्रिकालाऽवाधित (नित्य) अवियोग दिखाने के लिये समाहार द्वन्द्व का आश्रयण किया है ।

अयं सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः । नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः । कथं ज्ञायते । यत्कूटस्थेष्वविचालिषु भाषेण वर्तते । तद्यथा—सिद्धा द्यौः सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाशमिति । ननु च भो कार्येऽपि वर्तते तद्यथा—सिद्ध ओदनः सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति । यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्निन्यपर्यायवाचिनो ग्रहणं न पुनः कार्यं यं सिद्धशब्द इति ।

संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभाषान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति । इहापि तदेव ।

अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि । तद्यथा—अम्भश्च वायुमक्ष इति—अप एव भक्षयति, वायुमेव मक्षयतीति गम्यते । एवमिहापि । सिद्ध एव न साध्य इति ।

यह कैसे जाना जाय ?

क्योंकि यह एक स्वरूप स्थित (अविनाशी), एकत्र नित्यावस्थित पदार्थों को कहने में प्रयुक्त होता है । जैसे द्युलोक सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है ।

क्यों जी, (सिद्ध शब्द) कृत्रिम (क्रिया से बने) पदार्थों को कहने में भी तो प्रयुक्त होता है । जैसे—भात (सिद्ध) बना है, दाल (सिद्ध) बना है यवागू (पतला भात) (सिद्ध) बनी है । चूँकि यह सिद्ध होने वाले अर्थों को कहने में भी प्रयुक्त होता है तो यहाँ नित्य समानार्थक का ग्रहण है न कि उस सिद्ध शब्द का जो सिद्ध होने वाले (क्रियानिर्गत=कार्य) अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह कैसे जाना जाय ?

संग्रह ग्रन्थ में 'सिद्ध' शब्द 'कार्य' शब्द के विरोधी रूप में प्रयुक्त होने से हम समझते हैं कि यहाँ 'नित्य' अर्थ वाले का ग्रहण है । यहाँ भा बँसा ही ।

अथवा एक (इकेले) पद से अवधारण (नियम) देखा जाता है । जैसे—अम्भश्च —पानी ही पीता है, वायुमक्षः, वायु ही खाता है—ऐसा बोध होता है । इसी प्रकार यहाँ भी । (नो) सिद्ध ही है साध्य (कभी) नहीं, ऐसा अर्थ जाना जाता है ।

१. कूटमयोधनः तद्दे ये तिष्ठन्ति । अयो हन्यतेऽस्मिन्निति अयोधन, वह लोह संघात (निहाई) जिनपर लोहे को कूटा जाता है ।

२. विचाल स्थानान्तरसङ्क्रम दूतरे स्थान में जाना विचाल कहलाता है । दूसरी जगह अष्टाध्यायी में रूपान्तरापत्तिर्विचाल रूप का बदलना विचाल का अर्थ अर्थात् है (काशिका ५।३।४३) ।

३. एकं पदं मत्वावधारणस्य तदेकपदम् (बहुव्रीहि) । एव शब्द का प्रयोग होने पर द्विपद अवधारण (नियम) होता है । एव वही शब्द होता है । शब्द के



— अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति ।  
तद्यथा—देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति ।

अथवा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् इति  
नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ।

किं पुनरनेन वर्ण्येन । किं न महता कष्टेन नित्यशब्द एवोपात्तः,  
यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात् । मङ्गलार्थम् । माङ्गलिक आचार्यो महतः  
शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि  
शास्त्राणि प्रथमं वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च  
सिद्धार्था यथा स्युरिति ।

अथवा यहाँ पूर्वपद का लोप समझना चाहिये । अत्यन्त सिद्ध को सिद्ध  
कह दिया है । जैसे देवदत्त को दत्त, सत्यभामा को भामा (कह देते हैं) ।

अथवा व्याख्यान (स्पष्टीकरण) से विशेष बोध हो जाता है, सन्देह मात्र से  
लक्षण भलक्षण नहीं बन जाता इस कथन के अनुसार यहाँ नित्यपर्यायवाची सिद्ध  
शब्द का ग्रहण है ऐसा व्याख्यान करेंगे ।

तो फिर इस यत्न से व्याख्येय ( सिद्ध ) शब्द से क्या लाभ ? गला खोल  
कर 'नित्य' शब्द ही क्यों नहीं पड़ा, जिसके उपादान से सन्देह ही न रहता ?

मङ्गल के लिये । मङ्गल ( अनिन्दित अभीष्ट अर्थ की सिद्धि ) चाहता हुआ  
आचार्य बड़े भारी शास्त्र-समुदाय ( =वार्तिक समूह ) के मङ्गल के लिये आदि में  
सिद्ध शब्द का प्रयोग करता है, क्योंकि आदि में मङ्गल वाले शास्त्र प्रचरित होते हैं,  
इनके जानने वाले वीर ( वाद में विजेता ) और दीर्घायुवाले होते हैं और पढ़ने वाले  
कृतार्थ होते हैं ।

बिना भी अर्थसङ्गतिवश जब नियम का बोध हो जाता है तब एकपद अवधारण  
कहा जाता है ।

१. अत्यन्तं कालपरिच्छेदेन सिद्धः = अत्यन्तसिद्धः, अर्थात् सभी कालों  
में सिद्ध ।

२. वर्ण्यं = व्याख्या योग्य, यत्न से व्याख्येय । शन्यार्थ में कृत प्रत्यय ।  
यत्नेन वर्णयितुं शक्यं वर्ण्यम् । व्याख्या-नाम्यम् ।

अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते । किं तर्हि । आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते । तद्यथा—नित्यप्रहंसितो नित्यप्रजल्पित इति । यावताभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते तत्राप्यनेनैवार्थः स्यात् व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति । पश्यति स्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्यामि चेन्न नित्यपर्यायवाचिन वर्णयितुमिति । अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्दः ।

अथ कं पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्यग्धे चेति । आकृतिमित्याह । कुत एतत् । आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम् ।

यह नित्य शब्द भी एक-रूप अविनाशी तथा एकत्रस्थित पदार्थों को ही कहता हो ऐसा कोई नियम नहीं । तो क्या ? आकृति ( अभ्यास ) अर्थ में भी आता है । जैसे—नित्य ( =बार-बार ) हँसता रहता है, नित्य बोलता रहता है । जब कि यह अभ्यास अर्थ में भी आता है तो वहाँ भी इसीसे निर्वाह हो जायगा ( इसीसे काम लेना होगा )—व्याख्यान से विशेष बोध हो जाता है, सन्देह मात्र से लक्षण मलक्षण नहीं हो जाता । पर आचार्य देखते हैं, आदि में प्रयुक्त हुआ सिद्ध शब्द मङ्गल के लिये रहेगा और (साथ ही) मैं इसे नित्य का पर्यायवाची भी बयला सकूँगा । अतः 'सिद्ध' शब्द ही पढ़ा है, 'नित्य' नहीं ।

अब प्रश्न होता है—किसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है—शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध के नित्य होने पर । आकृति को (पदार्थ मानकर) ।

यह कैसे ?

आकृति नित्य है, द्रव्य अनित्य है ।

१. नित्यं हसितुमारब्धः=प्रशब्द आदिकर्मणि । कर्तरि क ।

२. आदितः=आदौ । आद्यादित्वात् तसि । आद्यादिभ्य उपसक्तानाम् से यहाँ सब विभक्तियों के अर्थ में तसि प्रत्यय होता है ।

३. जब यह निश्चित हो चुका कि वार्तिक में सिद्ध शब्द नित्य का पर्यायवाची है तो प्रश्न होता है कि शब्दार्थसम्बन्धे इसका जो शब्देऽर्थे सम्बन्धे च ऐसा विग्रह किया गया है सो किसे पदार्थ मान कर किया गया है—जाति ( और आकृति ) अथवा द्रव्य । प्रश्नकर्ता जाति की सिद्धता ( नित्यता ) को तो समझ सकता है पर उसे आकृति और द्रव्य की नित्यता खटकती है, उसे स्वीकार करने में सकोच है । शब्दार्थसम्बन्धे इस द्वन्द्व के समीप में स्थित सिद्धे इस पद का शब्द, अर्थ,

अथ द्रव्ये पदार्थं कथं विग्रहः कर्तव्यः । सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे चेति । नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः ।

अथवा द्रव्य एव पदार्थं एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति । द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । कथं शायते । एवं हि दृश्यते लोके मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते । तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते । पुनरा-

यदि द्रव्य पदार्थ हो तो कैसा विग्रह करना चाहिये ।

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च इस प्रकार ( विग्रह करना चाहिये ) । क्योंकि शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य है ।

अथवा द्रव्य को पदार्थ मान कर भी यह विग्रह युक्त है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च ( शब्द, अर्थ, सम्बन्धों के सिद्ध होने पर ) । कारण कि द्रव्य नित्य है और आकृति अनित्य है ।

कैसे जानें ?

ऐसा लोक में देखते हैं मिट्टी किसी एक आकृति से युक्त पिण्ड ( गोला ) बन जाती है, पिण्ड भांगर को मिटाकर छोटे-छोटे घड़े बनाए जाते हैं, इन घड़ों की आकृति को मिटाकर कुण्डिकाएँ बनाई जाती हैं । इसी प्रकार सोना किसी एक आकृति से युक्त हुआ पिण्ड बन जाता है, पिण्डांगर को मिटाकर रुचक नाम के भूषण बनाए जाते हैं, रुचकों की आकृति को मिटाकर कड़े बनाए जाते हैं, कड़ों के आकार को मिटाकर स्वस्तिक बनाए जाते हैं । गलाया हुआ फिर सुवर्ण पिण्ड बना हुआ

सम्बन्ध—इन तीनों के साथ अन्वय होता है । द्रव्वादौ द्रव्दान्ते द्रव्समीपे ॥ ध्रुवमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते—ऐसा न्याय है ।

१. यहाँ द्रव्य के अनित्य होने से अर्थों को सम्बन्ध का विशेषण बना दिया गया है । पर फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनित्य अर्थों के साथ शब्दों का सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है ? वह इस तरह से है कि शब्द में अर्थबोधन की योग्यता सहज है । यही योग्यता शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है । वह अर्थ के अनित्य होते हुए भी अनित्य नहीं हो जाता । नष्ट और भावी वस्तु का भी शब्द से बोध होने से बौद्ध ( आन्तर, सूक्ष्म, वासना रूप से स्थित ) अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध बना रहता है ।

वृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णं कुण्डले<sup>१</sup> भवतः । आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते ।

आकृतावपि पदार्थ एव विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थं सम्बन्धे चेति । ननु चोक्तम्—आकृतिरनित्येति । नैतदस्ति । नित्याऽऽकृतिः । कथम् । न कचिदुपरतेति कृत्या सर्वत्रोपरता भवति । द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते ।

अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजन-विकार्यनुत्पत्त्यवृद्धघट्ययोगि यत्तन्नित्यम् इति । तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते ।

सोना फिर किसी दूसरी आकृति से युक्त होकर रँग के (घघन्ते हुए) कोयले के समान दो कुण्डलों के रूप में परिणत हो जाता है । आकृति (बदलकर) और होती जाती है, द्रव्य वैसे का वैसा रहता है । आकृति-विशेष के नाश होने पर द्रव्य ही बचा रहता है ।

आकृति (जाति) को भी पदार्थ मानकर यह विग्रह युक्त है—सिद्धे शब्दे अर्थं सम्बन्धे च ।

अजी अभी कहा था—आकृति अनित्य है । ऐसा नहीं । आकृति नित्य (ही) है । कैसे ?

किसी एक द्रव्य में अनभिध्यक्त (अनुद्भूत=अप्रत्यक्ष) होने से सभी द्रव्यों में अनभिध्यक्त रहे ऐसा नहीं, दूसरे द्रव्य में तो इसकी उपलब्धि होती ही है ।

अथवा कोई यही नित्य का लक्षण नहीं—जो ध्रुव (=कूटस्थ) एक मात्र रूप में अस्तित्व (रूपान्तर-प्रतिभास-रहित), परिणाम-रहित, उपजन (=विपरिणाम) अपचय रूप विकार-रहित, उत्पत्ति वृद्धि और क्षय-रहित हो वह नित्य होता है । वह भी नित्य होता है कि जिसके नष्ट होने पर उसमें रहने वाला धर्म (तत्त्व) नष्ट न हो ।

१. आकृत=आवर्तित, ओटाया हुआ, गलाया हुआ । आन्पूर्वक पृत् (णिच्) का ऐसा अर्थ है इसमें अमरकोष का तैजसावर्तनी भूपा यह पाठ प्रमाण है ।

२. इस पर नागेश का वचन है—अच्यन्ते विवृतेः कर्तृत्वं बोध्यम् । यह वान भी प्रायिक है । इस विषय में हमारी कृति शब्दापशब्दविवेक की भूमिना में उद्देश्य-विधेय प्रकरण देखें ।

३. यहाँ ध्रुव शब्द का कूटस्थ व्याख्यान है, अर्थान्तर नहीं । इतना कहने से संसर्गानित्यता (संसर्ग=संश्लेष, सामीप्य के कारण जो अनित्यता) का परिहार

किं पुनस्तत्त्वम् । तद्भावस्तत्त्वम् । आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते ।

अथवा किं न एतेन—इदं नित्यमिदमनित्यमिति । यन्नित्यं तं पदार्थं  
मत्तैप विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ।

कथं पुनर्ज्ञायते—सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति ।

लोकतः १-२

यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुज्यते, तेषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति ।  
ये पुनः कार्या भाषा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते । तद्यथा—घटेन कार्यं  
करिष्यन्कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति । न ताव-

तो तत्त्व क्या पदार्थ है ?

किसी वस्तु का स्वरूप, (उसमें रहने वाला धर्म जो उसके स्वरूप को बनाता  
है वह) तत्त्व है । आकृति में भी तत्त्व नष्ट नहीं होता ।

अथवा हमें इससे क्या—यह नित्य है, यह अनित्य है, जो भी नित्य है  
(आकृति हो वा द्रव्य हो) उसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है—सिद्धे  
शब्देऽर्थे सम्बन्धे च ।

यह कैसे जाना जाय कि शब्द, अर्थ, सम्बन्ध ये तीनों ही नित्य हैं ?

(वा०) लोक से ।

क्योंकि लोक में उस-उस अर्थ को कहने के लिए शब्दों का प्रयोग करते हैं,  
पर इन शब्दों के निर्माण में यत्न नहीं करते । परन्तु जो पदार्थ क्रिया से निष्पन्न होते  
हैं उनकी निष्पत्ति (सिद्धि) के निमित्त यत्न किया जाता है । जैसे—घड़े से काम लेना  
चाहता हुआ दुम्हार के घर जाकर कहता है—घड़ा बनाइये, मैं इससे काम लूँगा ।

किया है । जैसे स्फटिक ( विलौर ) के पास लाक्षा आदि के पड़े होने से उसका अपना  
स्वरूप तिरोहित हो जाता है और लाक्षा का रूप ( लौहित्य=लाली ) उसमें प्रति-  
भासित होने लगता है । ज्यों ही लाक्षा को परे हटाओ यह लौहित्य-प्रतिभास भी हट  
जाता है । त्रिचाल कहते हैं रूपान्तरोत्पत्ति को, जो परिणाम कहलाता है । धर्मी  
( वस्तु ) के अवस्थित रहते हुए उसमें जो पूर्व धर्म की निवृत्ति होकर एक नये धर्म  
की उत्पत्ति होती है उसे साङ्ख्य दर्शन में परिणाम कहते हैं जैसे बदरी फल में परिपाक  
होने पर द्यामता तिरोहित हो जाती है और रक्तिमा ( लाली ) का आविर्भाव हो जाता  
है—यही परिणाम है । इसी प्रकार दूध का दही रूप विकार परिणाम है । अविचालि  
कहने से परिणामानित्यता का भी परिहार कर दिया है । शेष अनपाय-इत्यादि विशेषणों  
से प्रध्वंसानित्यता का निरास कर दिया है । अनपायोपजनविकारि—इसका विग्रह इस  
प्रकार है—अपायश्च उपजनश्च इत्यपायोपजनौ, तौ च विकारौ च ( कर्मधारयः ),

छद्मान्प्रयुक्तमाणां धैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति । तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुज्यते ।

यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते ।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः १-३

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते । किमिदं धर्मनियम इति । धर्माय नियमो धर्मनियमः, धर्माथो<sup>३</sup> वा नियमो धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमो धर्मनियमः ।

यथा लौकिकवैदिकेषु १-४

पर शब्दों का प्रयोग करना चाहता हुआ धैयाकरण के घर जाकर नहीं कहता है—(मेरे लिये) शब्द बना दीजिये, मैं इन्हें प्रयुक्त करूँगा । उसी समय (विवक्षा होते ही) उस-उस अर्थ को कहने के लिये शब्दों का प्रयोग करते हैं ।

यदि लोक शब्द, अर्थ, सम्बन्ध—इनमें प्रमाण है (अर्थात् ये तीनों सिद्ध हैं ऐसा बताता है) तो शास्त्र क्या बनाता है ?

(वा०) लोक व्यवहार से अर्थ के निमित्त शब्द का प्रयोग सिद्ध होने पर शास्त्र धर्म का नियम करता है । धर्मनियम का क्या अर्थ है ? धर्म के लिये नियम, धर्म-रूप नियम, धर्म है प्रयोजन (प्रयोजक) जिसका ऐसा नियम ।

वा० जैसे लोक और वेद में १-४

अस्य स्तः, इत्यपायोपजनविकारि (मन्त्रार्थ इति.), तद्विघ्नम् अनपायोपजनविकारि । यहा धर्मार्थमि ने जो छः भाव विकार माने हैं उन्हीं का निषेधमुख परिगणन किया गया है । अणय, उपजन, उत्पत्ति (=सत्ता व जन्म), वृद्धि, व्यय (नाश) । व्ययेन योगोऽस्यास्ति इति व्यय-योगि, तद्विघ्नम् अव्यययोगि ।

१. धर्माय नियम.—यह तादर्थ्य सम्बन्ध को दिखाने के लिये अर्थ-निर्देश है, विग्रह-वाक्य नहीं ।

२. यहा नियम धर्म के लिये है जनः नियम को धर्म नाम से कह दिया है । जो जिसके लिये होता है उसे वही नाम दे दिया जाता है । तादर्थ्यानाच्छब्दम् । सो यहा कर्मधारय समास विवक्षित है, जिसका विग्रह होगा—धर्मश्चासौ नियमश्च ।

३. धर्मप्रयोजन. का फलितार्थ धर्मप्रयोज्य है । प्रभाकर आदि के मत में लिङ् आदि का क्रियाजन्य अपूर्व (अष्ट) रूप कार्य वाच्य है । जन वह अपनी मिद्धि के लिये पुरुष को प्रेरित करता है तो उसे नियोग कहते हैं, वही धर्म है । यही धर्म असाधु-शब्द के निवृत्तिरूप नियम का कारण बनता है । इन के मत में अपूर्व (धर्म) ही यागादिका मरय फल है, स्वर्गादि तो गौण ।

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये' यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुज्यते । अथवा युक्त एवात्र तद्धितः । यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु । लोके तावद् अभक्ष्यो ग्राम्यकुम्भकुटः, अभक्ष्यो ग्राम्य-सूकर इत्युच्यते । भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम् । तत्र नियमः क्रियते—इदं भक्ष्यमिदम-भक्ष्यमिति । तथा—खेदात्क्षीपु प्रवृत्तिर्मवति । समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च । तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्येयमगम्येति । वेदे

दाक्षिणात्य (दक्षिण में रहने वाले) लोग तद्धित-रुचि होते हैं, जैसे लोके वेदे च ( लोक व वेद में ) इस प्रकार प्रयोग न कर लौकिकवैदिकेषु ऐसा व्यवहार करते हैं । अथवा यहाँ तद्धित युक्त ही है ( इस में तद्धितप्रियता कारण नहीं ), जैसे लोक-प्रसिद्ध व वेदप्रसिद्ध सिद्धान्तो ( सिद्धान्त प्रतिपादक वाक्यों ) में । लोक में कहा जाता है—ग्राम का कुक्कुट अभक्ष्य है, ग्राम का सूकर अभक्ष्य है । भोज्य पदार्थ का ग्रहण क्षुधा की निवृत्ति के लिये किया जाता है और क्षुधा को पुरूप कुत्ते के मांस आदि से भी मिटा सकता है । वहाँ नियम किया जाता है—यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है । इसी प्रकार राग से पुरूप स्त्री से समागम करता है और स्त्री चाहे समागम योग्य हो अथवा समागम के अयोग्य, राग की निवृत्ति तो ( दोनों में ) एक सी है । वहाँ नियम किया जाता है—यह समागम-योग्य है और यह समागम के अयोग्य । वेद में

स्वात्मसिद्धयमुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये ।

कुर्वेत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव नः ॥

१. समुदायेषु वृत्ता' शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते—अर्थात् शब्दोंका कुछ ऐसा स्वभाव है कि जो समुदाय-वाचक शब्द होते हैं वे समुदाय के एकदेश को कहने में भी व्यवहृत हो जाते हैं । लोक और वेद दोनों शब्द समुदायरूप अर्थ को कहते हैं और लोक के एकदेश ( अवयव ) और वेद के एकदेश ( अवयव ) को भी । ऐसी अवस्था में यथा लोके वेदे च ऐसा ही कहना युक्त ( गौरवदोष-रहित ) होता । पर तद्धित में रुचि-विशेष के कारण वार्तिस्मर समुदाय ( अवयवी ) लोक व वेद और इनके एकदेश ( अवयव ) में ( जो वस्तुतः अभिन्न हैं ) भेद की कल्पना करके आधाराधेय भाव रूप सम्बन्ध बनाने पर तत्र भव. इस अर्थ में तद्धित ( ठन् ) प्रत्यय करते हैं । अर्थ केवल 'लोक में' 'वेद में' इतना ही है । जब कृतान्त विशेष्य हो तो वह न लोकस्वरूप है न वेदस्वरूप, किंतु लोक और वेद के अन्दर वर्तमान है, वहा आधाराधेय-भाव वास्तव है, अतः तत्र भवः अर्थ में तद्धित युक्त ही है । तद्धितप्रियता तद्धितप्रत्यय करने में हेतु नहीं ।

२ शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम् । शक् धातु से लिङ्-सर्वनाम नपुंसक युक्त कर्म-सामान्य में यत् प्रत्यय कर के शक्यं क्षुत् प्रतिहन्तुम् यह रूप बना है । पीछे से क्षुत् इस खीलिङ्ग पद के साथ सम्बन्ध होने पर भी अन्तरङ्गसंस्कारो बहिरङ्ग-

सत्यपि—पयोव्रतो' ब्राह्मणो यवागूवतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्य इत्युच्यते । व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन शालिमांसादीन्यपि व्रतयितुम् । तत्र नियमः क्रियते । तथा वैश्वः खादिरो वा यूपः स्यात् इत्युच्यते । यूपश्च नाम पशुपशुवन्धार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन यत्किञ्चिदेव काष्ठमुच्छिद्यमानुच्छिद्य वा पशुरनुवन्दुम् । तत्र नियमः क्रियते । तथा अग्नौ कपालान्यधिधित्याभिमन्त्रयते—भृगुणामद्विरसां घर्मस्य तपसा तप्यध्वम् इति । अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनस्मा कपालानि सन्तापयति । तत्र च नियमः क्रियते—एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति । एवमिहापि

भी—ब्राह्मण दूध का आहार करे, क्षत्रिय यवागू ( पतली भात ) का ही और वैश्य आमिक्षा का ही । कोई भी खाद्य वस्तु आहार रूप में ही जा सकती है यह मांसादन, भादि का भी आहार कर सकता है । वही नियम रिया जाता है ।

इसी प्रकार यूप बिल्व का अथवा खैर का बना होना चाहिये ऐसी विधि है । यूप पशु बाँधने में उपयुक्त होता है । कोई व्यक्ति किसी भी काष्ठ को लेकर उसे छील कर ( तराश कर ) अथवा जिना छीले उससे पशु को बाँध सकता है । वही नियम किया जाता है । इसी प्रकार अग्नि पर कपालों को रख कर उस पर मन्त्र पढ़ता है—भृगुओं और अद्विरस् गोत्र के ऋषियों के तेज की गरमी से तपो । मन्त्र के बिना भी जलाने की क्रिया करने वाला अग्नि कपालों को तपायेगा ही । वही नियम किया जाता है—ऐसा करना कल्याणकारी होता है । इसी प्रकार वही भी शब्द और

संस्कारेण न बाध्यते । दम न्याय में शक्यम् यह नपुमक लिङ्ग ही रहेगा । शक्या इस प्रकार स्त्रीलिङ्ग नहीं बनेगा । जैसा कि रामायण में भी प्रयोग है शक्यमभ्रलिभि पातुं बाता केतकगन्धिन । यदि पहले में क्षुब्ध रूप नर्मविशेष के साथ सम्यन्ध करके शब्द से यन् प्रत्यय करेंगे तो स्त्रीलिङ्ग का विशेषण शक्य क्षुब्ध प्रतिहन्तुम् ही बनेगा । उस में यदि प्रणिघात किया का क्षुब्ध कर्म विवक्षित हो और शत्रूनि जिना का प्रणिघात, तब क्षुब्ध प्रतिहन्तुं शक्यम् ऐसा तात्पर्य रूप बनेगा । ये तीनों ही रूप उक्त रीति से शुद्ध हैं ।

१. पयो व्रतयन्तीति पयोव्रत । कर्मव्यण् । यहा व्रत प्राणिपदिक से भोजन ( खाने ) अर्थ में भिच् होकर व्यन्त घातु व्रति से अण् कृन् प्रत्यय हुआ है । व्रतयति=भुङ्क्ते । अन्यत्र व्रतयति=भोजन परिहरति ।

२. क्षार के योग से सन्तत दूध के पट्ट जाने पर उसका जो तरल भाग है, उसे आमिक्षा कहते हैं, स्थूत्र भाग को वाजिन कहते हैं ।

३. उच्छिद्य-सन्तस्थ, छँलकर, तराशकर । धिन् का ल्यन्त रूप है । उद् उपसर्ग-वश अर्धान्तर हुआ है यही सगत अर्थ है । गाड़कर तथा साधा खड़ा कर यह अर्थ नहीं, कारण कि यहा दो प्रकार का नियम किया गया है । पशुवन्धन काष्ठ विन्ध होना चाहिये या खैर, इस से अतिरिक्त नहीं । दूसरा नियम यह है कि वह काष्ठ यूप-



समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते शब्देनैवार्थो-  
ऽभिधेयो नापशब्देनेति । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ।

अस्त्यप्रयुक्तः

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः । तद्यथा—ऊप, तेर, चक्र, पेचेति ।

किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः । प्रयोगाद्धि भवाञ्छन्दानां साधुत्वमध्यव-  
स्यति । य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्यः ।

इदं तावद् विप्रतिपिद्धं यदुच्यते सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता इति ।  
यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः, अथाप्रयुक्ता न सन्ति, सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रति-  
पिद्धम् । प्रयुज्जान एव खलु भवानाह—सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति । कश्चे-  
दानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरूपः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात् । नैतद्  
विप्रतिपिद्धम् । सन्तीति तावद् धूमः, यदेताश्शास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते ।

अपशब्द से एक बराबर अर्थ बोध होने पर धर्म नियम किया जाता है—शब्द से  
अर्थ कहना चाहिये, अपशब्द से नहीं । ऐसा करने से अभ्युदय होता है ।

(वा०) अप्रयुक्त (शब्द) भी है ।

निश्चय ही अप्रयुक्त शब्द भी हैं । जैसे—ऊप, तेर, चक्र, पेच ।

इससे क्या, यदि अप्रयुक्त शब्द भी हैं ?

आप प्रयोग से ही तो शब्दों के साधुत्व का निश्चय करते हैं । हो सकता है  
जो अप्रयुक्त हैं वे असाधु हों ।

यह कहना कि अप्रयुक्त शब्द हैं, परस्पर-विरुद्ध है । यदि शब्द हैं तो अप्रयुक्त  
नहीं हैं, और यदि अप्रयुक्त हैं तो नहीं हैं, हैं भी और अप्रयुक्त भी, यह परस्पर-  
विरोधी बात है । ( और यह भी बड़ा कौतुक है कि ) आप ऊप तेर आदि शब्दों का  
प्रयोग करते हुए ही यह कहते हैं कि (वे) शब्द अप्रयुक्त हैं ।

इस समय आप जैसा दूसरा कौन पुरूप शब्दों के प्रयोग में चतुर होगा ? (नहीं)  
यह परस्पर विरोधी वचन नहीं है । हम कहते हैं शब्द हैं क्योंकि शास्त्रकार इनका शास्त्र

रूप होना चाहिये । यूप-रूपापत्ति बिना तक्षण आदि व्यापार के संभविनी नहीं, क्योंकि  
कहा है—अष्टाश्रियूपो भवति ( आठ किनारों वाला यूप होता है ) । अतः निखनन  
(गाड़ना) और उच्छ्रयण (सीधा खड़ा करना) यद्यपि दोनों विधि के अंग हैं पर प्रवृत्त  
नियम का विषय नहीं हैं । यूपमुच्छ्रयते इस नियम विधि का यहा अर्थ भी नहीं है ।

१. साधु का यहा कुशल अर्थ है । यहाँ भाष्यकार की प्रशंसा में तात्पर्य है ।  
दूसरे लोग यहाँ सोत्प्राप्त (कटाक्षगर्भित) वचन समझते हैं । प्रयोग करना और साथ  
ही कहना कि ये शब्द प्रयुक्त नहीं होते, यह तो बड़ी चतुराई (चालाकी) है ।

अप्रयुक्ता इति धूमः, यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति । यदप्युच्यते—कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधु स्यादिति । न नृमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति । किन्तु हिं लोकेऽप्रयुक्ता इति । ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके । अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः ।

अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात्

अस्त्यप्रयुक्त इति चेत् । तन्न । किं कारणम् । अर्थे शब्दप्रयोगात् । अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते । सन्ति चेपि शब्दानामर्थः येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते ।

अप्रयोग प्रयोगान्यन्यात्

द्वारा अनुकरण ( अथवा अन्वाख्यान ) करते हैं । हम कहते हैं य अप्रयुक्त है, क्यात्रि लोक में इनका प्रयोग नहीं । यह तुम्हारा कहना कि इस समय आप 'सा' दूसरा कान पुरुष शब्दों के प्रयोग में चतुर होगा, ( इसमें हमारा यह कहना है कि, हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हमारे द्वारा अप्रयुक्त हैं, किन्तु लोक में अप्रयुक्त है ।

क्यों जी, आप भी तो लोक के भीतर ही हैं ।

(ठीक है) मैं लोक के भीतर हूँ, पर एक तो नहीं हूँ ।

(वा०) शब्द अप्रयुक्त भी होता है—यदि ऐसा कहा तो ठीक नहीं । अर्थ में शब्द का प्रयोग होने से ।

शब्द अप्रयुक्त भी है ऐसा कहना ठीक नहीं, कारण कि अर्थ का कहन के लिये शब्दों का प्रयोग होता है और इन शब्दों के अर्थ से जिनमें ये प्रयुक्त हात है ।

(वा०) अप्रयोग ( भी ठीक ही है ), इनके स्थान में अन्य शब्दों का प्रयोग होने से ।

१ इससे अप्रयुक्त ( असाधु ) शब्दों का अन्वाख्यान करनेवाला व्याकरणम्भूति अप्रमाण हो जायगा ।

२ अभ्यन्तरोहं लोके इत्यादि । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक शब्द को अर्थ बोधन कराने के लिये प्रयुक्त करता है वैसे मैंने इनका प्रयोग नहीं किया, मने तो इनका स्वरूप दिखाने के लिये उच्चारण किया है । एक शब्द से भाव्यकार का अभिप्राय जन समुदाय से है जो अर्थ को कानों के लिये शब्दों का प्रयोग करता है । ऊपर, तेर, चक्र, पेच—ये क्रम से वस, तृ, वृ, पच घातुआ के णिड लकार के मध्यम पुरुष बहुवचन में रूप है ।

३ प्रयुज्यत इति प्रयोग शब्द, सोऽन्यो यस्यार्थस्य स प्रयोगान्य । यहा पूर्व निपात प्रकरण के अनित्य होने से सर्वनाम अन्य का पर निपात हुआ ।

अप्रयोगः सत्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः । कुतः । प्रयोगान्यत्वात् । यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याच्छब्दान्प्रयुज्यते । तद्यथा—ऊपेत्यस्य शब्दस्यार्थे क यूयमुपिताः, तेरेत्यस्यार्थे क यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे क यूयं कृतवन्तः, ऐचेत्यस्यार्थे क यूय पक्वन्त इति ।

अप्रयुक्ते दीर्घसत्रम्

यद्यप्यप्रयुक्ता अवश्यं दीर्घसत्रबहुक्षणेनानुविधेयाः । तद्यथा दीर्घ-सत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च । न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति । केवलमुपिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते । सर्वे देशान्तरे

इन शब्दों का अप्रयोग भी ठीक ही है । कैसे ? अन्य शब्दों का प्रयोग होने से । क्योंकि इन शब्दों के अर्थ में दूसरे शब्दों का प्रयोग करते हैं । जैसे—ऊप इस शब्द के अर्थ में क यूयमुपिता ( आप कहाँ रहे ) इस वाक्य में उपित शब्द का प्रयोग, तेर इस शब्द के अर्थ में क यूयं तीर्णा ( तुम कहाँ तैरे ) इस वाक्य में तार्ण शब्द का प्रयोग और चक्रे शब्द के अर्थ में क यूय कृतवन्त ( तुमने कहाँ कार्य किया ) इस वाक्य में कृतवन्त शब्द का प्रयोग तथा ऐचे इस शब्द के अर्थ में क यूय पक्वन्त ( तुमने कहाँ पकाया ) इस वाक्य में पक्वन्त शब्द का प्रयोग ।

( बा० ) अप्रयुक्त शब्दों के विषय में दीर्घसत्रों की तरह ।

यद्यपि अप्रयुक्त हैं तो भी हमने समय तक रहने वाले यज्ञों की तरह शास्त्र-द्वारा इनका अन्वाख्यान करना ही होता है । जैसे सौ वर्ष तक और हजार वर्ष तक रहने वाले यज्ञ होते हैं, पर आजकल इन्हें कोई नहीं करता । केवल वेदाध्ययन धर्म है ऐसा मानकर याज्ञिक लोग शास्त्र से इनका अन्वाख्यान करते हैं ।

( बा० ) सभी ( अप्रयुक्त शब्द ) दूसरे देशों में ।

१ वर्षाणां शत वर्षशतम् । वर्षशत ( द्वितीया ) भावीनि वार्षशतिकानि । प्राग्वतीयदृष्टम् ।

२ ऋषि-वेद । सम्यग्दाय—सम्यक् प्रकर्षेण दीयते गुरुणा शिष्यायेति । गुरुव्यायनपूर्वक ही शिष्य का वेदाध्ययन होता है ।

३ जिस प्रकार दीर्घ सत्रों के आजकल न किये जाने पर भी उनके विषय के अध्ययन और ज्ञान से पुण्य होता है, इसा प्रकार पाणिनि के समय में अप्रयुक्त पर उससे पूर्व प्रयुक्त शब्दों के ज्ञानमात्र से पुण्य होता है, अतः उनका इस व्याकरण में अनुशासन समूल और युक्त ही है । किं च । इन शब्दों का पूर्वकाल में प्रयोग होता था, यह भी वर्तमान व्याकरणस्थिति में इनके अनुशासन के बल पर ही जाना जाता है ।

४ वस्तुतः जिन शब्दों को हम अप्रयुक्त समझते हैं वे भी किसी न किसी

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते । न चैषोपलभ्यन्ते । उपलब्धो यत्नः क्रियताम् । महाशब्दस्य प्रयोगविषयः । सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्यर्ग्य-शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकाविंशतिधा बाह्वृच्य<sup>२</sup>, नत्रधाऽऽथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्<sup>३</sup>, इतिहासः, पुराण वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचन केवल साहसमात्रमेव । एतस्मिन्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते । तद्यथा शक्तिर्गतिर्मा कर्मो जेप्येव भाषितो भवति । विकार एनमार्या भाषन्ते शब्द इति । हम्मतिः सुराप्येषु, रहति

ये सभी (अप्रयुक्त) शब्द दूसरे देशों में प्रयुक्त होते हैं, पर हमारी उपलब्धि का विषय तो नहीं है । उपलब्धि के लिये यत्न करना चाहिये । शब्द प्रयोग का बहुत बड़ा क्षेत्र है । प्रथम तो पृथिवी के ही सात द्वीप हैं । तीन लोक हैं । चार वेद हैं अत्र और रहस्य सहित । इनके नाना भेद हैं—यजुर्वेद की १०१ शाखा हैं, सामवेद के १००० मार्ग हैं, बह्वृचों का आम्नाय २१ प्रकार से भिन्न है और अथर्ववेद ९ प्रकार से । (यही नहीं) वाकोवाक्य भी है, इतिहास है, पुराण है और वैद्यक भी—इतना शब्द के प्रयोग का विषय है । इस सारे शब्द के विषय को जाने बिना 'अप्रयुक्त शब्द भी हैं' ऐसा कहना केवल साहसमात्र है ।

इस बहुत बड़े प्रयोगक्षेत्र में शब्द अपने-अपने नियत विषय में ही प्रयुक्त होते हैं ।

जैसे शब्द धातु का तिङन्त रूप में कर्मो लोग ही प्रयोग करते हैं, आर्य लोग इससे बने हुए (कृदन्त) शब्द का प्रयोग करते हैं । हम्म धातु सुराप्य देश में, रह प्राप्य और मध्य देश में देखी जाती हैं । आर्य लोग तो (इस अर्थ में) गम् का

दूसरे देश में प्रयुक्त होते हैं । केवल हमारा उनके विषय में ज्ञान नहीं होता, कारण कि प्रयोग का क्षेत्र अति महान् है ।

१ रहस्य शब्द का अर्थ उपनिषद् है, कोई वेदमूलक मन्वादि स्मृति का भी रहस्य कहते हैं ।

२ बहव ऋच एषां सन्ति ते बह्वृचा, ऋग्वेदिन । बह्वृचानाम् आम्नाय (वेद) बाह्वृच्यम् ।

३. प्रदोत्तरूप ग्रन्थ को वाकोवाक्य कहते हैं । जैसे—कि स्विदावपन महद् भूमिरावपन महत् (यजु २३।४५-४६) ।

प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुज्यते । दातिर्लवनाथं प्राच्येषु, दाचमुदीच्येषु ।

ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते । क । वेदे । तद्यथा—‘सप्तास्ये रेवती रेवदूर्ध्वं, यद्वो रेवती रेवत्यं तदूर्ध्वं, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्रं, यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्’ इति ।

किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्म आहोस्वित्प्रयोगे ।

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः ।

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मोऽपि प्राप्नोति । यो हि शब्दाज्ञानात्पप-  
शब्दानप्यसौ जानाति । यद्यैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः ।  
अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकै-  
कस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोता  
गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।

ही प्रयोग करते हैं । दा ( तिङन्त ) का काटने अर्थ में प्रयोग प्राच्य लोगों में होता है, दाच ( वृद्धन्त नाम ) का प्रयोग उदीच्य लोग करते हैं ।

और जो शब्द आपने अप्रयुक्त मान रखे हैं उनका प्रयोग भी होता है । कहाँ ? वेद में । जैसे सप्तास्ये इत्यादि श्रुति में उस का प्रयोग है, यन्मे इत्यादि श्रुतियों में चक्र शब्द का प्रयोग है ।

क्या शब्द के ज्ञान में धर्म ( लाभ ) होता है अथवा प्रयोग में ?

( वा० ) यदि ज्ञान में धर्म हो तो वैसे अधर्म ( भी होना चाहिये ) ।

ज्ञान में धर्म कहोगे तो अधर्म भी होना चाहिये । जिस प्रकार शब्द-ज्ञान में धर्म होता है इसी प्रकार अपशब्द ज्ञान में अधर्म भी होगा । अथवा अधर्म अधिक होगा । अपशब्द अधिक हैं और उनकी अपेक्षा शब्द थोड़े हैं । एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश होते हैं । जैसे गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश हैं ।

१ ऋ० सं० ४।११।४ ॥ ऋ० सं० १।६५।११ ॥ ऋ० सं० १।८९।१॥

२ एक शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गं लोके कामधुग् भवति—ऐसी श्रुति है । चार्तिककार से कहा हुआ धर्म-नियम श्रुतिमूलक है । पर इस श्रुति में ज्ञान और प्रयोग दोनों में धर्म ( अभ्युदयरूप फलवाला ) कहा गया है । अतः प्रकृत में प्रदत्त किया गया है । क्या ऐसा समझा जाय कि ज्ञान से धर्म होता है, शुद्ध प्रयोग तो केवल इस बात का सूचक होता है कि शब्द अच्छी तरह जाना गया है अथवा मैं समझें कि शुद्ध प्रयोग से धर्म होता है, शुद्ध प्रयोग हुआ है इसका सम्यक् ज्ञान से अनुमान होता है ।

एवं तर्हि नापि ज्ञान एव धर्मो नापि प्रयोग एव । किन्तर्हि

शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते । तत्तुल्यं वेद-  
शब्देन । वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं  
वेदं, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद ।

अपर आह—तत्तुल्यं वेदशब्देनेति । यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः  
फलवन्तो भवन्त्येवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते  
इति ।

अथवा पुनरस्तु ज्ञान एव धर्म इति । ननु चोक्तम्—ज्ञाने धर्म इति  
चेत्तथाऽधर्म इति । नैष दोषः । शब्दप्रमाणका वयम् । यच्छब्द आह  
तदस्माकं प्रमाणम् । शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापिशब्दज्ञानेऽधर्मम् ।

ऐसी स्थिति में ( प्रयत्न की अनर्थकता होने पर ) यह मानना होगा कि न तो  
केवल ज्ञान में धर्म है और न केवल प्रयोग में, किन्तु—

( ३० ) शास्त्रबोध-पूर्वक प्रयोग में धर्म है, वेद भी ऐसा ही कहता है । जो  
कोई शास्त्र को जानकर ( साधु रूप से ) शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से  
युक्त होता है । वेद के शब्द भी ऐसी ही बात कहते हैं—जो अग्निष्टोम याग करता है  
और जो इसे ( शास्त्र से ) जानता है, जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है और  
जो इस चयन को ( विधिशास्त्र से ) जानता है ।

दूसरा कोई तत्तुल्यं वेदशब्देन इसका इस प्रकार व्याख्यान करता है—जिस  
प्रकार वेद के शब्द नियमपूर्वक पढ़े गये फल वाले होते हैं इसी प्रकार जो शास्त्रज्ञान-  
पूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है ।

अथवा फिर ज्ञान में ही धर्म मान लो । भजी, अभी कहा था—

यदि ज्ञान में धर्म मानोगे तो उसी प्रकार अधर्म भी प्राप्त होगा । यह कोई  
दोष नहीं । हम शब्द ( श्रुति भाक्तोपदेश ) को प्रमाण मानते हैं । शब्द, शब्द के  
ज्ञान में धर्म कहता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं कहता । और जो कोई कर्म न

१. यथा शब्दप्रमादर्थक्यो बर्लान्—इस न्याय से य उ चैनमेवं वेद इसका  
अर्थ पहले होना चाहिये । जो अग्निष्टोम को जानकर इसका अनुष्ठान करता है : यथा  
वेद भी ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान का विधान करता है ।

यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धं नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । तद्यथा हिक्कित-  
हसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय ।

अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने । यो ह्यपशब्दाज्ञानाति-  
शब्दानप्यसौ जानाति । तदेवं ज्ञाने धर्म इति युक्तोऽर्थादापन्नं भवति—  
अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्म इति ।

अथवा कृपज्ञानस्त्वदेतद्भविष्यति । तद्यथा कृपज्ञानकैः कृपं एतन्म्य-  
द्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति, सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुण-  
मासादयति येन स दोषो निर्हण्यते, भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति ।  
एवमिहापि । यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन  
च स दोषो निर्घानिष्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति ।

तो विहित हो और न ही प्रतिषिद्ध हो उसके करने से न दोष होता है और न अभ्युदय,  
जैसे हिचकची, हंसी और सुन्नली करना न दोषकारक होता है और न ही  
अभ्युदयकारक ।

अथवा अपशब्द-ज्ञान शब्दज्ञान में उपाय ही है । जो कोई अपशब्दों को  
जानता है वह शब्दों को भी जानता है । इस प्रकार ज्ञान में धर्म है ऐसा कहने  
वाले के लिये पूर्व में अपशब्द ज्ञान होने पर जो शब्दज्ञान होता है उसमें धर्म है यह  
अर्थ-सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाता है ।

अथवा यह कूँ को खोदने वाले की तरह होगा । जैसे कूँ को खोदने वाला  
कूँ को खोदता हुआ मिट्टी और धूलि से विलिप्त ( दूषित ) हो जाता है, पर पानी  
निकलने पर वह उस स्नानशान आदि इष्ट-त्याघन उत्कर्ष को प्राप्त होता है जिसमें वह  
दोष नष्ट हो जाता है, और बड़े अभ्युदय से योग होता है । इसी प्रकार यहाँ भी ।  
यद्यपि अपशब्द ज्ञान में अधर्म है ( ऐसा मान भी लिया जाय ) तो भी जो शब्द-ज्ञान  
में धर्म है उससे दोष ( पाप ) नष्ट हो जायगा और बड़े अभ्युदय से योग होगा ।

१. शब्द ज्ञान में अविनाशनीय रूप से अपशब्द ज्ञान होता है, अपशब्दज्ञान  
उसमें सहायक ( सहायक ) होता है । अपशब्दों को स्वप्न-ज्ञान लेने पर तद्विज  
शब्दों का ज्ञान होता है । फल शब्द ज्ञान से उत्पन्न होता है, तद्वद्भूत अपशब्द-ज्ञान  
का पृथक् फल कुछ नहीं ।

२. यहाँ कर्ता में प्लुत् किया है, प्रकृत में शिल्पी विवक्षित न होने से शिल्पिनि  
प्लुत् ( ३।१।१४५॥ से प्लुत् नहीं हुआ । प्लुत् होनेपर खनक रूप होता ।

३. निर पूर्वक हन् धातु का कर्मवाचक लृट् का प्र० पु० एक० में रूप है ।

यदप्युच्यते आचारे नियम इति । याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्रा-  
नियमः । एवं हि श्रूयते—यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋपयो यभूवुः प्रत्यक्ष-  
धर्माणः परावरजा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः । ते तत्र  
भवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुज्यते, याज्ञे पुनः  
कर्मणि नापभापन्ते । तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभापितम्, ततस्ते पराभूताः ।  
अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ।

सूत्रम् ।

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते—व्याकरणस्य सूत्रमिति । किं हि  
तदन्यत्सूत्राद् व्याकरणं यस्यादः सूत्रं स्यात् ।

और जो कहा है कि आचार अर्थात् व्यवहार में धर्म का नियम है, वह नियम  
यज्ञसम्बन्धी कर्म में लागू होता है, अन्यत्र नहीं । ऐसा सुनते हैं—यर्वन् और तर्वन् नाम  
के ऋषि हुए धर्म को साक्षात् किये हुए जो पर और अवर ब्रह्म को जानते थे, जिन्हें  
ज्ञेयमात्र का ज्ञान था और जिन्होंने ज्ञेय के सत्य वास्तविक स्वरूप को प्राप्त किया था ।  
वे पूज्य लोग यद्वा न, तद्वा न (जो कुछ हमारे लिये हो, वही हमारे लिये हो) ऐसा  
न कहकर यर्वाणस्तर्वाण. इस तरह का प्रयोग करते थे ( जिससे उनकी इसी नाम से  
प्रसिद्धि हो गई), पर वे यज्ञ कर्म में अपभाषण नहीं करते थे । असुरो ने यज्ञ कर्म में  
अपभाषण किया, अतः वे पराजित हुए ।

अथ ( यह विचार्य है ) कि व्याकरण शब्द का क्या अर्थ है ।

सूत्र ( अर्थ है ) ।

( २।० ) व्याकरण का अर्थ यदि सूत्र हो तो षष्ठी का अर्थ संगत नहीं होता  
व्याकरण का सूत्र । व्याकरण सूत्र से कौनसा भिन्न पदार्थ है जिसका यह सूत्र हो ।

विकल्प से विष्वङ्गाव होने से हन् के ह् को घ् हुआ और उपधा वृद्धि हुई । पक्ष में  
निर्दिण्यते ऐसा रूप होगा ।

१. प्राय मुद्रित भाष्य पुस्तकों में परापरज्ञाः ऐसा पाठ है, पर द्वे ब्रह्मणी  
वेदितव्ये परं चैश्वरं च—इत्यादि में अगर देखा जाता है, वही प्रकृत में होना चाहिये )  
परापरज्ञाः ऐसा पाठ हो तो परा विद्या और अपरा विद्या इन दोनों को जानने वाले—  
यह अर्थ है ।

२. यथातथं भावः=याथातथ्यम् । तथाऽनतिक्रम्य यथातथम् ।



## शब्दाप्रतिपत्ति

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति। व्याकरणाच्छब्दान्प्रतिपद्यामहे इति। न हि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते। किं तर्हि व्याख्यानतद्वत्।

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति। न केवलानि चर्चा-पदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः, आत्, ऐच् इति। किं तर्हि। उदाहरणं प्रत्यु-दाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति।

एवं तर्हि शब्दः।

शब्दे ल्युङ्ग्यं।

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युङ्ग्यो नोपपद्यते। व्याक्रियन्ते शब्दा अने-नेति व्याकरणम्। न हि शब्देन किञ्चिद् व्याक्रियते। केन तर्हि। सूत्रेण।

(वा०) शब्दों का बोध भी नहीं।

(सूत्र अर्थ होने पर) शब्दों का बोध न हो सकेगा। 'हम व्याकरण से शब्दों को जानते हैं' ऐसा व्यवहार भी न बन सकेगा। सूत्र मात्र से तो शब्दों को जानते नहीं।

तो किससे ?

व्याख्यान से भी।

भरी, बड़ी सूत्र पढ़-छेद करके पढ़ा हुआ व्याख्यान हो जाता है।

केवल विभाग करके पढ़े गये पद व्याख्यान नहीं बन जाते—

वृद्धि, आत्, ऐच्।

तो क्या ?

उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार—यह सब मिलजुलकर व्याख्यान बनता है।

तो ऐसी अवस्था में व्याकरण का अर्थ शब्द मान लो।

(वा०) शब्द अर्थ हो तो ल्युङ्ग्यं प्रत्यय का अर्थ नहीं जुड़ता। यह व्याकरण है इस लिये कि इससे शब्दों का प्रकृतिप्रत्यय-आदि-रूप विभाग किया जाता है। शब्द से तो कुछ भी विभाग नहीं किया जाता।

तो किससे ?

सूत्र से।

१ वाक्य को बनानेवाले पद जो दूसरे सूत्रों में पड़े हैं उनकी स्वरितप्रतिज्ञा के चल पर कल्पना करना प्रकृत में वाक्याध्याहार है।

२ यहाँ यह मानकर आगे बढ़ाया गया है कि ल्युङ्ग्यं (और अधिकरण) में ही होता है।

भवे च तद्धित.

भवे च तद्धितो नोपपद्यते—व्याकरणे भवो योगो वैयाकरण इति । नहि शब्दे भवो योगः । क तर्हि । सूत्रे ।

प्रोक्तादयश्च तद्धिता

प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् । आपिशलि काशकृत्स्नमिति । नहि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः । किं तर्हि । सूत्रम् ।

किमर्थमिदमुभयमुच्यते भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति । न प्रोक्तादयश्च इत्येव भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात् ।

पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टं 'भवे च तद्धितः' इति पठितम् । तत उत्तर-कालमिदं दृष्ट प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति, तदपि पठितम् । न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति ।

अयं तावदोपः—यदुच्यते 'शब्दे ल्युडर्थ' इति । नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युङ् विधीयते । किं तर्हि । अन्येऽपि कारकेषु कृत्यल्युटो बहुलम् इति । तद्यथा—प्रस्कन्दन प्रपतनमिति ।

(बा०) तत्रभव 'उसमे होता है' इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय भी नहीं हो सकेगा—व्याकरण में होनेवाला योग वैयाकरण होता है । ( यहाँ व्याकरण से तद्धित अण हुआ है ) । शब्द में तो योग होता नहीं ।

कहा होता है ।

सूत्र में ।

बा० तेन प्रोक्तम् (४।३।१०।१॥) से होने वाले तद्धित भी न हो सकेगा । पाणिनि से प्रोक्त को पाणिनीय कहते हैं, इसी तरह आपिशलि से प्रोक्त आपिशलि और काशकृत्स्न से प्रोक्त काशकृत्स्न कहलाता है । पर पाणिनि ने शब्दों का प्रत्यय नहीं किया, सूत्र का किया है ।

ये दोनों बातें भव अर्थ में तद्धित, और प्रोक्त आदि अर्थों में तद्धित क्यों कही जाती हैं ? और प्रोक्त आदि तद्धित कहने से ही क्या भव अर्थ में भी तद्धित प्रत्यय का आक्षेप (= सन्देह) न हो जायगा ?

पहले आचार्य की दृष्टि में भवे च तद्धित आया और उसे उन्होंने पढ़ दिया, पढ़े उन्होंने प्रोक्तादयश्च तद्धिता इसे देखा और इसे भी पढ़ दिया । अब आचार्य सूत्रों को पढ़कर नहीं हटाते हैं ।

१ प्रपतति अस्माद् इति प्रपतनम् प्रपात = भृगुः, अलट, बिना डलान के सीधी खड़ी हुई ऊँची चगान ।

अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते—तद्यथा—गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नादवो न गर्दभ इति ।

अयं तर्हि दोषः—भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति ।

एवं तर्हि—

### लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुद्भूतं व्याकरणं भवति । किं पुनर्लक्ष्यम्, किं वा लक्षणम् । शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम् । एवमप्ययं दोषः—समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते । सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते व्याकरण इति । नैष दोषः । समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अत्रयवेष्वपि वर्तन्ते । तद्यथा—पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्,

जो कहा था कि शब्द अर्थ होने पर शब्द में व्युद् प्रत्यय का अर्थ न घटेगा । इसमें कोई दोष नहीं । करण तथा अधिकरण में ही व्युद् प्रत्यय होता है इसमें कोई नियम नहीं । बहुत बार दूसरे कारकों के अर्थ में भी इत्य और व्युद् देने जाते हैं, जैसे प्रसन्नदन्, प्रपतन इत्यादि (में) ।

अथवा शब्द भी दूसरे शब्दों का व्याख्यान करते हैं जैसे गो कहने से सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, न घोड़ा है न गधा ।

यह एक दोष रह गया—‘उसमें होता है’ इस अर्थ में और प्रोक्त भादि तद्धित नहीं हो सकेंगे ।

तो इस अवस्था में ।

(वा०) लक्ष्य और लक्षण दोनों मिलकर व्याकरण होता है । लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है । शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है । ऐसा होने पर यह दोष दना रहेगा—समुदाय में प्रवृत्त होने वाला व्याकरण शब्द अत्रय में प्रवृत्त न हो सकेगा । केवल सूत्रों को पढ़नेवाले को भी व्याकरण कहना इष्ट ही है । यह कोई दोष नहीं । समुदाय को कहनेवाले ( जिनका समुदायत्व प्रवृत्ति-निमित्त है ) शब्द अत्रय अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे पञ्चाल के पूर्वभाग को पूर्वपञ्चाल कहते हैं, उत्तर भाग को उत्तरपञ्चाल, औषध आदि में संस्कृत तैल और घृत का मात्रा के लक्ष्य करके कहने की रीति है—(मैंने) तेल खाया, (मैंने) घी खाया । वस्त्र आदि के एक देर के शुक्ल, नील, कपिल, कृष्ण आदि होने पर कहा जाता है वस्त्र आदि शुक्ल

१. व्याक्रिया से यहां भी पृथग्भाव ( जुदा करना ) अथवा प्रविभाग अर्थ विवक्षित है ।

शुक्लो नीलः कपिलः, कृष्ण इति । एवमर्थं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते ।

अथवा पुनरस्तु सूत्रम् ।

ननु चोक्तम्—सूत्रे व्याकरणे पष्ठयर्थोऽनुपपन्न इति । नैप दोषः । व्यपदेशिवद्भावेन भविष्यति ।

यदप्युच्यते शब्दाप्रतिपत्तिरिति । न हि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते । किन्तीहि व्याख्यानतश्चेति । परिहृतमेतत्—तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति । ननु चोक्तम्—न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः, आत्, ऐजिति । किन्तीहि । उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवतीति । अविज्ञानत एतदेवं भवति । सूत्रत एव हि शब्दाप्रतिपद्यन्ते । आतश्च सूत्रत एव । यो ह्युत्सूर्ध्वं कथयेन्नादो गृह्येत ।

अथ किमर्थं वर्णानामुपदेशः ।

नील, कपिल अथवा कृष्ण है । इसी प्रकार यह व्याकरण शब्द समुदाय का वाचक होता हुआ भी अवयवों को भी कहने में प्रवृत्त होता है ।

अजी, वहाँ यह भी तो कहा था कि सूत्र अर्थ होने पर व्याकरण से पड़ी विभक्ति संगत न होगी । यह कोई दोष नहीं । मुख्य के साथ जैसा व्यवहार होता है गौण (कल्पित) के साथ भी वैसा व्यवहार होता है इस न्याय से पड़ी विभक्ति की संगति लग जायगी ।

और जो कहा था कि सूत्र अर्थ होने पर शब्दों का बोध न हो पायेगा, क्योंकि (केवल) सूत्र से शब्दों को नहीं जानते हैं किन्तु व्याख्यान से भी । इस दोष का परिहार किया जा चुका जब यह कहा गया कि वही सूत्र पदच्छेद से व्याख्यान बन जाता है । अजी यह भी तो कहा गया था—केवल विभाग करके पढ़े हुए पद व्याख्यान नहीं हो जाते—वृद्धि, आत्, ऐच् । तो क्या ? उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार—यह सब मिलतुल कर व्याख्यान होता है । न जाननेवाले के लिये ऐसा होता है, सूत्र से ही शब्दों को जानते हैं । और इस हेतु से भी सूत्र से ही जानते हैं—जो भी सूत्र का अतिरिक्त करके कहेगा, वह उसका वचन न माना जायगा ।

अब यह विचार्य हे कि वर्णों का उपदेश किस लिये किया गया है ।

१. व्यपदेशिवद्भावेन—जिस पदार्थ का किन्हीं निमित्तों के कारण एक विशिष्ट मुख्य नाम (व्यपदेश) होता है जिससे उसे कहा जाता है उसे व्यपदेशी कहते हैं, पर उन निमित्तों की अनुपस्थिति में भी एक अकेले पदार्थ से व्यपदेशी के मुख्य (जैसे व्यपदेशी से) शास्त्र में कहे हुए कार्य किये जाते हैं । इस अतिदेश को

### वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः

वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः । किमिदं वृत्तिसमवायार्थ इति ।  
वृत्त्ये समवायो वृत्तिसमवायः । वृत्त्यर्थो वा समवायो वृत्तिसमवायः । वृत्ति-  
प्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः । का पुनर्वृत्तिः । शास्त्रप्रवृत्तिः ।  
अथ कः समवायः । वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः । अथ क उपदेशः ।  
उच्चारणम् । कुत एतत् । दिशिरुच्चारणक्रियः । उच्चार्य हि वर्णानाह—  
उपदिष्टा इमे वर्णा इति ।

(वा०) वृत्ति समवाय के लिये वर्णों का उपदेश है ।

वृत्ति समवाय क्या चीज है ?

वृत्ति के लिये समवाय वृत्तिसमवाय है, वृत्ति का उपकारक समवाय वृत्ति-  
समवाय है अथवा वृत्ति का प्रयोजक समवाय वृत्तिसमवाय है ।

वृत्ति क्या चीज है ?

शास्त्र की प्रवृत्ति ।

समवाय क्या पदार्थ है ?

वर्णों का क्रम से रचना ।

उपदेश क्या है ?

उच्चारण ।

यह कैसे ?

दिशु धातु उच्चारणार्थक है । उच्चारण करके ही तो कहता है इन वर्णों का  
उपदेश हो गया ।

व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं । अत इन् (४११।९५) से अदन्त प्रातिपदिक ( सुबन्त बनाकर )  
से अय अर्थ में इन् प्रत्यय का विधान है, सो अदन्त दक्ष से इन् होकर दाक्षि सिद्ध  
होना है । अब अ अन्त में होने से दक्ष शब्द का अदन्त यह व्यपदेश ( विशिष्ट-  
अपदेश=नाम) है, सो यह इस व्यपदेशवाला अथवा व्यपदेशी है, पर अ (=विष्णु) तो  
अमहाय अक्षर है, इमे अदन्त इस व्यपदेश वाला अर्थात् व्यपदेशी तो नहीं कहा  
जा सकता, तो भी जहाँ तक शास्त्र कार्य का सम्बन्ध है इसमें भी व्यपदेशी का सा  
व्यवहार किया जाना है । अस्यापत्यम् इ । इन् प्रत्यय होना है । भाष्यकार  
आद्यन्तवदेकस्मिन् ( १।१।२० ) के स्थान पर व्यपदेशिवदेकस्मिन् ऐसा  
न्यास चाहते हैं ।

१. वर्ण समाम्नाय के होनेपर अच् आदि सज्ञाओं की मिद्धि होने से थोड़े में  
ही शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकेगी और इग्यणः सम्प्रसारणम् ( १।१।४५ ) आदि यथा-  
सङ्ख्य संज्ञा भी हो सकेगी ।

## अनुबन्धकरणार्थश्च

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः—अनुबन्धानासङ्क्षयामीति । न हानुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्ष्यतुम् । स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चानुबन्धकरणार्थश्च । वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम् । प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः ।

## इष्टबुद्धयर्थश्च

इष्टबुद्धयर्थश्च वर्णानामुपदेशः—इष्टान्वर्णान्भोत्स्यामहे' इति । न हानुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम् ।

इष्टबुद्धयर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः

इष्टबुद्धयर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः । एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते ।

(वा०) अनुबन्ध लगाने के लिये भी ।

अनुबन्ध लगाने के लिये भी वर्णों का उपदेश किया है—मैं अनुबन्धों को लगाऊँगा । पर वर्णों का उच्चारण किये बिना अनुबन्ध लगाए नहीं जा सकते । सो वह वर्णों का उपदेश वृत्ति-समवाय (=शास्त्र-प्रवृत्ति) के लिये भी है और अनुबन्ध लगाने के लिये भी । वृत्तिसमवाय और अनुबन्ध लगाना प्रत्याहार बनाने के लिये है । प्रत्याहार शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये है ।

(वा०) इष्ट ( वर्णों ) के बोधन के लिये भी ।

इष्ट वर्णों के बोध के लिये भी वर्णों का उपदेश किया है, हम इष्ट वर्णों को जानेंगे इसलिये । क्योंकि बिना उपदेश किये इष्ट वर्ण जाने नहीं जा सकते ।

( वा० ) इष्टवर्णों के बोध के लिये यदि वर्णों का उपदेश मानते हो तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ, प्लुत—इनका भी उपदेश करना चाहिये । इन गुणों वाले वर्ण भी इष्ट ही हैं ।

( वा० ) जातिपरक निर्देश होने से इष्टसिद्धि हो जायगी । अथ जाति का उपदेश होने से सभी प्रकार की अ व्यक्तियों का ग्रहण ( बोध ) हो जायगा । इसी प्रकार इन्व जाति का और उत्त्व जाति का उपदेश सभी प्रकार के इवर्ण और उवर्ण का ग्रहण करा देगा ।

१. भोत्स्यामहे=बोधयिष्यामः । यहा णिच् का अर्थ अन्तर्भूत है, प्रयय से नहीं कहा गया ।

२. प्रत्याहारसूत्रों में के अ इ उ आदि अर्चों का एकव्रुति से पाठ होने से यह प्रश्न है ।

### आकृत्युपदेशात्सिद्धम्

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः ।  
तथोवर्णाकृतिः ।

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः । के पुनः  
संवृतादयः । संवृतैः कलो ध्मात् एणीकृतोऽम्बूकृतोर्ध्वको ग्रस्तो निरस्तः  
प्रगीत उपगीतः द्विगुणो रोमश इति । अपर आह—

ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हृतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् ।

सन्दृष्टमेर्णोरुतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः ॥ इति ।

अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ।

नेप दोषः ।

(वा०) आकृति उपदेश से यदि दृष्टसिद्धि मानते हो तो संवृत आदि ( दोषों )  
का प्रतिषेध करना चाहिये ।

तो संवृत आदि कौन से हैं ।

संवृत, कल, ध्मात्, एणीकृत, अम्बूकृत, अर्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, उपगीत,  
द्विगुण और रोमश । दूसरा कोई ( वृत्तिकार ) कहता है—ग्रस्त, निरस्त, अवलम्बित,  
निर्हृत, अम्बूकृत, ध्मात्, विकम्पित, सन्दृष्ट, एणीकृत, अर्धक, द्रुत और विकीर्ण—ये  
स्वर दोष हैं । इनसे भिन्न व्यञ्जनोच्चारण के दोष हैं ।

१. संवृत आदि स्वरों के उच्चारण में दोष परिगणित किये हैं । संवृत अ  
का तो गुण ही है, दोष स्वरों के विषय में दोष रहेगा । जिह्वामूल की कण्ठ के समीप  
स्थिति होने से संवृतना नामक गुण ह्रस्व अ में अन्ता है । कट=अपने स्थान को छोड़  
दूसरे स्थान से उच्चारित होना, जिसे काकली कहते हैं । ध्मात्—जब श्वास की  
अधिकता से ह्रस्व भी दीर्घ झञ्झता है । एणीकृत—माधारण रूप, जहां यह सन्देह हो  
कि इसने ओ का उच्चारण किया है अथवा औ का । अम्बूकृत—ओ व्यक्त होता हुआ  
भी मुँह के अन्दर उच्चारित हुआ सा मुनता है । अर्धक—जो दीर्घ भी ह्रस्व प्रतीत होता  
है । ग्रस्त—जो जिह्वामूल में निष्ठुरीन, अव्यक्त । निरस्त—निष्ठुर ( कर्कश ) अथवा  
मनान्तर में त्वरित । प्रगीत—साम की तरह गाकर उच्चारण किया हुआ । उपगीत—  
समीप में दूसरे वर्ण के गाने से अनुरक्त । द्विगुण—कृप्य युक्त । रोमश—गम्भीर ।  
अवलम्बित—वर्णान्तर से मिला हुआ । निर्हृत—रुद्ध । सन्दृष्ट—बडाकर उच्चारण  
किया हुआ । विकीर्ण—आगे आनेवाले दूसरे वर्ण में जा मिला हुआ अथवा एक होता  
हुआ भी जो भासता हो ।

गर्गादिविदादिपाठात्सवृतादीनां निवृत्तिः ॥

गर्गादि विदादिपाठात्सवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति ।

अस्त्यन्यद् गर्गादिविदादिपाठे प्रयोजनम् । किम् । समुदायानां साधुत्व यथा स्यादिति । एव तर्ह्यष्टादशधा भिन्ना निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि । सा तर्हिं वक्तव्या ।

लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः ॥

( वा० ) गर्गादि गण तथा विदादि गण पाठ से ( अनिष्ट ) सवृत्त आदि की निवृत्ति हो जायगी ।

गर्गादि, विदादि पाठ का तो और प्रयोजन है । क्या ?

( गर्गादि ) समुदायों का साधुत्व हो इसलिये ।

ऐसी अवस्था में जैसे कलादिदोष रहित अठारह प्रकार के अ की शास्त्र के अन्त में प्रत्यापत्ति ( = पुन स्वरूप प्राप्ति ) कही है वैसे ही 'इ', 'उ' आदि के विषय में भी कह दूँगा ।

तो यह प्रत्यापत्ति तुरन्त कहनी पड़ेगी ( अर्थात् इससे गौरव दोष आयेगा ) ।

( वा० ) कलादि दोषरूप लिङ्गों की निवृत्ति के लिये भी प्रत्यापत्ति रहेगी ( और इससे अनुबन्धों के स्थान में इन दोषों को लिङ्ग स्वीकार करने से अनुबन्धों की भी निवृत्ति हो जायगी, जिससे कुछ भी गौरव नहीं होगा ) ।

१ समुदाय से यहाँ गर्ग आदि समुदाय अभिप्रेत हैं । जहाँ इनके गण पाठ में उपदेश से विशिष्टवर्णानुपूर्वी का साधुत्व ज्ञात होता है वहाँ इनके अन्तर्गत अकार आदि में कलादि दोषों की शून्यता भी प्रतीत होती है । क्योंकि आचार्य ने इन्हें शुद्ध ही पढ़ा है, पर इतने से गार्ग्य आदि अन्य समुदायों में वर्तमान अकार आदि के कल आदि दोषों की निवृत्ति न हो सकेगी—ऐसा कैयट के अनुसार अर्थ है । नागेश इससे विपरीत अर्थ लेते हैं । उनका कहना है कि गर्ग आदि के गण में पाठ का प्रयोजन गर्ग आदि प्रकृतियों से यञ् आदि प्रत्यय करके निष्पन्न गार्ग्य आदि समुदायों का साधुत्व बताना है, इस में चरितार्थ हुआ गर्गादि पाठ सवृत्त आदि दोषों की निवृत्ति न कर सकेगा ।



लिङ्गायां सा तर्हि भवति । तत्तर्हि वक्तव्यम् । 'यद्यन्येतदुच्यते, अथैतर्हि अनेकमनुबन्धगतं नोच्चार्यमित्यन्ना च न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः । यदनुबन्धः' नियते तत्कल्पादिभिः सगिष्यते ।

निष्पन्नम्, 'अपाणिनाथ तु भवति । यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तम्—आह्वयुपदेशान्मिद्धमिति चेन्मृतादीनां प्रतिषेध इति । परिहृतं मेतन्—गर्गादित्रिदादियाद्यन्मृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यतीति । ननु चान्यद्

तत्र घातु आदि मे कल्पादि लिङ्ग कर् द्विष चार्थ । तत्र यद् कदा नाथ तो मरुदों अनुबन्ध नदी लगाने पड़ेगा, इमका भी नदी करना होगा, ( इत्यमर का ) लोप भी नदी कइता पड़ेगा । जो कार्य अनुबन्धों द्वारा होना है उद् ( मय ) कल्पादि लिङ्गों द्वारा किया जायगा ।

हो इम तरह भी इह मिदि हो जायगा, पर यद् पाणिनाथ शास्त्र के प्रतिवृत्त होगा । तो आह्वयुपदेशान् मिद्धम्—यद् वा कदा था, उदा दीक है । अनी बही दीक कैसे ? इसके मानन मे तो प्रत्येक दुष्ट मरुत आदि जगों का निरप करना चाहिये ऐसा कदा था । पर इसका उत्तर दिया वा पुत्रा तत्र यद् कदा गया—गर्गादि, त्रिदादि गण पाठ मे मरुत जाति ( जगों ) की निवृत्ति हा जायगी । अनी उदां यह भी तो कदा गया था कि गर्गादि, त्रिदादिगण-पाठ का मूल प्रयोजन है । क्या ? ( गर्गादि ) मनुष्यों की मानुषा त्रिमय हो । अच्छा तो गर्गादि त्रिदादि पाठ मे जेनों कार्य

१ यद्यपि = यदा, तदा ।

२ अथैतर्हि = तदा, तत्र ।

३ वै वै अत्रिकार मूर्ति कर्न के लिये स्वर्गि चित्र कर् मिया जाता है, वैसे ही आग्नेय के लिये षष् शील् आदि घातुओं का अनुगतेन और लिङ्ग पञ्च कल्पादि पञ्च मिया जायगा । कल्पादिमनेरन्म् ऐसा मूल-न्यास कर् दिया जायगा । इम प्रकार स्वर्गिन् तथा लिङ्ग घातुना को ध्यानशायुक्त पञ्च मिया जायगा । तत्र ध्यानाकर्तृगामिनि क्रियाकृते—ऐसा मूल-न्यास हागा । ये कल्पादि दोष लिङ्ग-रूप से अमर किम मय प्रस्थाप्य दशा में धूमना होगे, प्रयोग मे तो अक्षर आदि उद् ही हांगे, क्योंकि शास्त्र के अन्त मे प्रमाणित कर् दी गते है ।

४ वां समाम्नाय का समर्थन करने लुण तत्र यद् कहा कि इसमें अक्षर और हांगों का वाचिसक निर्देश है, तत्र मंगन ( अक्षर मे यह लोप नहीं प्रत्युत गुण ही है ) अर्थात् लोप अतिप्रसक्त हुआ, इसके वाचन के लिए गौरव-युक्त व्याख्यानमापेन इम प्रकार के मन्त्र शास्त्र के अन्यथाकरण ( अन्तर बद्ध ) में रुद्धि-विवर्तन मपेन दृष्टः

गर्गादिविदादिपाठे प्रयोजनम्। किम्। समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति। एवं तर्ह्यभयमनेन क्रियते—पाठश्चैव विशेष्यते, कलादयश्च निवर्त्यन्ते। कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम्। लभ्यमित्याह। कथम्। द्विगता अपि हेतवो भवन्ति। तद्यथा आम्नाश्च सिकाः पितरश्च प्रीणिता इति। तथा वाक्यानि द्विष्टानि भवन्ति—इवेतो धावति, अलम्बुसानां यातेति।

अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः—क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्निति। आगमेषु। आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते। विकारेषु तर्हि। विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते। प्रत्ययेषु तर्हि। प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते। धातुषु तर्हि। धातवोपि शुद्धाः पठ्यन्ते। प्रातिपदिकेषु तर्हि। प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि

किए जाते हैं—पाठ भी मिश्रित होता है (इस-इस भानुपूर्वी-विशेष वाले गर्ग आदि प्रातिपदिकों से यज्ञ प्रत्यय हो औरों से न हो) और कल आदि दोष भी निवृत्त किए जाते हैं।

पर क्या एक ही यत्न से दो फलों की प्राप्ति हो सकती है ?

हाँ, हो सकती है।

कैसे ?

बुद्ध हेतु ऐसे होते हैं जो दो प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। (जैसे जब भानुवृक्ष के मूल में बैठा हुआ मनुष्य पितृवर्षण करता है तो) भामो का सिञ्चन भी हो जाता है और पितरों की तृप्ति भी। इसी प्रकार वाक्य भी द्वयर्थक होते हैं—इवेतो धावति इस वाक्य के दो अर्थ हैं—बुद्धा यहाँ से दौड़ता है, इवेत गुणवाला दौड़ता है। अलम्बुसाना याता इस वाक्य के भी दो अर्थ हैं—अलम्बुस नामक देश को जानेवाला, बुद्धो को प्राप्त करने वाला समर्थ है।

अथवा इससे (आहृत्युपदेश से संवृतादि दोषों की प्रसक्ति बतानेवाले से) हम पूछते हैं कि ये संवृतादि कहाँ सुने जा सकते हैं। यदि कहाँ आगमों में। आगम तो (आचार्य ने) शुद्ध पढ़े हैं। तो विकारों (आदेशों) में सही। विकार (आदेश) भी शुद्ध पढ़े हैं। तो प्रत्ययों में। प्रत्यय भी शुद्ध पढ़े हैं। जो धातुओं में। धातु भी शुद्ध पढ़े हैं। तो प्रातिपदिकों में। प्रातिपदिक भी शुद्ध पढ़े हैं। तो फिर जिन प्रातिपदिकों

(विन्दू के विष से डरे हुए को साप ने डसा) यह न्याय समूह होता है।

१. गर्ग आदि गण-पठित प्रातिपदिकों के अकारादि तो आचार्य के उच्चारण से दोष-शून्य ही हैं, अपठित प्रातिपदिकों के अकारादि भी ऐसे ही शुद्ध जानने चाहियें, यह अभिप्राय है।

पठ्यन्ते । यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि । एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वी-  
ज्ञानार्थं उपदेशः कर्तव्यः । शशः यय इति मा भूत् । पलाशः पलाय इति  
मा भूत् । मञ्चको मञ्चक इति मा भूत् ।

आगमाश्च विसाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः ।

उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः ॥

इति प्रथम पस्पशाहिकम् ॥

का विधिवाक्यों में उद्देश नहीं किया है (उनमें) । उनका भी स्वर और वर्णानुपूर्वी  
के ज्ञान के लिए सहग्रह इष्ट है, ताकि शश के स्थान में यय, पलाश के स्थान में  
पलाय, मञ्चक के स्थान में मञ्चक न हो ।

आगम, आदेश, प्रत्यय और धातु—ये सभी शुद्ध उच्चारण किए हैं, अतः  
इन कलादि दोषों का प्रसङ्ग ही नहीं ॥

यहा पस्पशा नामक प्रथम आहिक समाप्त हुआ ।



# द्वितीय आहिक का संक्षिप्त सार

इस आहिक के अ इ उ ण् ॥११.१॥ इस सूत्र से लेकर झ म न् ॥११.८॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्का समाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

अ इ उ ण्

१ प्रक्रिया दशा में अकार विवृत है यह अ अ (८।४।६८) सूत्र से स्थापित करके विवृतोपदेश के प्रयोजन बताये हैं।

२ अस्य च्यौ इत्यादि अनुवृत्तिनिर्देशों के अकार को सर्वत्र एक मान कर अणु सिद्ध किया है।

३ अकार को एक मानने में प्राप्त दोषों का समाधान किया है। फिर व्यत्ति-पक्ष में अकार की भिन्नता दिखा कर आकृतिपक्ष में सर्वत्र एक अकार सिद्ध किया है।

न लृक्

लृकारोपदेश का प्रयोजन बताकर वार्तिककार ने लृकार का खण्डन कर दिया है। किन्तु भाष्यकार न अशक्तिजानुकरणार्थ लृकारोपदेश को माना है।

ए ओ ह्, ऐ औ च्

१. एत् ओत् ह् ऐत् औत् च् इस प्रकार तपरनिर्देशयुक्त सूत्रन्यास का खण्डन करके ए ओ ह्, ऐ औ च् यही न्यास निर्दोष सिद्ध किया है।

२. वर्ण ग्रहण म वर्णैकदेशों का ग्रहण नहीं होता यह सिद्ध करते हुए उस पक्ष में प्राप्त दोषों का समाधान किया है।

ह य व र ट्

१. ह य व र ट् और हल् यहा हकार के दो बार उपदेश का प्रयोजन बताकर ह य व र ट् इस न्यास को निर्दोष सिद्ध किया है। साथ ही ह र य व ट् इस न्यास में दिए गए दोषों का समाधान भी कर दिया है।

२. अयोगवाहों का लक्षण तथा उदाहरण देकर उनके पाठ का प्रयोजन बताया है।

३. वर्णों की अर्थवत्ता और अनर्थकता पर विचार करते हुए धातु प्रातिपदिक-प्रत्ययनिपातस्थ वर्णों को अर्थवान् सिद्ध किया है।

४. प्रत्याहारों में अनुबन्धों का ग्रहण नहा होता यह बताकर अनुविस्मृति में अणु ग्रहण का प्रयोजन बताया है।

लृण्

अ इ उ ण् और लृण् में दो चार णकार अनुबन्ध लगाने का प्रयोजन बताते हुए व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलम्बणम् यह परिभाषा स्थापित की है।

ज् म ङ ण न म्, झ म न्

ज् म ङ ण न म् में मकार अनुबन्ध का खण्डन किया है। अक्षर शब्द की व्युत्पत्ति दिखा कर उसका अर्थ किया है। साथ ही अक्षर समाम्नाय के ज्ञान से स्वर्गप्राप्ति रूप फल का निर्देश भी किया है।

## अथ द्वितीयाह्निकम्

अ इ उ ण् ॥१॥

अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थ ॥१॥

अकारस्य विवृतोपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । आकारग्रहणार्थः । अकारः सवर्णग्रहणेनाकारमपि यथा गृह्णीयात् । किं च कारणं न गृह्णीयात् । विचारभेदात् । किमुच्यते विचारभेदादिति, न पुनः कालभेदादपि । यथैव ह्ययं विचारभिन्नः, एवं कालभिन्नोपि । सत्यमेव तत् । वक्ष्यति—तुल्यास्य-प्रयत्नं सवर्णम् इत्यास्यग्रहणस्य प्रयोजनम्—आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च

अ इ उ ण् ॥१॥

( वा० ) अकार विवृत उपदेश करना चाहिये, आकार के ग्रहण के लिये ।

अकार का विवृत उपदेश करना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? आकार के ग्रहण (बोधन) के लिये । ताकि अकार अपने सवर्ण के ग्रहणद्वारा आकार का भी ग्रहण कराये । क्या कारण है कि ग्रहण नहीं करायेगा ? विवृत-प्रयत्न रूप भेद से । विवृत-प्रयत्न-भेद से—ऐसा क्यों कहते हो, कालभेद से भी—ऐसा क्यों नहीं कहते ? जैसे यह आकार विवृत होने से भिन्न है वैसे ही काण से (दिमात्रिक होने से) भी भिन्न है । ठीक है, पर आचार्य तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इस सूत्र में आस्य-ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए कहेंगे—जिनके आस्य ( मुख ) में स्थान और प्रयत्न समान हैं वे ( आपस में ) सवर्णसंज्ञक होते हैं । काण तो आस्य से बाहर है । अतः काल-भेद होते हुए भी अकार आकार का ग्रहण करा देगा, पर विवृतरूप प्रयत्नभेद के कारण नहीं करा सकेगा ।

१ यहा अ इ उ आदि वर्णों के अर्थवान् होने पर भी अर्थरत्ना की विवक्षा न होने से उन से परे मु आदि विभक्ति की उपलि नहा का गई है । आद्गुण आदि अच् सन्धि भी इसी लिये नहीं होती कि वर्णोपदेशकाल में अभी अच् आदि सज्ञाया की निम्पत्ति नहीं हुई । उन तक पहले पृथक् २ वर्ण नहीं पड़े जायगे तब तक अच् आदि प्रत्याहार कैसे बनेंगे ? और उन तक अच् आदि प्रत्याहार नहीं उन जाने तब तक आद्गुण आदि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

२ अकार लोक में संवृत ही है, पर शास्त्र प्रत्याहार में तब तक इसे विवृत न माना जाय, काम नहीं चड मकना । प्रयत्नभेद के कारण ख और आ से सवर्ण संज्ञा न होगी, और दूग लिये । अनुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय ( १।१।२९ ) इस ग्रहणन शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से अस्य च्यौ ( अ०।३२ ) इत्यादि में ख से आ का ग्रहण (बोध) नहीं होगा । जिसे गङ्गी श्रवति इत्यादि रूप की सिद्धि न होगी ।

ते सवर्णमंजा भवन्तीति । याद्यच्च पुनरस्यान्कालः<sup>१</sup> । तेन स्यादेव काल-  
भिन्नस्य ग्रहणम्, न पुनर्विचारभिन्नस्य ।

किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते, आहो-  
स्त्विदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते । विवृतस्योपदिश्यमानस्य  
प्रयोजनमन्वाख्यायते । कथं ज्ञायते । यद्यम्—अ अ इति इत्यकारस्य  
विवृतस्य संवृतताग्रन्यापत्तिं ज्ञास्ति ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ।

किम् । अतिखटयः, अनिमाल इत्यग्रान्तर्यतो विवृतस्य विवृतः प्राप्नोति,

यहाँ (इम वाचिक में) क्या समझा जाय—क्या किये हुए विवृतोच्चारण का प्रयोजन  
बताया जा रहा है अथवा संवृतोच्चारण के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिये यह  
कहा जा रहा है ? किये हुए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है । यह कैसे  
ज्ञाता जाय ? हमने कि आचार्य (शास्त्र के मन्त्र में) अ अ इति सूत्र के द्वारा  
विवृत अकार को पुनः संवृत गुण को प्राप्ति का विधान करते हैं ।

यह कोई इम वाच का ज्ञापक नहीं । अ अ इति इम वचन का कोई और  
प्रयोजन है ।

क्या ?

अतिखटयः, अनिमालः यहाँ महत्तम आदेश विवृत के स्थान में विवृत प्राप्त

१ काल के नियम में वर्त मन्त्र है, पर मुख्य दो हैं—

(१) त्रिा ही काल है ।

(२) त्रिा से अनिरिक्त क्षण कहते हैं । त्रिा वस्तु के अन्दर होनेवाली  
त्रिा को दूसरी वस्तु की त्रिा परिच्छिन्न करती है । यहाँ दूसरी वास्तव वस्तु की ओर  
करने से काल को वाय कहा गया है । ऐसे नियम अति त्रिा के भेद से मात्रा आदि काल  
कहा जाता है ।

अथवा नानि प्रदेग में ही किए गए विविध प्रयत्न (वाच को अपवाद, अधिष्ठा)  
से हम्ब, ईर्ष रूप काल की अनिच्छित होने से और नानि वाच्य (मुख) से वाच है इन  
कारण से भी काल को वाच कहा है ।

२. यह अष्टान्यायी का अन्तिम सूत्र है । इसमें प्रथम अ उद्देश्य है और  
द्वितीय विनय है । अर्थ यह है कि कभी तक प्रकृता (प्रयोग साधना) के निमित्त इस  
अष्टान्यायी शास्त्र में जो हम्ब अ विवृत माना गया था, वह प्रयोग-दशा में सर्वत्र संवृत  
होता है ऐसा समझना चाहिए । इसी लिए पूर्व के विवृत होने से और उत्तर उत्तरवर्ती  
द्वितीय अ के संवृत होने से प्रयत्न-भेद के कारण सर्वत्र ईर्ष एकदेश नहीं हुआ ।

संवृतः स्यादित्येवमर्थो प्रत्यापत्तिः<sup>१</sup> । नैनदस्ति । नेत्र लोकेन च वेदेऽकारे विवृतोस्ति । कस्तर्हि । संवृतः । योस्ति न भविष्यति । तदेतन्न्यापत्तिरचनं शापमत्र भविष्यति विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्याख्यायत इति । कः पुनरत्र विशेषः । विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्याख्यायत, संवृतस्योपदिश्यमानस्य वा विवृतोपदेशश्चोपेतेन । न खलु रुचि-  
द्विशेषः । आहोपुम्पिमामात्र<sup>२</sup> तु । भजानाह—संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यत इति । यय तु श्रुमो—विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयो-  
जनमन्याख्यायत इति ।

होता है, संवृत हो, अतः आशय ने प्रत्यापत्ति का विधान किया है । नही, ऐसा नहीं । न तो लोक में और न ही वेद में अकार कहा विवृत है ।

तो कैसा ?

संवृत । जो है वही तो (आदेशरूप में) होगा ।

इसलिए यह अ अ इति एन प्रत्यापत्ति का शापन हम बात का शापक ही रहेगा कि किए गए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है ।

इसमें क्या भेद है—किंग गए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है ऐसा मानें अथवा सवृतोच्चारण किए गए के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिए, ऐसा ?

कुछ भी भेद नहीं । अभिमानमात्र है । आप कहते हैं—किंग गए सवृतोच्चारण के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिए, हम कहते हैं—किंग गए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है ।

१. शापक का स्मरण करने के लिए कहते हैं कि इस अ अ रूप प्रत्यापत्ति का और प्रयोजन है और प्रयोजन रहते शापक होता नहीं । प्रयोजन यह है कि अतिवृद्ध, आदि प्रयोगों में जहाँ गोमित्रियोग्यमर्शनस्य (११२।८८) में दीर्घ आकार का ह्रस्व होता है वहाँ वट ह्रस्व मग्न हो, म्यानी आ के विग्रह होने में आन्तरगत्य (मग्नानम होने में) उसके स्थान में ह्रस्व अ विवृत न हो जाय । अतः अकार का आचार्य ने विग्रहानुसूक्त उपदेश किया है इसमें कोई शापक नहीं । यदि कहा कि अकार के विग्रह उपदेश के बिना अकार और आकार का साकार्य न होने से आकार के अन्तर्गत होने पर अतिवृद्ध के आकार को ह्रस्व प्राप्त ही नहीं (इसलिए आचार्य ने अकार का विग्रहोपदेश किया है ऐसा मानना होगा) तो इसका उत्तर यह है—उदात्तात्मान स्थाने यक्षपूर्वाया (७।१।८८) इस शापक से सिद्ध होता है कि आकार को भी ह्रस्व होता है । क्योंकि उदात्तात्मान • यह सूत्र आकार के स्थान में हुए ह्रस्व अकार को इव विकल्प करता है ।

२. अहो अहं पुण्य इत्यहोपुरः । मयूरव्यमकादि ममाम । तस्य भाव आहो-  
पुरिका । अहोदि होने में तुन् । अर्थ—अहकार ।

तस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि' विवृतोपदेशः सवर्णग्रहणार्थः ॥२॥

तस्यैतस्याक्षरसमाम्नायिकस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः कर्तव्यः । क्वाऽन्यत्र । धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातस्थस्य । किं प्रयोजनम् । सवर्णग्रहणार्थः । आक्षरसमाम्नायिकेनाऽस्य ग्रहणं यथा स्यात् । किं च कारणं न स्यात् । विवारभेदादेव । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्याक्षरसमाम्नायिकेन धात्वादस्थस्य ग्रहणमिति । यद्यम्—‘अकः सवर्णे दीर्घः’ इति प्रत्याहारेऽको’ ग्रहणं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । न हि द्वयोराक्षरसमाम्नायिकयोर्युगपरसमवस्थानमस्ति । नैतदस्ति ज्ञापकम् ।

( धा० ) इस अकार का यहाँ ( प्रत्याहार सूत्र में ) विवृतोपदेश से अन्यत्र भी विवृतोपदेश करना चाहिए, सवर्ण ग्रहण के लिए ।

इस अकार का जैसे अक्षरसमाम्नाय में विवृतोच्चारण किया है वैसे ही अन्यत्र भी करना चाहिये ।

अन्यत्र कहाँ ?

धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात में ध्रुवमाण अकार का ।

क्या प्रयोजन ?

सवर्ण ग्रहण के लिये ।

अक्षर समाम्नाय वाला अकार इस दूसरे अकार का ग्रहण करा सके ।

किस कारण ग्रहण नहीं करा सकता ?

विवृतरूप प्रयत्न भेदसे ।

आचार्य का व्याख्यान ज्ञापन करता है कि अक्षरसमाम्नाय वाला ( विवृत ) अकार धातु आदि में वर्तमान ( संवृत ) अकार का ग्रहण कराता ही है । क्योंकि आचार्य अत्र सवर्णे दीर्घ इस सूत्र में प्रत्याहार के रूप में अक् का ग्रहण करता है ।

यह कैसे ज्ञापक बनता है ?

अक्षर-समाम्नाय-स्थित दो अकारों की एक ही काल में सद-स्थिति का संभव नहीं ।

यह कोई ज्ञापक नहीं ।

१. अन्यत्र धातु आदि में । पड़े हुए धातु आदि का अकार जो कि (व्यक्ति पक्ष में उच्चारण-उच्चारण में वर्णभेद होने से) अक्षरसमाम्नाय वाले अकार से भिन्न है, उसके विषय में भी विवृतत्व की प्रतिज्ञा करनी चाहिये, क्योंकि वह आचार्य ने संवृत ही पड़ा है ।

२. अक्षर समाम्नाय के अकार का विवृतोपदेश होने पर भी ( व्यक्तिपक्ष में ) सदभिन्न प्रयोगस्थ अ तो संवृत ही रहा, प्रयत्न-भेद के कारण अक्षरसमाम्नायस्थ अ इसका ग्रहण न करा सकेगा, सा इसे भी कार्यार्थ विवृत करना चाहिये । इस पर



अस्ति शन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । त्रिम् । यस्याक्षरसमाम्नायिन् न ग्रहणमस्ति तदर्थमेतत्स्यात्—सट्वाऽऽडकम्, मालाऽऽडकमिति । सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति । तस्माद्विवृतोपदेशः कर्तव्यः । क एष यत्नश्चोद्यते त्रिवृतोपदेशो नाम । विवृतो वोपदिश्येत संवृतो वा । को न्वत्र विशेषः । स एष सर्व एवमर्थो यत्नः क्रियते—यान्येतानि प्रातिपदिभ्यः ग्रहणानि तेषामेतेनाभ्युपायेनोपदेशश्चोद्यते, तद् गुरु भवति । तस्माद् वक्तव्यं धात्वा दिस्थश्च त्रिवृत इति ।

दीर्घप्लुतवचने च सवृतनिवृत्त्यर्थ ॥ ३ ॥

इस ( अक सवर्णे दीर्घ ) वचन में अक ग्रहण का कोई और प्रयोजन है ।

क्या ?

नित ( आ ) का इस अक्षर-समाम्नाय वाले ह्रस्व ( विवृत ) । से ( सवर्णता के कारण ) ग्रहण होता है उसके लिये यह अक ग्रहण चरितार्थ है । ( स ) सट्वाऽऽडकम् मालाऽऽडकम् ( यही सट्वा आडकम्, माला आडकम् दो ( त्रिवृत अत एव सवर्ण ) आकार के स्वरान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ ) । त्र प्रयोजन सिद्ध होता हो, तो ज्ञापक नहीं बनता । इस लिये धातु आदि में का अक्षर त्रिवृतोच्चारण करना चाहिये ।

विवृत उच्चारण करना चाहिये इसमें वातिङ्कार का क्या अभिप्राय है ?

सूत्र अथवा गणों में पड़े हुए धातु आदि में आये हुए सभी अवर्णों को आचार्य पाणिनि विवृत पठ देंगे, विवृत पठें अथवा सवृत, प्रयास का तारतम्य कुछ भी न होने से गौरव-लाघव कुछ भी नहीं । सो यह यत्न इस लिये किया जा रहा है कि नित शरा पलाश, मञ्जक आदि प्रातिपदिकों को किसी सूत्र व गण में नहीं पना है उनके भी अकार का इस उपाय से विवृत उच्चारण विधान किया जा रहा है, अन्यथा स्वतन्त्र रूप से ष्यक्-ष्यक् उनका उच्चारण करने से गौरव होता । इस लिये ( लाघव के लिये ) धातु आदि में के अकार का विवृत उच्चारण करना चाहिये ऐसा वचन अपेक्षित है ।

( वा० ) दीर्घ और प्लुत ( आदेश ) विधान में भी सवृत की निवृत्ति के लिये धातु आदि में वर्तमान अ का विवृत उपदेश करना चाहिये ।

कहते हैं कि एक लौकिक प्रयोग में एक साथ दो तो क्या एक भी अक्षर समाम्नायस्थ अ दुर्लभ है, पर आचार्य ने अक सवर्णे दीर्घ ( ६।१।१०१ ) सूत्र में अ से प्रारम्भ करके अक् प्रत्याहार पना है । अक् का अ अक्षरसमाम्नायस्थ अ है, ककार एष चिह्न के होने से, सो यह प्रतिज्ञा से विवृत है । इसका धात्वादिस्थ अ सवर्ण तभी हो सकता है जब कि वह भी इसी प्रकार विवृत हो । यदि वह आचार्य को विवृत अभिप्रेत नहा था, तो अक प्रत्याहार के अ में इक् प्रत्याहार पडते ।

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थो विवृतोपदेशः कर्तव्यः । दीर्घ-  
प्लुतौ संवृतौ मा भूतामिति । वृक्षाभ्याम्, देवदत्ता ३ इति । नैव लोके न च  
वेदे दीर्घप्लुतौ संवृतौ स्तः । कौ तर्हि । विवृतौ । यौ स्तस्तौ भविष्यतः ।

स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम्

संवृतः स्थानी संवृतौ दीर्घप्लुतौ प्रकल्पयेत् । अनुस्वारो यथा यणम् ।  
तद्यथा—सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकम्, तँल्लोकम् इति । अनुस्वारः  
स्थानी यणमनुनासिकं प्रकल्पयति । विपम उपन्यासः । युक्तं यत्सतस्तत्र  
प्रफुल्लतिर्भवति । सन्ति हि यणः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च । दीर्घप्लुतौ  
पुनर्नैव लोके नैव च वेदे संवृतौ स्तः । कौ तर्हि । विवृतौ । यौ स्तस्तौ  
भविष्यतः । एवमपि कुत एतत्—तुल्यस्थानी प्रयत्नभिन्नौ भविष्यतः, न  
पुनस्तुल्यप्रयत्नौ स्थानभिन्नौ स्याताम्, ईकार ऊकारो वेति । वक्ष्यति—  
स्थानेन्तरतम इत्यत्र स्थाने इत्यनुवर्तमाने पुनः स्थानेग्रहणस्य प्रयोजनं  
यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एधान्तर्यं धर्तव्यं भवतीति ।

इस लिये कि ( इत्थं अ के स्थान में ) किये हुए दीर्घ और प्लुत कहीं संवृत  
न हो जायें । वृक्षाभ्याम् ( वृक्ष भ्याम् ), देवदत्ता ३ ( देवदत्त ३ ) । ( परन्तु यह  
कोई प्रयोजन नहीं ) क्योंकि न लोक में और नहीं वेद में दीर्घ और प्लुत संवृत होते  
हैं । तो कैसे होते हैं ? विवृत । जैसे होते हैं वैसे आदिष्ट होंगे ।

पर संवृत स्थानी अपने सदृश संवृत दीर्घ और प्लुत की कल्पना कर लेगा,  
जैसे अनुस्वार अपने सदृश अनुनासिक यण की । जैसे—सँय्यन्ता ( संय्यन्ता ),  
सँव्वत्सरः ( संव्वत्सरः ), यँल्लोकम् ( य लोकम् ), तँल्लोकम् ( तं लोकम् ) इत्यादि में  
अनुस्वार ( जो अनुनासिक के स्थान में हुआ है ) अपने स्थान में अनुनासिक यण  
( य व ल ) की कल्पना करता है । यह दृष्टान्त ठीक नहीं । जो विद्यमान ( सिद्ध ) है  
उसकी कल्पना तो युक्त है । यण ( य व ल—दोनों ) प्रकार के प्रसिद्ध हैं, पर दीर्घ व  
प्लुत कहीं भी संवृत नहीं, न लोक में, न वेद में । तो कैसे हैं ?

विवृत ।

जैसे हैं वैसे होंगे ।

ऐसा होने पर भी यह क्योंकि है कि इत्थं (संवृत) अ के स्थान में तुल्य स्थान (कण्ठः)  
पर भिन्न-प्रयत्न वाले ( अर्थात् विवृत ) दीर्घ और प्लुत आकार तो होते हैं, तुल्य प्रयत्न  
वाले पर भिन्न-स्थान वाले ईकार अथवा ऊकार नहीं ? ( उत्तर )—

स्थानेऽन्तरतमः इस सूत्र में आचार्य कहेंगे—स्थाने पद की ( पृथी स्थाने योगा  
इस सूत्र से ) अनुवृत्ति आने पर भी फिर स्थाने ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जहाँ

१. संवृतः संवृता अन्यत्रार्भवसान् यह वचन किन्हीं सामग्रियों का है ।

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनप्यत्वात् ॥

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति अस्य च्वा, यस्येति च । किं कारणम् अनप्यत्वात् । न होतेऽणः, येऽनुवृत्तौ । के तर्हि । येऽक्षर-समाम्नाय उपदिश्यन्ते ।

एकत्रादकारस्य सिद्धयै ॥

एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये यश्चानुवृत्तौ, यश्च धात्वादिस्थः ।

अनुबन्धसङ्करस्तु ॥

माना प्रकार का सादृश्य हो वहाँ स्थान-कृत सादृश्य बलवत्तर होता है ।

( वा० ) तो भी साक्षात् शास्त्र-प्रवृत्ति के अनुकूल सूत्र-निर्देश ( अर्थात् प्रत्याहार-रहित ) में सवर्ण का ग्रहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह निर्देश, भण नहीं । जैसे, अस्य च्वा सूत्र में निर्दिष्ट इ अ से सवर्ण दीर्घ ई और आ का ग्रहण न हो सकेगा, तथा यस्येति च सूत्र में निर्दिष्ट इ अ से सवर्ण दीर्घ ई और आ का ग्रहण न हो सकेगा । इन सूत्रों में उच्चारण किए हुए अ, इ अण् नहीं । अण् से अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट अ इ उ इत्यादि का ग्रहण होता है ।

( वा० ) अकार के एक होने से इष्ट सिद्धि हो जाएगी ( अर्थात् उक्तदोष नहीं आएगा ) ।

जो अकार अक्षर साम्नाय में है, जो प्रत्याहार-रहित सूत्रनिर्देश में, जो धातु आदि में है, वह सब एक ही है ।

( वा० ) पर ऐसा होने से अनुबन्ध-पङ्कट प्राप्त होता है ।

उनके मत में ईकार ऊकार भी संज्ञा प्रयत्न वाले होते हैं । इस लिए सज्ञा अकार के स्थान में संज्ञा ईकार ऊकार प्राप्त होते हैं । जैसे सज्ञा अकार के स्थान में तुय स्थान वाले भिन्न प्रयत्न वाले दीर्घ प्लुत अकार प्राप्त होते हैं वैसे तुय प्रयत्न वाले भिन्न स्थानवाले ईकार ऊकार क्यों न हो जावे यह प्रश्न है ॥

१. अनुवृत्तिनिर्देशः — वृत्तिमनुगत इत्यनुवृत्तिः । अत्याद्यः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया इत्से प्रादिसमास, अनुवृत्तिश्चासौ निर्देशश्च = अनुवृत्तिनिर्देशः । वृत्ति = शास्त्रप्रवृत्ति, उसके अनुकूल निर्देश, जहाँ प्रत्याहार का आश्रयण न करके वर्णों का लक्ष्य-संस्कार के लिए सीधा उच्चारण है, जैसे अस्य च्वा ( जा० ३२ ) में अ का ।

२. अस्य च्वा — इस में जो अ पड़ा है यह अण् नहीं, जैसे आ अण् नहीं वैसे ही अ भी नहीं, क्यों प्रति उच्चारण में वर्णभेद होता है ऐसा व्यक्तिपञ्च में माना जाता है । प्रत्याहारस्य क् ( जैसे अक् में, ण् जैसे अण् में ) आदि से अक्षरसमाम्नायस्थ अ का अनुमान हो जाता है, पर अस्य च्वा में तो वैसा चिह्न नहीं है ।

३. अकार, इकार आदि नियम व्यक्तियाँ हैं, एक ही अ व्यञ्जक-व्यंजक-भेद से भिन्न सा भासता है, जैसे एक ही मुख आदि राज्ञ, तैल, आदर्श (दर्पण) में प्रतिबिम्बभेद

अनुबन्धसंस्कारस्तु प्राप्नोति । कर्मण्यण् आतोऽनुपसर्गे कः, इति केऽपि णित्कृत प्राप्नोति ।

एकाजनेकाजग्रहणेषु चानुपपत्तिः ॥

एकाजनेकाजग्रहणेषु चानुपपत्तिर्मवति । तत्र को दोषः । किरिणा गिरि-  
णेत्येकाजलक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति । इह च घटेन तरति घटिक इति  
द्वयजलक्षणमन न प्राप्नोति ।

द्रव्यवच्चोपचाराः ॥

द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्ति । तद्यथा द्रव्येषु नैकेन घटेनानेको  
युगपत्कार्यं करोति । एवमिममकारं नानेको युगपदुच्चारयेत् ।

विषयेण' तु नानालिङ्गकरणासिद्धम् ॥

अर्थात् अ के एक होने से एक अनुबन्ध के कार्य के साथ साथ दूसरे अनुबन्ध  
के निमित्त से कार्यान्तर भी प्रसक्त होता है, जैसे क प्रत्यय का अ और अण् प्रत्यय  
का अ यदि एक ही है तो आतोनुपसर्गे क, की प्रवृत्ति होने पर गोद रूप बनेगा और  
स्त्रीत्वविशेष में डीप् होगा नकि टाप्, कारण कि क का अ इत्संज्ञक णकार वाला  
भी है ऐसा समझा जाएगा । इतना ही नहीं गिरि के कारण आतो युक्—से युक्  
भागम भी प्राप्त होता है ।

( वा० ) जिन सूत्रों में एकाच् अनेकाच् का—निमित्त रूप से ग्रहण किया है  
उनमें इष्ट रूप की अतिरिक्ति रहेगी ।

इससे यह दोष आया कि किरिणा, गिरिणा यहां एकाच् हो जाने से विभक्ति  
अन्तोदात्त हो जाएगी और घटेन तरति घटिकः यह रूप न बन सकेगा, कारण कि  
टन् प्रत्यय द्वयचक से विधान किया है, पर यहां अ व्यक्ति के एकत्व के कारण घट  
शब्द एकाच् हो जाएगा ।

( वा० ) अकार के साथ द्रव्य का-सा व्यवहार प्राप्त होता है । जैसे द्रव्यों के  
विषय में ऐसा है कि अनेक लोग एक ही घट से एक ही समय में कार्य नहीं करते । इसी  
तरह अनेक लोग इस एक अकार को एक साथ उच्चारण न कर सकेंगे ।

( वा० ) विषय विषय में जो आचार्य अकार के साथ भिन्न-भिन्न लिङ्ग

से नाना भासता है । अतः सब अ अण् ही, है । अतः सर्वत्र ग्रहणक शास्त्र (अणुदित्सवर्गस्य  
चाप्रत्यय) की प्रवृत्ति होगी । यह व्यक्ति-स्फोट वादी सिद्धान्त्येकदेशी का मत है ।

१ वार्तिककार ने विषयत्व-रूप सामान्य को लेकर और अधिकरणत्व के स्थान  
में करणत्व की विवक्षा कर विषयेण यह तृतीया एक वचन का प्रयोग किया है, भाष्यकार  
विषय-भेद को दृष्टि में रखकर अधिकरणता का बोध कराने के लिए विषये-ऐसा, प्रयोग  
करते हैं ।

यद्यं विषये विषये नानालिङ्गमकारं करोति—कर्मण्यण्, आतोनुप-  
सर्गे कः, इति तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोस्तीति । यदि हि स्यान्नानालिङ्ग-  
करणमनर्थकं स्यात् । एकमेवायं सर्वगुणमुच्चारयेत् । नैतदस्ति ज्ञापकम् ।  
इत्संज्ञाप्रकृत्यर्थमेतत्स्यात् । न हायमनुबन्धः शल्यकवच्छेदस्य उपचेतुम् ।  
इत्संज्ञायां हि दोषः स्यात् । आयम्य<sup>१</sup> हि द्वयोरित्संज्ञा स्यात् । कयोः ।  
आद्यन्तयोः । एवं तर्हि—

विषयेण तु पुनर्लिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥

यद्यं विषये विषये पुनर्लिङ्गमकारं करोति—प्राग्दीन्यतोऽण्, शिवादि-  
भ्योण् इति । तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोस्तीति । यदि हि स्यात्पुनर्लिङ्ग-  
करणमनर्थकं स्यात् ।

अथवा पुनरस्तु

जोड़ता है, जैसे कर्मण्यण्—इसमें ण् आतोनुपसर्गे कः—इसमें क, इस से जानते हैं कि  
एक ही स्थल में नानाऽनुबन्ध-निमित्तक कार्यों का साङ्ख्य नहीं होगा । यदि यह साङ्ख्य  
हो जाय, तो भिन्न-भिन्न लिङ्ग लगाना व्यर्थ हो जाए । एक अक्षर को सभी अनुबन्धों  
सहित पढ़ दे । यह कोई ज्ञापक नहीं । नानालिङ्गों (अनुबन्धों) का लगाना इत्संज्ञा की  
सिद्धि के लिए चरितार्थ रहेगा । एक ही अक्षर को श-यक (संज्ञा जो ऊपर नीचे फाँटों  
से ढपा हुआ होता है) की तरह अनुबन्धों से टाँपा नहीं जा सकता, कारण कि इत्संज्ञा  
में दोष आएगा । यत्न करने पर दो की इत्संज्ञा हो सकेगी । आदि और अन्त के हल्लों  
की । अच्छा तो—

(या०) विषय-विषय में जो आचार्य अक्षर को बार-बार एक ही लिङ्ग (अनुबन्ध)  
से युक्त करते हैं, जैसे प्राग्दीन्यतोऽण्—यहाँ और फिर शिवादिभ्योऽण् — यहाँ भी,  
इससे जानते हैं कि अनुबन्ध-संकर नहीं होता । यदि हो तो बार-बार एक ही लिङ्ग  
को लगाना व्यर्थ हो जाय ।

अथवा फिर वही पहले पढ़ा हुआ—

१. गुण से यहाँ अनुबन्ध विवक्षित है । अनुबन्ध कार्य करने के लिए आश्रित  
किये जाते हैं, अतः उपकारक होने से गुण शब्द से व्यपदिष्ट किए जाते हैं । सर्वगुणम् =  
सर्वानुबन्धम् । कर्मण्यण् न कह कर कर्मणि कण् ऐसा कहे ।

२. आयम्य, यत्न कर । आत् यम् का अर्थ सींचना, लम्बा करना होता है । यत्न  
करना गौणार्थ है । कण् इस अनुबन्ध समुदाय के आदि क् की लशकतद्धिते (१।३।८)  
से इत्संज्ञा हो जायगी, अन्त्य द् की हलन्त्यम् (१।३।१३) से इत्संज्ञा हो आएगी, पर बीच  
के ण् की तो किसी शास्त्र से इत्संज्ञा न हो सकेगी ।

निपयेण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥

इत्येव । ननु चोक्तम्—इत्संज्ञाप्रकल्प्यर्थमेतत्स्यादिति । नैप दोषः ।

लोकत एतत्सिद्धम् । तद्यथा लोके कश्चिदेवं देवदत्तमाह—

इह मुण्डो भव, इह जटिलो भव, इह शिखी भवेति । यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपतिष्ठते । एवमयमकारो यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपस्थास्यते ।

यदप्युच्यते—एकाजनेकाजग्रहणेषु चानुपपत्तिरिति—

एकाजनेकाजग्रहणेषु चावृत्तिसंख्यानात् ।

एकाजनेकाजग्रहणेषु चावृत्तेः संख्यानादनेकाचत्वं भविष्यति । तद्यथा—सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति इति त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुक्तमाम् इत्यावृत्तितः सप्तदशत्वं भवति । एवमिहाप्यावृत्तितोऽनेकाचत्वं भविष्यति । भवेदावृत्तितः

(वा०) विषयेण तु नाना इत्यादि वास्तविक न्यास ही अनुबन्ध-सङ्कर-रूप दोष की निवृत्ति कर देगा । अजी, अभी कहा या कि नाना लिङ्गों का दृगाना इत्संज्ञा की मिथि के लिए चरितार्थ रहेगा और ज्ञापक न हो सकेगा । मत हो, इससे कुछ बिगड़ता नहीं । नाना लिङ्ग-हेतुक सङ्कर का अभाव तो लोक से सिद्ध है । जैसे लोक में कोई देवदत्त को ऐसे कहता है—

यहा (सन्मसाश्रम में) मुण्डी हो, यहा (ब्रह्मचर्याश्रम में) जटावान् हो, यहाँ (गृहस्थाश्रम में) शिखावाला हो । (एक होता हुआ भी वह देवदत्त) जिस चिह्न वाला जहा कहा जाता है उस चिह्न वाला वहा उपस्थित हो जाता है । इसी प्रकार अकार भी जिस चिह्न-माला (णित्, कित्, टित्वादि) जहा कहा जाता है उस चिह्न-माला वहाँ उपस्थित हो जाएगा ।

और जो कहा गया है कि जिन सूत्रों में एकाच्, अनेकाच् का ग्रहण है वहाँ इष्टसिद्धि नहीं होगी, उसका उत्तर यह है—

(वा०) एकाच् अनेकाच् के ग्रहण में आवृत्ति द्वारा एवम् सख्या से अनेकाचत्व हो जायगा । जैसे (वेद में कहा है) विकृतिषाग में सत्तरह समिवाधान के मन्त्र होते हैं । वस्तुतः वहा तेरह मन्त्र होते हैं, जिनके प्रथम और अन्तिम मन्त्र को तीन बार उच्चारण करके सत्तरह सख्या बन जाती है । इसी प्रकार यहाँ (घट आदि में) आवृत्ति से अनेकाचत्व हो जाएगा, (जिससे द्वयच् से विहित ठन् प्रत्यय हो जाएगा और घटिक यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाएगा) । अच्चा आवृत्ति करके इष्टकार्य सिद्ध हो जाने से दूषण (सूत्र की अग्न्यासि) का परिहार संभव होने पर भी यहा किरिणा गिरिणा में स्वरूप से एकाचत्व (एक ही इकार) के होने से एकाच्

कार्यं परिहृतम् । इह तु सलु किरिणा गिरिणेत्येकाज्जलक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोत्येवम् । एतदपि सिद्धम् । कथम् । लोक्तः । तद्यथा ऋषिसहस्रमेकां कपिलामेकैकदाः सहस्रवृत्त्वो दत्त्वा तथा सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः सम्पन्नाः । एवमिहाप्यनेकाच्चत्वं भविष्यति । यदप्युच्यते द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नु-  
यन्तीति । भवेद् यदसंभवि कार्यं तन्नानेको युगपत्कुर्यात् ।

को मानकर जो विभक्ति की अन्तोदात्ता प्राप्त होती है यह तो होकर रहेगी ( यह रूपण अपरिहृत रहा ) ।

इसका परिहार भी हो जाएगा ।

कैसे ?

लोक व्यवहार से ।

जैसे एक हजार ऋषि एक-एक करके एक ही कपिला गौ को हजार बार (किसी ब्राह्मण को) देते हैं, इससे वे सहस्र गोदान करनेवाले कहे जाते हैं ( सहस्र गोदान का फल उन्हें मिलता है, न कि एक गोदान का) । उसी प्रकार यहा भी अनेकाध्य हो जाएगा । जो यह कहा है कि अक्षर के एक होने से इसके साथ द्रव्य का सा व्यवहार प्राप्त होता है । (उसमें हमें यह कहना है)— जो कार्य असम्भव है वह भले ही अनेक पुरस् एक ही समय न कर सकें, जो कार्य हो सकता है उसे अनेक लोग भी एक साथ

१ यदि अ एक ही है तो घट शब्द एकाच् हो जाएगा, तब इससे तरति इस अर्थ में नौद्वयच ठन् (४।४।७।।) से ठन् प्रत्यय न हो सकेगा और घटेन तरति, इस अर्थ में घटिक यह इष्ट रूप न बन सकेगा । इस सूत्र से यहा अव्याप्ति रहेगी । इसका परिहार आगति से किया है ।

२ किरि, गिरि में यदि इकार व्यक्ति एक हा है तो यह किरि ( सूअर ) और गिरि शब्द स्वरूप से एकाच् हुए, तो साधिकाघस्तृतीयाद्विभक्ति ( १।१।१६८ ) इस सूत्र की अतिव्याप्ति होकर किरिणा, गिरिणा—ये पद अन्तोदात्त हो जायेंगे ।

३ यहाँ कुछ विद्वान् दान प्रतिग्रहमाला ममज्ञते हैं । वे ऋषि दाता भी हैं और प्रतिग्रहीता भी । सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम ऋषि केवल दाता ही होगा, प्रतिग्रहीता नहीं । ऋषियों का प्रतिग्रहीतृत्व उनके दातृत्व का अपकर्षक भी है । वस्तुतः स्वत्व-निवृत्तिपूर्वक दानकर किसी प्रतिग्रहीता ब्राह्मण से प्रत्येक ऋषि उस एक कपिला गौ को मोल लेकर उसे ही प्रतिग्रह-रूप में लौटा देता है । यहा लोकव्यवहार से यह सिद्ध होता है कि — गौणी मुख्या वा उत्तरा सङ्ख्या पूर्वा सत्या बाधते, आवृत्ति से यहा एक ही गौ सहस्र = सत्याक हो गयी, क्योंकि उन सहस्र ऋषियों को एक गो का फल नहीं मिला, किन्तु सहस्र गौओं के दान का । ऐसे ही प्रकृत में

यत्खलु संभवि कार्यमनेकोपि तद्युगपत्करोति । तद्यथा—घटस्य दर्शनं स्पर्शनं वा । संभवि चेदं कार्यमकारस्योच्चारणं नाम, अनेकोऽपि तद् युगपत्करिष्यति ।

आन्यभाष्यं तु कालशब्दव्यवायात् ॥ ११ ॥

आन्यभाष्यं त्वकारस्य । कुतः । कालशब्दव्यवायात् । कालव्यवायाच्छब्दव्यवायाच्च । कालव्यवायाद्—दण्ड अग्रम् । शब्दव्यवायात्—दण्डः । न चैकस्यात्मनो व्यवायेन भवितव्यम् । भवति चेद्भवत्यान्यभाष्यमकारस्य ।

युगपच्च देशपृक्त्वदर्शनात् ॥ १२ ॥

युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनान्मन्यामह आन्यभाष्यमकारस्येति । यद्यं युगपद् देशपृथक्त्वपूपलभ्यते—अक्षः, अर्कः, अर्थ इति । न होको देवदत्तो युगपत्सुप्ते च भवति मथुरायां च ।

यदि पुनरिमे वर्णाः

करते हैं जैसे घड़े का स्पर्श और दर्शन । अकार का उच्चारण—रूप कार्य भी हो सकता है, अनेक लोग इसे एक-साथ उच्चारण कर सकते हैं ।

( वा० ) अकार अन्यान्य ( नाना ) होने चाहिये कालकृत व्यवधान तथा शब्दकृत व्यवधान होने से ।

अकार का नानात्व सिद्ध होता है । कैसे ? कालकृत व्यवधान तथा शब्दकृत व्यवधान के कारण । कालकृत व्यवधान, जैसे दण्ड अग्रम्, यहाँ । शब्दकृत व्यवधान, जैसे दण्ड, यहाँ । एक ही पदार्थ में व्यवधान नहीं होता है तो ( निश्चित ही ) अकार नाना है ।

( वा० ) एक साथ नाना देशों ( स्थानों ) में उपलब्ध होने से ।

एक साथ नाना स्थानों में देरे जाने से हम समझते हैं कि अकार नाना है । क्योंकि यह अक्ष, अर्क इत्यादि स्थलों में एक-साथ देखा जाता है । एक ही देवदत्त एक साथ सुप्त और मथुरा में नहीं हो सकता ।

यदि ये वर्ण पक्षियों की तरह होवें ।

स्वरूप से यद्यपि गिरि, गिरि ( इ के एक होने से ) एकाच् हैं, पर आरुति से प्रातर्हुई उत्तर संख्या द्वयचकता स्वरूप—सिद्ध पूर्व संख्या एकाच्त्व को बाध लेगी और इससे यहाँ सूत्र की अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

१. अन्यस्य भावः = अन्यभाव स एव आन्यभाष्यम् । स्वार्थे व्यञ्ज ।

२. देश से यहाँ वर्ण—समुदाय रूप शब्द का ग्रहण है ।



शकुनितस्य ॥

तद्यथा शकुनय आशुगामिन्वात्पुनस्तादृत्पतिताः पश्चाद् दृश्यन्ते ।  
अयमकारो द इत्यत्र दृष्टो ण्ड इत्यत्र दृश्यते ।

नेत्र शक्यम् । अनित्यत्वमेव स्यात् । नित्याश्च शब्दाः । नित्येषु च  
शब्देषु कूटस्थैरपि चालिभिर्वर्णभेदिन्यमनपायोपजनविचारिभिः ।  
यदि पुनरिमे वर्णाः—

आदित्यस्य ॥

तद्यथा—एक आदित्योऽनेकाधिररणस्यो युगपद् देशप्रान्तत्वेष्टप  
लभ्यते । विषम उपन्यासः । नेत्रो दृष्टाऽऽदित्यमनेकाधिररणस्य युगपद्  
देशपृथगन्तत्वेष्टपलभतेऽकार पुनरपलभते । अकारमपि नोपलभत । नि  
कारणम् । श्रोत्रोपलधिर्बुद्धिनिर्गमः प्रयोगेणाभिचलित आकाशदश शब्दः ।  
एक च पुनराकाशम् । आकाशदेशा अपि उह्य । यावन्त उह्यस्तस्मादन्त्य  
भायमकारस्य ।

इमे पक्षी आगे का पोर उड टुण सीप्रगति क कारण पाठ का वर नर जान  
है इसा प्रकार द में दृष्टा हुआ च ण्ड में ( पाठ का वर ) दृष्टा जाता है ( नग्न  
वर्ण-संक्रम = स्थान परिवर्तन हो जाता है ) ।

यह नहीं हो सकता, कारण कि हम प्रसार शब्द में अनित्यता पा पाया ।  
परन्तु शब्दों में वर्णों को कृत्स्न ( नित्य अवस्थित ) स्थापयितान-नग्न नाम वृत्ति  
और आकाश से रहित होना चाहिये ।

यदि ये वर्ण—

( वा० ) आदित्य की तरह हों

“स एक ही सूर्य उदय आदि कार्य में अनेक स्थानों में स्थित, भिन्न भिन्न स्थानों में  
( रहने वाले लोगों में ) एक-साय देखा जाता है ( जमही एक ही नकार भा ) । यह  
स्थान्त सिक नहीं । ( यहा विरमता है और यह यह है कि ) एक ही पुरुष भिन्न भिन्न  
स्थानों में वर्तमान सूर्य को भिन्न भिन्न स्थानों में एक-साय नहीं कर पाता, अकार को  
तो देखता है ( इससे अकार व्यक्तियों का नानात्व का सिद्ध होता है ) । हम पर एतद्व  
वादा फिर कहता है—अकार को भी हम प्रसार पृथक् पृथक् स्थानों में नहीं देखता ।  
क्या कारण ? शब्द ( स्फोट रूप ) श्रोत्र से उपलब्ध तथा बुद्धि से निर्गमित ध्वनि से  
अभिव्यक्त होता है, और आकाश इसका दश है । आकाश एक वस्तु है । ( नग्न )  
आकाश क भी नाना प्रदेश है । ( अर्थात् उपाधिभेद से प्रगकाश घनकाश, इत्यादि  
नाना आकाश-प्रदेश हैं ) । चूंकि नाना प्रदेश है इसीलिये तन्नाशित अकार भी नाना है  
एक नहीं ।

१. श्रोत्रोपलधि = श्रोत्रोपलभ्यत इति । कर्मणि भिन्न ।

## आकृतिग्रहणात्सिद्धम्

अर्णाकृतिरपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति, तथेवर्णाकृतिः,  
तथोवर्णाकृतिः ।

नद्वच्च तपरस्तरणम् ॥

एव च कृत्वा तपरा प्रियन्ते—आकृतिग्रहणेनातिप्रसक्तमिति । ननु च  
सर्वर्णग्रहणेनातिप्रसक्तमिति कृत्वा तपराः प्रियेरन् । प्रत्याख्यायते तत्—  
सर्वर्णोऽग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्चेति ।

हल्ग्रहणेषु च ॥

स्मि । आकृतिग्रहणात्सिद्धमित्येव । ब्रलो ब्रलि, अवात्ताम्,  
अवात्तम्, अवात्तं । यनेतन्नास्ति—अण् सर्वर्णान्गृह्णातीति ।

( वा० ) आकृति ( जाति ) का ही सर्वत्र ग्रहण होने से समस्त दोषों का वारण  
और सर्वद्वेष्ट सिद्धि हो जायगी ।

अकार जाति का निर्देश होने से सारे अकार-कुल का अर्थात् अटारह प्रकार के  
अकार का ग्रहण हो जायगा । इसी प्रकार इकार जाति का निर्देश होने से, इसी प्रकार  
उकार जाति का ( दोष सभी वर्णों के विषय में भी ऐसे ही जानो ) ।

( वा० ) इसी लिये तो तपर किया गया है ।

आकृति ग्रहण ( जातिनिर्देश से जहाँ अतिप्रसङ्ग का भय होता है वहाँ आचार्य  
तपर करते ) ।

क्यों जी, तपर तो जहाँ सर्वर्ण ग्रहण से अतिप्रसङ्ग होता हो उस के वारण के  
लिये भी किया गया हो सकता है । ( नहीं ) सर्वर्ण ग्राहक शास्त्र में पढ़े हुए अण् का  
सर्वर्णोऽग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्च इस वचन से प्रत्याख्यान किया गया है ।

१ त्यदादीनाम्, इत्यादि में वर्णममाम्नाय में जातिपरक निर्देश है इस पक्ष  
में तथा उदात्त आदि गुण भेदक नहीं होते इस पक्ष में दीर्घ आदि के वारण के लिये  
अणुनिन्मूत्र में अभिनय ( = अविधायमान ) का ग्रहण करना आवश्यक है । उदिन् ग्रहण  
भी इष्ट है, केवल अण् का प्रत्याख्यान किया गया है ।

२ व्यक्तिपक्ष में झर् मे एक तकार-व्यक्ति का बोध होगा । ब्रलो ब्रलि सूत्र  
में यदि पञ्च न्त झल् पद में त् का ग्रहण होगा तो सप्तम्यन्त ब्रलि पद से दूसरी तकार-  
व्यक्ति का ग्रहण नहीं हो सकता । तो ग्रहण में ( अवात् स् ताम् इत्यादि में ) स्  
का लोप न । मरेगा और इष्ट-रूप अवात्ताम् सिद्ध न होगा । अर्थात् होने पर

## रूपसामान्याद्वा ॥

रूपसामान्याद्वा सिद्धमेतत् । तद्यथा—तानेव शाट्कानाच्छादयामो ये मधुरायाम्, तानेव शालीन्मुञ्जमेहे ये मगधेषु, तदेवेदं भवतः कार्पाषण्यं यन्मधुरायां गृहीतम्, अन्यस्मिंदृष्टान्यस्मिन् रूपसामान्यात् तदेवेदमिति । एवमिहापि रूपसामान्यात्सिद्धम् ॥

( वा० ) जिन सूत्रों में हल् का ग्रहण है उनमें भी आकृति-निर्देश से इष्ट-सिद्धि हो जायगी ।

जहाँ अण् नहीं और हस् लिये सवर्णग्रहण का प्रसङ्ग ही नहीं, जैसे झल् से परे सू का लोप होता है झल् परे होने पर—अवात् सू ताम्=अवात्ताम्, अवात्स तम्=अवात्तम्, अवात्सुत=अवात्त ।

( वा० ) अथवा ( जातिपक्ष का आश्रयण न करनेपर ) हटग्रहण वाले सूत्रों में रूप की समानता को लेकर इष्टसिद्धि हो जायगी ।

जैसे—हम उन्हीं शाट्को को पहन रहे हैं, जो मधुरा में थे, उन्हीं चावलों को खा रहे हैं जो मगध में थे, यह आप का वही कार्पाषण्य है जिसे ( आपने ) मधुरा में लिया था । और-और पदार्थ में केवल रूप-सादृश्य से ऐसी प्रतीति होती है कि यह वही है । इसी प्रकार प्रकृत में हल् वर्णों में ( प्रति उच्चारण वर्णभेद होने पर भी ) रूपसादृश्यसे यह वही वर्ण है ऐसी प्रतीति होने से सत्र इष्ट ( कार्य ) सिद्ध हो जायगा ॥

भी सूत्र ( झलो झलि ) व्यर्थ नहीं हो जाता । वह अग्रान्ध सू ताम् इत्यादि स्थलों में चरितार्थ रहेगा, क्यों कि वहाँ झल् पद से दो भिन्न व्यक्तियों धृ त् का ग्रहण है ) । अतः अवात्ताम् आदि की सिद्धि के लिये जातिपक्ष स्वीकार करना होगा । तब झल् से जो त् गृहीत होता है वह तत्वावच्छिन्न परक है । वह तकारमात्र लिया जाएगा ।

१. व्यक्ति पक्ष में उदात्त आदि, ह्रस्वदीर्घादि अनुनासिक, निरनुनासिक आदि भेद के कारण अचो में रूप-सामान्य दुर्लभ है, अतः वहाँ रूपसामान्य को लेकर निर्वाह नहीं हो सकता । हाँ, हलों में इस प्रकार का कोई धर्मभेद न होने से रूप-सामान्य का आश्रय करके सामान्य-मूलक अभेद का आरोप करके निर्वाह हो जायगा । झल् पद में गृहीत हुए एक तकार व्यक्ति के साथ दूसरे तकार व्यक्ति का रूपसामान्य होने से अभेदा-रोप करके झल्वेन ग्रहण हो जायगा, जिससे अवात्ताम् आदि रूप-सिद्धि में बाधा न होगी ।

## ऋलृक् ॥

अथ लृकारोपदेशः किमर्थः । किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यत न पुनरन्येषामपि वर्णानामुपदेशश्चोद्यते । यदि किञ्चिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशो प्रयोजनमस्ति, लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति । को वा विशेषः । अयमस्ति विशेषः । अस्य हि लृकारस्याल्पीयांश्चैव प्रयोगविषयः । यश्चापि प्रयोग-विषयः सोऽपि ऋलृपिस्थस्येव । ऋलृपेक्षे च लृत्वमसिद्धम् । तस्यासिद्धत्वा-दृकारस्यैवाचार्याणि भविष्यन्ति । नार्थं लृकारोपदेशेन ।

अत उत्तरं पठति—

लृकारोपदेशो यदृच्छाशक्तिजानुकरणप्लुत्यार्थः ॥

लृकारोपदेशः क्रियते यदृच्छाशब्दार्थोऽशक्तिजानुकरणार्थः प्लुत्या-र्थश्च । यदृच्छाशब्दार्थस्तावत्—यदृच्छया कश्चित् लृतको नाम । तस्मिन्न-चार्याणि यथा स्युः—दध्यलृतकाय देहि, मध्यलृतकाय देहि उदङ्ङलृत-कोऽगमत्, प्रत्यङ्ङलृतकोऽगमत् । चतुर्थी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा-गुणशब्दा-क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः ।

## ऋलृक् ।

यहा प्रश्न होता है कि ( अक्षरसमाम्नाय मे ) लृकार उपदेश (लृकार पढ़ने) का क्या प्रयोजन है । पर विशेष करके लृकारोपदेश के विषय में क्यों पूछते हो, दूसरे वर्णों के उपदेश के विषय में क्यों नहीं पूछते हो । यदि दूसरे वर्णों के उपदेश का कोई प्रयोजन है वह लृकारोपदेश का भी हो सकता है । अथवा भेद क्या है ? भेद यह है—प्रथम तो लृकार के प्रयोग का विषय ही थोड़ा है और जो है भी वह प्लुप् धातु के लृकार का ही । और प्लुप् का एतत् असिद्ध होने से अकार्य ( अस्थायिक, अच्-निमित्तक कार्य ) ऋकार को ही हो जायेगे, लृकारोपदेश का कुछ प्रयोजन नहीं ।

इसलिये उत्तर पढ़ते हैं—

( वा० ) लृकारोपदेश यदृच्छा ( संज्ञाशब्द ), अशक्ति से किये हुए अनुकरण, तथा प्लुत आदि कार्यों के लिए चाहिये ।

पहले यदृच्छा को लीजिये—अपनी इच्छा से किये गये संकेतके कारण कोई लृतक नाम से प्रसिद्ध है । उस लृतक नाम के परे रहते अच् निमित्तक कार्य जिस प्रकार हो सके—( जैसे )

दध्यलृतकाय देहि ( लृतक नामक पुरुष को दही दो ), मध्यलृतकाय देहि ( शहद लृतक नामक पुरुष को दो,—इन दो वाक्यों में दधि और मधु के इ, उ के अनन्तर

अशक्तिजानुकरणार्थः—अशक्त्या कयाचिद् ब्राह्मण्या ऋतक इति प्रयोक्तव्ये लृत्तक इति प्रयुक्तम् । तस्यानुकरणं ब्राह्मण्यञ्चतक इत्याह कुमार्यु लृत्तक इत्याह ।

प्लुत्याद्यर्थश्च । के पुनः प्लुत्यादयः । प्लुतिर्द्विर्वचनस्वरिताः । क्लृप्तेतिशयः । क्लृप्तः । प्रक्लृप्तः । प्लुत्यादिषु कार्येषु कृपेर्लृत्व सिद्धम् । तस्य सिद्धत्वादच्कार्याणि न सिध्यन्ति । तस्माद् लृत्कारोपदेशः क्रियते ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि ।

लृत्तक के लृत्कार आने पर लृ को अच् मानकर इ, उ के स्थान में यण हुआ है और जैसे उदङ्लृत्तकोऽगमन्, प्रयङ्लृत्तकोऽगमन् ( लृत्तक उत्तर की ओर गया, लृत्तक पश्चिम की ओर गया ) इन दो वाक्यों में उदङ और प्रत्यङ के ण से पर लृत्तक का लृत्कार होने से अच् मानकर ङ्गुट आगम हुआ है । चार प्रकार के शब्दों का प्रयोग देखा जाता है—जातितन्द, गुणतन्द, क्रियातन्द और चौथे यदृष्टातन्द ।

अशक्ति से किए गए उच्चारण के अनुकरण के लिए—( २९ ) किसी एक ब्राह्मणी ने अमामर्ष्य के कारण ऋतक उच्चारण न करके लृत्तक ऐसा उच्चारण कर दिया । दूसरा यह बताने के लिए कि उस ब्राह्मणी ने कैसा उच्चारण किया उसका अनुकरण करते हुए कहता है—नाम्रय लृत्तक इत्याह, कुमार्यलृत्तक इत्याह ( यहा लृ को अच् मानकर ब्राह्मणी-शब्द के अन्य ई को यण हुआ है ) ।

प्लुत आदि कार्यों के लिए भी ( अचों में ण का उपदेश ( पाठ ) होना चाहिए )— यहाँ प्लुत आदि कौन से कार्य समझन चाहिए ? ण ने ङ्गुट और स्वरित । प्लुत जैसे क्लृप्तेतिशय में, क्लृप्तचन । द्विर ) जैसे क्लृप्त में, स्वरित जैसे प्रक्लृप्त में । इन कार्यों के प्रति णो रा ण ( ८१२।१८ ) मून से ङ्गु धातु के ऋ के स्थान में जो लृत्कार हुआ है यह सिद्ध है ( क्योंकि यह कार्य त्रिपादी होने पर पर है और हरत्रिपि पूर्ण है ) । लृ का अचों में पाठ किए बिना ये कार्य सिद्ध नहीं हो सकते, अतः लृ का अक्षरसमाम्नाय में अचों के मध्य में पाठ किया गया है ।

ये प्रयोजन नहीं— ( इसमें हेतु )—

१. गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्यनैकस्य प्राच्याम् ( ८१२।८२ ) से प्लुत ।

२. अनचि च ( ८१४।४७ ) में द्विर ।

३. प्रक्लृप्तः मे गतिरनन्तर ( ६१।१४९ ) में प्रक् प्रकृति स्वर उदात्त होने से शेष निपात होने से उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित ( ८१४।२६ ) में क्लृ स्वरित होता है । गतिरनन्तरः की प्रगति के लिए यहा क्लृप् का अन्तर्भावित प्यर्थ समझना चाहिए, तभी उसमें मर्मरक्ता आयगी ।

न्याय्यभावात्कल्पन सज्ञादिषु ॥

न्याय्यस्य ऋतुरशब्दस्य भावात्कल्पनं संज्ञादिषु साधु मन्यन्ते । ऋतुर एवासो न लृत्तक इति । अपर आह—न्याय्य ऋतक शब्दः शास्त्रान्वितोस्ति, स कल्पयितव्यः साधुः संज्ञादिषु । ऋतक एवासो, न लृत्तक इति । अयं तर्हि यदृच्छाशब्दोऽपरिहार्यः—लृफिट् लृफिट्ठश्चेति । एषोपि ऋफिट् ऋफिट्ठश्च । कथम् ? अतिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते, फिट्-फिट्ठयोणादिभ्यो प्रत्ययो । त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दा क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः ।

अन्यथा कृत्वा प्रयोजनमुक्तमन्यथा कृत्वा परिहारः । सन्ति यदृच्छा-शब्दा इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तं न सन्तीति परिहारः । समाने चार्थे शास्त्रा-

( बा० ) न्याय्य ( प्रवृत्ति प्रत्यय से निम्न ) ऋतक शब्द के होने से उसी

का सज्ञा आदि में प्रयोग करना उचित है ऐसा मानते हैं । अतः उस पुरुष का संस्कृत नाम ऋतक है, लृत्तक नहीं । दूसरा कोई वृत्तिकार इस वार्तिक का ऐसा व्याख्यान करता है शास्त्रानुवृत्त सस्कारवान् ऋतक शब्द है, उसी का सज्ञा आदि में प्रयुक्त हुए अमाधु शब्द के स्थान में अनुमान कर लेना चाहिए, वह ऋतक ही है, लृत्तक नहीं ( इससे ऋतक के ऋ को निमित्त आदि मानकर अप्रत्यय हो जाएगा, लृ के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं ) ।

अच्छा तो यह यदृच्छाशब्द मानना ही होगा—लृफिट्, लृफिट्ठ । यह भी व्युत्पन्न साधुरूप में ऋफिट् और ऋफिट्ठ ही है । कैसे ? ऋ धातु का प्रयोग लोके में देखते ही हैं, फिट् और फिट्ठ औणादिक प्रत्यय हैं । इस लिए कहना होगा कि शब्द तीन प्रकार के ही हैं—जाति-शब्द, गुण-शब्द तथा क्रिया-शब्द । यदृच्छा-शब्द कोई नहीं है ।

एक प्रकार का कथन करके प्रयोजन बताया, और उससे भिन्न प्रकार का कथन करके परिहार बताया यदृच्छा शब्द हैं, इस पक्ष को स्वीकार कर लृकारोपदेश का प्रयोजन बताया । यदृच्छा शब्द नहीं होते ऐसा मानकर लृकारोपदेश की कर्तव्यता का निन्द्य कर दिया (सो उचित नहीं) । (और रही न्याय्य शब्द ऋतक भादि के प्रयोग अथवा अनुमान की बात) वहाँ हमें यह कहना है कि वाच्यार्थ के एक होते हुए ही

१ न सन्ति—यदृच्छा शब्दों का क्रियाशब्दों में अन्तर्भाव करके । आचार्य ने अव्युत्पत्तिपक्ष का आश्रयण करके लृकार का उपदेश किया है, वार्तिककार व्युत्पत्तिपक्ष का आश्रयण कर इसका खण्डन करते हैं ।

२ समाने चार्थे । यहा ऋतक शब्द अमाधु लृत्तक शब्द का निवर्तक होगा यह जो पूर्व युक्ति न्याय्यभावात्कल्पन सज्ञादिषु में दी गई है वह ठीक नहीं । कारण कि अर्थ के समान होने हुए शास्त्रानुमारा ( शास्त्रव्युत्पादित ) रूप अशास्त्रान्वित ( अव्यु-

नितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति । तद्यथा—देवदत्तशब्दो देवदिष्ण शब्दं निवर्तयति, न गान्यादीन् । नैष दोषः । पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति ।

अनुकरण शिष्टशिष्टाप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु ॥

अनुकरणं हि शिष्टस्य वा साधु भवति, अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा, नैव तद् दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । यथा लौकिकवैदिकेषु । यथा लौकिकेषु वेदिकेषु च कृतान्तेषु । लोके तावत्—य एवमसौ ददाति, य एवमसौ यजेते, य एवमसा-  
वधीत इति तस्यानुकुर्वन् दद्याच्च यजेत चाधीयीत च । सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते ।

संस्काराद् शब्द संस्कारहीन का निवर्तक होता है जैसे—देवदत्त शब्द देवदिष्ण शब्द को हटा देता है, पर गान्धी आदि ( संस्कारहीन भिन्नार्थक ) शब्दों को तो नहीं हटाता । यह कोई दोष नहीं, पक्षान्तर का आश्रयण कर के भी परिहार (एण्डन आदि) होते हैं ।

( वा० ) अनुकरण शिष्ट ( विहित ) का अथवा जो न तो शिष्ट हो और न ही प्रतिषिद्ध हो उस का, साधु होता है, जैसे—लौकिक तथा वैदिक क्रियाओं में ।

अनुकरण शिष्ट का साधु होता है, अथवा जो न शिष्ट हो और न ही प्रतिषिद्ध हो, उसका । यह दूसरा अनुकरण न कुछ हानि करता है और न मङ्गलकारी होता है । जैसे लौकिक और वैदिक कर्मों में । पहले लोक में उदाहरण लीजिये—तो इस प्रकार देता है, जो इस प्रकार यज्ञ करता है, जो इस प्रकार पढ़ता है, उसका अनुकरण करता हुआ यदि कोई दे, यज्ञ करे अथवा पढ़े, वह भी मङ्गल से युक्त होगा । वेद में भी—जो वे प्रजापति लोग इस प्रकार दीर्घ-काल-भावी यज्ञों को करते हैं उन का

त्यादित ) रूप का निवर्तक होता है । यहां तो अर्थ भेद है—ऋतक में किया प्रगतिनिमित्त है और लृतक में शब्द प्रगतिनिमित्त है । इसका भाग्य में उत्तर नहीं दिया गया । इस पर कैयट का यह कहना है कि अव्युत्पन्न-सज्ञाशब्दपक्ष में भी परम्पराप्राप्त शिष्टजनों से प्रयुक्त-पूर्व संज्ञाएँ ही प्रयोग में लानी चाहिये । भाव यह है कि ऋतक भिन्नार्थक होने से लृतक का निवर्तक मत हो, शिष्टद्वारा प्रयुक्त न होने से ही उसकी निवृत्ति हो जाएगी ।

१ जैसे द्रव्यपक्ष में सारूप्याणाम् एकशेष एकविभक्तौ दस का आरम्भ किया गया है और जातिपक्ष में प्रत्याख्यान । व्यक्तिपक्ष में अणुद्विस्वर्णस्य चाप्रत्यय इस सूत्र में अणु ग्रहण किया जाता है, जातिपक्ष में इसका प्रत्याख्यान । उपदेशोऽननुनासिक — यहां अनुबन्ध अनेकान्त ( अनवयव=अवयव-भिन्न ) है ऐसा मान कर उपदेश ग्रहण किया जाता है, अनुबन्ध एकान्त ( अवयव ) है इस पक्ष में उपदेश ग्रहण का प्रत्याख्यान । ऐसे ही औ० पक्षान्तर-द्वारा परिहार के उदाहरण हैं ।

वेदेऽपि—य एवं विश्वसृजः सञ्चाण्यध्यासते इति तेषामनुकुर्वन्स्तद्वत्स-  
ञ्चाण्यध्यासीत, सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते । अशिष्टाप्रतिपिद्धं यथा—य  
एवमसौ हिक्कति, य एवमसौ हसति, य एवमसौ कण्डूयतीति तस्यानुकुर्वन्  
हिक्केच्च हसेच्च कण्डूयेच्च नेत्र च तद्वोपाय स्यान्नाभ्युदयाय । यस्तु सत्वसो  
ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां पिबतीति तस्यानुकुर्वन्ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा  
पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् ।

त्रिपद उपन्यासः । यश्चैवं हन्ति, यश्चानुहन्ति, उभौ तो हतः । यश्चापि  
पिबति, यश्चानुपिबति, उभो तो पिबतः । यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति, एव  
मसौ सुरा वा पिबतीति तस्यानुकुर्वन्स्नातानुलितो माल्यगुणकण्ड' कदलीस्तम्भ

अनुकरण करता हुआ कोई और दीर्घ कालभावी यज्ञ करे वह भी मङ्गल से युक्त  
होगा । अशिष्ट अप्रतिपिद्ध का उदाहरण यह है— जो यह इस प्रकार हिचकचाता है,  
जो यह इस प्रकार हसता है, जो यह इस प्रकार खुजली करता है, उसका अनुकरण  
करता हुआ कोई दूसरा हिचकचाए, हसे अथवा खुजली करे, न तो यह अनुकरण  
बुद्धि हानि करेगा और न मङ्गल । पर जो ब्राह्मण की हत्या करता है ( यह निपिद्ध  
कर्म है ) और जो इस प्रकार सुरा पीता है ( यह भी निपिद्ध कर्म है ) उसका अनुकरण  
करता हुआ कोई दूसरा ब्राह्मण की हत्या करे अथवा सुरा पीए वह भी निश्चित ही  
पाप कर्म करने से पतित हो जाएगा ।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं । जो इस प्रकार मारता है और जो उसका अनुकरण करते  
हुए मारता हैं, वे दोनों ( एक समान ) मारते हैं । और जो पीता है और जो उसका अनु-  
करण करते हुए पीता है, वे दोनों बराबर पीते हैं । पर जो कोई इस प्रकार ब्राह्मण को  
मारता है और जो कोई इस प्रकार सुरा पीता है, उसका अनुकरण करता हुआ स्नान  
पूर्वक चन्दन-लेप कर गले में पुष्पमाला धारण किए कदली-स्तम्भ को काटे अथवा

१ त्रिपद उपन्यास । वार्तिककार का दिया हुआ दृष्टान्त गीत नहीं । यहाँ एक  
पहले मारता है और दूसरा पीछे मारता है, हनन क्रिया दोनों की एक ही है । अनुकरण  
पश्चात्करण तो नहीं रहते । क्रिया सादृश्य होना चाहिए, जैसे भाष्यकार उदाहरण से  
स्पष्ट करते हैं । अनुकार्य के अभाव होने पर भी अनुकरण साधु ही होता है । जिस प्रकार  
कोई ब्राह्मण की हत्या करता है अथवा सुरापान करता है, उसी प्रकार यदि कोई कदली-  
स्तम्भ का छेदन करता है अथवा दूध पीता है तो दोषी नहीं होता । इस बात को  
संस्थाने के लिए मायकार स्नातानुलित, और माल्यगुणकण्ड — ये दो विशेषण देते  
हैं । पहले विशेषण से उसकी स्वस्वचित्तता उपकर्ता है, दूसरे से स्वलङ्घ्य होने से  
प्रयक्षविषयता अथवा प्रत्यक्षरूपता प्रतात होती है, क्योंकि अलङ्क्रिया अपने आपको  
दमरों की रुचि का विषय बनाने के लिए ही जाती है । अङ्गुय निपिद्ध कर्म करने वाला  
न तो स्वस्वचित्त होता है और न प्रत्यक्ष-रूप । वह लज्जा-वश छिपना चाहता है ।



छिन्धात्पयो वा पिवेत्, न स मन्ये पतितः स्यात् । एवमिहापि य एवमसावप-  
शब्दं प्रयुङ्क्त इति तस्यानुकुर्वन्नपशब्दं प्रयुञ्जीत, सोऽप्यपशब्दभाक् स्यात् ।

अयं त्वन्योऽपशब्दपदार्थकः शब्दो यदर्थं उपदेशः कर्तव्यः । न चाप-  
शब्दार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवति । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । यो हि मन्यतेऽ-  
पशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवतीति, अपशब्द इत्येव तस्याऽपशब्दः  
स्यात् । न चेपोऽपशब्दः ।

अयं खल्वपि भूयोऽनुकरणशब्दोऽपरिहार्यः, यदर्थं उपदेशः कर्तव्यः ।  
साध्वल्कारमधीते, मध्वल्कारमधीत इति । कस्यस्य पुनरेतदनुकरणम् ।  
क्लृपिस्थस्य । यदि क्लृपिस्थस्य, क्लृपेऽथ लत्वमसिद्धम्, तस्यासिद्धत्वाद्वाकार  
एवाऽऽचार्याणि भविष्यन्ति । भवेत्तदर्थेन नार्थः स्यात् । अयं त्वन्यः  
क्लृपिस्थपदार्थकः शब्दः, यदर्थं उपदेशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । इदमवश्य

वृष पिप, मेरे पिचार में वह पतित न होगा । इसी प्रकार जो कोई अपशब्द का  
प्रयोग करता है उसका अनुकरण करता हुआ स्वयम् भी अपशब्द का प्रयोग करे,  
वह अपशब्द प्रयोग के कारण से दोषी होगा ।

परन्तु जहाँ (अनुकार्य) अपशब्द का प्रत्यायक ( बोधक, वाचक ) (अनुकरण)  
शब्द प्रयुक्त होता है उसके लिए वर्णसमाप्ताय में लृकार का उपदेश करना ही  
होगा । अपशब्द का वाचक शब्द स्वयम् अपशब्द नहीं होता । ऐसा अवश्य स्वीकार  
करना होगा । जो ऐसा मानता है कि अपशब्द का वाचक शब्द भी अपशब्द होता है,  
उसके लिए अपशब्द भी अपशब्द (असाधु शब्द) हो जाएगा, पर वस्तुतः अपशब्द  
अपशब्द नहीं ।

किंच । एक (साधु) अनुकार्य लृ भी है जिसके अनुकरण (जो साधु ही होगा) के  
लिए अवश्य वर्ण-समाप्ताय में उपदेश करना होगा । यथा साध्वल्कारमधीते (लृकार  
का शुद्ध उच्चारण करता है), मध्वल्कारमधीते (लृकार का मधुर उच्चारण करता है)  
इन स्थलों में । यदि पूछे कि यह कक्षा के लृकार का अनुकरण है तो हम कहेंगे क्लृप्-  
धातु के लृकार का । यदि क्लृप् धातु के लृकार का (प्रकृत में) अनुकरण है, तो  
हो, पर इसके लिए वर्णमसाम्नाय में लृकार उपदेश करने का कुछ प्रयोजन नहीं ।  
कारण कि क्लृप् का लृ पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से असिद्ध है, अच्-निमित्तक  
कार्य ( प्रकृत में यण् ) क को मानकर हो जाएगा । क्लृप् के लृ के लिए उपदेश भले  
ही व्यर्थ हो । पर मध्वल्कार इत्यादि में जो लृ है वह क्लृप् का लृ नहीं, किन्तु उसका  
अनुकार्य रूप से बोधन कराने के लिए अनुकरण रूप है । (अनुकार्य अनुकरण का भेद

१ अपशब्दं प्रयुञ्जीत, अपशब्द को उसी अर्थ में प्रयुक्त करे तो उसने वही  
क्रिया की, अनुकरण नहीं किया, इससे वह दोषी होगा ।

कर्तव्यम् प्रकृतिवदनुकरणं भवतीति । किं प्रयोजनम् । द्विः पंचन्त्वित्याह तिङ्ङितिङ् इति निघातो यथा स्यात् । अग्नी इत्याह ईद्देद्वि वचन प्रगृह्यमिति प्रगृह्यसंज्ञा यथा स्यात् । यदि प्रकृतिवदनुकरणं भवतीत्युच्यते, अपशब्द एवासौ भवति — कुमार्यलृत्क इत्याह । ब्राह्मण्यलृत्क इत्याह । अपशब्दो ह्यस्य प्रकृतिः । न चापशब्दः प्रकृतिः । न ह्यपशब्दा उपदिश्यन्ते । न चानुपदिष्टा प्रकृतिरस्ति ।

स्वीकार कर) इस अनुकरण रूप लृ में अच् कार्य हो सकें तदर्थ इसका वर्ण समाम्नाय में अचो क मध्य में पाठ होना चाहिए । (इस पर एकदेशी कहता है) लृ के पाठ की कोई आवश्यकता नहीं । इसके स्थान में प्रकृतिवदनुकरण भवति (अनुकरण में प्रकृति=अनुकार्य का धर्म आ जाता है) यह परिभाषा स्वीकार करनी चाहिए । (निससे अनुकरण लृ में अस्तिद्धता आ जाएगी) । तो इस परिभाषा का (और) क्या प्रयोजन है ? द्वि पचन्तु इत्याह — दो बार पचन्तु इस शब्द का उच्चारण करता है — यहा अतिङन्त द्वि शब्द से परे आप हुप् पचन्तु शब्द को तिङन्त मानने से उसे तिङ्ङतिङ्ङः (८।१।२८) सूत्र से निघात (सर्वानुदात्त) होता है । इसी प्रकार अग्नी इत्याह में भी अग्नी को द्वित्वबोधक द्विवचनान्त मानकर प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाज होता है । और यदि प्रकृतिवत्—इस परिभाषा को मान लो तो कुमार्यलृत्क इत्याह इत्यादि में अनुकरण लृत्क प्रकृति (अनुकार्य लृत्क) के धर्म को लिए हुए अपशब्द ही ठहरता है । (अपशब्द = असाधु शब्द में शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से इसके लिए लृ का उपदेश अनावश्यक है) । (इस पर सिद्धान्ती का कहना है) पर शास्त्र में कहीं भी अपशब्द प्रकृति नहीं ।

१ द्वि पचन्तु इत्याह में पचन्तु शब्द तिङन्त प्रतिरूप है, तिङन्त नहीं, शब्दपरक निर्देश होने से मिया और कारक का यहाँ कुछ भी अभिधान नहीं, इसा प्रकार अग्नी इत्याह में अग्नी द्विवचनान्त प्रतिभासी होता हुआ भी द्वित्व का अनभिवायक होने से (अर्थात् दो अग्नियों इस अर्थ को न कहने से) द्विवचनान्त नहीं है । प्रकृतिवदनुकरण भवति इस न्याय से पचन्तु को तिङन्त और अग्नी को द्विवचनान्त मानकर शास्त्रप्राप्त कार्य मिया गया है ।

२ मध्नुलृकारमधीते इत्याह में साधु लृ के अनुकरण के लिए वर्ण समाम्नाय में लृकारोपदेश का कुछ भी प्रयोजन नहीं यह प्रतिपादन कर पूर्वपक्षा आगे बढ़ता है और यह कहना चाहता है कि अशक्तिञ्च (अतएव असाधु) शब्द के अनुकरण के लिए भी लृकारोपदेश व्यर्थ है ।

३ प्रकरण से शास्त्रीय प्रकृति ही अभिप्रेत है, शास्त्र-निबन्धन कार्य का हा अतिदेश विमान किया जा रहा है । अपशब्दत्व न तो शास्त्रीय कार्य है और न उसका

एकदेशविहितस्यानन्यत्वात् प्लुत्यादयः ॥

एकदेशविहितमनन्यवद्भवतीति प्लुत्यादयोऽपि भविष्यन्ति । यदि एकदेशविहितमनन्यवद्भवति इत्युच्येत, राह क च, राजसीयम् अहोपोऽन इति लोप प्राप्नोति ।

एकदेशविहितमनन्यवत् पृष्ठादिदिष्टस्य । यदि पृष्ठादिदिष्टन्येत्युच्यते क्लृप्तशिख इति प्लुतो न प्राप्नोति । न ह्यत्र ऋकार पृष्ठादिदिष्टः । कस्तुहि । रेफ । ऋकारोऽयम् पृष्ठादिदिष्टः । ऊम् । विभक्तिको निदेश — कृप उ र ल कृपो रो ल इति ।

आचार्य न अर्द्धों का उच्चारण नही किया और बिना उच्चारण किये प्रकृति नाम का कोई पदार्थ नहीं है ।

(ग०) रहे प्लुति आदि कार्य व भी ऋक अक्षर-भूत रफ का लृव रूप विकार हा जानसर भा अय न हा जाने स मिद्ध हा जायेगे (सा उन कारों क लिय भा ऋ का उपदान बनावश्यक है) । [ लाक में भा दया जाता है किमा उस्तु क एकदा क विहित हा जान म वह अन्य नहीं हा जाता । पैउ क जान पर भा य उत्ता ह पेमा व्यंग्दहार हाता हा ह ] पर प्रयान्तवात् इस लौकिक व्याय का मानन म यह द्वार द्यता है—गण कय (११११५०) इस सूत्र म रात्रन् इन्द्र स ।रिक छ प्रत्यय हाता है और साथ हा क भन्तादा हाता है । तिमम रात्रकाय ऋ मिद्ध हाता है । यदि एकदा विहित होने पर रात्रक में रात्रन् बुद्धि बना रहता है ता यन्ताऽन ( १११३४ ) इस शास्त्र म अस्वार हाता आहिय । इस पर प्रत्यापाता कहता है—एकदा विहित होने पर वहा स्थानी अन्यवत् न । हाता तिमका विकार (पात्ता) विधायक शास्त्र में पण स निदेश किया गया हा । प्रकृत सूत्र में अन पेमा पठानिदा करक अर रूप आदा नहीं विधान किया है, किन्तु रात्रन् क न क स्थान में क भन्तादा विधान किया है, सा यहा रात्रक रूप क अर म अन् बुद्धि नहा लाई जा सकता है । अन् न होने स अन्ताऽन का प्रसङ्ग नहीं । इसपर शङ्का हाता है—यदि पण-निदिष्ट (स्थान) में हा एकदाविकार होनेपर अनन्य बुद्धि हाता ह ता क्लृप्ताक्षर में कृपा रा ल सूत्र में ऋ क पठानिदा न होने स ल में ( ऋ का धर्म ) अल्प नहीं आण्गा सा प्लुत न हा सकगा । क्योंकि उन सूत्र म रेक पठानिदिष्ट है, न कि ऋकार । नहीं । ऋकार भा यगी पठानिदिष्ट है । कम ? सूत्र में अर यह विभक्तिरहित निर्देश है, तत — यद् ऋ का पणी स निदेश है । तत र यह भा पठान्त पण है ।

अतिदा किया जा सकता है । इस कथन स भाष्यकार यन्ताक्षर क अनुक्रमण क लिए लृकारोदेर आवसक है इसकी स्थानता करत है ।

अथवा पुनरस्तु अविशेषेण । ननु चोक्तं यज्ञः क च राजकीयम् अहोपोऽन इति प्राप्नोति इति । नैष दोषः । वक्ष्यत्येतत् श्वादीनां सम्प्रसारणे नकारान्तग्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थम् इति । तत्प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते—अहोपोऽनः, नकारान्तस्येति । इह तर्हि क्लृप्तादिष्वं अनृत इति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

रवत्प्रतिषेधाच्च ।

रवत्प्रतिषेधाच्चेतस्तिष्यति । गुरोररवत्तं इति वक्ष्यामि । यदि अरवत्

अथवा जो भी कोई एकदेश-विहित होता है ( चाहे वह विकार विधि में पड़ी-निदिष्ट हो अथवा न हो ) वह अन्यत्र नहीं होता, ऐसा ही कहो ।

अभी, अभी कहा था—राज्ञः क च सूत्र से राजकीय शब्द निम्न होता है । यहाँ अलोपोऽन सूत्र से राजक् में रान् बुद्धि के बने रहने से अन् के अ का लोप प्राप्त होता है । यह कोई दोष नहीं । आगे ( ६।४।१३३ पर ) वातिककार श्वादीनां सम्प्रसारणे इत्यादि वातिक पढ़ेंगे निसरु अर्थ यह है कि नकारान्त इवन् आदि शब्दों को सम्प्रसारण हो, अनकारान्तों को न हो । उसकी अनुवृत्ति अलोपोऽन ( ६।४।१३४ ) सूत्र में आएगी, अर्थ होगा नकारान्त अन् । ( यहाँ तो वकारान्त अन् है ) । पर इस न्याय के बल पर लू में न बुद्धि होने से क्लृप्तशिक्ष में गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ( ८।२।८६ ) सूत्र से ऋ को प्लुत का निषेध प्राप्त होता है ।

रेफान् का प्रतिषेध करने से ( क्लृप्तशिक्ष में ) प्लुत रूप इष्ट सिद्धि हो जायगी । गुरोरनृत इस प्रकार सूत्र को पढ़ेंगा । यदि ऐसा न्यास करोगे अर्थात् जो रेफवाला न हो उसे प्लुत होता है ऐसा कहोगे तो होन् ऋकार यहाँ सवर्णदीर्घ होकर होन् ऋकार

१ भाव यह है कि लौकिक न्याय से द्वित्व और स्वरित कृपिम्भ लू में न् बुद्धि करके मिट्ट हो जायँग उससे लू में भ्रच्च आ जाएगा, पर क्लृप्तशिक्ष में प्लुत न हो सकेगा, अतः जैसे अक्षरिज के अनुकरण के लिए लृकारोपदेश आवश्यक है वैसे ही प्लुति के लिये भी लृ पठना होगा ।

२ गुरोरनृत—इस को बदल कर गुरोररवत्त—इत्यादि रूप से पढ़ेंगा—यह लृकारोपदेश-खण्डक ( लृकारोपदेश के प्रयोजन को न मानतेवत् ) कहला है । इस नये न्याय से प्रयोजनवादी द्वारा दिये गये दोष का परिहार करना चाहता है । यहाँ रवान् में निव्ययोग में मनुप् किया है । निच रेफ वाला ऋ ही है लू नहीं । ( यद्यपि लू में एकदेश विहितन्याय से श्रुद्धि हो जाएगी ) पर जेने पुच्छहीन श्वा में श्वच् व्यपदेश होने पर भी पुच्छवान् यह व्यवहार नहीं होना, ऐसे ही लू रेफवान् है ऐसा व्यवहार नहीं होता ।

इत्युच्यते होतृ ऋकार होतृ ३ कार अत्र न प्राप्नोति । 'गुरोरखतो ह्रस्वस्य' इति वक्ष्यामि । स एष सूत्रभेदेन लृकारोपदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन्प्रत्याख्यायते, सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लद्धाऽनुकृत्यते ॥

एओङ् ॥३॥ ऐ औच् ॥४॥

इदं विचार्यते—इमानि सन्ध्यक्षराणि तपराणि त्र्योपदिश्येरन् एत् ओत् ङ् ऐत् ओत् च् इति, अतपराणि वा यथान्यासम् इति । कश्चात्र विशेषः ।

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणम् ।

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणं कर्तव्यम् ।

प्लुत्यादिष्वज्जिधि ।

प्लुत्यादिष्वजाध्रयो विधिर्न सिध्यति । गो३ त्रात नो ३ त्रात इत्यत्र अनचि च इत्यत्र उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं न प्राप्नोति । इह च प्रत्यङ्ङेतिमायन, उद्ङटो ३ पगव इति अचि ङ्मुडागमो न प्राप्नोति ।

मे प्लुत न हो सकेगा, कारण कि ऋ रेफवान् है । इस दोष के वारण के लिए मैं गुरोरखतो ह्रस्वस्य ऐसा पढ़ूँगा । सो यह सूत्र को भदलयदल करके जो प्लुति आदि के लिए लृकारोपदेश प्रयोजनगान् है उसका प्रत्याख्यान एक बड़े उक्त स्तम्भ (रासघुट) से लद्धा नामक (तुच्छ फल) को रैच कर उतारने के समान है । (अर्थात् आध्यात्म अत्यधिक और फल अत्यल्प, अतः युक्त नहीं) ॥

ऐ ओच् ॥३॥ ऐ औच् ॥४॥

यहा यह विचार का प्रिय है—ये सन्ध्यक्षर तपर पड़े जाय, एत् ओत् ङ् ऐत् औत् च् इम प्रकार, अथवा अतपर जैसे कि सूत्रों में पड़े हैं । इसमें क्या भेद है ?

( वा० ) सन्ध्यक्षरो ( ए ओ ऐ औ ) में यदि तपरोच्चारण का फल है तो इन्हें तपर पड़ना चाहिये । ( पर फल न होने से आचार्य ने तपर नहीं किया )

( वा० ) प्लुत आदि होने पर अच को मानकर जो विधि प्राप्त होती है वह न हो सकेगी । गो ३ त्रात यहाँ अनचि च इस सूत्र से अच से परे यर को द्विर्वचन विधान किया है, सो ( द्विमात्रिक ओ, औ की अच सज्ञा होनेसे ) न हो सकेगा । और प्रत्यङ्ङे ३ तिकायन, उद्ङटो ३ पगव यहाँ अच को आश्रय करके जो ङ्मुट आगम का विधान किया है ( तपर होने से द्विमात्रिक ए, ओ, ऐ औ को अच सज्ञा होगी, त्रिमात्रिक की नहीं । ) सो यह ङ्मुट आगम न हो सकेगा ।

१ ऐसा न्यास करने से नियम रेफवान् जो ह्रस्व हो उमा को प्लुत का निषेध होगा, दीर्घ को नष्ट, दूसरे कुछ भी अनिष्ट-प्रसङ्ग न होगा । गुरोरखतो ह्रस्वस्य=गुरोरखतो ह्रस्वस्य न । अमानोना प्रतिषेधे इस वचन के आधार पर व्यस्त अ शब्द निषेधार्थ स्वीकार किया जाता है ।

प्लुतसज्ञा च ।

प्लुतसंज्ञा च न सिध्यति । ऐ ३ तिकायन, औ ३ पगव ऊकालोज्झ-  
स्पर्दीर्घप्लुत इति प्लुतसंज्ञा न प्राप्नोति । सन्तु तर्ह्यतपराणि ।

अतपर एच इग्रस्वादेशे ।

यद्यतपराणि एच इग्रस्वादेश इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । एङो  
ह्रस्वादेशशासनेष्वर्थ एकारोऽर्थ ओकारो वा मा भूदिति । ननु च यस्यापि<sup>२</sup>  
तपराणि तेनाव्येतद्वक्तव्यम् । इमावैचौ समाहारवर्णौ मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णौ-  
वर्णयोः, तयो ह्रस्वादेशशासनेषु कदाचिद्वर्णः स्यात्, कदाचिद् इवर्णौवर्णौ ।

( वा० ) प्लुतसज्ञा भी ।

प्लुतमज्ञा भी न हो सकेगी । ऐ३तिकायन, औ३पगव । ऊकालो ज्झस्पर्दीर्घ  
प्लुत इस शास्त्र से तपर ( द्विमात्रिक ) एच् की अच् सज्ञा होने से त्रिमात्रिक एच्  
अच ही नहीं तो उसकी प्लुत सज्ञा कैसे होगी ? त्रिमात्रिक अच की ही तो प्लुत सज्ञा  
निधान की है । अच्छा तो तपररहित जैसे अब पढ़े हैं वैसे रहने दीजिये ।

( वा० ) यदि ए ओ ऐ औ अतपर ही रहे जैसे पढ़े हैं, तो एच् के स्थान में  
ह्रस्वादेश कर्तव्य हो, ता इक ही ह्रस्व हो यह वचन करना पड़ेगा । इस वचन का क्या  
प्रयोजन है ? नहा नहा ण्ड को ह्रस्वादेश निधान किया गया है वहां वहां अर्थ एकार,  
अर्थ ओकार न हो जाए । अजी, जो इन्हें तपर पढ़ना चाहता है उसे भी यह वचन (सूत्र)  
करना ही होगा । ( कारण कि ) ये ऐच् ( ऐ औ ) समाहार वर्ण हैं, जिनमें एक  
मात्रा अवर्ण की है और एक एक मात्रा इवर्ण और उवर्ण की । उनको ह्रस्व करते  
समय कभी अवर्ण हो जाएगा कभी इवर्ण वा उवर्ण । अवर्ण कभी भी न हो (इस लिए) ।  
ऐच् को ह्रस्व कर्तव्य हो तो एच इग्रस्वादेशे ( १।१।४८ ) इस वचन से कुछ  
प्रयोजन नहीं । ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वान् इस वार्तिक से इसका प्रत्याख्यान कर दिया

१ अतपरत्व की दशा में ए, ओ द्विमात्रिक भी होंगे, एकमात्रिक भी ।  
एकमात्रिक ए ओ का भी अच् करके ग्रहण होगा । द्विमात्रिक ए ओ के स्थान में  
अन्तरतम होने से अर्थ ए, अर्थ ओ ( एक मात्रिक ए, एकमात्रिक ओ ) ह्रस्व हो  
जायेंगे, सो एच् के त्रिए सून करना पड़ेगा ।

२ तपरत्व पक्ष में भी ऐच् के लिये सूत्र के आरम्भ की आवश्यकता है, कारण  
कि ऐच् समाहार वर्ण है, इन में अवर्ण, इवर्ण और उवर्ण एक एक मात्रा के हैं  
निम्ने कभी अ ( ह्रस्व ) होगा और कभी इ वा उ । ऐच् में अवर्ण के विदिष्ट=  
स्फुट उपगम्यमान होने से सदृष्ट अवर्ण होने की अवस्था में प्रसक्त हुए अर्थ एकार व  
अर्थ ओकार ह्रस्वादेश का तो सम्भव नहीं ।

मा कदाचिद्वर्णो भूदिति । प्रत्याख्यायत एतत्—ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वाद् इति । यदि प्रत्याख्यानपक्षः, इदमपि प्रत्याख्यायते—सिद्धमेडः सस्थानत्वाद् इति । ननु चेडः सस्थानतरावर्ध एकारोऽर्ध ओकारः । न तो स्तः । यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत् । ननु च मोदहन्द्ोगानां सात्यमुग्रिरा णायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चार्धायते—सुजाते एद्वसन्नुते, अध्वर्यो ओद्विभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद्, यजतं ते एन्यद् इति । पारिपदवृत्तिरेषा तत्र भवताम् । नैव लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वाऽस्ति ।

एकादेशे दीर्घग्रहणम् ।

एकादेशे दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्—आद्गुणो दीर्घः, वृद्धिरेचि दीर्घः इति । किं प्रयोजनम् । आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिना त्रिमात्रचतुर्मात्रा

है । रही एद् को ह्रस्व कर्तव्यता के निमित्त एच इग इस सूत्र की आवश्यकता, सो भी नहीं । सिद्धमे सम्थानन्वान् इस वार्तिक से सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है । वार्तिकार्थ यह है—एद् के स्थान में ह्रस्वादेश इ, उ ही होंगे कारण कि इ उ, ये ए, ओ के तुल्य स्थान वाले हैं । अजी, अर्ध एकार अर्ध ओकार इनके साथ अधिक स्थान तुल्यता रखते हैं (वे हो जायग) । नहीं । वे तो हे ही नहीं । यदि वे होते तो आचार्य उन्हीं को पढ़ते । अजी, यह कैसे कहते हो कि अर्ध एकार अर्ध ओकार हैं ही नहीं, देखिये सात्यमुग्रिराणायनीय सामगान करने वाले ऋषि सुजाते एद्व सन्नुते, अध्वर्यो ओद्विभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद् यजतं ते एन्यद् इत्यादि मन्त्रों में अर्ध एकार अर्ध ओकार पढ़ते हैं । यह तो उन एज्यों की अपनी परिपदों में उच्चारण करने का रीति है । न तो लोक में और न ही किमो दूमरे (साम से भिन्न) वेद में अर्ध एकार अर्ध ओकार देखा जाता है ।

(वा०) एकादेश में दीर्घ का ग्रहण ।

जहाँ ( पूर्व और पर के स्थान में ) एकादेश विधान किया है वहाँ दीर्घ का ग्रहण (उच्चारण) करना पड़ेगा—आद् गुण इस सूत्र को आद्गुणो दीर्घ ऐसे पढ़ना पड़ेगा, वृद्धिरेचि इसे वृद्धिरेचि दीर्घ ऐसे पढ़ना पड़ेगा । इसका क्या प्रयोजन है ? जहाँ ( पूर्व और पर ) स्थानों ( मिलकर ) त्रिमात्र व चतुर्मात्र हो जाते हैं वही उनके स्थान में एकादेश कहीं त्रिमात्र व चतुर्मात्र न हो जाय, कारण कि आदेश स्थानी के अन्तरतम=सदृशतम होना चाहिये । दीर्घ ग्रहण करने से द्विमात्रिक एच्

१ ऐ औ में अ की १/२ मात्रा और इ, उ की १/२ मात्रा है, इस ग्ये रहा है यहाँ उत्तर भाग भूयान् ( अपेक्षया अधिक ) है ।

२ एउ सस्थानन्वान् । प्रातश्चात्यमन्त्र है कि ए, ओ शुद्ध तालव्य और शुद्ध कण्ठ्य है ।

आदेशा मा भूवन्निति । सट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम् खट्वोदकम्, सट्वा ईपा खट्वेपा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा पलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा ओपगवः खट्वोपगव इति । तत्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । उप-  
रिष्ठाद् योगविभागः करिष्यते—अरुः सवर्णे एको भवति । ततो दीर्घः । दीर्घश्च स भवति । यः स एकः पूर्वपरयोः इत्येवं निर्दिष्ट इति । इहापि तर्हि प्राप्नोति—पशुम्, विद्धम्, पचन्तीति । नैष दोषः । इह तावत्पशुमिति 'अम्येकः' इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यै-  
तत्प्रयोजनं यथाजातीयकः पूर्वस्तथाजातीयक उभयोर्यथा स्यादिति । विद्ध-  
मिति । पूर्व इत्येवानुवर्तते । अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्हापयति—मानेन सम्प्र

(ए ओ, ए औ) ही आदेश होगा । खट्वा इन्द्रः=खट्वेन्द्र, खट्वा उदकम्=खट्वो-  
दकम्, सट्वा ईपा=खट्वेपा, खट्वा ऊढा=खट्वोढा, सट्वापलका=खट्वैलका,  
खट्वा ओदन=खट्वौदन, खट्वा ऐतिकायन=खट्वैतिकायन, खट्वा औपगव=  
खट्वोपगव ( यहाँ पहले चार उदाहरणों में स्थानियों के त्रिमात्र होने से आदेश  
त्रिमात्र प्राप्त था, पिछले चार उदाहरणों में स्थानियों के चतुर्मात्र होने से आदेश  
चतुर्मात्र प्राप्त था ) । तो क्या दीर्घग्रहण करना ही पड़ेगा ? दीर्घ ग्रहण नहीं  
करना पड़ेगा । (कैसे ?) अगले सूत्र अरुः सवर्णे दीर्घः को इस प्रकार विभक्त करके  
पढ़ेंगे—(१) एक सवर्णे एको भवति ( यहाँ एक. पूर्वपरयो से एन यह आ  
रहा है ), दीर्घ (२), वह दीर्घ होता है (कौन ?) वही जो पूर्व और पर के स्थान में  
एक हुआ है । अच्छा यहाँ ( दिये हुए गुण वृद्धि के उदाहरणों में ) तो निर्वाह हो  
जायगा, पर इससे अन्यत्र भी दीर्घ की प्राप्ति हो जायगी—पशुम्, विद्धम्, पचन्ति  
इत्यादि स्थलों में (यहाँ सर्वत्र एकादेश विधि है) । नही इससे कुछ दोष नहीं आयगा ।  
पहले पशुम् की लीजिये । यहाँ अम्येक ऐसा सूत्र न्यास करते तो भी एकादेश हो  
जाता, फिर अग्नि पूर्व ऐसा जो न्यास किया अर्थात् जो वहाँ पूर्व ग्रहण किया उसका  
यह प्रयोजन है जिस प्रकार का पूर्व (स्थानी) है उसी प्रकार का आदेश दोनों के स्थान  
में हो ( इससे पशुम् में ह्रस्व एकादेश, रमाम् और वातप्रमोम् में दीर्घ होता है ) ।  
विद्धम्—यहाँ व्यङ् क इस अवस्था में ग्रहिज्या—सूत्र से य् को सम्प्रसारण इ हो  
जानेपर सम्प्रसारणाच्च ( ६।१।१०८ ) सूत्र में पूर्व की अनुवृत्ति होने से पूर्व के ही  
सट्वा एक आदेश होता है, पूर्व ह्रस्व इ के सट्वा ही अ, इ—इन दोनों के स्थान में  
आदेश होता है ।

अथवा आचार्य ( पाणिनि ) की प्रवृत्ति बतलाती है कि सम्प्रसारणाच्च से



सारणस्य दीर्घो भवतीति यदयं हल उत्तरस्य सम्प्रसारणस्य दीर्घत्वं शास्ति । पचन्तीति । 'अतो गुणे परः' इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेवं सिद्धे सति यद्रूपग्रहणे करोति तस्येतत्प्रयोजनम् यथाजातीयकं परस्य रूपं तथाजातीय-कमुभयोर्यथा स्यादिति । इह तर्हि खट्वद्वयो मालद्वयं इति दीर्घवचनादकारो न, अनान्तर्यादिकारौकारौ न । तत्र को दोषः । विगृहीतस्य श्रवणं प्रसज्येत । न द्रूमो यत्र क्रियमाणे दोषस्तत्र कर्तव्यमिति । किं तर्हि । यत्र क्रियमाणे न दोषस्तत्र कर्तव्यमिति । क च क्रियमाणे न दोषः । संज्ञाविधौ—वृद्धिरादैच् दीर्घः, अदेङ् गुणो दीर्घ इति । तत्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । कस्मादेवान्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति । तपरे गुणवृद्धी । ननु च तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः । नेत्याह । तादृषि परस्तपरः । यदि तादृषि परस्तपरः ऋदोरप् इतीहैव स्यात्—यवः

जो एकादेश होता है वह दीर्घ नहीं होता, कारण कि आचार्य ए (६।६।१०) इस सूत्र से जो सम्प्रसारण को दीर्घ विधान करते हैं वह नियमान्न रहेगा । पचन्ति ( पच् भ भन्ति ) में अतो गुणे परः ऐसा कहने से ही पर-रूप एकादेश हो जाता, तो भी जो रूप ग्रहण करते हैं ( अतो गुणे पररूपम् ) इससे वह जतलाना चाहते हैं कि यहाँ जैसा पर का रूप है ( वह हस्व है ) वैसा ही दोनों के स्थान में एकादेश होता है । अच्छा, तो खट्व ऋद्वय , माला ऋद्वयः यहाँ गुण न हों सन्नेगा । एकादेश दीर्घ होता है इसमें अकार ( जो गुणमञ्जर है ) न हों सन्नेगा । एकार और ओकार ( जो दीर्घ गुणमञ्जर है ) भी न हों सन्नेगा, क्योंकि वे स्थानियों के अन्तरतम नहीं हैं । ऐसी अवस्था में खट्वा ऋद्वय , माला ऋद्वय ऐसा जुदा जुदा ही ध्रुवण होगा, वह दोष भागगा ।

हम यह नहीं कहते हैं कि जहाँ दीर्घ ग्रहण करने से दोष आता है वहाँ दीर्घ ग्रहण किया जाए, किन्तु जहाँ दीर्घ ग्रहण करने से दोष नहीं आता वहाँ दीर्घ ग्रहण करना चाहिए । कहां दीर्घ ग्रहण करने से दोष नहीं आता ? संज्ञाविधि में । वृद्धि संज्ञा-विधायक वृद्धिरादैच् सूत्र को वृद्धिरादैच् दीर्घ ऐसे पढ़ेंगे । गुण-संज्ञा-विधायक सूत्र को अदेङ् गुणो दीर्घ ऐसे पढ़ेंगे । तो क्या फिर दीर्घ ग्रहण करना चाहिए ? नहीं करना चाहिए । तो फिर त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को सदशतम त्रिमात्र चतुर्मात्र ( गुण-वृद्धि-रूप ) आदेश क्यों न होंगे ? गुणवृद्धिसंज्ञा-विधायक शास्त्र में संज्ञा एङ् व ऐच् तपर पढ़े है । अत्री तपर का अर्थ तो तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः ( त परे हो जिससे वह तपर होता है ) ऐसा बहुवीहि समास मान कर अर्थ किया जाता है । नहीं । पञ्चमी तत्पुरुष मानकर तादृषि परस्तपरः त् से जो परे हो वह भी तपर कहलाता है । इससे तपर ( तत्काल = द्विमात्रिक ए ओ की गुण संज्ञा, और तत्काल = द्विमात्रिक ऐ औ की वृद्धि संज्ञा होगी ) । यदि त् से परे जो हो वह भी

स्तव', लवः पव इत्यत्र न स्यात् । नैष तकारः । कस्तर्हि । दकारः । किं दकारे प्रयोजनम् । अथ किं तकारे । यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोऽपि । अथ मुखसुखार्थस्तकारः, दकारोपीति ।

तपर होता है तो ऋदोरण ( ३।१।५७ ) इस सूत्र से ( उ के तपर होने से ) यव, स्तव में ही अप्रत्यय हो सकेगा, लव, पव में नहीं । ( क्योंकि यहा लू, पू—ये दीर्घ अकारान्त धातु हैं ) । यहा इतना सिद्ध तकार नहीं जिसे जश्च होकर दकार हो गया है, किन्तु इतना सिद्ध दकार है । दकार का क्या प्रयोजन है ? हम आपसे पूछते हैं तकार का क्या प्रयोजन है ? यदि कहो असन्देह ( सन्देह निवृत्ति के लिए ) तकार पडा है, दकार का भी असन्देह के लिए ही उच्चारण माना जा सकता है । यदि कहो तकार, उच्चारण—सौकर्य के लिए पडा है, दकार का भी वही प्रयोजन माना जा सकता है ।

१ समास—द्वय वादी पूछता है—आप जो यहा केवल बहुव्रीहि समास मानते हैं, तो तपरकरण व्यर्थ हो जाता है । दीर्घ ऋकार अण् नहीं । अतः अनुदितसूत्र से तद्विषयकाल वाले ऋकारों के ग्रहण का कोई प्रसङ्ग नहीं । अनण् होने से ( अण् ने होने से ) ही गुण अभेदक होंगे, अतः उनकी प्राप्ति ( तद्वेदभिन्नो के ग्रहण ) के लिए भी तपर करने का कुछ प्रयोजन नहा ।

## २ दकारोपीति ।

यदि कहो कि उक्त भाष्य का तित्स्वरितम् सूत्रस्थ भाष्य से विरोध है । क्योंकि वहा तित् में प्रत्ययग्रहण किया है जिससे तित् प्रत्यय को स्वरित हो । तित् आदेश को स्वरित न हो । उससे दुभ्याम् में दिव उत् से हुए ह्रस्व उकार आदेश को स्वरित नहीं होता । फिर वहा प्रत्यय ग्रहण का खण्डन करते हुए दिव उत् में तपर न मानकर उद् इस प्रकार दपर माना है और तपरस्तत्कालस्य सूत्र में तपर के समान दपर में भी तत्कालता स्वाकार की है । यहा ऋदोरण् में दपर मानकर तत्कालता का अभाव मान रहे हैं तो इसका उत्तर है कि ऋदोरण् में दकार से तात्पर्य थकार या धकार से है । ऋदोरण् में दपर नहीं समझना चाहिए बल्कि थपर या धपर है । थ या ध को जश्च होकर दकार हो गया है । इस त्रिए दपर न होने से तत्कालता नहीं होगी । दकार को चर्च होकर तपरस्तत्कालस्य ऐसा सूत्र अभीष्ट है । वस्तुतः तित्स्वरितम् सूत्र का भाष्य केवल प्रीतिवाद मान है । दपर में तत्कालता इष्ट नहीं है । तपर में ही इष्ट है । इस लिए ऋदोरण् में तपर न होने से दोष न होगा और दुभ्याम् में उद् आदेश के तपर होने पर भी तित्स्वरितम् से स्वरित न होगा । क्योंकि प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् इस परिभाषा से तित् प्रत्यय का ही ग्रहण होगा, आदेश का नहीं ।

इदं विचार्यते—य एते वर्णेषु वर्णैकदेशां वर्णान्तर-समानाकृतय एते-  
पामवयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न चेति । कुतः पुनरियं विचारणा । इह हि  
समुदायां अन्युपदिश्यन्ते अवयवा अपि । अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः ।  
तद्यथा वृक्षः प्रचलन्सहावयवैः प्रचलति । तत्र समुदायस्यस्यावयवस्यावयव-  
ग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा नचेति विचारणा । कश्चात्र विशेषः ।

अब यह विचार का विषय है—ये जो वर्णों में वर्तमान वर्णों के अवयव, जो  
स्वतन्त्र वर्णों के समानाकार हैं, अवयव सदृश स्वतन्त्र वर्ण मानकर जो कार्य स्वतन्त्र  
वर्णों को प्राप्त होता है वह इनमें होगा भयवा नहीं । यह विचार (सन्देह) क्योंकि  
उत्पन्न होता है ? इस लिए कि यहां शास्त्र में समुदायों का भी उपदेश है और उनके  
अवयवों का भी । और अवयव समुदाय के भीतर वर्तमान होता है, जिस प्रकार वृक्ष  
जब हिलता है तो अपने अवयवों को साथ लिए हुए ही हिलता है । इस लिए  
समुदाय के भीतर वर्तमान अवयव को पृथग्ग्रहण करके तन्निमित्त कार्य होना चाहिए  
भयवा नहीं, यह सन्देह होता है । तो इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है ?

१. आकार आदि में अकार आदि सन्श अवयव, खकार लृकार म रेफ लका  
सन्श अवयव, सन्व्यक्षरों में अकार इकार उकार मन्श अवयव दीव्य पट्टेन ह, इन  
में केवल (=स्वतन्त्रतया प्रयोग में भूयमाण) अकारादि को जो कार्य प्राप्त होना है,  
वह होगा भयवा नहीं—यह विचार है ।

२ समुदायों का भी उपदेश है । यथा ऋल, एऐ, ओऔ का । अवयवों का भी,  
जैसे अ इ उ (ण्) र (ट्) ल (ण्) का । यहा दो पक्ष उपस्थित होने ह—  
(१) ग्रहणपक्ष (२) अग्रहणपक्ष । ग्रहणपक्ष में सन्देह का बीज यह है कि जहा समुदाय-  
परक निर्देश है (यथा ऋटृ एऐ इत्यादि) वहा अवयवों (रेफ ल अ इ इत्यादि) का  
प्राधान्य से निर्देश नहा । तिमपर अवयवभूत अकार की एब आदि समुदाय सजा  
न होने पर भी स्वतन्त्र अकार के रूप में उसका ग्रहण सभवा है । अग्रहण पक्ष में  
अवयवों के समुदाय में तिरोहित होने से, समुदाय के घटकतया उपकारक होने से, अपने  
कार्य के प्रति अप्रयोजक होने से जैसे नरसिंह में नरत्वादि कुछ भी नहा । समुदाय एच्  
आदि के अवयव में अत्व आदि कुछ भी न होने से वर्णान्तर के साथ मारुप्यमात्र में  
उसमें तन्निबन्धन कार्य नहीं होना चाहिए—यह शङ्का का बीज है । इस पक्ष में वक्ष  
ष्टान्त दिया है । समुदाय को कार्य हुआ तो उसके अवयवों को अपने आप हो गया,  
समुदाय-रूप के कम्प में अवयवों का कम्प नान्तरीयकतया सिद्ध ही है ।

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्ध्यक्षरे समानाक्षरविधिप्रतिषेधः ।

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्ध्यक्षरे समानाक्षराश्रयो विधिः प्राप्नोति, स प्रतिषेध्यः । अग्रे इन्द्र, वायो उदकम्, अकः सवर्णे दीर्घ इति दीर्घत्वं प्राप्नोति ।

दीर्घे ह्रस्वविधिप्रतिषेधः ।

दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः । आलूय प्रलूय ह्रस्वस्य पिति कृति तुग् इति तुक् प्राप्नोति । नैप दोषः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवतीति यदयं दीर्घाच्छे तुकं शास्ति । नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ? 'पदान्ताद्वा' इति विभाषां वक्ष्यामीति । यत्तर्हि योगविभागं करोति । इतरथा हि दीर्घात्पदा-

( वा० ) वर्णों के अश्रयों को यदि स्वतन्त्र वर्ण ( जिनके ये सदृश हैं ) मान लिया जाए तो सन्ध्यक्षरों में समानाक्षरों के आश्रित जो विधि प्राप्त होती है उसका प्रतिषेध करना होगा—अग्रे इन्द्र—यहां सन्ध्यक्षर ए के अश्रय इ को पृथक् वर्ण मानकर अक सवर्णे दीर्घ इस सूत्र से दीर्घ प्राप्त होता है। इसी तरह वायो उदकम्—यहां भी ओ के अश्रयवभूत उ को मानकर दीर्घ प्राप्त होता है ।

( वा० ) दीर्घ में ह्रस्व के आश्रित जो विधि प्राप्त होती है उसका प्रतिषेध करना होगा । आलूय प्रलूय—यहां ल के उकार के अश्रय ह्रस्व उ को पृथक् वर्ण मान कर ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् इस सूत्र से तुक का आगम प्राप्त होता है । यह कोई दोष नहीं । आचार्य की प्रवृत्ति बतलाती है कि दीर्घ में ( उसके अश्रय ) ह्रस्व के आश्रित विधि नहीं होती, क्योंकि आचार्य दीर्घ से परे छ परे होने पर तुक का विधान करते हैं । यह ज्ञापक नहीं बन सकता । इस वचन का कुछ और प्रयोजन है । क्या ? पदान्ताद्वा इस विकल्प विधायक शास्त्र में दीर्घात् इसकी अनुवृत्ति हो, इस लिए । अच्छा, तो जो दीर्घात्पदान्ताद्वा इस प्रकार एक सूत्र ॥ करके योगविभाग करके दीर्घात् यह शुद्ध सूत्र पड़ा है यह ज्ञापक रहेगा । (अन्यथा अपदान्त दीर्घ, चेच्छिद्यते इत्यादि के चकारोत्तरार्त्ता ए के अश्रय इ ( ह्रस्व ) से परे छ व से ही तुक् की सिद्धि हो

१ समान शब्द से यहां पूर्वाचार्यों के सन्नेतानुसार अक् वर्णों का ग्रहण होना है । पूर्वाचार्यों का सूत्र है—दस समाना—अ वा इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ—ये दस समानाक्षर कहलाते हैं ।

२. यदि दीर्घात् ऐसा न पढ़ा जाए तो कुछगुच्छाया यहां भी विकल्प से तुक् होगा ।

न्ताद्वा इत्येव ग्रायात् । इह तर्हि—खट्वाभिः, अतो भिस् ऐस् इत्येस्मावः प्राप्नाति । तपरकरणसामर्थ्याच्च भविष्यति । इह तर्हि याता वाता अतो लोप आर्धधातुक इत्यकारलोपः प्राप्नोति । ननु चात्रपि तपरकरणसामर्थ्यादेव न भविष्यति । अस्ति ह्यन्यत्तपरकरणे प्रयोजनम् । किम् । सर्वस्य लोपो मा भूदिति । अथ क्रियमाणेऽपि तपरे परस्य लोपे कृते पूर्वस्य कस्मान्न भवति । परलोपस्य स्थानिवद्भावादसिद्धत्वाच्च । एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्नापयति नाकारस्थस्याऽकारस्य लोपो भवतीति । यदयम् आतोऽनुपसर्गे कः इति ककारमनुबन्धं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । किन्करणे एतत्प्रयोजनम्—किर्नात्याकारलोपो यथा स्यादिति । यद्याकारस्थस्याऽकारस्य लोपः स्यात्,

जाने से दीर्घ ग्रहण व्यर्थ होता ) । अट्ठा तो गट्वाभि यहाँ हस्वाश्रय सिद्धि भनो भिन ऐम् से भिम् के स्थान में ऐम् प्राप्त होता है । ( उत्तर ) ककार तो तपर करने के बल पर यहाँ ऐम् नहीं होगा ( प्रकृत में यदि ऐम् हो जाए तो तपरकरण व्यर्थ हो जाय ) । अट्ठा तो याता वाता — यहाँ अतो लोप आर्धधातुके इम मत्र मे आ के भीतर के हस्व अ का लोप होना चाहिए । अनी यहा भी तपरकरण के बल पर ही लोप नहीं होगा । नहीं, यहाँ तपरकरण का कोई दूसरा प्रयोजन है । क्या । सारे दीर्घ आ का लोप न हो जाए ( आ के एक अग्रयन अ का लोप नो होगा ही ) । यदि पूछो तपर करने पर भी परले अ का लोप होने पर पूर्व अ का लोप क्यों नहीं होता तो हम कहेंगे स्थानिवद्भाव होने से और अमिद् होने से । ऐमी अवस्था में आचार्य-प्रवृत्ति बतलानी है—

आकार के भीतर वर्तमान अ का लोप नहीं होता, क्योंकि आचार्य आतो-ऽनुपसर्गे कः ( ३।२।३ ) इस सूत्र में प्रत्यय को इत्यञ्जक ककार-सहित पढ़ते हैं । यह क्यों कर ज्ञापक हुआ ? किन्करण में यही तो प्रयोजन है कि किन्प्रत्यय पर होने पर ( धातु के ) आ का लोप हो जाय । यदि आकार के भीतर वर्तमान अ

१ अन्तर होने पर अ अपने मवर्णों का ग्राहक होगा, निम्ने सम्पूर्ण आ का लोप होने लगेगा ।

२ असिद्धयद्वयमान् ( ६।४।१०० ) इस शास्त्र में । यह इस तरह समझना चाहिये—अपाचितराम् में चिणो लुक् ( ६।४।१०४ ) इस शास्त्र से त का लुक् होनेपर तराम् शब्द का भी जत्र इसी शास्त्र से लुक् प्राप्त हुआ तो इसी शास्त्र में किए हुए त-लुक् को अमिदबन् मान कर व्यवधान होने से तराम् शब्द के लुक् को रोका जाना है, इसी प्रकार प्रकृत में अतो लोप शास्त्र से किये गये परले अ के लोप को अमिदबन् मानकर इसी शास्त्र से प्राप्त पूर्व अ के लोप का रोका जाना है ।

कित्करणमनर्थक स्यात् । परस्थाकारस्य लोपे कृते द्वयोरकारयोः पररूपे हि सिद्धं रूप स्याद् गोदः कम्बलद इति । पश्यति त्वाच्चाय्यो नाकारस्थ-स्याऽकारस्य लोपः स्यादिति, अतः ककारमनुबन्धं करोति । नैतदस्ति ज्ञापकम् । उत्तरार्थमेतत्स्यात्—तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः इति । यत्तर्हि गापोष्टृ इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति ।

एकवर्णवच्च ।

एकवर्णवच्च दीर्घो भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । वाचा तर-तीति द्वयज्जलक्षणघ्नमा भूदिति । इह च वाचो निमित्तम्, तस्य निमित्तं संयोगोत्पातो इत्यनुवर्तमाने गोद्वयच इति द्वयज्जलक्षणे घ्नमा भूदिति । अत्रापि गोनोग्रहणं ज्ञापकम्—दीर्घाद् द्वयज्जलक्षणे विधिर्न भवतीति । अयं तु सर्वेषामेव परिहारः—

का ( अतो लोप से ) लोप हो जाय तो इस सूत्र में कित्करण व्यर्थ हो जाय । आ ( =अ + अ ) के परले अ का लोप होने पर प्रत्यय के अ और प्रकृति के अग्रशिष्ट अ के स्थान में ( अतो गुणे ६।१।९७ से ) पररूप एकादेश होने पर इष्ट रूप गोद, कम्बलद सिद्ध हो जायगा । पर आचार्य जानते हैं आकार के अवयव-भूत अ का लोप न होगा । अतः ककार अनुबन्ध लगाते हैं । पर यह तो ज्ञापक नहीं बन सकता । यहाँ का व प्रत्यय उत्तर सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये रहेगा । जैसे तुन्द-शोकयोः परिमृजापनुदो ( ३।२।५ ) इस सूत्र में । अच्छा तो जो गापोष्टृ ( ३।२।८ ) में जो ककार अनुबन्ध लगाया है जिस का दूसरा प्रयोजन ही नहीं, वह ज्ञापक रहेगा ।

( वा० ) एक वर्ण की तरह ।

दीर्घ एक वर्ण एकाच् होता है ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? वाचा तरति इस त्रिग्रह को आश्रित कर वाच् से ( नैद्वयचठन् ४।४।७ से ) द्वयच्यता ( दो अचों ) को मान कर कहीं ठन् प्रत्यय न हो जाय । और वाचो निमित्त संयोग उत्पातो वा इस त्रिग्रह को आश्रित कर के गोद्वयच ( ५।१।३९ ) इस सूत्र से वाच् में द्वयच्यता को मान कर कहीं, यत् न हो जाय । नहीं, ऐसा नहीं होगा । यहाँ भी गो और नी का इन दोनों सूत्रों में द्वयच् से जुदा ग्रहण होने से ज्ञापित होता है दीर्घ से द्वयज्-निमित्तक विधि नहीं होती । पर वक्ष्यमाण उत्तर सभी दोनों का एक ही परिहार है—

१ सति प्रयोचने न ज्ञापक भवति प्रयोजन हो तो ज्ञापक नहीं होता । यहाँ तो किन् वरण प्रयोजनवान् है । यदि प्रत्यय किन् न हो ( जो यहाँ है ) तो आकार के उत्तर-भाग अकार का अतो लोप में लोप होने पर धातु के अवशिष्ट अ और प्रत्यय के अ वा पररूप एकादेश हो जाने पर और इस को धातु के प्रति अवबोध होने

नाऽव्यपवृत्तस्याप्यने तद्विविध्या द्रव्येषु ।

नाऽव्यपवृत्तस्याऽवयवाश्च यो विधिर्भवति यथा द्रव्येषु । तद्यथा द्रव्येषु सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति इति न सप्तदशरत्निमात्र काष्ठमग्नावभ्याधीयते । विषम उपन्यास । प्रत्यृच चेव हि तत्कर्म चोद्यते । असम्भव इच्छानौ वेद्या च । यथा तर्हि सप्तदश प्रादेशमात्रीराशन्ती समिधो ऽभ्याधीत इति न सप्तदशप्रादेशमात्र काष्ठमग्नावभ्याधीयते । अत्रापि प्रतिप्रणय चेतत्कर्म चोद्यते । तुल्यइचासमयोऽग्नौ वेद्या च । यथा तर्हि

( वा० ) अभिज्ञतया भासमान वर्ण समुदाय के अपृथग भूत ( भस्वतन्त्र ) अवयव को सप्तदश, स्वतन्त्र, भिन्न वर्ण के तुल्य मिधि नहीं होती जैसे द्रव्यों में । जैसे (वेद में कहा है) सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति अर्थात् समिदाधान के सत्तरह जगमन्त्रों से सत्तरह ( एक-एक हाथ लम्बी ) समिधा रखी जाती है, पर इस वचन क आधार पर सत्तरह हाथ लम्बी एक ही लकड़ी तो अग्नि में नहीं रखी जाती ( यद्यपि वहाँ भी एक एक हाथ लम्बे टुकड़े समुदाय घटकतया विद्यमान हैं, पर वे अभिन्न-बुद्धि-भाग्य-समुदाय के अभिन्न भस्वतन्त्र अवयव हैं, सत्तरह हाथ लम्बे उस एक काष्ठ में सत्तरह काष्ठ हैं ऐसी बुद्धि नहीं होती, अतः तदाश्रित कार्य नहीं होता ) । यह दृष्टान्त दीरु नहीं । एक एक लम्बा को उच्चारण कर एक-एक समिधा का रखने का विधान है और अग्नि व वेदी में सत्तरह हाथ लम्बा काष्ठ रखा भी नहीं जा सकता । ( अच्छा तो दूसरा दृष्टान्त लीनिष् ) जैसे सत्तरह एक-एक बालिश लम्बी अवयव ( पीपल ) की समिधाओं को अग्नि में धरे—इस विधान बल पर सत्तरह बालिश लम्बा एक ही काष्ठ अग्नि में नहीं धरा जाता । ( यहा भी दृष्टान्तविषमता है ) यहा भी प्रति ओंकार उच्चारण के साथ एक एक काष्ठ धरने की विधि है । और ( यद्यपि बालिश अल्प प्रमाण है, हाथ का आधा है तो भी ) यहा भी १७ बालिश लम्बे एक ही काष्ठ के अग्नि व वेदी में आधान का पहले जैसा असम्भव है । अच्छा तो

से और उसे सुपि च से दार्प होने पर भी एकदेशविकृतन्याय से धावन्तावयव ही रहने से द्वादशगोत्र यहाँ आतो धातो ( ६।४।१४० ) से आ लोप होने लगेगा । यह कोई दोष नहीं । सन्निपात परिभाषा से यहाँ लोप नहीं होगा । अदन्त अज्ञ अर्थात् अ को आश्रित कर के जो लैय से य हुआ है वह अ के लोप का निमित्त नहीं बनेगा ।

१ व्यपवृत्त व्यपवर्गों भेद । अविद्यमान व्यपवृत्तमस्य व्यपवृत्तम्, तस्य अभिन्नबुद्धिविषयसमुदायस्य । अव्यपवृत्तस्य और अवयवस्य—ये दोनों व्यधिकरण पष्ठियों हैं, समानाधिकरण नहीं, अव्यपवृत्त के अवयव का ऐसा अर्थ है, न कि अव्यपवृत्त जो अवयव उस का ऐसा ।

२ और सम्भवमात्र को लेकर कार्य नहीं होते, कार्य निमित्तक बुद्धि हो तभी होते हैं ।

तेल न विक्रेतव्यम्, मांसं न विक्रेतव्यम् इति व्यपवृत्तं च न विक्रीयते, अन्यपवृत्तं—गावः सर्पपादश्च विक्रीयन्ते। तथा लोम नख स्पृष्ट्वा शोच कर्तव्यम् इति व्यपवृत्तं स्पृष्ट्वा नियोगतः कर्तव्यम्। अव्यपवृत्तं कामचारः। यत्र तर्हि व्यपवर्गोऽस्ति। क्व च व्यपवर्गोऽस्ति। सन्ध्यक्षरेषु।

सन्ध्यक्षरेषु विवृतत्वात्।

यद्वाऽवर्णं विवृततर तदन्यस्मादवर्णाद्। ये अपीवर्णोऽवर्णं विवृततरे ते अन्याभ्यामिवर्णोऽवर्णाभ्याम्। अथवा पुनर्न गृह्यन्ते।

अग्रहणं चनुद् विधिलादेशनिनामपु ऋकारग्रहणम्।

यद्दृष्टान्तं लीजिष्—(स्मृतिकार का वचन है) तेल नहीं बेचना चाहिए, मांस नहीं बेचना चाहिए, पर पृथग्भूत तो बेचा जाता है, और अणुयग्भूत जैसे गौ और तिल नहीं बेचे जाते। इसी प्रकार (स्मृति है—) लोमों को और नखों को छूकर स्नान करे। यद्वा जुदा हुआ हुआ लोमों और नखों को छूकर अवश्य स्नान करना होगा, परन्तु शरीरस्थ लोम, नखों को छूकर इच्छा हो स्नान करे, अनिच्छा हो, न करे। अच्छा तो जिस समुदाय में पृथक्ता भास रही हो (यहाँ अवयवाश्रित कार्य क्यों न हो?)। कहा पृथक्ता भासती है? सन्ध्यक्षरों में।

(वा०) सन्ध्यक्षरों में विवृत होने से (अवयवाश्रित कार्य नहीं होगा)। इन सन्ध्यक्षरों में जो अवर्ण (अवयव) है वह लोक में प्रयुक्त स्वतन्त्र अ की अपेक्षा विवृततर है (अतः यह उसका सवर्ण नहीं) और जो इ वर्ण और उ वर्ण है वे भी वृत्ते इवर्ण उवर्ण से विवृततर हैं (अतः यहाँ के इवर्ण उवर्ण स्वतन्त्र इवर्ण उवर्ण के सवर्ण नहीं)। अथवा इन अवयवों का स्वतन्त्र वर्णों की तरह ग्रहण नहीं होता—यह पक्ष रहे।

(वा०) यदि ग्रहण नहीं होता तो नुद् विधि, लादेश, निनाम (णत्व) की कर्तव्यता में ऋकार का ग्रहण करना होगा।

१ परमार्थतः पृथग् उपरन्व्यमान स्वतन्त्र वर्णों की समुदाय में अवयव-रूप से अन्तः सत्ता नहीं है, केवल वर्णान्तर सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा होती है। समुदाय वर्णों में समुदाय बुद्धि भी तात्त्विकी नहीं है, यहाँ भ्रान्तिवश अवयवाभास होने से वैसी बुद्धि वसित होता है।

पदे न वर्णा विशन्ते वर्णेष्ववयवा न च।

वाक्यान्पदानामत्यन्तं प्रविवेकी न वदन्तः॥

इस वाक्यपदीय-वचन के अनुसार स्फोट को सिद्धान्त माननेवाले व्याकरणों के लिये इस पूर्व पक्ष का बौन सा अवसर है।



अग्रहणं चेन्नुड्विधिल्लादेशविनामेपु ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । 'तस्मान्नुड्विहलः' ( ७४१७१ ) ऋकारे चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—  
आनृधनुः, आनृधुरिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते द्विहल इत्येव तस्य सिद्धम् । यस्यापि  
न गृह्यन्ते तस्याप्येव न दोषः । द्विहलग्रहणं न करिष्यते तस्मान्नुड्वि भवतीत्येव ।  
यदि न क्रियते आटनुः, आटुरित्यत्रापि प्राप्नोति । अश्रोतिग्रहणं नियमार्थं  
भविष्यति, अदनोतेरेचाऽवर्णोपधस्य, नान्यस्याऽवर्णोपधस्येति ।  
( नुड्विधिः ) ।

ल्लादेशे च ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । कृपो रो लः ऋकारस्य चेति वक्त-  
व्यम् । इहापि यथा स्यात्—कृतः कृत्यचानिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते र इत्येव  
तस्य सिद्धम् । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येव न दोषः । ऋकारोप्यत्र निर्दि-  
श्यते । फथम् । अविभक्तिको निर्देशः—कृप, उः, रः, लः, कृपो रो ल इति ।

तस्मान्नुड्विहलः इस सूत्र में ऋकारे च ( ऋकार पर होने पर भी ) ऐसा  
पढ़ना होगा ताकि आनृधनुः ( ऋध् का प्र० पु० द्विवचन में लिट् ), आनृधुः ( यहु०  
में लिट् ) यद्वा भी नुड् का आगम हो जाय । जिसके मत में वर्णों के एकदेश का  
स्वतन्त्र वर्णों के रूप में ग्रहण होता है, उसके लिए द्विहल कहने से ही नुड् आगम  
हो जायगा । जिसके मत में ग्रहण नहीं होता उसमें भी यह ( ऋकारग्रहरूप ) दोष  
नहीं आता । वह द्विहल् का ग्रहण न करेगा तस्मान्नुड्वि ( भवति ), इतना ही सूत्र  
न्यास करेगा । यदि ऐसा क्रिया जायगा, आटनुः, आटुः—यहाँ भी नुड् की प्राप्ति  
होगी । ( नहीं होगी ) अतोतिश्च ( ७४१७२ ) सूत्र में अश्रुद् धातु का नुड् विधान  
के लिए जो ग्रहण क्रिया है वह नियमार्थ होगी, अर्थात् अवर्ण उपधावाले धातु को  
यदि नुड् हो तो अश्रुद् को ही हो, अन्य को न हो । ( नुड्विधि के विषय में  
कह दिया ) ।

ल्लादेश विधि में भी ऋकार का ग्रहण करना होगा । कृपो रो ल ( ८१२१८ )  
यहाँ ऋकारस्य च ( ऋकार को ल्लादेश हो ) ऐसा पढ़ना चाहिए, ताकि कृतः  
कृत्यवान्—यहाँ भी लट् हो जाय । जिसका यह पक्ष है वर्णों के एकदेशों का स्वतन्त्र  
वर्णों के रूप में ग्रहण होता है उसके लिये तो सूत्र में पढ़े हुए र से ही कार्यसिद्धि  
हो जायगी । ( ऋकारस्थ रेफ भाग को लट् करने से इष्ट सिद्धि हो जायगी ) । जिसका  
पक्ष है ग्रहण नहीं होता, उसके विषय में भी ऋकारग्रहण गौरव रूप दोष नहीं आता ।  
( क्योंकि ) यहाँ ऋकार का निर्देश पहले से ही किया हुआ है । वह कैसे ? कृपो  
रो ल सूत्र में कृप यह अविभक्तिक ( विभक्ति-रहित ) निर्देश है, ऋ का पठ्यन्त  
रूप उः है, कृप के पकारोत्तरवर्ता अकार से मिल कर ओ गुण हुआ है ।


अथैवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते रश्चतेर्लश्रुतिर्मवतीति । ( लादेशः )

विनामे ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । रपाभ्यां नो णः समानपदे ऋकारा-  
च्चेति धक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—मातृणां पितृणामिति । यस्य पुन-  
र्गृह्यन्ते रपाभ्यामित्येव तस्य सिद्धम् । न सिध्यति । यत्तद्रेफात्परं भक्ते-  
स्तेन व्यवहितत्वाच्च प्राप्नोति । मा भूदेवम् । अङ्गव्यवाये इत्येव सिद्धम् ।  
न सिध्यति । वर्णैकदेशाः के वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते ये व्यपवृक्ता अपि वर्णा  
भवन्ति । यच्चापि रेफात्परं भक्तेः, न तत्कचिदपि व्यपवृक्तं दृश्यते । एवं  
तर्हि योगविभागः करिष्यते, रपाभ्यां नो णः समानपदे, ततः 'व्यवाये' ।  
व्यवाये च रपाभ्यां नो णो भवतीति । ततः 'अङ्कुप्वाङ्नुम्भिः' इति ।  
इदमिदानीं किमर्थम् । नियमार्थम् । एतैरेवाक्षरसमाम्नायिकैर्व्यवाये, नान्यैः,

अथवा ऐसा समझिये कि यहाँ ( कृपो रो छः ) सूत्र में दोनों स्थानी र और आदेश छ  
में जातिस्फोट र, छ का निर्देश है । ( यह लादेश विषय में कह दिया )

विनाम (णत्व विधि) में ऋकार का ग्रहण करना होगा । जहाँ णत्व विधायक  
शब्द रपाभ्या नो ण समानपदे पड़ा है वहाँ उसके साथ ऋकाराच्च ( ऋकार से परे  
भी) ऐसा कहना चाहिये । ताकि मातृणाम् पितृणाम्-यहाँ भी णत्व हो सके । जिस  
का ग्रहण पक्ष है उसके मत में तो रपाभ्याम् इतने से ही कार्य-सिद्धि हो जायगी । नहीं  
होगी । जो रेफ रूप भाग से परे अञ्-भक्ति है उससे व्यवधान के कारण रपाभ्याम्—  
इस सूत्र से प्राप्ति ही नहीं । मत हो । अङ्कुप्वाङ् सूत्र से अङ् रूप व्यवधान होने पर  
भी णत्व होता है, ( सो णत्व निर्बाध है ) । णत्व ( इस सूत्र से भी ) नहीं हो सकेगा ।  
वर्णों के एकदेश (अवयव) वे ही तो वर्णरूप से गृहीत होते हैं जिनके सदृश स्वतन्त्र  
वर्ण हैं । रेफ रूप भाग से परे जो अञ् भक्ति मानी जाती है वह ( वत्सदृश वर्ण ) कही  
भी दीक्षता नहीं । अच्छा तो हम योगविभाग करेंगे । रपाभ्याम्—इस सूत्र को पढ़कर  
व्यवाये यह वचन पढ़ेंगे, अर्थ होगा र् प् से परे न् को ण् होता है और (किसी वर्णके)  
व्यवधायक होने पर (भी) यह णत्व हो जाता है । इसके अनन्तर अङ्कुप्वाङ्नुम्भिः  
(अङ्, कर्ग, परग, आङ्, नुम् इनके द्वारा व्यवधान होने पर) ऐसा पढ़ेंगे । यह किस  
लिये ? नियम करने के लिये । अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट वर्णों द्वारा यदि व्यवधान  
हो तो इन्हीं (अङ्, कर्ग, परग, आङ् और नुम्) द्वारा व्यवधान होने पर णत्व हो, अन्य

१. कृपः उ रेफस्य लत्वम्—यह एक वाक्य, कृपो रेफस्य लत्वम्—यह दूसरा ।  
इस प्रकार वाक्यभेद हो जाता है । पर यह न्याय है कि एकाक्यता के संभव होने पर  
वाक्य-भेद वा आश्रयण युक्त नहीं, अतः भाष्यकार पक्षान्तर का उपन्यास करते हैं ।

२. यह नियम अक्षर-समाम्नाय में पढ़े हुए वर्णों द्वारा व्यवधान  संकोच करता

इति। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येव न दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवति ऋकाराच्चो णत्वमिति, यदयं शुभ्नादिषु नृनमनशब्दं पठति। नैतदस्ति शाप-  
कम्। वृद्धयर्थमेतत्स्यात्—नार्नमनिः। यत्तर्हि तृज्जोतिशब्दं पठति। यच्चापि  
नृनमनशब्दं पठति। ननु चोक्तं वृद्धयर्थमेतत्स्यात्। बहिरङ्गा वृद्धिरन्तरङ्गं  
णत्वम्। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। अथवा उपरिष्ठाद्योगविभागः करिष्यते।  
ऋतः नो णो भवति। ततः 'छन्दस्यवग्रहात्' ऋत इत्येव।

प्लुतावैव इदुतौ ॥

एतच्च वक्तव्यम्। यस्य पुनर्गृह्यन्ते गुरोरेरित्येव प्लुत्या तस्य सिद्धम्।  
यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येव न दोषः। क्रियत एतन्न्यास एव।

द्वारा व्यवधान होने पर न हो। जिसका अग्रहण पक्ष है उसे भी यह ऋकार ग्रहण-रूप  
दोष नहीं आता। आचार्य की प्रवृत्ति बतलाती है ऋकार से परे न् को ण् होता है जो  
वे शुभ्नाति गण में नृनमन शब्द पढ़ते हैं (प्राप्त था तभी तो वारण करने के लिये  
शुभ्नाति गण में पाठ कर दिया)। नहीं यह कोई शापक नहीं। इस (नृनमन) का  
पाठ तो इसलिये किया गया हो सकता है कि जब अपत्यार्थ इन् प्रत्यय आने पर आदि-  
वृद्धि होकर पूर्व पद में रकार मिल जाय तब उससे परे न् को ण् न हो। नार्नमनि-  
ऐसा रूप हो। अच्छा जो इसी गण में तृज्जोति शब्द पढ़ा है, यह शापक रहेगा। और  
नृनमन शब्द का पाठ भी शापक होगा। अभी अभी कहा था कि उसका पाठ वृद्धि  
होकर नार्नमनिः रूप में रकारनिमित्तक णत्व को रोकने के लिये हो सकता है। नहीं।  
(बहिर्भूत निमित्त इन् प्रत्यय होने से) वृद्धि बहिरङ्ग है और (अन्तर्भूत निमित्त  
होने से) णत्व अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग शास्त्र की दृष्टि में बहिरङ्ग शास्त्र भसिद्ध होता  
है (सो ऋकार निमित्तक णत्व को रोकने के लिये ही नृनमन शब्द का पाठ है)।  
अथवा भगले सूत्र को विभाग करके पढ़ें—ऋतः (सूत्र के अविभक्तिक ऋत् की  
पञ्चमी। और अर्थ होगा ऋ से परे न् को ण् होता है। तब छन्दस्यवग्रहात् पढ़ेंगे  
जिसमें पूर्व सूत्र से ऋतः इसकी अनुवृत्ति होगी।

(ग्रहणवादी का कथन)—प्लुतावैव इदुतौ (८।२।१०६) अर्थात् ऐच् के  
अवयव इ, उ को प्लुत होता है—यह तुम्हें कहना पड़ेगा। जिस के मत में अवयवी  
का स्वतन्त्र षणो की तरह ग्रहण होता है, उस के मत में गुरोरित्युः इत्यादि सूत्र से  
ही प्लुत हो जायगा। (उत्तर) जिस के मत में ग्रहण नहीं होता, उस में भी कोई  
दोष नहीं (गौरव नहीं आता)। सूत्रकार ने पहले ही इस वचन को सूत्ररूप में पढ़  
रखा है (यहाँ कोई अपूर्व वचन नहीं पढ़ना है)।

है। रेफ रूप भाग से परे जो अज्भक्ति मानी जाती है उसका नहीं, सो वहाँ न्यवाये इस  
योगविभाग से निर्वाध णत्व होगा।

तुल्यरूपे<sup>१</sup> संयोगे द्विव्यञ्जनविधिः ॥

तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनाद्यो विधिर्न सिध्यति कुश्कुटः, पिश्पली, पिश्तमिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते तस्य द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्यापि द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ । कथम् । मात्राकालोऽत्र गम्यते । न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति । अनुपदिष्टं सत्कथं शस्यं विज्ञातुम् । असञ्च कथं शस्यं प्रतिपत्तुम् । यद्यपि तावदन्वे-  
तच्छस्यते चन्तुं यत्रैतन्नास्ति—अण् सवर्णान्गृह्णातीति । इह तु कथम्—  
सर्व्यन्ता, सर्व्वत्सरः, यल्लोकम्, तल्लोकम् इति । यत्रेतदस्त्यण् सवर्णान्

( वा० ) ( ग्रहणवादी फिर दोष देता है )—तुल्यरूपवाले अवयव जिस वर्ण में हैं और जो संयोगसज्ञा के योग्य ( एक ) वर्ण हैं वहाँ तुम्हें ( अग्रहणवादी को ) हल्-द्वय-आधित संयोगसज्ञा अप्राप्त होने से कहनी चाहिये । जिस से संयोग के परे होने पर पूर्व की गुरु सज्ञा होने से गुरोरुत — से कुश्कुट, पिश्पली, पिश्त इत्यादि में प्लुत हो सके । ( हमारे मत में अग्य-भूत ककारादि को लेकर दो ककार, दो पकार, दो तकार हैं ) । ( उत्तर— ) जिसके मत में ग्रहण नहीं होता उसके मत में भी दो ही ककार, दो ही पकार और दो ही तकार हैं । तुम पूछो कैसे ? ( तुम्हारा यहाँ क, प, त में एक वर्ण मानना भ्रान्ति है ) कारण कि मात्रा काल संयोग का बोध हो रहा है, पर मात्रा काल वाला व्यञ्जन तो है नहीं । जब आचार्य ने उसका प्रत्याहारसूत्रों में उपदेश नहीं किया तो उसकी सत्ता कैसे जानी जाय और जो भविष्यमान है उसे कैसे स्वीकार किया जाय । यहाँ प्रपक्षी ( ग्रहणवादी ) कहता है कि जहाँ अण् भिन्न वर्णों क, प, त आदि में अनुदित्सवर्णस्य चाग्रययः ( १।१।६९ ) ग्रहणकतास्त्र नहीं लगता वहाँ तुम भले ही उपदेशाभाव और असत्वरूप अग्रहण में हेतु दे सको, पर जहाँ सर्व्व्यन्ता, सर्व्वत्सर, यल्लोकम्, तल्लोकम् आदि में अण् से गृहीत होने से साक्षान् उपदेश न होने पर भी उपदिष्ट और सत्य है ही । वहाँ अण् रूप य, व, ल अपने सवर्णों का ग्राहक होने से दो व्य, दो व्व, दो ल्ल को एक वर्ण हल् के रूप में ग्रहण ( बोध ) करावेंगे सो अग्रहण पक्ष में दो हल् न होने से संयोग सज्ञा न बनेगी । ( उत्तर— ) यकारादि के अण् होने पर भी द्विककारादि को वह ग्रहण नहीं करा सकता, जो है उसीका ग्रहण करा सकता है । व्य आदि मात्रावा-

१. तुल्यरूपावयव संयोगस्तुल्यरूप । मध्यमपदलोपी समासः । तुल्यरूप-संयोग की पूर्वपक्ष में एकवर्णता है, सिद्धान्त में वर्णद्वयरूपता । शीघ्रोच्चारणयशान् एकव्य शन तो भ्रान्त है ।

गृह्णातीति । अत्रापि मात्राकालो गृह्यते । न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति । अनु-  
पदिष्टं सत्कथं शन्यं विज्ञानुम् । असच्च कथं शन्यं प्रतिपत्तुम् ।

हयवरट् ॥ ५ ॥

सर्वे वर्णाः सरुदुपदिष्टाः, अयं हकारो द्विरुपदिश्यते—पूर्वश्चैव  
परश्च । यदि पुनः पूर्वं एवोपदिश्येत, पर एव वा । कश्चान् विशेषः ।

हकारस्य परोपदेशोऽङ्ग्रहणेण ह्रस्वग्रहणम् ॥

हकारस्य परोपदेशोऽङ्ग्रहणेण ह्रस्वग्रहणं कर्तव्यम् आतोऽटि नित्यम्, शरदोऽटि,  
दीर्घादटि समानपादे हकारे चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—महो  
हि सः ।

उत्वे च<sup>१</sup> ॥

उत्वे च हकारग्रहणं कर्तव्यम् अतो रोरप्पुतादप्पुते हशि च हकारे

लिक हैं, व्यञ्जन ( हल् ) तो मात्राकालिक होता नहीं ( वह तो अर्धमात्रिक होता है ),  
उसका आचार्य ने उपदेश नहीं किया, उपदेश के बिना उसकी सत्ता कैसे जानी जाय ।  
जो अविद्यमान है उसे कैसे स्वीकार किया जाए ?

हयवरट् ॥ ५ ॥

सभी वर्णों का ( वर्णसमाम्नाय में ) एक ही बार उच्चारण किया गया है, पर  
हकार ही का दो बार उच्चारण किया गया है, पहले भी और पीछे भी । यदि पहले  
ही उच्चारण किया जाए अपना पीछे ही, तो इसमें क्या भेद पड़ता है ?

( वा० ) हकार के केवल पर उपदेश होने पर गिन सूत्रों में अङ् ग्रहण किया  
है उनमें हकार भी ग्रहण करना चाहिए, ( जैसे ) आतोऽटि नियम्, शरदोऽटि,  
दीर्घादटि समानपादे इन सूत्रों में हकार पर होने पर भी ( इन सूत्रों से विहित कार्य )  
होते हैं ऐसा कहना चाहिए ताकि महो हि स —यही भी रुब और अनुनासिक हो जाय ।

( वा० ) उट्त्व की कर्तव्यता में भी हकार ग्रहण करना चाहिये अतो रोरप्पुताद-

१ सानुनासिक और निरनुनासिक यहाँ दो वर्ण ह ।

२. यह सूत्र अङ्ग्रहणार्थ हकार के उपदेश में प्रयोज्योच्चारित है । अङ्ग्रहणार्थ  
आदि के साथ प्रसङ्ग से पड़ दिया है । वस्तुतः इस अङ् में हकार के उपदेश का कोई  
प्रयोजन नहीं । क्योंकि हकार पर रहते शकार का मिलना सर्वथा असम्भव है ।

३ उट्त्व के साथ भोगोअघोअपूर्वस्य योऽति यहाँ अङ् ग्रहणार्थ में भी  
हकार के उपदेश का प्रयोजन समझना चाहिये । भो हसति देवा हसन्ति, आदि में हकार  
पर रहते रु को सन्व होता है ।

चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—पुरुषो हसति ब्राह्मणो हसतीति । अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः ।

पूर्वोपदेशे कित्त्वक्सेड्विधयो<sup>१</sup> झलप्रहणानि च ॥

यदि पूर्वोपदेश कित्त्वं विधेयम्—स्निहित्वा, स्नेहित्वा, सिस्नि-  
हिपति, सिस्नेहिपति रलो व्युपधादलादेः इति कित्त्वं न प्राप्नोति ।  
क्सविधिः—क्सश्च विधेयः—अधुक्षत्, अलिक्षत् शल इगुपधादनिटः  
क्स इति क्सो न प्राप्नोति । इड्विधिः—इड् च विधेयः—रदिहि बलादि-  
लक्षण इप्न प्राप्नोति । झलप्रहणानि च । किम् । अहकाराणि स्युः । तत्र को  
दोषः । झलो झलि इतीह न स्यात्—अदाग्धाम् अदाग्धम् । तस्मात्पूर्व-  
इवेयोपदेष्टव्यः परश्च । यदि च किञ्चिदन्यत्राप्युपदेशे प्रयोजनमस्ति  
तत्राप्युपदेशः कर्तव्यः ।

इदं विचार्यते—अयं रेफो यकारवकारभ्यां पूर्व एवोपदिश्येत हर्य-  
यद् इति, पर एव वा यथान्यासम् इति । कश्चात्र विशेषः ।

प्लुते की अनुवृत्ति करते हुए हचि च सूत्र में हकार पर होने पर भी उत्प हो ऐसा  
कहना चाहिये ताकि पुररो हसति, ब्राह्मणो हसति यहाँ भी उत्प हो जाय । अन्ता तो  
पूर्व ही उपदेश हो ।

(वा०) यदि पूर्व ही उपदेश हो तो कित्त्व विधि, क्स विधि तथा इड् विधियों  
नहीं सिद्ध होती और जहाँ झल् प्रहण किया गया है वह हकार-रहित होगा ।

यदि पूर्वोपदेश ही किया जाय तो कित्त्व का विधान करना पड़ेगा । स्निहित्वा,  
मिस्निहिपति, सिस्नेहिपति में रलो व्युपधादलादे —इस सूत्र से हकार के रल् प्रत्या-  
हारान्तर्गत होने से सेट् कदा और इडादि सन् विकल्प से किन् नहीं हो सकते । क्स-  
विधि —क्स का भी विधान करना पड़ेगा । अधुक्षत्, अलिक्षत् (दुह और लिह का लुट्)  
में शल इगुपधादनिट क्स इस सूत्र से क्स की प्राप्ति नहीं होती । इड्विधि—इड् का  
भी विधान करना होगा (क्यों कि अब) बलादि प्रत्ययनिमित्तक इड् की प्राप्ति नहीं ।  
झल्प्रहण भी । क्या कहना चाहिये हो ? यही कि सल् प्रत्याहार हकार रहित हो जायेंगे ।

अब इस बात पर विचार किया जाता है रेफ का यकार वकार से पूर्व ही  
उच्चारण करके (सूत्र को) हर्ययद् इस रूप से पढ़ा जाय अथवा जैसे आचार्य ने इसे  
रखा है (हर्ययर्द् के रूप में) । तो इसमें क्या विशेष है ?

१ यहाँ विधि शब्द में कर्त्तव्य कि प्रत्यय समझना चाहिये । कित्त्व क्स इड्—  
ये विधेय हैं ।

२. वर्णों का उपदेश किसी साम्प्रदायिक प्रयोजन के लिये किया जाता है (केवल)  
स्वरान्तरण के लिये नहीं ।

रेफस्य परोपदेशोऽनुनासिकद्विवचनपरसवर्णप्रतिषेधः ॥

रेफस्य परोपदेशोऽनुनासिकद्विवचनपरसवर्णानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनुनासिकस्य—स्वर्नयति, प्रातर्नयति यरोनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।१।४५) इत्यनुनासिकः प्राप्नोति। द्विवचनस्य—मद्वहदः, मद्रहदः यरः (८।१।४६) इति द्विवचनं प्राप्नोति। परसवर्णस्य—कुण्ड रथेन, वन रथेन अनुस्वारस्य ययि (८।१।५८) इति परसवर्णः प्राप्नोति। अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः।

पूर्वोपदेशे कित्त्वप्रतिषेधो व्यलोपचन च ॥

यदि पूर्वोपदेशः कित्त्व प्रतिषेध्यम्। देवित्वा द्विदेविपति रलो व्युपधादिति कित्त्व प्राप्नोति। नैष दोषः। नेत्र विज्ञायते रल् व्युपधादिति। किं तर्हि। रलः अन् व्युपधादिति। किमिदम् अन् व्युपधादिति। अन्तरान्ताद् व्युपधाद् अन्व्युपधादिति। व्यलोपचन च—व्योदच लोपो वक्तव्यः।

(वा०) रेफ का पर उपदेश करने पर अनुनासिक, द्विवचन और परसवर्ण का निषेध कहना होगा। अनुनासिक के निषेध का विषय स्वर्नयति, प्रातर्नयति, यहाँ यरोनुनासिकेऽनुनासिको वा इस सूत्र से रेफ का यर् प्रत्याहारान्तर्गत होने ॥ अनुनासिक प्राप्त होता है। द्विवचन के निषेध का विषय—मद्वहद, मद्रहद यहाँ अचो रहान्या द्वे सूत्र से रेफ के यर्प्रत्याहारान्तर्गत होने से द्विव प्रान्त होता है। परसवर्ण के निषेध का विषय—कुण्ड रथेन, वन रथेन यहाँ अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण इस सूत्र से रेफ के यय प्रत्याहारान्तर्गत होने से अनुस्वार को परसवर्ण प्राप्त होता है। अच्छा तो (रेफ का) पूर्व उपदेश ही हो।

(वा०) पूर्व उपदेश होने पर कित्त्व का प्रतिषेध करना होगा और वकार यकार का लोप भी कहना होगा।

यदि (रेफ का) पूर्व उपदेश किया जाय तो कित्त्व का प्रतिषेध करना होगा देवित्वा द्विदेविपति। यहाँ व् के रल् प्रत्याहारान्तर्गत होने से रलो व्युपधादलादेः सश्च (१।२।२६) इस सूत्र से सेट् क्त्वा और सेट् सन्प्रत्यय को विकल्प से कित्त्व प्राप्त होता है। यह कोई दोष नहीं। हम सूत्र का पदच्छेद रल् व्युपधात् ऐसा नहीं समझते किन्तु रल् अन् व्युपधात् ऐसा समझते हैं। तो अन् व्युपधात् इसका क्या अर्थ है? जो व्युपध हो पर वकारान्त न हो उससे। व् य् का लोप भी—गौधेर, पचेरन्, यनेरन्, जीव् घातु से रदानु प्रत्यय करने पर—ऐसे स्थलों में कहना होगा, कारण कि अब रेफ व प्रत्याहारान्तर्गत न रहा अतः लोपोव्योर्वलि (६।१।२६) इस सूत्र से लोप न हो सकेगा। यह कोई दोष नहीं। व्योर्वलि सूत्र में रेफ का भी निर्देश (उच्चारण) आचार्य

गोधेरः, पचेरन्, यजेरन्, जीरे रदानुः—जीरदानुः। वलीति लोपो न प्राप्नोति। नेष दोषः। रेफोऽप्यत्र निर्दिश्यते लोपो व्योर् वलि इति, रेफे च वलि चेति।

अथवा पुनरस्तु परोपदेशः। ननु चोक्त रेफस्य परोपदेशोऽनुनासिक द्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेध इति। अनुनासिकपरसवर्णयोस्तावत्प्रतिषेधो न वक्तव्यः, रेफोष्मणा सवर्णा न सन्ति। द्विर्वचनेऽपि। नेमो रहो कार्यिणो द्विर्वचनस्य। किं तर्हि। निमित्तमिमो रहो द्विर्वचनस्य। तद्यथा ब्राह्मणा भोज्यन्ता माठरकोण्डिन्यो परिवेषिषातामिति। नेदानीं तो भुञ्जाते'।

इदं विचार्यते—इमेऽयोगवाहा न कचिदुपदिश्यन्ते ध्रूयन्ते च। तेषां

ने किया है, लोपो व्यावलि ऐसा सूत्रन्यास अभिप्रेत है। (सहिता कार्य से रेफ का लोप हुआ है)। अर्थ हुआ यर पर होने पर भी लोप हो और रेफ पर होने पर भी।

अथवा (सूत्रानुसार) परोपदेश ही रहे (क्या हानि है?)। अभी अभी कहा था, परोपदेश होने पर अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का प्रतिषेध करना होगा। अनुनासिक और परसवर्ण का निषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं, कारण कि रेफ और उष्म वर्ण (श ष स ह) का सवर्ण नहीं होते। रहा द्विर्वचन का निषेध, सो भी न कहना होगा, कारण कि हुकार यर प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से द्वित्व-रूप कार्य का भाग ही नहीं, और रेफ यद्यपि यर है तो भी द्वित्व विधि में निमित्त होने से कार्य नहीं हो सकता। (इसमें लौकिक दृष्टान्त देते हैं) जैसे ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय, मानर और कौण्डिन्य (मानर और कुण्डिन गोत्रन ब्राह्मण) भोजन परोसें। परोसत हुए वे स्वयम् भोजन नहीं करते।

अथ इस बात पर विचार किया जाता है कि इन अयोगवाह नामक वर्णों का कहीं भी उपदेश नहीं किया, पर शास्त्र में और लोकव्यवहार में इनका ध्रुवण होता है। अतः शास्त्र-कार्य के लिए इनका उपदेश होना चाहिये। अयोगवाह नाम के कौन से

१ सामान्यतया यह लोकव्यवहारसिद्ध बात है कि विशेष विधि द्वारा सामान्य विधि का बाधा हुआ करती है। अथा रहाम्या द्वे इस द्विव विधि में यर सामान्य है। रफ विशय है। उसका निमित्तत्व प्रत्यक्ष विहित है। यर प्रत्याहारान्तर्गत होने पर भा उमका कार्यव प्रत्यक्ष विहित नहीं है किन्तु अनुमेय है। प्रत्यक्षविहित रेफ का निमित्तत्व उगवे कार्यव को बाध लेगा तो मद्रहद में रेफ को द्वित्व नहीं होगा। दधुदकम् आदि में इको यगचि स होनेवाले यणादेश में तो इक् का स्थानित्व प्रत्यक्ष है। अथ इस निमित्त के अन्तर्गत इक् का निमित्तत्व अनुमेय है। वहाँ इक् का



कार्यार्थमुपदेशः कर्तव्यः । के पुनरयोगवाहाः । विसर्जनीयजिह्वामूलीयोप-  
ध्मानीयानुस्वारनासिन्ययमाः । कथं पुनरयोगवाहाः । यद्युक्ता वहन्ति  
अनुपदिष्टाश्च ध्रुवन्ते । क पुनरेयामुपदेशः कर्तव्यः ।

अयोगवाहानामट्सु णत्वम् ॥

अयोगवाहानामट्सूपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । णत्वम् उरःकेण,  
उरःकेण, उरःपेण, उरःपेण । अङ्ग्यवाय इति णत्वं सिद्धं भवति ।

शर्षु जश्भावपत्वे ॥

शर्षूपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । जश्भावपत्वे । अयमुज्जिरूपध्मानीयोपधः  
पठ्यते । सत्र जश्त्वे कृते उज्जिता, उज्जितुमित्येतद्रूपं यथा स्यात् । यद्युज्जि-  
रूपध्मानीयोपधः पठ्यते, उज्जिजिर्षतात्पुपध्मानीयादेरेव द्विवचनं प्राप्नोति ।

वर्ण हैं ? (उत्तर) — रिसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, अनुनासिक  
और यम । इन्हें अयोगवाह क्यों कहते हैं ? इसलिये कि इनका योग=उपदेश (अक्षर-  
समाम्नाय में) किया नहीं, और इनका शास्त्र और लोक में बहन्=यवहार होता है ।  
तो इनका कहाँ उपदेश करना चाहिये ?

(वा०) अयोगवाहों का अट् प्रत्याहार में अन्तर्भाव करना चाहिये । इसमें  
क्या सिद्ध होगा ? (उत्तर) णत्व । उरः केण, उरःकेण उर पेण उरःपेण, यहाँ अट्कृत  
व्यवधान होने पर भी णत्व सिद्ध होता है ।

(वा०) शर् प्रत्याहार में अयोगवाहों का अन्तर्भाव करना चाहिये । इससे  
क्या सिद्ध होगा ? जश् भाव और पत्व ।

उज्ज् धातु उपध्मानीयोपध ( जिसमें उपध्मानीय उपधा है ) पढ़ा है । शर्  
में पाठ होने से ( शर् जश् के अन्तर्गत है ) जश् जश् जश् ( ८।४।१३ ) इस सूत्र से  
उपध्मानीय को जश् होने पर उज्जिता, उज्जितुम् ऐसा रूप सिद्ध होगा । ( शङ्का )  
यदि उज्ज् उपध्मानीयोपध पढ़ा है ऐसा स्वीकार करते हो तो अजादेर्द्वितीयस्य  
( ९।१।२ ) सूत्र से उपध्मानीय सहित द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त होता

स्यान्वित्व प्रत्यक्ष होता हुआ भी उससे निमित्तत्व का वाचक नहीं होता, क्योंकि तस्मादि-  
त्युत्तरस्य इत्यादि यन् विधान रूप जापकों से स्वानी होता हुआ भी इक्, यण् का  
निमित्त बन जाएगा । उदकम् का उकार डक् भी है और अच् भी है । वहा उकार का  
स्यान्वित्व प्रत्यक्ष है । निमित्तत्व अनुमेय है । लक्ष्यानुरोध से कहीं पर बाध्यबाधक  
भाव में विशेष आदर भी नहीं किया जाता । जैसे विचीर्यति बड़ा दीर्घ और क्त्वि दोनों  
की प्राप्ति में कोई भी पहले हो सकता है ।

१ यदि द्विवचन की कर्तव्यता में जश्च असिद्ध है अथवा यदि पूर्वप्राप्तिदी-  
यमद्विवचने इस परिभाषा के अनुसार जश्च सिद्ध की है, दोनों अवस्थाओं में उज्जिजि-  
पति ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है ।

दकारोपधे पुनर् 'न न्द्राः संयोगादयः' इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति ।  
यदि दकारोपधः पठ्यते, का रूपसिद्धिः उज्जिता उज्जितुमिति ।

असिद्धे भ उद्जेः ॥

इदमस्ति—“स्तोः श्चुना श्चुः” इति, ततो वक्ष्यामि भ उद्जेः, उद्जेः श्चुना सन्निपाते भो भवतीति । तत्तर्हि वक्तव्यम् ? न वक्तव्यम् । निपातनादेव सिद्धम् । किं निपातनम् । “भुजन्युज्जौ पाण्युपतापयोः” इति । इहापि तर्हि प्राप्नोति—अभ्युद्रः समुद्रः इति । अकुत्वविषये तन्निपातनम् । अथवा नैतदुज्जे रूपम् । गमेरेतद् द्व्युपसर्गादौ विधीयते । अभ्युद्गतोऽभ्युद्गः, समुद्गतः समुद्ग इति । पत्यं च प्रयोजनम् । सर्पिःपु धनुःपु । शर्द्ययाये इति पत्यं सिद्धं भवतीति । ‘नुम्बिसर्जनीयशर्द्ययायेऽपि’ इति विसर्जनीयग्रहणं न कर्तव्यं भवति । नुमद्यापि तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथं सर्पिःपि धनूपि ।

है इससे उज्जित्तिपति यह इष्ट रूप सिद्ध न होगा । दकारोपध ( उद्ज् ) मानने पर तो, न न्द्राः संयोगादयः, ( ६।१।३ ) इस सूत्र से दकार के द्विवचन का निषेध हो जाने से द्वितीय एकाच् जिस् को द्वित्व होगा । यदि दकारोपध ( उद्ज् ) पाठ है तो उज्जिता, उज्जितुम् इन रूपों की सिद्धि कैसे होगी ?

असिद्धे भ उद्जेः ॥

असिद्ध काण्ड त्रिपाद्री में स्तोः श्चुना श्चुः ( ८।४।४० ) यह पढ़ा है, वहाँ इसके आगे भ उद्जेः ऐसा पढ़ देंगे, अर्थ होगा— श्चु ( शकार चर्वा ) के योग में उद्ज् के सकार तर्ग को भ हो ( और यह अप्यग्रहितपूर्व द् को ही होगा ) । तो क्या ऐसा अपूर्व वचन करना चाहिए ? नहीं । निपातन से ही इष्टसिद्धि हो जाएगी । कौन सा निपातन ? भुजन्युज्जौ पाण्युपतापयोः ( ७।३।६१ ) ( यहाँ न्युज्ज में द् के स्थान में भ् निपातित है, और जदत्त से उसे द् हुआ है ) । यदि निपातन मानते हो तो ( बाधकान्येन निपातनानि भवन्ति इस वचन के अनुसार ) अभ्युद्रः समुद्रः यहाँ भी दकार का ध्रवण न होकर द् का ही ध्रवण होना चाहिए । ( उत्तर ) यह विशिष्टविषयक निपातन है जहाँ चर्वा. नु धिण्यतोः ( ७।३।५२ ) सूत्र से कुत्व प्राप्त हो और नुत्ताभाव निपातन किया हो वही इस भत्व का विषय है । भयया यू समक्षिणः— ये दोनों रूप उज्ज् धातु के नहीं हैं । ये तो गम् धातु से दो उपसर्ग अभि उद्, और सम् उद् रहते ड प्रत्यय से निम्ब होते हैं । अभ्युद्ग= अभ्युद्गत, समुद्र=समुद्गत ।

शर् पाठ में पत्य भी प्रस्थान है । जैसे सर्पिःपु धनुःपु यहाँ शर् इत व्यवधान होने पर पत्य सिद्ध होता है । इस पाठ का यह भी लाभ है नुम्बिसर्जनीयशर्द्ययायेऽपि

अनुस्वारे कृते 'शर्ध्ववाये' इत्येव सिद्धम् । अवश्यं नुमो ग्रहणं कर्तव्यम् । अनुस्वारविशेषणं नुम्ग्रहणम् । नुमो योनुस्वारस्तस्य यथा स्यात्, इह मा भूत्—पुंस्त्विति । अथवाऽविशेषेणोपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् ।

अविशेषेण संयोगोपधासंज्ञाऽलोन्यद्विर्वचनस्यानिवद्वावप्रतिषेधाः ॥

अविशेषेण संयोगसंज्ञा प्रयोजनम्, उद्देशक, हलोऽनन्तराः संयोग इति संयोगसंज्ञा । संयोगे गुर्विति गुरुसंज्ञा गुरोरिति प्लुतो भवति । उपधा-संज्ञा च प्रयोजनम्—दुष्कृतम्, निष्कृतम्, दुर्णीतम्, निष्पीतम्, इदुदु-

(८।३।५८)—इस सूत्र में विसर्जनीय ग्रहण नहीं करना पड़ता (यह लाघव है) । तो सूत्र में नुम् का ग्रहण भी छोड़ा जा सकता है । यदि पूछो सर्पीयि, धर्न्यि में पत्व कैसे सिद्ध होगा ? नुम् को अनुस्वार करने पर अनुस्वार अयोगवाह के शर् अन्तःपाती होने से शर् व्यवाये—इसी से पत्व हो जायगा । (नहीं) नुम् का तो अवश्य ग्रहण करना होगा । सूत्र में नुम् ग्रहण अनुस्वार का विशेषण है (अनुस्वार विशेष्य है), अर्थ हुआ नुम् का (नुम्स्थानिक) जो अनुस्वार सङ्गत व्यवधान होने पर पत्व हो, इससे पुंमु यहाँ पत्व नहीं होता (यहाँ पुम् के म् को अनुस्वार हुआ है) ।

अथवा किसी प्रत्याहारविशेष में न पढ़कर अयोगवाहों को अल् आदि सामान्य प्रत्याहारों में पढ़ना चाहिए । क्या प्रयोजन है ?

(वा०) सामान्यरूप से अल् आदि प्रत्याहारों में अयोगवाहों के पाठ के ये प्रयोजन हैं—संयोगसंज्ञा, अलोन्यविधि, द्विर्वचन तथा स्थानिवद्भावप्रतिषेध—सिद्धि ।

सामान्य रूप से अल् अन्तर्गत होने से संयोगसंज्ञा-रूप प्रयोजन सिद्ध होता है—उद्देशक, यहाँ हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७) इस सूत्र से संयोगसंज्ञा, संयोगे गुरु (१।४।११) इस से गुरु संज्ञा और उस गुरु को गुरोरनृत (८।२।८६) इत्यादि सूत्र से प्लुत सिद्ध होता है । उपधा संज्ञा प्रयोजन है—दुष्कृतम्, निष्कृतम्, दुर्णीतम्, निष्पीतम्—यहाँ दुष्कृतम् इत्यादि में विसर्जनीय (त्रिहामूलीय, उपष्मानीय) को अल्

१. अनुस्वार शर् प्रत्याहारान्तर्गत है, इस लिए अनुस्वार-कृत व्यवाय में भी पत्व सिद्ध ही था, तो नुम्-ग्रहण क्यों किया ? नुम्-ग्रहण नियमार्थ है । नुम् के स्थान में जो अनुस्वार हुआ उसी के व्यवाय होने पर पत्व हो अन्यत्र मत हो । जिस तरह नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत् (नक्षत्र दर्शन होने पर मौन मत तोड़ दे) यहाँ नक्षत्रदर्शन काल-विशेष का उपलक्षण है, जिससे दिन में नक्षत्र दर्शन होने पर भी मौन त्याग नहीं होता, और रात्रि को मेघादि के होने से नक्षत्र दर्शन न होने पर मौन त्याग होता है, इसी तरह नुम् के होते हुए अनुस्वार के अभाव में पत्व नहीं होता, पर नुम् के न रहने पर तत्स्थानान्न-अनुस्वार के होने पर पत्व होगा ।

पधस्य चाप्रत्ययस्येति पत्वं सिद्धं भवति । नैतदस्ति प्रयोजनम् । न इदु-  
दुपध-ग्रहणेन विसर्जनीयो विशेष्यते । किं तर्हि । सकारो विशेष्यते—इदु-  
दुपधस्य सकारस्य यो विसर्जनीय इति । अथवोपधाग्रहणं न करिष्यते,  
इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीय विशेषयिष्यामः—इदुद्भ्यामुत्तरस्य विसर्ज-  
नीयस्येति । अलोऽन्त्यविधिश्च प्रयोजनम्—वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति ।  
अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यलोऽन्त्यस्य सत्त्वं सिद्धं भवति । एतदपि  
नास्ति प्रयोजनम् । निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति विसर्जनीयस्येव  
भविष्यति । द्विवचनं च प्रयोजनम् उर××कः : उर××पः : अनचि च अच  
उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विवचनं सिद्धं भवति । स्थानियद्वावप्रति-  
पेधश्च प्रयोजनम्—यथेह भवति उरःकेण, उरःपेणेति अङ्गव्याय इति  
णत्वम्, एवमिहापि स्थानिवद्वावात् प्राप्नोति—व्यूढोरस्केन महोरस्के-  
नेति । तत्रानल्यधाविति प्रतिपेधः सिद्धो भवति ।

मानकर उकार, इकार की अलोन्त्यात् पूर्व उपधा ( १।१।६५ ) इस शास्त्र से उपधा  
संज्ञा सिद्ध होती है । तब इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य ( ८।३।४१ ) इस सूत्र से विसर्जनीय  
को पद्य हो जाता है । यह कोई प्रयोजन नहीं । इदुदुपध—यह विसर्जनीय का विशेषण  
गद्दी, तो किस का ? यह सकार का विशेषण है ( विसर्ग होने से पूर्व सान्ताःस्था में  
इकारोपध उकारोपध जो सकार उस के विसर्ग को पद्य होता है ऐसा अर्थ होगा ) ।  
अथवा प्रकृतसूत्र में उपधा ग्रहण ॥ करेंगे, इकार उकार को परविसर्जनीय का विशेषण  
यनायेगे । अर्थ होगा—इ, उ से अव्यवहित उत्तर जो विसर्ग उसे पद्य होता है ।  
अलोन्त्यविधि भी प्रयोजन है—जैसे वृक्षः तरति, प्लक्षः तरति में विसर्जनीयस्य स ( ८।  
३।३६ ) हम सूत्र से विसर्जनीयान्त को स् प्राप्त होने पर पठ्य निर्दिष्ट कार्य अन्त्य अट् के  
स्थान में होता है, इस वचन से अन्त्य अल् विसर्ग के स्थान में होता है । यह भी प्रयोजन  
नहीं । सकार आदेश है और आदेश सूत्र में साभान् निर्दिष्ट के स्थान में होते हैं इस  
परिभाषा के अनुसार स् विसर्ग के ही स्थान में होगा । द्विवचन भी प्रयोजन है—  
उर××कः : उर××पः यहाँ विसर्जनीय, जिह्वामूलीय उपध्मानीय के अल् प्रत्याहार  
में पाठ करने से यर् प्रत्याहारान्तर्गत होना भी अपने आप सिद्ध हो जाता है, तब  
अनचि च सूत्र से अच् से परे यर् को द्वित्व हो जाता है । स्थानियद्वावप्रतिपेध  
भी प्रयोजन है—जैसे उरः केण, उरःपेण अङ्गव्याय होने पर भी णत्व होता है,  
वैसे ही स्थानिवद्वाव से व्यूढोरस्केन महोरस्केन यहाँ भी प्राप्त होता है । अथ विसर्ज-  
नीय ॥ अल् होने से स्थानी अल् के आश्रित यदि कोई विधि कर्तव्य हो तो अनल्यधी  
इस वचन से स्थानिवद्वाव का निषेध हो जाता है ( जिस से स् का व्यवधान होने  
से णत्व रक्त जाता है ) ।

किं पुनरिमे वर्णा अर्थवन्त , आहोस्विदनर्थकाः ।

अर्थवन्तो वर्णधातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् ॥

अर्थवन्तो वर्णाः । कुतः, धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् । धातु एकवर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते एति, अध्येति—अधीते इति । प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति आभ्याम्, एभिः, एषु । प्रत्यया अर्थवन्तः—औपगवः, कापटवः । निपाता एकवर्णा अर्थवन्त—अ अपेहि, इ इन्द्र पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपत्राम । धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शानामन्यामहे—अर्थवन्तो वर्णा इति ।

वर्णव्ययये चार्थान्तरगमनात् ॥

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनान्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति । कूपः सूपो यूप इति । कूप इति सककारेण रुचिचर्थो गम्यते । सूप इति ककार

तो क्या ये (सभी) वर्ण अर्थवान् हैं अथवा अनर्थक हैं ?

(वा०) वर्ण अर्थवान् हैं क्योंकि हम देखते हैं कि एकवर्णघटित धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात अर्थ वाले हैं ।

वर्ण अर्थवान् हैं । यह क्योंकि ? इसलिये कि एक वर्ण वाले धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपातों का अर्थ देखने में आता है । धातु एकवर्णघटित अर्थवान् देख जाते हैं ( जैसे ) इण ( गत्यर्थक ), अधिङ्क ( स्मरणार्थक ), अधि इङ्क ( अध्ययनार्थक ) । प्रातिपदिक एकवर्णघटित अर्थ वाले देखे जाते हैं ( जैसे ) आभ्याम्, एभिः, एषु ( यहाँ विभक्ति पर होने पर इदम् क स्थान में अ मात्र अवशिष्ट रहता है और यही तदर्थ का बोधक है ) । प्रत्यय ( एकवर्णघटित ) अर्थ वाले देखे जाते हैं, ( जैसे ) औपगव, कापटव ( यहाँ भण् प्रत्यय है ) । एक वर्ण वाले निपात अर्थवाले देखे जाते हैं ( जैसे ) अ अपेहि, इ इन्द्र पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपत्राम ( यहाँ अ, इ, उ का वितर्क आदि अर्थ है ) । सो धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात—इनका एकवर्णघटित होने पर भी अर्थ देखा जाने से हम समझते हैं कि वर्ण अर्थवान् हैं ।

(वा०) वर्ण के बदल जाने पर अर्थ बदल जाने से ॥

वर्ण के बदल जाने पर अर्थ बदल जाने से हम जानते हैं कि वर्ण अर्थवान् हैं । ( उदाहरण ) कूप, सूप, यूप । कूप शब्द में जब तक ककार है तब कुछ विशेष

१ प्रक्रियोपयोगी प्रवृत्ति प्रत्ययों का वर्ण स्फोट मान कर वाचकत्व कहा गया है । शास्त्र-व्यवहार में ही इसका उपयोग है । इस वासना से वासितान्त करण शास्त्रज्ञ भा लोकव्यवहार में ऐसा कहते हैं ।

पाये सकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। यूप इति ककारसकारपाये यकारो-  
पजने चार्थान्तरं गम्यते। तेन मन्यामहे—यः कृपे कूपार्थः स ककारस्य, यः  
सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति।

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगते ॥

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेर्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति। वृक्ष ऋक्षः,  
काण्डीर आण्डीरः। वृक्ष इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यते, ऋक्ष इति  
यकारपाये सोर्थो न गम्यते। काण्डीर इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यते,  
आण्डीर इति ककारपाये सोर्थो न गम्यते। किं तर्हीच्यते—अनर्थगतेरिति।  
न साधीयो ह्यार्थस्य गतिर्भवति। एव तर्हीदं पठितव्यं स्यात्—वर्णानु-  
पलब्धौ चातदर्थगतेरिति। किमिदमतदर्थगतेरिति। तस्यार्थस्तदर्थः। तदर्थस्य  
गतिस्तदर्थगतिः। न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति। अथवा सोर्थस्त-  
दर्थस्तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति। स

अर्थ का बोध होता है। सूप में ककार के चले जाने से और सकार के आ जाने से कोई  
दूसरा अर्थ प्रतीत होता है। यूप में ककार सकार दोनों के चले जाने से और यकार  
के आ जाने से कुछ और ही अर्थ का बोध होता है। इससे हम जानते हैं कि कूप  
शब्द में जो कूभा अर्थ है वह ककार का है, सूप में जो सूप अर्थ है वह सकार का है  
और यूप में जो यूपार्थ (यस्य पशु घन्धन वाचः) है वह यकार का है।

(वा०) वर्ण का अदर्शन (अधवण) होने पर (पूर्व) अर्थ का बोध न होने से ॥

(भा०) वर्ण का अदर्शन (अध्रवण) होने पर जो (पूर्व) अर्थ का बोध नहीं होता  
हमसे हम जानते हैं कि वर्ण अर्थवान् है। (उदाहरण) वृक्ष ऋक्ष, काण्डीर आण्डीर।  
वकार सहित वृक्ष का कुछ विशेष अर्थ (पादप) अग्रगत होता है, जब ककार नहीं  
रहता तो ऋक्ष मात्र से उस अर्थ का बोध नहीं होता। इसी प्रकार काण्डीर शब्द जब  
ककार सहित है तब किसी एक अर्थ का बोधक होता है, जब ककारके चले जाने से  
आण्डीर रूप रहता है तब उस अर्थ का बोधक नहीं होता। अनर्थगते यहाँ क्यों  
बढ़ा है? इस यचन से अच्छी तरह अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती। अच्छा तो ऐसा  
पढ़ना चाहिए—वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगते। अतदर्थगते। इसका क्या अर्थ है?  
तदर्थ=उसका अर्थ। तदर्थगति=उसके अर्थ की प्रतीति। नन्पूर्वक पद्यम्यर्थ का अर्थ  
होगा=उसके अर्थ की प्रतीति न होने से। अथवा तदर्थ (समानाधिकरण तत्पुरप  
मानकर)=उह अर्थ। तदर्थगति=उस अर्थ का बोध। नन्पूर्वक पद्यम्यन्त अतदर्थगते  
का अर्थ होगा=उस अर्थ का बोध न होने से। तो फिर ऐसा निर्देश करना चाहिए

१ ऋक्ष=नक्षत्र (नपुमक लिंग में), भास्व. (पुंल्लिङ्ग में)। काण्डीर=काण्डवान्  
=नारपारी। आण्डीर=अण्डवान्। अन्वयार्थ आण भी है और आण्ड भी।

तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । तद्यथा—  
उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः, खरमुखः । एवमतदर्थगतेरनर्थगतेरिति ।

सङ्घातार्थवत्त्वाच्च ॥

सङ्घातार्थवत्त्वाच्च मन्यामहे अर्थवन्तो वर्णा इति । येषां संघाता अर्थ-  
वन्तः, अत्रयवा अपि तेषामर्थवन्तः । [येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया  
अपि तेषामनर्थकाः] तद्यथा—एकश्चक्षुष्मान् दर्शने समर्थः तत्समुदायः  
शतमपि समर्थम् । एकश्च तिलस्तेलदाने समर्थः तत्समुदायः स्वार्यपि  
तेलदाने समर्थः । येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः ।  
तद्यथा—एकोन्यो दर्शनेऽसमर्थस्तत्समुदायः शतमप्यसमर्थम् । एका च  
सिक्ता तेलदानेऽसमर्था तत्समुदायश्च सारीशतमप्यसमर्थम् ।

यदि तर्हिमे वर्णा अर्थवन्तः, अर्थवत्त्वानि प्राप्नुवन्ति । कानि ।  
अर्थवत्प्रातिपदकम् इति प्रातिपदिकसङ्घा, प्रातिपदिकादिति स्वाद्युत्पत्तिः,  
सुबन्तं पदमिति पदसङ्घा । तत्र को दोषः । 'पदस्य' इति नलोपादीनि  
प्राप्नुवन्ति धनं वनमिति ।

नहीं । अनर्थगते मे ( मन् की अपेक्षा से ) उत्तरपद तद् का लोप समझना चाहिए ।  
जैसे (अन्यत्र भी) उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य इस विग्रह के आश्रित उष्ट्रमुख (और इसी  
प्रकार खरमुख) में उत्तरपद मुख का लोप देखा जाता है । ऐसे ही अनर्थगते के  
स्थान में अनर्थगते (उत्तरपद तद् का लोप करके कहा है) ।

( वा० ) सङ्घात (वर्णसमुदाय) के अर्थवान् होने से ॥

सङ्घात के अर्थवान् होने से हम जानते हैं वर्ण अर्थवान् होते हैं । ( इसमें  
हेतु=अनुकूल तर्क यह है ) । ( त्रिन अवयवों के ) सङ्घात अर्थवान् होते हैं वे  
अवयव भी अर्थवान् होते हैं । [ और त्रिनके अवयव अनर्थक होते हैं उनके सङ्घात=  
समुदाय भी अनर्थक होते हैं ] जैसे एक पुरष आसोवाग देरने में समर्थ है ऐसे  
सौ का समुदाय भी समर्थ है । एक तिल तेल देने में समर्थ है ऐसे तिलों का समुदाय  
सारी परिमाण भी तेल देने में समर्थ है । और त्रिनके अवयव अनर्थक होते हैं उनके  
समुदाय भी अनर्थक होते हैं । जैसे एक अन्धा पुरष देरने में असमर्थ है, ऐसे का  
समुदाय सौ अन्धे भी देरने में असमर्थ है । रेत का एक कण तेल देने में असमर्थ है,  
उनका समुदाय सौ सारी परिमाण भी तेल देने में असमर्थ है ।

यदि ये वर्ण अर्थवान् हैं ऐसा स्वीकार करते हो तो जो (शास्त्रीय) कार्य  
अर्थवान् को होते हैं इन्हें भी होने लगेंगे । वे कौन से हैं ? अर्थवान् शब्द की प्राति-  
पदिक सङ्घा होती है, प्रातिपदिक से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है और स्वादि-  
प्रत्ययान्त (सुबन्त) की पदसङ्घा होती है । इसमें क्या दोष आता है ? पदसङ्घा होने पर  
नलोप प्रातिपदिकान्तस्य इत्यादि से धन वन इत्यादि में नलोप आदि प्राप्त होते हैं ।

सङ्घातस्यैकार्थ्यात्सुबभावो वर्णात् ॥

सङ्घातस्यैकत्वमर्थः । तेन वर्णात्सुबुत्पत्तिर्न भविष्यति ।

अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः ॥

अनर्थकास्तु वर्णाः । कुतः । प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः । नहि प्रतिवर्ण-  
मर्थो उपलभ्यन्ते । किमिदं प्रतिवर्णमिति । वर्णं वर्णं प्रति प्रतिवर्णम् ।

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात् ॥

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनान्मन्यामहे—अनर्थका वर्णा  
इति । वर्णव्यत्यये—रुतेस्नर्कः, कसेः सिक्ताः, हिसेः सिंहः । वर्णव्य-  
त्ययो नार्थव्यत्ययः । अपायो लोपः—हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् । वर्णा-  
पायो नार्थापायः । उपजन आगमः—लघिता लघितुम् । वर्णोपजनो नार्थो-  
पजनः । विकार आदेशः—घातयति घातकः । वर्णविकारो नार्थविकारः ।

(वा०) सङ्घात (वर्णसमुदाय) के एकार्थवाचक होने से प्रतिवर्ण से सु आदि  
प्रत्ययों की उत्पत्ति नहीं होती ।

सङ्घात ( वर्ण समुदाय ) का एकत्र अर्थ है, अतः सङ्घात से सु प्रत्यय की  
उत्पत्ति होगी, प्रतिवर्ण से नहीं (यद्यपि एक-एक वर्ण का भी एकत्र अर्थ है) ।

(वा०) वर्ण तो अनर्थक हैं प्रतिवर्ण में अर्थ की उपलब्धि न होने से ॥

वर्ण तो अनर्थक हैं । कैसे ? प्रत्येक वर्ण में अर्थ के न देखे जाने से । वर्ण-वर्ण  
में तो अर्थों की उपलब्धि होती नहीं । प्रतिवर्णम् का क्या अर्थ है ? वर्ण वर्ण में ।

(वा०) वर्ण व्यत्यय (पूर्वापर वर्ण व्यत्यास), वर्णापाय ( वर्ण-लोप ), वर्णोपजन  
(वर्णागम) और वर्णविकार (वर्ण-आदेश) के होने पर अर्थ देखे जाने से ॥

वर्णव्यत्यय, अपाय, उपजन, विकार इन के होने पर ( भी ) अर्थ देखे जाने  
से हम जानते हैं कि वर्ण अनर्थक हैं । वर्णव्यत्यय होने पर कृत्वा छेदने से तर्क मिट  
होता है, कम गतों से सिक्ता, हिमि हिंसायाम् से मिह । यहाँ वर्णव्यत्यय तो स्पष्ट  
है पर अर्थव्यत्यय कुछ भी नहीं । अराय नाम लोप का है । जैसे हतः घ्नन्ति घ्नन्तु  
अघ्नन् में हन् घात के मध्यवर्ती अकार का लोप हुआ है । वर्णापाय तो है पर अपापाय  
कुछ भी नहीं । उपजन नाम आगम का है । जैसे लघिता लघितुम्—यहाँ लघातु से  
आर्धघातु प्रत्यय को इद् आगम ( उपजन ) हुआ है, पर अपापायन कुछ भी नहीं ।  
विकार नाम आदेश का है । जैसे घातयति, घातक । यहाँ हन् के ह को घ हुआ ।  
वर्णविकार तो हुआ है अर्थविकार कुछ भी नहीं । ( यदि वर्ण अर्थवान् होने तो ) जैसे



यथेव वर्णन्यत्ययापायोपजनविमारा भवन्ति, तद्वदर्थन्यत्ययापायोपजन-  
विकारैर्भवितव्यम् । न चेह तद्वत् । अतो मन्यामहे—अनर्थका वर्णा इति ।

उभयमिदं वर्णेषुक्तम्—अर्थवन्तोऽनर्थका इति च । किमत्र न्याय्यम् ।  
उभयमित्याह । कुतः । स्वभावतः । तद्यथा समानर्माहमानानां चाधीपा-  
नानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते, अपरे न ।

न चेदानीं कदिचदर्थानिति कृत्वा सर्वैरर्थप्रद्विः शक्यं भवितुम्,  
कदिचद्वाऽनर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकेः । तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्—  
यद्वातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता एववर्णा अर्थवन्तोऽनोऽन्येऽनर्थका इति ।  
स्वाभाधिकमेतत् । कथं य एव भवता वर्णानामर्थवत्तायां हेतुरपदिष्टः—  
अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनादन्य-  
त्यये चार्थान्तरगमनाद्वर्णानुपलब्धो चानर्थगतेः सङ्घातार्थवत्त्वाच्चेति । सङ्घा-  
तान्तराण्येवैतान्येवञ्जातीयकान्यर्थान्तरेषु वर्तन्ते कूपः सूपो यूप इति । यदि  
हि वर्णन्यत्ययकृतमर्थान्तरगमनं स्यात्, भूयिष्ठः कूपार्थः सूपे स्यात्, सूपा-  
र्थद्वय कूपे, कूपार्थद्वय यूपे, यूपार्थद्वय कूपे, सूपार्थद्वय यूपे, यूपार्थद्वय सूपे ।

वर्णन्यत्यय आदि होते हैं वैसे ही अर्थव्यन्य आदि भी होने चाहिये थे, पर ऐसा होना  
नहीं । इस से हम जानते हैं कि वर्ण अनर्थक है ।

वर्णों के विषय में यह दोनों बातें कही गई हैं—वर्ण अर्थवान् है, वर्ण अनर्थक  
है । इस में न्याय्य पक्ष कौनसा है ? दोनों पक्ष न्याय्य हैं । यह कैसे ? स्वभाव से ।  
जैसे एक बरारर यत्न करते हुए और पड़ते हुए छात्रों में से कुछ अर्थवान् ( सफल )  
होते हैं, दूसरे नहीं ।

किमी एक के अर्थवान् ( सफल, अर्थयुक्त ) होने से सभी तो अर्थवान् नहीं हो  
जाते और न ही कोई एक अर्थव्यन्य ( असफल, अर्थरहित ) है तो इतने से सभी अस-  
फल हों ऐसा कोई नियम है । यही हमें क्या सिद्धान्त करना चाहिये—यही कि एक  
वर्णप्रदित धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निगान अर्थवान् है, इनसे अतिरिक्त अनर्थक है ।  
और यह स्वभावसिद्ध है । ये जो पूर्वपक्षों ने वर्णों की अर्थवत्ता ( सार्थकता ) में हेतु  
दिये हैं—अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् इत्यादि  
उनका क्या समाधान है ? (इस पर सिद्धान्तों कइता ह) कूप, सूप, यूप, इत्यादि स्वतन्त्र  
एक दूसरे से असम्बद्ध सङ्घात हैं और इमीलिये भिन्न-भिन्न अर्थों में वर्तमान हैं । यदि  
वर्ण के बदलने से सङ्घात ( एक माना हुआ ) का अर्थ बदलता हो, तो बहुतसा  
कूपार्थ सूपशब्द से बोधित होना चाहिये (कुछ अस न भी हो), सूप का बहुतसा अर्थ  
हूप शब्द से, बहुतसा कूपार्थ यूपशब्द से, बहुतसा यूपार्थ कूपशब्द से, बहुत सा सूपार्थ  
यूपशब्द से और बहुतसा यूपार्थ सूपशब्द से । पर चूँकि सूप का अंशमात्र अर्थ भी

यतस्तु खलु न किञ्चित्सूपस्य वा यूपे, यूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा यूपे, सूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा सूपे, सूपस्य वा यूपे । अतो मन्यामहे—संज्ञातान्तराण्येतान्येव त्रातीयान्यर्थान्तरेषु वर्तन्त इति ।

इदं खल्वपि भवता वर्णानामर्थवत्तां वृषता सार्धायोऽनर्थकत्वं द्योतितम् । यो हि मन्यते—य कूपे कूपार्थं स ककारस्य, य-सूपे सूपार्थं स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थं स यकारस्येति, ऊपशब्दस्त्वस्यानर्थकः स्यात् । तत्रेदमपरिहृतं संज्ञातार्थवत्त्वाच्च इति । एतस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञायां परिहारं वक्ष्यति ।

अ इ उ ण्, ऋ लृक्, ए ओङ्, ऐ औच् ।

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमग्रहणेषु न

यूपशब्द से बोधित नहीं होता, नाहीं सूप का यूपशब्द से, यूप का कूपशब्द से, कूप का यूपशब्द से, सूप का यूपशब्द से, कूप का सूप शब्द से, इससे हम जानते हैं कि कूप, सूप, यूप—ये स्वतन्त्र संज्ञात अपने-अपने अर्थों में व्यवहृत होते हैं ।

आपने वर्णों की अर्थवत्ता का उपपादन करते हुए बहुत अच्छी तरह मैं उन की अनर्थकता इत्का दी । यह जो आप मानते हैं कि जो कूप शब्द में कूपार्थ है वह ककार का है, सूप शब्द में जो सूपार्थ है वह सकार का है, यूपशब्द में जो यूपार्थ है वह यकार का है, ऐसा मानने से 'ऊप' शब्द तो अनर्थक हो जाता है (यह क्यों नहीं देखते ?) । रहा संज्ञातार्थवत्त्वाच्च इस हेतु का उत्तर, सो उसे भी प्रातिपदिकसंज्ञाविधायक सूत्र 'अर्थवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम्' में कहेंगे ।

अ इ उ ण्, ऋ लृक्, ए ओङ्, ऐ औच् ।

( वा० ) अच् प्रत्याहार में जो अनुबन्ध ( ण्, कृ, इ, ष् ) सुने जाते हैं उन का अच् ग्रहण से ग्रहण क्यों नहीं होता ?

१ इसी बात को वास्यपदीयकार महावीरारण श्रीभर्तृहरि ने इस प्रकार कारिका में निबन्धन किया है—

॥ कूपसूपयूपानामन्वयोर्थस्य विवर्ते ।

अतोऽर्थान्तरवाचित्वं सहजानस्यैव गम्यते ॥

२ वही यह परिहार कहा है—दृष्टो ह्यतर्दयेन गुणेन गुणिनोऽर्थमार, ऐसा देखा जाता है कि एक-एक अवयव में जो गुण नहीं है वह भी वहीं अवयवों ( संज्ञात ) में आ जाता है जैसे रथ के प्रत्येक अङ्ग में गति कियाविशयक सामर्थ्य नहीं तो भी समुदाय रथ में गति—सामर्थ्य होता है, अवयव जैसे मुरा के प्रत्येक घटक अवयव—द्रव्य में मादकता गुण नहीं तो भी अवयवों ( उन अवयवों से घटित ) ( समुदाय ) मुरा में मादकता देगी जाती है, सो यह कोई नियम नहीं कि संज्ञात यदि अर्थवान् है तो अवयव भी अर्थवान् ही हो । अब जहाँ अन्वय-व्यतिरेक से अर्थवत्ता सिद्ध हो वही स्वीकार करना चाहिए, न कि सर्वत्र ।

य एतेऽक्षु प्रत्याहारार्था अनुबन्धा क्रियन्ते एतेषामज्ग्रहणेन ग्रहण कस्मान्न भयति । किं च स्यात् । दधि णकारीयति, इको यणचि इति यणादेश प्रसज्येत ।

### आचारात्

किमिदमाचारादिति । आचार्याणामुपचारात् । नैतेष्व्याचार्या अकार्याणि कृतवन्तः ।

### अप्रधानत्वात्

अप्रधानत्वाच्च । न खल्वेतेषामक्षु प्राधान्येनोपदेश क्रियते । क तर्हि । हल्यु । कुतः । एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यन्मुल्यजातीयास्तुल्य-जातीयेषूपदिशति—अचोऽक्षु हलो हल्यु ।

### लोपश्च बलवत्तरं

तो ये अचो में प्रत्याहार ( अक्, अण् आदि ) के लिए अनुबन्ध क् ण, आदि किए गये हैं इनका अज्ग्रहण से ( अच् कहने से ) ग्रहण क्यों नहीं होता ? क्या हो ( यदि हो नाय ) ? दधि णकारीयति—यहाँ इको यणचि ( ६।१।७७ ) से यणादेश होने लगेगा ।

### आचारान्

आचार इसका अर्थ है । आचार्यों का व्यवहार, उससे । आचार्यों न इन क् ण आदि के परे होने पर अच् निमित्तक कार्य नहीं किया ।

### अप्रधान होने से

अप्रधान होने से भी । इन क् ण आदि का अचो में प्रधानतया उपदेश ( उच्चारण ) नहीं किया है । तो कहाँ प्रधानतया उच्चारण किया है ? हलों में । यह क्यों कर ? आचार्यों की ऐसी शैली दीखती है कि तुल्य जाति के वर्णों को एक साथ उपदेश करते हैं अचो का एक साथ उपदेश करके पश्चात् हलो का उपदेश करते हैं ।

### लोप भा बलवत्तर है ।

१ आचार्यों का व्यवहार, उससे । नृषिमृषिदृषे काश्यपस्य ( १।२।२५ ) में नृषि के इ से परे दृषि के ककार के परे होने पर यण् न करना—यह आचार है ।

२ प्रधानाप्रधानसन्निधौ प्रधानमेव कार्याणां प्रयोजकम् अर्थान् प्रधान व अप्रधान के साथ उच्चारित होने पर प्रधान को हा कार्य होता है ऐसा न्याय है । परार्थ होने से अनुबन्ध अप्रधान है, अतः इनकी अच् सज्ञा नहीं होता ।

३ शीलादागता शैली, समवधानपूर्विका प्रवृत्ति ।

४ लोप पर, नित्य और अन्तरङ्ग होने से बलवत्तर है, अर्थात् पहले ही अनुबन्धों का लोप होने से सज्ञा-विधान काल में उनके न होने से उनकी अच् सज्ञा नहीं

लोपः सत्यपि तावद्धवति ।

ऊकालोऽजिति वा योगस्तत्कालाना यथा भवेत् ।

अत्रा ग्रहणमच्चायं तेनेपा न भविष्यति ॥

अथवा योगविभाग करिष्यते — ऊ कालोऽच् उ ऊ उ ३ इत्येवं-  
कालो भवति । ततो 'ह्रस्वदीर्घप्लुत' ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञश्च स भवति  
ऊकालोऽच् । एवमपि कुक्कुटं इत्यत्रापि प्राप्नोति । तस्मात्पूर्वोक्त एव  
परिहार । एष एवार्थः । अपर आह—

ह्रस्वादीना वचनात् प्राग्याप्ततादेव योगोऽस्तु ।

लोप भी निश्चय से इन क ण् आदि का हो जाता है ।

( वा० ) ऊकालो ऽच् ऐसा योगविभाग करने से उ ऊ उ ३ काल वाले  
वर्णों की अच् संज्ञा होने से इन क ण् आदि को अच् निमित्तक कार्य नहीं होता ।

अथवा योगविभाग किया जायगा । ऊकाले ऽच् इतना एक सूत्र होगा । अर्थ  
होगा उ ( एकमात्रिक ) ऊ ( द्विमात्रिक ) उ ३ ( त्रिमात्रिक ) वर्णों की अच्  
संज्ञा होती है । दूसरा सूत्र होगा—ह्रस्वदीर्घप्लुत, अर्थ होगा—एकमात्रिक,  
द्विमात्रिक त्रिमात्रिक अच् व्रम से ह्रस्व दीर्घ, प्लुत सन्नक होता है ।

पर इस प्रकार एकमात्रिक वर्ण की अच् संज्ञा होने से कुक्कुट में क् (सयोग  
रूपणक भक्षर) की (एक मात्रिक होने से) अच् संज्ञा होने लगेगी, अतः पूर्वोक्त परिहार  
ही ठीक रहा । (ऊकालोऽच् वातिक से कहें हुए ।) अर्थ को दूसरा वातिककार  
अपि यूँ कहता है—

( वा० ) ऊकालोऽन्वस्वदीर्घप्लुत इस सूत्र में ह्रस्वदीर्घप्लुत इस अंश से

होती । अनुबन्धों की उच्चारण-काठ में ही सना है, इगुणा के आधार पर जो कार्य प्राप्त  
होता है उसे वे अवस्थित मान हाते हुए भी वक्त है, स्वयं किमी कार्य का विषय नहीं  
बनते ।

१ अक्षर आदि का उपदेश होने में और सवर्णों का ग्रहण होने से अच्युत सिद्ध  
ही है, योग विभाग में काठ-विनाश विज्ञेय-विशिष्ट अक्षरादि की ही अच् संज्ञा होने में  
अनुबन्धों का ऊकार ( एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक ) न होने से अच्युत नहीं ।

२ वर्ण गमाग्न्याय म अक्षर ज्ञानि का निर्देश होने से मात्रिक वर् को अच्  
समस्त कर प्रदान है ।

३ यद्यपि यही—'दो अक्षर हैं, और दो वर्णों में एक ज्ञानि की अभिव्यक्ति  
नहीं होती', यह भी परिहार हो गया है, तो भी पूर्व बड़ा हुआ—मात्राकालोऽत्र  
गम्यते, न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति—यह परिहार अभिमत है ।

अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कालेष्वक्षु कार्याणि ॥

अथ किमर्थमन्तःस्थानामण्सूपदेशः क्रियते । इह स य् य् यन्ता । स  
व् व् वत्सरः, य ल् ल् लोऋ, त ल् ल् लोऋमिति परसवर्णस्यासिद्धत्वाद्-  
नुस्वारस्येव द्विवचनम् । तत्र परस्य परसवर्णे कृते तस्य यग्रहणेन ग्रहणात्  
पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात् । नेतदस्ति प्रयोजनम् । वक्ष्यत्येतत्—  
द्विवचने परसवर्णत्व सिद्धं वक्तव्यमिति । यावता सिद्धत्वमुच्यते परसवर्ण  
एव तावद्भवति । परसवर्णे तर्हि कृते तस्य यग्रहणेन ग्रहणाद् द्विवचन यथा  
स्यात् । मा भूद् द्विवचनम् । ननु च भेदो भवति—सति द्विवचने त्रिय  
कारकम् । असति द्विवचने द्वियकारकम् । नास्ति भेदः । सत्यपि द्विवचने  
द्वियकारकमेव । कथम् । 'हलो यमां यमि लोपः' इत्येवमेऽस्य लोपेन

पूर्वं अकालोऽयं इत्येवं रूप ही पृथक् योग रहे, त्रिस एकमात्र द्विमात्रिक,  
त्रिमात्रिक अर्चो को ही अच् को उद्देश्य अथवा निमित्त मान कर विधान किए कार्य  
हो सकें ।

अब इस पर विचार किया जाता है कि अन्त स्थ वर्ण य र ल का अण  
प्रत्याहार में पाठ करने का क्या प्रयोजन है । यहाँ स यन्ता, स रसर, य लोकम्, त  
लोकम्, इस अवस्था में वा पदान्तस्य (८।४।५९) इससे यय पर होने पर अनुस्वार  
को परसवर्ण भी प्राप्त होता है और अनचि च से द्वित्व भी । द्विवचन शास्त्र अनचि च  
(८।४।४७) की दृष्टि में परसवर्ण शास्त्र वा पदान्तस्य (८।४।५९) के असिद्ध  
होने से अनुस्वार को द्वित्व ही होगा । तब स - - यन्ता इस अवस्था में परले  
अनुस्वार को परसवर्ण य् करने पर ग्रहणक शास्त्र अणुदित्—के लगने पर  
अणत्वेन गृहीत होने पर सानुनासिक यकार क यय प्रत्याहारान्त पातो हो जाने से  
पूर्व अनुस्वार को भी परसवर्ण हो जाय (यह प्रयोजन है) । ( त्रिस स य् य्  
यन्ता रूप सिद्ध हो जाय ) । यह कोई प्रयोजन नहीं । आगे कहेंगे कि द्विवचन  
की कर्तव्यता में परसवर्ण को सिद्ध कहना चाहिए । अब चूँकि परसवर्णे सिद्ध है, अतः  
पर होने से पहले परसवर्ण ही होगा । अच्छा तो अब भी अण में पाठ का प्रयोजन  
क्या रहा, कारण कि अनुस्वार को परसवर्ण य् होने पर और ग्रहणक शास्त्र के  
बल पर इसे य् मान कर अनचि च से द्वित्व हो जाएगा । मत हो द्वित्व  
( द्वित्व का कुछ प्रयोजन नहीं, अतः अण् में पाठ की सार्थकता नहीं ) । अनी  
द्वित्व सम्प्रयोजन है, इससे शब्दरूप में भेद होता है । जब द्वित्व हो तो शब्द  
( स य् य् यन्ता ) तीन यकारों वाला होता है, द्वित्व न हो तो द्वियकार वाला ।  
नहीं कुछ भेद नहीं । द्वित्व होने पर भी द्वियकार वाला ही रूप होता है । कैसे ?  
हलो यमा यमि लोप (८।४।६४) इससे एक यकार का लोप हो जाएगा । तो

भवितव्यम् । एवमपि भेदः । सति द्विवचने कदाचिद् द्वियकारकम्, कदाचित् त्रियकारकम् । अस्ति त्रियकारकमेव । स एष कथं भेदो न स्यात् । यदि नित्यो लोपः स्यात् । विभाषा च स लोपः । यथाऽभेदस्तथास्तु ।

अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि यद्वायत्यय द्वित्वम् ।

यदय 'शरोऽचि' इति द्विवचनप्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनुवर्तते विभाषेति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ।

नित्ये हि तस्य लोपे प्रतिषेधार्थो न कश्चित्स्यात् ।

यदि नित्यो लोपः स्यात् प्रतिषेधवचनमनर्थकं स्यात् । अस्त्यत्र द्विवचनम्, 'शरो शरि सवर्णे' इति लोपो भविष्यति । पश्यति त्वाचार्यः— विभाषा स लोप इति ततो द्विवचनप्रतिषेधः शास्ति । नेतव्यं ज्ञापकम् । नित्येपि तस्य लोपे स प्रतिषेधोऽपश्य यक्तव्यः । यदेतत् 'अचो रहाभ्याम्' इति द्विवचनलोपापत्ताद् स विज्ञायते । कथम् । यर इत्युच्यते । एतावन्तश्च

भी भेद रहेगा । द्विर होने पर कभी ( पाक्षिक लोप होने पर ) द्वियकारवाला, कभी ( लोपाभावा पक्ष में ) तीन यकार वाला । जब द्वित्व हुआ ही नहीं तो द्वियकारवाला एक ही रूप होता है । यह भेद कैसे न हो ? तभी जब हलो यमा— यह लोप नित्य हो । पर यह लोप विभाषा होता है । जिस प्रकार ( द्वित्व शास्त्र की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति में ) एक समान रूप रहे वैसे ही हो ।

( वा० ) हलो यमा— मैं ज्ञायो होऽन्यतरस्याम् ( ८।४।६२ ) से विभाषा ( अन्यतरस्याम् ) की अनुवृत्ति आती है । क्योंकि आचार्य शरोऽचि ( ८।४।४९ ) सूत्र में द्विर का प्रतिषेध करते हैं । यह ज्ञापक कैसे हुआ ।

( वा० ) उरर हगे यमा— लोप के नित्य होने पर शरोऽचि से द्विर प्रतिषेध करना व्यर्थ है ।

यदि लोप नित्य हो तो प्रतिषेध वचन (शरोऽचि) व्यर्थ हो जायगा । निषेध पचन न हो, द्विर हो, तो भी शरो शरि सवर्णे ( ८।४।५५ ) से द्विर से निषेध हुए एक यकार का (नित्य) लोप हो जायगा । पर आचार्य जानते हैं कि वह शरो शरि सवर्णे से विहित लोप पैदात्रिक है, अतः पूरा द्विर का प्रतिषेध करते हैं । यह कोई शायक नहीं । शरो शरि सवर्णे के लोप के नित्य होने पर भी वह प्रतिषेध (शरोऽचि) अवश्य कहना होगा । यह जो अचो रहाभ्याम् ( ८।४।४६ ) द्वित्व नाश है, यह लोप का अपवाद है । कैसे ? द्विर य् को कहा है । इतने ही तो पूरे हैं—यम् और

यरः। यदुत शरो वा यमो वा। यदि चात्र लोपः स्याद् द्विर्वचनमनर्थकं स्यात्। किन्तहिं तयोर्योगयोरुदाहरणम्। यदकृते द्विर्वचने त्रिव्यञ्जनः संयोगः— प्रसम्, अवत्तम्, आदित्यः। इहेदानीं सामर्थ्याल्लोपो न भवति, एवमिहापि लोपो न स्यात् कर्षति वर्षतीति। तस्मान्नित्येपि लोपेऽवश्यं स प्रतिषेधो वक्तव्यः। तदेतदत्यन्तं सन्दिग्धं वर्तत आचार्याणां विभाषाऽनुवर्तते न वेति।

लण् ॥६॥

अयं णकारो द्विरनुचध्यते पूर्वश्चैव परश्च। तत्राण्ग्रहणेऽपि ण्ग्रहणेपु च सन्देहो भवति पूर्वेण वा स्युः परेण चेति। कतमस्मिंस्तावदण्ग्रहणे सन्देहः, द्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः इति।

( असन्दिग्धम् )

असन्दिग्धं पूर्वेण न परेण। कुत एतत्।

सर्। यदि यहाँ ( द्वित्व होने पर ) लोप हो, तब द्वित्वविधान अनर्थक हो जायगा। तो इन शरो सरि, हलो यमा— इनका क्या उदाहरण है ? जहाँ द्वित्व किये बिना तीन व्यञ्जनों का समुदाय है, जैसे प्रत्तम् ( प्र दा तम्=प्रदत् तम् ), अवत्तम्, आदित्यः ( आदित् य्य )। कर्त्ता इत्ता में अचो रहाभ्यां द्वे द्वित्व विधान व्यर्थ मत हो इसलिये शरो सरि से लोप नहीं होता। जैसे द्विर सामर्थ्य से लोप नहीं होता, इसी प्रकार कर्षति वर्षति में भी लोप नहीं होगा। इसलिये लोप के नित्य होने पर भी शरोऽचि यह प्रतिषेध कहना पड़ेगा। तो यह अत्यन्त सन्दिग्ध है कि आचार्यों के मत में हलो यमा यमि लोरः, शरो सरि सवर्णे मे शयो होऽन्यतरस्याम् से विभाषा (=अन्यतरस्याम्) की अनुवृत्ति आती है अथवा नहीं।

लण् ॥ ६ ॥

यह णकार दो बार अनुबन्ध-रूप से आया है—पहले और पीछे। सूत्रों में जहाँ जहाँ अण् ग्रहण किया है अथवा इण् ग्रहण किया है वहाँ पूर्व णकार ( अ इ उ ण् इस सूत्र के णकार ) से प्रत्याहार समझना चाहिये अथवा परले णकार ( लण् सूत्र के णकार ) से।

कौन से अण्ग्रहण में सन्देह है ? द्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ( ६।३।१११ ) इससूत्र के अण् के विषय में।

( नि सन्देह )

नि.सन्देह यहाँ अण् पूर्व णकार से लिया जाता है परसे नहीं। यह क्योंकर ?

१. फिर भी आचार्यों के उपदेशपरम्पर्य से तथा वृत्तिकारों की सूत्रों पर रचित

पराभावात् ।

नहि द्रूलोपे परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—आवृद्ध आवृद्ध इति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्यादणग्रहणमनर्थकं स्यात् । 'द्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः' इत्येव ब्रूयात् । अथ वैतदपि न ब्रूयाद् अचो होतद्वयति—हस्यो दीर्घः प्लुत इति ।

अस्मिंस्तर्ह्यणग्रहणे सन्देहः—केऽणः इति । असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण । कुत एतन् । पराभावात् । नहि के परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—गोका मौकेति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्यादणग्रहणमनर्थकं स्यात् । केऽचः इत्येव ब्रूयात् । अथवैतदपि न ब्रूयात् । अचो होतद्वयति—हस्यो दीर्घः प्लुत इति ।

(वा०) पर अण् के न होने से ।

द्रूलोप होने पर परले अण् ( ऋ से लेकर ल तक ) होते ही नहीं । देखिये ( द्रूलोप होने पर ) आवृद्ध-आवृद्ध में क रूप पर अण् मिलता है । अच्छा, तो अण् ग्रहण-आमर्ष्य से हम जानते हैं कि यहाँ पूर्व ण् से अण् ग्रहण होता है, पर से नहीं । यदि परले से हो अण्-ग्रहण अनर्थक हो जाय । तब तो द्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः ऐसा ही कहे । अथवा अचः कहने को आवश्यकता नहीं । हस्य, दीर्घ, प्लुत अण् को ही तो होते हैं ( ये अण् मात्र के घर्म हैं ) ।

तो इस अण्-ग्रहण में सन्देह है केऽणः ( ७।४।१३ ) इति । निःसन्देह पूर्व ण् से ग्रहण होता है, परले से नहीं । कैसे जानें ? परले अण् के अविद्यमान होने से । व समाप्तान्त पर रहते परले अण् का संभव नहीं है । अतः यह देखिये गोका मौका में व पर रहते ओ-औरूप परला अण् मिलता है । अच्छा तो अण्-ग्रहण-सामर्ष्य से पूर्व ण् से अण् लिया जाएगा, पर से नहीं । यदि पर ण् से ग्रहण हो, तो अण् ग्रहण अनर्थक हो जाय । केऽन ऐसा ही कह दे । अथवा अच यह भी न कहे, हस्य, दीर्घ, प्लुत अण् को ही तो होते हैं ।

तृतीयो ने यह स्पष्ट जाना जाना है कि लोप में विभागा की अनुवृत्ति आती है । हलो यमां यमि हांय में भी और श्रो शरि सरणे में भी । इस लिये गर्भ्ययन्ता आदि में द्वित्व हुए यकार के लोपाभावात् में तीन यकारों के धरण के लिये अनुवृत्ति में अण्-ग्रहण करना आवश्यक है । यदि दो यकार वाग रूप ही अर्भट होता तो अण् ग्रहण न करके अनुवृत्तिगर्भस्य वाग्रययः इस प्रकार अण् ग्रहण ही पस्य था ।

१. यदि कहो अयोगान्वा (अगा उपानन् यस्याः सा) यह पर रहते परला



अस्मिंस्तर्ह्यग्रहणे सन्देहः—‘अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः’ इति । असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण । कुत एतत् । परमावात् । नहि पदान्ताः परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—कर्तृ हर्तृ इति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण,

तो इस अणग्रहण में सन्देह है—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक ( ८।४।५७ ) । नि सन्देह यहाँ पूर्व ण से अण् लिया जायेगा, परले से नहीं । कैसे जानें ? परले अण् न होने से । पदान्त परले अण् नहीं मिलते । अन्ती कर्तृ हर्तृ में पदान्त परला न-रूप अण् मिलता है । अच्छा तो अणग्रहण-सामर्थ्य से पूर्व णकार से अण् लिया जायगा,

अण् नह् का हकार संभव है । नहो घ. से उपानन् में हुए हकार के धकार को पूर्वनासिद्धीय होने से असिद्ध मान कर हकार मुनाई देगा । इन्हीं प्रकार गीष्वा ( गीरेव गीष्वा ) यहाँ गिर् का रेफ भी विसर्ग के असिद्ध होने से परला अण् क परे रहते संभव है, तो इसका उत्तर है—न मु ने में न इस योगविभाग से नहो घ., खरवमानयोः आदि के असिद्धत्व का निषेध हो जायगा तो उक्त प्रयोगों में परला अण् न मिलेगा ।

१. यदि कहो रुक्षं वृक्षतीति वृक्षवृद् । तमाचष्टे वृक्षव् । यहाँ णाविष्टवद्भाव से टिलोप होकर णिजन्त वृक्षवि शब्द सिद्ध हुआ, उससे विच् परे रहते णलोप होकर वृक्षव् यह रूप बनता है । इसमें परला अण् वकार पदान्त में संभव है । तो इसका उत्तर है अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः में अप्रगृह्यस्य इस पर्युदास से अच् रूप अण् को ही अनुनासिक होना माना जायगा, हल् रूप अण् को नहीं । क्योंकि प्रगृह्य सज्ञा अच् की ही होती है । वृक्षव् में वकार हल् रूप अण् है, अच् रूप नहीं है । इस लिये उभे अनुनासिक नहीं होगा । भाव्य का पदान्त अणों के अभाव में तात्पर्य नहीं, किन्तु अनुनासिक प्राप्ति योग्य पदान्त अण् नहीं मिलते इसमें तात्पर्य है । वृक्षवृद् इस क्तिवन्त से तदाचष्टे अर्थ में णिव् तथा टिलोप होकर वृक्षवि यह नामधातु बनता है । उससे कर्ता अर्थ में यदि विच् न करके क्तिप् करें तो कौ विधि प्रति न स्थानिवत् के वचन से णिलोप टिलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से वृक्षव् के वकार को अद्रिज्या० से सम्प्रसारण प्राप्त होता है । एषाश्च ह्यं लोपो व्योर्जलि से वक्रलोप भी प्राप्त होता है । विच् करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो सम्प्रसारण तथा वलोप दोनों ही रुक जाते हैं । वृक्षव् करोति इस सन्धि में हलि सर्वेषाम् ( ८।३।२२ ) से वकार का लोप करने में तो पूर्वनासिद्धे न स्थानिवत् से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से वकार का लोप प्राप्त होता है वह अण् ग्रहण की अनुवृत्ति करके रुक जाता है । उससे अश् प्रत्याहारान्तर्गत हल् परे रहते ही हलि सर्वेषाम् से वकार का लोप होगा । करोति का वकार अश् से बाध हल् है इस लिये वृक्षव् करोति में वकार का लोप नहीं होता ।

न परेण । यदि हि परेण स्याद् अण्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । अचोऽप्रगृह्यस्या-  
नुनासिक इत्येव ध्रूयात् । अथैतदपि न ध्रूयात् । अच एव हि प्रगृह्या  
भवन्ति ।

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—‘उरण् रपरः’ । असन्दिग्धं पूर्वेण, न  
परेण । कुत पतत् । पराभावात् । न ह्युः स्थाने परेऽणः सन्ति । ननु  
चायमस्ति कर्त्रर्थे हर्त्रर्थमिति । किं च स्याद्यद्यत्र रपरत्वं स्यात् । द्वयो  
रेफयोः श्रवणं प्रसज्येत । ‘हलो यमां यमि लोपः’ इत्येवमेकस्यात्र लोपो  
भविष्यतीति । विभाषा स लोपः, विभाषा श्रवणं प्रसज्येत । अयं तर्हि  
नित्यो लोपः ‘रो रि’ इति । पदान्तस्येत्येवं सः । न शस्यः स पदान्तस्ये-  
त्येवं विज्ञातुम् । इह हि लोपो न स्यात्—जर्गधेर्लङ् अजर्घाः, पास्पद्धेः  
अपास्पाः इति । इह तर्हि मातृणां पितृणामिति रपरत्वं प्रसज्यते । आचार्य-  
प्रवृत्तिर्ग्रापयति नान्न रपरत्वं भवतीति । यद्यम् ‘ऋत इद्धातोः’ इति धातु-  
ग्रहणं करोति । कथं कृत्वा क्षापयम् । धातुग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्—इह मा  
भूत् मातृणां पितृणामिति । यदि चात्र रपरत्वं स्याद्धातुग्रहणमनर्थकं स्यात् ।

परले से नहीं । यदि परले से ग्रहण हो अण् ग्रहण व्यर्थ हो जाय । अचोऽप्रगृह्यस्यानु-  
नासिकः ऐमा ही कहे । अवयव अच यह भी न कहे, अच् को ही उद्देश्य कर के प्रगृह्य  
संज्ञा विधान की गई है ।

तो हम अण्ग्रहण में सन्देह है—उरण् रपरः ( १।१।५१ ) । नि सन्देह  
पूर्व णरार से अण् लिया जायगा । परले से नहीं । यह क्योंकर ? परले अण्  
के न होने में ( न के स्थान में परले अण् मिलते ही नहीं ) । अजी कर्त्रर्थम्, हर्त्रर्थम्  
में ऐमा रूप अण् मिलता है । क्या हानि हो यदि यहीं रपर हो जाय । दो रेफ  
मुनाई देंगे । ( नहीं ) दूगे यमां यमि लोपः इस से एक का लोप हो जायगा ।  
यह लोप विभाषा है ( नित्य नहीं ), अतः पक्ष में ( दो रेफों का ) श्रवण प्रसक्त  
होगा । अण्डा ( दूगे यमां यमि—से लोप नहीं करेंगे किन्तु ) रो रि ( ८।३।१४ )  
जो नित्य विधि है, उस से लोप करेंगे । पर रो रि तो पदान्त रेफ का लोप विधान  
करता है । नहीं, ऐमा नहीं माना जा सकता । गृष् धातु के यद्गुरु के एट् एकार  
में और ररथ धातु के यद्गुरु के एट् में अजर्घा, अपास्पाः—ये रूप न बन सकेगे ।  
अण्डा तो मातृणाम्, पितृणाम्—यहीं रपर हो जायगा । ( नहीं होगा ) आचार्य की  
प्रवृत्ति ( स्पष्टार ) बतलाती है कि यहीं रपरर नहीं होता । कारण कि आचार्य  
दान इद्धातो ( ७।१।१०० ) इस सूत्र में धातु ग्रहण करते हैं । कैसे शारक हुआ ?  
धातु ग्रहण का यही प्रयोजन है कि मातृणां पितृणाम् में रपरर न हो । यदि यहीं भी  
रपरर हो जाय, धातुग्रहण व्यर्थ हो जाय । कारण कि रपरर होने पर (मातृर) न भन्त्य  
न रहा, तो हार प्राप्त ही न हों । आचार्य जानते हैं कि यहीं ( धातु के अवयव

रपरत्वे कृतेऽनन्त्यत्वादित्वं न भविष्यति । पश्यति त्वाचार्यो नात्र रपरत्वं भवतीति, ततो धातुग्रहणं करोति । इहापि तर्हि न प्राप्नोति चिकीर्षति, जिहीर्षतीति । मा भूदेवम् । 'उपधायाश्च' इत्येवं भविष्यति । इहापि तर्हि प्राप्नोति मातृणां पितृणामिति । तस्मात्तत्र धातुग्रहणं कर्तव्यम् । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि परेण स्यादणग्रहणमनर्थकं स्यात्, उरज्जपर इत्येव ब्रूयात् ।

अस्मिन्स्तराणग्रहणे सन्देहः—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इति । असन्दिग्धं परेण, न पूर्वेण । कुत एतत् ।

सवर्णेऽण् तु परं ब्रूयत् ।

यद्यम् उर्कत् इत्यृकारे तपरकरणं करोति । तज्ज्ञापयत्याचार्यः परेण, न पूर्वेणेति ।

इणग्रहणेऽपि तर्हि सन्देहः । असन्दिग्धं परेण, न पूर्वेण । कुत एतत् ।

अकार को दीर्घ करते समय ) रपरत्व नहीं होता, अतः धातु ग्रहण करते हैं । तो यहाँ भी—ह, ह से सन् प्रत्यय पर रहते ऋ को दीर्घ रपर ऋ होने पर इत्व की प्राप्ति न रहेगी । श्रुतइदानीः से इत्व न हो, उपधायाश्च ( ७१११०१ ) इस सूत्र से इत्व हो जायगा । तो इसी सूत्र से मतृणाम् पितृणाम् में ( रपर दीर्घ होने पर ) भी उपधा को इत्व होने लगेगा । इसलिये श्रुत इदानीः में धातु ग्रहण सम्प्रयोजन होने से करना ही होगा ( सो यह ज्ञापक न हुआ ) । इसलिये प्रकृत अणग्रहण पूर्व ण् से होगा, परले ण् से नहीं । यदि परले ण् से हो तो अण् ग्रहण व्यर्थ हो जाय, उरच् रपरः ऐसा ही पढ़ दैते ।

अच्छा तो इस अण् ग्रहण में सन्देह है—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ( ११११११ ) । नि सन्देह परले ण् से अण् लिया जायगा, पूर्व से नहीं । यह कैसे ?

( वा० ) अणुदित्सवर्णस्य सूत्र में अण् परले णकार से लिया जाता है पूर्व से नहीं इसमें उर्कत् इस सूत्र में जो तपर किया है वह ज्ञापक है ।

आचार्य जो उर्कत् ( ७४१७ ) ऋ के स्थान में ऋ का विधान करते हुए उसे तपर करते हैं इससे ज्ञापित करते हैं कि अण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है पहले से नहीं ।

तो इण् ग्रहण में सन्देह है । नि-सन्देह इण् परले णकार से लिया जाता है, पूर्व से नहीं । यह कैसे ?

१. उर्कत् ( ७४१७ ) इस सूत्र में तपर इस लिये किया है कि अचीकृतत् में ऋकार के स्थान में ऋकार ही हो । दीर्घ ऋकार न हो । यदि पूर्व णकार से अण् ग्रहण हो तो ऋकार ऋ नहीं, अतः भिन्न काल ( ऋ ) का ग्राहक नहीं होगा ।

योरन्यत्र परेणैः स्यात् ।

यत्रेच्छति पूर्वैण, संमृद्य ग्रहणं तत्र करोति-य्योरिति । तच्च गुरु भवति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । तत्र विभक्तिनिर्देशे संमृद्य ग्रहणे चार्द्धचतस्रो मात्राः । प्रत्याहारग्रहणे पुनस्तिस्रो मात्राः । सोऽयमेवं लघ्यायसा न्यासेन सिद्धे सति यद् गरीयांसं यत्नमारभते तज्ज्ञापयत्याचार्यः परेण, न पूर्वणेति ।

किं पुनर्वर्णोत्सत्ताविधायं णकारो द्विरनुबध्यते ।

व्याख्यानाच्च द्विरुक्तिः ।

एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा—व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति । अनुदित्सवर्णस्य इत्येतत्परिहाय पूर्वैणाण्ग्रहणम्, परेणैः ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ।

(वा०) इ का संमर्दन ( यणादेश से निवृत्ति ) करके जहाँ इकार उकार का ग्रहण किया है जैसे अयि शुषातुभ्रुवो य्योः ( ६।४।७७ ) सूत्र में, उसे छोड़कर अन्यत्र सब स्थलों में इण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है ।

जहाँ आचार्य चाहते हैं कि पूर्व णकार से इण् प्रत्याहार लिया जाय वहाँ ये इण् का ग्रहण न करके इ को यणादेश करके य्योः ऐसा निर्देश करते हैं । यह निर्देश गुप्त होता है । यह ज्ञापक कैसे होता है ? यणादेश करके विभक्तिसहित य्योः ऐसा उच्चारण करने पर ३३ मात्राएँ होती हैं । प्रत्याहार ( विभक्ति सहित ) इण्. उच्चारण में ३ मात्राएँ होती हैं । आचार्य जो लघु न्यास ( मात्रा-ग्रन्थारमक ) से कार्य सिद्ध होने पर गुरुतर न्यास ( ३३ मात्रारमक ) करते हैं इससे यह जतलाते हैं कि इण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है, पूर्व से नहीं ।

प्रत्याहार सूत्रों में यह ण् क्यों दो बार लगाया गया है ? क्या दूसरा वर्ण लगाने की नही रहा था ?

(वा०) णकार का दो बार उच्चारण होने से ( परम्परा प्राप्त ) व्याख्यान से शब्द ( शण्, इण् ) शक्ति का निश्चय होगा ।

ण् रूप अनुबध्य दो बार लगाने से आचार्य यह ज्ञापन करना चाहते हैं कि यह परिभाषा ऐसी है—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् अर्थात् ( सन्देह होने पर ) व्याख्यान से एककोटिक निश्चयारमक ज्ञान हो जाता है, सन्देह मात्र में लक्षण ( = नास्त्र ) अलक्षण ( अननुदापक ) नहीं हो जाता । हम ऐसा व्याख्यान करेंगे कि अनुदित्सवर्णस्य चाग्रन्थयः इस एक को त्वर होने से श्रृंखला के न तो ग्यमनी होने का कोई प्रमाण है, न आदेश । वृत्ति त्वर ( श्रा ) किया है, यह ज्ञापक हुआ कि अण् परले णकार से लिया जाता है ।

# अमहणनम् ॥७॥ शमन् ॥८॥

किमर्थमिमो मुखनासिकावचनावुभावनुवध्येते, न अकार एवानु-  
यध्येत । कथं यानि मकारेण ग्रहणानि, सन्तु अकारेण । कथं—‘हलो यमां  
यमि लोपः’ इति । अस्तु अकारेण । हलो यजां यजि लोपः इति ।  
नैवं शक्यम् । झकारभकारपरयोरेपि झकारभकारयोर्लोपः प्रसज्येत ।  
न झकारभकारो झकारभकारयोः स्तः । कथं—पुमः खय्यम्परे इति । एतद्-  
प्यस्तु अकारेण ‘पुमः खय्यम्परे’ इति । नैवं शक्यम् । झकारभकारपरेऽपि  
हि खयि रुः प्रसज्येत । न झकारभकारपरः खयस्ति । कथं—‘उमो हस्यादचि  
उमुणित्यम्’ इति । एतदप्यस्तु अकारेण ‘उमो हस्यादचि उमुणित्यम्’  
इति । नैवं शक्यम् । झकारभकारयोरेपि हि पदान्तयोर्झकारभकारावागमो  
स्याताम् । न झकारभकारौ पदान्तो स्तः । एवमपि पञ्चागमाश्चय आगमिनो

छोड़कर अण् प्रत्याहार पूर्व णकार से लिया जाता है और इण् परले णकार से ही ।

## अमहणनम् ॥ ७ ॥ शमन् ॥ ८ ॥

क्या कारण है कि यहाँ दो अनुनासिक स्, ज् अनुबन्ध रूप से पड़े हैं ? क्या  
एक ही अकार अनुबन्ध से काम न चलेगा ? जिन प्रत्याहारों में मकार अनुबन्ध है  
वहाँ कैसे होगा ? वहाँ भी मकार के स्थान में अकार अनुबन्ध रहे । उदाहरण—हलो  
यमा यमि लोपः यहाँ मकार प्रत्याहार—सम्पादक अनुबन्ध है, अब हम के हृद जाने से  
शास्त्र कैसे प्रवृत्त होगा ? अकार अनुबन्ध लगा देंगे और हलो यमां यजि लोपः ऐसे  
पढ़ेंगे । ऐसा नहीं हो सकता । ॥ भ पर रहते भी पूर्व झ भ का लोप होने लगेगा ।

( नहीं यह कीई दोष नहीं ) झ भ परक झ भ है ही नहीं । अच्छा पुनः  
खय्यम्परे ( ८।३।९ ) यहाँ मकारानुबन्ध से अण् प्रत्याहार पड़ा है, यहाँ कैम इष्ट  
कार्य होगा ? यहाँ भी म् के स्थान में न् अनुबन्ध लगा देंगे । और सूत्र को पुनः  
खय्यम्परे ऐसे पढ़ेंगे । ऐसा नहीं हो सकता । झकारभकार परक खय् होने पर भी पूर्व  
पुम् के स् को रु होने लगेगा । ( यह कोई दोष नहीं ) । झकारभकार—परक  
खय् मिलता ही नहीं । अच्छा तो उमो हस्यादचि उमुणित्यम् ( ८।३।३२ ) । यहाँ  
कैम होगा ? इसे भी अकार अनुबन्ध से पढ़ देंगे और सूत्र का रूप होगा—उमो हस्या-  
दचि उमुन् नियम् । ऐसा नहीं हो सकता । पदान्त झकारभकार को क्रम से अकार  
भकार आगम होने लगेंगे । ( यह कोई दोष नहीं ) पदान्त झकार भकार मिलते ही  
नहीं । ऐसी अवस्था में भी ( लक्ष्यसंस्कार वेला में ) आगम पांच ( ड म ण श भ )

१. झ भ को पदान्त में जश् हो जाने से तदभाव प्रसिद्ध ही है । रहा उज्ज् का  
झ, उसका संयोजन लोपः से लोप हो जाता है ।

वैषम्यात्मइत्यातानुदेशो न प्राप्नोति । सन्तु तावद्येषामागमानामागमिनः  
सन्ति । अकारभकारौ पदान्तौ न स्त इति कृत्वाऽऽगमावपि न भविष्यतः ।

अथ किमिदमक्षरमिति ।

अक्षर नक्षर<sup>१</sup> विधात् ।

न क्षीयते न क्षरतीति चाऽक्षरम् ।

अद्वनोतेर्वा सराऽक्षरम् ।

अद्वनोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन्प्रत्ययः । अद्वनुत इत्यक्षरम् ।

वर्णं बाहु पूर्णसूत्रे

अथवा पूर्णसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा नियते ।

किमर्थमुपदिश्यते

होगे और आगमी केवल तीन ( ४ म ण ), सो सङ्ख्या-विषमता के कारण सङ्ख्या-  
तानुदेश न होगा । ( अर्थात् तीन आगमियों में प्रत्येक को पाँच आगम होंगे । यह  
घोई दोष नहीं ) । जिन आगमों के आगमी हैं उन्हें वे हो जाएँ, अकार भकार  
पदान्त हैं ही नहीं उनके आगम भी नहीं होंगे ।

अब यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि अक्षर किसे कहते हैं ?

( या० ) अक्षर को नक्षर समझे । अथवा जो क्षीण नहीं होता अथवा जो  
अपने स्वरूप में प्रच्युत नहीं होता, उसे अक्षर कहते हैं ।

अद्य ( व्याप्यधक ) से औणादिक सरन् प्रत्यय किया गया है, जो व्याप्त  
होता है ।

पूर्ण सूत्र ( पूर्वाचार्यों के व्याकरण ) में वर्ण की अक्षर संज्ञा की गई है ।

या० अक्षर ( वर्णों ) का किस लिये उपदेश किया है ?

१ द्ग प्रकार भाष्यकार ने मकार अनुबन्ध का सङ्केत कर दिया है ।

२ भाष्य में अक्षर समाध्याय द्वा शब्द का व्यवहार हुआ है, यो वा द्मां  
स्वरशोऽक्षरश द्वादि प्रयोजन-परक भाष्य में अक्षर शब्द का, आः तदर्धबोध के  
लिए प्रयुक्त प्रयुक्त है ।

३ अक्षर यह नियामक है, चाहे क्षि क्षये से व्युत्पन्न माना जाय चाहे क्षर  
संज्ञा से । परमार्थ रूप में द्रष्टव्य ही अक्षर ( अविनाशी ) है । वर्णरदरास्य-रूप  
गणित अथवा तानि गणित की तो व्यावहारिकी नियता है । सभी शब्दों का आकारादि  
की नगद गृहित के आदि में उगति और प्रत्यय में विनाश होता है ।

४. अद्य व्याप्य—द्ग धातु में औणादिक सरन् प्रत्यय में अक्षर शब्द निगम  
होता है । अर्थमन्तु व्याप्योऽक्षरम् ।

अथ किमर्थमुपदेशः क्रियते ।

वर्णज्ञान वाग्निषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।

तदर्थमिष्टबुद्धयर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते ॥

सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारक-  
यत्प्रतिमण्डितो वेदितज्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलायासिद्भास्य हाने  
भवति, मातापितरो चास्य स्वर्गे लोके मर्हियेते ॥

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिरिचिते व्याकरणमहाभाष्ये

प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे

द्वितीयमाहिरुम ॥

( उत्तर ) वा० — यह अक्षर सामान्याय निससे वर्ण जाने जाते हैं (चो वर्णों  
का ज्ञापक है), जो वाणी का बन्धन (प्रतिपादक) है, निसमें ब्रह्म (=वेद) स्थित  
है उस (शास्त्र) की प्रवृत्ति के लिये, (इष्टबुद्धयर्थ) कलादिदोष रहित वर्णज्ञान के  
लिये, (लघ्वर्थ) अनुबन्धकरण के लिये उपदेश किया गया है ।

सो यह अक्षर-सामान्य (वाक्समाम्नाय) वाणी के सद्ग्रह का उपाय है ।  
इसे पु०प (दृष्टफल) युक्त, फल (अदृष्टफल) युक्त, चन्द्र और तारों की तरह  
स्वलङ्घृत ब्रह्मतत्त्व ही शब्दरूपतया भासमान समझना चाहिये । इसके परिज्ञान से  
सर्ववेदाध्ययन-लभ्य पुण्य फल की प्राप्ति होती है, इसके ज्ञाता के माता पिता (भी)  
स्वर्गलोक में सम्मान के पात्र होते हैं ॥

१ चतुर्दशसूत्री-रूप ( माहेश्वर सूत्र नाम से प्रसिद्ध ) और तन्मूलक  
भगवत्पाणिनिकृत अष्टाध्यायी शास्त्र ।

## तृतीय आह्निक का संक्षिप्त सार

इम आह्निक मे वृद्धिरादैच् ॥११११॥ इम सूत्र से लेकर इको गुणवृद्धी ॥१११३॥ इम सूत्र नर विभिन्न विषयों पर दृष्टान्तनाशन महिन विचार किया है। क्रमशः प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

वृद्धिरादैच्— १ वृद्धिरादैच् में चो कु. से प्राप्त कुत्व का समाधान किया है, तथा उद्गायित अनूदायित सभी आदैचों की वृद्धि संज्ञा स्वीकार की है।

२ गणधिसार का प्रयोजन बताकर उसका गण्डन किया है। संज्ञा संज्ञी के अगन्देश को भी युक्ति प्रमाणों से सिद्ध किया है।

३ वृद्धिरादैच के वृद्धि शब्द को महत्त्वार्थ मानते हुए वृद्धि संज्ञा से प्राप्त शोभनराश्रय शेष का समाधान किया है।

४ 'प्रत्यय' शब्द के अना भी आ ऐ औ इनमें प्रत्येक की वृद्धि संज्ञा सिद्ध करने आदैच में नगरपरण ऐच् के लिये सिद्ध किया है।

इको गुणवृद्धी— १ इन् ग्रहण का प्रयोजन बताकर सूत्र को सार्थक सिद्ध किया है।

२ गुण, वृद्धि शब्दों से विहित गुणवृद्धि में ही इन् परिभाषा की उपस्थिति माना है।

३ इन् परिभाषा को अगेन्यपरिभाषा का शेष अथवा अगेन्य का अपवाद दोनों ही न मानकर स्वतन्त्र परिभाषा स्वीकार किया है। उगते अनिश्चित गुण, वृद्धि के स्थानियों में इन् पद की उपस्थिति होती है यह सिद्धान्त व्यनश्यत किया है। पञ्चान्तर में अगेन्यशेष में प्राप्त शेषों का समाधान भी किया है।

४ वृद्धि षट् का प्रयोजन बताते हुए अतो हलादेशेषो में अठार ग्रहण से सिन्यन्तरक्त नानि यह स्पष्ट किया है।

५ इन् परिभाषा को स्वतन्त्र विधि न मान कर विधिशेषभूत सिद्ध किया।



## अथ तृतीयमाह्निकम् ।

बृद्धिरादैच् ॥ (१।१।१) ॥

कुत्वं कस्मान्न भवति चोः कुः पदस्य इति । भत्वात् । कथं भसंज्ञा । अयस्मयादीनि छन्दसि इति । छन्दसीत्युच्यते, न चेद छन्दः । छन्दो-  
घत्सूत्राणि भवन्ति । यदि भसंज्ञा, “बृद्धिरादैजदेङ् गुणः” इति जइत्यमपि  
न प्राप्नोति । उभयसहान्यपि छन्दसि दृश्यन्ते । तद्यथा ‘स सुष्ठुभा स  
ऋक्वता गणेन’ पदस्यात्कुत्वंम् । भत्वाज्जश्च न भवति । एधमिहापि  
पदत्वाज्जश्च भत्वात्कुत्वं न भविष्यति ।

किं पुनरिदं तद्भाविताग्रहणम्—बृद्धिरित्येव ये आकारेकारौसरा

बृद्धिरादैच् (१।१।१) इस सूत्र में पदान्त्र च् को चो वृ ( ८।१।३० ) सूत्र से  
कवगांद्वा क्यों नहीं हुआ ?

भसंज्ञा होने से ।

भसंज्ञा कैसे (हुई) ?

अयस्मयादीनि छन्दसि (१।१।००) इस सूत्र से ।

पर यहाँ तो छन्दोविषय में यह भसंज्ञा विधि है ऐसा कहा है, और यह  
(ग्रहणसूत्र) छन्द (वेद) नहीं है ।

यदि भसंज्ञा मानकर ( कुत्वं का धारण करते हो ) तो बृद्धिरादैजदेङ् गुण  
ऐसा सहितापाठ में जश्च ( चकार के स्थान ज ) भी न हो सकेगा ।

छन्दों में एक-साथ दोना सज्ञाये देखी जाती हैं । जैसे—म सुष्ठुभा स ऋक्वता  
गणेन—यहाँ ऋक्वता में पदसंज्ञा होने से ऋच् के च् को कुत्वं हो गया, पर साथ  
ही भसंज्ञा होने से जश्च ( क्को ग् ) न हुआ । इसी प्रकार यहाँ भी ( सूत्र में भी )  
पदसंज्ञा मानकर जश्च हो गया, पर भसंज्ञा मानकर कुत्वं न होगा ।

अब यह विचार है कि सूत्र में तद्भाविता का ग्रहण है अर्थात् बृद्धि शब्द  
उच्चारण कर के जो आकार, ऐकार, औकार भावित ( विहित, उत्पादित ) होते हैं

१ सूत्र में आदैच् मात्र का ही ग्रहण प्रतीत होता है, जब यह प्रश्न अनुपपन्न  
है । नहीं । शास्त्र में पञ्चद्वय के देखे जाने में प्रश्न युक्त ही है । लुगादि सज्ञाओं में

भान्यन्ते, तेषां ग्रहणम्, आहोम्बिदादेऽन्मात्रस्य । किं चातः । यदि तद्भाषित-  
ग्रहणं शालीयो मालीय इति घृद्धलक्षणद्वयो न प्राप्नोति । आश्रमयम्, शाल-  
मयम्, घृद्धलक्षणो मयन् प्राप्नोति । आश्रगुप्तायनिः, शालगुप्तायनिः,  
घृद्धलक्षणः किन् न प्राप्नोति ।

अर्थादेऽन्मात्रस्य ग्रहणम्, सर्वो भासः सर्वभास इति 'उत्तरपदवृद्धौ  
सर्वे च' इत्येष विधिः प्राप्नोति । इह च तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः,  
यावद्भार्यः "वृद्धिनिमित्तस्य—" इति पुनर्द्भावप्रतिषेधः प्राप्नोति । अस्तु  
तर्हि अर्थादेऽन्मात्रस्य ग्रहणम् । ननु चोक्तम्—सर्वो भासः सर्वभासः इत्यु-  
"उत्तरपदवृद्धौ सर्वे च" इत्येष विधिः प्राप्नोतीति । नैव दोषः । नैव  
उन का प्रश्न है, भवता जो भी कोई आकार, ऐकार, औकार है। उन सबका ?  
इसमें क्या ?

यदि तद्भाषिता का ग्रहण है तो शालीय, मालीय—यहाँ वृद्धाच्छ  
(४।२।१४) इस सूत्र में छत्रपत्र की प्राप्ति ही नहीं। आश्रमयम्, शालमयम्—  
यहाँ अन्य वृद्धाच्छ (४।३।१४८) से वृद्धमज्ञा को निमित्त मान कर होनेवाला  
विकार और अवसर अर्थ में विहित मयट् न हो सकेगा। आश्रगुप्तायनि, शालगुप्ता-  
यनि, यहाँ 'उदात्ता वृद्धादगोत्रान्' (४।३।१५७) में (अपत्यार्थ में) किन् न हो  
सकेगा। (आश्रगुप्तायनस्य आश्रगुप्तायनि ।

यदि को कि यहाँ आकार, ऐकार, औकार मात्र (तद्भाषित हों अथवा  
भाष्यभाषित) का ग्रहण है, तो सर्वो भासः सर्वभासः यहाँ (कर्मधारय सत्पुरुष  
समास में) उत्तरपद में वृद्धिमज्जक आकार होने में उत्तरपदवृद्धौ सर्वे च (४।२।१०५)  
में सर्वपद अन्तोदात्त हो जायगा। और तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः, यावद्-  
भार्य—यहाँ वृद्धिनिमित्तस्य च न वृद्धिमज्जकविरागि (४।३।३९) से [आ-  
गर्गनाम (४।३।१) में भार्य आकार की भी वृद्धिसंज्ञा होने से और उसके साथ में  
तद्विहित प्रत्यय अनुप की निमित्तता में] पुनर्द्भाव निषेध प्राप्त होता है।

अच्छ । यदि तद्भाषित पक्ष में दिये हुए दूषणों का उद्धार नहीं हो सकता)  
तो आकार, ऐकार औकार मात्र का ग्रहण नहीं, (इसमें क्या हानि है ?) ।

अभी अभी कहा गया है कि कर्मधारय सत्पुरुष सर्वभासः में 'उत्तरपदवृद्धौ  
सर्वे च' (४।२।१००) से सर्व पद अन्तोदात्त हो जायगा ।

यदि कोई दोष नहीं । उत्तरपदवृद्धौ इस पद का उत्तरपद की वृद्धि होने पर  
तद्भाषित पक्ष का प्रश्न है और तावती भार्या ने अर्धम मात्र का ग्रहण है। सूत्र में  
वृद्धि करने का प्रश्न है क्या मानकर, इसकी आहूति सर्वत्र पर अपना एकदोष  
अर्धम मात्र तद्भाषित भाष्य का ग्रहण होता है। उस अवस्था में एक वृद्धि सत्प-  
दवृद्धौ भाष्य का विशेष उदाहरण जो दूषण मेलाकर ।

विज्ञायते—उत्तरपदस्य वृद्धिरुत्तरपदवृद्धिरुत्तरपदवृद्धाविति । कथं तर्हि ।  
“उत्तरपदस्य” इत्येवं प्रकृत्य या वृद्धिस्तद्वत्पुत्तरपदे, इत्येवमेतद्विज्ञायते ।  
अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । तद्भावितग्रहणे सत्यपीह प्रसज्येत—सर्वः कारक  
सर्वकारक इति ।

यदप्युच्यते—इह तावती भार्या यस्य तावद्भार्य, यावद्भार्य इति च  
“वृद्धिनिमित्तस्य—” इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोतीति । नेय दोषः । नेय  
विज्ञायते—वृद्धेर्निमित्तं वृद्धिनिमित्तं वृद्धिनिमित्तस्येति । कथं तर्हि । वृद्धे  
निमित्तं यस्मिन्सोऽयं वृद्धिनिमित्तं, वृद्धिनिमित्तस्येति । किं च वृद्धेर्नि-  
मित्तम् । योऽसौ ककारो जकारो णकारो वा । अथवा यः कृत्स्नाया वृद्धे-  
र्निमित्तम् । कश्च कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम् । यस्त्रयणाभाकारेकारौ  
कारणाम् ।

संज्ञाधिकार संज्ञामप्रत्ययार्थ ॥

“अथ संज्ञा” इत्येवं प्रकृत्य वृद्ध्यादयः शब्दाः पठितव्याः । किं

ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिये, किन्तु उत्तरपदस्य ( अ३।१० ) इस अधिकार  
में जो वृद्धि विधान की गई हो तत्पुनः उत्तरपद पर होने पर, ऐसा अर्थ है । और  
अवश्य ऐसा ही अर्थ मानना होगा । कारण कि तद्भावित आ के ग्रहण करने पर  
भी सर्वकारकः इस तत्पुरुष समास में भी ( जहाँ शरक में वृ के ऋ को अचोऽङिति  
से वृद्धि होकर आ हुआ है ) उक्त मूल से सर्व शब्द अन्तोदात्त हो जायगा ।

और जो यह कहा है कि तावद्भार्य, यावद्भार्य में ( तद्भावित ग्रहण न  
करने पर ) वृद्धिनिमित्तस्य—इस सूत्र से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त होता है,  
सो यह भी कोई दोष नहीं । वृद्धिनिमित्तस्य इस पद का वृद्धिरा निमित्त, उसका  
ऐसा अर्थ नहीं, किन्तु वृद्धि का निमित्त जिसमें है, उसका ऐसा अर्थ है ।

फिर वृद्धि का निमित्त है क्या ?

जो (इत्सङ्ग) प्रसिद्ध क्, ज्, ण् । अथवा जो सबल वृद्धि का निमित्त हो ।

सकल वृद्धि का कौन सा निमित्त है ?

जो तीनों अर्थात् आकार, ऐकार, औकार का निमित्त हो ।

(वा०) संज्ञा का अधिकार करना चाहिये संज्ञा के बोध के लिए । अथ संज्ञा  
अथ संज्ञा—विधान का प्रारम्भ होता है—ऐसा कह कर वृद्धि आदि संज्ञा शब्दों

१ निमित्त शब्द के उपादान से ही यहाँ व्यधिकरण बहुव्रीहि लिया जाना है,  
अन्यथा वृद्धेस्तद्वितस्य ऐसा ही कहे, वृद्धि का निमित्त होने से तद्वित को वृद्धि कह दिया  
जायगा । ( जैसे आयुर्वे घृतम् में आयु का निमित्त होने से घृत को आयु कह दिया है )

२ अथवा वृद्धीनां निमित्तम्—ऐसा विग्रह समझना चाहिये । व्यधिकरण  
बहुव्रीहि की अपेक्ष तत्पुरुष मानने में लाघव भी है ।

प्रयोजनम् । सज्ञासम्प्रत्ययार्थः । वृद्ध्यादीनां शब्दानां सज्ञा इत्येष सम्प्रत्ययो यथा स्यात् ।

इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोके ॥

अक्रियमाणे हि सज्ञाधिकारे वृद्ध्यादीनां सज्ञेत्येष सम्प्रत्ययो न स्यात् । इदमिदानीं बहुसूत्रमनर्थकं स्यात् । अनर्थकमित्याह । कथम् । यथा लोके । लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते । अर्थवन्ति तावत्—देवदत्त गामभ्याज शुक्ला दण्डेन, देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम् इति । अनर्थकानि—दश दाडिमानि पड़पूपा कुण्डमज्जिन पलालपिण्ड, अधरोरुफमेतत्कुमार्या स्फेयवृतस्य पिता प्रतिशीन इति ।

सज्ञासंज्ञसन्दर्भश्च ॥

क्रियमाणेऽपि सज्ञाधिकारे सज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः । कुतो ह्यतत्—वृद्धिशब्दः सज्ञा, आदैश्च संज्ञिन इति । न पुनरादैश्च सज्ञा, वृद्धिशब्दः संज्ञीति ।

को पदना चाहिय ।

क्या प्रयाजन है ?

सज्ञाभो क बोध क लिय । वृद्धि आदि शब्दा क विषय मे य सज्ञाएँ हैं ऐसा बोध हो सक इस लिय ।

(वा०) नहा तो ऐसा बोध न हो सकगा जिस लोक में ।

यदि सज्ञाधिकारः ॥ किया जाय तो वृद्धि आदि शब्द सज्ञाएँ हैं ऐसा बोध न हागा । ऐसा होने पर बहुत स सूत्र अनर्थक हो जायगा । यह जो आप अनर्थक कहते हैं सो कैसे ? जिस लोक में । लोक में दोनों प्रकार क वाक्य दख जात हैं—सार्थक और अनर्थक । पहले सार्थकों को लीजिय—देवदत्त गामभ्याज शुक्ला दण्डेन ( देवदत्त सफेद गौ को डंड ॥ हाको) देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम् (देवदत्त काली गौ को हाको) । अनर्थक त्रय—दस दाडिम (दाड़ू), छ अपूप (पूप) कण्ड बकरी का चाम, फल गृन्थ काण्डा का समूह, कमारी का यह लहगा स्फेयवृत का पिता प्रतिश्याय युक्त है ।

(वा०) सज्ञा और संज्ञी का असदिग्धरूप से निदर्श हाता चाहिये ।

सज्ञा अधिकार क किये जाने पर भी यह सज्ञा है यह संज्ञी है इसका विस्पष्ट रूप स कथन होना चाहिय । क्या कारण है कि वृद्धि शब्द सज्ञा हो और आदैश्च संज्ञी हों ? आदैश्च सज्ञा और वृद्धि शब्द संज्ञी क्या न हो ?

यत्तावदुच्यते—संज्ञाधिकारः कर्तव्यः संज्ञासम्प्रत्ययार्थ इति, न कर्तव्यः ।

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिः ॥

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिर्भविष्यति । किमिदमाचार्याचारादिति । आचार्याणामुपचारात् ।

यथा लौकिकवैदिकेषु ॥

तद्यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु । लोके तावत् मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवकाशे नाम कुर्याते देवदत्तो यज्ञदत्त इति । तयो-  
रुपचारादन्येपि जानन्ति इयमस्य सजेति । वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति—  
स्मृत्यो यूषदचपाल इति । तत्र भवतामुपचारादन्येऽपि जानन्ति इयमस्य  
संज्ञेति । एवमिहापि—इहैव तावत्केचिद् व्याचक्षाणा आहुः वृद्धिशब्दः  
संज्ञा, आदौचः संज्ञिन इति । अपरे पुनः 'सिचि वृद्धिः' इत्युन्त्वाऽऽकारे-  
कारौकारानुदाहरन्ति । तेन मन्यामहे यया प्रत्याप्यन्ते सा संज्ञा, ये  
प्रतीयन्ते ते संज्ञिन इति ।

यदप्युच्यते—क्रियमाणेपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो

यह जो कहा गया है कि संज्ञाधिकार करना चाहिये संज्ञाओं के बोध के  
लिये । इसके करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

( वा ) आचार्यों के व्यवहार से संज्ञा की सिद्धि हो जायगी ।

आचार्यों के आचार से संज्ञा-सिद्धि हो जायगी ।

आचार्याचार से क्या अभिप्राय है ?

आचार्यों ( वृत्तिकारों ) का व्यवहार ।

( वा० ) जैसे लौकिक व वैदिक व्यवहारों में ।

जैसे लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में ( संज्ञा जानी जाती है ) । लोक में  
देखते हैं कि माता पिता नवजात पुत्र का गुहा स्थान ( घर के भीतर में देवदत्त,  
यज्ञदत्त इत्यादि नाम धरते हैं उन के व्यवहार से दूसरे लोग भी जानते हैं कि यह  
उस बालक की संज्ञा है । वेद में याज्ञिक ( यज्ञकाण्ड के उष्टा ऋषि ) यज्ञोपकरणों के  
रुन्नी, यूप, चपाले इत्यादि नाम धरते हैं । उन पूज्यों के व्यवहार से दूसरे भी जानते  
हैं कि यह उस-उस पदार्थ की संज्ञा है । इस से हम जानते हैं कि जिस शब्द से  
पदार्थों का प्रत्यायन किया जाता है वह संज्ञा है, जो प्रतीय होते हैं वे संज्ञी हैं ।

जो यह कहा गया है कि संज्ञाधिकार करने पर भी संज्ञा और संज्ञी का

१. खर का बना हुआ यज्ञ सन्ध यज्ञसाधन ।

२. छील तराश कर बनाया हुआ यज्ञियपशुबन्धन-काष्ठ ।

३. यूप के अग्र भाग में स्थापित यूप-बल्य-नामक काष्ठ ।

वक्तव्य इति ।

सज्ञासङ्घसन्देहश्च ॥

सज्ञासङ्घिनोरसन्देहः सिद्धः । कुतः । आचार्याचारादेव । उक्त  
आचार्याचारः ।

अनाकृति ॥

अथवाऽनाकृतिः सज्ञा, आकृतिमन्तः सङ्घिनः । लोकेऽपि ह्याकृतिमतो  
मांसपिण्डस्य देवदत्त इति सज्ञा क्रियते ।

लिङ्गेन वा ॥

अथवा किञ्चिल्लिङ्गमासज्यं वक्ष्यामि इत्यलिङ्गा सङ्घेति । वृद्धि-  
शब्दे च तल्लिङ्गं करिष्यते, नादेच्छब्दे ।

इदं तावदयुक्तं यदुच्यते—आचार्याचारादिति । किमत्रायुक्तम् ।  
तमेधोपालभ्य अगमकं ते सूत्रम् इति, तस्यैव पुनः प्रमाणीकरणमित्येतद-

रूप से निर्देश करना चाहिये ।

( वा० ) सज्ञा और सङ्घिका असन्देह ( विवेक ) सिद्ध ही है । कैसे ?  
आचार्यों के आचार से । आचार्यों का आचार क्या चीज है यह पहले बता चुके हैं ।

( वा० ) अनाकृति ( आकृतिरहित ) ।

अथवा आकृति रहित शब्द सज्ञा है और आकृति वाले शब्द सङ्घी हैं ।  
लोक में भी आकृति वाले मांसपिण्ड की 'देवदत्त' यह सज्ञा की जाती है ।

( वा० ) अथवा लिङ्ग ( चिह्न ) से ।

अथवा कुछ चिह्न लगा कर कहूँगा इस प्रकार के चिह्न वाला सज्ञा शब्द  
है । 'वृद्धि' शब्द में वह कल आदि दोष रूप चिह्न कर दिया जायगा । आदेश  
शब्द में नहीं किया जायगा ।

आपका यह कहना कि आचार्य ( सूत्रकार ) के व्यवहार से ( सज्ञा का पता  
चल जायगा ) युक्त नहीं ।

इस में क्या अयुक्त है ?

यही कि पहले ( हे सूत्रकार ) तब सूत्र ( सम्बन्ध का स्थापक न होने से )  
अयोधक ( अनर्थक ) है, इस प्रकार निन्दावचन कहकर पीछे उसी को ( अर्थात् उसी

१ ( वार्तिक में ) असन्देह —यह बहुमीहित है, अव्ययमान सन्देहोत्तर ।

सन्देह का निवर्तक शब्द कहना चाहिये, अर्थात् "परा सज्ञा" ऐसा वचन  
पढ़ना चाहिये ।

युक्तम् । अपरिनुप्यन् खल्वपि भवाननेन परिहारेण 'अनाकृतिर्लिङ्गेन वा' इत्याह ।

तच्चापि वक्तव्यम् । यद्यप्येतदुच्यते । अथवेतर्हि इत्संज्ञा न वक्तव्या लोपश्च न वक्तव्यः । सञ्ज्ञालिङ्गमनुबन्धेषु करिष्यते । न च संज्ञाया निवृत्तिरुच्यते । स्रभावतः सञ्ज्ञा सङ्घिनं प्रत्याप्य स्वयं निवर्तते । तेनानुबन्धानामपि निवृत्तिर्भविष्यति । सिध्यत्येवम् । अपाणिनीय तु भवति ।

यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तम्-सञ्ज्ञाधिकारः । सञ्ज्ञासम्प्रत्ययार्थ इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोक इति । न च यथा लोके तथा व्याकरणे । प्रमाणभूते आचार्यो धर्मपत्रिप्रपाणिः शुचाच्चकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म । तत्राशम्य वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण । किमतो यदशम्यम् । अतः सञ्ज्ञासङ्घिनाथेन । कुतो नु खल्वेतत् सञ्ज्ञासङ्घिनायेयेति । न पुनः साधनानुशासनेऽस्मिन्शास्त्रे साधु-

के वृत्तिकारों को , प्रमाण मानना । और आपन भी इस समाधान स असन्तुष्ट होकर ही अनाकृतिर्लिङ्गेन वा—यह दूसरा समाधान कहा है ।

तो लिङ्ग लगाना होगा । ( इस प्रकार के लिङ्ग वाला शब्द सञ्ज्ञा है ऐसा कहना होगा ) । यद्यपि ऐसा वचन करने से ( गौरव हागा तो भी अपेक्षाकृत लाघव ही होगा ) कारण कि अब ( अनुबन्धों का ) इत्संज्ञा नहीं कहनी पड़ेगी, इत्संज्ञकों का लोप भी नहीं कहना पड़ेगा । सञ्ज्ञा का लिङ्ग ( कन् आदि चिह्न ) अनुबन्धों में किया जायगा । सञ्ज्ञा की निवृत्ति वचनसाध्य नहीं है । सञ्ज्ञा का ऐसा स्वभाव है, संज्ञी का बोध करा कर स्वयं निवृत्त हो जाता है । इससे अनुबन्धों की भी निवृत्ति हो जायगी (इतना लाघव होगा) । हाँ ठीक है, पर ऐसा करना अपाणिनीय होगा ।

तो जैसे आचार्य ने सूत्र पढ़ा है वैसे ही रहने दो । अजी, अभी आपने कहा था—सञ्ज्ञाधिकार कहना चाहिये ताकि कौन सन्देह सञ्ज्ञा है या बाध हो सक, नहीं तो सम्बन्ध की प्रतीति न हागी जैसे हाक में । नहीं जैसे लोक में वैसे ही व्याकरण शास्त्र में हो—यह कोई नियम नहीं । प्रामाण्य को प्राप्त भगवान् सूत्रकार ने कुशापीड से पवित्रपाणि हो, शुद्ध प्रदेश में स्थित हो, पूर्व की ओर मुंह कर, आसन पर बैठ, बड़े प्रयत्न से इन सूत्रों को रचा है उनमें एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, इतने वर्णों से घटित समग्र सूत्र की अनर्थकता तो दूर रही ।

इस से क्या यदि एक वर्ण भी अनर्थक नहीं ?

इस से यही आता है कि वृद्धिशब्द संज्ञा है और आदिच सञ्ज्ञा है ।

क्या शब्दसाधुत्व का अनुशासन करनेवाले इस शास्त्र में इन दो शब्द और आदिच् का साधुत्व तो नहीं बताया जा रहा ?

१ प्रमाणभूत आचार्य —प्रामाण्य प्राप्त । भू प्राप्तावाप्तनेपदी ।

त्वमनेन क्रियते। कृतमनयोः साधुत्वम्। कथम्। वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे, तस्मात् किन्प्रत्ययः। आदैचोप्यक्षरसमाग्नाय उपदिष्टाः।

प्रयोगनियमार्थं तर्हीदं स्यात्—वृद्धिशब्दात्परे आदैचः प्रयोक्तव्या इति। नेह प्रयोगनियम आरभ्यते। किन्तर्हि संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते तेषां यथेष्टममिसम्बन्धो भवति। तद्यथा—आहर पात्रम्, पात्रमाहरेति।

आदेशास्तर्हीमे स्युः। वृद्धिशब्दस्यादैच आदेशाः। पष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा भवन्ति। न चात्र पष्ठी पश्यामः।

आगमास्तर्हीमे स्युर्वृद्धिशब्दस्यादैच आगमाः। आगमा अपि पष्ठीनिर्दिष्टस्यैवोच्यन्ते। लिङ्गेन च। न चात्र पष्ठी न खल्वप्यागमलिङ्गं पश्यामः।

इनका साधुत्व पहले ही बताया जा चुका है। धातुपाठ में व्याकरणाध्येता के लिये वृद्ध का सामान्यरूपेण उपदेश कर दिया गया है, उससे परे किन् प्रत्यय विहित है, आदैच् भी अक्षर-समाग्नाय में उपदिष्ट है।

तो यह सूत्र प्रयोगविषयक नियम करनेवाला हो सकता है—अर्थात् वृद्धिशब्द से परे (नकि पूर्व) आदैच् शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। इस शास्त्र में प्रयोग (प्रयुज्यमान पदों का क्रमविषयक) नियम बताने का उपक्रम नहीं किया गया है, किन्तु उन प्रयोगों का साधुत्वान्वाख्यान मात्र किया जाता है, पीछे वक्ता की इच्छानुसार उनका परस्पर सम्बन्ध होता है, जैसे आहर पात्रम् (पात्र हाओ) ऐसी आनुपूर्वी से भी कहा जाता है, पात्रमाहर ऐसा भी।

तो ये आदेश हो सकते हैं। वृद्धिशब्द के स्थान में आदैच् आदेश होते हैं। पर आदेश पष्ठीनिर्दिष्ट के स्थान में होते हैं और यहाँ (इस सूत्र में) पष्ठी विभक्ति दीखती नहीं।

तो ये आगम हो सकते हैं—वृद्धिशब्द को आदैच् का आगम हो। पर आगम भी पष्ठीनिर्दिष्ट को ही होते हैं। और आगम लिङ्ग (क, द्) से जाने जाते हैं। न तो यहाँ पष्ठी दीखती है और नहीं आगम-लिङ्ग दीखता है।

और यहाँ प्रकृत-सूत्र में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ये दोनों पद वृद्धि और आदैच् समानाधिकरण और एकविभक्तिक हैं। और ऐसा सम्बन्ध केवल दो का होता है। कौन से दो का?

१. यहाँ पष्ठी शब्द से पृष्ठार्थ का अभिप्राय है। जहाँ पष्ठी विभक्ति के अर्थ का निर्देश है वही आदेश होते हैं, पष्ठी विभक्ति का निर्देश न होने पर भी यदि पष्ठी का अर्थ है तो आदेश हो जाते हैं। जैसे नाभि नभे च, परस्त्री परशु च यहाँ नाभि को नभ और परस्त्री को परशु आदेश होते हैं यद्यपि नाभि, परम्प्री में पष्ठी विभक्ति का निर्देश नहीं है किन्तु पष्ठी का अर्थ है।



इदं खल्वपि भूयः सामानाधिकरण्यमेकविभक्तिकत्वं च । द्वयोश्चैतद्भवति । कयोः । विशेषणविशेष्ययोर्वा संज्ञासंज्ञिनोर्वा । तत्रैतत्स्यात्—विशेषणविशेष्ये इति । तच्च न । द्वयोर्हि प्रतीतपदार्थकयोर्लोकं विशेषणविशेष्यभावो भवति न चादैच्छब्दः प्रतीतपदार्थकः । तस्मात्संज्ञासंज्ञिनावेव ।

तत्र त्वेतावान्सन्देहः—कः संज्ञी का संज्ञेति । स चापि क सन्देहः । यत्रोभे सामानाक्षरे । यत्र त्वन्यतरल्लघु सा संज्ञा, यद्गुण स संज्ञी । कुत एतत् । लघ्वर्थे हि संज्ञाकरणम् । तत्राप्ययं नावश्यं गुरुलघुतामेवोपलक्षयितुमर्हति, किन्तुहिं, अनाकृतितामपि । अनाकृतिः संज्ञा आकृतिमन्तः संज्ञिनः । लोकेपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ।

अथवाऽऽवर्तिन्यः संज्ञा भवन्ति । वृद्धिशब्दश्चावर्तते, नादैच्छब्दः । तद्यथा—इतरत्रापि देवदत्तशब्द आवर्तते, न मांसपिण्डः ।

या तो विशेषण विशेष्यका, या संज्ञा और संज्ञी का । तां ये दोनों विशेषण-विशेष्य हो सकते हैं । नहीं । प्रसिद्ध अर्थवाले दो शब्दों का लोक में विशेषण-विशेष्य भाव होता है । पर लोक में आदैच् तो अप्रसिद्ध है । इसलिए यहाँ संज्ञासंज्ञिभाव ही मानना चाहिए ।

अब इसमें इतना सन्देह रहता है—संज्ञी (संज्ञावाला) कौन है, संज्ञा कौन है । वह सन्देह भी कहाँ होता है ? जहाँ दोनों उद्दिश्यमान और प्रतिनिर्दिश्यमान शब्द समसंख्यक अक्षरों वाले हों । पर जहाँ दोनों में से एक लघ्वक्षर हो, वह संज्ञा समझनी चाहिए, जो अधिकाक्षर हो वह संज्ञी । यह क्योंकर ? व्यन्हार में लाघव के लिए संज्ञा की जाती है । पर केवल गुरुलघुता को निर्णायक रूप से स्वीकार करना युक्त न होगा, अनाकृतिता (आकृति-हीनता) को भी । संज्ञा अनाकृति होती है, संज्ञी आकृतिमान् होते हैं । लोक में भी आकृतिवाले मांसपिण्ड की देवदत्त यह संज्ञा की जाती है ।

अथवा जो संज्ञायै होती है उनकी विधिसूत्रों में आकृति (पुनः पुनः उच्चारण) होती है । वृद्धिशब्द की आकृति देखी जाती है, आदैच् शब्द की नहीं । जैसे अन्यत्र (लोक) में भी देवदत्त शब्द की आकृति होती है, मांस पिण्ड की नहीं ।

१. देवदत्तः पचति यहाँ सामानाधिकरण्य है किन्तु एकविभक्तिकत्व नहीं है । गौरवः यहाँ एक विभक्तिकत्व है, सामानाधिकरण्य नहीं । वृद्धिरादैच् यहाँ सामानाधिकरण्य और एकविभक्तिकत्व दोनों हैं । इस लिये दोनों का अलग अलग ग्रहण किया है । कुछ लोग सामानाधिकरण्य शब्द का मानते हैं कुछ अर्थ का । दोनों के तात्पर्य में कोई भेद नहीं है ।

अथवा पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा । कुत एतत् । सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् । तद्यथा—इतरत्रापि सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ।

कथं वृद्धिरादेर्ज्ञ इति । एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम् । माङ्गलिक आचार्यों महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति । सर्वत्रेव हि व्याकरणे पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा 'अदेर् गुण' इति यथा ।

दोषवान्मत्वपि संज्ञाधिकारः । अष्टमेपि हि संज्ञा क्रियते—तस्य परमाग्नेडितम् इति । तत्रापीदमनुवर्त्य स्यात् ।

अथवाऽस्थानेऽयं यत्नः क्रियते । नहीदं लोकाद् भिद्यते । यदीदं

अथवा जिसका पूर्वोच्चारण है वह संज्ञी जानना चाहिए, जिसका पीछे उच्चारण है वह संज्ञा । यह क्योंकर ? इसलिए कि बुद्धिद्वारा विपरीतार्थ को पहले शब्द से कह कर उसको संज्ञा आदि कार्य विधान किया जाता है, जैसे अन्यत्र ( लोक में ), बुद्धिसद्रूप मांसपिण्ड को देवदत्त संज्ञा की जाती है ।

तो वृद्धिरादेर्ज्ञ यह सूत्र-न्यास कैसे हुआ ? ( यहाँ जो श्रम का व्युत्क्रम हुआ है ) यह आचार्य ने मङ्गल के लिए किया है, सो यह एक दोष मर्णनीय है । मङ्गला-काङ्क्षी आचार्य ने बृहत् सूत्रसमूह के मङ्गल के लिए वृद्धि शब्द को आदि में प्रयुक्त किया है । कारण कि आदि में मङ्गलयुक्त शास्त्र प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं, श्रोता वाद में धीर ( अपराजित ) तथा धीरजीव होते हैं, और अभ्येता वृद्धि-युक्त होते हैं । व्याकरण में सर्वत्र पहले उच्चारित संज्ञी होता है और पीछे उच्चारित संज्ञा । जैसे अदेर् गुणः इस सूत्र में ।

संज्ञाऽधिकार करना भी दोषयुक्त ही है । अष्टम अध्याय में भी संज्ञायें की जाती हैं जैसे तस्य परमाग्नेडितम् ( ८।१।२ ) । जहाँ दो उच्चरित किए जाते हैं उनमें से दूसरे को आग्नेडित कहते हैं । वहाँ भी इस अधिकार की अनुवृत्ति होगी ।

अथवा संज्ञा आदि निर्देश-रूप यत्न का कोई अवसर नहीं । संज्ञा आदि

१ अष्टक एकाह् प्रत्यय. यह संज्ञा सूत्र न मानकर परिभाषा सूत्र मान लिया जाएगा इस प्रकार सर्वत्र व्याकरण में संज्ञा का उच्चारण संज्ञी के बाद किया हुआ सिद्ध हो जाता है ।

लोकाद् भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात् । तद्यथा—अगोशाय कश्चिद् गां सम्पत्तिं कर्मे वा गृहीत्वोपदिशति—अयं गौरिति । न चास्मायाच्चेदयमस्य सहेति । भवति चास्य सम्प्रत्ययः ।

तत्रेतत्स्यात्—कृतस्तत्र पूर्वैरभिसम्बन्ध इति । इहापि कृत पूर्वैरभिसम्बन्ध । के । आचार्यः । तत्रेतत्स्यात्—यस्मै तर्हि सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृत इति । लोकेऽपि हि यस्मै सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृतः । अथ तत्र कृत, इहापि कृतो द्रष्टव्यः ॥

सतो वृद्ध्यादिषु सज्ञाभावात्तदाश्रय इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः ॥

सत सन्निन. सज्ञाभावात् । तदाश्रये सज्ञाश्रये सन्निनि वृद्ध्यादिष्वितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः । का इतरेतराश्रयता । सतामादेर्चा सज्ञया

निर्देश न होना कोई लोक से न्यायी बात नहीं है । यदि शास्त्र में लोक से न्यायी बात हो तो भगवत् इसके सिद्ध बचन रूप यत्न करना होगा । जैसे कोई गौ को पहचानता नहीं, उसे दूसरा कोई गौ को ऊहभाग अथवा कान से पकड़ कर बताता है—यह गौ (वैज) है, और यह नहीं कहता कि यह इसकी सज्ञा (नाम) है । तिसपर भी उसे यथेष्ट बोध हो जाता है ।

वहा तो यह हो सकता है कि वृद्धों ने अपने व्यवहार से गा शब्द का उस पदार्थ के साथ (वाक्य वाचक) सम्बन्ध किया हुआ है । यज्ञ भी पूर्व लोगों ने सम्बन्ध किया हुआ है । किन्तुने ? आचार्यों ने । उसमें भी ऐसा हो सकता है कि जिसके लिए भव उपदेश हो रहा है उसके लिए तो यह सम्बन्ध असिद्ध है । (पर यह भी लोक के न्यायी बात नहीं) लोक में भी जिसे गवादि शब्दार्थ सम्बन्ध अभी बताया जा रहा है उसका लिए तो असिद्ध ही है । (यदि अनुमान आदि द्वारा) लोक में सिद्ध माना जाता है, तो शास्त्र में भी सिद्ध मानन में कोई अडचन नहीं ।

( वा० ) नियन्त्रण का वृद्ध्यादि सज्ञा के साथ सम्बन्ध होना स तथा सज्ञा का सज्ञाऽऽश्रित होने से अन्योन्याश्रय होने से वाक्यार्थ की सिद्धि न होगी ।

सज्ञा के विद्यमान होने पर सज्ञा होने से । तदाश्रय अर्थात् सज्ञाऽऽश्रय सज्ञा होने पर वृद्ध्यादि पदों में अन्योन्याश्रय होने से वाक्यार्थ न बन सकेगा ।

यहा कौन सा अन्योन्याश्रय है ?

मादैच् पहले सिद्ध हों तो उनकी वृद्धिसज्ञा हो, और सज्ञा से मादैच् की

भवितव्यम्, संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते । तदेतद् इतरेतराश्रयं भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते । तद्यथा—नौर्नावि घट्ठा नेतराश्रयाय भवति ।

ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते । तद्यथा—नौः शकटं वहति, शकटं च नावं वहति । अन्यदपि तत्र किञ्चिद् भवति जलं स्थलं वा । स्थले शकटं नावं वहति । जले नौः शकटं वहति ।

यथा तर्हि त्रिविष्टम्भकम् । तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति । इदं पुनरितरेतराश्रयमेव ।

सिद्ध तु नित्यशब्दत्वात् ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । नित्यशब्दत्वात् । नित्या. शब्दाः, नित्येषु शब्देषु सत्तामादैचां संज्ञा क्रियते, न च संज्ञयाऽऽदैचो भाव्यन्ते ।

उत्पत्ति होती है, अन्योन्याश्रय है । अन्योन्याश्रितकार्यं नहीं सिद्ध होते । जैसे एक (कणधार रहित) नौका ऐसी ही दूसरी नौका से बांधी हुई एक दूसरे की रक्षा करने में असमर्थ होती है ।

अजी अन्योन्याश्रित कार्य भी सिद्ध होते हुए देखे जाते हैं, जैसे नौका छकड़े को देशान्तर में ले जाती है और छकड़ा नौका को । (यह दृष्टान्त ठीक नहीं) कुछ और भी वहाँ विशेष होता है जल अथवा स्थल । स्थल में छकड़ा नौका को ले जाता है, जल में नौका छकड़े को (तो वहाँ अन्योन्याश्रय नहीं) ।

अच्छा तो त्रिविष्टम्भक दृष्टान्त सही । वहाँ भी भीतर कीलकादि कारणान्तर सिद्धि का प्रयोजक है । प्रकृत में तो अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य ही ठहरा ।

( वा० ) शब्द की नित्यता के कारण अन्योन्याश्रय दोष न होगा ।

इस दोष का परिहार हो जाता है ।

कैसे ?

शब्द नित्य हैं, इस हेतु से ।

शब्द नित्य हैं, शब्दों के नित्य होते हुए (पढ़े से) विद्यमान आ, ऐ, औ की (वृद्धि) संज्ञा की जाती है न कि संज्ञा द्वारा (अपूर्व) आ, ऐ, औ को बनाया जाता है ।

१. संज्ञा द्वारा वृद्धिविधायक शृङ्गे वृद्धिः इत्यादि शास्त्र में ।

यदि तर्हि नित्या शब्दा , किमर्थं शास्त्रम् ।

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निरर्तकत्वात्सिद्धम् ॥

निवर्तकं शास्त्रम् । कथम् । मृजिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः । तस्य सर्वत्र मृजिबुद्धिः प्रसक्ता । तत्रानेन निवृत्ति क्रियते मृजेरन्दिस्तु प्रत्ययेषु मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवतीति ।

बुद्धिगुणसङ्गयोः प्रत्येक वचनम् ॥

बुद्धिगुणसङ्गयोः प्रत्येकं ग्रहणं कर्तव्यम् । प्रत्येकं बुद्धिगुणसङ्गो भवत इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । समुदाये मा भूतामिति ।

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये सङ्गाऽप्रसङ्गः ॥

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये बुद्धिगुणसङ्गयोऽप्रसङ्गः । यत्रेच्छति

यदि शब्द नित्य है, तो शास्त्र किस काम का रहा ?

( बा० ) यदि पूछो शास्त्र किस काम का रहा, शास्त्र निवर्तक होने से मफल है ।

शास्त्र निवर्तक है । कैसे ? अध्याता के लिए मृन् धातु का सामान्यरूप से उपदेश कर दिया गया है । उसकी सर्वत्र मृन् रूप ही साधु है ऐसी बुद्धि होने लगी । तब शास्त्र इस प्रकार इसकी निवृत्ति करता है—किन्तु त्वि भिन्न प्रत्ययो के परे रहते मृन् के प्रसङ्ग ( अवसर ) में मार्जि रूप साधु होता है ।

( बा० ) बुद्धिगुण संज्ञा करते समय प्रत्येक शब्द का उच्चारण करना चाहिए ।

अर्थात् यह कहना चाहिए कि बुद्धि और गुणसंज्ञा आदैच् ( आ, ऐ, औ ) और अदेच् ( अ, ए, ओ ) में के प्रत्येक की होती है ।

इसका क्या प्रयोजन है ?

समुदाय ( आदैच् अदेच् ) की मत हो ।

( या० ) जहाँ सह शब्द उच्चारित नहीं होता वहाँ समुदाय की संज्ञा का प्रसङ्ग ही नहीं ।

जहाँ आचार्य समुदाय को कार्य करना चाहते हैं वहाँ सह शब्द का उच्चारण

सहभूतानां कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम् । तद्यथा “सह सुपा” “उभे अभ्यस्तं सह” इति ।

प्रत्ययवयवं च वाक्यपरिसमाप्ते ।

प्रत्ययवयव च वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यते । तद्यथा देवदत्तयज्ञदत्तविष्णु-  
मित्रा भोज्यन्तामिति । न चोच्यते प्रत्येकमिति । प्रत्येकं च भुजिः परि-  
ममाप्यते ।

ननु चायमप्यास्ति दृष्टान्तः—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति ।  
तद्यथा गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति । अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति,  
न च प्रत्येकं दण्डयन्ति । सत्येतस्मिन्दृष्टान्ते यदि तत्र सहग्रहणं क्रियते,  
इहापि प्रत्येकमिति घञस्तस्यम् । अथ तत्रान्तरेण सहग्रहणं सहभूतानां  
कार्यं भवति, इहापि नार्थं प्रत्येकमिति यच्चेन ॥

अथ किमर्थमाकारस्तपरः क्रियते ।

आकारस्य तपरकरणं स्वर्णार्थम् ॥

आकारस्य तपरकरणं क्रियते । किं प्रयोजनम् । स्वर्णार्थम् । तपरस्त-

करोते है जैसे सह सुपा ( २।१।४ ) उभे अभ्यस्तं ( ६।१।५ ) सह इत्यादि में ।

( वा० ) प्रत्येक में भी वाक्यार्थ की परिसमाप्ति देखी जाती है इस लिए भी प्रत्येक की सजा होगी । जैसे देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र को भोजन खिलाओ । यह नहीं कहा जाता कि इनमें से प्रत्येक को, पर प्रत्येक में भोजन किया पर्यवसित ( पूर्णरूप से समाप्त ) होती है ।

अनी यह भी तो दृष्टान्त है—समुदाय में वाक्यार्थ की समाप्ति होती है । जैसे गर्ग लोगों से सौ दण्ड ( जुर्माना ) लिया जाए । राजाओं को धन की अपेक्षा होती है पर ये प्रत्येक से दण्ड नहीं लेते । इस दृष्टान्त के होते हुए भी यदि वहाँ ( गर्गदण्डन में ) सह ग्रहण किया जाता हो तो यहाँ प्रकृत में भी प्रत्येकम् यह कहना चाहिए । पर यदि वहाँ बिना सहग्रहण समुदाय को कार्य होता है, तो यहाँ भी प्रत्येकम् इस यचन का कुछ प्रयोजन नहीं ।

अथ यह विचार उपस्थित होता है कि सूत्र में आकार तपर क्यों किया गया है ।

( वा० ) आकार का तपर करना स्वर्ण ग्रहण के लिए है । आकार तपर किया गया है । इसका क्या प्रयोजन है ? स्वर्ण ग्रहण के लिए । तपरस्तकालस्य

इति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात् । केषाम् । उदात्तानुदात्त-  
स्वरितानाम् । किं च कारणं न स्यात् ।

भेदकत्वात्स्वरस्य ॥

भेदका उदात्तादयः । कथं पुनर्ज्ञायते भेदका उदात्तादय इति । एव  
दृश्यते लोके य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै  
चपेटां ददाति अन्यस्य करोषीति ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किन्तर्हि । इति—

भेदकत्वादगुणस्य ॥

भेदकत्वादगुणस्येति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । आनुनासिक्यं नाम  
गुणः, तद्विग्रहस्यापि ग्रहणं यथा स्यात् । किं च कारणं न स्यात् । भेदकत्वाद-  
गुणस्य । भेदका गुणाः । कथं पुनर्ज्ञायते भेदका गुणा इति । एव हि दृश्यते

इस शास्त्र से अपने समान कहवाले दूसरे सवर्ण आकारों का भी ग्रहण हो सके,  
इस लिए । किन का ?

उदात्त अनुदात्त स्वरित ( आकारों ) का ।

क्या कारण है कि ( तपर किए बिना ) इनका ग्रहण न होगा ?

( वा० ) उदात्त आदि स्वरों के भेदक होने से ॥

उदात्त आदि भेदक हैं ।

यह कैसे जाना कि उदात्त आदि भेदक होते हैं ?

ऐसा लोक में देखा जाता है जो शिष्य उदात्त उच्चारण करने के स्थान में  
अनुदात्त उच्चारण करता है खण्डिकोपाध्याय उसके मुँह पर चपेट देता है यह कहते  
हुए कि तू कुछ और का उच्चारण कर रहा है ।

तो यह तत्त्व का प्रयोजन ठहरा न ? तो क्या कहना है ? यह कि—

( वा० ) गुणों के भेदक होने से ॥

गुण के भेदक होने से यह कहना चाहिए ।

आनुनासिक्य गुण है, तद्गुणविशिष्ट का ग्रहण हो जाए इस लिए । क्या कारण  
है कि आनुनासिक्य गुण ( घर्म ) वाले आदैच् ( आ ऐ औ र औ ) का ग्रहण नहीं  
होता ?

सन्देहेषु न कंचिद् यत्नं करोति । तद्यथा—“औतोम्शसोः” इति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम्—आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति । खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम् खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेपा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगव इति ।

अथ क्रियमाणेषु तकारे कस्मादेव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति । तपरस्तत्कालस्य इति नियमात् । ननु तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः । नेत्याह । तादपि परस्तपरः । यदि

इस प्रकार के सन्देहों में कोई वचन-रूप यत्न नहीं किया जाता, जैसे औतोम्शसोः इस सूत्र में व्याख्यान से अवगत होता है कि आकार और ओकार-दोनों का निर्देश है ।

तो तपर करण का यह प्रयोजन है—आन्तरतम्य से त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को त्रिमात्र चतुर्मात्र आदेश न होने लग जायं । खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः ( यहाँ ए त्रिमात्र न हो ), खट्वा उदके खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेपा ( यहाँ ए चतुर्मात्र न हो ), खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका ( यहाँ ए चतुर्मात्र न हो ) खट्वा ओदनः खट्वौदन, खट्वा ऐतिकायनः, खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगवः ।

प्रश्न यह है कि तकार उच्चारण करने पर भी किस कारण त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को त्रिमात्र चतुर्मात्र आदेश नहीं होते ? तपरस्तत्कालस्य इस नियम से । पर त् जिससे परे हो वह तपर होता है ( ऐष् से तो त् पूर्वोच्चारित है ) । नहीं, त् से जो परे हो वह भी तपर होता है । यदि त् से परे भी तपर होता

में भी पूर्वपद आशुदात्त विधान किया है । वह आकार की वृद्धि संज्ञा को सिद्ध करता है । माला के आकार की वृद्धि संज्ञा हकर माला यह शब्द समुदाय वृद्धिर्यस्याचामादिसु तद् वृद्धम् से वृद्धसंज्ञक हो जाता है । अट्ट न रहने से प्रस्थेऽवृद्धम् से पूर्वपद आशुदात्त प्राप्त नहीं था उसके विधान के लिए मालादीनां च (६।२।८८) यह चरितार्थ हो जाता है । अन्यथा माला शब्द वृद्ध संज्ञक न हो कर अट्ट ही रहता तो प्रस्थेऽवृद्धम् से ही उसमें स्वर सिद्ध था । यही व्याख्यान है । औतोम्शसोः में भी इसी प्रकार व्याख्यान से भा भोतः यह छेद समझा जाता है ।



तादपि परस्तपरः, “ऋदोरप्” इतीहेव स्यात्—यव. स्तर्, लव. पर  
इत्यत्र न स्यात् । नैष तकारः । कस्तर्हि । दकारः । किं दकारे प्रयोजनम् ।  
अथ किं तकारे । यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोपि । अथ मुखसुखार्थस्तकारः,  
दकारोपि । वृद्धिरादेच् ॥

इको गुणवृद्धी ॥ ११॥ १२॥

इग्रहणं किमर्थम् ।

इग्रहणमात्सन्ध्यक्षरव्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् ॥

इग्रहणं क्रियते । किं प्रयोजनम् । आकारनिवृत्त्यर्थं सन्ध्यक्षरनि  
वृत्त्यर्थं व्यञ्जननिवृत्त्यर्थं च ।

आकारनिवृत्त्यर्थं तात्—याता वाता । आकारस्य गुण प्राप्नोति ।  
इग्रहणान्न भवति । सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थम्—ग्लायति म्लायति । सन्ध्यक्षर-

है तो ऋदोरप् ( १।३।५७ ) इस सूत्र से यव स्तव यद्वा ही अप प्रत्यय हो सकेगा,  
लव पव यद्वा नहीं । पर इस सूत्र में तकार नहीं है । तो क्या है ? दकार । दकारो  
च्चारण का क्या प्रयोजन है ? हम आप से पूछते हैं तकार उच्चारण का क्या प्रयोजन  
है । यदि सन्देहामात्र के लिए तकार है, तो दकार भी इसीलिए हो सकता है । और  
यदि उच्चारण सौकर्य के लिए तकार है, तो दकार भी इसीलिए हो सकता है । यद्वा  
वृद्धिरादैच् सूत्र की व्याख्या समाप्त हुई ॥

इको गुणवृद्धी ॥

इस सूत्र में इक का ग्रहण किस लिए किया है ?

(वा०) इक का ग्रहण आकार सन्ध्यक्षर और व्यञ्जन का निवृत्ति क लिये  
(किया गया है) ॥

इक् का ग्रहण किया है । प्रयोजन क्या है ?

आकार निवृत्ति के लिये, सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये तथा व्यञ्जन की  
निवृत्ति के लिये ।

आकार की निवृत्ति के लिये इक ग्रहण अर्थवान् है—याता वाता । यही आकार  
को गुण प्राप्त होता है । इक ग्रहण से रुक जाता है । सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये  
इक् ग्रहण चाहिये ग्लायति म्लायति । यही सन्ध्यक्षर को गुण प्राप्त होता है, इक् ग्रहण

प्रत्युपदेशोऽनर्थकः, आयादीनां पुनर्निमित्तमेव ॥

यदप्युच्यते—जनेर्द्वचनं द्वापकम्—न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति । सिद्धे विधिरारभ्यमाणो द्वापकाथो भवति । न च जनेर्गुणेन सिध्यति । कुतो हेतन्—जनेर्गुण उच्यमानोऽकारो भवति, न पुनरकारो वा स्यादोकारो येति जन्निर्गतोऽध्वमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य मात्रिकोऽकारो भविष्यति । एवमप्यनुनासिकः प्राप्नोति । पर-रूपेण शुद्धो भविष्यति । एवं तर्हि गमेरप्ययं डो वस्तव्यः । गमेश्च गुण उच्यमान आन्तर्यत ओकारः प्राप्नोति । तस्मादिग्रहणं कर्तव्यम् ॥

कैसे प्रति (यदि गुण हो जाय) उपदेश अनर्थक हो जाता है, आय् आदि आदेशों का तो निमित्त ही है ।

यह जो कहा गया है कि जन् धातु से ८ विधान करना इस बात का ज्ञापक है कि व्यञ्जन का गुण नहीं होता, (सो यह भी ज्ञापक नहीं) (प्रकारान्तर से) कार्य मिट्टि होते हुए जो विधि आरम्भ की जाती है वह (व्यर्थ होने से) ज्ञापक होती है । जन् को गुण करने से तो इष्टरूप मिट्ट नहीं होता । इसमें क्या हेतु है कि जन् के नकार के स्थान में अ गुण हो, ए अथवा ओ न हो ? (उत्तर) आन्तरतम्य से अर्धमात्रिक व्यञ्जन के स्थान में एकमात्रिक अ ही होना उचित है (द्विमात्रिक ए ओ नहीं) । पर अनुनासिक न् के स्थान में अनुनासिक अ होगा । (कोई हर्ष नहीं, अतो गुण से) पर-रूप होने (पर=शुद्ध प्रत्यय का अ ही रूप होने) से शुद्ध अकार मिल जाएगा । अच्छा यदि यह बात है (तो भी ज्ञापक नहीं बन सकता) यह है उत्तर अनुवृत्ति के लिए सार्थक है । अन्येऽपि वृत्ते इस वचन से गम् में भी ८ विधान किया जाता है । यदि गम् को गुण विधान किया जाय तो स्थान में आन्तरतम्य से (मोटा होने से) म् के स्थान में ओ होगा । अत इक् ग्रहण करना चाहिए ।

ग्लायते इत्यादि रूप नहीं बनेगे । इसलिए ग्ल के स्थान में ग्ल ही पड़ा जा सकता था वंता न पड़ कर जो ग्ल पड़ा है उसमें गुण का अभाव ज्ञापित होता है । आयादेश तो ग्ल पड़ने पर ही प्राप्त हो सकता है इस लिए ग्ल पड़ने के सामर्थ्य में आयादेश का अभाव नहीं हो सकता । हाँ ग्ले न पड़ कर ग्ल पड़ने में जैसे गुण का अभाव ज्ञापित होता है वैसे आदेश उपदेशोऽस्तीति में होने वाला जो ग्ल यह आत्व है उसका अभाव भी प्राप्त होता है वह न ध्याम्यापृमृदिमदाम् इस शब्द से दृक् जाएगा ।

यदीग्रहणं क्रियते द्यौः, पन्थाः, सः, इमम् इति, एतेऽपीकः प्राप्नुवन्ति ।

सज्ञया विधाने नियम ॥

संज्ञया ये विधीयन्ते तेषु नियमः ।

किं वक्तव्यमेतत् । न हि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । गुणवृद्धिग्रहण सामर्थ्यात् । कथं पुनरन्तरेण गुणवृद्धिग्रहणमिको गुणवृद्धी स्याताम् । प्रकृत गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते । कैः प्रकृतम् । “वृद्धिरादैजदेङ्गुणः” इति । यदि

यदि इक् ग्रहण किया जाता है तो दिव औन् ( ७११८४ ) दिव के इक् के स्थान में औ ( वृद्धि ) होनी चाहिए, पथिमयुमुनामात् ( ७११८० ) से पथिम के इक् के स्थान में औ ( वृद्धि ) होनी चाहिए, यरादीनाम् ( ७११९० ) से तद् में इक् न होने से अ ( गुण ) न हो सकेगा, तथा इमम् के द्वितीया एकवचन में भी ।

( वा० ) जहां गुण वृद्धि शब्द उच्चारण करके गुण वृद्धि का विधान है वहां इक् के स्थान में वे गुण वृद्धि हों ऐसा नियम है ।

संज्ञापूर्वक जो गुण वृद्धि विधान किए जाते हैं उनमें यह नियम है ।

क्या इस वार्तिक रूप वचन के कहने की आवश्यकता है ? नहीं । बिना वचन किए इस नियम का कैसे बोध होगा ? इस सूत्र में गुणवृद्धिग्रहण के बल पर । पर यहां सूत्र में गुणवृद्धि ग्रहण न करे ( अर्थात् इक् इतना ही सूत्र पढ़े ) तो इक् के स्थान में गुणवृद्धि हों इस विधेय का लाभ कैसे होगा ? गुणवृद्धि का अधिकार ( प्रस्ताव, प्रारम्भ ) है तो इस सूत्र में गुणवृद्धि की अनुवृत्ति आती है ( उससे ) । वह कौन सा अधिकार ? वृद्धिरादैच्, अदेङ्गुणः । ( यह सूत्र द्वय ) ।

१. पूर्व सूत्रों से गुण वृद्धि की अनुवृत्ति आने से गुणवृद्धि इक् के स्थान में होंगे, तो यहां सूत्र में गुणवृद्धि ग्रहण किमलिए किया ? इसलिए कि जहां गुणवृद्धि-शब्दोच्चारण पूर्वक ( गुण हो, वृद्धि हो ) अदेङ्, आदैच् का विधान है वहां इक् के स्थान में हो । ( अन्यत्र नियम नहीं । वहां अन्तिक के स्थान में भी गुणवृद्धि होने में कोई बाधा नहीं ) ।

२. इस प्रश्न का उत्तर इस तरह होता है—जब प्रकृतसूत्र में गुणवृद्धि शब्द संज्ञापूर्वक विधान में इनका नियमन करने में चरितार्थ=क्षीणशक्ति हो गए तब गुणवृद्धि का विधान कैसे होगा । अर्थात् उसके लिए अतिरिक्त गुणवृद्धि चाहिए ।

३. पूर्व सूत्र वृद्धिरादैच् में वृद्धि शब्द जैसे स्वरूपपदार्थ है ( संज्ञापरक है )

तदनुवर्तते अदेङ्गुणो वृद्धिश्च इत्यदेङ्गं वृद्धिसंज्ञापि प्राप्नोति ।  
सम्बन्धमनुवर्तिष्यते—वृद्धिरादैच् । अदेङ्गुणः इति वृद्धिरादैच् । ततः  
इको गुणवृद्धी इति गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते, आदैजदेङ्ग्रहणं निवृत्तम् ।

अथवा मण्डूकगतयोधिसाराः । यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य  
गच्छन्ति तद्वदधिसाराः ।

अथैकयोगः करिष्यते—वृद्धिरादैजदेङ्गुणः, तन इको गुणवृद्धी  
इति । न चैकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति ।

अथवा अन्यवचनाच्चकाराकरणाच्च प्रकृतापवादो विहायते, यथो-  
त्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति । अन्यस्याः संज्ञाया वचनाच्च-  
कारस्य चानुसर्गार्थस्याकरणात्प्रकृताया वृद्धिसंज्ञाया गुणसंज्ञा बाधिका  
भविष्यति । यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति ।

यदि ऐसा है तो अंश गुण में वृद्धि की अनुवृत्ति होने से अदेङ् की वृद्धिसंज्ञा भी  
प्रसक्त होती है । सम्बन्धमान ( जिस का आगे सम्बन्ध जुड़ता है ) की अनुवृत्ति  
होगी । पहले वृद्धिरादैच्, तदनन्तर अदेङ् गुण, तदनन्तर अनुवृत्त सूत्र वृद्धिरादैच्,  
तब इको गुणवृद्धी—इसमें केवल गुणवृद्धि की अनुवृत्ति होगी, आदैच् अदेङ् की  
निवृत्ति हो जायगी ।

अथवा अधिकार मेंदक की चाल चलते हैं, जैसे मेंदक उछल-उछल कर  
( थोड़ा-थोड़ा अवकाश छोड़कर पढ़न्यास करते हुए ) चलते हैं, ऐसे ही अधिकार  
( अर्थात् वृद्धि शब्द वृद्धिरादैच् सूत्र से चलकर बीच में आये अदेङ्गुण को पकड़  
कर इस प्रकृत सूत्र इको गुणवृद्धी में आजाता है, गुण शब्द अनन्तरपूर्व सूत्र से  
चला जाता है ) ।

अथवा वृद्धिरादैच् और अदेङ् गुण को एकसूत्र के रूप में पढ़ा जायगा, तब  
इको गुणवृद्धी इसे पढ़ देगे । एक योग में अनुवृत्ति का सञ्ज्ञा ही नहीं ।

अथवा अन्य संज्ञा ( गुणसंज्ञा ) कहने से और पूर्वसूत्र में कही हुई संज्ञा  
( वृद्धिसंज्ञा ) के अनुसर्गण ( आगे को रेंच लाने ) के लिये चकार न पढ़ने से  
प्रकृत वृद्धि संज्ञा को गुण संज्ञा बाध लेगी, जिस प्रकार उत्सर्ग से प्राप्त हुए कार्य का  
अपवाद बाधक होता है ।

देगे ही अदेङ्गुण में अनुवृत्त हुआ हुआ भी । यहां अर्थाधिकार का आश्रयण है,  
शब्दाधिकार का नहीं ।

१. सम्बन्धन इति सम्बन्धं कर्मणि घञ् । आदैच् का संज्ञाभूत वृद्धि शब्द

अथवा वक्ष्यत्येतत्—‘अनुवर्तन्ते च नाम विधयः । न चानुवर्तना-  
देव भवन्ति । किन्तर्हि यत्नाद्भवन्ती’ति ।

अथवा उभयं निवृत्तम्—तदपेक्षिष्यामहे ॥

किं पुनरयमलोन्यशेषः, आहोस्विदलोन्यापवादः । कथं चार्यं  
तच्छेषः स्यात्, कथं वा तदपवादः ।

यद्येकं चान्यम्—तच्चेदं च, अलोन्यस्य विधयो भवन्ति, इको  
गुणवृद्धी अलोन्यस्य इति । ततोयं तच्छेषः । अथ नानावक्ष्यम्—तच्चेदं  
च, अलोन्यस्य विधयो भवन्ति, इको गुणवृद्धी अलोन्यस्य चान्यस्य च  
इति । ततोऽयं तदपवादः ।

कश्चात्र विशेषः ।

अथवा ( आचार्य गोनदीय ) विभाषा तिलमाप्नोमामज्ञाणुभ्यः ( ५।२।४ )  
में कहेंगे—पूर्वविधिवाक्यों की उत्तर विधिवाक्यों में अनुवृत्ति होती है, पर अनुवृत्ति  
मात्र से उन का सम्बन्ध नहीं बन जाता, जब तक सम्बन्ध-स्थापन के लिये यत्नविशेष  
न किया जाय । वहाँ विभाषा ग्रहणरूप यत्न है और प्रवृत्त सूत्र में पुनः गुणवृद्धि  
ग्रहणरूप यत्न है ।

अथवा वृद्धिरादैच् तथा अदेङ् गुणः इन दोनों की स्वरितादिरिक्त के अभावे  
में निवृत्ति हो गई अब अपेक्षा-लक्षण लौकिक अधिकार का आश्रयण करेंगे ॥

अब यह विचार का विषय है कि क्या यह इको गुणवृद्धी अलोन्यस्य का  
शेष है अथवा अलोन्यस्य का अपवाद है ।

यह किस प्रकार उसका शेष हो सकता है, और किस प्रकार उसका अपवाद ?

यदि (यह और यह) ये दोनों मिल कर एक वाक्य बनायें । पट्टीनिर्दिष्ट के  
अन्त्य अल् की विधियाँ होती हैं, इको गुणवृद्धी को इसके साथ मिला कर इस प्रकार  
का एक वाक्य होगा—अन्त्य अल् इक् को गुण वृद्धि होते हैं । अब इको गुणवृद्धी  
अगेन्यस्य का शेष (अङ्ग) हो जाता है । यदि भिन्न-भिन्न दो वाक्य रहें—अन्त्य  
अल् के स्थान में विधियाँ होती हैं, इक् के स्थान में गुण वृद्धि होते हैं चाहे वह इक्  
अन्त्य हो अथवा अनन्त्य । तब यह अलोन्यस्य का अपवाद हो जाता है ।

इसमें क्या अन्तर है ?

अदेङ् गुणः यहाँ अनुवृत्त हो रहा है, यतः अदेङ् के साथ इस का सम्बन्ध बनता नहीं,  
अतः अनुवृत्त हुआ आदैच् को छोड़ देता है, जैसे कान्तार ( महारण्य ) के पार करने  
के लिये मार्थ का उपादान और पार करने पर उस का परित्याग ।

वृद्धिगुणावलोक्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधच्छिदशि-  
क्षिप्रभुद्रेप्यग्रहणम् ॥

वृद्धिगुणावलोक्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधच्छिदशि-  
क्षिप्रभुद्रे-प्यग्रहणं कर्तव्यम् । मिद्रेगुणः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न  
प्राप्नोति । मृजेवृद्धिः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ।  
पुगन्तलघूपधस्य गुणः इक इति वक्तव्यम् अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ।  
ऋच्छेलिलिटि गुणः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ।  
ऋदशोडि गुणः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति । क्षिप्र-  
भुद्रयोगुणः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ।

सर्वादेशप्रसङ्गश्चानिगन्तस्य ॥

सर्वादेशश्च गुणोऽनिगन्तस्य प्राप्नोति । याता याता । किं कारणम् ।

(वा०) यदि वृद्धि और गुण अन्त्य अर् इक् के स्थान में होते हैं तो मिद,  
मृज, पुगन्तलघूपध, ऋच्छ, दश, क्षिप्र, भुद्र—इनके इक् को गुण हो ऐसा वचन  
बनना पड़ेगा । मिद्रेगुण — यहाँ इक् के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये ।  
( इ ) यहाँ अन्त्य नहीं है अतः गुण की प्राप्ति नहीं । मृजेवृद्धि — यहाँ इक् के  
स्थान में वृद्धि हो ऐसा वचन करना पड़ेगा, इक ( ऋ ) यहाँ अन्त्य नहीं, अतः वृद्धि  
की प्राप्ति नहीं । पुगन्तलघूपधस्य च पुगन्त और लघूपध को सार्वधातुक भार्धधातुक  
प्रत्यय पर रहते गुण होता है तो अतः यह न हो सकेगा, अतः इनके इक् के स्थान  
में गुण होता है ऐसा कहना चाहिये, इक् के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं । ( ऋच्छ )  
धातु को लिट् पर रहते ऋच्छवृत्ता गुण ( ७४।११ ) इससे गुण विधान किया  
गया है, यहाँ वह इमक् इक् ( ऋ ) के स्थान में हो ऐसा कहना चाहिये, इक् ( ऋ )  
के अन्त्य न होने से प्राप्ति ही नहीं । ऋदशोडि गुण — इसमें अर् पर होने पर दश  
को गुण विधान किया है, यहाँ इक् ( ऋ ) के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये,  
क्योंकि इक् ( ऋ ) के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं । क्षिप्रभुद्र शब्दों को ( ईयस्  
इष्टन्, इमनिच् प्रत्ययों के पर रहते ) गुण विधान किया है, यहाँ भी इक् ( इ, उ )  
के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये, कारण कि इक् के अन्त्य न होने से  
प्राप्ति नहीं ।

( वा० ) तो अतः इगन्त नहीं है उम मारे के स्थान में गुण प्रत्यक्त होता है ।  
जैसे याता याता में या, वा को गुण प्राप्त होता है ।

( इम प्राप्ति का ) क्या कारण है ?

“अलोन्त्यस्य” इति पट्टी च व हान्त्यमिकमुपसद्धान्ता अङ्गस्येति च स्थानपट्टी । तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्ग तस्य गुण सर्वादेश प्राप्नोति ।

नैप दोष । यथैव ह्यलोन्त्यस्यति पट्टी अन्त्यमिकमुपसद्धान्ता एवमङ्गस्येत्यपि स्थानपट्टी । तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्ग तत्र पठ्यव नास्ति कुतो गुण, कुत सर्वादेश ।

एव तहि नाय दोषसमुच्चय । किं तहि । पूर्वापक्षोय दोष । ह्यथे चाय च पठित — मिदिमृजिपुगन्तलघूपधच्छिदशिक्षिप्रभुद्रेषिग्रहण सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य इति ।

मिदेगुण इक इति वचनादन्त्यस्य न अलोन्त्यस्य इति वचनादिको न । उच्यते च गुण । स सर्वादेश प्राप्नोति । एव सर्वत्र ॥

अस्तु तहि तदपवाद ।

तच्छय पथ म अलोन्त्यस्य इस पट्टी का अङ्ग क अन्त्य इक क साथ सम्बध हो जाता है अङ्गस्य यह स्थानपट्टी है । अत्र ना अनिगन्त अङ्ग है ( वहाँ पट्टी का अन्त्य अल म उपसहार (सम्बन्ध) न होन स ) मि गण इत्यादि म मिन् आदि ममुदाय के स्थान म गुण प्राप्त होता है ।

यह कोई दाप नहीं । जिस प्रकार अलोन्त्यस्य यह पट्टा अन्त्य इक में उपसहृत हो जाती है ( इक क साथ जुड़ जाती है ) इसी प्रकार अङ्गस्य यह स्थान पट्टी भी अन्त्य इक में उपसहृत हो जाती है । अत्र ना अनिगन्त अङ्ग है वहाँ पट्टी ( अर्थात् अन्त्य इक में उपसहृत पट्टी ) ही नहीं है ता तच्छय पथ म गुण की भी प्राप्ति नहीं रहती, सर्वादेश का ता क्या कहना ।

ता यहाँ पूर्व दाप स भिन्न एक और दाप दिया है ऐसा नहीं । ता कैस है ? पूर्व निदिष्ट दाप म यह हतुकयन ह । चकार यहाँ हि के अर्थ (हतु) में पना है । इन दानों वार्तिका को एक वाक्य क रूप म इस प्रकार पटना चाहिए — मिदिमृजि पुगन्तलघूपधच्छिदशिक्षिप्रभुद्रेषिग्रहण सर्वादेश प्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य ।

मिदेगुण यहाँ ना गुण विधान किया है वह गुण यदि इक के स्थान म होन है, इस वचन स अन्त्य इक क स्थान में नहीं हो सकता पट्टी निदिष्ट के अन्त्य अल के स्थान में काय होता है इस वचन स इक क स्थान म नहीं होता । पर भाचाय ने गुण विधान किया ह, ( नास्त्र व्यय न हा ) इसलिए वह सार मिद् रूप अङ्ग क स्थान में होगा इसी प्रकार मृज आदि क विषय में जानो । ( अत यह व्यवस्थित हुआ कि इक का ग्रहण करना चाहिए ) ।

अच्छा तो यह अलोन्त्यस्य का अपवाद हा ।

इहमात्रस्येति च जुसि सार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योगुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधः ॥

इहमात्रस्येति च जुसि सार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योगुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधो वक्तव्यः । जुसि गुण — स यथेह भवति अनुहवु अविभयु इति । एवम् अननिनु पयवेरिपु अत्रापि प्राप्नोति । सार्वधातुकार्धधातुस्योगुण — स यथेह भवति — कर्ता कर्ता नयति तरति इति । एवम् ईहिता इहितम् इहितयम् इत्यत्रापि प्राप्नोति । ह्रस्वस्य गुण — स यथेह भवति — हे अग्ने हे वायो इति । एव हे अग्निचित् सोमसुद् इत्यत्रापि प्राप्नोति । जसि गुण — स यथेह भवति — अग्नयः वायव इति । एवम् अग्निचित् सोमसुत इत्यत्रापि प्राप्नोति । ऋतो विसयनामस्थानयोगुण — स यथेह भवति — कर्तारि कर्तारौ कर्तार इति । एव सृष्टि सृष्टौ सृष्ट इत्यत्रापि प्राप्नोति । घडिति गुण — स यथेह भवति — अग्नयः वायवे इति । एवम् अग्निचिते सोमसुते इत्यत्रापि

( वा० ) यदि इक् मात्र ( अन्त्य अथवा अनन्त्य इक् ) का गुण-वृद्धि हात है ( यही अपवाद पक्ष है ) ता जुस् पर रहते गुण सार्वधातुक-आर्धधातुक प्रत्यय पर रहत गुण ह्रस्वादियों का गुण, उ का गुण—इन विधियों में अनन्त्य इक् को भी गुण प्राप्त हाता है उसका प्रतिषेध करना चाहिए ।

जुस् प्रत्यय पर रहते जुमि च ( ७३।८३ स ) नैम अण्वु, आवभयु में अन्त्य इक् का गुण हाता है वैसे ही अननिनु, पयवेरिपु में अनन्त्य इक् का भी हान लगगा ।

सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय पर रहत कर्ता कर्ता नयति तरत में अन्त्य इक् का गुण हाता है वैसे ही अहिता अहितम् अग्नयम् में अनन्त्य इक् को भी हाने लगगा ।

ह्रस्व को गुण नैमे हे अग्न, हे वाया में अन्त्य इक् का हाता है वैसे ही इ अग्निचित् इ सोमसुत् में अनन्त्य इक् ( चित् में इ, सुत् में उ ) का भी हाने लगगा ।

जस प्रत्यय पर रहत नैम अग्नय, वायव में अन्त्य इक् का गुण हाता है वैसे ही अग्निचित् सोमसुत में अनन्त्य इक् का भी हान लगगा ।

ऋतो विसयनामस्थानयो ( ७३।११० ) इस सूत्र में विहित गुण नैम कर्तार कर्तारी कर्तार में अन्त्य इक् ( क् ) का हाता है वैसे ही सृष्टि सृष्टौ सृष्ट में अनन्त्य इक् का भी हान लगगा ।

घडिति ( ७३।१११ ) इस सूत्र में नैम अग्नय व यव में अन्त्य इक् ( उ ) का गुण हाता है वैसे ही अग्निचित् सोमसुत में अनन्त्य इक् ( चित् म इ, तथा सुत्



प्राप्नोति । ओर्गुणः—स यथेह भवति याभ्रव्यो माण्डव्य इति । एवं सुश्रुत् सौश्रुत इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

नैप दोषः ।

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थम् ॥

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थं भविष्यति । पुगन्तलघूपधस्यैवानन्त्यस्य नान्यस्यानन्त्यस्येति ।

प्रकृतस्यैव नियमः स्यात् । किं च प्रकृतम् । सार्वधातुकार्धधातुकयोः इति । तेन भवेदिह नियमान्न स्याद् ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् इति । ह्रस्वाद्योर्गुणस्त्यनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति ।

अथाप्येवं नियमः स्यात्—पुगन्तलघूपधस्य सार्वधातुकार्धधातुकयोरेवेति । एवमपि सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति ईहिता ईहितुम् ईहितव्यमिति ।

मे उ ) को भी होने लगेगा ।

ओर्गुणः ( १।४।१४६ ) इस सूत्र से भवत्युक् के उ को जैसे याभ्रव्यः, माण्डव्यः में ( जहाँ उ अनन्त्य है ) गुण होता है वैसे ही सुश्रुत् सोश्रुत में अनन्त्य इक् को भी गुण होने लगेगा ।

यह कोई दोष नहीं ।

( या० ) पुगन्तलघूपध ग्रहण अनन्त्य के नियम के लिए होगा । यदि अनन्त्य इक् को गुण हो तो पुगन्त और लघूपध अङ्ग के ही अनन्त्य इक् को हो और किसी अनन्त्य इक् को नहीं ( ऐसा नियम होगा ) ।

पर नियम प्रकृत का ही होगा ।

क्या प्रकृत है ?

सार्वधातुकार्धधातुक्योः ( ७।३।८४ ) । इससे हो सकता है कि ईहिता, ईहितुम् ईहितव्यम्, में नियम की प्रवृत्ति होने से गुण न हो, पर (ह्रस्वस्य गुणः इत्यादि शास्त्र से ) ह्रस्वादियों को जो गुण विधान है उसका नियम न होने से वह अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा ।

नियम इस प्रकार भी हो सकता है—पुगन्तलघूपध को यदि गुण हो तो सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय पर रहते ही हो । इस तरह भी सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय पर रहते जो गुण विधि है उसका नियम न होगा । वह गुण अनन्त्य इक् के स्थान में भी होने लगेगा, अर्थात् ईहिता, ईहितुम्, ईहितव्यम् में गुण का प्रसङ्ग होगा ।

अथाप्युभयतो नियमः स्यात्—पुगन्तलघूपधस्यैव सार्वधातुकार्ध-  
धातुकयोः । सार्वधातुसार्वधातुकयोरेव पुगन्तलघूपधस्येति । एवमप्ययं  
जुमि गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति अनेनिजुंः पर्यवेविपुः इति ।

एव तर्हि—नायं तच्छेषः, नापि तदपवादः । अन्यदेवेदं परि-  
भाषान्तरमसम्बद्धमनया परिभाषया ।

परिभाषान्तरमिति च मत्वा क्रोष्टीयाः पठन्ति—

नियमादिकं गुणवृद्धी भवतो<sup>१</sup> विप्रतिषेधेन ॥ इति ।

अथरा दोनो प्रकार का नियम होगा—पुगन्तलघूपध को ही सार्वधातुक आर्ध-  
धातुक प्रत्यय पर होने पर, पुगन्तलघूपध को गुण होता है सार्वधातुक आर्धधातुक  
प्रत्यय पर होने पर ही । ऐसा होने पर भी जुस् प्रत्यय पर रहते गुण का नियम न  
होगा । यह अनन्त्य इक को होने लगेगा ।

अतः (दोनो पक्षों में दोष होने से) न तो यह उसका शेष है और न अपवाद ।  
यह एक स्वतन्त्र परिभाषा है जो अलोक्यपरिभाषा से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती ।

( इस पक्ष में क्रोष्टीय लोगों का समर्थन भी प्राप्त है ) । क्रोष्टीय लोग इसे  
परिभाषान्तर ( स्वतन्त्र परिभाषा ) मानकर ऐसा ( विप्रतिषेध यातिक ) पढ़ते हैं—

नियम ( अनेन्यस्य ) को बाधकर विप्रतिषेध से इको गुणवृद्धी शास्त्र की  
प्रवृत्ति होती है ।

१ अनेनिजुं में लघूपध अङ्ग है और सार्वधातुक प्रत्यय भी है, तो अनन्त्य  
इक को भी गुण की प्राप्ति है ।

पुगन्तलघूपधस्य च सूत्र के उभयतो नियमार्थ मानने पर भी जहाँ सार्वधातुक  
आर्धधातुक तथा पुगन्तलघूपध दोनों ही नहीं है वहाँ का नियम न होगा तो हे विचम्य !  
हे बुद्धे ! बुद्धय यथा ह्रस्वस्य गुण तथा जमि च से विचम्य मे पि के अनन्त्य इकार  
तथा बुद्धि में बु के अनन्त्य उकार को गुण प्राप्त होता है ।

२ परिभाषान्तरम्—अन्तर=विशेष । अतः अन्यत् भी कहा और अन्तर भी ।  
पर्यायवचन न होने से दोनों के एक साथ प्रयोग में कोई विरोध नहीं ।

३ असम्बद्धम्—न तो इन परिभाषाओं में शेष-शेषिभाव (=अङ्गाङ्गभाव,  
गुणप्रदान-भाव) है और न उगर्गपवाद-भाव है ।

४ विधेय ( गुण वृद्धि ) के द्विव का सूत्र में आरोप करके भवत् में द्विवचन  
प्रयोग किया गया है ।

यदि चायं तच्छेयः स्यात्तेनैव तस्यायुक्तो विप्रतिषेधः । अथापि तद-  
पवादः, उत्सर्गापवादयोरप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । तत्र नियमस्यावकाशः—  
“राज्ञः क च” राजकीयम् । “इको गुणवृद्धी” इत्यस्यावकाशः—चयनं  
चायको लवनं लावक इति । इहोभयं प्राप्नोति—मेयति माष्टीति । इको  
गुणवृद्धी इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन ।

नैवं युक्तो विप्रतिषेधः । “विप्रतिषेधे परम्” इत्युच्यते । पूर्वश्चायं  
योगः, परो नियमः ।

इष्टवाची परशब्दः । विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति । पञ्चमप्य-

यदि यह इको गुणवृद्धी उसका शेष हो, तो उसी के साथ इसका विप्रतिषेध  
( तुल्य बन्धविरोध ) युक्त न होगा । और यदि यह उसका अपवाद है, तो भी उत्सर्ग  
और अपवाद का विप्रतिषेध अयुक्त है । नियम ( अलोन्त्यस्य ) का अवकाश है—राज क च  
( राजन् से उ प्रत्यय हो और अन्त्य अच् न् को ककारादेश हो )—सिद्धरूप  
हुभा—राजकीयम् । इको गुणवृद्धी इसका अवकाश है चयन चायक लवन लावक ।  
यहां दोनों की प्राप्ति है—मेयति माष्टि । इको गुणवृद्धी इसकी प्रवृत्ति होती है  
विप्रतिषेध से ।

यह विप्रतिषेध युक्त नहीं । विप्रतिषेध होने पर परशास्त्र प्रवृत्त होता है, यह  
सूत्र ( इको गुणवृद्धी ) तो पूर्व है, और नियम ( अलोन्त्यस्य ) पर है ।

परशब्द इष्टवाची है । विप्रतिषेध होने पर पर जो इष्टरूप का साधक है  
यह होता है ।

तो भी यहां विप्रतिषेध युक्त नहीं । स्थानी का दो कार्यों के साथ योग होना  
विप्रतिषेध कहलाता है । यहां तो एक स्थानी को दो कार्यों के साथ योग ( दो कार्यों  
की प्राप्ति ) नहीं है ।

१ पूर्वाचार्य अलोन्त्यस्य को नियम-नाम से कहते हैं ।

२ अलोन्त्यपरिभाषा का यहां कुछ फल न होने से उसकी उपस्थिति नही, ऐसा  
आशय है ।

यद्यपि चायक लावक यहां अचोष्णिति से होनेवाली वृद्धि में अच् स्थानी के  
निर्दिष्ट होने से इक् परिभाषा की उपस्थिति अनावश्यक है तो भी वृद्धिग्रहण के लिये  
से अच् को विरोध मान कर अन्सम्बन्धी जो इक् उसको वृद्धि हो इस प्रकार इक् की  
उपस्थिति मानने में कोई हानि नहीं ऐसा आशय है ।

युक्तो विप्रतिषेधः । द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । न चात्रैको द्विकार्य-  
युक्तः । नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः । किंतिहिं । असम्भवोपि । स  
चास्त्यत्रासंभवः । कोऽसावसंभवः । इह तावद् वृक्षेभ्यः पृक्षेभ्य इति ।  
एकः स्थानी, द्वावादेशौ, न चास्ति संभवः यदेकस्य स्थानिनो द्वावादेशौ  
स्याताम् । इहेदानीं—मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति इति द्वौ स्थानिनौ, एकादेशः,  
न चास्ति संभवः । द्वयोः स्थानिनोरेक आदेश स्यादित्येवोऽसम्भवः ।  
सत्येतस्मिन्नसम्भवे युक्तो विप्रतिषेधः ।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । द्वयोर्हि सावकाशयोः समवस्थितयोर्वि-  
प्रतिषेधो भवति । अनवकाशश्चायं योगः ।

ननु चेदानीमेवास्यावकाशः प्रकृतः चयनं चायको लघनं लायक

यह कोई नियम नहीं कि दो कार्यों की युगपत् प्राप्ति ही विप्रतिषेध होता है ।  
तो क्या ? असम्भव भी विप्रतिषेध होता है । वह असंभव यहाँ है । वह असंभव  
वि-स्वरूप है ? इसका प्रथम निदर्शन है—पृक्षेभ्यः, पृक्षेभ्यः । यहाँ तुपि च से यजादि  
सुप् प्रत्यय भ्यम परे होने पर अदन्त अङ्गरूप स्थानी को दीर्घ प्राप्त होता है और बहुवचने  
ज्ञेयत् से उनी को ए प्राप्त होता है । यह सम्भव नहीं कि एक स्थानी को दो आदेश  
हों । द्वितीय निदर्शन है—मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति—यहाँ दो स्थानी हैं, एक आदेश है  
( इको गुणवृद्धि से मिद् का इ स्थानी है और अलोन्त्यग्य से मिद् का द् स्थानी है ।  
यह संभव नहीं कि दो स्थानियों को एक आदेश हो ) । सो इस प्रकार के असंभव  
के होने से विप्रतिषेध युक्त ही है ।

ऐसा होने पर भी विप्रतिषेध अयुक्त ही है, कारण कि अपने-अपने विषय में  
सावकाश ( चरितार्थ ) एकत्र युगपत्प्राप्त दो विधिसास्त्रों का विप्रतिषेध होता है ।  
यह योग ( इनो गुणवृद्धि ) तो अनवकाश है ( इसका अलोन्त्यग्य—से अनवरत्न  
( न विरा हुआ ) स्वतन्त्र विषय नहीं है ) ।

अर्था अर्था अभी इसका अवकाश दिखाया गया है—चयनं चायकः, लघनं

१ द्विकार्ययोगः—यह बहुतही है । द्वाभ्यां कार्याभ्यां योगो यस्य स्थानिनः  
स द्विकार्ययोगः । द्वाका विप्रतिषेध के साथ सामानाधिकरण्य इस तरह से हुआ कि  
विप्रतिषेध का विषय होने से स्थानी को ही विप्रतिषेध वह दिया है ।

२. एक साथ दो आदेश न हो सकने में हेतु यह है कि ज को दीर्घतर अनन्तर  
यप् परे होने पर विहित है और ण्य अनन्तर झल् परे होने पर । अब यह संभव नहीं  
कि इन दोनों कार्यों का अपने अपने निमित्त के साथ आनन्तर्य हो ।

इति । अत्रापि नियमः प्राप्नोति । नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते । यावता च नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते, ततस्तस्यापवादोऽयं योगो भवति । उत्सर्गापवादयोश्चायुक्तो विप्रतिषेधः । अथापि कथंचिद् “इको गुणवृद्धी” इत्यस्यावकाशः स्यात्, एवमपि यथेह विप्रतिषेधादिको गुणो भवति मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति इति, एवमिहापि स्यात्—अनेनिजुः, पर्यवे-  
विपरिति ।

एवं तर्हि वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति यत्र न्याद् इक् इत्येतत्तत्रोप-  
स्थितं द्रष्टव्यम् । किं कृतं भवति । द्वितीया पट्टी प्रादुर्भास्यते । तत्र  
कामचारः, गृह्यमाणेन वेकं विशेषयितुम्, इका वा गृह्यमाणम् । यावता  
कामचारः, इह तावन्मिदं मृजिपुगन्तलघूपधर्हिदशिक्षिप्रभृतेषु गृह्यमाणमिक  
विशेषयिष्यामः—एतेषां य इगिति । इहेदानीं जुसि सार्वधातुकार्धधातुक

लावक । यहाँ भी अलोन्यस्य की प्राप्ति है । इसकी प्राप्ति होने पर ही इका गुणवृद्धा  
इस सूत्र का आरम्भ है । चूँकि अगेन्त्यस्य की प्राप्ति होने पर ही इसका आरम्भ  
होता है अतः येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य वाचको भवति इस न्याय  
से यह इको गुणवृद्धी अलोन्यस्य का अपवाद दहरता है और उत्सर्ग और अपवाद  
का विप्रतिषेध युक्त नहीं । और यदि किसी प्रकार ( ज्यों त्यों अर्थात् अलोन्यस्य  
की प्रवृत्ति का कुछ फल न होने से उसकी अप्रवृत्ति मानकर ) इको गुणवृद्धा इसका  
स्वतन्त्र अवकाश मिल जाय, तो भी जैसे पूर्व विप्रतिषेध से मेद्यान, मेद्यतः,  
मेद्यान्ति में इक् को गुण होता है, वैसे ही अनेनिजुः, पर्यवेविजु में भी इक् की  
गुण होने होगी ।

( भव सिद्धान्त पक्ष कहते हैं ) तो ऐसा समझना चाहिए कि जहाँ सूत्रकार  
यह कहे वृद्धि हो, गुण हो, वहाँ इक् यह पद उपस्थित हो जाता है ( इसे पदोप-  
स्थिति पक्ष कहते हैं ) ऐसा समझना चाहिए ।

इससे क्या होता है ?

एक दूसरा पञ्चम्यन्त पद उपस्थित हो जाता है । ऐसा होने पर यह स्वेच्छाचार  
है कि चाहे हम गृह्यमाण ( सूत्र में पड़े हुए पञ्चम्यन्त ) पद को विशेषण मानकर  
इक् को उसका विशेष्य मानें, अथवा इक् को विशेषण तथा गृह्यमाण पञ्चम्यन्त पद  
को विशेष्य ( पहली अवस्था में अज्ञस्य यह अवयव पट्टी होगी । दूसरी अवस्था में  
अज्ञस्य स्थानपट्टी होगी और इक् के विशेषण होने से तदन्तविधि होगी, अर्थात्  
इगन्त अज्ञ को कार्य होगा ) । इससे सर्वेष्टसिद्धि हो जायगी । मिदिमन्तिपुगन्त-  
इत्यादि वातिक में पड़े हुए शब्दों में इक् को विशिष्ट करेंगे, अर्थ होगा—इनका जो  
अवयव इक् उसे गुण होता है । जुमि सार्वधातुक० इत्यादि में इक् स गृह्यमाण

ह्रस्वाद्योगुणेष्विका गृह्यमाणं विशेषयिष्यामः—एतेषां गुणो भवति, 'इकः' इगन्तानामिति ।

अथवा सर्वत्रैरात्र स्थानी निर्दिश्यते । इह तावन्मिदेरित्यभिभक्तिको निर्देशः, मिद् ए मिदेरिति । अथवा षष्ठीसमासो भविष्यति—मिदः इः, मिदि, मिदेरिति ।

पुगन्तलघूपधस्येति । नेचं विज्ञायते पुगन्ताङ्गस्य लघूपधस्य चेति । कथं तर्हि । पुङ्क्ति अन्तः पुगन्तः, लघ्वी उपधा लघूपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधम्, पुगन्तलघूपधस्येति । अवश्यं चेतदेवं विशेषम्, अङ्ग-विशेषणे सर्ताह प्रसज्येत भिनत्ति छिनत्तीति ।

ऋच्छेरपि प्रदिल्लनिर्देशोऽयम्—ऋच्छति ऋ ऋताम्=ऋच्छत्यु-ताम् इति ।

( पठे हुए स्थानी दृष्टो ) को प्रिणिष्ट करेंगे—अर्थ होगा इनको गुण होता है, इग्विशिष्ट अर्थात् इगन्तो को ।

अथवा इन सयमे स्थानी का निर्देश पहले से ही हुआ है । ( कैसे ? ) मिद् को ही पहले लाजिए । यहाँ मिदे में मिद् अभिभक्तिक निर्देश है और एः इ का पञ्चान्त रूप है । अथवा मिदः यह षष्ठी समास समझना चाहिए—मिद इः ( मिद् का इकार ) मिदि, उसका पञ्चान्त रूप हुआ—मिदेः । ( इस प्रकार यहाँ स्थानी इक ( इ ) का स्पष्ट निर्देश है ।

पुगन्तलघूपधस्य— यहाँ भी स्थानी निर्दिष्ट है ( कैसे ? ) पुगन्त और लघूपध अङ्ग का ऐसा अर्थ नहीं, किन्तु पुक् पर होने पर ( पुक् आगमवाले ) अङ्ग के अन्य अरयत्र का और लघ्वी उपधा का, ऐसा अर्थ है । ( लघूपधा यह विशेषणविशेष्य समास है ), पीछे पुगन्तश्च लघूपधा च इन दोनों का समाहार द्वन्द्व पुगन्तलघूपधम् ऐसा हुआ । उसका पञ्चान्तरूप है पुगन्तलघूपधस्य । अवश्य ऐसा विग्रह समझना चाहिए, कारण कि यदि लघूपध अङ्ग का विशेषण हो तो भिनत्ति छिनत्ति में भी गुण प्रसक्त होगा ।

ऋच्छि ( धातु ) में भी स्थानी का प्रक्षेप से निर्देश है—ऋच्छति ऋश्च ऋताम्=ऋच्छत्युताम् ।

१ यदि पुगन्तलघूपधस्य च सूत्र में लघ्वी उपधा लघूपधा तस्या गुणो भवति इग प्रकार स्थानी का निर्देश मानने तथा तच्छेद पक्ष के आश्रयण से वहाँ इत् परिभाषा की उपस्थिति नहीं मानी जाएगी तो लघूपधगुण के दृष्टाक्षेप न होने से भिन्नम् छिन्नम् में स्थिति च में गुण का निषेध नहीं प्राप्त होगा तो इसका उत्तर है—असिगृधि-

दशोरपि यागविभागः करिष्यते —“उरङ्गि गुणः” उः अङ्गि गुणो भवति ततो “दशोः” दशोश्चाङ्गि गुणो भवति । उरित्येव ।

क्षिप्रधुद्रयोरपि “यणादिपरं गुणः” इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेव सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनम्—इको यथा स्यादनिको मा भूदिति ।

अथ वृद्धिग्रहणं किमर्थम् । किं विशेषेण वृद्धिग्रहणं चोद्यते न पुनर्गुणग्रहणमपि । यदि किञ्चिद्गुणग्रहणस्य प्रयोजनमस्ति, वृद्धिग्रहणस्यापि तद्भावितुमर्हति । को वा विशेषः ।

अयमस्ति विशेषः । गुणविधौ न स्वविस्थानी निर्दिश्यते । तत्रावश्य स्थाननिर्देशार्थं गुणग्रहणं कर्तव्यम् । वृद्धिविधौ पुनः सर्वत्रैव स्थानी

दशि ( दश् घातु ) के विषय में योगविभाग से स्थानी की लब्धि हो जाएगी ऋशोऽङ्गि गुण इस सूत्र का इस प्रकार विभाग करेंगे—उरङ्गि गुण ऋ को अङ् प्रत्यय पर रहते गुण होता है । तब पढ़ेंगे दशोश्चाङ्गि गुण । इसमें पूर्व योग से ऋ की अनुरसि आएगी, अर्थ होगा—“श्” को अन् पर रहते गुण होता है और वह उसके ऋ को हो ।

स्थूलदूरयुक्क्षुद्रक्षिप्राणा यणादिपर पूर्वस्य च गुण ( ६।४।१५६ ) यहा भी क्षुद्र और क्षिप्र के विषय में स्थानी का निर्देश किया हुआ है । यहा यणादिपर गुण ऐसा न्यास करने से भी लोप और ( उ, इ को ) गुण हो जाते, फिर जो पूर्व ग्रहण किया है उसका प्रयोजन यह है कि गुण इक् को हो, इक् से भिन्न ( व्यञ्जन ) को न हो ।

अब यह विचार का विषय है कि इको गुणार्द्धी में ग्राह्य ग्रहण का क्या प्रयोजन है । यह ग्रहण वृद्धि ग्रहण के विषय में ही क्यों करते हो गुण ग्रहण के विषय में भी क्यों नहीं करते ? यदि सूत्र में गुण ग्रहण का कुछ प्रयोजन है, ( ऐसा समझते हो ) वही वृद्धि ग्रहण का भी हो सकता है । अथवा इनमें क्या अन्तर है ?

यह अन्तर है—गुण विधि में स्थानी का निर्देश किसी स्थल में हुआ है किसी में नहीं भी हुआ । वहां स्थानी ( इक् ) के निर्देश के लिए गुण ग्रहण अवश्य ही करना चाहिए । वृद्धि विधि में तो स्थानी प्रायः सर्वत्र निर्दिष्ट है—जैसे अवाग्गिति

धृषिक्षिपे. वनुः यहा वनु प्रत्यय को और हलन्ताच्च से सन् प्रत्यय को जो किन् किया है उस ज्ञापक से इग्लक्षण न होने पर भी लघूपधगुण का निषेध हो जाएगा । अन्यथा गृध्नु विभित्सति यहा वनु सन् प्रत्ययों में लघूपधगुण के इग्लक्षण न होने से विटति च से निषेध की प्राप्ति ही नहीं तो किन् करना व्यर्थ है ।

निर्दिश्यते “अचोऽङ्गिति” “अन उपधायाः” “तद्धितेऽप्यचामादेः” इति ।

अत उत्तरं पठति—

वृद्धिग्रहणमुत्तरार्थम् ॥

वृद्धिग्रहणं क्रियते । किमर्थम् । उत्तरार्थम् । “किञ्चि” इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । स वृद्धेरपि यथा स्यात् ।

कदचेदानीं किञ्चित्प्रत्ययेषु वृद्धेः प्रसङ्गः । यावता “ङ्गिति” इत्युच्यते ।

तच्च मृज्यर्थम् ॥

मृजेर्बृद्धिरविशेषेणोच्यते । सा किञ्चि मा भूत्—मृष्टः मृष्टवानिति ।

इहार्थं चापि ॥

इहार्थं चापि मृज्यर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम् । मृजेर्बृद्धिरविशेषेणोच्यते सेको यथा स्यात्, अनिको मा भूदिति ।

( ७।२।११५ ) अन उपधाया ( ७।२।११६ ), तद्धितेऽप्यचामादे ( ७।२।११७ ) में, सो वृद्धि ग्रहण के नियम में प्रश्न युक्त ही है ।

इसका उत्तर धार्मिककार पढ़ते हैं —

( वा० ) वृद्धि ग्रहण उत्तर सूत्र में अनुरक्ति के लिए है ।

वृद्धि ग्रहण किया है । किस लिए ? उत्तर सूत्र के लिए । किञ्चित् य इससे प्रतिषेध कहेंगे, यह प्रतिषेध जैसे गुण का है वैसे वृद्धि का भी हो ।

पर किञ्चित्प्रत्यय पर रहते वृद्धि का कौन सा प्रसङ्ग ( अस्सर ) है क्योंकि वृद्धि की प्राप्ति णि, णिन् प्रत्यय पर होने पर होती है ।

( वा० ) यह वृद्धि ग्रहण मृजि के लिए ( मृज् धातुविषयक वृद्धि निषेध के लिए ) है ।

मृज् धातु को सामान्यरूप से (प्रत्यय-विशेषका आश्रयण किए बिना) वृद्धि विधान की है । यह वृद्धि किञ्चित् प्रत्यय पर होने पर न हो—मृष्ट, मृष्टवान् ।

( वा० ) यहाँ=मृजि वृद्धि के लिए भी ।

यहाँ अर्थात् मृजेर्बृद्धि के लिए भी वृद्धि ग्रहण करना चाहिए । मृज् को वृद्धि सामान्यरूपेण अर्थात् ( इष्ट ) रूपान्ता का उच्चारण किए बिना विधान की गई है । यह इक् को हो, इक्-भिन्न को न हो, इस लिए इसी गुणवृद्धि में वृद्धि ग्रहण इक् पद की उपस्थिति के लिए मफल है ।

१. अगेन्य परिभाषा से अन्त्य के ग्यान में वृद्धि होगी, अन्य यहाँ नृ है—यह अभिप्राय है ।



मृत्यर्थमिति चेद्योगविभागः सिद्धम् ॥

मृत्यर्थमिति चेद्योगविभागः करिष्यते—“मृजेर्बुद्धिरचः” । ततः “ङिति” ङित णिति च वृद्धिर्भवति ‘अचः’ इत्येव ।

यद्यचो वृद्धिरुच्यते, न्यमोर्द अटोपि वृद्धिः प्राप्नोति ।

अटि चोक्तम् ॥

किमुक्तम् । ‘अनन्त्यविकारेऽनन्त्यसदेशस्य कार्यं भवति’ इति ।

वृद्धिप्रतिषेधानुपपत्तिस्त्विप्रकणात् [ तस्मादिगलक्षणा वृद्धि ]

वृद्धेस्तु प्रतिषेधो नोपपद्यते । किं कारणम् । इक्प्रकरणात् । इगल-

(वा०) मृज् के इक् को वृद्धि हो इस लिए वृद्धि ग्रहण किया है यदि ऐसा कहते हो तो वह तो कुछ प्रयोजन नहीं, क्योंकि योगविभाग से ही इट सिद्ध हो जायगा ।

मृज् के लिए यदि कहते हैं, तो यहाँ योगविभाग कर लेंगे—मृजेर्बुद्धिरच, ऐसा एक योग पढ़ेंगे (अर्थात् अगले सूत्र का अच इस पूरे योग के साथ पढ़ेंगे), इसके अनन्तर ङिति यह पढ़ेंगे । इसमें पूरे योग से अच. की अनुवृत्ति आ जायगी ।

यदि यहाँ वृद्धि अच् को विहित है ऐसा कहते हो तो लावस्था में ही अट् (आगम) होने पर पश्चात् अच् के स्थान में होने वाली वृद्धि अट् को भी होने लगेगी ।

(वा०) अट के विषय में उत्तर दिया जा चुका है । क्या ?

यह न्याय है कि जब दो अनन्त्य स्थानियों को आदेश प्राप्त होता हो तो उस अनन्त्य के स्थान में आदेश हो जो अनन्त्य के समीप हो । (इससे अनन्त्य ज् के समीपवर्ती अच् को ही वृद्धि होगी) ।

(वा०) वृद्धि का प्रतिषेध तो उपपन्न नहीं होता, इक् का प्रस्ताव (प्रक्रम=प्रकरण) होने से ।

वृद्धि का प्रतिषेध तो नहीं बजता । क्या कारण है ? इक् प्रकरण होने से ।

१. लावस्था में ही अट् करने पर अट् सहित मृज् भी मृज् ही है, अतः मृजेर्बुद्धिरचः इस योग से अट् के अच् को भी वृद्धि होने लगेगी ।

क्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न चैवं सति मृजेरित्यलक्षणा वृद्धिर्भवति । तन्मान्मृजेरित्यलक्षणा वृद्धिरेषितव्या ।

एव तर्हि—इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ सश्रमं विभाषा वृद्धिमारभन्ते—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु परिमार्जन्तु परिममृजन्तु परिममार्जन्तु रिन्याद्यर्थम् । तदिहापि साध्यम् । तस्मिन्साध्ये योगविभागः करिष्यते मृजेर्बुद्धिर्यो भवति । तत्र “अचि क्ठिति” अजादौ च क्ठिति मृजेर्बुद्धिर्भवति । परिमार्जन्ति परिमार्जन्तु परिममार्जन्तुः ।

किमर्थमिदम् ।

नियमार्थम्, अजादादेव क्ठिति मान्यत्र । क्वान्यत्र मा भूत् । मृष्टः मृष्टः प्रामिति । ततो “या” याऽचि क्ठिति मृजेर्बुद्धिर्भवति । परिमृजन्ति परिमार्जन्ति परिममृजन्तु परिममार्जन्तुरिति ।

किन्ति नाम्न इह स्थानिक गुणवृद्धि का प्रतिषेध करता है । पर ऊपर कहें हुए योग विभाग में मृज की वृद्धि इत्यलक्षणा इक् को निमित्त मान कर न होगी, भल । कि न म इस भव लक्षणा वृद्धि का निषेध न हो सकेगा । इस लिए निषेध की सिद्धि के लिए स्थानी के लभार्थ यहां इक् परिभाषा की उपस्थिति इरीकार करना चाहिये ।

इस पर इक् परिभाषा की अनुपस्थिति सूचित करत हुए एकदमी कहता है—गाम्नि न भनिरिक् वैयाकरण यहां अर्थात् मृज क विषय में अजादि सद्व्रत में भयान गुण-वृद्धि-प्रतिषेधक अजादि किन्, त्ति प्रत्यय पर होने पर विकल्प से वृद्धि का स्थान करत है । उदाहरण—परमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु परिमार्जन्तु, परिममृजन्तु, परिममार्जन्तु । यह वैकल्पिक वृद्धि पाणिनीय लोगों को भी इष्ट होने से साध्य है । इसके साधन के लिए योगविभाग करेंगे—मृजेर्बुद्धिर्यो भेमा पढ़ेंगे, तदनन्तर अत्र किन्ति ऐसा पढ़ेंगे । अर्थ होगा—अजादि किन्, त्ति प्रत्यय पर होने पर भी मृज को वृद्धि होगी है । परिमार्जन्ति, परिमार्जन्तु परिममार्जन्तु ।

तो इस योगविभाग का क्या प्रयोजन है ?

यह उक्त योग नियमार्थ रहेगा—अजादि ही किन् प्रत्यय पर होने पर वृद्धि हो ।

और क्यों न हो—मृष्ट मृष्टवान् (यहां क लचतु किन् है पर अजादि नहीं) ।

इसके अनन्तर या यह श्रवक योग पढ़ेंगे, पूर्वसूत्र में अचि क्ठिति की अनुरक्ति भाग्यी त्रिमस इष्ट वैकल्पिकरूप—परमृजन्ति परिमार्जन्ति परिममृजन्तु परिममार्जन्तु मिद हो जायेंगे ।

इहार्थमेव तर्हि सिजर्थ वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम् । सिचि वृद्धिरविशेषेणो-  
च्यते सेको यथा स्याद् अनिको मा भूदिति । कस्य पुनरनिकः प्राप्नोति ।  
अकारस्य । अचिकीर्षात्, अजिहीर्षात् । नैतदस्ति । लोपोत्र बाधको भविष्यति ।  
आकारस्य तर्हि प्राप्नोति—अयासीत् अवासीत् । नास्त्यत्र विशेषः सत्यां  
वृद्धावसत्यां वा । सन्ध्यक्षरस्य तर्हि प्राप्नोति । नैव सन्ध्यक्षरमन्त्यमस्ति ।

भच्छा तो जैसे मृजि के लिए वैसे सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु ( ७।२।१ )  
से विधीयमान वृद्धि इवस्थानिक हो इसके लिए इत्तो गुणवृद्धी में वृद्धि ग्रहण  
करना चाहिए । कारण कि सिज्जिमित्तक वृद्धि सामान्येन=स्थानिविशेष का  
माध्रयण किए बिना विधान की गई है, वह इक् के स्थान में हो, इक्-भिन्न के  
स्थान में न हो ।

पर सिचि वृद्धि कौन से अनिक् के स्थान में प्राप्त होती है ?

अकार के स्थान में । अचिकीर्षात्, अजिहीर्षात्—यहाँ ।

नहीं, अतो लोप आर्धधातुके से अचिकीर्ष, अजिहीर्ष इन सन्नन्त भ्रष्टों के अन्त्य  
अ का लोप इस वृद्धि का बाधक होगा ।

भच्छा तो आकार के स्थान में वृद्धि प्राप्त होती है—अयासीत्, अवासीत्—  
यहाँ ।

यहाँ वृद्धि हो भयवा न हो, कुछ अन्तर नहीं पड़ता ( रूप एक ही  
रहता है ) ।

सन्ध्यक्षर को वृद्धि प्राप्त होती है ।

पर अन्त्य ( वृद्धियोग्य ) सन्ध्यक्षर मिलेगा ही नहीं ।

१. एव यहा अपि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

२. यह अपवाद होने से सक् और इद् आगम पहले हो जायेंगे, तब आकार  
अन्त्य नहीं रहेगा सो सिचिवृद्धि न हो सकेगी, यह परिहार भी दिया जा सकता  
था—कैयट ।

३. यदि कहो गो शब्द से आचार त्विन् करने पर गौरिवाचारीत् अगवीन् यहा  
नामधातु में गो यह सन्ध्यक्षर अन्त्य है जिसे वृद्धि सम्भव है तो उसका उत्तर है  
सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु में श्रुत इदातोः से धातु ग्रहण की अनुवृत्ति करके शुद्ध धातु  
स्व जो धातु है उसे वृद्धि मानी जायगी । पीठे धातु बने नामधातु में सिचि वृद्धि न  
होगी । उससे अगवीन् में दोष न होगा ।

ननु चेदमस्ति ढलोपे कृते उदबोढाम् उदबोढम् उदबोढेति । नेतदस्ति । असिद्धो ढलोपः । तस्यासिद्धत्वान्नैतदन्त्यं भवति । व्यञ्जनस्य तर्हि प्राप्नोति अमैत्सीत् अच्छेत्सीत् । हलन्तलक्षणा वृद्धिर्वाधिका भविष्यति यत्र तर्हि सा प्रतिषिध्यते “नेटि” इति अक्रोषीत् अमोषीन् । सिचि वृद्धेरप्येव प्रतिषेधः । कथम् । लक्षणं हि नाम ध्वनति भ्रमति मुहूर्तमपि नावतिष्ठते ।

भर्ता ऐसा सन्ध्यक्षर यहाँ उदबोढाम्, उदबोढम्, उदबोढ में ढलोप होने पर मिलता है ( उसे वृद्धि का प्रसङ्ग है ) ।

नहीं, ऐसा नहीं । ढलोप के असिद्ध होने से पहले हलन्तलक्षणा वृद्धि होगी, तब ढलोप के होने पर उस के असिद्ध होने से ओंकार अन्य न होगा, अतः उसे सिचि वृद्धि से वृद्धि न होगी ।

तो व्यञ्जन के स्थान में वृद्धि प्राप्त होती है । अमैत्सीत्, अच्छेत्सीत् यहाँ हलन्तलक्षणा वृद्धि इस वृद्धिकी वाधिका होगी ।

पर जहाँ हलन्तलक्षणा का निषेध है नेटि ( णटि ) इस सूत्रसे जैसे अक्रोषीत् अमोषीन् ( वहाँ व्यञ्जन को ही हो जाएगा ) ।

नेटि प्रतिषेध हलन्तलक्षणा वृद्धि का ही नहीं, सिचि वृद्धि का भी है । यह कैसे ?

लक्षण ( सूत्र, शास्त्र ) का स्वभाव है कि वह ( अव्यक्त रूप से ) ध्वनन करता हुआ सर्वत्र व्यापृत होता है, अतः एव किसी एक लक्ष्य में ही विभ्रान्त नहीं हो जाता ।

१. नेटि यह शास्त्र सामान्यरूप से इडादि परम्पैपद-परक सिद्धि पर होने पर हलन्त को जो भी कोई वृद्धि प्राप्त होता है उस सबका निषेध करता है । अव्यक्त= निर्विशेष रूप से कथन को ध्वनन करते हैं । यहाँ भी नेटि हलन्तलक्षणा वृद्धि का ही निषेध करता है ऐसी व्यक्ति ( सृष्टता ) नहीं । ऐसा हो सकता है कि शास्त्र की प्रतिषेध्य विषय में प्रवृत्ति होने से चरितार्थता होने पर दूसरे प्रतिषेध्य विषय में उसकी प्रवृत्ति न हो, अतः कहा है—भ्रमति अयां सर्वत्र व्यापृत होता है । यह भी हो सकता है कि जब यह ( शास्त्र ) एक के निषेध में व्यापृत हो रहा है उसी काल में द्वितीय विधि प्रवृत्त हो रही है और प्रवृत्त हुए विधि का निषेध हो नहीं सकता,

अथवा “सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु” इति सिचि वृद्धिः प्राप्नोति। तस्या हलन्तलक्षणा वृद्धिर्वाधिका। तस्या अपि “नेटि” इति प्रतिषेधः।

अस्ति पुन स्वचिदन्यत्रापि अपवादे प्रतिषिद्धे उत्सर्गोपि न भवति। अस्तीत्याह—सुजाते अद्यसूनुते, अध्वर्यो अग्निमि सुतम्, शुक ते अन्यदिति। पूर्वरूपे प्रतिषिद्धेऽप्यादयोपि न भवन्ति।

उत्तरार्थमेव तर्हि सिजर्थ वृद्धिग्रहण कर्तव्यम्। सिचि वृद्धिरविशे-

अथवा मित्र वृद्ध परस्मैपदेषु इससे सामान्य रूप से सिचि की निमित्त मानकर परस्मैपद प्रत्यय पर होने पर वृद्धि प्राप्त होती है। इस हलन्तलक्षणा वृद्धि बाधती है और इस हलन्तलक्षणा का नेटि यह प्रतिषेध करता है।

क्या कहीं अन्यत्र भी ऐसा होता है कि अपवाद का प्रतिषेध हो जाने पर उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति न हो ? हाँ होता है, देखिये सुजाते अवसूनुते अध्वर्यो अग्निमि सुतम्, शुक ते अन्यदिति। यहाँ प्रकृतिभाव से पूर्वरूप का निषेध हो जाने पर अपादि भावेष भी नहीं होते।

अच्छा तो उत्तरार्थ ही अर्थात् सिचि वृद्धि क लिये इस गुणवृद्धा में वृद्धि ग्रहण करना चाहिये। सिचिवृद्धि सामान्यरूपेण ( बिना प्रत्यय विशेष का आश्र-

अन कहा है शास्त्र मुहूर्तमपि इत्यादि। भाव यह है कि दोनों स्थानों में युगपत् (एक साथ) व्यापार होता है। और वह शब्दवृद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाव इस न्याय के बल पर।

१ अपवादे प्रतिषिद्धेऽप्युत्सर्गो न भवति यदि कश्चिदपि तत्र वृद्धि के अपवाद पूर्वसवर्ण दीर्घ के नादिचि से प्रतिषिद्ध हो जाने पर। पर वृद्धिरेचि यह उत्सर्ग कार्य नहीं होना चाहिए तो उसका उत्तर है—वहा सघोदघौ०, तौ सत् इत्यादि शेषों से उत्सर्ग कार्य की पुन प्रवृत्ति हो जायगी।

२ नान्त पादमव्यपरे ऐसा सूत्र पाठ मानकर यह कहा है। प्रकृत्याऽन्त पादमव्यपरे ऐसा न्याय स्वीकार करने पर तो उत्सर्ग एचोऽयवायाव और तदपवाद एड पदान्तादिति—इन दोनों का निवृत्ति प्रकृत्या—सूत्र से ही जाता है। न कि अपवाद के द्वारा उत्सर्ग का बाध।

३ भ्रष्टावसर न्याय से।

पेणोच्यते सा षडिति मा भूत् न्यनुवीत् न्यधुवीत् । नैतदस्ति प्रयोजनम् ।  
 अन्तरङ्गत्वादत्रोषड्भादेशे कृतेऽनन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न भविष्यति । यदि तर्हि  
 सिच्यन्तरङ्गं भवति—अकार्पात् अहार्पात्, गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वाद्  
 वृद्धिर्न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । “हलन्तस्य—” इत्येवं भविष्यति । इह तर्हि  
 न्यस्तारीत् न्यदारीत् । गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति ।  
 हलन्तलक्षणायाश्च “नेटि” इति प्रतिषेधः । मा भूदेवम् । ह्रान्तस्य इत्येवं

यण किये ), विधान की गई है, वह किन् टिन् प्रत्यय परे होने पर न हो, यथा  
 न्यनुवीत् न्यधुवीत् में नहीं होती ।

यह कोई प्रयोजन नहीं ।

उवङ् आदेश अन्तरङ्ग है वृद्धि यहिरङ्ग है, उवङ् आदेश हो जाने पर अङ् के  
 अजन्त न होने से सिचि वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं रहती ।

यदि सिच् प्रत्यय परे होने पर अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति होती हो तो  
 अकार्पात् अहार्पात्—यहाँ ( अन्तरङ्ग ) गुण हो जाने पर रपर होने पर अच् के  
 अनन्त्य होने से ही सिचि वृद्धि नहीं होगी ।

सिचि वृद्धि मत हो हलन्तलक्षणा वृद्धि हो जाएगी ।

अच्छा तो न्यस्तारीत् न्यदारीत् में ( अन्तरङ्ग गुण और रपरत्व होने पर अच्  
 के अनन्त्य न होने से सिचि वृद्धि की प्राप्ति नहीं और रही हलन्तलक्षणा, उसका  
 प्रकृत में नेटि से निषेध हो जाता है ।

१ न्यनुवीत्—निपूर्व णू स्तवने कुटादि तौदादिक का लुङ् में रूप ।

२ न्यधुवीत्—निपूर्व धू विधूनेने कुटादि तौदादिक का लुङ् में रूप ।

३ उवङ् आदेश को इडादि मिच् की ही अपेक्षा है, वृद्धि को सिच् और  
 परस्मैपद—इन दोनों की । अतः उवङ् आदेश अपापेक्ष होने से अन्तरङ्ग है ।

४ अनन्त्यत्वात्=अचोऽनन्त्यत्वात् । यद्यपि इक् परिभाषा की अनुपस्थिति में  
 सिचिवृद्धि अन्त्य अल् मान को प्राप्त होती है, तथापि हलन्तलक्षणा वृद्धि द्वारा बाधित  
 होने से इसका अजन्त अङ्ग ही विषय रह जाता है । अतः अन्त्य अच् के न होने से  
 ऐसा कहा ।

५. न्यस्तारीत्—निपूर्वक स्तृन् आच्छादने का लुङ् में रूप ।

६. न्यदारीत् निपूर्वक दृ विदारणे का लुङ् में रूप ।

भविष्यति । इह तर्हि अलावीत् अयावीत् । गुणे कृतेऽवादेशे चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति । हलन्तलक्षणायाश्च “नेटि” इति प्रतिषेधः । मा भूदेवम् । “लान्तस्य” इत्येवं भविष्यति । “लान्तस्य” इत्युच्यते, न चेद् लान्तम् । “लान्तस्य” इत्यत्र वकारोपि निर्दिश्यते । किं वकारो न श्रूयते । लुप्तनिर्दिष्टो वकारः । यद्येवम्—मा भवानवीत्, मा भवान् मवीत् । अत्रापि प्राप्नोति । अविमन्योर्नेति वक्ष्यामि । तद्वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् । णिद्विवभ्यां तौ निमातव्यौ<sup>३</sup> । यद्यप्येतदुच्यते । अथ चैतर्हि णिद्वयोः प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति । गुणे कृतेऽवादेशे च यान्तानां नेत्येव प्रतिषेधो भविष्यति ।

सिचि वृद्धि मत्त हो, अतो लान्तस्य ( ७।२।२ ) इससे यहाँ वृद्धि हो जाएगी । अष्टा अलावीत्, अयावीत् — यहाँ ( अन्तरङ्ग ) गुण होने पर अवादेश हो जाने पर अच् अन्य न मिलने से सिचि वृद्धि न होगी । हलन्तलक्षणा का प्रकृत में नेटि से निषेध प्राप्त है ।

सिचि वृद्धि मत्त हो, अतो लान्तस्य से यहाँ वृद्धि हो जाएगी । पर सूत्र में लान्तस्य ऐसा पड़ा है, यहाँ तो अङ्ग न लान्त है और न रान्त, किंतु अवादेश हो जाने से वान्त है । व भी यहाँ निर्दिष्ट होकर पीछे लोपो व्योर्वल से लुप्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये ।

यदि ऐसा मानते हो तो अनिष्ट प्रसङ्ग होता है मा भवानवीत्, मा भवान् मवीत् यहाँ भी वृद्धि प्राप्त होती है ।

इसके कारण के लिये अविमन्योर्ने ऐसा निषेध वचन पड़ दूँगा ।

तो क्या ऐसा अपूर्व वचन पढ़ना होगा ?

नहीं, म्र्यन्तङ्ग—” ( ७।२।२ ) इत्यादि सूत्र में णि द्विव के स्थान में भव् और मव् को पड़ दिया जायगा । यद्यपि ऐसा कहा जाय तो भी गौरव कुछ भी नहीं, परन्तु लाभ है—णि द्विव का सूत्र में प्रतिषेध नहीं करना पड़ता । अन्तरङ्ग गुण हो जाने पर अवादेश होने पर अङ्ग के यान्त होने से ही निषेध सिद्ध होगा ।

१. अयावीन्—यु मिथ्रणामिऋण्यो आदादिक का लुङ् में रूप ।

२. (अ) मवीत्—मव—बन्धने स्वादि ५० माङ् के योग में अडागम का लोप होने पर लुङ् में रूप ।

३. निमातव्यौ—निपूर्वक मेङ् प्रणिधाने भौवादिक से नव्य प्रत्यय । इस धातु का नि के बिना प्रयोग दुर्लभ है ।

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति' यद्यम् "अतो ह्लादेर्लघो" इत्यकारग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापयम्। अकारग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्—इह मा भूत्—अकोपीत् अमोपीत्। यदि सिच्यन्तरङ्गं स्याद् अकारग्रहणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृतेऽलघुत्वाद् वृद्धिर्न भविष्यति। पश्यति त्याचार्यो न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति, ततोऽकारग्रहणं करोति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्त्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। न्निम्। यत्र गुणः प्रतिषिध्यते तदर्थमेतत् स्यात् न्यकुटीत् न्यपुटीत्।

अच्छा तो आचार्य की प्रवृत्ति बताती है सिच् पर रहते अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, इसी हेतु आचार्य अनो ह्लादेर्लघो ( ७१।७ ) में अकार ग्रहण करते हैं।

यह ज्ञापक कैसे है ?

अकार—ग्रहण का यह प्रयोजन है—अकार्यान् अमोरीन् में वैकल्पिकी वृद्धि न हो। यदि सिच् पर रहते अन्तर ( गुण ) हो तो अकार ग्रहण व्यर्थ हो जाय, गुण होने पर लघु अक्षर न होने से यह वृद्धि न होगी। पर आचार्य जानते हैं सिच् पर अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः अकार ग्रहण करते हैं।

नहीं। यह ज्ञापक नहीं बनता। इस वचन का और प्रयोजन है।

जहाँ गुण का प्रतिषेध है वहाँ के लिए 'अनो ह्लादे—' में अकार ग्रहण किया है—न्यकुटीन्, न्यपुटीन्। अच्छा सो जो णि इव का प्रतिषेध किया है वह इस

१ सिच् पर रहते अन्तरङ्ग कार्य नहीं होता इस विषय में येन नामानि न्याय ही बहुत बड़ा समर्थक है। गुण आदि की अवयव प्राप्ति में सिचि वृद्धि का विधान किया है इस लिये वह अन्तरङ्ग गुण आदि की बाध लेगी। उसके चिरि त्रिरि के लुङ् में अधिरायीत्, अजिरायीत् तथा यदलुगन्त नेनी बेची के लुङ् में अनेनार्यान् अचेचार्यान् ये इष्ट रूप बन जाते हैं। अन्यथा अन्तरङ्ग गुण तथा अयादेश हो कर यान्त हो जाते हैं अन्तश्चण० से वृद्धि प्रतिषेध हो जाता तो अनिष्ट रूप प्राप्त होता।

२. अकोपीत्—कुप निष्कर्षे क्यादि सेट् परस्मैपदा। इसका तिप् परे लुङ् में रूप है।

३. न्यपुटीन्—निपूर्वक पुट संश्लेषणे कुटादि तुदादि सेट् परस्मैपदा इसका तिप् परे रहते लुङ् में रूप।

न्यकुटीत् न्यपुटीत्—यहाँ गुण वृद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, उससे वृद्धि



यत्तर्हि निश्चयोः' प्रतिषेधं शास्त्रि तेन नेहान्तरङ्गमिति दर्शयति । यच्च करोत्यकारग्रहणं लघोरिति कृतेपि ।

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धि ॥

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिरास्थेया ॥

बात का ज्ञापक है कि सिच् परे अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती । और जो लघु कहने पर भी उसे अ से विशिष्ट करते हैं यह भी ज्ञापक है ।

( वा० ) अतः यह व्यवस्थित हुआ सिचि वृद्धि इग्लक्षणा माननी चाहिए ॥

का बाध होता है, पाँछे कुटादिच रूप हेतु से गुण का निषेध होने पर भी पाक्षिरी वृद्धि नहीं होती, इसमें अतो हलादेर्लघोः मे अन्-ग्रहण कारण है न कि भ्रष्टावसर न्याय जो सिद्धान्त में है ही नहीं । अतः अन्-ग्रहण की ज्ञापकता सिद्ध न हुई ।

१. अच्छा तो नि सिचि का जो प्रतिषेध किया है वह ज्ञापक रहेगा कि सिच् परे अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि यदि हो, तो गुण होने पर वान्त होने से ही निषेध सिद्ध है । ज्ञापक होने पर उक्त निमान ( परिवर्तन ) का कुछ भी उपयोग नहीं । अयावीन् अलागीत्—यहा सिच्यन्तरङ्ग नास्ति इस बात के ज्ञापित हो जाने पर अन्तरङ्ग गुण न होने से अतः के ( ओ के स्थान में अवादेश के न होने से वान्त न होने के कारण अतो लान्तस्य में वकार प्रत्यय न करना पड़ेगा और न अन् मव् में अतिप्रमक्त वृद्धि की वारण करने के लिए अविमर्ष्योर्न ऐसा निषेध वचन पड़ना होगा और न ही अपूर्ववचन करने के गोरव के परिहार के लिये ह्यन्त—सूत्र में नि सिचि के स्थान में अन् मव् को पटने की आवश्यकता होगी ।

२. निरस्त किए हुए ज्ञापक को सिद्धान्तोक्तन्याय में पुन म्रिय करते हैं—अतो हलादेर्लघोः मे लघु ग्रहण करने पर भी जो अन्-ग्रहण किया—यन्-ज्ञापक ही है । भाव यह है—यदि सिचि वृद्धि—मे एक ग्रहण न हो तो अक इत्यादि में अन्त्य अल् ( ध्यञ्जन ) की वृद्धि प्राप्त होती है उसे रोम्ने के लिए बाध्य विशेष चिन्ता पक्ष को लेकर जो आपने सिचि वृद्धि के अपवाद इग्लक्षणा वृद्धि का नेटि से निषेध होने पर भ्रष्टावसरन्याय में सिचि वृद्धि की अप्राप्ति स्वीकार की, उस रीति से न्यकुटीत् इत्यादि में भी वृद्धि ही अप्राप्ति रहेगी ।

३. तस्मात् अतः न्यनुवीत् इत्यादि में उवङ् को बाध कर प्राप्त हुई वृद्धि के निषेध के लिए इग्लक्षणा सिचि वृद्धि होती है, यह मानना होगा । किन्तु वृद्धि प्रत्यय परे होने पर इग्लक्षणा गुणवृद्धि ही निषेध हो इस लिए और अकोपीत् इत्यादि में

पष्ठधा. स्थानेयोगत्वादिगुणिवृत्तिः ॥

पष्ठधाः स्थानेयोगत्वात्सर्वेषामिकां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति दधि मधु । पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

अन्यतरार्थं पुनर्वचनम् ॥

अन्यतरार्थमेतत्स्यात्—सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुण एवेति ।

प्रसारणे च ॥

प्रसारणे च सर्वेषां यणां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति-  
याता याता । पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

( वा० ) इको गुणवृद्धी इस सूत्र में ( इकः ) यह पठि स्थानपठि है अतः इक् की निवृत्ति ( प्राप्त होती है ) ।

इकः इस पठि के स्थानेयोगा पठि होने से इक् मात्र का इको गुणवृद्धी से विधीयमाने गुणवृद्धि रूप आदेश द्वारा निवृत्ति प्राप्त होती है ।

( यदि इको गुणवृद्धी स्वतन्त्र विधि है अनियमे नियमकारिणी परिभाषा नहीं ? तो मिद्वेगुणः इत्यादि से ) पुनः गुण आदि विधान किस लिए किया ?

( वा० ) अन्यतर ( दो में से एक गुण अथवा वृद्धि के लिये ) पुनः विधान रहेगा ।

[इको गुणवृद्धी से पर्याय (क्रम) से प्राप्त गुण वृद्धि में से] एक के विधान के लिये पुनः विधान हो सकता है जैसे सार्वधातुकार्धधातुकयोः में सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय—रूप निमित्त होने पर गुण ही हो (वृद्धि न हो) ।

अनिकु ( वा० ) सम्प्रसारण में भी सब यणों की निवृत्ति प्राप्त होती है । याता याता भी । तो वचित्स्वि— इत्यादि पुनः सम्प्रसारण—विधान किस लिये किया ?

अनिकु को गुण न हो इस लिए भी वचित् वृद्धि इत्यलक्षणा स्वीकार करनी चाहिये । बाध्यसामान्यचिन्ता और अष्टावसर न्याय तो एकदेशी की उक्ति है सिद्धान्त नहीं ॥

१. इको गुणवृद्धी यह स्वतन्त्र विधायक शास्त्र है । इको यणचि इसे अपने विषय में बाध लेया, इससे वह शास्त्र धर्मार्थ नहीं होता । इस पूर्व पक्ष का उत्थान विधिनियमयोर्विधेरेव ज्यायान् इस न्याय के अधीन धर्माधर्म से होता है ।

२. इयणः सम्प्रसारणम् में यणः को स्थानपठि मान कर स्वतन्त्र विधायक

विषयार्थं पुनर्वचनम् ॥

विषयार्थमेतत्स्यात् वचिस्वपियजादीनां कित्येवेति ।

उरण् रपरे च ॥

उरण् रपरे च सर्वेभ्यःकारणां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति—कर्तृ हर्तृ इति ।

सिद्धं तु पष्ठयधिकारे वचनात् ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । पष्ठयधिकारे इमे योगाः कर्तव्याः । एकस्तावत् क्रियते तत्रैव । इमावपि योगौ पष्ठयधिकारमनुवर्तिष्येते । अथवा पष्ठयधिकारे इमौ योगावपेक्षिष्यामहे । अथवेदं तावदयं प्रष्टव्यः—‘सार्वधातुकार्ध-

विषय नियम (=निमित्त-नियम) के लिये हो सकता है —वचिस्वपि और यजादि धातुओं को कित् प्रत्यय पर होने पर ही सम्प्रसारण हो ( भक्ति पर रहते न हो ) ।

उरण् रपरः में भी (स्थानपट्टी मान कर) अकार मात्र की निवृत्ति प्राप्त होती है । कर्तृ हर्तृ यहाँ भी ।

( वा० ) पष्ठयधिकार में पढ़ने से इष्टसिद्धि (सर्वाक्षेप समाधान-रूप) हो जाती है ।

इन भाष्यों का समाधान हो जाता है । कैसे ? पट्टी स्थानेयोगा से प्रारम्भ हुए पष्ठयधिकार में ये सूत्र पढ़ने चाहियें । एक=उरण् रपरः का तो पहले ही इस अधिकार में पाठ किया हुआ है । इस सूत्र से पूर्व अथवा पश्चात् इको गुणवृद्धी तथा इग्यणः सम्प्रसारणम् पढ़ दिया जाएगा ।

अथवा पष्ठयधिकार में इन योगों (इको गुणवृद्धी, इग्यणः सम्प्रसारणम्) की अपेक्षा करेंगे ।

अथवा स्वतन्त्र विधि मानने वाले से हम यह पूछते हैं—सार्वधातुकार्ध-शास्त्र स्वीकार कर अर्थ होगा—यण् मात्र के स्थान में इक् हो और उसकी सम्प्रसारण संज्ञा होती है । इससे यण् मात्र की निवृत्ति प्राप्त होती है ।

१. उरण् रपरः—यहाँ भी ऋ के स्थान में अण् हो और वद् रपर हो—यह अर्थ होगा ।

२. शास्त्रीयाधिकार में जैसे सम्बन्ध आकाङ्क्षामूलक होता है वैसे ही लौकिकाधिकार में भी, अतः शास्त्रीयाधिकार को नष्ट कर अब लौकिक अपेक्षा-लक्षण अधिकार

धातुरूपोर्गुणो भवति इतीह कस्माच्च भवति—याता याता । इदं तत्रापेक्षि-  
ष्यते—‘इको गुणवृद्धी’ इति । यथेय तर्हि इदं तत्रापेक्षिष्यते एवमिहापि  
तदपेक्षिष्यामहे सार्वधातुकार्धधातुरूपोः’ इति ॥ इको गुणवृद्धी ॥

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिप्ररचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य  
प्रथमे पादे तृतीयमाह्निकं समाप्तम् ॥

धातुरूपो इस शास्त्र से जो गुण होता है वह याता वाता में क्यों नहीं होता ? तुम्हारा  
उत्तर यही है गा न—इको गुणवृद्धा कि यहा हम इको गुणवृद्धी की अपेक्षा करेंगे  
(अर्थात् सार्वधातुकार्ध० से विहित गुण किस हो इस अपेक्षा=आकाङ्क्षा से इको गुण-  
वृद्धी के साथ इसकी प्रकाशयता करेंगे) इस लिये जैसे इको गुणवृद्धी इसकी  
सार्वधातुका० में अपेक्षा है ऐसे ही इस में सार्वधातुका० की अपेक्षा है जिससे इको  
गुणवृद्धा स्वतन्त्र विधि है इसका प्रत्याख्यान हो जाता है ।

को कहते हैं । इसके लिए पष्ठी स्थानयोगा को दो योगों में विभक्त कर दिया  
जायगा—(१) पष्ठी, (२) स्थानयोगा । पूर्वयोग का अर्थ होगा—पण्यधिकार में  
जो कुछ अनुक्रम से कहा गया है वह जहां पठानिर्दिष्ट को कार्य विधान किया गया है,  
वहां उपस्थित हो जाता है । योग्यता के अनुसार ( इष्ट और व्याख्यान से भ्रं ) इको  
गुणवृद्धी तथा इम्यण सम्प्रसारणम् इन दो की ही अपेक्षा होगी, ॥ कि अनुक्रान्त  
मात्र की ।

१ जिस प्रकार विधि को स्थानी की अपेक्षा=आकाङ्क्षा होती है इसी प्रकार  
इस ( इको गुणवृद्धी ) को भी अपने सम्बन्धी विधेय के बोधक शास्त्र ( सार्वधातुका० )  
की अपेक्षा होती है ॥

## चतुर्थ आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में न घातुलोप आर्धधातुके ॥१११४॥ इस सूत्र से लेकर नाज्झलौ ॥१११९०॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्खासमाधान महित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार य हैं—

न घातुलोप आर्धधातुके ॥१११४॥

(क) सूत्र का पदकृत्य दिखा कर आर्धधातुक ग्रहण को लोप तथा गुणवृद्धि दोनों का विशेषण निर्दोष सिद्ध किया है।

(ख) सूत्र के इष्ट विषय का परिगणन करके इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध मानते हुए परिगणन का प्रत्याख्यान किया है।

(ग) अन्त में स्थानिवद्भाव द्वारा इष्टसिद्धि मान कर सूत्र का ही खण्डन कर दिया है।

किरुति च ॥१११५॥

(क) तन्निमित्त ग्रहण के प्रयोजन बताकर उसका खण्डन किया है।

(ख) इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध मानते हुए लैगवायन, कामयते में वृद्धिनिषेध का अभाव सिद्ध किया है।

(ग) अचिनवम्, अयुनवम् आदि में स्थानिवद्भाव से प्राप्त लङ् लकार का द्विव मान कर उसके परे रहते किकार्य का यासुट के द्विवचन में निराकरण किया है।

दीधीवेवीटाम् ॥१११६॥ सूत्र का प्रयोजन बता कर उसका सर्वथा खण्डन कर दिया है।

हलोन्तरा संयोग ॥१११७॥

(क) अनन्तर शब्द में दोनों विग्रहों को निर्दोष सिद्ध कर हलों में प्रत्येक की स्यागसहा रोकने के लिए कहे गये 'सह' शब्द के ग्रहण को अन्यथासिद्ध दिखाया है।

(ख) केवल दो हलों के समुदाय में दो की मिली हुई एक संयोग संज्ञा मानी है, किन्तु बहुत हलों के समुदाय में दो दो की भी अलग संयोग संज्ञा स्वीकार की है और सारे समुदाय की भी।

(ग) निखेँयात् इत्यादि में समुदाय की संयोगसंज्ञा पक्ष में प्राप्त दोष का दोष की संयोगसंज्ञा मानकर निराकरण किया है ।

(घ) भिन्नजातीय को ही सर्वत्र व्यवधायक मानते हुए स्वरानन्तहितवचनम् इम वार्तिक का खण्डन किया है । साथ ही ग्राम शब्द के बहुत अर्थ बताये हैं ।

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥१११८॥

(क) मुखनासिकावचन\* का विग्रन्पूर्वक अर्थ बताकर मुख और नासिका ग्रहण का प्रयोजन बताया है ।

(ख) प्रासादवामिन्याय से मुख ग्रहण का खण्डन कर दिया है ।

(ग) शब्दों को नियम मानकर अनुनासिकसंज्ञा में प्राप्त इतरेतराश्रयदोष का समाधान किया है ।

तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम् ॥१११९॥

(क) सूत्रस्थ पदों का अन्वय\* विग्रन्पूर्वक अर्थ-निर्देश करके समस्त सूत्र का अर्थ बताया है ।

(ख) आस्य शब्द के मुख और मुख में होनेवाले स्थान प्रपञ्च में दोनों अर्थ स्वीकार किये हैं ।

(ग) मुख में होनेवाले आभ्यन्तर प्रयत्नों की तुल्यता में ही सवर्णसंज्ञा मानते हुए आस्ये तुल्यदेशप्रयत्न सवर्णम् इस वार्तिककारकृत सूत्रन्यास का खण्डन किया है ।

(घ) बाह्य प्रयत्न बता कर सवर्णसंज्ञा में उनकी तुल्यता को अनावश्यक माना है ।

(ङ) ज व ग ड ढ इन तुल्यप्रयत्न वाले भिन्नस्थान वाले वर्णों की तथा ष छ, प ठ, स थ इन तुल्यस्थान वाले भिन्न आभ्यन्तर प्रयत्न वाले वर्णों की सवर्णसंज्ञा रोकने के लिए तुल्यास्यप्रयत्नम् में द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि समास न मानकर त्रिन्द बहुव्रीहि या तत्पुरुषगर्भवहुव्रीहि समास स्वीकार किया है ।

(च) ऋकार एकार की सवर्णसंज्ञा मान कर ऋति ऋ वा, एति ए वा वचनम् इन वार्तिका का खण्डन कर दिया है ।

नाज्जलौ ॥१११९०॥

(क) सूत्रस्थ अच् शब्द के इको यणचि इत्यादि की तरह अपने सवर्णियों का प्राक्क समक्षत हुए इकार का सवर्णी हल् शकार, दीर्घ ईकार की तरह अच् है ऐसा मान कर इस सूत्र से शकार के साथ शकार की सवर्णसंज्ञा का निषेध प्राप्तिरूप दोष

दिखाया है फिर इकार शकार के प्रयत्नभेद से या वाक्याग्निसमाप्ति न्याय द्वारा उसका समाधान करते हुए वाक्यपरिममाप्ति का स्वरूप दिखाया है ।

(ख) पक्षान्तर में शकार के साथ शकार की सवर्णसंज्ञा न होने में भी कोई हानि नहीं यह दिखाते हुए परदशतानि कार्याणि में दो शकार हों या तीन हों श्रवण में कोई भेद नहीं पड़ता यह सिद्ध किया है ।

(ग) ऊष्मों का ईषद्विवृत और खरों या भजों का विवृत प्रयत्न मानते हुए एन प्रकार से इस सूत्र का खण्डन भी कर दिया है ।



## अथ चतुर्थमाहिकम्

न धातुलोप आर्धधातुके ॥१॥१४॥

धातुग्रहणे किमर्थम् ? ॥

इह मा भूत् । लृञ् लयिता । लवितुम् । पूञ्-पयिता । पवितुम् ॥  
आर्धधातुकग्रहण किमर्थम् ? ॥

सूत्र में धातुग्रहण किस लिये किया है । क्योंकि आर्धधातुकसंज्ञक प्रत्यय धातु से ही विहित होता है । उस के पर होने पर धातु का ही लोप समझा जायगा ।<sup>१</sup>

धातुग्रहण के अन्तर्गत में जिस किसी का भी लोप होने पर गुणवृद्धि का निषेध प्राप्त होगा । लयिता लवितुम् । पयिता पवितुम् ( लृञ् पूञ् इद् वृच्, तुमुन् ) यहाँ लृञ् पूञ् के अकार अनुबन्ध का लोप होने पर भी इस सूत्र से सार्वधातुकगुण का निषेध प्राप्त होता है वह न होवे इस लिये धातुग्रहण किया है । लृञ् पूञ् में अकार अनुबन्ध है, धातु नहीं है । धातु तो केवल वियावाची होने से लृ. पू. है । वृच्, तुमुन् प्रत्यय आर्धधातुक हैं । उन के पर होने पर सार्वधातुक गुण हो जाता है ।<sup>२</sup>

आर्धधातुकग्रहण किस लिये किया है ?

१ सम्पूर्ण धातु का लोप होने पर तो गुणवृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं उठता जिस के लिये निषेध की आवश्यकता हो । जब धातु ही लुप्त हो गया तो गुणवृद्धि किसे करेंगे ऐसी अवस्था में यहाँ धातु के एकदेश अथवा अवयव में धातुशब्द लाक्षणिक माना गया है । जैसे कपड़े का कुछ हिस्सा जग जान पर भी कपड़ा जल गया ऐसा प्रयोग होता है इसी प्रकार यहाँ आर्धधातुक पर रहते धातु के अवयव का लोप होने पर गुणवृद्धि का निषेध होता है । यह सूत्र का अर्थ है ।

२ यदि लोप और गुणवृद्धि दोनों जब एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर हों तभी निषेध माना जाय तब तो धातुग्रहण व्यर्थ है । उसकी आवश्यकता नहीं । क्योंकि लृञ् पूञ् व अकार अनुबन्ध का लोप तो अनैमित्तिक है । बिना किसी को निमित्त माने हो जाता है । वृच्, तुमुन् इन आर्धधातुक प्रत्ययों के आने से पूर्व ही हो गया है इस लिये लयिता, लवितुम् में गुणनिषेध न होगा । यह बात आगे स्पष्ट होगी ।



त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥

किं पुनरिदमार्धधातुकग्रहणं लोपविशेषणम् । आर्धधातुकनिमित्ते धातुलोपे सति ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति । आहोस्विद् गुणवृद्धिविशेषणमार्धधातुकग्रहणम् । धातुलोपे सत्यार्धधातुकनिमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवत इति ॥

किं चातः ? ॥

यदि लोपविशेषणम् । उपेक्ष. प्रेक्षः अत्रापि प्राप्नोति । अथ

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवाति यहां रोरवीति ( रोह्य-ईद् तिप् ) इस वैदिक प्रयोग में यहलुगन्त रोह्य धातु क अवयव य का लोप आर्धधातुक पर होने पर नहीं हुआ बल्कि उस से परे सार्वधातुक तिप् प्रत्यय है । उस में गुणनिषेध न हो जाने इस लिप् आर्धधातुकग्रहण किया है ।

क्या सूत्र में यह आर्धधातुकग्रहण केवल लोप का ही विशेषण माना है, गुणवृद्धि का नहीं ? जहां आर्धधातुक को निमित्त मान कर धातुलोप हुआ हो वहां प्राप्त गुणवृद्धि का यह निषेध करता है । गुणवृद्धि चाहे आर्धधातुक को निमित्त मान कर न भी हो । लोप अवश्य आर्धधातुक निमित्तक होना चाहिए ऐसा मानते हैं ? या गुणवृद्धि का विशेषण आर्धधातुकग्रहण माना है, लोप का नहीं । जहां धातुलोप होने पर आर्धधातुक को निमित्त मान कर गुणवृद्धि प्राप्त हो वहां यह गुणवृद्धि का निषेध करता है । लोप चाहे आर्धधातुकनिमित्तक न भी हो ऐसा मानते हैं ?

इससे क्या ?

यदि लोप का विशेषण आर्धधातुकग्रहण को मानते हैं तो उपेक्ष, प्रेक्ष ( उप, प्र-इन्ध्-क् ) यहां भी गुणनिषेध प्राप्त होगा । क्योंकि यहां इन्ध् के नकार का लोप आर्धधातुक क् प्रत्यय को मान कर अनिदिता हल ० सूत्र से हुआ है । परन्तु उप और इन्ध् में आद्यगुण से होने वाला गुण एकादेश आर्धधातुक को मान

१ रोरवीति में यडोचि ॥ सेहुआ यड् का लुक् अनैमित्तिक है । तिप् सार्वधातुक के आने से पहले ही हो जाता है इस लिये लोप और गुण की एक आर्धधातुक निमित्तकता न होने से यह प्रयोजन भी अन्यथा सिद्ध हो जाता है ।

गुणवृद्धिविशेषणम् । कनोपयतीत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

यथेच्छसि तथास्तु । अस्तु लोपविशेषणम् ॥

कथम् उपेक्षः प्रेक्ष इति ? ॥

बहिरङ्गो गुणः । अन्तरङ्गः प्रतिषेधः । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥

कर नहीं हुआ है । और यदि गुणवृद्धि का विशेषण आर्धधातुकग्रहण को मानते हैं तो कनोपयति ( कन्य, पुक्, णिच्, तिप् ) यहां भी गुण का निषेध प्राप्त होगा । क्योंकि यहां आर्धधातुक णिच् प्रत्यय को मान कर पुगन्त गुण हुआ है किन्तु लोपोप्योर्वलि से होनवाला कन्य के वकार का लोप आर्धधातुक को मान कर नहीं हुआ है ।

जैसी इच्छा हो वैसा मान लीजिये । आर्धधातुक को लोप का विशेषण मान लीजिये ।

आर्धधातुक को लोप का विशेषण मानने पर उपेक्ष, प्रेक्ष कैसे बनेंगे ?

उपेक्ष, प्रेक्ष में आद्यगुण से होनेवाला गुण उप और इन्ध इन दो पदों की अपेक्षा रखने से बहिरङ्ग है । न धातुलोप सूत्र से होने वाला गुण का निषेध केवल इन्ध का अपेक्षा रखने से अन्तरङ्ग है । असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है इस परिभाषा के चल से बहिरङ्ग हुआ गुण असिद्ध है । निषेध सूत्र की दृष्टि में नहीं आता । यदि पहले उप और इन्ध का सम्बन्ध करके फिर न प्रत्यय लाते तब यद्यपि गुण अन्तरङ्ग है और निषेध सूत्र बहिरङ्ग है तो भी हर हालत में जो भी बहिरङ्ग है उसके असिद्ध होने से दोष नहीं होगा ।

१ यदि क्वो नाजानन्तर्ये बहिष्वप्रकलसि इस परिभाषा द्वारा असिद्ध परिभाषा का निषेध हो जाने से उक्त समाधान ठीक नहीं बनता तो इसका उत्तर है कि यह परिभाषा जहां दो अचों का आनन्तर्य सूत्रविहित है वहीं असिद्ध परिभाषा का निषेध करती है । न धातुलोप सूत्र में यह प्रवृत्त नहीं हो सकता । इको यणचि इत्यादि सूत्रों में दो अचों का अव्यवहित आश्रयण स्पष्ट निर्दिष्ट है वहीं यह परिभाषा असिद्ध परिभाषा का निषेध करेगी । जैसे अक्षसू\* ( अण दिव् क्विप् ) यहां दिव् के वकार के स्थान में च्छत्रो. श्रु० से ऊर् आदेश होता है वह क्विप् की अपेक्षा रखने से बहिरङ्ग है । नाजानन्तर्ये इस परिभाषा द्वारा इको यणचि से दि के इकार को यण् करने में बहिरङ्ग होता हुआ भी ऊर् असिद्ध नहीं होता । उपेक्ष\*, प्रेक्ष यहां न धातुलोप सूत्र से गुणनिषेध करने में अव्यवहित अचों का आश्रयण सूत्रोपात्त नहीं है, अतः नाजानन्तर्ये इस परिभाषा का यह सूत्र विषय नहीं है । वैसे भी आद्यगुण यह गुण इच्छापण नहीं है इस लिए न धातुलोप सूत्र का विषय उपेक्ष, प्रेक्ष नहीं हो सकता ।

यद्येवं नाथों धातुग्रहणेन । इह कस्माच्च भवति । लृञ् लविता ।  
लवितुम् । पूञ्-पविता पवितुम् । आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः ।  
न चैव आर्धधातुकनिमित्तो लोपः ।

अथवा पुनरस्तु गुणवृद्धिविशेषणम् ॥

ननु चोक्तं क्रोपयतीत्यत्रापि प्राप्नोति ?

नैव दोषः । निपातनात् सिद्धम् । किं निपातनम् । चले कनोपेः इति ॥

परिगणनं कर्तव्यम् ।

यङ्यङ्ग्यवलोपे प्रतिषेधः ।

यङ्यङ्ग्यवलोपे प्रतिषेधो यक्तव्यः । यङ् । वेभिदिता । मरीमृजः ।

यदि आर्धधातुक को लोप का विशेषण मानते हैं तो सूत्र में धातुग्रहण की अपेक्षता नहीं । लविता, लवितुम् । पविता, पवितुम् यहाँ भकार अनुबन्ध का लोप होने पर गुणनिषेध क्यों नहीं होता ? इस लिये नहीं होता कि यहाँ लृच्, तुमुन् इन आर्धधातुक प्रत्ययों को निमित्त मान कर अनुबन्ध का लोप नहीं हुआ है । यह तो अनैमित्तिक है । आर्धधातुक के आने से पहले ही बिना किसी निमित्त को मान कर हो जाता है । आर्धधातुक को निमित्त मान कर जहाँ लोप होगा वहाँ यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करेगा । इस लिये धातुग्रहण के अभाव में भी लविता, लवितुम् में दोष न होगा ।

ठीक है । चाहे आर्धधातुक को गुणवृद्धि का विशेषण मान लीजिये ।

क्रोपयति में जो गुणनिषेध की प्राप्ति का दोष कहा था वह आर्धधातुक को गुणवृद्धि का विशेषण मानने में कैसे समाहित होगा ?

यह कोई दोष नहीं । क्योंकि चले कनोपे- इस सूत्र में क्रोपे इस निपातन से यहाँ गुण सिद्ध हो जायगा । वक्त निपातन से गुण का निषेध न मान कर गुण का विधान ही स्वीकार किया जायगा ।

इस सूत्र के विषय का परिगणन कर देना चाहिये कि यहाँ - पर गुण वृद्धि का निषेध होता है । यङ् यक् क्यप् और वकार के लोप में गुणवृद्धि का निषेध होता है ऐसा कहना चाहिये । वेभिदिता ( वेभिद्यङ् लृच् ) यहाँ यङन्त वेभिद्य धातु में लृच् प्रत्यय आर्धधातुक को मान कर यङ्ग्य लृच् में यङ् के वकार ( समुदाय ) का लोप हुआ है उसी लृच् को मान कर प्राप्त होने वाला लृङ्प्रत्यय नहीं होता । मरीमृज ( मरीमृज्यञ्च ) यहाँ यङन्त मरीमृज्य धातु में अच् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर यङोचि च से यङ् का लृक् हुआ है । उसी अच् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाली मजेवृद्धिः से वृद्धि नहीं होती । कुपुमिता ( कुपुम्य-

यक् । कुपुभिता । मगधकः । क्य । समिधिता । द्यपदकः । वलोपे—  
जीरदानुः । किं प्रयोजनम् ?

नुम्लोपस्त्रिव्यनुबन्धलोपेऽप्रतिषेधार्थम् ।

नुम्लोपे स्त्रिव्यनुबन्धलोपे च प्रतिषेधो मा भूदिति । नुम्लोपे ।  
अभाजि । रागः । उपवर्हणम् । स्त्रिवेः अस्त्रेमाणम् । अनुबन्धलोपे—लृञ्  
लघिता लघितुम् ।

इद् तृच् ) यहाँ कण्ठादियगन्त कुपुभ्य धातु में तृच् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर यक् के यकार का यस्य हल् से लोप हुआ है । उसी तृच् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला लघूपध गुण नहीं होता । मगधक ( मगध्य-ण्वुल् ) यहाँ कण्ठादियगन्त मगध्य धातु में ण्वुल् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर यक् के यकार का यस्य हल् से लोप हुआ है उसी ण्वुल् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाली उपधावृद्धि नहीं होती । समिधिता ( समिध्य इद् तृच् ) यहाँ इच्छा क्यजन्त समिध्य धातु में तृच् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर क्यच् के यकार का क्यस्य विभाषा से लोप हुआ है । उसी तृच् को निमित्त मान कर प्राप्त होनेवाला लघूपधगुण नहीं होता । द्यपदक ( द्यपद्य-ण्वुल् ) यहाँ इच्छाक्यजन्त द्यपद्य धातु में ण्वुल् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर क्यच् के यकार का क्यस्य विभाषा से लोप हुआ है । उसी ण्वुल् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाली उपधावृद्धि नहीं होती । वलोप का उदाहरण जीरदानु है । यहाँ जीर् धातु से रदानु प्रत्यय आर्धधातुक पर रहते लोपो व्योर्वलि से जीव् के वकार का लोप हुआ है । उसी रदानु को मान कर प्राप्त होने वाला सार्वधातुक गुण नहीं होता ।

इस परिगणन का क्या प्रयोजन है ? यही कि नुम्लोपे अर्थात् नकार के लोप में, स्त्रिव धातु के वकारलोप में तथा अनुबन्ध के लोप में गुणवृद्धि का निषेध न होवे । नुम्लोप में जैसे—अभाजि । रागः । उपवर्हणम् । ये उदाहरण हैं । इन में गुणवृद्धि का निषेध नहीं हुआ । अभाजि ( भञ्ज् चिण् लुङ् ) यहाँ चिण् को मान कर भञ्जेदच् चिणि से भञ्ज् के नकार का लोप हुआ है । उसी चिण् को मान कर उपधावृद्धि हो गई । राग ( रञ्ज् घञ् ) यहाँ घञ् को मान कर घानच् भाव-करणयो से रञ्ज के नकार का लोप हुआ है । उसी घञ् को मान कर उपधावृद्धि हो गई । उपवर्हणम् ( उप वृह-त्युट् ) यहाँ त्युट् प्रत्यय को मान कर वृहेरच्यनिाट इस वार्तिक से वृह् के नकार का लोप हुआ है उसी त्युट् का मान कर लघूपध गुण हो गया । स्त्रिव् का अस्त्रेमाणम् यह उदाहरण है । अस्त्रिव्-मनिन् यहाँ नन् पूर्वक स्त्रिव् धातु से मनिन् प्रत्यय हुआ है । मानन् प्रत्यय को मान कर लोपो व्योर्वलि से स्त्रिव् के वकार का लोप होता है । उसी मानन् को मान कर सार्वधातुक गुण हो

१. प्राचीन आचार्यों के मत में नकार की नुम्लज्ञा है इसलिए नुम्लोप से तत्प्रत्यय नकारलोप का है ।

यदि परिगणनं क्रियते स्यदः प्रथयः हिमथ्रथ इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

यक्ष्यत्येतत्—निपातनात् स्यदादिषु इति ।

तत्तर्हि परिगणनं कर्तव्यम् ?

न कर्तव्यम् ।

नुम्लोपे कस्मान्न भवति ?

इक्प्रकरणान्नुम्लोप वृद्धि ।

इग्लक्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न चैपेग्लक्षणा वृद्धिः ।

यदीग्लक्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । स्यदः प्रथयः हिमथ्रथः

गया । अनुबन्ध लोप में लयिता, लवितुम् ये उदाहरण हैं । यहा लृत् के नकार अनुबन्ध का लोप होने पर भी तृच्, तुमुन् प्रत्ययों को मान कर सार्वधातुक गुण हो गया ।

यदि सूत्र के विषय का परिगणन करते हैं तो स्यद, प्रथय, हिमथ्रथ, यहाँ भी उपधावृद्धि प्राप्त होती है । क्योंकि न धातुलोप सूत्र तो यद् यक् क्य आदि परिगणित विषय में ही गुणवृद्धि का निषेध कर सकेगा । स्यद् ( स्यन्द्-घञ् ) । प्रथयः, हिमथ्रथः ( प्र, हिम थ्रन्थ्-घञ् ) यहाँ स्यन्द् थ्रन्थ् धातुओं से घञ् हुआ है । घञ् को मान कर स्वरो जवे, अवोदैधौघप्रथयहिमथ्रवाः इन सूत्रों से नकार का लोप होता है । उसी घञ् को मान कर उपधावृद्धि प्राप्त होती है ।

इसका उत्तर निगतनान् स्यदादिषु इस वचन से आगे अभी देंगे । अर्थात् स्यदो जवे, अवोदैधौघ० सूत्रों में स्यद आदि निपातन करने से उपधावृद्धि का लभाव समझा जायगा ।

तो फिर परिगणन कर देना चाहिये ?

नहीं करना चाहिये ।

नकारलोप वाले अभाजि, राग इन उदाहरणों में धातु के अवयव नकार का लोप होने पर उपधावृद्धि का निषेध क्यों नहीं होता ?

॥ धातुलोप सूत्र में इको गुणवृद्धी इस पूर्वसूत्र से इक् पद की अनुवृत्ति आती है । इस लिये इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही यह निषेध करता है । अभाजि, राग में उपधावृद्धि वृद्धि है, इग्लक्षण नहीं तो निषेध नहीं होगा । जहाँ इक् शब्द से वृद्धि कह कर वृद्धि की जाती है वह इग्लक्षणा वृद्धि होती है ।

यदि जहाँ इको गुणवृद्धी यह परिभाषा सूत्र इक् पद की उपस्थिति कराता है उस इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही न धातुलोप सूत्र निषेध करता है अन्य का नहीं तो स्यदः,

इत्यत्र न प्राप्नोति । इह च प्राप्नोति । अवोदः एधः ओझः इति ॥

निपातनात् स्यदादिषु ।

निपातनात् स्यदादिषु प्रतिषेधो भविष्यति । न च भविष्यति ॥

यदीग्लक्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । स्त्रिव्यनुबन्धलोपे कथम् ? ॥

प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम् ।

आर्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः । न चैव आर्धधातुकनिमित्तो लोपः ॥

यद्यार्धधातुकनिमित्ते लोपे प्रतिषेधः । जीरदात्रुत्तियत्र न प्राप्नोति ॥

प्रथम, हिमप्रथ में उपधावृद्धि हो जानी चाहिये क्योंकि यहाँ इग्लक्षण वृद्धि नहीं है । न धातुलोप सूत्र से यहाँ निषेध नहीं प्राप्त होता । और अवोद. ( अत्र उन्द्-घञ् ) । एध ( इन्ध्-घञ् ) । ओझ ( उन्द्-मन् ) यहाँ इग्लक्षण गुणवृद्धि होने से उसका निषेध प्राप्त होता है ।

स्यद., अवोद आदि में स्यदो लघे, अवोदैधो० इत्यादि निपातन करने से गुणवृद्धि का भाव अभास समझा जायगा । स्यद में इग्लक्षण न होने पर भी निपातन से वृद्धि का निषेध हो जायगा । अवोद में इग्लक्षण होने पर भी निपातन से गुण का निषेध नहीं होगा ।

यदि इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही न धातुलोप सूत्र निषेध करता है तो स्त्रिब् के अस्त्रेमाणम् में और लवित्-लविता, लवितुम् यहाँ अकार अनुबन्ध के लोप में कैसे होगा ? यदा इग्लक्षण गुण होने से उसका निषेध क्यों नहीं होता ?

अन्यत्र अर्थात् अस्त्रेमाणम् और लविता, लवितुम् में प्रत्ययाश्रय होने से आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मानने से दोष न होगा । जहाँ आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर धातुलोप हुआ हो वहीं इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध होगा । अस्त्रेमाणम्, लविता, लवितुम् में वकार और अनुबन्ध का लोप आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ है इस लिये इग्लक्षण गुण होने पर भी उसका निषेध नहीं होगा । लविता, लवितुम् में तो स्पष्ट ही वकार अनुबन्ध का लोप अनैमित्तिक है । वह किसी निमित्त को मान कर नहीं हुआ । अस्त्रेमाणम् में यद्यपि मनिन् को मान कर लोपो व्योर्वलि से वकार का लोप हुआ है तो भी उसका निमित्त वल् वर्ण ही है, आर्धधातुक प्रत्यय नहीं है । इस लिये दोनों जगह गुण का निषेध नहीं होगा ।

यदि आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर हुए धातुलोप में इग्लक्षण गुणवृद्धि का निषेध मानते हैं तो जीरदात्रु. में गुण का निषेध नहीं प्राप्त होता ।

रकि ज्यः सम्प्रसारणम् ।

नैतज्जीवे रूपम् । रकि एतद् ज्यः सम्प्रसारणं भवति । यावता ।  
यावता चेदानीं रकि जीवेरपि सिद्धं भवति ॥

कथमुपवर्हणम् ? ॥

वृद्धिः प्रकृत्यन्तरम् ।

कथं ज्ञायते वृद्धिः प्रकृत्यन्तरमिति ? ॥

अचीति हि लोप उच्यते । अनजादावपि दृश्यते निवृह्यते ।  
अनिटीति चोच्यते । इडादावपि दृश्यते—निवर्हिता निवर्हितुम् इति ।

क्योंकि यहाँ भी लोपोव्योर्वलि से हुआ वकार का लोप आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ है । केवल बल् वर्ण को निमित्त माना है ।

जीरदानुः को जीव् धातु से नहीं बनायेंगे । यह जीव् धातु का रूप नहीं मानेंगे । बल्कि ज्या धातु से रक् प्रत्यय करके ग्रहिज्या० से सम्प्रसारण और हलः से दीर्घ हो कर जीरः बन जायगा । उस का दानु शब्द से बहुव्रीहि समास करेंगे तो पूर्वपद-प्रकृतिस्वर हो कर जीरऽदानुः इस प्रकार अवग्रह होगा और रेफ का भकार प्रत्यय के आधुदात्त होने से उदात्त होगा जो कि इष्ट है । सब पदपाठकारों ने यही माना है । रदानु प्रत्यय मानने में स्वर सिद्ध होने पर भी अवग्रह नहीं बनता इस लिये रदानु प्रत्यय नहीं मानेंगे । रक् प्रत्यय मानने पर न केवल ज्या से बल्कि जीव् धातु से भी जीरः बन सकेगा । लोपो व्योर्वलि से जीव के वकार का लोप होकर जीरः की सिद्धि आसान ही है । जीव् से बनाने में रक् प्रत्यय के क्त्वा होने से क्विति च से ही गुण निषेध सिद्ध हो जायगा ।

उपवर्हणम् कैसे सिद्ध होगा ? । क्योंकि यहाँ ल्युट् प्रत्यय आर्धधातुक को निमित्त मान कर वृह् धातु के नकार का लोप हुआ है तो इष्टक्षण लघूपध गुण का न धातुलोप सूत्र से निषेध प्राप्त होता है ।

उपवर्हणम् में वृह् धातु न मान कर वृह् धातु मानेंगे । क्योंकि वृह वृद्धि इन्दी इस प्रकार धातुपाठ में वृह् धातु पृथक् पढ़ा गया है । उससे ल्युट् प्रत्यय करके उपवर्हणम् बन जायगा । नकार लोप का झगड़ा ही न रहेगा । वृहेरच्यनिटि इस वार्तिक की भी आवश्यकता न होगी ।

कैसे जानें कि वृह् से पृथक् वृह् धातु भी है ?

वृहेरच्यनिटि इस वार्तिक से अजादि प्रत्यय पर रहते लोप कहा है किन्तु अजादि पर न होने पर भी नकार का लोप दीखता है जैसे—निवृह्यते । यहाँ अजादिभिन्न यक् प्रत्यय पर होने पर नकार नहीं दीखता । इडादिभिन्न प्रत्यय पर रहते लोप कहा है किन्तु इडादि प्रत्यय पर रहने पर भी नकारलोप दीखता है । जैसे—निवर्हिता । निवर्हितुम् । यहाँ इडादि तुच् पर रहते नकार नहीं दीखता ।

अजादावपि न दृश्यते—वृंहयति । वृंहकः । तस्मान्नार्थः परिगणनेन ॥

यदि परिगणनं न क्रियते । भेद्यते छेद्यते अत्रापि प्राप्नोति ॥

नेप दोष । धातुलोप इति नेवं विज्ञायते-धातोलोपो धातुलोपो धातुलोपे इति । कथं तर्हि ? धातोलोपो यस्मिन्स्तदिदं धातुलोपं धातुलोपे इति । तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः ॥

यदि तर्हीग्लक्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । पापचकः । पापठकः ।

अजादि परे रहते भी लोप नहीं दीखता । जैसे—वृंहयति (वृह् णिच्) वृंहकः (वृह् ण्वल्) । इस से सिद्ध होता है कि वृह् वृह् दो धातु पृथक् २ हैं । जहाँ नकार नहीं सुनाई देता वहाँ वृह् धातु मानी जाएगी तो उपवर्हणम् यह वृह्धातु से ही बन जायगा । इस लिये परिगणन की कोई आवश्यकता नहीं । जो यच् यच् क्यबलोप० इस परिगणन के व्याख्येय थे वे सब अन्यथासिद्ध कर दिये गये हैं ।

यदि परिगणन नहीं करते हैं तो भेद्यते छेद्यते यहाँ भी लघूपध गुण का निषेध इस सूत्र से प्राप्त होता है । क्योंकि ( भिद्-णिच्-यकृ-त् ) इस अवस्था में यच् प्रत्यय आर्धधातुक को मान कर णरनिटि से धातु के अवयव णि का लोप हुआ है और णिच् प्रत्यय को मान कर लघूपध गुण हुआ है ।

यह कोई दोष नहीं । धातुलोप शब्द में धातोलोपः धातुलोपः इस प्रकार पञ्चीतरपुत्र्य समास नहीं माना जाता बल्कि धातोलोपो यस्मिन् तदिदं धातुलोपम् इस प्रकार बहुव्रीहि समास माना जाता है । उस से लोप और गुणवृद्धि दोनों के एक ही आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त होने पर गुणवृद्धि का निषेध होगा । भेद्यते में लोप तो एक को मानकर हुआ है और लघूपधगुण णिच् को मान कर हुआ है । दोनों का एक आर्धधातुक प्रत्यय निमित्त नहीं है, भिन्न २ हैं इस लिये यहाँ गुण का निषेध नहीं होगा ।

इस प्रकार एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर जहाँ धातु के अवयव का लोप और इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वही यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करता है अन्यत्र नहीं यह स्थित हो गया । तस्मादिग्लक्षणा वृद्धि कहते हुए भाष्यकार ने इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही यह सूत्र निषेध करता है इस बात को स्पष्ट पुष्ट कर दिया है ।

यदि एक ही आर्धधातुक प्रत्यय को निमित्त मान कर जहाँ धातु के अवयव का लोप और इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वहीं यह सूत्र गुणवृद्धि का निषेध करता है तो पापचकः ( पापच्य-ण्वल् ) । पापठक ( पापठ्य ण्वल् ) । मगधक ( मगध्य-ण्वल् ) । दृषदक ( दृषद्य-ण्वल् ) यहाँ इग्लक्षण गुणवृद्धि न होने



मगधकः । दृषदकः । अत्र न प्राप्नोति ॥

अलोपस्य स्थानिवद्भावात् ।

अकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावात् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

अनारम्भो वा पुनरस्य योगस्य न्याय्यः ॥

अनारम्भो वा

कथं वेभिदिता । मरीमृजकः । कुपुमिता । मगधकः । समिधिता इति ? ॥

अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः । क च

से उपधावृद्धि का निषेध नहीं प्राप्त होता । उक्त स्थलों में एक ही ण्वुद् प्रत्यय भार्वाधातुक को निमित्त मान कर धातु के अवयव यद् और यस् के अकार सकार का अलोप, यस्य ह्। से लोप हुआ है । उन्ही ण्वुद् को निमित्त मान कर उपधावृद्धि प्राप्त होती है ।

पाचक आदि में अकारलोप के स्थानिवत् होने से उपधावृद्धि नहीं होगी । अचः परस्मिन् पूर्वविधी सूत्र से पर ण्वुद् प्रत्यय को निमित्त मान कर अलोप से हुआ यद् के अकार का लोप पूर्वविधि करने में स्थानिवत् हो जायगा तो धातुस्थ अकार के उपधा में न रहने से वृद्धि न होगी ।

इस सूत्र का आरम्भ न करना भी ठीक है । अर्थात् यदि यह सूत्र न बनाया जाय तो भी कोई हानि नहीं । इसके, सब प्रयोजन अन्यथा सिद्ध हो जाते हैं ।

इस सूत्र के अन्वय में वेभिदिता, मरीमृजक, कुपुमिता, मगधक, समिधिता ये कैसे बनेंगे ?

इन सब में भी यद्, यस्, क्यस् के अकार का लोप अच परस्मिन् सूत्र से स्थानिवत् मान लेंगे तो गुणवृद्धि न होगी ।

जहां स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता वहां गुणवृद्धि रोकने के लिए इस सूत्र की आवश्यकता है । स्थानिवद्भाव कहाँ नहीं हो सकता ? जहां हल् और अच् दोनों के स्थान में आदेश हुआ है जैसे—लोलुपः । (लोलय-अच्) । पोपुवः (पोपय-अच्) । मरीमृजः (मरीमृज्य-अच्) । सरीसृपः (सरीसृप्य-अच्) । यहां लालय आदि यहन् धातुओं में यञोचि च से यद् का लुक् होता है । वह हल् और अच् दोनों के स्थान में

स्थानिवद्भायो नास्ति । यत्र हलचोरादेशः । लोलुवः । पोपुत्रः । मरीमृजः ।  
सरीसृप इति ॥

अत्राप्यकारलोपे कृते तस्य स्थानिवद्भावाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥  
लुकि कृते न प्राप्नोति ।

इदमिह सम्प्रधार्य लुक् क्रियतामल्लोपो वेति । किमत्र कर्तव्यम् ।  
परत्वादल्लोपः ।

नित्यो लुक् । कृतेप्यल्लोपे प्राप्नोति अकृतेपि प्राप्नोति ।

लुग्न्यनित्यः । कथम् । अन्यस्य कृते लोपे प्राप्नोति, अन्यस्याकृते ।  
शब्दान्तरस्य च प्राप्नुयन् विधिरनित्यो भवति ॥

आदेश है। उसमें अब परस्मिन् सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि अब परस्मिन् सूत्र तो केवल अच् के स्थान में हुए आदेश को ही स्थानिवत् करता है। इस लिए लोलुव आदि में गुणवृद्धि रोकने के लिए न धातुलोप सूत्र की आवश्यकता है।

यहां भी यच् के अकार का लोप अतो लोप से करके अवशिष्ट य् का यञोचि च से लुक् कर देंगे। उसमें अकारलोप के अब. परस्मिन् से स्थानिवत् होने से गुणवृद्धि न होगे।

पहले यञोचि च से यच् का लुक् होने पर अतो लोप. से अकारलोप प्राप्त ही नहीं तो कैसा स्थानिवद्भाव ? और उससे गुणवृद्धि का प्रतिषेध ?

यहां यह विचारना चाहिए कि पहले यञोचि च से यच् का लुक् करें या अतोलोप से अकार का लोप ? क्या करना चाहिए ? यञोचि च की अपेक्षा अतो लोप सूत्र के पर होने से विप्रतिषेध पर कार्यम् के नियम से पहले अकार का लोप करना चाहिए।

लुक् नित्य है। अकार का लोप करने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी।

लुक् अनित्य भी है। क्योंकि अतो लोप के लगने पर केवल य् को प्राप्त होता है और उसके न लगने पर पूरे य शब्द को प्राप्त होता है। यह नियम है कि जो विधि शब्दान्तर को प्राप्त होती है अर्थात् पहले किसी और शब्द को, बाद में किसी और शब्द को वह अनित्य होती है। इस प्रकार शब्दान्तर को प्राप्त होने वाला लुक् अनित्य रहता है।

अनवकाशस्तिर्हि लुक् ।

सावकाशो लुक् ।

कोऽवकाशः ?

अवशिष्टः । अथापि कथंचिदनवकाशो लुक् स्यादेवमपि न दोषः । अल्लोपे योगविभागः करिष्यते । अतो लोपः । ततो यस्य । यस्य च लोपो भवति । अत इत्येव । किमर्थमिदम् । लुकं वक्ष्यति तद्व्याघनार्थम् । ततो हलः । हल उत्तरस्य यस्य च लोपो भवति ॥

इह तर्हि परत्याद् योगविभागाद्वा लोपो लुक् बाधेत । कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् । ( ऋ० १, ७९, २ ) नोनूयतेनोनाव ।

समानाश्रयो लुक् लोपेन बाध्यते । कदच समानाश्रयः । य.

अच्छा तो लुक् अनवकाश है । अर्थात् यनो लोप के लगने पर लुक् को लगने का कहीं अवकाश नहीं ।

लुक् सावकाश है । लोप के लगने पर भी लुक् को अवकाश है क्या अवकाश है ?

बाकी बचा य् शब्द लुक् का अवकाश है । अकार लोप होने पर शेष य का लुक् हो सकता है । यदि किसी प्रकार लुक् को अनवकाश मान भी ले तो भी दोष नहीं । क्योंकि अकार लोप के करने में योगविभाग कर लिया जायगा । जैसे अतो लोप, यह तो है ही । इसके बाद यस्य हल् इस सूत्र का योगविभाग करके यस्य और हल्, ये दो सूत्र बना देंगे । यस्य सूत्र में अत की अनुवृत्ति लायेंगे तो अर्थ होगा—यकार के अकार का लोप होता है आर्धधातुक में । आगे हल् इस सूत्र में यस्य की अनुवृत्ति रहेगी । यस्य यह नया बनाया हुआ सूत्र किस लिए होगा ? इस लिए कि यन्वेचि च से जो सीधा य् शब्द का लुक् प्राप्त होता है उसे बाध ले । इस प्रकार विशेष यत्न करके लोलुब आदि में भी अकारलोप ही करेंगे और उसे स्थानिवत् मान कर गुणवृद्धि रोक लेंगे । इस सूत्र की आवश्यकता नहीं ।

यू तो कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् इस ऋग्वेदीय मन्त्र के नोनाव इस यङन्त नोनूय धातु के लिङन्त प्रयोग में भी अकार का लोप पर होना से या योगविभाग क सामर्थ्य से यन्वेचि च से प्राप्त लुक् को बाध लेवे और उसके स्थानिवत् होने से अचोष्णिपि वृद्धि नहीं होनी चाहिए ?

समानाश्रया अर्थात् समान निमित्त वाला लोप लुक् का बाधक होगा । लोलुब, आदि में अच् प्रत्यय दोनों का समान निमित्त है । नोनाव में तो लिट

प्रत्ययाश्रयः । अत्र च प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्लुग भवति ।

कथं स्यद् प्रश्नश्च हिमश्च । जीरदानुः । निकुचितः इति ।

उक्त शेषे ।

किमुक्तम् । निपातनात् स्यदादिषु । प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम् ।  
रकि ज्यः सम्प्रसारणम् । निकुचितेऽप्युक्तम् । “संनिपातलक्षणो विधिर-  
निमित्तं तद्विघातस्येति ।

प्रत्यय की उत्पत्ति से पूर्व ही यञोचि च से यङ् का लुक् हो जाता है । उस सूत्र में चकार ग्रहण का प्रयोजन यही है कि बिना निमित्त के भी सर्वप्रथम यङ् का लुक् हो जावे ।

इस सूत्र के अभाव में स्यद्, प्रश्नश्च आदि कैसे बनेंगे ?

स्यद्, प्रश्नश्च, जीरदानु आदि शेष सब प्रयोगों के विषय में पहले उत्तर दिया जा चुका है । क्या ? निपातनान् स्यदादिषु । प्रत्ययाश्रयत्वादन्यत्र सिद्धम् । रकि ज्यः सम्प्रसारणम् इत्यादि । निकुचित के विषय में भी समाधान कहा गया है । क्या ? संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य इस परिभाषा से निकुचित, में दोष नहीं होगा । संनिपात परिभाषा का अर्थ है—जो दो के परस्पर संनिपात =सम्बन्ध से कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाली विधि का हेतु नहीं बन सकता । जो जिससे बने वह उसी का विघात नहीं कर सकता । निकुचित ( निकुञ्च-इट क्त ) में जिस सेद् त् प्रत्यय के क्तिव के कारण बुञ्च् धातु के नकार का अनिदिता० से लोप होकर वह उदुपथ बना है । उदुपथ अर्थात् ह्रस्व उकार उपधावाला होकर वह कुञ्च् ( कुच् ) धातु उदुपधाद भावादिकर्मणो० सूत्र द्वारा त् प्रत्यय के क्तिव सम्बन्ध को नष्ट करने में हेतु नहीं बनेगा । अर्थात् त् प्रत्यय में क्तिव का निषेध न होकर क्तिव ही रहेगा तो क्तिव च सूत्र से लघूपथ गुण का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाएगा । उसके लिए न धातुलोप सूत्र द्वारा गुण निषेध करने की आवश्यकता नहीं है ।

१ इस प्रकार सब प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध करके भाष्यकार तथा वार्तिककार ने न धातुलोप आर्धधातुके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है । अन्त में प्रदीपकार कैयट लिखते हैं कि यदि सर्वत्र यन्त में यञोचि च से यङ् का लुक् न मान कर यस्य इस सूत्र से यङ् के अकार का लोप कर उसे स्थानिवन् मानेंगे तो अङ्गमः ( अङ्गम्य-अच् ) यहाँ यङ्गन्त अङ्गम्य धातु के अवयव यङ् के अकारलोप को स्थानिवन् मानने से गमहनजनखनघसा लोप किङ्गयनङि सूत्र से गम् की उपधा का लोप प्राप्त होता है इस शङ्का का समाधान भी वे साथ ही कर देते हैं कि स्थानिवन् होकर अङ् पर हो जाएगा तो अनङि यह निषेध होकर उपधालोप न होगा ।

किङिति च ॥११॥५॥

किङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणम् ॥

किङिति प्रतिषेधे तन्निमित्तग्रहणं कर्तव्यम् । किङिनिमित्ते ये गुणवृद्धि प्राप्तस्ते न भवत इति वक्तव्यम् ॥

किं प्रयोजनम् ।

उपधारोरवीत्यर्थम् ।

उपधार्थं रोरवीत्यर्थं च । उपधार्थं तावद् । भिन्नः । भिन्नवान् इति । किं पुनः कारणं न सिध्यति । किङितीत्युच्यते तेन यत्र किङित्यनन्तरो गुणो भाव्यस्ति तत्रैव स्यात् । चितम् । स्तुतम् । इह तु न स्याद् भिन्नः भिन्नवान् इति ॥

किङिति च सूत्र से गुणवृद्धि का निषेध करन में तन्निमित्त ग्रहण करना चाहिये अर्थात् उस किन्, गिन्, डिन् प्रत्यय को निमित्त मान कर जो इङ्लक्षण गुण और वृद्धि प्राप्त हो उनका निषेध होता है ऐसा कहना चाहिये । ( अन्यथा किङिति यह सप्तमी परसप्तमी या सत्सप्तमी भी सम्भव है—किङिति परत किङिति सति वा । परसप्तमी मानने पर अर्थ होगा किन्, गिन्, डिन् प्रत्यय पर रहते जो इङ्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वे न हों । और सत्सप्तमी मानने पर अर्थ होगा—किन्, गिन्, डिन् की त्रिधमानता में जो इङ्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वे न हों । निमित्त ग्रहण करने पर यह निमित्त-सप्तमी बन जायगी तो अर्थ होगा—किन्, गिन्, डिन् को निमित्त मान कर जो इङ्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त हो वे ना हों ।

निमित्तग्रहण का क्या प्रयोजन होगा ? यही कि उपधा में गुण का निषेध हो जायगा और रोरवीति ( रोरय-लट् ईट् तिप् ) यद्वा यङ्लुगन्त र धातु में गुण निषेध न होगा । उपधा में जैसे—भिन्न, भिन्नवान् ( भिद्-क्, क्वत्तु ) यद्वा भिद् धातु की उपधा में लघु इकार है । उस से परे क्, क्वत्तु प्रत्यय किङ् हैं । उनका निमित्त मान कर प्राप्त होने वाले पुगन्तलघूपधस्य च इस लघूपध गुण का इस सूत्र से निषेध हो जाता है । क्या कारण है जो उपधा में गुण निषेध सिद्ध नहीं होता ? यदि तन्निमित्त ग्रहण न करें तो किङिति यह सप्तमी परसप्तमी समझी जायगी उस अवस्था में तस्मिन्निमित्ति निर्दिष्ट पूर्वस्य इस परिभारा बल से जहाँ किन्, गिन्, डिन् प्रत्यय पर रहते अनन्तर अर्थात् व्यक्थानरहित सीधा इक् होगा, वहीं इस सूत्र से गुण का निषेध हो सकेगा । जैसे चितम्, स्तुतम् यहाँ चि स्तु धातुओं के इकार उकार से सीधा परे क् प्रत्यय किङ् है इस लिये यहाँ ही इस सूत्र से गुण निषेध होगा । भिन्न, भिन्नवान्

ननु च यस्य गुण उच्यते तं क्लृप्त्परत्वेन विशेषेयिष्यामः । पुगन्त-  
लघूपधस्याङ्गस्य गुण उच्यते तच्चात्र क्लृप्त्परम् ॥

पुगन्तलघूपधस्येति नैवं विशायते पुगन्ताङ्गस्य लघूपधस्य चेति ।  
कथं तर्हि । पुकि अन्तः पुगन्तः । लघ्वी उपधा लघूपधा पुगन्तश्च लघू-  
पधा च पुगन्तलघूपधं पुगन्तलघूपधस्येति । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् ।  
अङ्गविशेषणे सतीह प्रसज्येत—भिनत्ति छिनत्ति इति ।

रोरवीत्यर्थं च । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ।

मे भिद् के दकार का व्यवधान होने से निषेध प्राप्त नहीं हो सकेगा । निमित्तग्रहण करने पर तो व्यवधान होने पर भी निषेध सिद्ध हो जायगा । क्यों कि भिजः, भिजवान् में क्त क्तवत् को निमित्त मान कर गुण प्राप्त होता है वह व्यवधान में भी संभव है ।

परसप्तमी मानने में भी दोष नहीं है क्योंकि जिसको गुण कहा है उसका ही विशेषण कित्, गित्, डित् को बनायेंगे अन्य का नहीं । जैसे पुगन्त० सूत्र में लघु उपधा वाले अङ्ग को गुण कहा है उपधा को नहीं, इस लिये लघु उपधा वाले अङ्ग से सीधे परे कित् गित् डित् होने चाहियें ऐसा मानेंगे और वे भिजः, भिजवान् में हैं ही । भिद् यह लघु उपधा वाला अङ्ग है उससे सीधा परे क्त क्तवत् प्रत्यय कित् है इसलिये इस सूत्र से गुण निषेध हो जायगा ।

पुगन्त० सूत्र का यह अर्थ नहीं है कि—पुक् है अन्त में जिसके उस अङ्ग को और लघु है उपधा में जिसके उस अङ्ग को गुण हो, बल्कि यह अर्थ है—पुक् परे रहते जो अन्तिम अक्षर है उसको और लघु जो उपधा है उसको गुण हो । उक्त सूत्र का ऐसा ही अर्थ मानना भी चाहिये । अन्यथा यदि लघु उपधा को गुण न मान कर लघु उपधा वाले अङ्ग को गुण मानेंगे तो भिनत्ति, छिनत्ति ( भिद् छिद् इनम्-तिप् ) यहां इनम् विकरणविशिष्ट भिनद् छिनद् अङ्ग भी लघु अकार उपधा वाले होने से यहां भी भिनत्ति छिनत्ति इस प्रकार लघूपध गुण होकर अनिष्ट रूप प्रसक्त होगा ।

रोरवीति के लिए भी निमित्तग्रहण करना चाहिये । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति इस वेद-मन्त्र के रोरवीति प्रयोग में इस सूत्र से गुणनिषेध न होवे । रोरवीति ( रोरूय-रूट् रूट् तिप् ) में डित् यट् प्रत्यय का यडोवि च से लुक् हुआ है । वह प्रत्यय लक्षण से विद्यमान है । उसकी विद्यमानता में इस सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध प्राप्त होता है । निमित्तग्रहण करने पर यह दोष नहीं रहता क्योंकि सार्वधातुक

यदि तन्निमित्तग्रहणं क्रियते, शचडन्ते दोषः । रियति पियति धियति । प्रादुदुवत् । प्रासुसुवत् । अत्र न प्राप्नोति ।

शचडन्तस्यान्तरङ्गलक्षणत्वात् सिद्धम् ।

अन्तरङ्गलक्षणत्वादियडुवडोः कृतयोरनुपधात्वाद् गुणो न भविष्यति । एवं क्रियते चेद् तन्निमित्तग्रहणं न च कश्चिद्दोषो भवति ।

गुण का निमित्त यद् प्रत्यय नहीं है बल्कि तिप् है । वह टिट् नहीं है अतः यहाँ गुण का निषेध नहीं हो सकता ।

यदि इस सूत्र में निमित्तग्रहण करते हैं तो श और चङ् विकरणान्त प्रयोगों में दोष होगा । रियति, पियति, धियति ( रि पि धि-शक्तिप् ) यहाँ तुदादिगणीय रि, पि, धि धातुओं से तिप् प्रत्यय पर रहते श विकरण हुआ है । तिप् पर रहते रि अ, पि अ, धि अ इतना अङ्ग है । और श पर रहते रि, पि, धि अङ्ग है । श प्रत्यय सार्वधातुकमपिन् से टिट् है । अतः उसको निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला सार्वधातुक गुण का इस सूत्र से निषेध होने पर भा तिप् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला लघूपध गुण कैसे रहेगा ? यह निमित्त ग्रहण करने पर भी नहीं रख सकता । किन्ति यह सत्सप्तमी मानने पर तो यहाँ लघूपध गुण का निषेध हो सकता है । क्योंकि श प्रत्यय टिट् विद्यमान है । उसकी विद्यामानता में गुण का निषेध हो जायगा । चाहे उसे निमित्त मान कर गुण प्राप्त हो या न मान कर । निमित्तग्रहण के अभाव में हम किन्ति इस सप्तमी को किसी भी अर्थ में ले सकते हैं । किन्तु निमित्तग्रहण करने पर वैसा नहीं हो सकता अतः यहाँ गुणनिषेध का उपाय सोचना होगा । इसी प्रकार प्रादुदुवत्, प्रासुसुवत् ( प्र दु सु चङ्-लुङ् तिप् ) यहाँ प्रपूर्वक दु सु धातुओं से लुङ् में तिप् पर रहते चट विकरण हुआ है । तिप् पर रहते दु अ, सु अ अङ्ग हैं । चट पर रहते केवल दु, सु । यह टिट् है उसको निमित्त मान कर प्राप्त होने वाले सार्वधातुक गुण का इससे निषेध होने पर भी तिप् को निमित्त मान कर प्राप्त होने वाला लघूपधगुण कैसे रहेगा । निमित्तग्रहण करने पर भी यह सूत्र गुण का निषेध नहीं कर सकता ।

निमित्त ग्रहण करने में जो श और चङ् विकरणान्तों का दोष कहा यह कोई दोष नहीं । क्योंकि यहाँ रियति, पियति इत्यादि में लघूपध गुण की अपेक्षा इयङ् उवङ् के अन्तरङ्ग होने से गुण को बाधकर पहले यचि श्रुधातु० सूत्र से इयङ् उवङ् हो जायेंगे फिर लघु उपधा के न रहने से गुण की प्राप्ति ही नहीं रहती । रियति आदि में लघूपध गुण तिप् का मान कर प्राप्त है वह बहिर्वर्ती होने से बहिरङ्ग है । और इयङ् उवङ् केवल चङ् के अकार को मान कर प्राप्त हैं वे अन्तर्वर्ती होने से

इमानि च भूयस्तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि—हतो हयः । उपोयते । औयत । लौयमानि । पौयमानिः । नेनिके इति ॥

अन्तरङ्ग हैं । असद्व बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा चल से अन्तरङ्ग कार्य में बहिरङ्ग असिद्ध होता है अतः पहले इयङ् उवङ् ही हो जायेंगे फिर गुण न होगा । इस प्रकार निमित्तग्रहण करने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता । यन्त्रि निमित्तग्रहण के ये भी बहुत से प्रयोजन हैं—हत, हय । उपोयते । औयत । लौयमानि । पौयमानि । नेनिके ॥ हत, हय ( हन्-लट् तस् थस् ) यद्वा मदादिगणीय हन् धातु से लट् लकार में तस् थस् प्रत्यय पर रहते क्षप का लुक् हुआ है । तस्, थस् प्रत्यय सार्वधातुकमभित् से टित् हैं । यदि सूत्र में निमित्तग्रहण नहीं करते हैं तो तस्, थस् के टित् होने से उन की विद्यमानता में हन् के गुणसञ्ज्ञक अकार का अभाव हो जाना चाहिये । उस अवस्था में वृत्ति यह सरसप्तमी मान कर सूत्र का अर्थ होगा किन् गित् द्वित् की विद्यमानता में गुण वृद्धि नहीं रहते । हन् में अकार गुण है वह नहीं रहना चाहिये । निमित्तग्रहण करने पर तो यह दोष नहीं आता क्योंकि यहाँ तस्, थस् को निमित्त मान कर हन् को अकार गुण नहीं हुआ है । वह तो पूर्व से ही धातु में विद्यमान है । उपोयते ( उप ऊयते ) यद्वा उपपूर्वक वेल् धातु से कर्मवाच्य के लट् लकार में यक् पर रहत वेल् को सम्प्रसारण और दीर्घ होकर उप के साथ ऊ का आद्यगुण से ओकाररूप गुण एकादश हुआ है । औयत यद्वा वेल् धातु को लट् लकार के कर्मवाच्य में यक् पर रहते सम्प्रसारण और दीर्घ होकर आट्दच से आटागम के साथ ऊ को औ वृद्धि एकादश हुआ है । निमित्तग्रहण न करने पर वृत्ति यह सरसप्तमी मानी जाएगी । यद्वा यक् प्रत्यय कित् विद्यमान है । उसकी विद्यमानता में इस सूत्र से ओ औ में गुणवृद्धि न रहने चाहिये । निमित्तग्रहण करने पर तो यह दोष नहीं आता क्योंकि यद्वा ओ औ ये गुणवृद्धि कित् यक् प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुए हैं इस लिये उनका निषेध नहीं होगा ।

लौयमानि, पौयमानि ( ल्यमानस्यापत्यम्, पूयमानस्यापत्यम् ) यद्वा ल्यमान पूयमान शब्दों से अपत्य अर्थ में इन् प्रत्यय हुआ है । उसको निमित्त मान कर तद्धितञ्चामादे से आदि वृद्धि ओकार हुई है । ल्यमान पूयमान में कित् यक् प्रत्यय के विद्यमान होने पर भी इस सूत्र से वृद्धि का निषेध नहीं होता क्योंकि वह यक् को निमित्त मान कर नहीं हुई बल्कि इन् प्रत्यय को निमित्त मान कर हुई है । नेनिके ( निन् लट् त ) यद्वा निन् धातु से परे लट् लकार में त प्रत्यय द्वित् है । उसके परे रहते लुहोत्यादिभ्यः श्लु से शप् को श्लु होकर श्लौ से निन् को द्वित्व हुआ है । श्लुविषय में अभ्यास के निन् शब्द का निन् त्रयाणा गुणः श्लौ



नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । इह तावत् हतो हथ इति प्रसक्तस्यान-  
भिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुम् । अयं च धातूपदेशाव-  
स्थायामेवाकारः । इह चोपोयते औयत लौयमानिः पौयमानिः इति ।  
बहिरङ्गे गुणवृद्धी । अन्तरङ्गः प्रतिषेधः । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ।  
नेनिके इति परेण रूपेण व्यवहितत्वाच्च भविष्यति ।

उपधार्थेन तावन्नार्थः । धातोरिति वर्तते । धातुं निङित्परत्वेन

से गुण होता है । उस अभ्यास के गुण का इस सूत्र से निषेध नहीं होता क्योंकि  
वह टित् तप्रत्यय का निमित्त मान कर नहीं हुआ है ।

निमित्तग्रहण करने के हतः, हथ इत्यादि कोई प्रयोजन नहीं । हतः हथः  
में तो हन् धातु को उपदेशावस्था में पहले ही अकार विद्यमान है उसका निषेध  
यह सूत्र नहीं कर सकता । क्योंकि जो कार्य प्रसक्त अर्थात् किसी से प्राप्त नहीं  
हो और अनभिनिर्वृत्त अर्थात् अभी हुआ न हो उसी को निषेध द्वारा रोका  
जा सकता है । हतः, हथः में अकारगुण धातु में पूर्व से विद्यमान है किसी से  
प्राप्त नहीं है अतः उसका निषेध इस सूत्र से नहीं हो सकता । उपोयते आदि में  
गुणवृद्धि बहिरङ्ग है । उनका निषेध अन्तरङ्ग है । उपोयते में उप और ऊयते  
इन दो पदों का आश्रयण करने से ओकार गुण बहिरङ्ग है । निषेध केवल ऊयते इस  
एकरवस्थ यक् का आश्रयण करने से अन्तरङ्ग है । औयन में आ और ऊ इन  
दो का आश्रयण करने से ओकार वृद्धि बहिरङ्ग है । इसी प्रकार लौयमानिः,  
पौयमानिः में यक् से परवर्ती हन् प्रत्यय का आश्रयण करने से वृद्धि बहिरङ्ग  
है । निषेध केवल यक् का आश्रयण करने से अन्तरङ्ग है । अमिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे  
इस परिभाषाबल से निषेध करने में गुणवृद्धि असिद्ध रहेंगे तो निषेध किस  
का होगा । नेनिके में भी अभ्यास के निङ् शब्द को जो गुण हुआ है उस का  
निषेध नहीं होगा क्योंकि टित् तप्रत्यय के परे रहते पररूप अर्थात् दूसरा  
अङ्गसंज्ञक जो निङ् शब्द है उसका व्यवधान है । व्यवधान होने से निषेध न  
होगा । अभ्यास को गुण कहा गया है उस से सीधा परे तप्रत्यय नहीं है । सत्त्वप्तमी  
मानने पर भी यहाँ द्रुविषयक गुण का निषेध नहीं होगा क्योंकि तप्रत्यय  
और अभ्यास दोनों के मध्य में दूसरे निङ् शब्द का व्यवधान है । हाँ,  
तप्रत्यय के निरुद्धवर्ती अङ्गसंज्ञक निङ् शब्द को जो उपधा गुण प्राप्त होता है  
उसका तो निषेध होगा ही ।

वस्तुतः उपधा के लिये भी निमित्तग्रहण करने की आवश्यकता नहीं ।

किन्ति न सूत्र में न धातु लोप आर्धधातुके इस पूर्वसूत्र से धातु की अनुरक्ति था

विशेषयिष्याम । यदि धातुर्विशेष्यते विकरणस्य न प्राप्नोति । चिनुतः । सुनुतः । लुनीतः पुनीतः इति । नेप दोषः । विहितविशेषणं धातुग्रहणम् । धातोयं विहित इति । धातोरेव तर्हि न प्राप्नोति । नेवं विज्ञायते धातोर्विहितस्य किङ्तीति । कथं तर्हि, धातोर्विहिते किङ्तीति ।

अथवा

कार्यकाल सज्ञापरिभाषम् ।

यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम् । पुगन्तलघूपधस्य गुणो भवतीत्युपस्थित-  
मिदं भवति किङ्तीति नेति ॥

ही रही है । किन् गित् टित् का उस धातु का विशेषण धनार्थेन अधात् किङ्त् परे रहते जो धातु उसके इन को गुणवृद्धि नहीं होते ऐसा अर्थ करेंगे तो भिन्न, भिन्नवान् में त् नन्तु इन किन् प्रत्ययों के इसी प्रकार चिनुत, सुनुत, में टित् श्नु से अव्ययविहितपूर्व चि, गु के इक् को गुण नहीं होता । परे रहते भिद् धातु है ही, उसके इक् को गुणनिषेध सिद्ध हो जायगा । किङ्त् को धातु का विशेषण मानने पर चिनुत, सुनुत ( चि तु श्नु तस् ) लुनात, पुनीत ( ल् पु, इना-तस् ) यहाँ टित् तस् प्रत्यय के परे रहते चिनु, लुनी आदि में श्नु, इना विकरण है, धातु नहीं है इस लिये विकरण को गुणनिषेध नहीं हो सकता तो कोई दोष नहीं । क्योंकि धातु को विहित का विशेषण धनार्थेन । अर्थ हागा—धातु से जो विहित है उसे गुणवृद्धि नहीं होते किङ्त् प्रत्यय परे होने पर । श्नु इना धातु से विहित है अतः इन्हें गुण नहीं होगा । पर विहित विशेषण मानने से धातु को ही गुण निषेध प्राप्त नहीं होगा यह दोष आता है । नहीं । धातु से जो विहित उसको गुणवृद्धि का निषेध होता है ऐसा नहीं समझना चाहिये । किन्तु ऐसा समझना चाहिये कि धातु से विहित ( विधान किया हुआ ) जो किङ्त् प्रत्यय उस के परे रहते ( चाँह यह धातु हो चाँह विकरण दोनों का ही ) गुणवृद्धि नहीं होते । तब चिनुत, लुनीत में धातु के साथ विकरण को भी गुणनिषेध सिद्ध हो जायगा । क्योंकि धातु से विहित श्नु इना ये विकरण भी टित् हैं । इस प्रकार किङ्त् परे रहते न केवल धातु को ही बल्कि धातु से विहित किङ्त् विकरण को भी गुण वृद्धि नहीं होंगे ।

अथवा कार्यकाल सज्ञापरिभाषम् इस नियम से काम हो जायगा । इस नियम का अर्थ है—सज्ञा और परिभाषा का जहाँ काम पड़े वही उन की उपस्थिति मानी जाती है । इस लिये पुगन्तलघूपधस्य इस सूत्र में किङ्तीति च यह सूत्र परिभाषा-रूप बना हुआ उपस्थित होगा तो उस समय सूत्र का अर्थ होगा—पुगन्त को और अद्ग की लघु उपधा इक् को किङ्त् परे रहते गुण नहीं होता । तब भिन्न, भिन्नवान् में

अथवा यदेतस्मिन् योगे ऋद्धग्रहणं तदनवकाशं तस्यानवकाश-  
त्वाद् गुणवृद्धी न भविष्यतः ॥

अथवाचार्यप्रवृत्तिर्नापयति—भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्य प्रतिषेध  
इति। यदयं त्रिसिगृध्रिष्विष्ये. स्रुः। इको झल्, हलन्ताच्चेति  
बनुसनौ कितौ करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। किन्करणस्येतत्प्रयोजनम्।

भिद् के दकार का व्यवधान होने पर भी येन नाव्यवधानं तेन व्याहृतेपि वचन-  
प्रामाण्यात् इस न्यायबल से गुण निषेध सिद्ध हो जायगा। इस न्याय का अर्थ है  
जिस विधि में एक अक्षर का व्यवधान सर्वथा अनिवार्य है, जो किसी प्रकार रोक  
नहीं जा सकता वहाँ उस विधि-वचन के प्रमाण से (विधि-वचन की सार्थकता के लिये  
एक के व्यवधान में भी कार्य हो जाता है। न व्यवधानम्=अव्यवधानम्। न  
अव्यवधानं नाव्यवधानम् अर्थात् अवश्य होनेवाला व्यवधान। क्योंकि किट् पर रहते  
सर्वथा व्यवधान रहित लघु उपधा इक् का मिलना असंभव है। एक अक्षर के  
व्यवधान से तो उपधा ही बनती है इसलिये पुगन्त सूत्र के वचनप्रमाण के आधार  
पर जरूरी होने से कैरल एक अक्षर दकार का व्यवधान सदा होगा। वहाँ व्यवधान  
होने पर भी गुण का निषेध माना जायगा।

अथवा पुगन्त० सूत्र में उपस्थित हुआ किति च यह निषेध सूत्र अनवकाश  
है। अनवकाश होने से गुणवृद्धि न होगी। अर्थात् किति च यह सूत्र गुणविधि-  
होने से प्रधानविधि पुगन्त० सूत्र को निश्चित विषय के परिष्कार के लिये  
अपने अनुरूप बनायेगा तो पुगन्त सूत्र गाला यह सूत्र अन्य प्रधान विधि  
सम्बद्ध किति च सूत्रों से भिन्न हो जायगा। पुगन्त सूत्र के लक्ष्यों में  
व्यवधान के कारण अप्रवृत्ति से यह अवकाश रहित बन जायगा। क्योंकि  
किट् पर रहते अव्यवहित लघु उपधा इक् कदापि कहीं नहीं मिल सकती  
जहाँ यह साक्षात् निषेध कर सके। उस अवस्था में अप्रवृत्तान् अन्य होने से  
यह सूत्र भिन्नः, भिन्नवान् इत्यादि व्यवहित स्थलों में भी प्रवृत्त हो  
जायगा। अन्यथा उपधागुण के विषय में कदा निषेध न कर सकने से  
यह उस अंश में व्यर्थ होगा।

अथवा आचार्य पाणिनि का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि उपधालक्षण  
गुण का भी इस सूत्र से निषेध होता है। जो त्रिसिगृध्रिष्विष्ये. स्रुः। इस सूत्र  
में वनु प्रत्यय को तथा इको झल् के बाद हलन्ताच्च इस सूत्र से सन् को कित्  
किया गया है उससे ज्ञापित होता है कि लघूपध गुण का भी यह सूत्र निषेध  
करता है। कैसे? वनु और सन् को कित् करने का यही तो प्रयोजन है कि गृध्रः,

गुण. कथं न स्यादिति । यदि चात्र गुणनिषेधो न स्यात् कित्करण-  
मनर्थकं स्यात् । पश्यति त्वाचार्यो भवत्युपधालक्षणस्यापि गुणस्य  
प्रतिषेध इति ततः कनुसन्तो कितौ करोति ॥

रोरवीत्यर्थेनापि नार्थः । किङ्तीत्युच्यते । न चात्र किं दितं  
वा पश्यामः । प्रत्ययलक्षणेन प्राप्नोति ।

न लुमता तस्मिन् ।

इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः । अथापि न लुमताङ्गस्येत्युच्यते ।  
एवमपि न दोषः । कथम् । न लुमता लुप्तेऽङ्गाधिकारः । प्रतिनिर्दिश्यते ।  
किं तर्हि, योऽसौ लुमता लुप्यते तस्मिन् यदङ्गं तस्य यत्कार्यं तन्न भवतीति ।  
अथाप्यङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते एवमपि न दोषः । कथम् । कार्यकालं  
सक्षापरिभाषम् । यत्र कार्यं तत्र द्रष्टव्यम् । सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो  
भवतीत्युपस्थितमिदं भवति किञ्चित् नेति ।

क्षिप्नु यद्वा गृध, क्षिप् को और विभित्सति, बुभुस्तते यद्वा भिद् बुध् को  
लघूपधगुण न हो । यदि उपधा इक् में व्यग्रधान होने से यह निषेध न लगे तो  
उक्त प्रत्ययो को कित् करना व्यर्थ है । किन्तु आचार्य समझते हैं कि उपधा  
इक् में व्यग्रधान होने पर भी उपधालक्षण गुण की प्राप्ति होती है उसको रोकने  
के लिए कनु, सन् को कित् करना आवश्यक है अतः उन्हें कित् करते हैं । इस प्रकार  
अनेक परिहारों के प्रदर्शन से निमित्तग्रहण का खण्डन आसानी से हो जाता है ।

रोरनीति प्रयोग के लिए भी निमित्तग्रहण की आवश्यकता नहीं है । कित्,  
गित्, डित् पर रहते गुणवृद्धि का निषेध कहा है । रोरवीति में कित्, गित्, डित्  
कुछ भी परे नहीं । यद्यपि च से डित् यद् प्रत्यय का लुक् हुआ है वह  
प्रत्ययलक्षण से विद्यमान है । न लुमता तस्मिन् इस वार्तिक से प्रत्ययलक्षण का  
निषेध हो जाएगा तो डित् परे नहीं रहेगा । जैसे न लुमताङ्गस्य इस शाणिनिसूत्र  
से भी प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर कोई दोष न होगा । हम न लुमताङ्गस्य  
का यह अर्थ नहीं करेंगे कि लुमान् शब्द से लुप्त होने पर केवल अङ्गाधिकारीय  
कार्य नहीं होता बल्कि यह अर्थ करेंगे कि लुमान् शब्द से लुप्त होने पर जो भी अङ्ग  
है उसको कार्य नहीं होता, चाहे वह कार्य अङ्गाधिकार का हो या उससे बाहर  
का हो । यद् प्रत्यय लुमान् शब्द से लुप्त है उसके परे होने पर रोर यह अङ्ग है  
उस का कार्य किञ्चित् च से सार्वधातुक गुण का निषेध है वह नहीं होगा तो  
गुण निर्वाध हो जाएगा । यदि न लुमताङ्गस्य सूत्र में अङ्गाधिकारीय कार्य का

अथवा छान्दसमेतत् । दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ।

अथवा वहिरङ्गो गुणः । अन्तरङ्गः प्रतिषेधः । असिद्धं वहिरङ्ग-  
मन्तरङ्गे ।

अथवा पूर्वस्मिन् योगे यदार्धधातुकग्रहणं तदनवकाशं तस्यान-  
वकाशत्वाद् गुणो भविष्यति ।

ही निषेध माने तो भी दोष नहीं । क्योंकि कार्यकाल सज्ञापरिभाषम् इस उक्त नियम से विज्ञति च यह सूत्र सार्वधातुकार्धधातुकयोः इस सूत्र में उपस्थित होकर अङ्गाधिकार का घन जायगा । सार्वधातुकार्धधातुकयोः यह सूत्र अङ्गाधिकार का है ।

अथवा रोरवीति यह प्रयोग छान्दस अर्थात् वैदिक है और छन्द में दृष्टानुविधि अर्थात् दृष्ट का अनुसरण होता है । वेद में जैसा देखा वैसा कर लिया । रोरवीति में गुण दीखता है तो गुण ही रहेगा उसका निषेध नहीं होगा ।

अथवा रोरवीति में वहिर्वती तिप् को मान कर होने वाला सार्वधातुक गुण वहिरङ्ग है और अन्तर्वती यद् के डित् को मान कर होने वाला विज्ञति च से निषेध अन्तरङ्ग है । असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा के बल से वहिरङ्ग गुण असिद्ध रहेगा तो निषेध किसका होगा ।

अथवा पहले गये हुए न धातुगेः सूत्र में जो आर्धधातुकग्रहण है वह अनव-  
काश है अर्थात् निःप्रयोजन है । उससे यहाँ प्रयोजन ले लिया जायगा । उसके अनवकाश होने से सार्वधातुक पर रहते गुणनिषेध न होगा । न धातुलोप आर्धधातुके इस सूत्र में आर्धधातुक ग्रहण के बिना भी धातुलोप शब्द में धातुलोपो यस्मिन् इस प्रकार बहुव्रीहि समास समझ लिया जायगा जिस प्रकार एकाचो द्वे प्रथमस्य सूत्र के एकाच, शब्द में एकोऽच् यस्मिन् यह बहुव्रीहि समझ लिया जाता है, तो फिर आर्धधातुक ग्रहण का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता । इस प्रकार पूर्व सूत्र में व्यर्थ हुआ आर्धधातुक ग्रहण इस बात का सामर्थ्य रखेगा कि आर्धधातुक से भिन्न सार्वधातुक में किसी से भी प्राप्त गुणनिषेध न हो, केवल आर्धधातुक में ही गुण का निषेध हो । रोरवीति में तिप् सार्वधातुक है अतः विज्ञति च सूत्र से प्राप्त गुणनिषेध भी आर्धधातुक के बल से रूक जायगा । रोरवीति में यद् का लुक् अनैमित्तिक है अर्थात् यह आर्धधातुक या सार्वधातुक किसी को भी निमित्त मान कर नहीं होता । यहाँ तिप् के आने से पूर्व ही हो गया है । आर्धधातुक के परे रहते होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता अतः आर्धधातुक ग्रहण का न्यायार्थ कुछ

इह कस्मान्न भवति । लैगवायनः । कामयते ।

तद्धितकाम्योरिक् प्रकरणात् ।

इग्लक्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न धैते इग्लक्षणे ।

लकारस्य द्वित्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्गः ।

लकारस्य द्वित्वादादेशेषु स्थानिवद्भावः प्राप्नोति । अचिनवम् ।

भी नहीं सियाय इसके कि वह सार्वधातुक में गुणनिषेध को रोके चाहे वह किसी से प्राप्त हो ।

यहाँ लैगवायन, और कामयते इन प्रयोगों में ऋति च सूत्र से वृद्धि का निषेध क्यों नहीं होता ? लिगोरपत्यं लैगवायनः । लिगुशब्द से शोभापत्य में नडादिभ्यः फन् से फक् प्रत्यय होकर किति च से आदिवृद्धि एकार हुई है । कामयते में कम् धातु से स्वार्थे में कमेणिच् से णिच् प्रत्यय होकर अत उपधाया से आकार वृद्धि हुई है । फक् के कित् होने और णिच् के हित् होने से वृद्धिनिषेध प्राप्त होता है ।

तद्धित के लैगवायनः और कम् धातु के कामयते प्रयोग में वृद्धि का निषेध नहीं होता क्योंकि इको गुणवृद्धि इस पूर्व सूत्र से यहाँ इक् पद की अनुवृत्ति आती है । इस लिये इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही इस सूत्र से निषेध होगा । उक्त प्रयोगों में इग्लक्षण गुणवृद्धि नहीं है । लैगवायनः में अचामादेः से कही हुई वृद्धि अग्लक्षण है । और कामयते में उपधा अकार को कही हुई वृद्धि उपधालक्षण है । इग्लक्षण अर्थात् इक् शब्द की उपस्थिति से कही हुई वृद्धि नहीं है अतः यहाँ निषेध नहीं होगा ।

जो लकार हित् है उनके स्थान में आदेश होने वाले तिप् आदि भी स्थानिवद्भाव से हित् प्राप्त होते हैं । जैसे—अचिनवम् अनुचवम् (चि सु इतु-लङ् मिप् अम्) अकरवम् (कृ-उ-लङ् मिप् अम्) यहाँ चि आदि धातुओं से परे लृक् लकार के स्थान में उत्तम पुरुष का एकवचन मिप् (अम्) आदेश हुआ है । वह द्विव लकार के स्थान में होने से स्थानिवद्भाव के नियमानुसार पित् होता हुआ भी हित्

१. यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यङ्लृक् को छान्दस मान कर ही आर्षधातुग्रहण व्यर्थ होता है अन्यथा नहीं । यदि लोके में भी यङ्लृक् का प्रयोग मानें जैसा कि प्रायः प्रयोग में माना जाता है तब तो तोतोर्ति (तुर्व यङ् लृक्-तिप्) दोधोर्ति (धुर्व-यङ् लृक्-तिप्) इत्यादि यङ्लुगन्त प्रयोगों में तिप् सार्वधातुक के परे गुण निषेध रोकने के लिये आर्षधातुग्रहण सर्वथा आवश्यक है उस अवस्था में भाष्यकार का यह अन्तिम समाधान छोड़ देना होगा ।

असुनवम् । अकरचम् ।

लकारस्य डित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्ग इति चेद् यासुटो

डिद्वचनात् सिद्धम् ।

यद्ययं यासुटो डिद्वचनं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न डिदादेशा  
डितो भवन्तीति ।

यद्येतज्ज्ञाप्यते, कथं नित्यं डितः । 'इतश्चेति' । डितो यत् कार्यं  
तद् भवति । डिति यत्कार्यं तन्न भवतीति ।

माना जायगा तो उसके परे रहते किन्ति च सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध प्राप्त होता है । यदि कहो कि मिप् पित् है और पिच्च डित् पिच्च पिच्च भवति अर्थात् जो पित् है वह डित् नहीं होता और जो डित् है वह पित् नहीं होता तो यह कल्पना तो भाव्यकार की है, वार्तिककार की नहीं, इस लिये उनके मत से डित् लकार के स्थान में होने वाला मिप् डित् ही है ।

लङ् लकार के अचिनवम् आदि में कोई दोष नहीं । क्योंकि यासुट् परस्मैपदे-  
षूदातो डित्च इस सूत्र में जो लिङ् में होने वाले यासुट् को डित् किया है वह  
आचार्य पाणिनि का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि डित् लकार के स्थान में  
होने वाले तिप् आदि आदेश डित् नहीं माने जाते । लिङ् लकार स्वयं डित् है । उसके  
स्थान में होने वाले आदेश यदि स्थानिवद्भावे से डित् माने जाते तो तिप् आदि  
के डित् हो जाने से उनको लिङ् में हुआ यासुट् आगम भी यदागमन्याय से डित्  
हो ही जाता फिर उसे डित् करना व्यर्थ है । इस डित् वचन से सिद्ध होता है कि  
लकार का डित्त्व आदेश में नहीं आता । इस लिये लङ् का डित्त्व मिप् में नहीं  
जायगा तो अचिनवम् आदि में गुण का निषेध नहीं होगा ।

यदि यह कहो कि उक्त ज्ञापक से लकार का डित्त्व आदेश में न मानने पर  
निय डित्, इतश्च इन सूत्रों से होने वाले कार्य कैसे सिद्ध होंगे । निय डितः से  
डित् लकार के स्थान में होने वाले आदेश को स्थानिवद्भावे से डित् मान  
कर सकार का लोप होता है । जैसे—अभवाव, अभवाम, अचिनुम् इत्यादि । इसी  
प्रकार इतरत्न से डित् लकार के आदेश को डित् मान कर अभवन्, अचिनोत्  
इत्यादि में तिप् के लकार का लोप होता है—सो कोई दोष नहीं । इन कार्यों में  
तो स्थानिवद्भावे से डित्त्व हो ही जायगा । क्योंकि जो डित् को होने वाला कार्य है  
वह तो स्थानिवद्भावे से आदेश को भी डित् मान कर हो जायगा लेकिन जो  
डित् पर रहते किसी अन्य का होने वाला कार्य है वह आदेश को स्थानिवद्भावे से  
डित् मान कर नहीं होगा ।

किं यत्कथ्यमेतत् । नहि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । यासुट् एव  
 द्विचनान् । अपर्याप्ताश्चैव हि यासुट् समुदायस्य द्वित्वे, द्वितं चैनं  
 करोति । तस्यैतत् प्रयोजनं द्वितो यत्कार्यं तद् यथा स्यात्, द्विति  
 यत्कार्यं तन्मा भूदिति ॥

दीर्घावेवीटाम् ॥१॥१६॥

किमर्थमिदमुच्यते ॥

गुणवृद्धी मा भूताम् इति । आदीध्यनम् । आदीध्यकः । आवेद्यनम् ।

क्या यह बात कहनी होगी ? नहीं । गिना कहे कैसे समझी जायगी ?  
 यासुट् के ही द्वित् वचन से यह बात समझी जायगी । क्योंकि जो द्वित् को होनेवाला  
 कार्य है वह यासुट् को कुछ भी विधेय नहीं है जिसके लिये उसे द्वित् किया जाय ।  
 हाँ, द्वित् पर रहते जो अङ्ग को सम्प्रसारण या गुणवृद्धि निषेध आदि कार्य हैं उन  
 के लिये यासुट् को द्वित् किया गया है । वह यासुट् का कार्य है । जिससे वे कार्य  
 यासुट् के पर रहते हो जायें । क्योंकि अकेले यासुट् भागम को द्वित् किया है इस  
 लिये वह अपने आगमी लादेश समुदाय तिप् आदि को द्वित् बनाने में असमर्थ है ।  
 यद्यपि लादेश तिप् आदि ही गुणवृद्धि के निमित्त हैं, यासुट् नहीं, फिर भी  
 यासुट् के द्वित् वचन से उसके पर रहते भी गुणवृद्धि का निषेध हो जायगा ।  
 या यों समक्षिपे—क्योंकि यासुट्, तिप् आदि की सहायता से ही अपना द्वित्व काम  
 में ला सकता है । सम्प्रसारण आदि के निमित्त तिप् आदि ही हैं यासुट् नहीं । इस  
 लिये उसको किया हुआ द्वित्व तिप् आदि समुदाय के लिये उपयुक्त होगा ।  
 अर्थात् उसके द्वित्व से वे द्वित् समझे जायेंगे तो उनके पर रहते द्वित् कार्य हो  
 सकेंगे । वे तिवादि स्वयं लकार के द्वित्व से यदि द्वित् बन जाते तो यासुट् को  
 द्वित् करना ध्यर्थ था । वे तो द्वित् थे ही । यासुट् भी उनको भागम होकर  
 द्वित् बन ही जाता । यह यासुट् को द्वित् करना ही इस बात का सूचक है कि  
 द्वित्व तिवादि के पर रहते जो कार्य करने हैं वे यासुट् के द्वित्व द्वारा सिद्ध कर दिये  
 जायें । अर्थात् यासुट् के द्वित्व को लेकर तिवादि द्वित् माने जायें और उनके पर  
 रहते अङ्ग को सम्प्रसारणादि कार्य हो जायें । इससे स्पष्ट है कि द्वित् पर रहते जो  
 कार्य अङ्ग को करने हैं उनके विषय में स्थानिवद्भाव से लकार का द्वित्व आदेश  
 में नहीं माना जाता । केवल द्वित् को जो कार्य ताम् तम् सलोप आदि करने हैं उन  
 का द्वित्व आदेश में स्थानिवद्भाव से माना जाता है ।

दीर्घावेवीटाम् यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

दीर्घावेवीट् इन दो धातुओं तथा इदागम को गुणवृद्धि न होवें इस लिये



आवेव्यकः ॥

अयं योगः शन्योऽकर्तुम् । कथम् ।

दीधीवेव्योदछन्दोविषयत्वाद् दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसश्छन्दस्य  
दीधेददीधयुरिति च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः ।

दीधीवेव्योदछन्दोविषयत्वात् । दीधीवेव्यौछन्दसोविषयौ । दृष्टानु-  
विधित्वाच्च छन्दसः । दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति । अदीधेत्,  
अदीधयु इत्यत्र च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः । अनर्थकं प्रतिषेधः  
अप्रतिषेधः । प्रजापतिर्वै यत् किञ्चिन्मनसा अदीधेत् । होत्राय वृत्.  
कृपयन्नदीधेत् । अदीधयुर्दाशराज्ञे वृत्तामः ।

भवेदिदं युक्तमुदाहरणमदीधेदिति । इदं त्वयुक्तमदीधयुरिति ।  
अयं जुसि गुणः प्रतिषेधविषय आरभ्यते स यथैव नितिति चेत्येनं बाधते

यह सूत्र बनाया है । जैसे—आदीव्यनम्, ( आ दीधी-एवुद् अन ) आदीव्यकः, ( आ  
दीधी-एवुल् अक ) आवेव्यनम् ( आ वेवी-एवुद् अन ) आवेव्यकः ( आ वेवी-एवुल्  
अक ) यहाँ आद् पूर्वक दीधीच् वेवीच् धातुओं से एवुद् और एवुल् प्रत्यय पर रहते  
क्रम से सार्वधातुक गुण तथा अवोऽङ्गिति वृद्धि प्राप्त होती है । इस सूत्र से उनका  
निषेध होकर एनेकाच. से यण् हो जाता है ।

यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये । क्योंकि दीधी वेवी दोनों धातु छान्दस हैं ।  
वैदिक हैं । छन्द मे दृष्ट का अनुविधान होता है । वेद मे जैसा दीखे वैसा कर  
लिया जाता है । वेद मे ही अदीधेत् ( दीधी-लट् तिप् ) अदीधयुः ( दीधी-लट्  
सि जुस् ) इत्यादि प्रयोगों मे गुण भी दिखाने देता है इस कारण यह निषेध  
अनर्थक है । प्रजापतिर्वै इत्यादि स्थल दीधी धातु को गुण होता है यह दिखाना  
रहे हैं ।

अदीधेत्, अदीधयुः इन दो उदाहरणों मे अदीधेत् यह उदाहरण तो ठीक  
है, पर अदीधयुः ठीक नहीं । क्योंकि यहाँ दीधी धातु से लट् लकार मे प्रथम-  
पुरुष का बहुवचन जुस् है । जुस् मे जुति च इस सूत्र से होने वाला गुण,  
निषेध विषय को बाधने के लिये बनाया है वह जैसे—विकृति च इस गुणनिषेध  
को बाधता है वैसे दीधीवेवीटाम् इस गुणनिषेध की भी बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष को  
लेकर बाध लेगा तो यहाँ अनिवार्य रूप से गुण ही होगा । गुणनिषेध हो ही  
नहीं सकता फिर यह उदाहरण इस सूत्र की अनर्थकता को कैसे सिद्ध कर  
सकता है । हाँ, अदीधेत् मे तो यह निषेध प्राप्त है उसको कोई रोकने वाला नहीं ।

एवमेनमपि बाधेत ।

नेप दोष । जुसि गुण प्रतिषेधविषय आरभ्यमाणस्तुल्यजातीय प्रतिषेध बाधते । कश्च तुल्यजातीय- प्रतिषेध । यः प्रत्ययाश्रयः । प्रकृत्याश्रयश्चायम् । अथवा येन नाप्राप्ते तस्य बाधन भवति । न चाप्राप्ते किञ्चित् नेत्येतस्मिन् प्रतिषेधे जुसि गुण आरभ्यते । अस्मिन् पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च ॥

यदि तर्ह्ययं योगो नारभ्यते, कथं दीध्यत् इति, वेद्यत् इति च ॥

दाध्यदिति श्यन्यत्ययेन ।

फिर भी यहाँ गुण का निषेध नहीं हो रहा इस से यह सूत्र अनधिक सिद्ध हो जाता है ।

यह कोई दोष नहीं । इस सूत्र को व्यर्थ सिद्ध करने के लिये अदीधयु उदाहरण भी ठीक है । क्योंकि जुसि च से होने वाला गुण अपने समानजातीय निषेध को ही बाधेगा । जुस प्रत्यय है इस लिये किञ्चित् प्रत्ययो के आधित किञ्चित् च सूत्र वाले गुणनिषेध को ही वह बाध सकेगा । दीधीववीटाम् को नहीं । यह निषेध दीधी वेदी धातुओं का आश्रयण करने से प्रकृत्याश्रय है । अथवा येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति इस न्याय से जुसि च सूत्र किञ्चित् च को ही बाधगा इसको नहीं । इस न्याय का अर्थ है—जिसकी अवश्य प्राप्ति में जो विधि आरम्भ की जाती है वह उसी अवश्यप्राप्त विधि को ही बाधेगी । किसी अक्ष में प्राप्त किसी में अप्राप्त ऐसी विधि को वह नहीं बाधेगी । न प्राप्त=अप्राप्त । न अप्राप्त=नाप्राप्त अर्थात् अवश्यप्राप्त । यहाँ बाध्यविशेष को देखना होगा । किञ्चित् च सूत्र की अवश्य प्राप्ति में जुसि च का आरम्भ है । क्योंकि जुस् प्रत्यय सार्वधातुक्रमपि स डित् है । उसके परे रहते सर्वदा किञ्चित् च से गुणनिषेध प्राप्त है उसको बाधने के लिये जुसि च बनाया है । दीधीववीटाम् में यह बात नहीं । दीधी वेदी धातुओं के अतिरिक्त अन्य धातुओं में ( जो दीधीववी० निषेध का अविषय हैं ) भी जुसि च की प्रवृत्ति होती है । इस लिये यह निषेध नाप्राप्त नहीं बल्कि प्राप्त तथा अप्राप्त है ।

यदि यह सूत्र नहीं बनाते हैं तो दीध्यत् वेद्यत् ये प्रयोग कैसे बनेंगे ? ये दोनों हेट् लकार के रूप हैं । हेटोऽडाटो से तिप् को अडागम और इतच् लोप परस्मैपदों से तिप् के इकार का लोप होता है । फिर गुण का निषेध हो कर एरनेकाच से यण् हो जाता है । इस सूत्र के अभाव में यहाँ गुणनिषेध कैसे होगा ?

दीर्घादिति वेग्यदिति च इत्यन्यत्पयेन भविष्यति ॥

इदृच्चापि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथम् अकण्ठिन् अरणिन् ।  
कणिता इवो रणिता इवः इति । आर्धधातुकस्येड्वलादेरित्यत इडि-  
त्यनुवर्तमाने पुनरिदं ग्रहणस्य प्रयोजनम् इदं इडेव यथा स्यात् ।  
यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूदिति । किं चान्यत् प्राप्नोति । गुणः ॥

यदि नियमः क्रियते पिपडिगनेरन्यथः पिपडीः दीर्घत्वं न  
प्राप्नोति ॥

नेन दोषः । आज्ञं यत्कार्यं तन्नियम्यते न नैनदाज्ञम् । अपवा  
असिद्धं दीर्घत्वं तस्यासिद्धत्वान्नियमो न भविष्यति ॥

दीर्घाद्, वेग्यादे दोनों प्रयोग स्वयम् से इन्द्र विकारन करने पर घन जायेंगे ।  
स्वयम् बहुतान् सून से वेद में दीधी वेरी धातुओं को दियारादियन का मान कर  
स्वम् विकारन लेट लहर में हो जायगा । स्वम् प्रत्यय सन्धातुस्वम् से मिल है ।  
उसके परे रहते किन्ति न से गुणनिर्देश हो कर दीर्घादे दीर्घादे सून से दीधी  
वेरी के ईकार का छान जायगा ।

सून में इद् का प्रश्न भी नहीं करना चाहिये । यदि कशे परणिम्, अरणिम्  
( कर् र्त् सिष्कुद् मिर् अन् ) कण्ठ, रणिन् ( कर् र्त् तास्-कुद् मिर् डा )  
कैने बनेंगे । अर्थात् यहाँ इडागन को प्राप्त लृट्प्रत्यय का निर्देश कैसे होगा ?  
तो इस का उत्तर है आर्धधातुकस्येड्वलादेः सून में नेड्वला हनि सून से इद् को  
अनुवृत्ति आने पर भी जो फिर इद्प्रश्न किया है उसका यह प्रयोजन सन्धा जायगा  
कि इद् इद् ही रहे । किन्ती विकार को प्राप्त न हो । उसे जो अन्य कार्य प्राप्त है वे  
न हों । अन्य कार्य कौन से प्राप्त होते हैं ? गुण होने से इद् इद् नहीं रहता ।  
मिह्न हो जाता है इस लिये गुण नहीं होगा ।

यदि दुबारा इद्प्रश्न से इद् इद् ही रहे ऐसा नियम करते हैं ता । अरणि-  
( निरिडि विर ) यहाँ सन्धन्त पद् धातु में सन् को इद् का आगम हुआ है ।  
उस से परे अन्त्य अर्थात् अविग्रमान प्रत्यय विर किया । हृदन्त होने से  
प्राणिनिदिक संज्ञा हो कर प्रथमा का एकरचन सु प्रत्यय किया फिर सुबन्त होने से  
पर संज्ञा हुई । पदान्त में बौहगयाय दीर्घ इक से इद् को दीर्घ होता है वन नहीं  
होगा चाहिये । उससे भी इद् विकृत हो जाता है ।

यद् कोई दोष नहीं । केवल अज्ञाधिकारीय कार्य का ही नियम होगा ।  
बौहगयाय दीर्घ इक सून तो पदाधिकार का है, अज्ञाधिकार का नहीं, इस लिये इस

अथवा छान्दसमेतत् । दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ।

अथवा वहिरङ्गो गुणः । अन्तरङ्गः प्रतिपेधः । असिद्ध वहिरङ्ग-  
मन्तरङ्गे ।

अथवा पूर्वस्मिन् योमे यदार्धधातुकग्रहण तदनवकाश तस्यान-  
वकाशत्वाद् गुणो भविष्यति ।

ही निषध मान तो भी दोष नहीं । क्योंकि कार्यकाल सज्ञापरिभाषम् इस उक्त-  
नियम स किञ्चित् च यह सूत्र सार्वधातुकार्धधातुक्यो इस सूत्र म उपस्थित होकर  
भङ्गाधिकार का बन जायगा । सार्वधातुकार्धधातुक्यो यह सूत्र भङ्गाधिकार का है ।

अथवा रोरवाति यह प्रयोग छान्दस अर्थात् वैदिक है और छन्द में दृष्टानुविधि  
अर्थात् दृष्ट का अनुसरण होता है । वेद में जैसा दखा वैसा कर लिया । रोरवाति में  
गुण दीखता है तो गुण ही रहेगा उसका निषध नहीं होगा ।

अथवा रोरवाति म वहिर्वर्ती तिप् को मान कर होन वाला सार्वधातुक गुण  
वहिरङ्ग है और अन्तर्वर्ती यङ् क क्ति को मान कर होन वाला किञ्चित् च स निषध  
अन्तरङ्ग है । आसिद्ध बाहरङ्गमन्तरङ्ग इस परिभाषा क बल स वहिरङ्ग गुण  
असिद्ध रहेगा तो निषध किसका होगा ।

अथवा पहले गये हुए न धातुगेः सूत्र में जो आर्धधातुकग्रहण है वह अनव-  
काश है अर्थात् निषययोजन है । उससे यहा प्रयोजन ल लिया जायगा । उसके  
अनवकाश होने स सार्वधातुक पर रहत गुणनिषध न होगा । न धातुलोप आर्धधातुके  
इस सूत्र में आर्धधातुक ग्रहण क बिना भी धातुलोप शब्द म धातुलोपो यस्मिन्  
इस प्रकार बहुव्रीहि समास समझ लिया जायगा जिस प्रकार एकाचो द्वे प्रथमस्य  
सूत्र के एकाच शब्द में एकोऽच यस्मिन् यह बहुव्रीहि समझ लिया जाता है,  
तो फिर आर्धधातुक ग्रहण का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता । इस प्रकार पूर्व सूत्र  
में व्यर्थ हुना आर्धधातुक ग्रहण इस बात का सामर्थ्य रखगा कि आर्धधातुक स  
भिन्न सार्वधातुक ॥ किसी स भी प्राप्त गुणनिषध न हा कवल आर्धधातुक  
में ही गुण का निषध हा । रोरवाति म तिप् सार्वधातुक है अत किञ्चित् च सूत्र  
से प्राप्त गुणनिषध भी आर्धधातुक क बल स रख जायगा । रोरवाति म यङ् का  
लुक् अनैमित्तिक है अर्थात् वह आर्धधातुक या सार्वधातुक किसी को भी निमित्त  
मान कर नहीं होता । यहा तिप् क आने से पूर्व ही हो गया है । आर्धधातुक क  
पर रहत होन का तो प्रश्न ही नहीं उठता अत आर्धधातुक ग्रहण का अभावर्त्य कुछ

इह कस्मान्न भवति । लैगवायनः । कामयते ।

तद्धितकाम्योरिक् प्रकरणात् ।

इग्लक्षणयोगुणवृद्धयोः प्रतिषेधः । न चेते इग्लक्षणे ।

लकारस्य डित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्गः ।

लकारस्य डित्त्वादादेशेषु स्थानिवद्भावः प्राप्नोति । अचिनवम् ।

भी नहीं सिवाय इसके कि वह सार्वधातुक में गुणनिषध को रोके चाहे वह किसी से प्राप्त हो ।

यहा लैगवायन और कामयते इन प्रयोगों में किति च सूत्र से वृद्धि का निषध क्यों नहीं होता ? लिगोरपत्य लैगवायन । लिगुशब्द से गोत्रापत्य में नडादिभ्यः फक् से फक् प्रत्यय होकर किति च से आदिवृद्धि ऐकार हुई है । कामयते में कम् धातु से स्वार्थ में वमेणिक् से णिङ् प्रत्यय होकर अत उपधाया से आकार वृद्धि हुई है । फक् के कित् होने और णिङ् क डित् होने से वृद्धिनिषेध प्राप्त होता है ।

तद्धित के लैगवायन और कम् धातु के कामयते प्रयोग में वृद्धि का निषध नहीं होता क्योंकि इको गुणवृद्धि इस पूर्व सूत्र से यहा इक् पद की अनुवृत्ति आती है । इस लिये इग्लक्षण गुणवृद्धि का ही इस सूत्र से निषेध होगा । उक्त प्रयोगों में इग्लक्षण गुणवृद्धि नहीं है । लैगवायन में अचामादे से कही हुई वृद्धि अनुलक्षण है । और कामयते में उपधा अकार को कही हुई वृद्धि उपधावलक्षण है । इग्लक्षण अर्थात् एक शब्द की उपस्थिति से कही हुई वृद्धि नहीं है अतः यहा निषेध नहीं होगा ।

जो लकार डित् हैं उनके स्थान में आदेश होने वाले तिप् आदि भी स्थानिवद्भाव से डित् प्राप्त होते हैं । जैसे—अचिनवम् अमुनवम् (चि सु शु-लृ मिप् भम्) अकरवम् (कृ-उ-लृ मिप् भम्) यहा चि आदि धातुओं से परे लृ लकार के स्थान में उत्तम पुरष का एकवचन मिप् (भम्) आदेश हुआ है । यह डित् लकार के स्थान में होने से स्थानिवद्भाव के नियमानुसार पित् होता हुआ भा डित्

१ मही यह बात ध्यान देने योग्य है कि यङ्उत् का छान्दस मान कर हा आर्षधातुग्रहण व्यर्थ होता है अन्यथा नहीं । यदि लृक न भा यङ्उत् का प्रयोग मानें जैसा कि प्रायः प्रयोग में माना जाता है तब तो वोवोति (वृत् यङ् लृ तिप्) दोषोति (धुर्व-यङ् उङ् तिप्) इत्यादि यङ्गुन्त प्रयोगों में तिप् सार्वधातुक के परे गुण निषध रखने के लिये आर्षधातुग्रहण सर्वथा आवश्यक है उस अवस्था में भाष्यकार या यह अन्तिम समाधान छोड़ देना हागा ।

असुनवम् । अरुवम् ।

लकारस्य डित्वादादेशेषु स्थानिवद्भावप्रसङ्ग इति चेद् यासुटो

डिद्वचनात् सिद्धम् ।

यद्यं यासुटो डिद्वचनं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न डिदादेशा  
डितो भवन्तीति ।

यद्येतज्ज्ञाप्यते, कथं नित्यं डितः । 'इतश्चेति' । डितो यत् कार्यं  
तद् भवति । डिति यत्कार्यं तन्न भवतीति ।

माना जायगा तो उसके परे रहते किञ्चित् च सूत्र से सार्वधातुक गुण का निषेध प्राप्त होता है । यदि कहो कि मिप् पित् है और पिब डित् डित् पिब भवति अर्थात् जो पित् है वह डित् नहीं होता और जो डित् है वह पित् नहीं होता तो यह कल्पना तो भाष्यकार की है, वार्तिककार की नहीं, इस लिये उनके मत से डित् लकार के स्थान में होने वाला मिप् डित् ही है ।

लङ् लकार के अचिनवम् आदि में कोई दोष नहीं । क्योंकि यासुट् परस्मैपदे-  
षूदातो क्त्वि इस सूत्र में जो लिङ् में होने वाले यासुट् को डित् किया है वह  
भाष्यार्थ पाणिनि का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि डित् लकार के स्थान में  
होने वाले तिप् आदि आदेश डित् नहीं माने जाते । लिङ् लकार स्वयं डित् है । उसके  
स्थान में होने वाले आदेश यदि स्थानिवद्भाव से डित् माने जाते तो तिप् आदि  
के डित् हो जाने से उनको लिङ् में हुआ यासुट् आगम भी यदागमन्याय से डित्  
हो ही जाता फिर उससे डित् करना व्यर्थ है । इस डित् शब्द से सिद्ध होता है कि  
लकार का डित् आदेश में नहीं आता । इस लिये लङ् का डित् मिप् में नहीं  
जायगा तो अचिनवम् आदि में गुण का निषेध नहीं होगा ।

यदि यह कहो कि उक्त ज्ञापक से लकार का डित् आदेश में मानने पर  
नित्य डितः, इतश्च इन सूत्रों से होने वाले कार्य कैसे सिद्ध होंगे । नित्य डितः से  
डित् लकार के स्थान में होने वाले आदेश को स्थानिवद्भाव से डित् मान  
कर सकार का लोप होता है । जैसे—अभवाव, अभवाम, अचिनुम् इत्यादि । इसी  
प्रकार इतश्च से डित् लकार के आदेश को डित् मान कर अभवत्, अचिनोत्  
इत्यादि में तिप् के डित् का लोप होता है—सो कोई दोष नहीं । इन कार्यों में  
तो स्थानिवद्भाव से डित् हो ही जायगा । क्योंकि जो डित् को होने वाला कार्य है  
वह तो स्थानिवद्भाव से आदेश को भी डित् मान कर हो जायगा लेकिन जो  
डित् पर रहते किसी अन्य का होने वाला कार्य है वह आदेश को स्थानिवद्भाव से  
डित् मान कर नहीं होगा ।

किं वक्तव्यमेतत् । नहि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । यासुट एव  
 द्विचचनात् । अपर्याप्तश्चैव हि यासुद् समुदायस्य द्वित्वे, द्वितं चैनं  
 करोति । तस्येतत् प्रयोजनं द्वितो यत्कार्यं तद् यथा स्यात्, द्विति  
 यत्कार्यं तन्मा भूदिति ॥

दीर्घीवेवीटाम् ॥१।१।६॥

किमर्थमिदमुच्यते ॥

गुणवृद्धी मा भूताम् इति । आदीष्यन्म् । आदीष्यकः । आयेष्यन्म् ।

क्या यह बात कहनी होगी ? नहीं । बिना कहे कैसे समझी जायगी ?  
 यासुद् के ही द्वित् वचन से यह बात समझी जायगी । क्योंकि जो द्वित् को होनेवाला  
 कार्य है वह यासुद् को कुछ भी विधेय नहीं है जिसके लिये उसे द्वित् किया जाय ।  
 हां, द्वित् पर रहते जो भङ्ग को सम्प्रसारण या गुणवृद्धि निषेध आदि कार्य हैं उन  
 के लिये यासुद् को द्वित् किया गया है । वह यासुद् का कार्य है । जिससे वे कार्य  
 यासुद् के पर रहते हो जावें । क्योंकि भङ्गले यासुद् भागम को द्वित् किया है इस  
 लिये वह अपने भागमी लादेश समुदाय तिप् आदि को द्वित् बनाने में असमर्थ है ।  
 यद्यपि लादेश तिप् आदि ही गुणवृद्धि के निमित्त हैं, यासुद् नहीं, फिर भी  
 यासुद् के द्वित् वचन से उसके पर रहते भी गुणवृद्धि का निषेध हो जायगा ।  
 या यो समझिये—क्योंकि यासुद्, तिप् आदि की सहायता से ही अपना द्वित् काम  
 में ला सकता है । सम्प्रसारण आदि के निमित्त तिप् आदि ही हैं यासुद् नहीं । इस  
 लिये उसको किया हुआ द्वित् तिप् आदि समुदाय के लिये उपयुक्त होगा ।  
 अर्थात् उसके द्वित् से वे द्वित् समझे जायेंगे तो उनके पर रहते द्वित् कार्य हो  
 सकेंगे । वे तिवादि स्वयं लकार के द्वित् से यदि द्वित् बन जाते तो यासुद् को  
 द्वित् करना व्यर्थ था । वे तो द्वित् थे ही । यासुद् भी उनको भागम होकर  
 द्वित् बन ही जाता । यह यासुद् को द्वित् करना ही इस बात का सूचक है कि  
 द्वित् तिवादि के पर रहते जो कार्य करने हैं वे यासुद् के द्वित् द्वारा सिद्ध कर दिये  
 जायें । नवांत् यासुद् के द्वित् को लेकर तिवादि द्वित् माने जायें और उनके पर  
 रहते भङ्ग को सम्प्रसारणादि कार्य हो जायें । इससे स्पष्ट है कि द्वित् पर रहते जो  
 कार्य भङ्ग को करने हैं उनके विषय में स्थानिरन्नाय से लकार का द्वित् लादेश  
 में नहीं माना जाता । केवल द्वित् को जो कार्य ताम् तम् सलोप आदि करने हैं उन  
 का द्वित् लादेश में स्थानिरन्नाय से माना जाता है ।

दीर्घीवेवीटाम् यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

दीर्घीह् वेवीह् इन दो धातुओं तथा इडागम को गुणवृद्धि न होवे इस लिये

आवेत्यकः ॥

अयं योगः शक्त्योऽकर्तुम् । कथम् ।

दीर्घान्योऽन्दाग्निपयत्वाद् दृष्टानुविधित्वाच्च छन्दसश्छन्दस्य  
दीर्घेददाभ्युरिति च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः ।

दीर्घान्योऽन्दाग्निपयत्वात् । दीर्घान्योऽन्दाग्निपयौ । दृष्टानु  
विधित्वाच्च छन्दसः । दृष्टानुविधिश्च छन्दसि भवति । अदीधेत्,  
अदीधु इत्यत्र च गुणस्य दर्शनादप्रतिषेधः । अनर्थकं प्रतिषेधः  
अप्रतिषेधः । प्रजापतिरयं यत् किञ्चिन्मनसा अदीधेत् । होनाय घृत  
कृपयन्मदीधत् । अदीधुर्दाशरात्रं घृताय ।

भवेद्विदं पुक्मुदाहरणमदाधेदिति । इदं त्वयुक्तमदीधयुरिति ।  
अयं तुल्यं गुणं प्रतिषेधनिषय आरभ्यत स यथेयं क्विति चेत्त्येन बाधते

यह सूत्र बनाना है कम—आगव्यनम् ( वा दाधा—पुं लन ) बाधव्यनम्, ( वा  
दाधा—पुं लन ) आवव्यनम् ( वा वदा—पुं लन ) अवव्यनम् ( वा वदी—पुं लन  
नक ) यहा भाट्टपूर्वक दाधाक वदाह धातुना स लुङ् और लुल प्रत्यय पर रहत  
क्रम स सार्वधातुक गुण तथा अगमिगान वदि प्राप्त हाता है । इस सूत्र स उनका  
निषेध होकर एतकाच स यज हो जाता है ।

यह सूत्र नहा बनाना चाहिये । क्योंकि दाधा वदा दना धातु छान्दस ह ।  
वेदिक ह । छन्द म दृष्ट का अनुविधान होता है । वद म त्ता दाध वैसा कर  
लिया जाता है । वद म हा अशायन् ( दाधा लङ् तिप् ) अशायन् ( दाधा—लङ्  
तिप् तुल्य ) इत्यादि प्रयोगो म गुण ना दिखाई दता है इस कारण यह निषेध  
अनर्थक है । प्रजापतिरयं इत्यादि स्थल दाधा धातु को गुण हाता है यह दिखा  
रह है ।

अशायन्, अशायु इन का उदाहरणो म अशायन् यह उदाहरण तो एक  
है, पर अशायन् मक नहा । क्योंकि यहा दीर्घो धातु स लट् लकार में प्रधान  
पुरुष का बहुवचन तुल्य है । तुल्य न तुल्य च इस सूत्र से होत बाध गुण,  
निषेध निषय को बाधते क लिय बनाया है वह जैस—क्विति च इस गुणनिषय  
को बाधता है वैस दवववागम् इस गुणनिषय का ना बाधसामान्यान्तायम् को  
हकर बाध लगा ता यहा अनिवार्य रूप स गुण ही होगा । गुणनिषय हो हा  
नहीं सकता फिर यह उदाहरण इस सूत्र का अनर्थकता को कैसे सिद्ध कर  
सकता है । हा, अशायन् म ता यह निषेध प्राप्त है उसको कोई रोकन वाला नहीं ।



एवमेवमपि बाधेत ।

नेप दोष । जुसि गुण प्रतिषेधविषय आरभ्यमाणस्तुल्यजातीय प्रतिषेध बाधते । कञ्च तुल्यजातीय प्रतिषेध । य प्रत्ययाश्रयः । प्रकृत्याश्रयश्चायम् । अथवा यन नाप्राप्ते तस्य बाधन भवति । न चाप्राप्त किङिति नेत्येतस्मिन् प्रतिषेधे जुसि गुण आरभ्यते । अस्मिन् पुन प्राप्ते चाप्राप्त च ॥

यदि तद्वय योगो नारभ्यते, कथ दीध्यत् इति, वेद्यत् इति च ॥

दायदिति श्यन्यत्ययन ।

फिर भी वहा गुण का निषेध नहीं हो रहा इस से यह सूत्र अनपेक्ष सिद्ध हो जाता है ।

यह कोई दोष नहीं । इस सूत्र का व्यर्थ सिद्ध करने के लिये असाधय उदाहरण भी दीक है । क्योंकि जुसि च से हाने वाला गुण अपन समानजातीय निषेध का ही बाधना । जुस प्रत्यय है इस लिये किञ्च प्रत्ययो के आश्रित किङिति च सूत्र वाल गुणनिषेध को ही यह बाध सकता । दायाववागम् को नहीं । यह निषेध दीधी वेदी धातुभा का आश्रयण करने से प्रकृत्याश्रय है । अथवा यन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते से तस्य बाधको भवति इस न्याय से जुसि च सूत्र किङिति च को ही बाधना इसको नहीं । इस न्याय का अर्थ है—नितकी अवश्य प्राप्ति में ना विधि आरम्भ को जाता है वह उसी अवश्यप्राप्त विधि को ही बाधना । किसी भव में प्राप्त किसी में अप्राप्त ऐसा विधि को वह नहीं बाधेगा । न प्राप्त—अप्राप्त । न अप्राप्त=नाप्राप्त अर्थात् अवश्यप्राप्त । यहा बाध्यविषय का दर्शन होगा । किङिति च सूत्र का अवश्य प्राप्ति से जुसि च का आरम्भ है । क्योंकि जुस प्रत्यय सावधानुक्रमेण सङ्गित है । उसके पर रहते सर्वदा किङिति च से गुणनिषेध प्राप्त है उसका बाधन के लिये जुसि च बनाया है । दायाववागम् से यह बात नहीं । दाया वरी धातुभा के अतिरिक्त अन्य धातुभा में ( जे दायाववा० निषेध का अधिपत्य है ) भा जुसि च का प्रकृति होता है । इस लिये यह निषेध नाप्राप्त नहीं बल्कि प्राप्त तथा अप्राप्त है ।

यदि यह सूत्र नहीं बनाते हैं तो गीष्वात् वय्यत् य प्रमाण कैसे पना ? य दाना लृट्कार के रूप है । गीष्वात् से तिच् का अङ्गगम और इत्तर गेर परम्परायु से तिच् के इकार का लय होता है । फिर गुण का निषेध हो कर एतदाच से यन हो जाता है । इस सूत्र के अन्तर में यहा गुणनिषेध कैसे होगा ?

दीर्घ्यदिति वेद्यदिति च इत्यन्यत्ययेन भविष्यति ॥

इट् इचापि ग्रहणं शक्यमकर्तुम् । कथम् अरुणिपम् अरणिपम् । कणिता इवो रणिता इवः इति । आर्धधातुकस्येड्वल्लादेरित्यत्र इडित्यनुवर्तमाने पुनरिडग्रहणस्य प्रयोजनम् इट् इडेव यथा स्यात् । यदन्यत् प्राप्नोति तन्मा भूदिति । किं चान्यत् प्राप्नोति । गुणः ॥

यदि नियमः क्रियते पिपठिपतेरप्रत्ययः पिपठिः दीर्घत्वं न प्राप्नोति ॥

नेप दोषः । आर्द्धं यत्कार्यं तन्नियम्यते न चैतदाहम् । अथवा असिद्धं दीर्घत्वं तस्यासिद्धत्वान्नियमो न भविष्यति ॥

दीर्घ्यन्, वेद्यन् ये दोनों प्रयोग व्यत्यय से इयन् विकरण करने पर बन जायेंगे । व्यत्ययो बहुलम् सूत्र से वेद में दीर्घो वेदी धातुओं को दिवादिमग का मान कर इयन् विकरण लेट् लकार में हो जायगा । इयन् प्रत्यय सार्वधातुकमपि ॥ किन् है । उसके परे रहते क्कित च से गुणनिषेध हो कर संवर्णयोगों से वेद्यो सूत्र से दीर्घो वेदी के ईकार का लोप जायगा ।

सूत्र में इट् का ग्रहण भी नहीं करना चाहिये । यदि कइ अरुणिपम्, अरणिपम् ( कण् रण् सिष्-कुट् मिप् भम् ) कणिता, रणिता ( कण्-रण् सास्-कुट् तिप् डा ) कैसे बनेंगे । अर्थात् यहां इडागम को प्राप्त लृपधगुण का निषेध कैसे होगा ? तो इस का उत्तर है आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः सूत्र में नेड्वलि इति सूत्र से इट् की अनुवृत्ति जाने पर भी जो फिर इट्ग्रहण किया है उसका यह प्रयोजन समझा जायगा कि इट् इट् ही रहे । किसी विकार को प्राप्त न हो । उसे जो अन्य कार्य प्राप्त हैं वे न हो । अन्य कार्य कौन से प्राप्त होते हैं ? गुण होने से इट् इट् नहीं रहता । विकृत हो जाता है इस लिये गुण नहीं होगा ।

यदि दुवारा इट्ग्रहण से इट् इट् ही रहे ऐसा नियम करते हैं तो पिपठिः ( पिपठिप् विष्प् ) यर्हा सम्मन्त पठ् धातु में सन् को इट् का आगत हुआ है । उस से परे अप्रत्यय अर्थात् अविद्यमान प्रत्यय विष्प् क्रिया । वृद्धन्त होने से प्रातिपदिक सज्ञा हो कर प्रथमा का एकवचन सु प्रत्यय क्रिया फिर सुबन्त होने से पद सज्ञा हुई । पदान्त में वॉक्ष्यवाया दीर्घ इक् से इट् को दीर्घ होता है वह नहीं होना चाहिये । उससे भी इट् विकृत हो जाता है ।

यह कोई दोष नहीं । केवल अङ्गाधिकारीय कार्य का ही नियम होगा । वॉक्ष्यवाया दीर्घ इक् सूत्र तो पदाधिकार का है, अङ्गाधिकार का नहीं, इस लिये इस

## हलोऽनन्तराः संयोगः ॥२॥१॥७॥

अनन्तरा' इति कथमिदं विज्ञायते अविद्यमानमन्तरं येषामिति । आहोस्विदविद्यमाना अन्तरा येषामिति । किं चातः । यदि विज्ञायते अविद्यमानमन्तरं येषामिति । अवग्रहे संयोगस्तथा न प्राप्नोति । अप्सु इत्यप्सु इति । विद्यते ह्यनन्तरमिति । अथ विज्ञायते अविद्यमाना अन्तरा येषामिति, न दोषो भवति ॥

का नियम न होगा । अथवा वाक्यवाचा सूत्र पूर्वप्रासिद्धीय प्रकरण का है उसके अमिद होने से वह नियम कोटि में नहीं आता । शिरः में इह को दाँप होने पर भी उस दाँप के अस्तित्व होने के कारण इह अविवृत ही दिवाई देगा ।<sup>१</sup>

सूत्र के अनन्तरा इस समस्त पद में कैसा विग्रह समझना चाहिये ? क्या अविद्यमानमन्तरं येषाम्, ऐसा या अविद्यमाना अन्तरा येषाम्, ऐसा । पहले विग्रह में अन्तर शब्द है जिसका अर्थ अवकाश, व्यवधान है । दूसरे विग्रह में अन्तरा शब्द है जिसका अर्थ मध्य है । इस में क्या ? अविद्यमानमन्तरं येषाम् ऐसा विग्रह मानने पर अवग्रह में संयोगमज्ञा नहीं प्राप्त होती । आधी मात्रा काळ वाला अवग्रह माना जाता है । अप्सु इति अप्सु यश्च अर् के उकार और सु के मध्य में अवग्रह-अन्त्य अन्तर काट्टन व्यवधान होने से संयोग मज्ञा न हो सकेगी । अविद्यमाना अन्तरा येषाम् इस विग्रह को यदि मानें तो कोई दोष नहीं होता । उस विग्रह में अर्थ होगा-जिन के मध्य में अन्त्य वर्ण अविद्यमान हैं वे हल् संयोग मज्ञक होते हैं ।

१ अनन्तरा ऐसा कहने में क्या आधार काळ का नियम अभिप्रेत है अथवा आर्य वर्ण का, यह निश्चय है ।

२ प्रहीता प्रशान्तुम् में आ इह का दाँप होता है वह प्रोऽल्लिटि दाँपः इस वचनमान्य में भग होगा । इस प्रकार अल्लोवीर इत्यादि में इह को जो खर्गदाँप एर्द्धाद्य होता है वह भी मिश्रितोप पूर्यादौ सिद्धो यत्तव्यः इस वचन के लान्य में क्षल्लन्य समझना चाहिये । शिरः शब्द के नपुंसकत्व में प्रमा द्वितया विनिक के बहुवचन में शिरःशिर कुलानि यह रूप बनता है । शिरःशिर नहीं बनता । यह अनुद्ध है । क्योंकि शिरःशिर शब्द में मन् प्रत्यय के अकार य, ऊर् पर रहते लोप हो जन पर उनके स्थानिय होने से क्षल्लन नहीं, शिरःशिर प्रति स्थानिय इस वचन में अजन्त भी नहीं, तो ननुमकस्य सत्त्व में नुम् होगा हा नहीं, इति वही सान्त्वहवः संयोगस्य वे इह को दाँप होने का प्रश्न ही नही उठता ॥ इस प्रकार नाव्यधर ने इस सूत्र का अर्थस्वरूप खोज कर दिया ॥

और शिरः प्रत्यय स्थानिय ऐसा व्यवस्था होने में द्वि-नितिक दाँप में स्थानियद्वारा नद्वय है कि पर रहने उन में स्थानिय का नियम नहीं है । इतल्य नुम् के द्विनिमित्तक दाँप होने में स्थानियद्वारा निर्वाण होगा ।

यथा न दोषस्तथास्तु । अथवा पुनरस्तु अविद्यमानमन्तरं येषामिति । ननु चोक्तम् अवग्रहे सयोगसंज्ञा न प्राप्नोति अप्सु इत्यपऽसु इति । विद्यते ह्यत्रान्तरमिति । नेव दोषो न प्रयोजनम् ॥

संयोगसंज्ञाया सहवचनं यथान्यत्र ।

संयोगसंज्ञायां सहग्रहणं कर्तव्यम् । हलोन्तराः संयोगः सहेति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? सहभूतानां संयोगसंज्ञा यथा स्यादकेरुस्य मा भूदिति । यथान्यत्र । तद्यथा अन्यत्रापि यत्रैकहति सहभूतानां कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम् । तद्यथा 'सह सुपा' । 'उभे अभ्यस्त सह इति' ॥

किं च स्याद् यद्येकैकस्य संयोगसंज्ञा स्यात् ?

इह निर्वायात् निर्वायात् । 'वान्यस्य संयोगादेः इति' एत्वं प्रसज्येत ।

जिस विग्रह में दोष न हो वही मान लो । या अविद्यमानमन्तरं येषाम् यही विग्रह मान लो । अवग्रह में संयोगसंज्ञा न हो सकने का जो दोष कहा है वह कोई दोष नहीं । अप्सु इस अवग्रह काल में पकार सकार की संयोग संज्ञा न होने से न कुछ दोष है और न प्रयोजन है । अवग्रहकाल के अन्तर से संयोगसंज्ञा के होने न होने में कुछ अन्तर नहीं पड़ता । प्सु के पंरे रहते जा संयोगे गुरु से भप् के अकार की गुरु संज्ञा है वह यःशब्द बनी रहेगा । यदि न नी रहे तो नी गुरोरन्तः । इत्यादि से होने वाले प्लुतकार्य अवग्रहकाल में अभीष्ट न होने से न होंगे । अप्सु अवम्=अन्सव्यम् । यहा अन्सव्य शब्द में अऽन्सव्यम् ऐसा अवग्रह पदवाचक नही करते हैं इस लिये वहां भी दोष न होगा ।

संयोगसंज्ञा में सह ग्रहण करना चाहिये । उस अन्यत्र स्थानों में किया गया है । हलोन्तरा संयोग मह ऐसा सूत्र बनाना चाहिये । उस से क्या लाभ होगा ? सब की एक साथ मिले दुर्भों का संयोगसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । एक २ की अलग २ न होगी । अन्यत्र भी आचार्य पाणिनि या कात्यायन वहां समिलितों को एक साथ कार्य करना चाहते हैं वहां सह ग्रहण करते हैं जैसे मह नुग, उभे अभ्यस्त सह यहां समाससंज्ञा और अभ्यस्तसंज्ञा में सह ग्रहण किया है ।

क्या हो जायगा यदि समिलित हलो में एक २ का अलग २ संयोगसंज्ञा मान ली जावे ?

निर्वायात् निर्वायात् (निर् या वान्-लिङ् तिप्) यहां निर् उपसर्गपूर्वक या धातु है । रेफ और यकार समिलित हैं । उन में एक २ की अलग २ संयोग संज्ञा मानने पर या धातु संयोगादि बन जायगा तो वान्यस्य संयोगादेः से प्लुतिकल्प

इह च संहृषीष्टेति 'कृतश्च संयोगादेः' इतीद् प्रसज्येत । इह च संह्रियते इति 'गुणोर्तिसंयोगाद्योरिति' गुणः प्रसज्येत । इह च दृष्टकरोति समित्करोतीति 'संयोगान्तस्ये'ति लोपः प्रसज्येत । इह च शक्नो वस्तेति 'स्नोः संयोगाद्योरन्ते च' इति लोपः प्रसज्येत । इह च निर्यातो निर्वान्तः । 'संयोगादेरातो धातोरिति' निष्ठानत्वं प्रसज्येत ॥

नैप दोषः । यत्तावदुच्यते इह तावत् निर्यायात् निर्वान्यात् वान्यस्य संयोगादेः इत्येत्यं प्रसज्येतेति । नैयं विज्ञायते संयोग आदिर्यस्य सोयं संयोगादिः संयोगादेरिति । कथं तर्हि । संयोगौ आर्दी यस्य सोयं संयोगादिः संयोगादेरिति । एवं तावत् सर्वमाहं परिहृतम् । यदप्युच्यते इह च दृष्टकरोति समित्करोतीति 'संयोगान्तस्य लोप' इति लोपः

प्राप्त होगा । इसी प्रकार मध्योष्ठ ( सम् ह-लिट् सीयुट् व ) यहाँ सम् पूर्वक ह धातु है । मकार और हकार संमिलित हैं । एक २ की अलग २ संयोगसंज्ञा मानने पर ह धातु संयोगादि बन जायगा तो अन्तश्च संयोगादेः से सीयुट् को इद् प्राप्त होगा । संह्रियते (सम् ह-लट् यक् व) में गुणोर्तिसंयोगाद्योः से ह को गुण प्राप्त होगा । दृष्ट् करोति समित् करोति यहाँ तकार और ककार संमिलित हैं । दोनों की अलग २ संयोगसंज्ञा मानने पर दृष्ट् समित् ये संयोगान्त पद बन जायेंगे तो संयोगान्तस्य लोपः से तकार का लोप प्राप्त होगा । शक्ता वस्ता ( शक् वस्-शृच् ) यहाँ ककार तकार या सकार तकार संमिलित हैं । दोनों की अलग अलग संयोगसंज्ञा मानने पर तकार शल् के पर रहते ककार सकार आदिभूत संयोग हैं उनका स्नोः संयोगाद्योरन्ते च से लोप प्राप्त होगा । निर्यातः निर्वान्तः ( निर या वा-क् ) यहाँ रेक और यकार संमिलित हैं । दोनों की अलग अलग संयोगसंज्ञा मानने पर या धातु संयोगादि बन जायगा तो संयोगादेरातो धातोर्वन्तः से निष्ठानत्वं प्राप्त होगा ।

ये कोई दोष नहीं । यह जो कहा कि निर्यायात् निर्वान्यात् में वान्यस्य संयोगादेः से एतदधिकृत्य प्राप्त होगा, सो नहीं होगा क्योंकि संयोगादि शब्द का यह अर्थ नहीं करेगा कि संयोग है आदि में जिसके उसको एतदधिकृत्य होता है बल्कि ऐसा अर्थ करेगा कि दो संयोग हैं आदि में जिसके उस अर्थ को एतदधिकृत्य होता है । निर्यायात् निर्वान्यात् में दो संयोग आदि में नहीं हैं इस लिये एतदधिकृत्य नहीं होगा । इस प्रकार अन्तश्च संयोगादेः, गुणोर्तिसंयोगाद्योः यहाँ संयोगादि शब्द में द्विवचनान्त विग्रह करने पर सङ्घट्ट संह्रियते इत्यादि सब अङ्गाधिकारीय प्रयोगों में दोष का समाधान हो जायगा । दृष्ट् करोति समित् करोति में भी संयोगान्तस्य लोपः के संयोगान्त शब्द में दो संयोग हैं अन्त में जिसके इस प्रकार द्विवचनान्त

प्रसज्येतेति । नेव विज्ञायते संयोगोऽन्तो यस्य तदिदं संयोगान्तं संयोगान्तं स्येति । कथं तर्हि । संयोगौ अन्तौ यस्य तदिदं संयोगान्तं संयोगान्तस्येति । यदप्युच्यते इह च शक्ता वस्तेति 'स्कोः संयोगाद्योः' इति लोपः प्रसज्येतेति । नेव विज्ञायते संयोगौ आदी संयोगादी संयोगाद्योरिति । कथं तर्हि । संयोगयोरादी संयोगादी संयोगाद्योरिति । यदप्युच्यते इह च निर्यातं निर्व्रातः इति 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वत्' इति निष्पन्नत्वं प्रसज्येतेति । नेव विज्ञायते संयोग आदिर्यस्य सोऽयं संयोगादिः संयोगादेरिति । कथं तर्हि । संयोगावादी यस्य सोऽयं संयोगादिः संयोगादेरिति ॥

कथं कृत्वैकेकस्य संयोगसंज्ञा प्राप्नोति ? ॥

प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टेति । तद्यथा । वृद्धिगुणसंज्ञे प्रत्येकं भवति ॥

ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति । तद्यथा

विग्रह करने पर दोष न होगा । एष, समित् पदों के अन्त में दो संयोग नहीं हैं । शक्ता वस्ता न भी स्को संयोगाद्यो के संयोगादि शब्द में संयोगौ स्को आदा (आदिभूत संयोगसंज्ञक सकार ककार) ऐसा कर्मधारयसमास वाला विग्रह न करके संयोगयो आदी स्को (दो संयोगों के आदि में आने वाले सकार ककार) इस प्रकार पड़ी समासवाला विग्रह करेंगे तो शक्ता वस्ता में सकार शल पर रहते दो संयोग नहीं हैं इसलिये ककार सकार का लोप न होगा । निर्यात निर्व्रात में भी संयोगादेरातो धातो सूत्र के संयोगादि शब्द में द्विवचनान्त विग्रह करने पर निष्पन्नत्व नहीं होगा । क्योंकि या धातु के आदि में दो संयोग नहीं हैं ।

समिलित हलो में एक एक की अलग संयोगसंज्ञा कैसे प्राप्त होती है ?

क्योंकि समुदाय में प्रत्येक का अलग अलग वाक्यार्थ बोध भी दृष्टिगोचर होता है । जैसे—वृद्धिरादैव्, अदेङ्गुण य वृद्धिगुण संज्ञाय भादेच, अद्द् समुदाय में प्रत्येक की अलग अलग होती है । अर्थात् आ ऐ औ इन तीनों की अलग अलग वृद्धिसंज्ञा और अ ए ओ इन तीनों की अलग अलग गुणसंज्ञा होती है । सब की समुदित एक वृद्धिसंज्ञा और गुणसंज्ञा नहीं होती । इसी प्रकार संयोगसंज्ञा भी समिलितों में प्रत्येक की अलग २ प्राप्त होती है । प्रत्येक प्रत्ययवयव वा वाक्यपरिसमाप्ति यह शास्त्र प्रसिद्ध न्याय है ।

जहां प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्ति यह शास्त्र प्रसिद्ध न्याय है वहां समुदाये वाक्यपरिसमाप्ति यह भी तो प्रसिद्ध न्याय है । इसका अर्थ है वाक्यार्थबोध सारे

गर्गाः शत दण्डयन्ताम् । अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति न च प्रत्येक दण्डयन्ति । सत्येतास्मिन् दृष्टान्ते यदि तत्र प्रत्येकमित्युच्यते इहापि सहप्रहणं कर्तव्यम् । अथ तत्रान्तरेण प्रत्येकमिति वचनं प्रत्येक गुणवृद्धि-संज्ञे भवतः, इहापि नार्थः सहप्रहणेन ॥

अथ यत्र बहुनामानन्तर्यं किं तत्र द्वयोर्द्वयोः सयोगसंज्ञा भवति आहोस्विद्विशेषण । कश्चात्र विशेषः ? समुदाये सयोगादिलोपो मस्ते । समुदाये सयोगादिलोपो मस्तेर्न सिध्यति । मङ्क्ता । मङ्फुत्तुम् । इह च

समुदाय में होता है अलग अलग अर्थों में नहीं । जैसे यह दृष्टान्त है—  
गर्गगोत्राय लोगों को राजा की ओर से सौ सुवर्ण का दण्ड हो ऐसा आदेश होता है । यह सारे गर्गसमुदाय पर लागू होता है उसके प्रत्येक व्यक्ति पर नहीं । क्योंकि राजाओं को तो सौ सुवर्ण दण्ड चाहिये वे ( गर्ग समुदाय से प्राप्त हो जाने पर उसके ) प्रत्येक व्यक्ति को दण्डित नहीं करते । इस प्रकार ये दोनों न्याय प्रसिद्ध हैं । दोनों का प्रसिद्धि में यदि गर्गशतदण्डनन्याय को देखते हुए समुदाय वाक्यपरिमनाति को प्रयत्न मानें तो वृद्धि और गुण संज्ञाओं में समुदाय की संज्ञा रोकने के लिए प्रत्येक शब्द का प्रहण करना चाहिये । अर्थात् गुणवृद्धि संज्ञाएं समुदाय की न हो कर प्रत्येक की होती हैं ऐसा कहना चाहिये । यदि प्रत्येक वाक्यपरिमनाति को प्रयत्न मानें तो यहाँ प्रत्येक की सयोगसंज्ञा रोकने के लिए सह शब्द का प्रहण करना चाहिये । किन्तु यदि लक्ष्यानुरोध से गुणवृद्धि संज्ञाओं में प्रत्येक वाक्यपरिमनाति, न्याय को मान लें तो यहाँ स्वयमेव प्रत्येक की गुणवृद्धि संज्ञाएं हो जायेंगी । इस लिए प्रत्येक शब्द के प्रहण की आवश्यकता नहीं रहती । यहाँ सयोगसंज्ञा में यदि समुदाये वाक्यपरिमनाति न्याय को मान लें तो यहाँ भी स्वयमेव समुदाय की सयोगसंज्ञा हो जायगा इस लिए सहप्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है ।

जहाँ बहुत से हलों का आनन्तर्य हो, अर्थात् बहुत से हल् व्यर्थान्तरहित हो यहाँ दो दो की भी सयोगसंज्ञा होती है या सामान्यतया संमिलित बहुतों की ही ? इसमें क्या विशेष है ? हल् समुदाय में बहुतों की सयोगसंज्ञा मानने पर मस्ते धातु के मत्ता मस्तेतुम् रूपों में स्त्री गैरयोगाज्जेन न सूत्र से होने वाला सयोगादि सकार का लोप नहीं प्राप्त होता । मत्ता, मस्तेतुम् (मस्ते-तुप्, तुमुन्) यहाँ मस्ते धातु से तुप् तुमुन् प्रत्यय पर रहते मस्तेनसोर्तति में प्राप्त नुमागम मिदचोन्वापरः के नियम से मकार के भ्रकार से पर हुआ तो मस्तेन बना । न, स, ङ धातों का सयोगसंज्ञा में सकार आदि में न

निर्लेयात् निर्ल्ग्यात् निर्लेयात् निर्ल्ग्यात् । 'वान्यस्य संयोगादेरि'-  
त्येत्वं न प्राप्नोति । इह च संस्वरिणीयेति कृतश्च संयोगादेरितीद् न प्राप्नोति ।  
इह च संस्वर्यते इति 'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इति गुणो न प्राप्नोति । इह च  
गोमान् करोति यवमान् करोतीति 'संयोगान्तस्य लोप' इति लोपो न  
प्राप्नोति । इह च निर्ल्गानो निर्ल्गानः इति संयोगादेरातो धातो-  
र्यण्यतः इति निष्ठानत्वं न प्राप्नोति ॥

अस्तु तर्हि द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा ।

द्वयोर्हलोः संयोगसंज्ञेति चेद् द्विर्वचनम् ।

द्वयोर्हलोः संयोगसंज्ञेति चेद् द्विर्वचनं न सिध्यति । इन्द्रमिच्छति

रहने से स्त्रीः संयो० सूत्र से सकार का लोप न हो सकेगा । दो की संयोगसंज्ञा  
में तो नस् और सज ये दो संयोग हैं उनमें सज संयोग के भादि में सकार  
के होने से सलोप सिद्ध हो जाता है । यहाँ तुम् करते हुए अभी मस्जेरन्यान्पूर्वों  
तुम् वाच्यः इस वार्तिक का ध्यान नहीं किया गया है । उसका ध्यान भागे  
दिलोवगे । क्योंकि सिद्धान्ततः यह आवश्यक है । उस नियम के अनुसार  
मस्ज के जकार से पूरे तुम् होगा तो स, न, ज इन तीनों की संयोगसंज्ञा में  
सकार के संयोगादि हो जाने से सलोप निर्बाध है । निर्लेयात् निर्ल्ग्यात् यहाँ  
ग्ला में दो हलों का आनन्तर्य है, बहुतो का नहीं इस लिए संयोगसंज्ञा न  
होगी तो वान्यस्य संयोगादेः सूत्र से एत्वमिच्छत्य नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार  
संस्वरिणीय यहाँ स्तु में बहुत हल् न होने से संयोगसंज्ञा न होगी तो  
कृतश्च संयोगादेः सूत्र से इद् नहीं प्राप्त होता और संस्वर्यते में गुणोर्ति-  
संयोगाद्योः से गुण नहीं प्राप्त होता । गोमान् करोति यहाँ मतुप् प्रत्ययान्त गोमत्  
शब्द की सु पर रहते तुमागम होकर न, त इन दो हलों का संयोग है  
बहुतो का नहीं, इसलिए संयोगसंज्ञा न होने से संयोगान्तस्य लोपः से तकार  
का लोप नहीं प्राप्त होता । निर्ल्गानः यहाँ ग्ला में दो हलों का संयोग है बहुतों  
का नहीं इसलिए संयोगसंज्ञा न होने से संयोगादेरातो धातोः सूत्र से निष्ठा-  
नत्व नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो बहुतों से दो दो हलों की संयोगसंज्ञा मान लीजिए ।

यदि बहुतों में दो दो हलों की संयोगसंज्ञा मानते हैं तो द्वित्व सिद्ध  
नहीं होता । इन्द्रमिच्छति इन्द्रीयति । यहाँ इन्द्रशब्द से इच्छार्थ में क्यच् हुआ ।



इन्द्रीयति । इन्द्रीयतेः सन् । इन्द्रिद्रीयिपति । न न्द्राः संयोगादय इति  
दकारस्य द्विवचनं न प्राप्नोति ॥

न वाज्विधेः ।

नवा एष दोषः । किं कारणम् । अज्विधेः । न्द्राः संयोगादयो  
न द्विरुच्यन्ते । अजादेरिति वर्तते ॥

अथ यद्येव बहुनां संयोगसंज्ञा । अथापि द्वयोर्द्वयोः । किं  
गतमेतद्वियता सूत्रेण । आहोस्विदन्यतरस्मिन् पक्षे भूयः सूत्रं कर्तव्यम् ॥

गतमित्याह । कथम् । यदा तावद् बहुनां संयोगसंज्ञा तदेवं  
विग्रहः करिष्यते--अविद्यमानमन्तरमेष्टाम् इति । यदा द्वयोर्द्वयोः

क्यचि च सं ईकार हा गया । इन्द्रीय नामधातु से फिर इङ्गार्थ में सन् हुआ ।  
सन् पर रहते धातु के द्वितीय एकाच् न्द्री शब्द को द्वित्व करने में नन्द्राः  
संयोगादय. के वचन से जहाँ संयोगादि नकार छोड़ा जायगा वहाँ दकार  
भी संयोगादि होने से छूट जायगा तो दकार सहित व्री शब्द को  
द्वित्व न हा सकेगा । क्योंकि दो दो की संयोगसंज्ञा में यहाँ नद और  
दर पे दो संयोग है । पहले संयोग में नकार आदि है । दूसरे में दकार ।  
नन्द्राः० सूत्र से दोनों का ही द्वित्व निषेध प्राप्त होता है । बहुतों की संयोगसंज्ञा  
पक्ष में तो दकार संयोग के आदि में नहीं आता इसलिए उसके द्वित्व का  
निषेध नहीं हो सकता ।

यह कोई दोष नहीं । नन्द्राः संयोगादयः इस सूत्र में अजादेर्द्वितीयस्य सं  
भच् की अनुवृत्ति आती है । यह भच् से परे संयोग के आदि में आने वाले नदर  
के द्वित्व का निषेध करता है । सो इन्द्री शब्द में नकार तो दकार रूप भच् से परे है  
इसलिये उसमें द्वित्व का निषेध तो हो जायगा लेकिन दकार भच् से परे नहीं है ।  
उस को द्वित्व का निषेध नहीं होगा तो दकार को द्वित्व होकर इष्ट रूप बन जायगा ।

समिलित हल् समुदाय में चाहे बहुतों की संयोगसंज्ञा मानो चाहे दो १ की,  
क्या ये दोनों पक्ष टोनीन्तराः संयोगः इस इतने सूत्र से सिद्ध हो जायेंगे या दोनों में  
से किसी एक पक्ष के लिये दूसरा सूत्र बनाना होगा ।

हां दोनों पक्ष इसी सूत्र से सिद्ध हो जायेंगे । कैसे ? जब बहुतों की संयोग-  
संज्ञा अभीष्ट होगी तब अविद्यमानमन्तरमेष्टाम् ऐसा विग्रह करेंगे । और जब दो २

१. अनुवृत्ति हुआ अजादेः यह पद कर्मधारय है, अतः आदिभूत भन् से परे  
ऐसा अर्थ होगा ।

संयोगसंज्ञा तदेवं विग्रहः करिष्यते—अविद्यमाना अन्तरा येषामिति ।  
द्वयोश्चैवान्तरा कश्चिद् विद्यते वा न वा ॥

एवमपि वह्नामेव प्राप्नोति । यान् हि भवानत्र पृष्ठ्या प्रतिनिर्दिशति  
एतेषामन्येन व्यवायेन न भवितव्यम् ॥

अस्तु तर्हि समुदाये संज्ञा । ननु चोक्तं समुदाये संयोगादिलोपो  
मस्जेरिति । नैष दोषः । वक्ष्यत्येतत् 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वां मिदनुपङ्गसंयोगा-  
दिलोपार्थम्' इति ॥

की अभीष्ट होगी तब अविद्यमाना अन्तरा येषाम् ऐसा । क्योंकि अन्तरा शब्द  
मध्यवाची है और मध्य में जो रखा जाता है वह दो २ के ही संभव है । दो के ही  
बीच किसी का होना न होना होता है । अर्थात् दो ही मध्य बनाते हैं । बहुत होने  
पर भी उन का मध्य दो दो से ही बनेगा । इस लिये वहाँ अन्तरा शब्द से विग्रह  
होगा । बहुतों में मध्य का ठीक मापवृण्ड न होने से वहाँ अन्तरा शब्द से विग्रह न हो  
कर अन्तर शब्द से होगा । अन्तर का अर्थ व्यवधान, विवर है । बहुतों में अन्तर के  
अविद्यमान होने पर संयोगसंज्ञा होगी ।

उक्त विग्रह (अविद्यमाना अन्तरा येषाम्) करने पर भी हल् समुदाय में बहुतों  
की ही संयोगसंज्ञा प्राप्त होती है । दो २ की नहीं । क्योंकि 'दो दो अवयव वाले  
समुदाय का' इस अर्थ वाली द्वयोर्द्वयोः इस पक्षी से जिन वर्णों के मध्य में आप  
अन्य को अविद्यमान कहते हैं वे तो बहुत हैं । यह ठीक है कि उन में दो २ का बीच  
ठीक बन जायगा लेकिन जब वे दो २ ही अव्यवहित होंगे तो बहुत बन जायेंगे उस  
अवस्था में बहुतों की ही संयोगसंज्ञा प्राप्त होगी ।

अच्छा तो हल् समुदाय की ही संयोगसंज्ञा मान लो । यह जो मङ्गला  
मङ्गलम् में दोष दिया था वह कोई दोष नहीं । क्योंकि मिदचोन्त्यात्परः  
का अपवाद मस्जेरन्त्यात्पूर्वां मिदनुपङ्गसंयोगादिलोपार्थम् यह वार्तिक है । उससे  
मस्ज् के जकार से पूर्व नुम् होगा मकार के अकार से परे नहीं होगा तो सकार  
के संयोगादि हो जाने से स्तो० सूत्र से सकार का लोप सिद्ध हो जायगा । उस  
वार्तिक का अर्थ है—मस्ज् धातु के अन्तिम अक्षर जकार से पहले सिद्ध अर्थात्  
नुम् का आगम होता है अनुपङ्गलोप ( नुम् के नकार का लोप ) और संयोगादि  
लोप की सिद्धि के लिये । अनुपङ्ग यह नुम् के नकार की पूर्वाचार्यकृत संज्ञा है ।  
अनुपङ्ग का उदाहरण मन्तः मन्तवान् है । (मस्ज्-क्त, क्तवत्) यहाँ मस्ज् धातु से  
क्त, क्तवत् परे रहते मस्जिनशोर्धल से प्राप्त नुमागम मस्जेरन्त्यात् पूर्व० इस वचन  
से मस्ज् के जकार से पूर्व हो जायगा तो नकार के उपधा में आ जाने से अनिदिता

अथवा अविशेषेण संयोगसंज्ञा विज्ञास्यते द्वयोरपि बहुनामपि । तत्र द्वयोर्यां संयोगसंज्ञा तदाश्रयो लोपो भविष्यति । यदप्युच्यते इह निर्लेयात् निर्लेयात् निर्लेयात् निर्लेयात् 'धान्यस्य संयोगादेः' इत्येतत् न प्राप्नोति । अङ्गेन संयोगादि विशेषयिष्यामः । अङ्गस्य संयोगादेरिति । एवं तावत्सर्वमाङ्गं परिहृतम् । यदप्युच्यते इह च गोमान् करोति ययमान् करोतीति 'संयोगान्तस्य लोप' इति लोपो न प्राप्नोतीति, पदेन संयोगान्तं विशेषयिष्यामः । पदस्य संयोगान्तस्येति । यदप्युच्यते इह च निर्लेयानो निर्लेयान इति 'संयोगादेरातो धातोः' इति निष्ठान्तत्वं न प्राप्नोतीति धातुना संयोगादि विशेषयिष्यामः । धातोः संयोगादेरिति ।

हल उदाया. विवृति सूत्र से नकार का लोप सिद्ध हो जायगा और साथ ही सकार के संयोगादि हो जाने से म्छे० सूत्र से सकार का लोप भी सिद्ध हो जायगा ।

अथवा अभ्यसहित हल समुदाय की उपस्थिति में सामान्यरूप से दोनों की संयोगसंज्ञा मानी जायगी—बहुतां की भी और दो दो की भी । जहां केवल दो ही होंगे वहां दो दो की होंगी । क्रिन्तु समुदाय में दोनों पक्ष माने जायेंगे तो मृक्ता मृत्तुम् में मरुत के मकार के अकार से परे नुम् करने पर भी मयज इस समुदाय में सज भी सयाग है, उसके आदिभूत सकार का म्छे० सूत्र में लोप हो जायगा । तो निर्लेया आदि में दोप कदा या यद् भी दो दो की संयोगसंज्ञा मानने पर न होगा । यद्यपि निर्लेयात् इत्यादि में र ग ल आदि तीन हलों का समुदाय है इस लिये जहां ग ल आदि दोनों की संयोगसंज्ञा होने से इष्टसिद्ध होगा वहां रेखादिसहित समुदाय की भी संयोगसंज्ञा होने से दोप प्राप्त होता है तथापि उसका समाधान यह है कि शान्यस्य संयोगादेः आदि में संयोगादि को अङ्ग से विनिष्ट बनायेंगे अर्थात् अङ्ग जो संयोगादि उसको पृथक् विरुद्ध होता है ऐसा भयें करेंगे । निर का रेक अङ्ग में शामिल नहीं है यह समुदाय में छूट जायगा । इस प्रकार मन्त्ररेपीठ आदि मय अङ्गाधिकारीय प्रयोगों में दोप का परिहार हो गया । गोमान् स्त्रोति यहां भी ननक समुदाय की संयोग संज्ञा होने पर संयोगान्त को पद में विनिष्ट बनायेंगे अर्थात् पद जो संयोगान्त उसका लोप होता है ऐसा भयें करेंगे तो चरोति का ककार रख समुदाय से छूट जायगा । निर्लेयानः में भी रगल समुदाय की संयोगसंज्ञा में संयोगादेरातो धातोः सूत्र के संयोगादि शब्द को धातु में विनिष्ट बनायेंगे अर्थात् धातु जो संयोगादि उस से परे निष्ठा-नर होना है ऐसा भयें करेंगे तो निर का रेक रख समुदाय से छूट जायगा ।

स्वरानन्तर्हितवचनम् ।

स्वरेख्यवहिता हलः सयोगसज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । व्यवहितानां मा भूत् । पचति पनसम् ॥

ननु चानन्तरा इत्युच्यते तेन व्यवहितानां न भविष्यति ॥

दृष्टमानन्तर्यं व्यवहितेपि । व्यवहितेप्यनन्तरशब्दो दृश्यते । तद्यथा अनन्तराविमौ ग्रामावित्युच्यते तयोश्चेवान्तरा नद्यश्च पर्वताश्च भवन्तीति ॥

यदि तर्हि अनन्तरशब्दो व्यवहितेपि भवति आनन्तर्यवचन-  
मिदानीं किमर्थं स्यात् ।

आनन्तर्यवचनं किमर्थमिति चेदेकप्रतिषेधार्थम् । एकस्य हलः  
सयोगसज्ञा मा भूदिति ॥

किं च स्याद् यद्येकस्य हलः सयोगसज्ञा स्यात् ?

इयेष उवोप । इजादेश्च गुरुमतो नृच्छ इत्याम् प्रसज्येत ॥

स्वर अर्थात् अच् उन से अनन्तर्हित अव्यवहित हलो की सयोगसज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? पचति पनसम् यद्वा पनसम् में सकार मकार क बीच में अकार का व्यवधान है । उसके व्यवधान में सकार मकार की सयोगसज्ञा न हो । अन्यथा न्को सयोगयोगेन च सूत्र से सयोगादि सकार का लोप प्राप्त होता है ।

यदि कहो कि सूत्र में अनन्तरा यह कहा हुआ है उस स अच् के व्यवधान में सयोगसज्ञा न होगी तो इसका उत्तर है—

व्यवधान में भी अनन्तर शब्द का प्रयोग दीखता है । जैसे-अनन्तरौ इमौ प्रानौ । यह दोनों गांव एक दूसरे के अनन्तर हैं ऐसा कहते हैं लेकिन उन के मध्य में नदिया और पहाड़ होते हैं ।

यदि कहा कि व्यवधान में भी अनन्तर शब्द का प्रयोग हान पर सूत्र में अनन्तरा यह किस लिये कहा गया है तो उत्तर है—

एक हल् को सयोगसज्ञा रोकन के लिये सूत्र में अनन्तरा कहा गया है ।

क्या हो जायगा यदि एक हल् की भी सयोगसज्ञा हो जाये?

यही होगा कि इयेष उवोप ( इप् उर् लिट् तिप् णल् ) यद्वा इप् उप् धातुभो क हल् उकार की सयोगसज्ञा हान पर भयोग गुरु स इ, उ ऋ गुरुसज्ञा होगी ता



अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते । तद्यथा ग्रामो लब्ध इति । तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तमभिसमीक्ष्येतत् प्रयुज्यते अनन्तराविमौ ग्रामाविति । सर्वत्रेव होतज्जातीयक व्यवधायक भवति ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥११॥८॥

किमिदं मुखनासिकावचनम् ? ॥

मुख च नासिका च मुखनासिकम् । मुखनासिक पञ्चनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः ॥

यद्येव मुखनासिकावचन इति प्राप्नोति ।

मनुष्यवाचकं ग्राम शब्द है । जैसे ग्राम गया ग्राम आ गया । यहा मनुष्यों के लिये ग्राम शब्द का प्रयोग है । एक अरण्यसहित सीमासहित और पहाड़ी टीरे आदि भूमि सहित ग्राम कहलाता है । जैसे गाव की सीमा आन पर कह देते हैं—ग्राम आ गया । इन उक्त अर्थों में ना अरण्य सीमा पर्वत आदि सहित अर्थ वाला ग्राम शब्द है उस का विचार करके अन्तराविमो ग्रामा ( ये दो गाव व्यवधान रहित ह ) यह प्रयोग होता है । उस अर्थ में नदी पर्वत आदि से ग्राम भिन्नजातीय नहा रहता है इसलिये समग्र भिन्न जातीय का ही व्यवधान होता है या भिन्नजाति वाला ही व्यवधान करने वाला होता है यह समझना चाहिये । इत्यनन्तरा सूत्र में हल् से भिन्न जाति वाल स्वर (अच) ही हैं अन उन के व्यवधान का निषेध सयोगसज्ञा में समझा जायगा तो स्वरानन्तरहितवचनम् इस वचन की कोई आवश्यकता नहीं है ।

यहा भाष्यकार ने जो ग्राम शब्द के कई अर्थ कहे हैं वे आधुनिक कोषों में अन्वेदणीय हैं । कुछ लोग अर्थभेद होने पर भी शब्द में भेद नहीं मानते । उन के मत में एक ही शब्द अनर्थबोधक शक्ति रखता है इस लिये एक ही ग्राम शब्द भिन्न २ अर्थों का बोधक है किन्तु कुछ लोग अर्थ के भेद होने से शब्द में भी भेद मानते हैं । उन के मत में शालासमुद्राद्य आदि भिन्न २ अर्थों के वाचक ग्राम शब्द भी भिन्न २ हैं । यहा भाष्यकार ने अर्थभेद से शब्दभेद मानते हुए भिन्न २ ग्राम शब्द स्वीकार किये हैं ॥

सूत्र में यह मुखनासिकावचन क्या है ?

मुख और नासिका इन दोनों का समाहार द्वन्द्व मुखनासिक है । मुखनासिक जिस का वचन है, उच्चारणसाधन है वह मुखनासिकावचन है ।

तब तो मुखनासिकावचन ऐसा होना चाहिये ।

निपातनाद् दीर्घत्वं भविष्यति । अथवा मुखनासिकमावचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः । अथ किमिदमावचनमिति । इंपद्वचनमावचनम् । किञ्चिन्मुखवचनं किञ्चिन्नासिकावचनम् । मुखद्वितीया वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः । मुखोपसंहिता वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकावचनः ॥

अथ मुखग्रहणं किमर्थम् ?

नासिकावचनोऽनुनासिकः इतीत्युच्यमाने यमानुस्वाराणामेव प्राप्नोति । मुखग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥

अथ नासिकाग्रहणं किमर्थम् ? ॥

इस सूत्र में निपातन से दीर्घ होकर मुखनासिकावचन हो जायगा । या इस में भावचन शब्द समझेगे । भावचन का क्या अर्थ होगा ? इंपत् (धोड़ा) अर्थ में भाइ शब्द मानकर धोड़ा वचन उच्चारण साधन ऐसा अर्थ होगा । जिस में कुछ मुख से बोला जाय कुछ नासिका से, उसे मुखनासिकावचन. ऐसा कहेंगे । या मुखद्वितीया नासिका अथवा मुखोपसंहिता नासिका मुखनासिका । इस प्रकार मध्यमपदलोपी तत्पुरुष समास करके उसका वचन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास करेंगे । उस अवस्था में समाहारद्वन्द्व न होने से नासिका को हस्त्र न होगा तो इष्ट रूप बन जायगा ।

मुखग्रहणं किम् लिये किया है ?

मुखग्रहण के अभाव में केवल नासिकावचनोऽनुनासिक. इतना सूत्र होने पर यम और अनुस्वार की ही अनुनासिकसज्ञा प्राप्त होगी । कुं रूं गुं धूं ये ४ यम हैं । पितृन्मी चरुन्नु, जगमि, जपन्तु यहाँ वगैरे के पञ्चम अक्षर पर रहते जो क, ख, ग, घ हैं उनका पूरेगता क, ख, ग, घ यम कहाते हैं । और ९ यह अनुस्वार का चिह्न है । अनुस्वारयमानों व नासिका स्थानमिष्यते इस पाणिनि शिक्षा के वचनानुसार अनुस्वार और यमों का नासिका स्थान है । ये केवल नासिका में बोल जाते हैं । इनकी अनुनासिकसज्ञा होने से आगेनुनासिकग्रन्थाम इत्यादि अनुनासिकस्थान स्थलों में ये ही आदान प्राप्त होगे जो कि अनिष्ट है । रिह्वनो-रनुनासिकग्रन्थाम इत्यादि अनुनासिक के अनुनासिकों में इनका अभाव होने से उन सूत्रों के अर्थ की अप्रतिपत्ति होगी । इसलिये नासिका के साथ मुखग्रहण भी करना चाहिये । मुखग्रहण करने पर जो मुख और नासिका दोनों में बोल जाते हैं क, न, ग, न, म इत्यादि, उनकी अनुनासिकसज्ञा हो जायगा तो कोई दोष न होगा ।

नासिका ग्रहणं किम् लिये किया है ?

मुखवचनोनुनासिक इतीयत्युच्यमाने कचटतपानामेव प्राप्नोति ।  
नासिकाग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥

मुखग्रहणं शक्यमकर्तुम् । केनेदानीमुभयवचनानां सिद्धं भविष्यति ।  
प्रासादवासिन्यायेन । तद्यथा केचित्प्रासादवासिनः । केचिद् भूमिवासिनः ।  
केचिदुभयवासिनः । तत्र ये प्रासादवासिनो, गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन ।  
ये भूमिवासिनो, गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन । ये तूभयवासिनो,  
गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेन च । एवमिहापि  
केचिन्मुखवचनाः । केचिन्नासिकावचनाः । केचिदुभयवचनाः । तत्र ये  
मुखवचना, गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन । ये नासिकावचना, गृह्यन्ते ते  
नासिकाग्रहणेन । ये उभयवचना, गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन नासिका-  
ग्रहणेन च ॥

नासिकाग्रहण के अभाव में मुखवचनोनुनासिक\* इतना सूत्र होने पर जो  
केवल मुख से बोले जाते हैं क च ट त थ आदि, उनकी अनुनासिकसंज्ञा प्राप्त होगी ।  
उस अवस्था में पङ्गम् (पञ्-क्) यहाँ पञ् धातु के चकार को अनुनासिक मान  
कर उससे किन् त् प्रत्यय परे रहते अनुदातोपदेशवन्ति० सूत्र से चकार का  
लोप प्राप्त होगा । ओदन पचतीति ओदनपक् यहाँ क्लिबन्त एच धातु के थकार को  
अनुनासिक मान कर किप् परे रहते अनुनासिकस्य क्लिबलो । क्विति सूत्र से उपधा-  
दीर्घ प्राप्त होगा । इसलिये मुखग्रहण के साथ नासिका ग्रहण भी करना चाहिये ।  
नासिकाग्रहण करने पर कोई दोष न होगा । उस से मुख और नासिका दोनों से बोले  
जाने वाले वर्ण की ही अनुनासिकसंज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

सूत्र में मुख ग्रहण तो दया ही देना चाहिये । यदि कहो मुखग्रहण के अभाव  
में मुख और नासिका दोनों से बोले जाने वाले वर्णों की कैसे अनुनासिकसंज्ञा होगी  
तो इसका उत्तर है—प्रासादवासिन्याय से । जैसे कुछ लोग प्रासाद (महल) में  
रहनेवाले हों । कुछ भूमि पर रहने वाले हों । कुछ प्रासाद और भूमि दोनों पर रहने  
वाले हों । उन में जो केवल प्रासाद में रहने वाले हैं वे प्रासादवासी कहलायेंगे । जो  
केवल भूमि पर रहने वाले हैं वे भूमिवासी कहलायेंगे । जो प्रासाद और भूमि दोनों  
पर रहने वाले हैं वे प्रासादवासी और भूमिवासी दोनों कहलायेंगे । इसी प्रकार यहाँ  
भी कुछ वर्ण मुख से बोले जाते हैं वे मुखवचन कहलायेंगे । कुछ नासिका से बोले  
जाते हैं वे नासिकावचन कहलायेंगे । कुछ मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं  
वे मुखवचन और नासिकावचन दोनों ही कहलायेंगे ।



भवेदुभयवचनानां सिद्धम् । यमानुस्वाराणामपि प्राप्नोति ।

नैव दोषो न प्रयोजनम् ॥

इतरेतराश्रय तु भवति । अ इतरेतराश्रयता ? सतोनुनासिकस्य संज्ञया भवितव्यम् । संज्ञया चानुनासिको भाव्यते । तदितरेतराश्रय भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ॥

अनुनासिकसंज्ञायामितरेतराश्रये उक्तम् ।

किमुक्तम् । 'सिद्ध तु नित्यशब्दत्वादिति' । नित्याः शब्दाः । नित्येषु च शब्देषु सतोनुनासिकस्य संज्ञा क्रियते । न संज्ञया अनुनासिको भाव्यते ॥

यह श्रुत है कि जो उर्ण मुख और नासिका दोनों से बोलें जाते हैं वे मुखवचन या नासिकावचन दोनों कहें जा सकते हैं जैसे उ प्र ण न म आदि । केवल नासिकावचननामक इतना सूझ होने पर भी उन की अनुनासिकसंज्ञा सिद्ध हो जायगा, लेकिन जो केवल नासिका से ही बोलें जाते हैं जैसे यम और अनुस्वार, वे भी तो नासिकावचन • इतने मूल्य से अनुनासिक प्राप्त होंगे जो कि अनिष्ट हैं ।

यम और अनुस्वारों की अनुनासिकसंज्ञा होने पर न तो कोई दोष है और न प्रयोजन है । क्योंकि अनुनासिक के अनुशब्दस्वरूपों में तो उन का संस्था अभाव ही है । रं इ विधिस्तत्र, उन न जो शानेन्तरतः इस अन्तरतम परिभाषा से मुखवचन के स्थान न मुखनासिका दोनों में बोलें जाने याच उर्ण ही भाव्य होगा, न केवल नासिका से बोलें जाने वाला ॥

अनुनासिकसंज्ञा में इतरेतराश्रयदोष तो जाता है ? कैसा इतरेतराश्रयदोष ? यही कि अनुनासिक उर्ण के पहले से विद्यमान होने पर तो अनुनासिकसंज्ञा होगा । और अनुनासिकसंज्ञा द्वारा अनुनासिक उर्ण का विधान होगा यह इतरेतराश्रय दोष है । इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय का अर्थ है—एक दूसरे के सहार में होना । यह हो तो रं दो हो रं रं दो रं रं दो रं रं दो रं रं दो इस प्रकार एक दूसरे पर आश्रित होने का अर्थ नहीं हो सकते ।

अनुनासिकसंज्ञा में प्राप्त इतरेतराश्रय दोष के विषय में पहले उद्देश्य में समाधान कर चुके हैं कि शब्द नित्य है । नित्य शब्दों में पहले से ही अनादि काल से अनुनासिक उर्ण विद्यमान है । उस को विद्यमान मान कर अनुनासिक-

यदि तर्हि नित्याः शब्दाः किमर्थं शास्त्रम् ? ॥

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्नितर्कत्वात् सिद्धम्

निवर्तकं हि शास्त्रम् । कथम् । आङ्गस्मायविशेषेणोपदिष्टोऽननु-  
नासिकस्तस्य सर्वत्राननुनासिकबुद्धिः प्रसक्ता । तत्रानेन निवृत्तिः  
क्रियते । छन्दस्यचि परत आटोऽननुनासिकस्य प्रसङ्गेनानासिकः  
साधुर्भवतीति ॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥१११९॥

तुल्या संमित तुल्यम् । आस्य च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नम् ।

सज्ञा हो जायगी । अनुनासिकसज्ञाद्वारा तथा अनुनासिक वर्ण नहीं विधान  
किया जाता ।

यदि शब्द नित्य हैं, पूरे से ही अवस्थित हैं तो अनुनासिकसज्ञा द्वारा  
अनुनासिकविधान शास्त्र किस लिये है ?

नित्य शब्दों में अनुनासिक विधान शास्त्र अभीष्ट विषय में अनुनासिक के  
अभाव को निवृत्त करने के लिये है । जैसे—आलोनुनासिकरछन्दमि यह अनुनासिक  
विधान शास्त्र आङ्ग शब्द को अनुनासिक विधान करता है । उस विधान शास्त्र  
से पूरे आङ्ग शब्द इस अभ्येता के लिये सामान्य रूप से अनुनासिकरहित  
उपदिष्ट है । उस आङ्ग को वह अभ्येता सर्वत्र अनुनासिकरहित ही समझता  
किन्तु अनुनासिक-विधान शास्त्र उसी इस बुद्धि को अभीष्ट विषय में निवृत्त  
कर देता है जिससे वह समझ जाता है कि छन्द में अब परे दत्ते आङ्ग को  
अनुनासिक प्रयुक्त करना साधु है । वहाँ अनुनासिकरहित प्रयोग अशुद्ध है ।  
असाधु है । इस प्रकार नित्य शब्द रहते हुए भी शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हो  
जाता है ।

तुल्यास्यप्रयत्नम् इस समस्त शब्द के अन्तर्गत् पदों का त्रिग्रहपूर्वक अर्थ  
दिखाते हैं—तुल्या संमित तुल्यम् । जो तुला अर्थात् तराजू से ठीक तुला हुआ है  
वह तुल्य होता है । यहाँ तुला शब्द केवल तुल्य की व्युत्पत्ति द्वारा साधुत्व  
प्रदर्शन के लिये उपयुक्त हुआ है । वस तुल्यशब्द प्रवीण कुशल आदि का तरह  
सदृश अर्थ में रूढ है । इसमें अवयवार्थ कुछ नहीं । स्वभावतः सदृश अर्थ में तुल्य  
शब्द की प्रवृत्ति होने में वही उसका प्रवृत्तिनिमित्त है । आस्य और प्रयत्न का

तुल्यास्यं च तुल्यप्रयत्न च सवर्णसंज्ञ भवति ।

किं पुनरास्यम् ?

लौकिकमास्यम् । ओष्ठात् प्रभृति प्राक् सारल्यत्वात् ।

कथं पुनरास्यम् ?

अस्यन्त्यनेन वर्णानिति आस्यम् । अन्नमेतदास्यन्दते इति या  
आस्यम् ।

अथ क. प्रयत्न ?

प्रयत्नः प्रयत्नः । प्रपूर्वाद् यततेर्भाषसाधनो नञ् प्रत्ययः ।

यदि लौकिकमास्य, किमास्योपादाने प्रयोजनम् । सचया हि तत्  
तुल्यम् ॥

समाहारद्वन्द्व हाकर गत्यप्रयत्नम् यनता है । फिर उसका तुल्य शब्द से बहुमीहि-  
समास करके सूत्र का अर्थ होगा—भास्य नार प्रयत्न निसक तुल्य हैं उसकी सवर्ण  
संज्ञा होता है ।

भास्य किस कहते हैं ?

लोकप्रसिद्ध मुख का भास्य कहते हैं । जो ओष्ठ से टकर काक्यक  
(टटुभा नामक मीठा म उभरा हुआ प्रदंत) से पूर्व तक शरीर का भरण है ।

मुख को भास्य क्यों कहते हैं ?

क्योंकि इस मुख में यणों का पकृत है, उच्चारण करते हैं, बाहर निकालते हैं  
इसलिए मुख का भास्य कहते हैं । या खाया जाता हुआ भोजन इस मुख को  
गीला करता है इसलिए भी मुख को भास्य कहते हैं । अगु क्षपण या भावपूर्वक  
स्पर्श इन धातुओं में भास्य शब्द मित्र होता है ।

प्रयत्न किस कहते हैं ?

यणों के उच्चारण में जो त्रिह्रा के भ्रम उपास्य भादि भागों से स्पर्श या  
हरका होता है उसे प्रयत्न कहते हैं । प्रपूर्वक यत् धातु से नार में यत्रया । य ।  
विच्छत्र । यणों नञ् सूत्र में नञ् प्रत्यय होकर प्रयत्न शब्द मित्र होता है ।

यदि एकत्रमिदं मुख ही भास्य है तो मुख में भास्यग्रहण करने का  
क्या प्रयोजन है ? क्योंकि मुख तो सभी यणों के उच्चारण में तुल्य है । मुख  
के व्यापार के बिना किमा यण का उच्चारण संभव नहीं ।

वक्ष्यत्येतत्—प्रयत्नविशेषणमास्योपादानमिति ।

सर्गसत्राया भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गः प्रयत्नसामान्यात् ।

सर्वणसङ्गायां भिन्नदेशेष्वतिप्रसङ्गो भवति । जवमट्टशाम् ।  
कि कारणम् । प्रयत्नसामान्यात् । एतेषां हि समान प्रयत्नः ॥

सिद्ध त्वास्ये तुल्यदेशप्रयत्न सर्गसत्र

सिद्धमेतत् । कथम् । आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते  
सर्वणसङ्गा भवन्तीति वक्तव्यम् ॥

एवमपि किमास्योपादाने प्रयोजनम् । सर्वेषां हि तत् तुल्यम् ॥

प्रयत्नविशेषणमास्योपादानम् । सन्ति ह्यास्याः यास्याः प्रयत्नाः ।  
ते हापिता भवन्ति । तेषु सत्स्वसत्स्यपि सर्वणसङ्गा सिद्धा भवति ।

यह बात अभी आगे रहेंगे कि प्रयत्न का विशेषण बनाने के लिए सूत्र में  
आम्य ग्रहण किया है ।

सर्वणसङ्गा करने में तिन वर्णों का स्थान भिन्न है, किन्तु प्रयत्न तुल्य है  
उन की सर्वणसङ्गा प्राप्त होता है । जैसे ज ग ड द इन वर्णों का स्पृष्टसङ्ग  
प्रयत्न तो तुल्य है किन्तु स्थान सत्र का भिन्न भिन्न है । न का तालु । ब का ओष्ठ ।  
ग का कण्ठ । ड का नृधौ और द का दन्त । अभी तक तुल्य प्रयत्न सर्वणम्  
इस सूत्र का यही अर्थ है कि तिन का मुख और प्रयत्न तुल्य हो वे सर्वणसङ्ग  
होते हैं । इन सब का मुख और प्रयत्न तुल्य है केवल स्थान भिन्न है । इस लिये  
मुख और प्रयत्न के तुल्य होने से इन की आम्य में सर्वणसङ्गा प्राप्त होती है ।

अच्छा तो आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च ते सर्वणमणा भवन्ति ऐसा सूत्र  
बना देंगे तब ज ग ड द का सर्वणसङ्गा न होगा । उस सत्र का अर्थ होगा  
मुख में तिन वर्णों का स्थान और प्रयत्न तुल्य है उन की सर्वणसङ्गा होता है । न ब  
ग ड द का स्थान तुल्य न होने से सर्वणसङ्गा न होगी ।

इस नये सूत्र में भी आस्ये ग्रहण का क्या प्रयोजन है क्योंकि स्थान और  
प्रयत्न तो मुख में ही होते हैं । वह सब का तुल्य है ।

आस्ये येषां तुल्यो देशः ० इस नये सूत्र में आस्येग्रहण प्रयत्न का विशेषण  
बनाने के लिये किया गया है । आस्ये अर्थात् मुख, उस में जो स्पृष्ट टपत्-स्पृष्ट आदि  
प्रयत्न होते हैं उन की तुल्यता होने पर सर्वणसङ्गा हो । मुख से बाहर जो विचार

के पुनस्ते? विवारसंवारी, श्वासनादौ, घोषवद्घोषता, अल्पप्राणता, महाप्राणतेति । तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीया विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च । एकेऽल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः । तृतीयचतुर्थाः सवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः । एकेऽल्पप्राणाः । अपरे महाप्राणाः । यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः । आनुनासिक्यवर्जम् । आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ॥

एवमप्यवर्णस्य सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति । याद्य ह्यास्यात् स्थानमवर्णस्य ॥

सर्वमुखस्थानमवर्णमेक इच्छन्ति ॥

गवमपि व्यपदेशो न प्रकल्पते-आस्ये येषां तुल्यो देश इति ॥

संसार आदि प्रयत्न होते हैं उन की तुल्यता सवर्णसंज्ञा में भाग्यश्यक नहीं । सवर्ण-संज्ञा में बाह्य प्रयत्न छोड़ दिये जायेंगे । उन की तुल्यता होने न होने पर भी सवर्णमेव हो जायगी । ये बाह्य प्रयत्न कौन से हैं ? शिवार, सरार, श्वात, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण ये बाह्य प्रयत्न हैं । उन में कर्ग आदि पाच वर्गों के पहले दूसरे क र्ग च छ आदि वर्ण शिवार श्वात अघोष हैं । उन में भी पहले क र त व य र्ण अल्पप्राण हैं । दूसरे र्ग छ ङ थ फ ये वर्ण महाप्राण हैं । तीसरे चौथे ग घ ङ झ आदि वर्ण संसार नाद घोष हैं । उन में भी तीसरे ग ङ ङ द न अल्पप्राण हैं और चौथे घ झ ङ थ भ महाप्राण हैं । पांचवें छ ञ ण न म वर्ण तीसरे वर्णों के समान हैं केवल अनुनासिक धर्म को छोड़ कर । अनुनासिक धर्म इन पांचवें वर्णों का अधिक है । अर्थात् पांचवें वर्ण संसार नाद घोष अल्पप्राण तथा अनुनासिक हैं ।

ऐसा होने पर भी अवर्ण की सवर्णसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । क्योंकि कुछ भाषाओं के मत में अवर्ण का स्थान काष्ठक से नीचे प्रीरा के ओढ़ के भागपात है । यह भास्य से बाहर है । भास्य में नहीं आता ।

अवर्ण की सवर्णसंज्ञा हो जायगी । क्योंकि कुछ भाषाएँ अवर्ण का स्थान मारा मुख में ही मानते हैं । उन के मत में भास्य के अन्दर ही अवर्ण भा जायगा ।

अवर्ण का स्थान मारा मुख मानने पर मुख ही अवर्ण का स्थान हो गया । मुख में स्थान न रहा । उस अवस्था में मुख में उनका स्थान गुप्त है यह व्यपदेश ( कथन ) नहीं बनेगा ।

व्यपदेशिवद्भावेन व्यपदेशो भविष्यति ॥

सिध्यति । सूत्रं तर्हि भिद्यते । यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं सर्वर्णसंज्ञाया भिद्यदेशेष्वतिप्रसङ्गं प्रयत्नसामान्यात् इति । नप दोषः । नहि लोकिक्मास्यम् । किं तर्हि । तद्धितान्तमास्यम् । आस्ये भवम् आस्यम् । 'शरीरावयवाद्यत्' । किं पुनरास्ये भवम् । स्थानं करणं च ॥

एवमपि प्रयत्नः विशिष्टः भवति ॥

प्रयत्नश्च विशिष्टः । कथम् । नहि प्रयत्नः प्रयत्नः । किं तर्हि ।

व्यपदेशिवद्भावेन स मुख्यरूपं स्थानं का भा मुख्यं स स्थानं मानं लिया जायगा अतः यमं मुख्यं क समानं व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कर्तव्य है । जैसे राहु शिर राहु का शिर, यहा शिररूप राहु हान पर भी राहु का शिर ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार यहा भी मुख्यरूप स्थान का ही उपचार स मुख्य स स्थान मान लेंगे ता कोई दाप न हागा ।

इस प्रकार आस्य यथा तुल्यो देश प्रयत्नश्च त सर्वर्णसंज्ञा भवान्त इस मूलतः सूत्र स इष्ट सर्वर्णसंज्ञा सिद्धता हा जायगा किन्तु तुल्यास्य प्रयत्न सर्वर्णम् इस पाणिनि सूत्र का भङ्ग हा जायगा । इस स्थिति नया सूत्र न बना कर 'सा पाणिनि का सूत्र है वंसा तुल्यास्य प्रयत्न सर्वर्णम् यह सूत्र ही रहने दो । यह ना न बग ड द भादि स सर्वर्णसंज्ञा प्राप्ति का दाप कहा था वह काह दाप ना । क्याक हम हाक प्रसिद्ध मुख्य का आस्य नहीं मानगे किन्तु आस्य भवम् आस्यम् इम प्रकार आस्य शब्द से नत्र भव अर्थ स शरीरावयवाश्च सूत्र स तादृश धर् प्रत्यय करके आस्य शब्द बनायेंगे । उसका अर्थ हागा आस्य स अधान् मुख्य स हान वाला । क्या ? स्थान और प्रयत्न । नि वणो क स्थान और प्रयत्न तुल्य हाग व सर्वर्णसंज्ञक हा जायगा ता न बग ड द की स्थान क तुल्य न हान स सर्वर्णसंज्ञा न हागा ।

तद्धित प्रत्ययान्त आस्य मानने पर भा प्रयत्न विशिष्ट रहता है । अर्थात् प्रयत्न का विशेषण आस्य न रहा । तुल्यास्य प्रयत्नम् यह द्वन्द्वगम बहुव्रीह है, ऐसा मान कर यह व्याप्य है, उस अवस्था स मुख्य स बाहर हान वाल प्रयत्न भी सर्वर्णसंज्ञा में आवश्यक हो जायगा ।

प्रयत्न को भी विशिष्ट अर्थात् विशेषणयुक्त कर देंगे । कैसे ? कवल प्रयत्नमात्र का प्रयत्न नहीं मानगे अपितु यत्न क प्रारम्भ को प्रयत्न मानगे ।



अभेदका उदात्तादयः ।

अथवा किं न एतेन प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्न इति । प्रयत्नमेव प्रयत्नः तदेव च तद्धितान्तमास्यम् । यत् समानं तदाश्रयिष्याम ॥

किं सति भेदे ? ॥

सतीत्याह । सत्येव हि भेदे सवर्णसंज्ञया भवितव्यम् । कुत एतत् ।

उदात्तादि स्वर अभेदक माने गये हैं इस लिये उन में भेद न होने से वहाँ सवर्णसंज्ञा हो जायगी । अब तक विशेष शब्द द्वारा उदात्त आदि का विधान न किया जावे तब तक उदात्तादि का परस्पर भेद नहीं माना जाता यह सिद्धान्त अस्ति दधि० सूत्र क उदात्तग्रहण स ज्ञापित होता है जो पहले वृद्धिरादेन् सूत्र के भाष्य में स्पष्ट हो चुका है ।

अथवा हमें इस से क्या कि यत्न के प्रारम्भ को ही प्रयत्न माने, हम सामान्य प्रयत्नमात्र को प्रयत्न मान लेंगे । और तद्धितप्रत्ययान्त आस्य शब्द को मानेंगे । बाह्य और भान्तर सब प्रकार के प्रयत्नों में जो भी समान एव तुल्य होगा उस का तुल्यता होने पर सवर्णसंज्ञा हो जायगी ।

क्या कुछ प्रयत्नों के भिन्न होने पर और कुछ के समान होने पर जो उन में समान प्रयत्न होंगे उन का तुल्यता में सवर्णसंज्ञा मानेंगे या सर्वथा सब प्रयत्नों के समान होने पर ? भाव यह है कि जिस प्रकार स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर प्रयत्नों के समान होने पर और विचार सवार आदि बाह्य प्रयत्नों के भिन्न होने पर भी सवर्णसंज्ञा मानने का उद्देश्य विचार सवार आदि बाह्य प्रयत्नों के समान होने तथा स्पृष्ट आदि आभ्यन्तर प्रयत्नों के भिन्न होने पर भी सवर्णसंज्ञा मानते हो या नहीं ?

कुछ प्रयत्न भिन्न होने पर ही समान प्रयत्नवाला का सवर्णसंज्ञा मानेंगे । क्योंकि भेद होत हुआ समानता में सवर्णसंज्ञा नै होता है । वह भेदमूलक ही होती है । यदि जहाँ सब कुछ समान हो वहाँ सवर्णसंज्ञा मानी जावे तो सवर्णसंज्ञा करना ही व्यर्थ होगा । भेद होने पर समानता में सवर्णसंज्ञा होती है इस विषय में श्रोतों शरि सवर्ण सूत्र का सवर्णग्रहण ही ज्ञापक है । उस सूत्र में सवर्णग्रहण इस लिये किया है कि यथाभ्यन्तरानुदेश समानानाम् इस यथासंख्य नियम को रोक कर हल् से परे जो शब्द उस का सवर्णान्तर पर रहते लोप हो जावे । जैसे क्षिण्डि यहाँ क्षिप् धातु के लोट् हकार मध्यमपुरा एकवचन में भ्रम् विकरण के भकार का लोप होकर क्षिन्-धि इस अवस्था में क्षल जश् क्षलि से ष की ड, प्ठुना प्ठुः से ध



भेदाधिष्ठाना हि सवर्णसंज्ञा । यदि हि यत्र सर्वे समानं तत्र स्यात्, सवर्णसंज्ञावचनमनर्थकं स्यात् ॥

यदि तर्हि सति भेदे किंचित्समानमिति कृत्वा सवर्णसंज्ञा भविष्यति । शकारच्छकारयोः षकारठकारयोः सकारधकारयोः सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति । एतेषां हि सर्वमन्यत् समानं करणवर्जम् ॥

एवं तर्हि प्रयत्नमेव प्रयत्नः । तदेव हि तद्धितान्तमास्यम् । न त्वय द्वन्द्वः आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नमिति । किं तर्हि त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः । तुल्य आस्ये प्रयत्न एवामिति । अथवा पूर्वस्तत्पुरुषस्ततो

को ङ होता है । फिर न् को अनुस्वार परसवर्ण होकर ण् होता है । उस हल् णकार से परे झर् ङकार का उस के सवर्णीं झर् ङकार के परे रहते लोप होता है । यदि सब कुछ समान होने पर सवर्णसंज्ञा हो तो यहाँ ङकार ङकार सवर्ण न बन सकेगे । सवर्ण न बनने पर ङकार पर रहते ङकार का लोप न हो सकेगा । क्योंकि ङकार ङकार की अन्य सब समानता होने पर भी अल्पप्राण तथा महाप्राणरूप बाह्य प्रयत्न की असमानता है । ङकार अल्पप्राण है । ङकार महाप्राण है । सजार नाद घोष तथा स्फुट प्रयत्न एवं मूर्ध्ना स्थान दोनों के समान हैं । सब कुछ समानता होने पर यथासंख्य नियम से ही काम चल जाता तो सवर्णग्रहण व्यर्थ था । इस लिये वह इस बात का ज्ञापक है कि सब कुछ समान होने पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती ।

यदि भेद होने पर समानता में सवर्णसंज्ञा होती है तो शकार छकार, षकार ङकार और सकार धकार इन की भी आपस में सवर्णसंज्ञा प्राप्त होगी । क्योंकि इन वर्णों का और सब समान है केवल आभ्यन्तर प्रयत्न को छोड़ कर । श ष स का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है और छ ठ थ का स्फुट है । अन्य तालु भादि स्थान तथा त्रिवार श्वास अधोष महाप्राण ये सब प्रयत्न समान हैं ।

अच्छा तो प्रयत्न तो सामान्य प्रयत्न ही माना जायगा । और आस्य भी तद्धितप्रत्ययान्त ही मानेंगे किन्तु तुल्यास्यप्रयत्नम् इस समस्त पद में आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नम् तुल्यमास्यप्रयत्नं यस्य ऐसा द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि समास न मान कर तुल्य आस्ये प्रयत्न एवाम् इस प्रकार त्रिपद बहुव्रीहि मानेंगे । अथवा तुल्य आस्ये तुल्यास्यैः इस प्रकार पहले पदों का तत्पुरुष करके फिर प्रयत्न शब्द

बहुव्रीहिः । तुल्य आस्ये तुल्यास्यः । तुल्यास्यः प्रयत्न एवमिति ।  
अथवा परस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः । आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्न ।  
तुल्य आस्यप्रयत्न एवमिति ॥

तस्य ।

तस्येति तु वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । यो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नः  
स तस्य सवर्णसज्ञो यया स्यात् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य  
सवर्णसज्ञो मा भूत् ॥

तस्यावचन वचनप्रामाण्यात् ।

तस्येति न यत्तज्जम् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसज्ञः  
कस्मात् भवति । वचनप्रामाण्यात् । सवर्णसज्ञावचनसामर्थ्यात् । यदि  
हि अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसज्ञः स्यात् सवर्णसज्ञावचन-  
मनर्थक स्यात् ।

क साथ बहुव्रीहि मानग । या आस्ये प्रयत्ने आस्यप्रयत्न इस प्रकार पिछले पदों  
का सत्पुत्र करक फिर तुल्य शब्द के साथ बहुव्रीहि समास मानेगे तो उन सब का  
अर्थ होगा जिन का एक ही स्थान में तुल्य प्रयत्न हो उन की सवर्णसज्ञा होती है  
तो शकार उकारादि का आपस में सवर्णसज्ञा नहीं होगी । क्योंकि शकार उकारादि  
का जो स्थान है तालु आदि, वह जहाँ है वही प्रयत्न तुल्य होना चाहिये । अर्थात्  
स्थान और प्रयत्न दोनों की एक जगह होनी चाहिये । दोनों एक ही स्थान पर हों,  
अलग अलग न हों । तालु आदि मुख में हैं तो आभ्यन्तर प्रयत्न की तुल्यता में  
सवर्णसज्ञा होगी बाह्य का तुल्यता में नहीं । शकार उकारादि का आभ्यन्तर प्रयत्न  
तुल्य न होने से सवर्णसज्ञा न होगी ।

सवर्णसज्ञा में तस्य शब्द का ग्रहण करना चाहिये । जिस स या तिस का  
समान स्थान प्रयत्न वाला है उस की उस से ही सवर्णसज्ञा हो । अन्य के समान  
स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्णसज्ञा न हो ।

सवर्णसज्ञा में तस्य शब्द के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । सवर्णसज्ञा  
क वचनसामर्थ्य से ही अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्ण-  
सज्ञा न होगी । यदि अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्ण-  
सज्ञा हो पाये तो सवर्णसज्ञा वचन ही व्यर्थ हो जायगा । सवर्णसज्ञा इसी लिये  
की जाती है कि जिस का जिस के साथ स्थानप्रयत्न मिलता है वह उसी के साथ

१. त्रिपद बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त का पूर्वनिपात होना चाहिये या, तुल्य आस्य

बहुव्रीहिः । तुल्य आस्ये तुल्यास्यः । तुल्यास्यः प्रयत्न एवामिति ।  
अथवा परस्तत्पुरुषस्ततो बहुव्रीहिः । आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्न ।  
तुल्य आस्यप्रयत्न एवामिति ॥

तस्य ।

तस्येति तु वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । यो यस्य तुल्यास्यप्रयत्नः  
स तस्य सवर्णसज्ञो यथा स्यात् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य  
सवर्णसज्ञो ना भूत् ॥

तस्यावचन उचनप्रामाण्यात् ।

तस्येति न वक्तव्यम् । अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसज्ञः  
कस्माच्च भवति । वचनप्रामाण्यात् । सवर्णसज्ञावचनसामर्थ्यात् । यदि  
हि अन्यस्य तुल्यास्यप्रयत्नोऽन्यस्य सवर्णसज्ञः स्यात् सवर्णसज्ञावचन-  
मनर्थक स्यात् ।

क साथ बहुव्रीहि मानेन । या आस्ये प्रयत्ने आस्यप्रयत्न इस प्रकार पिछे पदों  
का तापुहर करके फिर तुल्य शब्द के साथ बहुव्रीहि समास मानेगे तो उन सब का  
अर्थ होगा जिन का एक ही स्थान में तुल्य प्रयत्न हो उन की सवर्णसज्ञा होती है  
तो रकार उकारादि का आपस में सवर्णसज्ञा नहीं होगी । क्योंकि शकार छकारादि  
का तो स्थान है तालु आदि, वह जगह है वही प्रयत्न तुल्य होना चाहिये । अर्थात्  
स्थान और प्रयत्न दोनों की एक जगह होनी चाहिये । दोनों एक ही स्थान पर हों,  
अलग अलग न हों । तालु आदि मुख में हैं तो आभ्यन्तर प्रयत्न की तुल्यता में  
सवर्णसज्ञा होगी बाह्य का तुल्यता में नहीं । रकार छकारादि का आभ्यन्तर प्रयत्न  
तुल्य न होने से सवर्णसज्ञा न होगी ।

सवर्णसज्ञा में तस्य शब्द का ग्रहण करना चाहिये । जिस स जो जिस का  
समान स्थान प्रयत्न वाग्य है उस की उस से ही सवर्णसज्ञा हो । अन्य के समान  
स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्णसज्ञा न हो ।

सवर्णसज्ञा में तस्य शब्द के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । सवर्णसज्ञा  
के वचनसामर्थ्य से ही अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्ण-  
सज्ञा न होगी । यदि अन्य के समान स्थान प्रयत्न वाले की अन्य के साथ सवर्ण-  
सज्ञा हो पाये तो सवर्णसज्ञा उचन ही व्यर्थ हो जायगा । सवर्णसज्ञा दूरी लिये  
की जाती है कि जिस का जिस के साथ स्थानप्रयत्न मिलता है वह उसी के साथ

## सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यम् ।

सम्बन्धिशब्दैर्वा पुनस्तुल्यमेतत् । तद्यथा सम्बन्धिशब्दः मातरि वर्तितव्यम् । पितरि शुश्रूषितव्यमिति । न चोच्यते स्वस्यां मातरि स्वस्मिन् पितरीति । सम्बन्धाच्चैतद् गम्यते या यस्य माता यश्च यस्य पितेति । एवमिहापि तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णमित्यत्र सम्बन्धिशब्दावेतौ । तत्र सम्बन्धादेतदवगन्तव्यं यत्प्रति यत् तुल्यास्यप्रयत्नं तत्प्रति तत् सवर्णसंज्ञं भवतीति ।

## ऋकारलृकारयोः सवर्णविधिः ।

ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञा विधेया । होतृ-लृकारः होतृकार इति । किं प्रयोजनम् । अकः सवर्णे दीर्घ इति दीर्घत्वं यथा स्यात् ।

सवर्णमंज्ञा हो । दूसरे के साथ नहीं । वैसे भी यह बात सम्बन्धी शब्दों के तुल्य समझिये । जैसे सम्बन्धी शब्द माता पिता आदि हैं । जब हम कहते हैं कि माता का आदर करना चाहिये या पिता की सेवा करना चाहिये तो वहाँ अपनी माता या अपने पिता न कहने पर भी अपने ही माता पिता समझे जाते हैं दूसरे के नहीं । सम्बन्ध से यह स्वयं समझ लिया जाता है कि जो जिस की माता और पिता है वह उस का आदर या सेवा करे । इसी प्रकार यहाँ सवर्णसंज्ञा में भी तुल्यास्यप्रयत्न और सवर्ण ये दोनों सम्बन्धी शब्द हैं । वहाँ दोनों के सम्बन्ध से यह बात स्वयं समझ ली जायगी कि जिसका जिसके साथ स्थात प्रयत्न तुल्य है उस की उस के साथ सवर्णसंज्ञा होती है । दूसरे की दूसरे के साथ नहीं ।

ऋकार और लृकार की सवर्णमंज्ञा कहनी चाहिये । क्योंकि दोनों के स्थान न मिलने से तुल्यास्य० सूत्र से सवर्णसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । होतृ-लृकारः यहाँ होतृ के ऋकार से लृकार पर रहते सवर्णसंज्ञा हो जाने से अकः सवर्णे दीर्घ सूत्र से दोनों के स्थान में दीर्घ ऋकार आदेश होकर होतृ कारः यह रूप सिद्ध हो जायगा । लृवर्ण क्योंकि दीर्घ नहीं होता इस लिये ऋ लृ के स्थान में लृ का सवर्ण ऋ दीर्घ हो जाता है ।

तुल्यास्यः यह तत्पुरुष पूर्वप्रदार्थ प्रधान होने से अगतिक् की गति है, अतः भाष्य में यह तृतीय प्रकार का समास माना है ।

नतइस्ति प्रयोजनम् । वक्ष्यत्येतत् सवर्णदीर्घत्वे ऋति ऋ वा वचनम् । लति ल वा वचनमिति ।

तत्सवर्ण यथा स्यात् । इह मा भूत । दध्त्कार मध्त्कार इति ॥

यदेतत् सवर्णदीर्घत्वं ऋतीति एतद् ऋत इति वक्ष्यामि । तत् लति । लकार परत्वं लृकारो वा भवतीति । ऋन इत्येष ॥

तन्न वक्तव्यं भवति ॥

यह कोई प्रयोजन नहीं । भाग्य अर्क सवर्ण० सूत्र पर वातिक कहेंगे नान न वा वचनम् । ऋति ऋ वा वचनम् । उन का अर्थ है मऊ म पर ककार हान पर पञ्च म रफद्वययुक्त द्विमात्रक न हाता है और पञ्च म दार्घ्य होता है लृकार पर रहत पञ्च में लकारद्वययुक्त द्विमात्रक ल हाता है और पञ्च में दीर्घ हाता है । उस स हातलृकार यथा लृकार पर रहते लृ क दीर्घ न होने का कारण स्थानान्तरतन परिभाषा स पञ्च म ऋकार दार्घ्य होकर हानकार यह रूप बन पायेगा ।

उन वातिका स दाघ विधान एवं क ल विधान करन म मा सवर्णमज्ञा का आवश्यकता है । जिस स सवर्णा ककार लृकार पर रहत हा पञ्च में दार्घ्यहा । दाघ-लृकार मधु-लृकार यथा दीर्घ न हा । इकार उकार का स र्ण लृ नहीं है इसलिय दार्घ्य न हाकर यग हाता है । क लृ की सवर्णमज्ञा क अभाव में यथा भी दीर्घ ऋकार हा पाता ।

ऋकारलृकारया सवर्णमज्ञा विधया इस वचन क बिना भी होतृ लृकार होतृकार यह रूप बन पायेगा । ऋति ऋ वा वचनम् इस वार्तिक में ना आत यह संसम्बन्ध है उस बदल कर ऋत इस प्रकार पञ्चम्यन्त करेंगे । ऋन ऋ वा वचनम् का अर्थ होगा क स सवर्णा अब परे रहत रफद्वययुक्त क हा और पञ्च में दार्घ्य हा । क का सवर्णा क ही हाता है इस लिय हातृ ऋकार यथा रफद्वययुक्त क क पञ्च म हातृकार और दाघपञ्च में होतृकार य दा रूप बन पायेगा । लृत लृ वा वचनम् में ऋत इस पञ्चम्यन्त का अनुवृत्ति करके अर्थ होगा ऋकार स परे लृकार हान पर पञ्च म रफद्वययुक्त लृ और दीर्घ हाता है । हातृ-लृकार यथा पञ्च म लृ आर दार्घ्य हाकर हातृ लृकार, हातृकार य दा रूप बिना सवर्णमज्ञा के भी बन पायेगा ।

सवर्णमज्ञाविधायक इस वातिका क बनन पर ऋति ऋ वा वचनम् लति लृ वा वचनम् इन वातिका क बनाने की आवश्यकता नहीं रहता । (सवर्णमज्ञा

अवश्य तद् वक्तव्यम् । ऊकालोऽङ्गस्वदीर्घप्लुतसङ्गो भवतीत्युच्यते । न च ऋकार लृकारो वाऽङ्गस्ति ॥

ऋकारस्य लृकारस्य चाक्षत्वं वक्ष्यामि । तच्छावश्यं वक्तव्यम् । प्लुतो यथा स्यात् । होतृ-ऋकार-होतृकार । होतृ ३ कार इति । होतृ लृकारः । होतृलृकारः । होतृलृ ३ कार इति ॥

किं पुनरत्र ज्यायः ॥

विधायक एक घातिक करने में ही लाघव है ) क्योंकि दोनों घातिकों से विधीयमान रेफद्वययुक्त ऋ और रेफलृकारयुक्त लृ दीर्घ माने गये हैं । ऋकारलृकारयो घातिक से ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा होने पर अब सवर्ण दीर्घ सूत्र से होतृ ऋकार यहा दो ऋकारों के रेफद्वययुक्त होने से और विवृत होने से ऋ और लृ दोनों प्रकार के दीर्घ हो कर होतृकार, होतृलृकार ये दोनों रूप बन जायेंगे । इसी प्रकार होतृलृकार यहा भी लृ और ऋ ये दोनों प्रकार के दीर्घ हो कर होतृलृकार, होतृलृकार ये रूप बन जायेंगे ।

श्रुति ऋ वा, लृति लृ वा ये दोनों घातिक तो अवश्य बनाने होंगे क्योंकि किन्हीं भाषायों के मत में ये विधीयमान ऋ लृ दाईमात्रावाले या ईषत्सृष्ट प्रत्यय वाले होने से अच् प्रत्याहारस्थ विवृत प्रचरनवाले ऋ लृ क सवर्णों नहीं होंगे तो अब सवर्णों से पक्ष में दीर्घ न हो सकेंगे । ऊकालोऽङ्गस्वदीर्घप्लुत सूत्र से द्विमात्रिक अच् की दीर्घ संज्ञा होती है । दाईमात्रावाले की नहीं । इस अवस्था में विधीयमान ऋ लृ अच् ही न होंगे तो दीर्घ कैसे होंगे ।

घातिकों द्वारा विधीयमान ऋ लृ को अच् माना जायगा । पर चूकि अक्षर होने पर भी जब तक द्विमात्रिक नहीं तब तक इन की दीर्घसंज्ञा न होगी, इस लिये इन्हें द्विमात्रिक मानना होगा । द्विमात्रिक मान कर दीर्घ संज्ञा हो जाने पर अब सवर्णों सूत्र से दोनों प्रकार के दीर्घ होकर चारों रूप सिद्ध हो जायेंगे । ऋ लृ को अब मानना घातिकद्वय पढ़ने बाल के लिये भी अत्यावश्यक है जिस से होतृ-ऋकार=होतृलृकार यहा रेफद्वययुक्त ऋ को दूराद्धूते आदि विषय में प्लुत हो कर होतृ ३ कार यह रूप बन सके । इसी प्रकार होतृ लृकार=होतृलृकार यहा रेफलृकारयुक्त लृ को प्लुत होकर होतृलृकार यह बन सके । अन्यथा ऋ लृ का विधान मात्र होगा, अब निमित्तक प्लुत कार्य न हो सकेंगा ।

ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा करने और श्रुति ऋ वा, लृति लृ वा घातिकों से ऋ लृ विधान करने में कौन अधिक उपयुक्त होगा ? अर्थात् ऋकारलृकारयो सवर्णवधि इस वचन द्वारा ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा का विधान करना अच्छा है या श्रुति ऋ वा, लृति लृ वा घातिकों का बनाना अच्छा है ?

सवर्णसंज्ञावचनमेव ज्यायः । दीर्घत्वं चैव हि सिद्धं भवति । अपि च ऋकारग्रहणेन लृकारग्रहणं संनिहितं भवति । यथेह भवति । ऋत्यकः खट्व ऋश्यः माल ऋश्यः । इदमपि सिद्धं भवति खट्व लृकारो माल लृकार इति । “वा सुप्यापिशलेः” । उपर्कारीयति, उपार्कारीयति । इदमपि सिद्धं भवति । उपलृकारीयति । उपालृकारीयति ॥

यत्रि तर्हि ऋकारग्रहणेन लृकारग्रहणं संनिहितं भवति । उरण् रपरः । लृकारस्यापि रपरत्वं प्राप्नोति ॥

लृकारस्य लपरत्वं ब्रूयामि । तच्चावश्यं वक्तव्यम् । असत्यां सवर्ण-संज्ञायां विध्यर्थम् । तदेव सत्यां रेफवाचनार्थं भविष्यति ॥

अ लृ की सवर्णसंज्ञा विधान करना ही अधिक अच्छा है । कति अ वा, लृति लृ वा विधान की अपेक्षा यही अधिक उपयुक्त होगा । दोनों की सवर्णसंज्ञा होने पर एक तो अ सवर्ण० सूत्र से दीर्घ सिद्ध हो जायगा भिन्न में चारों रूप उक्त रीति से बन जायेंगे । और अन्यत्र स्थानों में ऋकार स लृकार का ग्रहण भी कर लिया जायगा । जैसे ऋत्यक. यह सूत्र खट्वा-ऋत्य.=खट्वऋत्य. । माला-ऋत्य. मालऋत्य. यहां ऋकार पर रहते ह्रस्व तथा प्रकृतिभाव करता है वैसे खट्वा लृकार.=खट्वलृकार । माला-लृकारः=माललृकार. यहां लृकार पर रहते भी कर देंगे । वा सुप्यापिशले यह सूत्र जैसे उप-लृकारीयति=उपर्कारीयति, उपार्कारीयति यहां ऋकार पर रहते वृद्धिविकल्प करता है वैसे उप-लृकारीयति=उपलृकारीयति, उपालृकारीयति यहां लृकार पर रहते भी लग जायगा

ऋकार से लृकार का ग्रहण मानने पर उरण् रपर सूत्र में भी ऋकार से लृकार का ग्रहण होगा तो लृकार के स्थान में ऋकार की तरह रपर प्राप्त होगा । इस का उत्तर है —

लृकार के स्थान में होने वाले अण् को रपर न कह कर लपर कह देंगे । अर्थात् रपर शब्द में र शब्द र सप्रक प्रत्याहार माना जायगा जो ह्रस्वरट् सूत्र के रेफ से लेकर ल् सूत्र के अकार तक मध्य में होने वाले रेफ और लकार उन दो वर्णों का ग्राहक होगा । उस से ऋ के स्थान में रपर और लृ के स्थान में लपर सिद्ध हो जायगा । लपर का कहना आवश्यक भी है । अ लृ की सवर्णसंज्ञा न मानने पर वह विध्यर्थ होगा । नया विधान होगा । और दोनों की सवर्णसंज्ञा मानने पर लृ के स्थान में रेफ को वाचने के लिये उपयुक्त होगा ।

इह तर्हि रपाभ्यां नो णः समानपदे इत्यत्र ऋकारग्रहणं चोदितम् । मातृणां पितृणामित्येतदर्थम् । तदिहापि प्राप्नोति क्लृप्यमान पश्येति ॥

अथासत्यामपि सवर्णसंज्ञायामिह कस्मान्न भवति प्रकृष्टप्यमानं पश्येति । 'चुटुतुलशर्व्यवाये ने'ति वक्ष्यामि । अपर आह 'त्रिभिश्च-मध्यमेवर्गलंशसैश्च व्यवाये ने'ति वक्ष्यामि इति । वर्णकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते इति योऽसौ लृकारे लकारस्तदाश्रयः प्रतिपेधो भविष्यति । यद्येव नाथौ रपाभ्यां नो णत्वे ऋकारग्रहणेन । वर्णकदेशाश्च वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते इति योऽसौ ऋकारे रेफस्तदाश्रयं णत्वं भविष्यति ॥

नाज्झलौ ॥११११०॥

अज्झलो प्रतिपेधे शकारप्रतिपेधाऽज्झलत्वात् ।

अज्झलोः प्रतिपेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिपेधः ।

ऋकार लृकार की सवर्णसंज्ञा मानने पर लृ को ऋ समझा जायगा तो क्लृप्यमान पश्य यहा रपाभ्या नो ण ० सूत्र में पठित ऋवर्णान्नित्य णत्व वाच्यम् इस वार्तिक से न् को ण प्राप्त होगा । इस का उत्तर यह है—

ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा न मानने पर भी प्रकृष्टप्यमान पश्य यहाँ कृष्यच सूत्र से प्राप्त न को ण् क्यों नहीं होता ? तो आप कहेंगे चुटुतुलशर्व्यवाये न या त्रिभिश्च मध्यमेवर्गलंशसैश्च व्यवाये न इन वचनों से निषेध हो जायगा इस लिये यहाँ णत्व नहीं होता । उक्त दोनों वचनों का अर्थ है—चवर्ग टवर्ग सवर्ग लृकार शकार के व्यवधान में र प से परे न को ण नहीं होता । प्रकृष्टप्यमानम् में वर्णों के एकदेश वर्णग्रहण से गृहीत होत हैं इस पक्ष को लेकर लृकार के एकदेश (अवयव) लृकार का व्यवधान होने से णत्व नहीं होगा तो प्रकृष्टप्यमानम् पश्य यहाँ भी दोष नहीं । क्योंकि वर्णक देशों को वर्णग्रहण से गृहीत मानने पर रपाभ्या नो ण ० सूत्र में ऋवर्णान्नित्य णत्वं वाच्यम् इस वार्तिक की आवश्यकता ही नहीं रहती । ऋवर्ण में जो उस का एकदेश रेफ है उस को वर्णग्रहण से गृहीत मान कर रेफ समझा जायगा । उस अवस्था में रपाभ्या०सूत्र से ही ऋवर्ण से परे भी णत्व सिद्ध हो जायगा । क्लृप्यमानम् में रेफ न होने से णत्व न होगा । यदि वर्णकदेशों को वर्णग्रहण से गृहीत न मानें तो मातृणाम् पितृणाम् में णत्व करने के लिये रपाभ्या० सूत्र में ऋवर्णान्नित्य णत्व वाच्यम् यह वार्तिक बनाना पड़ेगा । उस समय ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा मानने पर क्लृप्यमानम् में णत्व प्राप्त होता है वह छुन्नादिषु च सूत्र से रोक दिया जायगा । इस प्रकार ऋ लृ की सवर्णसंज्ञा करने में कहीं कोई दोष नहीं आता ॥

तुल्य स्थान प्रयत्न वाले अच् और हल् की आपस में सवर्णसंज्ञा नहीं होती यह इस सूत्र का अर्थ है । सूत्र में पठित अच् शब्द इको यणचि आदि की तरह अपने सब सवर्णियों को ग्रहण कर रहा है ऐसा समझते हुए शङ्का करते हैं कि



प्राप्नोति । किं कारणम् । अज्झलत्वात् । अच्चैव हि शकारो हल् च । कथं तावदच्चत्वम् । इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमच्चत्वम् । हल्पु चोपदेशाद् हलत्वम् ।

तत्र को दोषः । तत्र सवर्णलोपे दोषः । तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति । परदशतानि कार्याणि । श्रो शरि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोति ॥

सिद्धमनच्त्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अनच्त्वात् । कथमनच्चत्वम् । स्पृष्टं करणं

अच् हल् की परस्पर सवर्णसंज्ञा के निषेध में शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है क्योंकि शकार अच् और हल् दोनों है । अच् कैसे है ? इकार सवर्णग्रहण (सवर्णग्राहक अणुदित् शास्त्र) से जैसे ईकार को ग्रहण करता है वैसे स्थान प्रयत्न तुल्य होने से शकार को भी ग्रहण करेगा तो ईकार की तरह शकार भी अच् हो जायगा । हल् प्रत्याहारो में पठित होने से शकार हल् है ही । हर्य अपने अन्दर सूत्र का व्यापार न होने से नाञ्जली यह सूत्र इकार शकार की सवर्णसंज्ञा का निषेध नहीं करेगा । यस्मैति च इत्यादि विधियों में तो इस शास्त्र से सवर्णत्व का निषेध हो जाने से इकार से शकार का ग्रहण न होगा । अतः पूर्व सूत्र से प्राप्त इकार शकार की सवर्णसंज्ञा बनी रहेगी सवर्णग्रहण से शकार अच् और हल् दोनों प्रकार का रहेगा । उस अच् हल् रूप शकार का हल शकार के साथ सवर्णसंज्ञा का निषेध इस सूत्र से प्राप्त होता है ।

शकार के साथ शकार की सवर्णसंज्ञा न होने में क्या दोष है ? सवर्णलोप में दोष है । परदशतानि कार्याणि यहाँ दशतानि का शकार पर रहते पूर्ववर्ती दूसरे सवर्णी शकार का श्रो शरि सवर्णे से लोप नहीं प्राप्त होगा । परदशतानि में दशतानि पराणि यह पञ्चमी तत्पुरुष समास है । उस में पर शब्द का पूर्वनिपात हुआ है । पारस्कारादि गणपठित होने से शत से पूर्व सुट् का आगम होकर सुट् के स को रु, रु को त्रिसर्ग, त्रिसर्ग को वा शरि से पक्ष में सकार और सकार को दचुरथ से शकार होता है । अनचि च से उस शकार को पक्ष में द्वित्व हो कर परदशतानि इस प्रकार तीन शकारवाला रूप बनता है । श्रो शरि सवर्णे से हल् रूप पूर्व शकार से परे वर्तमान मध्यवर्ती दूसरे शकार का सवर्णसंज्ञक दशतानि के शकार के परे रहते पक्ष में लोप अभीष्ट है वह शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा न होने से प्राप्त नहीं होता ।

शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । उसका निषेध

स्पर्शानाम् । ईपत्स्पृष्टमन्तस्थानाम् । विवृतमूष्मणाम् । ईपदित्येवानुवर्तते ।  
स्वराणां च विवृतम् । ईपदिति निवृत्तम् ॥

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा ।

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा पुनः सिद्धमेतत् । किमिदं वाक्यापरिसमाप्ते-  
रिति । वर्णानामुपदेशस्तावन् । उपदेशोत्तरकाला इत्संज्ञा । इत्संज्ञोत्तरकाल  
आदिरन्त्येन सहेतेति प्रत्याहारः । प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा ।  
सवर्णसंज्ञोत्तरकालमणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय इति सवर्णग्रहणम् । एतेन  
सर्वेण समुदितेन वास्येनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति । नचाप्रेकारः शकारं  
गृह्णाति ॥

नहीं होगा । क्योंकि शकार के अच् न होने से वह हल् ही रहेगा । शकार का  
विवृत प्रयत्न न मान कर ईपद्विवृत मानेंगे । इकार का केवल विवृत । तब  
प्रयत्नभेद होने से सवर्णसंज्ञा प्राप्त ही न होगी तो नाज्जली इस निषेध सूत्र की  
भी आवश्यकता नहीं रहती । ऊर्ग से षर्ग तक २५ स्पर्श वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है ।  
य व र ल इन अन्तस्थों का ईपत्स्पृष्ट है । श प स ह इन ऊर्गों का ईपत् की  
अनुवृत्ति ला कर ईपद्विवृत प्रयत्न है । स्वरों का केवल विवृत है । उसमें ईपत् शब्द  
की अनुवृत्ति नहीं आती ।

इकार शकार का विवृत प्रयत्न मानने पर भी वाक्य की परिसमाप्ति न  
होने से दोष न होगा । वाक्य परिमाप्ति में इकार शकार को ग्रहण नहीं करेगा  
इस लिये शकार अच् न होने से हल् ही रहेगा । यह वाक्यापरिसमाप्ति क्या है ?  
पहले वर्णों का उपदेश, उपदेश के बाद उपदेशोऽनुनासिक इत् हलन्त्यम् इन  
सूत्रों से इत्संज्ञा, इत्संज्ञा के बाद आदिरन्त्येन सहेता सूत्र से प्रत्याहार, प्रत्याहार  
के बाद तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्, नाज्जली इन दोनों सूत्रों से मिल कर सवर्णसंज्ञा,  
सवर्णसंज्ञा के बाद अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इस ग्रहणक शास्त्र से सवर्ण का ग्रहण  
होता है । यह क्रमिक वाक्यार्थबोध वाक्यपरिसमाप्ति कहता है । इसका अभाव  
वाक्यापरिसमाप्ति है । इस वाक्यपरिसमाप्ति में शकार अच् नहीं बनता । क्योंकि  
अपवादविषय को छोड़ कर उत्सर्ग की प्रवृत्ति का नियम है इसलिये नाज्जली  
इस अपवादरूप निषेध सूत्र का वाक्यार्थबोध निगन्न होने पर ही तुल्यास्य०  
सूत्र से सवर्णसंज्ञा पूर्ण परिष्कृत होती है । उस में इकार के अच् और शकार के  
हल् होने से उन की सवर्णसंज्ञा का निषेध हो जायगा । जब इकार शकार सवर्ण ही  
नहीं बने तो अणुदित्सूत्र से अण् संज्ञक इकार, शकार को कैसे ग्रहण करेगा ।  
केवल सवर्ण होने से शकार अच् नहीं हो सकता जब तक अणुदित्सूत्र से इकार

यथैव तर्हीकारः शकारं न गृह्णाति एवमीकारमपि न गृह्णीयात्,  
तत्र को दोषः । कुमारी-ईहते=कुमारीहते । अकः सवर्णे दीर्घ इति  
दीर्घत्व न प्राप्नोति ॥

नैष दोष । यदेतदकः सवर्णे इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणं तत्रेकारः  
ईकारं गृह्णाति शकारं न गृह्णाति ॥

अपर आह ।

द्वारा उस का ग्रहण न हो । अणुदित्सूत्र के वाक्यार्थबोध से पूर्व (पदार्थोपस्थिति बेलामे)  
स्वयं अणुदित्सूत्र के अण् ग्रहण में, नाञ्जली इस निषेधसूत्र के अच् ग्रहण में  
सर्गण का ग्रहण नहीं हो सकता । इस लिये नाञ्जली में जो अच् शब्द है वह केवल  
प्रत्याहारपठित अक्षरो का बोधक है उसके सर्गणियों का नहीं तो इकार के साथ  
शकार को अच् नहीं माला जायगा । उस अवस्था में शकार केवल इह ही होगा ।  
अच् इह दोनों न होने से शकार को शकार के साथ सवर्णसज्ञा का निर्बंध न होगा  
तो परदशतानि में शकार का लोप सिद्ध हो जायगा । उपदेश, इत्सज्ञा, प्रत्याहार  
और सर्गणसज्ञा इन सब का पहले वाक्यार्थबोध होकर फिर अणुदित्सूत्र की प्रवृत्ति  
होती है । न तो उपदेश आदि अत्रो में और न अपने अन्दर । इनसे अन्यत्र अस्य  
एवौ इत्यादि स्थलों में अण सवर्ण को ग्रहण करता है । इस वाक्य परिसमाप्ति  
में नाञ्जली से सवर्णसज्ञा का निषेध होने से इकार शकार को ग्रहण नहीं  
करेगा तो शकार अच् न होगा । हा, दीर्घ ईकार शकार की तो सवर्णसज्ञा बनी  
रहेगी । शकार के समान दीर्घ ईकार भी नाञ्जली के अच् में न आने से उसका  
निषेध नहीं हो सकता । पर वहां दोनों में से किसी के भी अण न होने से अणुदित्  
से सवर्णग्रहण न होगा तो कोई दाष न होगा । इसी लिये कुमारा इहेते में ईकार  
शकार के सवर्ण होने पर भी ग्रहण न होने से शकार अच् नहीं बनता है तो सवर्ण  
दीर्घ नहीं होता ।

यदि इस प्रकार इकार शकार को ग्रहण नहीं कर सकता तो ईकार को भी  
ग्रहण न करे । वहां क्या दोष है ? कुमारी ईहते=कुमारीहते वहां अक सवर्ण सूत्र  
से दीर्घ नहीं प्राप्त होगा ।

यह कोई दोष नहीं । अक सवर्णे सूत्र में जो अक अच प्रत्याहार है उन  
में इकार, ईकार को तो ग्रहण कर लेगा किन्तु शकार को ग्रहण नहीं करेगा ।  
क्योंकि अक सवर्णे के वाक्यार्थ बोधकाल में अणुदिन्० पर्यन्त मदावाक्य क अर्थ  
की परिपूर्णता हो जाने से वाक्यपरिसमाप्ति न्याय से इकार और ईकार की तुल्यस्य  
सूत्र द्वारा सवर्णसज्ञा हो कर इकार रूप अण् से ईकार का ग्रहण हो जायगा ।

अज्झलो प्रतिषेधे शकारप्रतिषेधोऽज्झल्वात् ।

अज्झलोः प्रतिषेधे शकारस्य शकारेण सवर्णसंज्ञायाः प्रतिषेधः प्राप्नोति । किं कारणम् । अज्झल्वात् । अच्चेव हि शकारो हल् च । कथं तावदचत्वम् । इकारः सवर्णग्रहणेन शकारमपि गृह्णातीत्येवमचत्वम् । हल्पूपदेशाद् हलत्वम् । तत्र को दोषः । तत्र सवर्णलोपे दोषः । तत्र सवर्णलोपे दोषो भवति । परदशतानि कार्याणि । श्रो ह्रि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोति । सिद्धमनच्त्वात् । सिद्धमेतत् । कथम् । अनच्त्वात् । कथमनच्त्वम् । वाक्यापरिसमाप्तेर्वा । उक्ता वाक्यापरिसमाप्तिः ॥

अस्मिन् पक्षे वेत्येतदसमर्थितं भवति ॥

एतच्च समर्थितम् । कथम् । अस्तु वा शकारस्य शकारेण सवर्ण संज्ञा मा वा भूत् । ननु चोक्तं परदशतानि कार्याणि । श्रो ह्रि सवर्णे इति लोपो न प्राप्नोतीति । मा भूल्लोपः ॥

ननु च भेदो भवति । सति लोपे द्विशकारकम् । असति लोपे त्रिशकारकम् । नास्ति भेदः । असत्यपि लोपे द्विशकारकमेव । कथम् ।

परन्तु इकार शकार की सवर्णसंज्ञा का इस सूत्र द्वारा निषेध हो जाने से इकार सवर्ण न होगा तो इकार से उसका ग्रहण नहीं हो सकता ।

इसी उक्त बात को दूसरे व्याख्याता इस प्रकार कहते हैं । अज्झलो प्रतिषेधे इत्यादि का अर्थ पूर्ववत् ही है । केवल शकार का अनच्त्व सिद्ध करने के लिये वाक्यापरिसमाप्ति यह एक ही हेतु दिया गया है । उस में वा शब्द का प्रयोग किया है ।

इस दूसरी व्याख्या में वाक्यापरिसमाप्तेर्वा यह 'वा' शब्द निष्प्रयोजन होने से व्यर्थ हो जाता है । क्योंकि शकार का अनच्त्व सिद्ध करने के लिये केवल वाक्यापरिसमाप्ति रूप एक ही हेतु दिया गया है । उस में विकल्पार्थक वा शब्द व्यर्थ है ।

वाक्यापरिसमाप्तेर्वा यही वा शब्द व्यर्थ नहीं है । चत्कि प्रयोजन वाला है । इस वा शब्द का यह अर्थ है कि शकार की शकार के साथ सवर्णसंज्ञा हो या न हो, कोई हानि नहीं । परदशतानि में श्रो ह्रि सूत्र से शकार का लोप न हो तो भी कोई दोष नहीं ।

दोष क्यों नहीं । जब कि रूप में भेद होता है । लोप होने पर दो शकार वाला रूप होगा । लोप न होने पर तीन शकार वाला । यह भेद नहीं होने देगे ।

विभाषा द्विवचनम् । एवमपि भेदः । असति लोपे कदाचिद् द्विशकारकं कदाचित् त्रिशकारकम् । सति लोपे द्विशकारकमेव । स एष कथं भेदो न ? ॥

स्याद् यदि नित्यो लोपः स्यात् । विभाषा तु स लोपः । यथाऽभेद-  
स्तथास्तु ॥

लोप न होने पर भी दो शकार वाला ही रूप रहेगा । कैसे ? अनचि च से द्वित्व भी विकल्प से होता है । जिस पक्ष में द्वित्व नष्ट होगा । वहा दो शकार वाला रूप निर्बाध रहेगा । भेद तो फिर भी रहेगा ही । क्योंकि लोप न होने पर द्वित्व के विकल्प से कभी दो शकार वाला, कभी तीन शकार वाला रूप होगा । लोप होने पर तो सर्वथा दो शकार वाला ही रूप रहेगा । इस प्रकार यह भेद क्यों नहीं है ?

भेद तब होता यदि शरो शरि से लोप नित्य होता । जय शरो शरि से लोप भी विकल्प से होता है और अनचि च से द्वित्व भी विकल्प से होता है तब भेद कैसे हो सकता है । अनचि च में यरोनुनासिकेऽनुनामिको वा से विकल्प की अनुवृत्ति आती है और शरो शरि मर्षण में जयो होन्यतरस्याम् से विकल्प की अनुवृत्ति आती है । इस प्रकार दोनों का विकल्प होने से त्रिप प्रकार रूप में अभेद अथवा भेद का अभाव हो सके वैया कर लेंगे । अर्थात् अब तीन शकार वाला परदशतानि यह रूप अभीष्ट होगा तब द्वित्व करके लोप का अभाव रखेंगे । तब दो शकार वाला परदशतानि ऐसा, जैसा प्रायः लिखा जाता है यह रूप अभीष्ट होगा तब द्वित्व का अभाव रखेंगे । द्वित्व के अभाव में लोप के होने न होने का प्रश्न ही नहीं उठता । भाव यह है कि परदशतान में शकार को द्वित्व कर के लोप के भावाभाव विकल्प में क्यों पड़ते हो । द्वित्व ही न करो, केवल दो शकार वाला रूप ही इष्ट मान लो तब अन्तर्लो प्रतिषेधे शकारप्रतिषेध • यह वार्तिक भी अनावश्यक होने से समूह उन्मूलित हो जायगा ॥

इति चतुर्थमाह्निकम् ॥

## पञ्चम आह्निक के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१११११॥ सूत्र से लेकर क्तवत् निष्ठा ॥११११२६॥ सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्कासमाधान सहित विचार किया गया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र में प्रतिपादित विचार ये हैं—

इदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१११११॥

(क) ईदूदेत्० में तपर का प्रयोजन बता कर तपर के रहने पर भी प्लुत ईकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध की गई है।

(ख) सूत्र के अर्थ में ४ पक्ष दिखा कर उनमें शेष पक्षों का खण्डन करके दूसरे पक्ष को स्वीकार किया गया है। वे पक्ष हैं—

१. ईकारादि रूप जो द्विवचन उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।
२. ईकाराद्यन्त जो द्विवचन उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।
३. ईकाराद्यन्त जो द्विवचनान्त उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।
४. ईकाराद्यन्त जो द्विवचन तदन्त जो शब्दसमुदाय उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

अदसो मात् ॥११११२॥

(क) अमी अत्र, अमू अत्र, अमी आसते, अमू आसते यहा ईत्वं ऊन्मत्व की असिद्धता विविध युक्तियों से निराकरण कर प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध की गई है।

(ख) अदम् के मकार से परे ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा न मान कर ईकार ऊकार एकार की प्रगृह्यसंज्ञा मानी है।

(ग) अदस.। मात्। इस प्रकार योगवेभाग करके पूर्व सूत्र इदूदेत् से आने वाली एकारान्त की अनुवृत्ति का निषेध भी किया है।

शे ॥११११३॥ काशे कुशे वशे हरिशे चञ्चशे आदि में भूयमाण 'शे' शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

निपात एकाजनाद् ॥११११४॥

(क) निपात, एनाच्, अनाच् इन सब का पदकृत्य दिखाया है।

(ख) एक ग्रहण का खण्डन करके उससे वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् यह परिभाषा स्थापित की है।

(ग) आज् कहां छित् है, कहा अन्ति है यह ईषदर्थे क्रियायोगे० इत्यादि श्लोक द्वारा प्रतिपादित किया है।

ओत् ॥११११५॥ सूत्र के आहो इति, उताहो इति इन उदाहरणों की अन्यथा-सिद्धता का खण्डन करके अद्रोऽभवत्, तिरोऽभवत् गोऽभवत् इन त्रिविधप्रययान्त ओदन्त निपातों की प्रगृह्यसंज्ञाप्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

उज ऊँ ॥११११७॥

(क) आहो इति, उताहो इति में उज् मान कर ऊँ आदेश की प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।

(ख) शाक्य के मत में उ इति, ऊँ इति ये दो रूप तथा अन्य आचार्यों के मत में त्रिति यह एक रूप सिद्ध करने के लिए उज् । ऊँ । इस प्रकार योगविभाग भी किया है।

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥११११९॥ ईदूतौ सप्तमीत्येव० इत्यादि दो कारिकाओं द्वारा अर्थग्रहण का खण्डन करके उम प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता यह सिद्ध किया है। पक्षान्तर में समासावयव ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा रोकने के लिए अर्थग्रहण को स्वीकार भी किया है।

दाधा ध्रुवाप् ॥१११२०॥

(क) दाधा प्रकृति की घुसज्ञा मानने में प्रकृति ग्रहण का खण्डन किया है।

(ख) गामादाग्रहणेष्वविशेष इम परिभाषा द्वारा लक्ष्यप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् । इस परिभाषा का अनित्यता मिट् की है।

(ग) प्रनिधारयति प्रनिधारयति में दाधा के समान शब्द दाधा की घुसज्ञा का निषेध किया है तथा प्रणिदापयति, प्रणिशापयति में यदापमन्याय से दा धा की घुसज्ञा मानी है।

(घ) शब्दों को नित्य मानने हुए सर्वे सर्वपदादेशा ० इस वचन द्वारा आगमों को आदेशरूप स्वीकार किया है।

(ङ) श्याघ्नोरिच्छ के कार्य में दीङ् धातु की घुसज्ञा का निषेध सनिपात-परिभाषा द्वारा अन्यथासिद्ध कर दिया है।

(च) अदाप् से दैप् का निषेध भी मानते हुए नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् इस शपकसिद्धपरिभाषा को स्वीकार किया है। पक्षान्तर में दैप् धातु न मान कर उसे भी दाप् ही मान लिया है।

आयन्तत्रदेकस्मिन् ॥१११२१॥

(क) सूत्र का प्रयोजन बताते हुए उसके स्थान में व्यपदेशिवदेकस्मिन् यह

परिभाषा स्वीकार की है। फिर लोकव्यवहार से आद्यन्तवदेकस्मिन् तथा व्यपदेशि-  
वदेकस्मिन् इन दोनों का ही खण्डन कर दिया है।

(ख) ग्राम शब्द के बहुत से अर्थ बताए हैं।

(ग) भाष्यकार ने आदि और अन्त का वार्तिककार से भिन्न स्वनिर्मित  
लक्षण करके सूत्र को स्वीकार किया है।

(घ) आद्यन्तवद्भाव के सब प्रयोजन भी बताये हैं।

तत्पू तमपौ घ. ॥१११२२॥ नदीतर में तर शब्द की घुसंज्ञा प्राप्तिरूप दोष का  
निराकरण किया है।

बहुगणवतुडति संख्या ॥१११२३॥

(क) बहु गण आदि के साथ एक द्वि आदि की भी संख्या संज्ञा अन्यथामिद  
करके दिखाई है।

(ख) कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति इस परिभाषा के  
प्रयोजन को दिया है हुए उसके विरोध में उभयगतिरिह भवति इस परिभाषा को भी  
स्वीकार किया है।

(ग) अव्यर्थ, अर्थपञ्चम, अधिक इन शब्दों की संख्यासंज्ञा वाचिक मानी है।

(घ) अन्त में शापकसिद्ध होने से बहुगण० सूत्र का खण्डन भी कर दिया है।

प्यान्ता पद् ॥१११२४॥

(क) पदसंज्ञा में उपदेशग्रहण का खण्डन किया है।

(ख) एक शब्द के बहुत से अर्थ दिखाये हैं।

(ग) यपालक्षणमप्रयुक्ते कह कर त्रियाष्टी, त्रिमाष्टा इत्यादि अप्रयुक्त शब्दों  
को अशुद्ध स्वीकार किया है।

डति च ॥१११२५॥ बहुगणवतुडति संख्या वाले डति ग्रहण में तथा  
डति च वाले डति ग्रहण में किसी एक का प्रत्याख्यान कर दिया है।

क्तवत् निष्ठा ॥१११२६॥ लोतः, गर्तः में क्त शब्द के समान त शब्द  
की निष्ठासंज्ञा प्राप्तिरूप दोष का निराकरण किया है।



## अथ पञ्चमाहिकम्

ईदृदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१११११॥

किमर्थमीदादीनां तपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्यते ? ॥

तपरस्तत्कालस्येति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहण यथा स्यात् ।  
कयाम् । उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् ॥

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हिति । प्लुताना तु प्रगृह्यसंज्ञा न  
प्राप्नोति । किं कारणम् । अतत्कालत्वान् । नहि प्लुतास्तत्कालाः ॥

असिद्ध प्लुतस्तस्यासिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति ॥

---

ईन् ऊन् एन् क् प्रथमज में ईकार ऊकार एकार को तपर किम  
लिये किया है ?

तपरस्तत्कालस्य सूत्र के नियम से द्विमात्रारूप समान काण् गण् ईकार  
ऊकार एकार का ग्रहण हो कर उन की प्रगृह्यसंज्ञा हो सके । भिन्नकाल वाले की  
न हो इसलिये ईकार ऊकार एकार को तपर किया है । द्विमात्रारूप समान काण्  
वाले कौन से ईकार ऊकार एकार हैं ? उदात्त अनुदात्त और स्वरित । तपर करने  
से द्विमात्रिक उदात्त ईकार की तरह द्विमात्रिक अनुदात्त या स्वरित ईकार की  
भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अन्यथा स्वर भेद से न होती ? ।

तपर का यह प्रयोजन ठीक तो है किन्तु प्लुत ईकार ऊकार एकार की  
प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होता क्योंकि प्लुत द्विमात्रिक होने से भिन्न काण्  
वाला है ।

द्वगद्धूने व आदि सूत्रों से विहित प्लुत पूर्वव्रामिदीय होने से प्रगृह्यसंज्ञा  
के प्रति असिद्ध है । उस के असिद्ध होने से द्विमात्रिक ही ईकारादि दीक्षिगे तो  
तत्काल हो कर प्रगृह्यसंज्ञक हो जायेंगे ।

---

१ यदि अमेदका उदात्तादयः क अनुसार न्दानादि स्वर चो भवेदङ्ग माने  
और व्यक्ति पक्ष को छोड़ कर जानि पक्ष को मानने हुए ईकार, ऊकार एकार अपने  
सर्वगियों का ग्रहण करे तब तो तपर करना व्यर्थ है । केवल ई ऊ, ए में सन्व्यभाव  
द्वारा अमन्देह के लिये ही होगा ।

सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु ॥

कथं ज्ञायते सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु इति ॥

यदयं 'प्लुतः प्रकृत्ये'ति प्लुतस्य प्रकृतिभावं ज्ञास्ति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ? सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम् ॥

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ? ॥

अप्लुतादप्लुते इत्येतन्न धक्तव्यं भवति ॥

किमतो यत् सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु । संज्ञाविधावसिद्धः । तस्यासिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति ॥

संज्ञाविधौ च सिद्धः । कथम् ? कार्यकाल संज्ञापरिभाषम् । यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । प्रगृह्य प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति ईदृदेद् द्विवचनं प्रगृह्यमिति ॥

स्वरसन्धि के कार्यों में प्लुत सिद्ध माना गया है । उस के सिद्ध होने से तत्काल न होंगे तो प्लुतो की प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी ।

यह कैसे जाना कि स्वरसन्धि के कार्यों में प्लुत को सिद्ध माना गया है ।

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् सूत्र से जो प्लुत को प्रकृतिभाव विधान किया है वही इस बात का ज्ञापक है कि स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है । क्योंकि कार्यों अर्थात् जिसको कार्य होना है उस के होने पर ही कार्य हो सकता है । प्लुत के विद्यमान होने पर ही उसे प्रकृतिभाव किया जा सकता है ।

स्वरसन्धि में प्लुत को सिद्ध मानने का क्या प्रयोजन है ?

स्वरसन्धि में प्लुत को सिद्ध मानने से अतो रोरप्लुतादप्लुते सूत्र में अप्लुतादप्लुते यह नहीं कहना पड़ेगा तो लाघव होगा । अतोऽति इतने सूत्र से प्लुत की व्यावृत्ति हो जायगी । अत अति में तपर होने से रु को उत्त्व करने में एकमात्रा काल वाला ही अकार लिया जायगा । प्लुत त्रिमात्रिक है अत प्लुत अकार में रु को उत्त्व नहीं होगा ।

स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है इस से क्या ? प्रगृह्यसंज्ञा में तो असिद्ध है । उस के असिद्ध होने से प्लुत ईकार ऊकार एकार तत्काल हो जायेंगे ।

प्रगृह्यसंज्ञा में भी प्लुत सिद्ध है । क्योंकि कार्यकाल संज्ञापरिभाषम् । इस नियम से जहाँ प्रगृह्यसंज्ञा का कार्य है वहीं यह ईदृदेत् सूत्रोक्त प्रगृह्यसंज्ञा उपस्थित

किं पुनः प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञावचने प्रयोजनम् ॥

प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् ॥

मा भूदेवम् । प्लुतः प्रकृत्येत्येवं भविष्यति ॥

नैव शक्यम् । उपस्थिते हि दोषः स्यात् । “अप्लुतवदुपस्थिते” इत्यत्र पठिष्यति ह्याचार्यः—वद्वचनं प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थम् । प्लुतप्रतिषेधे हि प्रगृह्यप्लुतप्रतिषेधप्रसङ्गोऽन्येन विहितत्वादिति । तस्मात् प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञैपितया । प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् ॥

हो जायगी तो प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् इस स्वरसन्धि में प्रगृह्यसंज्ञा के उपस्थित हो जाने से प्रगृह्यसंज्ञा में भी प्लुत सिद्ध हो जाता है ।

प्लुत ईकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ?

प्लुतो की प्रगृह्यसंज्ञा होने से प्रकृतिभाव होना प्रयोजन है ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । प्लुत होने में ही प्लुतो को प्रकृतिभाव हो सकता है । क्योंकि प्लुत और प्रगृह्य दोनों को प्रकृतिभाव कहा है ।

ऐसा नहीं हो सकता । प्लुत ईकारादि को केवल प्लुत के कारण प्रकृतिभाव मानने पर उपस्थित में दोष होगा । लौकिक इति शब्द को उपस्थित कहते हैं । अग्नी ३ इति यहाँ पदपाठ में लौकिक इति शब्द परे रहते अग्नी ३ के प्लुत ईकार की प्रगृह्यसंज्ञा अभीष्ट है । जिस से अप्लुतवदुपस्थिते सूत्र से अप्लुतवद्भावे के कारण प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव के रूकने पर भी प्रगृह्य के कारण प्रकृतिभाव हो सके । यह सूत्र प्लुत (=त्रिमात्रता) का निषेध नहीं करता, केवल प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव को रोकता है । प्लुत (त्रिमात्र) अवस्थित रहता है । उसका प्रगृह्यसंज्ञा होने पर प्रगृह्य के कारण होने वाला प्रकृतिभाव रह जायगा । अप्लुतवदुपस्थिते सूत्र में वत्करण का प्रयोजन आचार्य कहेंगे कि प्लुत का कार्य रोकने के लिये अप्लुतवत् में वत् किया है । वत्करण के अभाव में अप्लुतः इस शब्द से प्लुत का ही निषेध हो जाता तो प्रगृह्यसंज्ञक प्लुत का कार्य भी निषिद्ध हो जाता । वत् करने पर प्लुत का कार्य रूक जाने पर भी अन्य जो प्रगृह्यसंज्ञा है उस से विहित प्रकृतिभाव न रूकेगा । वह हो जायगा । तो अग्नी ३ इति यह दृष्ट रूप सिद्ध हो जायगा । इस लिये प्लुत ईकारादि की भी प्रगृह्यसंज्ञा करनी आवश्यक है । जिस से प्रगृह्य को मान कर होने वाला प्रकृतिभाव हो सके ।

यदि पुनर्दीर्घाणामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्येत ॥

पथमप्येकार एवैकः सवर्णान् गृहीयात् । ईकारोकारौ न गृहीया-  
ताम् । किं कारणम् ? अनण्त्वात् ॥

यदि पुनर्ह्रस्वानामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्येत ॥

नैवं शस्यम् । इहापि प्रसज्येत । अकुर्वहि अत्र, अकुर्वह्यत्रेति ।  
तस्माद् दीर्घाणामेव तपराणां प्रगृह्यसंज्ञा चक्तव्या । दीर्घाणां चोच्यमाना  
प्लुतानां न प्राप्नोति ॥

एव तर्हि किं न एतेन यत्नेन यत् सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु इति ।  
असिद्धः प्लुतस्तस्यासिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति ॥

कथं यत् तज्ज्ञापकमुक्तं प्लुतप्रगृह्या अचीति ॥

प्लुतभावी प्रकृत्येत्येवमेतद् विज्ञायते ।

यदि तपररहित दीर्घ ईकार ऊकार एकार की प्रगृह्यसंज्ञा कर दे तो क्या  
हानि है ?

तपररहितों की प्रगृह्यसंज्ञा करने में केवल एक एकार ही भग्न होने से अपने  
सवर्णी प्लुत एकार अथवा उदात्त अनुदात्त स्वरित एकार को ग्रहण कर सकेगा ।  
ईकार ऊकार भग्न न होने से अपने सवर्णी प्लुत धादि को ग्रहण न कर सकेंगे । तो  
प्लुत ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी ।

यदि तपररहित ह्रस्व इकार उकार तथा एकार की प्रगृह्यसंज्ञा कर दे तो  
क्या हानि है ?

ऐसा भी नहीं हो सकता । अकुर्वहि अत्र यदा अकुर्वहि ( कृ-ल् वहि ) के  
इकार की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त हो जायगी तो अकुर्वह्यत्र में यण् न हो सकेगा । इसलिये  
तपररहित दीर्घ ईकारादि की ही प्रगृह्यसंज्ञा की जा सकती है । वैसा करने पर प्लुतों  
की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती ।

अच्छा तो हमें इस से क्या कि स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है । हम प्लुत को  
असिद्ध ही मानेंगे । उस के असिद्ध होने से प्लुत ईकारादि भी तत्काल ( द्विमात्रिक )  
हो जायेंगे ।

प्लुत को सिद्ध मानने में जो प्लुतप्रत्यय अचि नियम् यद् सूत्र ज्ञापक कहा  
था उस का क्या होगा ?

उस सूत्र का आशय यह समझेंगे कि प्लुतभावी को प्रकृतिभावात् हो । अर्थात्  
जिस को भागे प्लुत होना है ऐसे प्लुतरहित स्थानी में प्लुतबुद्धि करके उस

कथं यत् तत्प्रयोजनमुत्तमम् ? ॥

त्रियते तन्न्यास एव । 'अनुतादप्लुते' इति ॥

एवमपि यत् सिद्धे प्रगृह्यमाणं तत् प्लुतस्य न प्राप्नोति ।  
'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक' इति ॥

एव तर्हि किं न एतेन यत्नेन कार्यकालं संज्ञापरिभाषमिति ।  
यथोद्देशमेव संज्ञापरिभाषम् । अत्र चास्तानसिद्धः । तस्यासिद्धत्वात्

को प्रकृतिभाव होगा । उस अवस्था में प्लुत की अवयवमानता में भी प्रकृतिभाव हो जायगा ।

और वह जो अना रोरप्लुतादप्लुते में अनुतादप्लुत न कहने का लाघव रूप प्रयोजन कहा था उस का क्या होगा ?

वह कोई विशेष महत्व नहीं रखता । अना रोरप्लुतादप्लुते में अनुतादप्लुते यह कहा हुआ है ही ।

एसा होने पर भी (पूर्वपक्षी से कहे हुए शायक तथा प्रयोजन के निराकृत हो जाने पर भी) जिस प्रगृह्यसज्ञा के कार्य में प्लुत सिद्ध है वह कार्य प्लुत को नहीं प्राप्त होता । जैसे—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक यह सूत्र प्रगृह्यसज्ञाकभिन्न अण की अनुनासिक करता है इस से अनी ३ यहा प्लुत इंकार के प्रगृह्यसज्ञा होने से इंकार अनुनासिक नहीं होता । कार्यकाल पक्ष को लेकर अणाऽप्रगृह्य० सूत्र के साथ एकवाचपता का प्राप्त हुए ईद्वेत्० सज्ञा सूत्र के प्रति दूराद्धूत च भादि से विहित प्लुत सिद्ध है । उसके सिद्ध होने से द्विमात्रिक इंकार न दोस्तेगा तो ईद्वेत्० सूत्र से प्रगृह्यमज्ञा न हो सकेगी ऐसा अवस्था में अनुनासिक का निषेध नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो हमें इस से क्या कि हम कार्यकाल संज्ञापरिभाषम् इसी नियम को मानें । हम यथादृश संज्ञापरिभाषम् इस नियम को मानेंगे । इस नियम का अर्थ है—पञ्चा और परिभाषा यथोद्देश होती है । उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशम् । अर्थात् अपने स्थान पर रहती हुई ही विधिशास्त्रों में उपयुक्त होती है । इस नियम से ईद्वेत्० यह प्रगृह्यसज्ञा सूत्र अपने स्थान पर रहता हुआ ही अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक इस विधिसूत्र का उपकारक होगा । इस संज्ञासूत्र के प्रति अणोऽप्रगृह्य० यह विधि सूत्र असिद्ध है ही इसलिये उसका अस्मिन् होने से वह प्रवृत्त नहीं होगा । भाव यह है कि अनुनासिक शास्त्र के प्रति प्लुत शास्त्र के सिद्ध होने पर भी इस प्रगृह्यमज्ञा सूत्र के प्रति प्लुत शास्त्र के असिद्ध होने से द्विमात्रिक ही इंकार

तत्काला एव भवन्ति ॥

कथं पुनरिदं विज्ञायते-ईदादयो यद् द्विवचनमाहोस्विद् ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति । कश्चात्र विशेषः ?

ईदादयो द्विवचन प्रगृह्या इति चेद् अन्त्यस्य विधिः ।

ईदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेद् अन्त्यस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया । पचेते इति । पचेथे इति । वचनाद् भविष्यति । अस्ति वचने प्रयोजनम् । किम् । खट्वे इति । माले इति ॥

अस्तु तर्हि ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति ॥

ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति चेदेकस्य विधिः । ईदाद्यन्तं द्विवचनमिति चेदेकस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया । खट्वे इति, माले इति ॥

दीर्घिणा तो तत्काल हो कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अप्रगृह्य न होने से आनी ३ में ईकार अनुनासिक न होगा ।

क्या ईकार ऊकार एकार रूप द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो या ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो । इस प्रकार सूत्र के अर्थ में ये दो पक्ष बनते हैं । इन दोनों में क्या विशेष है ? यदि ईकारादिरूप द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो तो द्विवचन के अन्त्य ईकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती वह कहनी होगी । जैसे—पचेते इति । पचेथे इति । यहाँ पचेते पचेथे (पच्-खट् आताम् आथाम्) में आताम् आथाम् को टेरत्व हो कर आते आथे बनते हैं । यहाँ एकाररूप द्विवचन नहीं है किन्तु एकार द्विवचन के अन्त में है इस की प्रगृह्यसंज्ञा विधान करनी होगी । प्रगृह्यसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी अर्थात् द्विवचन शब्द की द्विवचन का अन्तावयव इस अर्थ में लक्षणा मानी जायगी । प्रगृह्यसंज्ञा के वचन का प्रयोजन तो खट्वे इति, माले इति (खट्वा माला-औ=शी) यहाँ ईकार रूप (मुख्य) द्विवचन मिल जाने से सिद्ध हो जाता है ।

अच्छा तो ईकाराद्यन्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मान लें ।

यदि ईकाराद्यन्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हैं तो ईकारादिरूप द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती वह कहनी होगी । जैसे—खट्वे इति, माले इति यहाँ ईकारान्त या एकारान्त द्विवचन नहीं है किन्तु ईकाररूप या एकाररूप है । यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा कहनी होगी ।

नवाद्यन्तवत्त्वात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । आद्यन्तवत्त्वात् । आद्यन्तवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्येवमेकस्यापि भविष्यति । अथवा एवं वक्ष्यामि-ईदाद्यन्त यद् द्विवचनान्तमिति ॥

ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तमिति चेत्लुकि प्रतिषेधः ।

ईदाद्यन्ते यद् द्विवचनान्तमिति चेत्लुकि प्रतिषेधो यत्तज्ज्यः । कुमार्योरगारं कुमार्यगारम् वध्वोरगारं वध्वगारम् । एतद्धीदाद्यन्तं ध्रूयते द्विवचनान्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन ।

सप्तम्यामर्थग्रहणं ज्ञापकं प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधस्य ।

यह कोई दोष नहीं । क्योंकि अद्यान्तवदेकस्मिन् इस सूत्र से एक में भी आदि अन्त के समान कार्य होते हैं तो खट्वे माले में ईकार एकाररूप द्विवचन को भी ईकारान्त या एकारान्त द्विवचन मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अथवा ईदूदेत्० सूत्र की यू व्याख्या करेंगे कि ईकाराद्यन्त जो द्विवचनान्त शब्दरूप उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है । यह तीसरा पक्ष बन जाता है । उससे खट्वे माले पचेने पचेये इन सब जगह प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी क्योंकि खट्वे आदि सभी ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त शब्द हैं । सभी के अन्त में द्विवचन है ।<sup>१</sup>

यदि ईदूदेत्० सूत्र का तीसरा अर्थ करके ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा मानते हो तो जहाँ द्विवचन का लुक् हो गया है उसको प्रत्ययलक्षण से द्विवचनान्त मान कर प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है उसका निषेध कहना होगा । जैसे—कुमार्योरगारं=कुमार्यगारम् । वध्वोरगारं=वध्वगारम् । यहाँ वन्तीतत्पुरुष समास में कुमार्योः के पन्थी द्विवचन ओस् का लुक् हुआ है । कुमार्यो यह ईकारान्त ध्रूयमाण है और प्रत्ययलक्षण से ओस् को मान कर द्विवचनान्त भी है इसकी प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होने से यन् न हो सकेगा ।

१. यद्यपि संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति इस परिभाषा से द्विवचन रूप प्रत्यय की प्रगृह्यसंज्ञा करने में तदन्तविधि का निषेध होने से ईकाराद्यन्त जो द्विवचनान्त उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होता है इस अर्थ वाला यह तीसरा पक्ष नहीं बन सकता तथापि यह बात आगे चतुर्थपक्ष का खण्डन करते हुए भाष्यकार स्वयं ही कहेंगे ।

यदयमीदूतौ च सप्तम्यर्थे इत्यर्थग्रहण करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षण भवतीति ।

तत्तर्हि ज्ञापकार्थमर्थग्रहण कर्तव्यम् ?

न कर्तव्यम् । ईदादिभिर्द्विवचन विशेषयिष्यामः । ईदादिवि शिष्टेन च द्विवचनेन तदन्तविधिर्भविष्यति । ईदाद्यन्त यद् द्विवचन तदन्तमीदाद्यन्तमिति ।

पञ्चम्यशुक्ले वस्त्रे शुक्ले समपद्येतां शुक्ल्यास्तां वस्त्रे इति

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे इस सूत्र में जो अर्थग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता । क्योंकि ईदूतौ च सप्तम्यर्थे में अर्थग्रहण का यही प्रयोजन है कि सोमो गौरी अधिष्ठित यद्वा गौर्याम् का अर्थ रखनेवाले गौरी शब्द में सप्तमी का लुक् हो जाने पर भी उसके अर्थ में वर्तमान ईकार उकार की प्रगृह्यसंज्ञा हो जाने । यदि प्रगृह्यसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण होवे तो गौरी में सुपा सु लुक् से हुए सप्तमी विभक्ति के लुक् को प्रत्ययलक्षण से मान कर गौरी यह सप्तम्यन्त बन जायगा तो अर्थग्रहण के बिना भी प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जाने में अर्थग्रहण व्यर्थ है ।

तो क्या उक्त बात के ज्ञापन के लिए ईदूतौ च सप्तम्यर्थे सूत्र में अर्थग्रहण करना चाहिये ?

अर्थ ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं इस सूत्र में ईकारादि ॥ द्विवचन को विशेषित करेंगे तो विशेषण में तदन्तविधि होकर ईकाराद्यन्त जो द्विवचन ऐसा अर्थ होगा, फिर तद्विशिष्ट द्विवचन को शब्दरूप का विशेषण बनायेंगे । येन विधिस्तदन्तस्य के नियम से ईकारादिविशिष्ट द्विवचन से तदन्तविधि हो कर अर्थ होगा ईकाराद्यन्त जो द्विवचन तदन्त जो शब्दरूप उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है । यह चौथा पक्ष बनेगा । इस पक्ष में कुमार्यगारम्, क्वगारम् में ओस द्विवचन के ईकाराद्यन्त न होने से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी ।

इस चौथे पक्ष के अर्थ में भी अशुक्ले शुक्ले समपद्येतां शुक्ल्यास्तां वस्त्रे यद्वा च्विप्रत्ययान्त शुक्ली शब्द के ईकार की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । शुक्ल शब्द से नपुंसक में औ को शी होकर उससे परे अभूतवज्जार अर्थ में तद्विध च्विप्रत्यय हुआ । तद्विधान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर युगे वातुप्रातिपदिकों से शी का लुक् होता है । अस्य च्वाँ से च्वि पर रहते शुक्ल के अकार को ईकार होकर च्वि का सर्वापहारी लोप हो गया । उर्गादिच्विडाचरन् से च्वयन्त की अव्ययसंज्ञा हो कर



अत्र प्राप्नोति । अत्र हीदादि च द्विवचनं तदन्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन ।

अत्राप्यकृते शीभावे लुक् भविष्यति ।

इदमिह सम्प्रधार्यम् । लुक् क्रियतां शीभाव इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्वाच्छीभावः । नित्यो लुक् । कृते शीभावे प्राप्नोत्यकृतेपि । अनित्यो लुक् । अन्यस्याकृते शीभावे प्राप्नोति अन्यस्य कृते । शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति । शीभावोऽनित्यः । न हि कृते लुकि प्राप्नोति । उभयोरनित्ययोः परत्वाच्छीभावः । शीभावे कृते लुक् । अथापि कथं चिन्नित्यो लुक् स्यादेवमपि दोषः । वक्ष्यत्येतत्—‘पद-संज्ञायामन्तग्रहणमन्यत्र सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिप्रतिषेधार्थ-

आग आने वाले सुप का लुक हो जाना है । इस प्रकार यहाँ अन्य चाँ से हुआ ईकार ध्रुवमाण है और मुने गतुप्रातिपदिकों से लुक हुआ शी शब्द प्रत्ययलक्षण से ईकारान्त द्विवचन है । मुख्य यह ईकाराद्यन्त शब्द समुदाय बन जाता है । इसकी प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त होने से यण न हो सकेगा ।

यहाँ भी शी आदेश करने से पड़ते ही मुने धातु० से भी का लुक हो जायगा तो ईकारान्त द्विवचन न होने से दोष न होगा ।

लुक और शा आदेश में यह विचारना चाहिये कि पहले भी का लुक किया चाय या भी को शी आदेश । क्या करना चाहिये ? मुने गतु० के लुक से नपुमकान्व से होनेवाला शा आदेश सूत्रपाठ में पर है इस लिये त्वप्रतिषेधे पर कार्यम् के नियमानुसार शी आदेश पड़े होना चाहिये । लुक नित्य है, भी को शी करने पर भी प्राप्त होता है, न करने पर भी । लुक अनित्य है । शी न करने पर अन्य औ को प्राप्त होता है, करने पर अन्य शा का । शब्दान्तर को प्राप्त होनेवाली विधि अनित्य होती है । यू तो शी भी अनित्य है । औ का लुक करने पर नहीं प्राप्त होता । दोनों के अनित्य होने से पर होने के कारण शा भाव ही पड़े होगा । शा करने पर लुक होगा तो ईकारान्त द्विवचन होने से प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त होती है । यदि किया प्रकार लुक को नित्य भी मान ले तो भी दोष है । आग सुतिष्ठन्त पदम् इस पदसज्ञा सूत्र में कहेंगे कि उश अन्तग्रहण इस चान का ज्ञान करने के लिये किया है कि प्रत्ययों की सज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती । सुन तिङ् प्रत्यय है । उनका पदसंज्ञा करने में यदि तदन्तविधि हो जाये तो अन्तग्रहण के बिना भी सुबन्त तिङन्त समग्र लिये जावेंगे उसक लिये अन्त ग्रहण करना व्यर्थ है । वह व्यर्थ होकर इस बात का ज्ञापक है कि अन्यत्र प्रत्ययों की सज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होता । यहाँ ईदृशेव सूत्र में ईकारादि द्विवचन भी प्रत्यय हैं ।

मिति ।' इदं चापि प्रत्ययग्रहणमयं चापि संज्ञाविधिः । अवश्यं खल्वस्मिन् पक्षे आद्यन्तवद्भाव एवित्ययः ।

तस्मादस्तु स एव मध्यमः पक्षः ॥

अदसो मात् ॥१।१।१२॥

मात्प्रगृह्यसंज्ञाया तस्यासिद्धत्वादयावेकादेशप्रतिषेधः ।

मात् प्रगृह्यसंज्ञायां तस्य ईत्त्वस्य ऊत्त्वस्य चासिद्धत्वादयावेकादेशाः प्राप्नुवन्ति तेषां प्रतिषेधो यत्तद्व्ययः । अमी अत्र । अमू अत्र । अमी आसते । अमू आसते । ननु च प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति ।

उन प्रत्ययों की प्रगृह्यसंज्ञा करनी है अतः तदन्तविधि न होने से ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त जो शब्दरूप । ऐसा अर्थ ही न होगा तो चौथे पक्ष का उद्यमान भी असंभव है और इस चौथे पक्ष में भी आद्यन्तवद्भाव मानना आवश्यक है । क्योंकि अभी यहां ईकारान्त द्विवचन नहीं है केवल ईकाररूप है उसको भाद्यन्तवद्भाव से ही ईकारान्त मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो सकेगी ॥

इस लिये सब तो वही मध्यम पक्ष अर्थात् दूसरा पक्ष निर्दोष होने से स्वीकार करना चाहिये । ईकाराद्यन्त द्विवचन शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा होती है यही सूत्र का अर्थ मानना चाहिये । ऐसा मानने पर ईकारादिरूप द्विवचन वाले प्रथम पक्ष के खट्वे इति, माले इति आदि उदाहरणों में आद्यन्तवद्भाव से ईकाराद्यन्त द्विवचन हो कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । प्रत्ययों की संज्ञा में तदन्तविधि न होने से तीसरे चौथे पक्ष का संभव ही नहीं । इस लिये दूसरे पक्ष का मानना ही ठीक है । उसके मानने पर कोई दोष नहीं आता ।

अदस् शब्द के मकार से परे ईकार उकार की प्रगृह्यसंज्ञा करने में ईकार उकार के असिद्ध होने से अय् आन् और पूर्वरूप एकादेश प्राप्त होते हैं । उनका निषेध कहना चाहिये । अमी अत्र यहां अदस् शब्द से परे जस् रहते त्यदाद्यत्व पररूप हो कर जस् को शी होता है । फिर आद् गुण. से गुण हो कर अदे बनता है । एत ईद्वहुवचने से दकार को मकार तथा एकार को ईकार हो कर अमी बन जाता है । एत ईद्वहुवचने से विहित ईकार के पूर्वत्रासिद्धीय होने के कारण इस सूत्र के प्रति असिद्ध होने से अदे दीखेगा तो एदः पदान्तादति से पूर्वरूप प्राप्त होता है । अमू अत्र यहां अदस् शब्द से औ परे रहते त्यदाद्यत्व पररूप तथा वृद्धि एकादेश होकर

वचनार्थो हि सिद्धे ।

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ।  
यत् सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तदर्थमेतत् स्यात् । 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक' इति ॥

नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति । यद्येतावत् प्रयोजनं स्यात्  
तत्रेवायं द्रूयादणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकोऽदसो नेति ।

विप्रतिषेधाद्वा ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा क्रियताम् अयादयो वेति । प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति

अदो बनता है । फिर अदसोऽपेक्षां दो म से दकार को मकार पूर औकार को ऊकार हो कर अमू बन जाता है । अदसोऽपेक्षां से विहित उकार पूर्वप्रासिद्धीय होने के कारण इस सूत्र के प्रति असिद्ध होने से अदो दीक्षेमा तो एच्चेऽववायाब से भाव् भादेश प्राप्त होता है । इसी प्रकार अमी आनते अमू आनाते यहा क्रमशः अच् भाव् भादेश प्राप्त होते हैं । प्रगृह्यसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से अयादि भादेश नहीं होंगे । प्रगृह्यसंज्ञा के वचन से अयादि की निवृत्ति नहीं हो सकती । प्रगृह्यसंज्ञा वचन का तो अन्य प्रयोजन है । क्या ? जिस प्रगृह्यसंज्ञा के कार्य में ईकार उकार सिद्ध हैं यहा प्रगृह्यसंज्ञा करने के लिये यह सूत्र चरितार्थ हो सकता है । जैसे—अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक इस सूत्र के प्रति अदसोऽसे० और एत ईद० से विहित ईकार उकार सिद्ध हैं क्योंकि पूर्वप्रासिद्धम् के अनुसार त्रिपदी में पूर्व के प्रति पर असिद्ध होता है । पर के प्रति पूर्व सिद्ध रहता है अदसोऽसे०, एत ईद० ये दोनों सूत्र अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक से पूर्व होने के कारण सिद्ध हैं । कार्यकार पक्ष का आश्रयण करने से यह दोनों सूत्र अदसो मान् इस संज्ञासूत्र के प्रति भी सिद्ध हैं । इस लिये अमी अमू यहाँ अनुनासिक रोकने के लिये यह प्रगृह्यसंज्ञा सूत्र रह सकता है ।

केवल एक प्रयोजन के लिए इतना बड़ा अदसो मान् यह प्रगृह्यसंज्ञासूत्र नहीं बनाया जा सकता । यदि एक अनुनासिक रोकना ही प्रगृह्यसंज्ञा का प्रयोजन होता तो यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा न करके वहीं अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक के साथ अदसो न ऐसा कह देते । उसका अर्थ होता—अदस् शब्द के अण् को अनुनासिक नहीं होता है ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा और अयादि के तुल्यत्रलविरोध में विप्रतिषेधे पर कार्यम्

१. संज्ञासूत्र अनेक कार्यों की सिद्धि के लिये बनाये जाते हैं । दूसरे सूत्र तो एकमात्र प्रयोजन के लिये भी रचे जाते हैं जैसे मुह्रादण् इत्यादि ।

विप्रतिषेधेनेति ।

नैव युक्तो विप्रतिषेधः । विप्रतिषेधे परमित्युच्यते । पूर्वा च प्रगृह्यसंज्ञा परेऽयादयः । परा प्रगृह्यसंज्ञा करिष्यते । सूत्रविपर्यासः कृतो भवति ।

एवं तर्हि परेव प्रगृह्यसंज्ञा । कथम् । कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् । यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । प्रगृह्यः प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति अदसो मादिति ।

एवमप्युक्तो विप्रतिषेधः । कथम् । द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । मच्चात्रैको द्विकार्ययुक्तः । एचामयादयः । ईदूतोः प्रगृह्यसंज्ञा ।

नायद्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः । किं तर्हि असंभवोपि । स

के नियमानुसार पर होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी तो अमी अन अयादि में अयादि न होंगे ।

यह विप्रतिषेध एव तुल्यबलशिरोध का नियम यहाँ ठीक नहीं बनता क्योंकि विप्रतिषेध में पर का कार्य होता है । प्रगृह्यसंज्ञा पूर्व है । अयादि पर है । सूत्रपाठ में पश्चात्पठित हैं । इसलिये अयादि ही होने चाहिये । प्रगृह्यसंज्ञा को अयादि से पर बना देंगे तब तो सूत्र परिवर्तन करना होगा ।

अच्छा तो सूत्र परिवर्तन के बिना ही प्रगृह्यसंज्ञा पर बन जायगी । कैसे ? कार्यकाल सज्ञापरिभाषम् इस नियम से संज्ञानो का जहाँ कार्य पड़े वही उपस्थिति मानी जाती है । प्लुतप्रगृह्या अचि नियम सूत्र में प्रगृह्यसंज्ञा का कार्य होने से वहीं यह अदसो मात्र सूत्र उपस्थित हो जायगा तो अयादि से पर बन जायगा । क्योंकि एचोऽयवायाव आदि सूत्रों से परे प्लुतप्रगृह्या अचि० इस सूत्र का पाठ है ।

तब भी विप्रतिषेध नहीं बनता । कैसे ? द्विकार्ययोग से विप्रतिषेध होता है । जहाँ एक ही जगह दो कार्य युगपत् प्राप्त हो वहाँ विप्रतिषेध के नियम से व्यवस्था होती है । यहाँ ऐसी बात नहीं । अदे, अदौ इस स्थिति में एचों को अयादि प्राप्त होते हैं । अमी, अनू इस स्थिति में ईकार उकार की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है ।

यह आवश्यक नहीं कि द्विकार्ययुक्त ही विप्रतिषेध का विषय होता है बल्कि असंभव भी होता है । और वह असंभव यहाँ है ही । कौन सा असंभव है ?

चास्त्यत्रासंभवः । कोऽसावसंभवः । प्रगृह्यसंज्ञाऽभिनिर्वर्तमाना अयादीन्  
याधते । अयादयोऽभिनिर्वर्तमानाः प्रगृह्यसंज्ञाया निमित्तं विघ्नन्तीत्ये-  
षोऽसंभवः । सत्यसमवे युक्तो विप्रतिषेधः ।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । सतोर्हि विप्रतिषेधो भवति । न  
चात्रेत्योत्वे स्तः । नापि मकारः । उभयमप्यसिद्धम् ॥

आश्रयात् सिद्धत्वं च यया रोरत्वे ।

आश्रयात् सिद्धत्वं भविष्यति । तद्यथा ररत्वे आश्रयात् सिद्धो  
भवति ॥

किं पुनः कारणं ररत्वे आश्रयात् सिद्धो भवति । न पुनर्यत्रैव रः  
सिद्धस्तत्रैवोत्वमप्युच्येत ॥

प्रगृह्यसंज्ञा यदि हो जाती है तो अयादि रूक जाते हैं । और अयादि यदि हो जाते हैं  
तो प्रगृह्यसंज्ञा के निमित्त को नष्ट कर देते हैं यही असंभव है । असंभव होने पर  
विप्रतिषेध युक्त ही है ।

तब भी विप्रतिषेध नहीं बन सकता । क्योंकि दोनों के विद्यमान होने पर  
विप्रतिषेध हुआ करता है । अमा, अन् महा ईकार ऊकार मकार हैं ही नहीं ।  
पूर्वत्रासिद्धीय होने से दोनों ईकार ऊकार तथा मकार सभी असिद्ध हैं ।

ईकार ऊकार मकार की आश्रय से सिद्धता हो जायगी । जैसे अमा रोररुनाद-  
प्लुते सूत्र से र को उत्त्व करने में र आश्रय से सिद्ध होता है । वैसे मात्र सूत्र में  
ईकार ऊकार मकार का आश्रयण करके प्रगृह्यसंज्ञा की गई है इस लिये वे पूर्वत्रा-  
सिद्धीय होने पर भी आश्रयमाण होने के कारण सिद्ध माने जायेंगे ।

क्या कारण है जो अनों रोररुता० में र को आश्रय से सिद्ध माना जाता है ।  
क्यों न जहाँ पर रखने से र स्वयं सिद्ध हो सकता है वहीं र को रख कर उत्त्व कहा  
जाय । तो मुनि इस सूत्र के बाद अन उरात ऐसा सूत्र बना दें । उस का अर्थ  
होगा लकार से परे र को उत्त्व होता है लकार पर होने पर । सत्तुभो च यद् र  
विधान करने वाला सूत्र तो मुनि इत्यादि से पूर्व पठित है । इसलिये अन उरति इस  
उत्त्व के प्रति स्वतः सिद्ध है । वहाँ पूर्वत्रासिद्धम् से र के असिद्ध होने का प्रश्न ही नहीं  
उठता । और प्लुतप्रकरण भी अन उरति से पूर्व पठित होने के कारण सिद्ध रहेगा  
तो अनः के तत्परकरण से प्लुत स्वतः व्यावृत्त हो जायगा उसके लिये अन्तनादप्लुते  
कहने की भी आवश्यकता न होगी ।

नैवं शक्यम् ।

असिद्धे ह्युत्वे आदगुणाप्रसिद्धिः ।

असिद्धे ह्युत्वे आदगुणस्याप्रसिद्धिः स्यात् । वृक्षोऽत्र । प्लक्षोऽत्र । तस्मात् तत्राश्रयात् सिद्धत्वमेपितन्यम् । यथा तत्राश्रयात् सिद्धत्व भवति । एवमिहाप्याश्रयात् सिद्धत्वं भविष्यति ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति ।

अथवा योगविभागः करिष्यते । अदसः । अदसः परे ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्तीति । ततो मात् । माच्च परे ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्तीति । अदस इत्येव । किमर्थो योगविभागः । एको यत् तत् सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तदर्थः । अपरो यदसिद्धे ॥

ऐसा नहीं हो सकता । उत्त्व को पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण में नहीं रखा जा सकता । अने रोएण्टतादङ्कुते इस उरवविधायक सूत्र को सपादसप्ताध्यायी से निकाल कर यदि रो० सुपि के बाद अत उरति इस प्रकार परिवर्तन द्वारा पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण में रख देंगे तो वह आदगुण इस सपादसप्ताध्यायीस्य सूत्र के प्रति असिद्ध हो जायगा । उस के असिद्ध होने से वृक्षोऽत्र, प्लक्षोऽत्र यहाँ उ को गुण न हो सकेगा । इस लिये जैसे उरव करने में र को आश्रय से सिद्ध मानना पड़ता है वैसे यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा में भी ईंकार उकार मकार की आश्रय से सिद्धता हो जायगी ।

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा क वचन सामर्थ्य से अयादि न होंगे । यथोद्देश पक्ष में संज्ञाशास्त्रों का जो स्थान है वही विधिशास्त्रों को अपने परिष्कार के लिये आना होता है । अदसोऽसे० और एत ईदू० ये दोनों सूत्र इस संज्ञासूत्र से सम्बन्ध रखने के कारण इसी स्थान के हो जायेंगे तो एचोऽयवायाव, आदि की दृष्टि में असिद्ध न हो सकेंगे ।

अथवा अदसो मात् इस सूत्र का योगविभाग करेंगे । अदस । मात् । ये दो सूत्र बना देंगे । अदस का अर्थ होगा अदस् से परे ईंकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । उस के बाद मात् इस सूत्र का अर्थ होगा अदस के मकार से परे भी ईंकारादि की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । योगविभाग किस लिये होगा ? एक ( = दूसरा ) मात् यह सूत्र तो जिस प्रगृह्यसंज्ञा के कार्य में ईंकार उकार मकार सिद्ध हैं उन क लिये रहेगा । अपर ( = पहला ) अदस् यह सूत्र असिद्ध ईत्वं उत्त्व मत्व वाले प्रगृह्यसंज्ञा के कार्यों के लिये होगा ।

इहापि तर्हि प्राप्नोति । अमुया । अमुयोरिति । किं च स्यात् यद्यत्र प्रगृह्यसज्ञा स्यात् । प्रगृह्याथय प्रकृतिभाव प्रसज्येत ॥

नेप दोष । पदान्तप्रकरण<sup>१</sup> प्रकृतिभाव । न चेप पदान्त ॥

एवमप्यमुकेऽत्र, अत्रापि प्राप्नोति । द्विवचनमिति वर्तते । यदि द्विवचनमिति वर्तते अमी भन न प्राप्नोति ॥

एव तहि एदन्तमिति निवृत्तम् । अथगहायमदसो मादिति । न च ईत्योत्वे स्त । नापि मकार । तत एष विज्ञास्याम मार्यादीदाद्य र्थानामिति ।

अदस यह पृथक् सूत्र हाने पर अनुया अमुया यहा भी प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त होती है । अदस शब्द स स्त्रीलिङ्ग में टा आस पर रहत त्यदाद्यत्व पररूप टाप तया सवर्णदीर्घ हो कर गडि चाप स एकार हाता है । अद आ, अदे ओस इस स्थिति में अन्त सूत्र म मकार विरपण क न रहन से यहा अदे शब्द का प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त हाती है । क्या हो नायगा याद यहा प्रगृह्यसज्ञा हा नाय ता<sup>१</sup> प्रगृह्यसज्ञा स होने वाला प्रकृतिभाव प्राप्त होगा । उस स फिर एचाऽयवायाय सूत्र स अयादेश न हा सकगा ।

यह कोई दाप नहीं । प्लुतप्रगृह्या अचि० सूत्र से पदांत में प्रकृतिभाव हाता है । अद आ अ ओम का एकार पदान्त नहीं है किन्तु भसजक है ।

फिर भी अन्त इस सूत्र में मकार विरपण न हान स अनुकऽत्र यहा एकार की प्रगृह्यसज्ञा प्राप्त होती है । अदस शब्द से स्वार्थ म अरुच कर के अदकस् बना । उसस नस पर रहत त्यदाद्यत्व पररूप होकर नस को शी हो गया । अदसाऽसन्ताडु दो म स द को मुत्व हो कर अनुक बन जाता है । इसकी प्रगृह्यसज्ञा हाने से अत्र शब्द का अच पर रहत एन् पन्तान्ता<sup>२</sup> निस होने वाला पूर्वस्व न हो सकगा । ईदूदत्० इस पूर्वसूत्र स द्विवचन की अनुवृत्ति कर क द्विवचन की प्रगृह्यसज्ञा हागी तब ता अमा यहा बहुवचन म न हा सकेगा ।

इस स ता इस सूत्र में पूर्वसूत्र स एदन्त की अनुवृत्ति न टाना ही ठीक है । उसस अनुया अनुया, अमुके इत्यादि एकारान्ता में प्रगृह्यसज्ञा न होने स अदस इस पृथक् सूत्र में कोई दाप न होगा ।<sup>१</sup> अथवा नव पाणिनि आचार्य अन्ता मान

१ एह पदान्तादति—यहा स पदान्त प्रकरण है ।

२ यदि अदसो मात्र यह एक सूत्र रखते है तो मादग्रहण का व्यावर्जन होने स वह व्यर्थ हो जाता है । यह मात्र ग्रहण हा एदन्त की निवृत्ति का सूचक है ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् ।

अदस ईत्वोत्वे स्वरं बहिष्पदलक्षणे सिद्धे वक्तव्ये । प्रगृह्यसंज्ञायां चेति ॥

तत्र सकि दोषः ।

तत्र सककारे दोषो भवति । अमुकेऽत्र ॥

नवा ग्रहणविशेषणत्वात् ।

न माद्ग्रहणेन ईदाद्यन्तं विशेष्यते, किं तर्हि । ईदादयो विशेष्यन्ते मात्परे ये ईदादय इति ॥

यह सूत्र बना कर अदस् के मकार से परे ईकार उकार की प्रगृह्यसंज्ञा कहते हैं और वह ईकार उकार के असिद्ध होने से बनती नहीं तो सूत्र का यह तात्पर्य समझा जायगा कि मकार का अर्थ रखने वाले अदस् शब्द से परे ईकार उकार का अर्थ रखने वाले शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । मात्=मार्थात् । ईदादीनाम्=ईदाद्यर्थानाम् । इस प्रकार अर्थ विषयक बुद्धिपरिकल्पना में ईकार उकार मकार की असिद्धता नहीं होगी । अदस् शब्द में ईकार उकार मकार के अर्थ की बुद्धि करके प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । अथवा आगे न मु ने सूत्र पर वार्तिक कहेगे—अदस ईत्वोत्वे स्वरं बहिष्पदलक्षणे सिद्धे वक्तव्ये प्रगृह्यसंज्ञाया च । इस का अर्थ है—बहिष्पदलक्षण स्वर पर रहते अर्थात् एक पद से दूसरे पद का अच् पर रहते अयादि आदिश करने में अदस् शब्द के ईकार उकार सिद्ध माने जाते हैं । प्रगृह्यसंज्ञा में भी वे सिद्ध समझे जाते हैं । इस वचन से ईत्वादि की असिद्धता का निषेध होकर सिद्धता हो जायगी ।

ईद्वेत्० के सूत्र के समान यहाँ भी ईकारान्त उकारान्त एकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा समझ कर यह दोष प्राप्त होता है । उस अवस्था में इस सूत्र का अर्थ होगा—अदस् के मकार से परे ईकाराद्यन्त की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । तब सक अर्थात् मकारसहित अमुके इस प्रयोग में प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्ति रूप दोष होता है । अमुके यह अदस् के मकार से परे उके एकारान्त है उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होनी चाहिये । प्रगृह्यसंज्ञा हो कर एङ् पदान्तादति से पूर्वरूप न हो सकेगा ।

मात् शब्द के ग्रहण का विशेषण होने से यह कोई दोष नहीं । अदसो

क्योंकि अदस् के मकार से परे ईकार उकार ही संभव हैं । एकार नहीं । इस तरह मात् ग्रहण एदन्त की निवृत्ति में तात्पर्यग्राहक होने से सफल हो सकता है । योगविभाग में तो एदन्त की निवृत्ति सर्वथा आवश्यक है । एकयोग में मात् ग्रहण के सामर्थ्य से एदन्त की निवृत्ति हो जायगी ।



शे १।१।२३॥

इह कस्मान्न भवति काशे कुशे वंशे इति ॥

शेऽर्थवद्ग्रहणात् ।

अर्थवतः शे शब्दस्य ग्रहणम् । न चैषोऽर्थवान् ॥

एवमपि हरिशे यन्त्रशे इत्यत्रापि प्राप्नोति ॥

मात्र सूत्र में ईदृदेत् का ग्रहण है। ईदृदेन्त का नहीं। जिसका सूत्र में ग्रहण है, उच्चारण है उसी का विशेषण मात्र को बनायेंगे तो अर्थ होगा—अदस् के मकार से परे जो ईकारादि उनकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है। अनुके में मकार से परे एकार नहीं है बल्कि एकारान्त उके है। मकार और एकार के बीच में उकार ककार का व्यवधान है इस लिये वहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी।

काशे कुशे वंशे यहाँ शे शब्द की इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती ?

शे की प्रगृह्यसंज्ञा में अर्थवान् शे शब्द का ग्रहण किया गया है। काशे आदि में शे शब्द अर्थवान् नहीं है। इस लिये उस की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी। शे यह सुपा सुलृपूर्वसवर्णाच्चेयाडाडयाजाः इस सूत्र से वेद में सुपों के स्थान में विहित आदेश है। शकार की लृशक्तद्धिने से इत्संज्ञा होने से लोप कर के ए रह जाता है। जैसे यु मे अस्मे त्वे इति। यह शे शब्द विभक्ति के अर्थ से अर्थवान् है। क शे आदि का शे शब्द निरर्थक है। काश, कुश, वंश शब्दों से सप्तमी के एकवचन द्वि के परे रहते आद्युण. से गुण होकर काशे, कुशे, वंशे बनते हैं। इस शे में शकार तो काश आदि शब्दों का अवयव है। और इकार सप्तमी का एकवचन है। यद्यपि सप्तमी का एकवचन इकार अपने निभक्त्यर्थ से अर्थवान् है तो भी काश आदि के शकार और सप्तमी के इकार से मिल कर बना हुआ शे यह समुदाय निरर्थक ही है। अर्थवद्ग्रहण नानर्थकस्य इस परिभाषा के अनुसार अर्थवान् शे शब्द के ग्रहण में अनर्थक शे शब्द का ग्रहण नहीं होगा।

अर्थवान् शे शब्द का ग्रहण मानने पर भी हरिशे, यन्त्रशे में शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। हरि यन्त्र शब्दों से रोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलच. सूत्र से मत्वर्थीय श प्रत्यय होकर उससे सप्तमी के एकवचन में शे बन जाता है।

१. इस प्रकार भाष्यकार ने मात्र को ग्रहण का विशेषण मान कर यहाँ एकार की अनुवृत्ति लाने में भी कोई दोष नहीं यह सिद्ध कर दिया है।

एवं तर्हि 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेत्येवं न भविष्यति । अथवा पुनरस्तु 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येति । कथं तर्हि—हरिशे बभ्रुशे इति । एकोऽत्र विभक्त्यर्थेनार्थवान् । अपरस्तद्वितार्थेन । समुदायोऽनर्थकः ॥

निपात एकाजनाङ् ॥१॥११४॥

निपात इति किमर्थम् ?

चकारात्र । जहारात्र ।

एकाजिति किमर्थम् ?

प्रेदं ग्रह । प्रेदं क्षत्रम् ।

यहां श और इ दोनों प्रत्यय के अर्थ से अर्थवान् हैं । इस लिये इस शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा हो जानी चाहिये ।

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्, इस परिभाषा से हरिशे, बभ्रुशे में शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । इस परिभाषा का अर्थ है लक्षण अर्थात् सूत्र, उस से निष्पन्न और प्रतिपदोक्त साक्षात् उच्चरित स्वतः सिद्ध इन दोनों में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है । हरिशे बभ्रुशे में शे शब्द साक्षादुच्चरित नहीं है बल्कि लक्षणो द्वारा निष्पन्न होने से लाक्षणिक है अतः प्रतिपदोक्त न होने के कारण उसका यहां ग्रहण नहीं होगा ।

केवल अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इस परिभाषा को मानने से भी यहां दोष नहीं है । हरिशे, बभ्रुशे कैसे बनेंगे ? यहां एक इ तो सप्तमी विभक्ति के अर्थ से अर्थवान् है । दूसरा तद्धित श प्रत्यय मत्वर्थ के अर्थ से अर्थवान् है । दोनों का समुदाय शे शब्द सर्वथा अनर्थक है । इसलिए यहां शे शब्द की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी ।

निपातग्रहण किस लिप् किया है ?

चकारात्र । जहारात्र । यहां चकार, जहार (ङ्, ह-लिट्, तिप्, णल्) में णल् का अकार एकाच् तो है पर निपात नहीं है । निपात न होने से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो अत्र के साथ सवर्णदीर्घ हो जाता है ।

एकाच् ग्रहण किस लिप् किया है ?

प्रेदम् यहां प्र शब्द उपसर्ग होने से निपात तो है पर एकाच् नहीं है । एकाच् न होने से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो इदम् के साथ गुण एकादेश हो जाता है ।

१. अर्थवान् का समुदाय भी अर्थवान् ही हो यह कोई आवश्यक नहीं है । जैसे—दश दाडिमानि षड्रूपाः कुण्डमजातिनम् । इत्यादि पदों के अलग २ अर्थवान् होने पर भी सारा पदसमुदाय अन्वयरहित होने से अनर्थक ही है ।

एकाजित्यप्युच्यमानेऽत्रापि प्राप्नोति । एषोऽपि ह्येकाच् ।

एकाजिति नार्थ बहुव्रीहिः । एकोऽज् यस्मिन् सोऽयमेकाच्  
एकाजिति । किं तर्हि तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणः । एकः अच् एकाच्  
एकाजिति ।

यदि तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणो नार्थ एकग्रहणेन । इह कस्मान्न  
भवति । प्रेदं ग्रह्य । प्रेदं क्षत्रम् ।

अत्रेव यो निपात इत्येवं विज्ञापते । किं चक्षुष्यमेतत् । नहि । कथ-  
मनुच्यमानं गंस्यते । अजग्रहणसामर्थ्यात् । यदि हि अच्च अन्यच्च तत्र  
स्याद् अजग्रहणमनर्थक स्यात् ॥

अस्ति ह्यन्यदजग्रहणस्य प्रयोजनम् । किम् । अजन्तस्य यथा स्यात्  
हलन्तस्य मा भूत् ॥

एकाच् ग्रहण करने पर भी प्रेदम् में प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । यहां प्र  
शब्द भी एकाच् ही है ।

एकाच् शब्द में एकोऽज् यस्मिन् स एकाच् इस प्रकार बहुव्रीहि समास मान  
कर एक अच् वाला यह अर्थ नहीं लिया गया है बल्कि एवञ्चासौ अच् एकाच् इस  
प्रकार कर्मधारय तत्पुरुष मान कर एक अचरूप यह अर्थ लिया गया है । प्र शब्द  
एक अच् वाला तो है पर एक अचरूप नहीं है इसलिये प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी ।

यदि एकाच् शब्द में कर्मधारय तत्पुरुष समास मानते हैं तो एक ग्रहण की  
कोई आवश्यकता नहीं । यदि आप पूछें कि एक ग्रहण के अभाव में प्रेदम् में प्रगृह्यसंज्ञा  
क्यों नहीं होती तो इसका उत्तर है—

अचरूप जो निपात उसकी प्रगृह्यसंज्ञा समझी जायगी । प्रेदम् में प्र शब्द  
अच् रूप निपात नहीं है । उसके साथ हल् अक्षर भी हैं । इस लिये एक ग्रहण के बिना  
भी यहां प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । क्या यह बात कइनी होगी कि यहां अच् रूप  
निपात लिया गया है ? नहीं । बिना कइ कैसे समझी जायगी ॥ अच् ग्रहण के  
सामर्थ्य से । यदि अच् और अच् से अन्य हल् दोनों मिले हुए निपात की प्रगृह्यसंज्ञा  
होवे तो अन् ग्रहण करना ही व्यर्थ हो जाता है ।

अच् ग्रहण करने का प्रयोजन तो कुछ और भी हो सकता है । क्या ? अजन्त  
निपात की प्रगृह्यसंज्ञा हो, हलन्त की न हो ।

नैव दोषो न प्रयोजनम् ॥

एवमपि कुत पतत् । द्वयोः परिभाषयोः सावकाशयोः समयस्थितयो—  
'राद्यन्तवदेकस्मिन्' 'येन विधिस्तदन्तस्येति' च । इयमिह परिभाषा  
भविष्यति आद्यन्तवदेकस्मिन् इति । इयं च न भविष्यति येन विधि-  
स्तदन्तस्येति ।

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति । इयमिह परिभाषा भवति आद्यन्तव-  
देकस्मिन्निति । इयं च न भवति येन विधिस्तदन्तस्येति । यद्यमनाङ्गिति  
प्रतिषेधं शास्ति ॥

हलन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा करने में न कोई दोष है, न प्रयोजन है ।'

फिर भी क्या कारण है कि यहाँ अच् शब्द में आद्यन्तवदेकस्मिन् और  
येन विधिस्तदन्तस्य इन दोनों सावकाश सूत्रों की समान उपस्थिति होने पर  
आद्यन्तवत्० की बात मान कर अच् रूप अर्थ लिया जायगा और येन विधि० की  
बात न मान कर अजन्त अर्थ नहीं लिया जायगा । अर्थात् आद्यन्तवत् सूत्र की  
प्रवृत्ति से एक अच् रूप निपात को ही आद्यन्तवत् समझा जायगा और येन विधि०  
सूत्र की प्रवृत्ति से जिसके अन्त में अच् है ऐसे हल्च् समुदाय को यहाँ अच् नहीं  
माना जायगा ।

सूत्र में जो अनाद् ग्रहण करके हित् आकार की प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध  
किया है यह आचार्य का व्यवहार ही इस बात का शापक है कि यहाँ अच् शब्द  
में आद्यन्तवत् की बात मान कर अच् रूप अर्थ लिया जायगा । और येन विधि०  
की बात न मान कर अजन्त अर्थ नहीं लिया जायगा । क्योंकि आङ् निपात अच् रूप  
ही है, अजन्त नहीं है । उसके निषेध से पता लगता है कि अच् रूप निपात की  
प्रगृह्यसंज्ञा होगी, अजन्त की नहीं ।

१. यदि क्वो पुरोऽहिः (पुरस्+अहिः) यहाँ हलन्त निपात पुरस् शब्द की  
प्रगृह्यसंज्ञा होने पर ससञ्जो रुः से स् के स्थान में हुए रु को अतो रोरप्लुतादप्लुते  
से उत्प नहीं प्राप्त होगा तो यह कोई दोष नहीं । क्योंकि प्रगृह्यसंज्ञा के प्रति ससञ्जो  
रु से विहित रुव पूर्वत्रासिद्ध होने से असिद्ध है । पुरस् के सकार को हल् के  
अतिरिक्त और कोई कार्य प्राप्त नहीं इस लिये रु के असिद्ध होने से उसकी प्रगृह्यसंज्ञा न  
होगी तो प्रवृत्तिमान न होगा और उच्च निर्बाध हो जायगा । उत्प के प्रति तो हल्  
आश्रय से (उत्पविधि में उसका आश्रयण होने से) सिद्ध है ।

एवं तर्हि सिद्धे सति यदङ्ग्रहणे क्रियमाणे एकग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः अन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवतीति ।

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ?

'दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धमिति' यदुक्तं तदुपपन्नं भवति ।

अनाडिति किमर्थम् ? ॥

आ उदकान्तात्=ओदकान्तात् ॥

इह कस्माच्च भवति आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तद् इति ॥

सानुबन्धकस्येदमाकारस्य ग्रहणम् । अननुबन्धकश्चात्राकारः ॥

इस प्रकार केवल अच् ग्रहण से कार्य सिद्ध होने पर भी जो एक ग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् यह परिभाषा होती है । इसका अर्थ है—वर्ण के ग्रहण में उसकी जाति अर्थात् वर्णसमुदाय का भी ग्रहण होता है ।

वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् इस परिभाषा के ज्ञापन का क्या प्रयोजन है ?

हलन्ताच्च सूत्र पर जो दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् सिद्धम् यह वार्तिक कहा है वह ठीक सिद्ध हो जायगा । इस परिभाषा के होने पर हलन्ताच्च में इक् के समीप केवल एक हल् वर्ण न ले कर हल्वर्णसमुदाय भी ले लिया जायगा तो दम्भ धातु के भिषति धीप्सति इन सशस्त्र रूपों में दम्भ इन्व से दम्भ के अ को इकार ईकार हो कर दिग्भ् दीग्भ् बनने पर मकार मकार रूप हल् समुदाय भी इक् के समीप धन जायगा । इक्समीप हल् होने पर सन् को किर हो कर अनिदिता हल उपधाया, किङिति से मकार का लोप सिद्ध होगा ।

अनाड् ग्रहण किस लिये किया है ?

आ उदकान्तात्=ओदकान्तात् । यहाँ मर्यादा अर्थ में क्षाल् निपात दित् है । उसकी प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध होने से आद्युण्, से गुण हो जाता है ।

आ एव नु मन्यसे, आ एव किल तत् यहाँ अनाड् ग्रहण से प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध क्यों नहीं होता ?

ढकार अनुबन्ध वाले आकार की ही प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध है । यहाँ ढकार अनुबन्ध रहित आकार है । इसलिये निषेध न होगा तो प्रगृह्यसंज्ञा रह जायगी ।

क पुनरयं सानुबन्धकः । क निरनुबन्धकः ॥

‘ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।

एतमातं जितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

ओत् ॥११॥१५॥

किमुदाहरणम् ?

आहो इति । उताहो इति ॥

कहाँ पर आकार ङकार अनुबन्ध सहित है और कहाँ पर ङकार अनुबन्ध रहित है ?

ईषत्=थोड़े अर्थ में, क्रियायोग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में जो आकार है उसे ङित् समझो और वाक्यार्थ के अन्यथात्व तथा स्मरण अर्थ में जो आकार है उसे ङित् रहित समझो । ईषत् अर्थ में जैसे—आ+उष्णम्=ओष्णम् (कुछ कम गर्म) । यहाँ आकार के ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो गुण हो गया । आढीषदर्थे यह वार्तिक भी ईषदर्थ में आकार को ङित् सूचित करता है । क्रियायोग में जैसे—आ+इतः=एतः । उपसर्गाः क्रियायोगे से ङित् आकार की उपसर्गसंज्ञा होती है । म परा आदि २२ उपसर्गों में आङ् ङित् पड़ा है । ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो गुण हो गया । निर्दिश्यमान अवधि को छोड़ कर मर्यादा होती है और निर्दिश्यमान अवधि को भी साथ मिलाने पर अभिविधि होती है । आ+उदकान्तात्=भोदकान्तात् (जल भाते तक) यहाँ मर्यादा में आकार ङित् है । ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो गुण हो गया । आ+अदिच्छन्नात्=आदिच्छन्नात् । (अदिच्छन्न देश की समाप्ति तक) यहाँ अभिविधि में आकार ङित् है । ङित् होने से प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो सर्वणदीर्घ हो गया । आङ् मर्यादाभिविध्योः यह सूत्र मर्यादा और अभिविधि में आङ् को ङित् सूचित करता है । आ एवं नु मन्थसे (आः ! तू अब ऐसा मानता है, पहिले तो नहीं मानता था) यहाँ वाक्यार्थ के अन्यथात्व चोत्तन में आकार ङित् नहीं है । इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा हो गई तो सन्धि न हुई । आ एवं किल तत् (किसी बात के याद आने पर कहता है आः ! क्या वह ऐसी बात थी) यहाँ स्मरण अर्थ में आकार के ङित् न होने से प्रगृह्यसंज्ञा हो गई तो सन्धि न हुई ।

इस सूत्र का क्या उदाहरण है ?

आहो उताहो ये ओकारान्त निपाठ हैं इनकी इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा होने पर अङ्सन्धि नहीं होती ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । निपातसमाहारोऽयम् । आह उ आहो इति । उत आह उ उताहो इति । तत्र निपात एकाजनाह् इत्येव सिद्धम् ॥

एवं तर्ह्येकनिपाता इमे । अथवा प्रतिपिदार्थोऽयमारम्भः । ओ पु यातं मरुतः, ओ पु यात बृहती शकरी च । ओ चित् सखाय सख्या ववृत्याम् ॥

ओतारिच प्रतिषेध ।

ओदन्तो निपात इत्यत्र च्यन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । अनद् अदः अभवत् अदोऽभवत् । तिरोऽभवत् ॥

ये काह उदाहरण नहीं है । ये तो आह उ=आहो, उत आह उ=उताहो इस प्रकार निपातों का समुदाय है । उसमें उ निपात क एक अच् रूप होने से निपात एकाजनाह् सूत्र से ही प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

ये निपातसमुदाय नहीं है बल्कि आदयोऽनारवे सूत्रस्य आदिगण में आहो उताहो इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से पठ गये एक निपात हैं । अथवा प्रगृह्यसंज्ञा निषेध को रोकने के लिये इस सूत्र का आरम्भ समझना चाहिये । ओ पु यातम् इत्यादि निर्दिष्ट वैदिक प्रयोगों में ओ यह गजद आ उ इन दो निपातों के योग से बना है । आ का सम्बन्ध यातम् ववृत्याम् इन क्रियाओं से है । आ उ में हुए गुण एकादेश को अन्तादिबन्ध से पूर्व के प्रति अन्तवच् मान कर आ हो जायगा तो निपात एकाजनाह् सूत्र में अनाह् ग्रहण से प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है उस को रोकन के लिये यह सूत्र हो सकता है । उसका प्रयोजन ओ पु आदि उक्त स्थलों में तो कुछ दीखता नहीं है, ओ इति ओ इस प्रकार पदपाठ में लौकिक इति शब्द परे होन पर या ओ अयातम् आदि के परे होने पर प्रगृह्यसंज्ञा होने से सन्धि न होना सिद्ध हो जायगा ।

ओदन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा करने में चि प्रत्ययान्त का निषेध कहना चाहिये । अनद् अद अभवत्=अदोऽभवत् । अतिर तिर अभवत्=तिरोऽभवत् । यहा अश्त् तिरस् शब्दों से अभूततज्ञाव अर्थ में चि प्रत्यय हो कर उसका सर्वोपहारी लोप हुआ है । सूर्यादिविवाचत्वे से यह च्यन्त निपात है । स् को ह, ह को उ और उ को ओ गुण हो कर ओदन्त बन जाता है । इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त हो कर एव पदान्तादिति से पूर्वरूप न हो सकेगा इस लिये यहा प्रगृह्यसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये ।

१ यदि इस ओ को पर के प्रति आदिबन्धमान मान कर उ समझें तो यह आह् भिन्न होने से अनाह् इस निषेध का विषय नहीं बनेगा । उस अवस्था में उसी से सिद्ध हो जाने पर इस सूत्र का यह प्रयोजन नहीं रहता ।

न चकव्यः । 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्येत्येवं' न भविष्यति ॥

एधमपि अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत् । अत्र प्राप्नोति ॥

एवं तर्हि 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय' इति । तद्यथा गौर-  
नुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः इति न वाहीकोनुबध्यते ॥

कथं तर्हि वाहीके वृद्ध्यात्वे भवतः । गौस्तिष्ठति । गामानयेति ॥

अर्थाश्रय एतदेवं भवति । यद्धि शब्दाश्रयं शब्दमात्रे तद् भवति ।  
शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्वे ॥

चिप्रत्ययान्त के निषेध की कोई आवश्यकता नहीं । लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । क्योंकि यदो तिरो में जो ओकार है वह लाक्षणिक है । प्रतिपदोक्त नहीं है ।

यहाँ न सही, पर अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत् जहाँ चिप्रत्ययान्त की प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है । गो शब्द में ओकार प्रतिपदोक्त है । साक्षादुच्चरित है ।

यहाँ भी गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययो भवति इस परिभाषा से प्रगृह्यसंज्ञा न होगी । न्यायमूलक इस परिभाषा का अर्थ है—गुणादागतो गौणः । 'गुणो' कारण आरोपित किया हुआ प्रयोग । मुखमिव प्रधान मुख्यम् । मुख के समान जो प्रधान है साक्षात् प्रतिपाद्यमान है वह मुख्य है । गौण और मुख्य के कार्यविचार में मुख्य में ही कार्य होता है, गौण में नहीं । यहाँ अभूततन्नावार्थक चिप्रत्यय में जो मुख्य रूप से गौ नहीं है उसे गौण रूप से गौ बनाया जा रहा है । इस लिये गो शब्द ओदन्त निपात होता हुआ भी यहाँ मुख्य नहीं है गौण है । मुख्य ओदन्त निपात में ही प्रगृह्यसंज्ञा होने से यहाँ गौण में नहीं होगी । जैसे—गौरनुबन्ध्यः अजः अग्नीषोमीयः इस गोबन्धनविधिराक्य द्वारा वज्र में मुख्य गो पशु ही बाँधा जाता है पशु के नूढतादिगुणों के कारण उपचरित गो प्रयोगगाला वाहीक ( यदिभूत शूद्रादि ) नहीं बाँधा जाता ।

तो फिर गौस्तिष्ठति, गामानय यहाँ वाहीक में उपचरित (उपचार से प्रयुक्त) गौण बने गो शब्द में गौः, गाम् यहाँ क्रम से वृद्धि और आत्व क्यों होते हैं ।

गौण मुख्य न्याय अर्थाश्रय में होता है । अर्थात् गौणता और मुख्यता पदार्थ के आश्रित हैं, शब्द के नहीं । किसी वस्तु के लिये ही गौण मुख्य शब्दों का

१. तत् आगत' से शैषिक अण् ।

२. शास्त्रादिभ्यो यः से इवार्थ में य प्रत्यय ।



उञ् ऊँ ॥११११८॥

इह कस्मान्नं भवति आहो । उताहो इति ॥

उञ् इत्युच्यते । न चात्रोञं पश्यामः ॥

उञोऽयमन्येन सहैकदेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते ॥

आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोञ् एकदेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते इति ।

यद्यमोदिति ओदन्तस्य निपातस्य प्रगृह्यसंज्ञां शास्ति ॥

प्रयोग होता है । भाव यह है कि प्रयोगार्ह पद में पदान्तर के सम्बन्धान में गौणता की प्रतीति होने से गौण मुख्य न्याय की प्रवृत्ति होती है, अप्रयोगार्ह प्रातपदि की अवस्था में नहीं । इस लिये जो कार्य शब्दाश्रय हैं अर्थात् प्रातिगर्हित सम्बन्धी हैं वे तो शब्द मात्र में चाहे गौण हो या मुख्य हों सब में समान रूप से हो जायेंगे । गोत्रो गिर से गिरित्व होकर अचो णित से वृद्धि होना और औनोम् शयोः से आकार होना ये कार्य शब्द की मान कर होने वाले हैं । ये हो जायेंगे । इन के होने पर ही प्रयोगार्ह पद बनेगा फिर उस बने हुए पद का गौण या मुख्य रूप से यथेष्ट प्रयोग होगा । पद बना हुआ गां या गाम् शब्द जो गौर्वाहीकस्तिष्ठति, या वारीकमानत्र इस प्रकार वारीक के साथ प्रयुक्त किया जायगा तब वह गौण समझा जायगा । केवल पशु के लिये प्रयुक्त हुआ मुख्य होगा । गोऽभवत् यह ओदन्त निपात तो पद बन चुका है इस में गौण मुख्य न्याय की प्रवृत्ति संभव है । किन्तु वृद्धि और आन्व करने वाले सूत्र अभी पद का निर्माण कर रहे हैं । उन्हें तो शब्द मात्र चाहिये । अर्थ की अपेक्षा रहित उनकी प्रवृत्ति होने से वही गौणमुख्य न्याय नहीं लय सकता ।<sup>१</sup>

आहो इति, उताहो इति यहां इस सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा के साथ ही आदेश क्यों नहीं होता ?

उञ् की ऊँ आदेश कहा है । यहां उञ् नहीं दीखता ।

आह = भाहो, उत आह उ = उताहो इस प्रकार यहां उञ् का दूसरे वर्ण के साथ गुण एकादेश हो रहा है जो परादिवद्भावे से उञ् ग्रहण से गृहीत होता है ।

आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि उञ् का एकादेश उञ् ग्रहण से गृहीत नहीं होता । ओञ् सूत्र से जो ओदन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा विधान की है

१. आहो उताहो को निपातसमुदाय मान कर प्रश्न है ।

२. इसी ऋषे अगौः गौः समपयत इम विप्रह में अगौः इस गौण गो शब्द में भी वृद्धि हो रही है । अगां गां करोति गो करोति यहां च्विप्रवययान्न में तो वृद्धि और आन्व की प्राप्ति ही नहीं है इस लिये नहीं होगा ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । उक्तमेतत्—‘प्रतिपिद्वार्थोऽयमारम्भ’ इति । दोषः खल्वपि स्याद् यद्युञ् एकादेश उञ् ग्रहणेन न गृह्येत । जानु उ अस्य रुजति=जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति । ‘भय उञो वो वे’ति वत्त्वं न स्यात् ।

एवं तर्ह्येकनिपाता इमे । अथवा द्वावुकाराविमौ । एकोऽननुबन्धकः । अपरः सानुबन्धकः । तद्योऽननुबन्धकस्तस्यैव एकादेशः ।

उञ् इति योगविभागः । ‘उञ्’ इति योगविभागः कर्तव्यः । उञ् शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भवति । उ इति । विति । ततः

वह इस बात को सिद्ध करती है । अन्यथा आहो उताहो में उञ् के एकादेश को परादिवद्भाव से उञ् मान कर निपात एकाजनाद् से ही प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती तो ओत् सूत्र व्यर्थ था ।

यह कोई ज्ञापक नहीं । ओत् सूत्र के विषय में तो कहा जा चुका है कि वह प्रगृह्यसंज्ञा के निषेध को रोकने के लिये बनाया है । इस लिये वह विशेष विधान होने से आवश्यक है व्यर्थ नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त दोष भी होगा यदि उञ् के एकादेश को उञ् ग्रहण से गृहीत नहीं मानेंगे । जानु उ अस्य रुजति=जानू अस्य रुजति, जान्वस्य रुजति यहाँ जानु के उकार के साथ हुए उञ् के सवर्णदीर्घ एकादेश को यदि परादिवद्भाव से उञ् नहीं मानेंगे तो भय उञो वो वा से उञ् को पक्ष में होने वाला वकार नहीं हो सकेगा । इस लिए उञ् का एकादेश भी उञ् मानना होगा । उस अवस्था में आहो उताहो में उञ् होने से ऊँ आदेश प्राप्त होता है ।

अच्छा तो, आहो उताहो ये चादिगण में पठित स्वतन्त्र एकनिपात हैं । इनमें उञ् का एकादेश नहीं मानेंगे । या उञ् और उ ये दो पृथक् २ निपात हैं । एक में जकार अनुबन्ध लगा है दूसरे में नहीं । आहो उताहो में जकार अनुबन्ध रहित उ का एकादेश मानेंगे उञ् का नहीं तो उञ् न होने से ऊँ आदेश नहीं होगा ।

उञ् ऊँ इस सूत्र का योगविभाग करना चाहिये । एक सूत्र के स्थान में उञः । ऊँ । ये दो सूत्र बनाने चाहिये । उञः इस पहले सूत्र का अर्थ होगा—शाकल्य आचार्य के मत में उञ् निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । उससे शाकल्य के मत में प्रगृह्यसंज्ञा हो कर उ इति यह रूप बन जायगा । अन्य शौनकादि आचार्यों के मत में प्रगृह्यसंज्ञा न होगी तो यण् हो कर विति यह रूप बन जायगा । उसके बाद ऊँ इस दूसरे सूत्र का अर्थ होगा—शाकल्य के मत में उञ् के स्थान में दीर्घ

ॐ । ॐ इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घोऽनुनासिक-  
प्रगृह्यसंज्ञकश्च । ॐ इति ।

किमर्थो योगविभागः ।

ॐ वा शाकल्यस्य । शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन ॐ विभाषा यथा  
स्यात् । ॐ इति, उ इति । अन्येषामाचार्याणां मतेन विति ।

ईदृतौ च सप्तम्यर्थे ॥१॥१॥१९॥

ईदृतौ सप्तमीत्येष । ईदृतौ सप्तमीत्येव सिद्धे नार्थोऽर्थग्रहणेन ।

लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेत् ।

अनुनासिक तथा प्रगृह्यसंज्ञक ॐ आदेश होता है । उससे शाकल्य के मत में  
ॐ इति यह रूप भी बन जायगा । उ इति पहले से है ही । इस प्रकार दा रूप शाकल्य  
के मत में बन जायेंगे । अन्यो के मत में केवल विति यह रूप बनेगा ।

उन ॐ सूत्र का योगविभाग किस लिये करना चाहिये ।

योगविभाग करने से शाकल्य के मत में ॐ आदेश विकल्प से होगा तो उ  
इति, ॐ इति ये दो रूप बन जायेंगे । अन्य आचार्यों के मत में विति यह रूप  
रहेगा । इस प्रकार इष्ट तीनों रूप योगविभाग से सिद्ध हो जायेंगे । अन्यथा उन  
ॐ यह एक सूत्र होने पर शाकल्य के मत में उन् को ॐ आदेश हो जायगा तो  
ॐ इति यह एक रूप ही बन सकेगा उ इति यह दूसरा रूप नहीं बन सकेगा ।  
अन्यो के मत में विति रहेगा इस प्रकार केवल दो ही रूप बन सकेंगे, तीन नहीं ।  
तीन रूप बनाने के लिये योगविभाग आवश्यक है ।

ईदृतौ च सप्तमी इतना ही सूत्र पर्याप्त है । अर्थग्रहण की आवश्यकता  
नहीं ।

१ वार्तिक में लुप्त शब्द सामान्याभिधायी होने से नपुंसक लिङ्ग है । इस  
वार्तिक का भाव यह है कि सज्ञाविधि में प्रत्यय की सज्ञा करने में तदन्तविधि का  
प्रतिषेध होता है । यदि सूत्र में अर्थ ग्रहण न किया जाय तो ईदृतौ सप्तमी की  
प्रगृह्यसंज्ञा होगी, पर उसके अभ्रवण में ( अविद्यमान होने पर सज्ञा न हो सकेगी, और  
प्रत्यय निमित्तक कार्य नहीं किसी दूसरे को विहित होता है वही प्रत्यय लक्षण होता है,  
अतः गौरी (जहाँ सप्तमी का लुक् हुआ है ) में उसकी प्राप्ति ही नहीं, इसलिये सूत्र में  
अर्थ ग्रहण किया है ।

लुप्तायां सप्तम्यां प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति । क । सोमो गौरी अधिश्रितः । इष्यते चात्रापि स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमर्थग्रहणम् ।

नात्र सप्तमी लुप्यते । किं तर्हि । पूर्वसवर्णोऽत्र भवति ।

पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाढाम् भावः प्रसज्यते ।

यदि पूर्वसवर्ण आट् आम् भावश्च प्राप्नोति ।

एवं तर्हि आहायमीदृशौ सप्तमीति । न चास्ति सप्तमी ईदृशौ । तत्र वचनाद् भविष्यति ।

सप्तमी विभक्ति का लुक् हो जाने पर ईकारान्त उकारान्त की प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । वहाँ प्रगृह्यसंज्ञा करने के लिये अर्थग्रहण की आवश्यकता है । जिससे सप्तमी न होने पर भी उसके अर्थ को लेकर प्रगृह्यसंज्ञा हो जाये । कहाँ ? । सोमो गौरी अधिश्रितः वहाँ वैदिक प्रयोग में गौरी शब्द से परे सप्तमी विभक्ति ङि का सुपा सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छे० इस सूत्र से लुक् हुआ है । गौरी में सप्तमी परे न होने पर भी उसका अर्थ विद्यमान है । इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा होकर अच् सन्धि नहीं होती । अर्थग्रहण के न करने पर वहाँ सप्तमी परे न होने से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । इष्ट है वहाँ भी प्रगृह्यसंज्ञा हो इस लिये अर्थग्रहण करना चाहिये ।

गौरी में सप्तमी का लुक् नहीं होता किन्तु सुपा सुलुक् से पूर्वसवर्ण होता है । गौरी-इ=गौरी-ई इस प्रकार सप्तमी विभक्ति के इकार के स्थान में पूरे ईकार का सवर्ण ईकार होकर दोनों का सवर्णदीर्घ एकादेश हो जायगा तो गौरी बन जायगा । उसमें परादिवद्भाव से सप्तमी का ईकार विद्यमान मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी तो अर्थग्रहण की क्या आवश्यकता है ।

यदि गौरी में सप्तमी विभक्ति के स्थान में सुपा सुलुक् से हुआ पूर्वसवर्ण ईकार मानते हो तो गौरी ई इस अवस्था में सवर्णदीर्घ को बाध कर आण्णशः से आट् का आगम और डेराम् नञाप्तीभ्यः से आम् आदेश प्राप्त होते हैं । उस अवस्था में गौर्याम् बनेगा गौरी नहीं । इस लिये गौरी में सप्तमी का लुक् ही मानना चाहिये पूर्वसवर्ण नहीं ।

तब तो ईदृशौ च सप्तमी इस वचन के सामर्थ्य से लुप्त हुई सप्तमी में भी प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी । क्योंकि सर्वत्र सप्तमी का लुक् हो जाने से ईकार

वचनाद् यत्र दीर्घत्वम् ।

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । यत्र सप्तम्या दीर्घत्वमुच्यते । इति न शुष्कं सरसी शयानम् इति । सति प्रयोजने इह न प्राप्नोति । सोमो गौरी अधिष्ठित इति ॥

तत्रापि सरसी यदि ।

तत्रापि सिद्धम् । कथम् । यदि सरसी शब्दस्य प्रवृत्तिरस्ति । अस्ति च लोके सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिः । कथम् । दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते ॥

ज्ञापक स्यात् तदन्तत्वे ।

एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवतीति ।

अकार रूप सप्तमी कहीं न मिलेगी तो लुप्त हुई सप्तमी को ही प्रत्ययलक्षण मान कर गौरी में सप्तमी सहचरित ईकार हो जायगा फिर उसकी प्रगृह्यसंज्ञा बन जायगी इस लिये अर्थग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं ।

ईदृती च सप्तमी । इस वचन का सामर्थ्य नहीं बनता । यह वचन तो वहाँ चरितार्थ हो सकता है जहाँ सप्तमी को दीर्घ होता है । जैसे—“ति न शुष्कं सरसी शयानम्” इस वेद मन्त्र के सरसी प्रयोग में सरस् शब्द से परे सप्तमी के ईकार को इयाडियाजीकाराणामुपम-यानम् इस वार्तिक से दीर्घ ईकार आदेश होता है । यह ईकार रूप सप्तमी बन जाती है । ईकाररूप सप्तमी के मिल जाने से ईदृती च सप्तमी यह सूत्र यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा करने में चरितार्थ हो जायगा तो गौरी में प्रगृह्यसंज्ञा न हो सकेगी । अतः तदर्थ सूत्र में अर्थग्रहण करना चाहिये ।

वहाँ भी प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । कैसे ? सरसी में यदि हम सरस् शब्द न मान कर सरसी शब्द मान लें जैसा कि लोक में सरसी शब्द का प्रयोग होता ही है, क्योंकि दक्षिण देश में बड़े २ सरोवर सरसी कहलाते हैं, उस सरसी से परे सप्तमी का लुक् कर के सरसी यह सप्तम्यन्त बनावे तो वह भी गौरी के समान बन जायगा । उस से सर्वत्र लुप्त हुई सप्तमी को ही प्रत्ययलक्षण से मान कर प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी तो अर्थग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं ।

फिर तो व्यर्थ हुआ अर्थग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि प्रगृह्यसंज्ञा में

१. यहा यदि तन्ः सम्भावना अर्थ में है । ऐसा ही शास्त्राणि चर प्रमाणं स्युः यहाँ भी अर्थ है ।

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । कुमार्योरगारं कुमार्यगारम् । ध्वोरगारं ध्वगारम् । प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्यसंज्ञा न भवति ।

मा वा पूर्वपदस्य भूत् ।

अथवा पूर्वपदस्य मा भूदित्येवमर्थमर्थग्रहणम् । वाप्यामश्वो वाप्यश्वः । नयामातिर्नयातिः ॥

अथ क्रियमाणेऽप्यर्थग्रहणे कस्मादेवात्र न भवति ।

जहत्स्वार्था वृत्तिरिति ।

अथाजहत्स्वार्थायां वृत्तौ दोष एव । अजहत्स्वार्थायां च न दोषः ।

प्रत्ययलक्षण नहीं होता । इस बात के ज्ञापन का प्रयोजन कुमार्यगारम्, ध्वगारम् यहाँ ईददेत् सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा का न होना है । जिसका विचार ईददेत् द्विवचन० सूत्र में ईकाराद्यन्त द्विवचनान्त की प्रगृह्यसंज्ञा कथन करने वाले तीसरे चौथे पक्षों में पहले हो चुका है । यहाँ तदन्तरे शब्द से उन्हीं तीसरे चौथे पक्षों से अभिप्राय है । जब प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तब अर्थग्रहण करने पर वहाँ प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । अथवा समास के घटक अवयव पूर्वपद की प्रगृह्यसंज्ञा न होवे इस लिये अर्थग्रहण किया है । वाप्यामश्व = वाप्यश्व । नयामाति = नयाति । यहाँ संज्ञायाम् सूत्र से हुए सप्तमी तत्पुरुष समास में सप्तमी विभक्ति का लुक् हुआ है । वापी नदी इन पूर्वपदों का ईकार सप्तमीसङ्घटित है । इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है वह अर्थग्रहण करने से न होगी । क्योंकि यहाँ उत्तरपदार्थ प्रधान तत्पुरुष समास में पिछले पद अश्व और आति का ही अर्थ प्रधान है । पूर्वपद वापी और नदी की सप्तमी का अर्थ प्रधान नहीं है ।

अर्थग्रहण करने पर भी वाप्यश्व नयाति में प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती ।

जहत्स्वार्था वृत्ति होने से । वृत्ति अर्थात् समास । वह दो प्रकार का है— जहत्स्वार्थ और अजहत्स्वार्थ । जिसमें समास के अन्तर्वर्ती घटक पद अपने अर्थ को सर्वथा छोड़ देते हैं वह जहत्स्वार्था वृत्ति कहाती है । और जिसमें समास के घटक पद अपना अर्थ सर्वथा नहीं छोड़ते बल्कि अपना अर्थ भी रखते हैं वह अजहत्स्वार्था वृत्ति होती है । जहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में पूर्वपद वापी और नदी अपने सप्तम्यर्थ को छोड़ चुके हैं इस लिये प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी ।

अजहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में तो दोष है ही । अजहत्स्वार्था वृत्ति पक्ष में भी दोष नहीं है । क्योंकि अजहत्स्वार्थ पक्ष में स्वार्थसंज्ञ पर का अभिधान होता है । पूर्वपद और उत्तरपद दोनों अपने अर्थ को समुदायार्थ (समुदितार्थ)

समुदायार्थोऽभिधीयते ।

ईदृशौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद् भवेत् ।

पूर्वस्य चेत् सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते ॥१॥

वचनाद् यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसी यदि ।

ज्ञापकं स्यात् तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत् ॥२॥

दाधा घ्रदाप् ॥१॥१२०॥

धुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्ध्यम् ।

धुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् । दाधाप्रकृतयो<sup>१</sup> धुसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । आत्वभूतानामियं संज्ञा क्रियते सा आत्व-भूतानामेव स्यात् । अनात्वभूतानां न स्यात् । ननु च भूयिष्ठानि

के साथ मिल कर कहते हैं । समुदायार्थ का अर्थ समासार्थ है । दोनों पदों का अर्थ भरने समासार्थ के साथ इतना घुलमिल जाता है कि वह धूल में मिले हुए पानी की तरह किसी तरह पृथक् नहीं किया जा सकता । उभयपद मिश्रित नये अर्थ में दोनों पदों का अर्थ समा जाता है । जब सूत्र में सप्तम्यर्थ ऐसा पढ़ते हैं, तब जितना वाक्य में सप्तम्यन्त पद से असंसृष्ट (=विशेषण-रहित) तथा उद्भूत (दूसरे का विशेषण न बना हुआ) अर्थ कहा जाता है, समास में वैसा न कहे जाने से समास में प्रगृह्यसंज्ञा न होगी । वाप्यत्वः, नयातिः में सप्तमी का अर्थ भी समासार्थ में समाविष्ट हो जाने से अलग नहीं कहा जा सकता । इस लिये यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी । इस प्रकार से ईकार ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा रोकने के लिये अर्थग्रहण करना सुकियुक्त सिद्ध होता है ।

दा धा की धुसंज्ञा करने में प्रकृति ग्रहण करना चाहिये । सिद्ध के लिये । अर्थात् दा धा की जो प्रकृति=मूलरूप दो देखो, धेदू हैं उनकी भी धुसंज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? दाधा शब्द से आत्वभूत=आत्व को प्राप्त=त्वतः सिद्ध आकार वाले जो दा धा हैं उनकी यह धुसंज्ञा की जा रही है सो वह आत्व को प्राप्त दाधा रूप वाले दाण्, दान्, घान् की ही प्राप्त होती है । अनात्वभूत अर्थात् आत्व को न प्राप्त हुए स्वतःसिद्ध आकाररहित

१. यह द्वन्द्व समास है । दाश्च, धौ च, प्रकृत्यश्च—ऐसा विग्रह है । सूत्र में उपस्थित दाधा की ही प्रकृतियाँ समझी जायेंगी ।

घुसंज्ञाकार्याणि आर्धधातुके तत्र चैते आत्वभूता दृश्यन्ते । शिदर्थम् । शिदर्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् । शित्यात्वं प्रतिपिच्यते तदर्थम् । प्रणिदयते प्रणिद्यति प्रणिधयतीति ।

भारद्वाजीयाः पठन्ति ।

घुसज्ञाया प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम् ।

घुसज्ञायां प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । शिदर्थं विकृतार्थं च । शित्युदाहृतम् । विकृतार्थं खल्वपि । प्रणिदाता । प्रणिधाता ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ।

‘लक्षणप्रतिपदोस्तयोः प्रतिपदोस्तस्येवे’ति प्रतिपदं ये आत्वभूतास्तेषामेव स्यात् । लक्षणेन ये आत्वभूतास्तेषां न स्यात् ।

दो देह्, धेह् की नहीं प्राप्त होती । अधिकांश में घुसज्ञा के कार्य आर्धधातुक प्रत्यय पर होने पर होते हैं उस आर्धधातुक में ये दो देह्, धेह् भी आत्व को प्राप्त हैं । शिदर्थम् । शित् के लिये प्रकृतिग्रहण करना है । आदेच उपदेशेऽशिति से होने वाला आत्व शित् प्रत्ययो में रुक जाता है । वहां नहीं होता । जैसे प्रणिद्यति, प्रणिदयते, प्रणिधयति वहां प्र नि पूर्वक दो धेह्, धेह् धातुओं से एह् में क्रमशः द्यन् और शर् विकरण होते हैं । वे शिन् हैं । वहां आत्व न होने से दा धा रूप न होंगे तो घुसज्ञा न हो कर नेर्गदनदप-पदधुमात्यति० सूत्र स नि शब्द के नकार को णत्व नहीं प्राप्त होता ।

इसी बात को भारद्वाजीय लोग यूँ कहते हैं—घुसज्ञा में प्रकृतिग्रहण करना चाहिये । किस लिये ? शित् के लिये । और विकृत के लिये । विकार होकर बने दा धा के लिये । शित् का उदाहरण दिया जा चुका है । विकृत का उदाहरण है—प्रणिदाता । प्रणिधाता । यहाँ प्रनि पूर्वक देह् दो धेह् धातुओं से लृच् पर रहते आत्वरूप विकार हो कर दा धा रूप बना है उसकी घुसज्ञा न होने से नेर्गदनद० सूत्र से नि को णत्व नहीं प्राप्त होता ।

क्या कारण है जो यहाँ प्रणिदाता प्रणिधाता में घुसज्ञा नहीं प्राप्त होती ?

लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से । जो प्रतिपदोक्त स्वतः सिद्ध आत्व वाले दा धा हैं उनकी ही घुसज्ञा प्राप्त होती है । जो आदेच उपदेशेऽशिति इस लक्षण नि निम्न लक्षणिक दा धा हैं उनकी घुसज्ञा नहीं प्राप्त होती ।



अथ क्रियमाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे कथमिदं विज्ञायते दाधाः प्रकृतयः इति, आहोस्विद् दाधा प्रकृतय इति । किं चातः । यदि विज्ञायते दाधा प्रकृतय इति स एव दोषः आत्वभूतानामेव स्यात् । अनात्वभूतानां न स्यात् । अथ विज्ञायते दाधा प्रकृतय इति, अनात्वभूतानामेव स्यादात्वभूतानां न स्यात् ॥

एष तर्हि नेव विज्ञायते दाधा प्रकृतय इति । नापि दाधा प्रकृतय इति । कथं तर्हि । दाधा घुसज्ञा भवन्ति प्रकृतयश्चैवामिति ॥

तत्तर्हि प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् ॥

न कर्तव्यम् । इदं प्रकृतमर्थग्रहणमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् । 'ईदृशौ च सप्तम्यर्थे' इति । वक्ष्यामि 'दाधाष्वदाप् अर्थे' इति ॥

न न शक्यम् । ददातिना समानार्थान् रातिरासतिशसतिमहति-

अञ्ठा, प्रकृतिग्रहण करने पर भी दाधाप्रकृतय इस शब्द में कैसा विग्रह करोगे । दाधा'च ता प्रकृतय=दाधाप्रकृतय इस प्रकार कर्मधारय मानोग या दाधा प्रकृतय=दाधाप्रकृतय इस प्रकार घणी तत्पुरुष मानोग । इस स क्या ? यदि दाधा प्रकृतय यह कर्मधारय मानोग तो वही दोष है । स्वत आच को प्राप्त दाप् दान धान् की ही घुसज्ञा होगा । दो दृष्ट धेट की नहीं होगी । यदि दाधा प्रकृतय यह पण्डितपुरुष मानोग तो दाधा की प्रकृति दो देङ् धट है उनकी ही घुसज्ञा हो सकेगी । दाण दान धान का न हो सकेगी ।

दाधाप्रकृतय ऐसा समस्त शब्द नहीं रखगे बल्कि दाग ध्वदाप् प्रकृतयश्च ऐसा रखेंगे । उसमें स्वत सिद्ध दा धा रूप वाले दाण दान धान की घुसज्ञा हो जायगी और दा धा शब्दों की जो मूल प्रकृतियाँ दा देङ् धट हैं उन की भी घुसज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

तो फिर प्रकृतिग्रहण कर दना चाहिये ?

प्रकृतिग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं । इदृशौ च सप्तम्यर्थे इस पूर्वसूत्र से अर्थग्रहण की अनुवृत्ति कर लेंगे । सूत्र होगा—दाधा ष्वदाप् अर्थे । उस से दा धा रूप वाले और दाधा के अर्थ वाले दो देङ् धट आदि सब की घुसज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

ऐसा नहीं हो सकता । अर्थे कहने पर तो दा धानु क समानार्थक रा, रास् दास्, म् प्रा इत्यादि बहुत से धातुओं की भी घुसज्ञा प्राप्त हो जायगी । इस

प्रीणातिप्रभृतीनाहुः । तेषामपि घुसंज्ञा प्राप्नोति । तस्मान्नैवं शक्यम् । न चेदेवं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यमेव ॥

न कर्तव्यम् । शिदर्थेन तावन्नार्थः प्रकृतिग्रहणेन । अवश्यं तत्र मर्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम् । प्रणिमयते प्रण्यमयतेत्येवमर्थम् । तत् पुरस्तादपक्रक्ष्यते घुप्रकृतौ माप्रकृतौ चेति ॥

यदि प्रकृतिग्रहणं क्रियते प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति । अत्रापि प्राप्नोति ।

अथाक्रियमामाणेऽपि प्रकृतिग्रहणे इह कस्मान्न भवति । प्रनिमाता प्रनिमातुं प्रनिमातव्यमिति । आकारान्तस्य डितो ग्रहणं विज्ञायते । यथैव तर्हि अक्रियमाणे प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य डितो ग्रहणं विज्ञायते

लिये अर्थ नहीं कह सकते । उस के स्थान में प्रकृतिग्रहण ही करना होगा । ( जिस से अति प्रसङ्ग न होगा ) ।

कोई आवश्यकता नहीं प्रकृतिग्रहण करने की । शिल् के लिये तो घू नहीं, क्योंकि नेर्गद नद पत पद घुमा० सूत्र में मा के लिये प्रकृतिग्रहण करना आवश्यक है ही, जिससे प्रणिमयते प्रण्यमयत यहाँ प्रनि पूरक मेळ् धातु को भात्व होने के कारण मा मान कर नि को णत्व हो जावे । यही प्रकृतिग्रहण मा के पूर्ववर्ती घु के लिये भी आकृष्ट कर लिया जायगा । सूत्र में घु और मा के मध्य में प्रकृति शब्द रखेंगे जो उभयान्वयी होगा, जिससे घुप्रकृति और मा प्रकृति इस दोनों का ग्रहण हो जायगा ।

यदि नेर्गदनद० सूत्र में मा के लिये प्रकृतिग्रहण करते हैं तो प्रनिमिनोति, प्रनिमीनाति यहाँ प्रनि पूरक मिञ् मीञ् में भी नि को णत्व प्राप्त होता है । क्योंकि मिञ् मीञ् मीनाति भी मिनोतिदीका त्यपि च सूत्र से भात्व हो कर मा रूप होने से मा की प्रकृति बन जायेगी ।

हम पूछते हैं नेर्गदनद० सूत्र में प्रकृतिग्रहण न करने पर भी प्रनिमाता प्रनिमातुम् प्रनिमातव्यम् यहाँ स्पष्ट मा शब्द के होते हुए नि को णत्व क्यों नहीं होता । तब आप यही कहेंगे कि वहाँ डित् आकारवाला मा लिया गया है । अर्थात् माङ् धातु । प्रनिमाता प्रनिमातुम् प्रतिमातव्यम् में माङ् का मा नहीं है । मिञ् मीञ् का है इस लिये णत्व नहीं होता तो प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति में भी माङ् न होने से णत्व नहीं होगा । वहाँ प्रकृतिग्रहण मिञ् मीञ् न ले कर मेळ् धातु ही लिया जायगा क्योंकि वह भात्व होने पर माङ् बन जाता है ।

एवं क्रियमाणेषु प्रकृतिग्रहणे आकारान्तस्य द्वितो ग्रहणं चिन्तास्यते ।  
चिकृतार्थेन चापि नार्थः । दोष एवैतस्याः परिभाषाया 'लक्षणप्रतिपदो-  
क्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति । 'गामादाग्रहणेष्वविशेष' इति ॥

समानशब्दप्रतिषेध ।

समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः । प्रणिदास्यति । प्रणिधारयति ।  
वा धा धुसंज्ञा भजन्तीति धुसंज्ञा प्राप्नोति ।

प्रणिदाता, प्रणिजाता इन विकृतो के लिये भी इस सूत्र में प्रकृतिग्रहण  
अनावश्यक है । लभणप्रतिपदोक्त परिभाषा को सर्वत्र मानन में दोष ही है ।  
गामादाग्रहणेष्वविशेष यह परिभाषा उस की अपवाद रूप है । इस का अर्थ है—  
गा मा दा इन शब्दों के ग्रहण में लाक्षणिक तथा प्रतिपदोक्त का अविशेष होता  
है । उन का कोई भेद नहीं होता । ये चाहे लाक्षणिक हों तो भी इन शब्दों से  
गृहीत हो जाते हैं । प्रणिदाता में दाधा शब्दों के लाक्षणिक होने पर भी दाधा  
रूप होने से धुसंज्ञा हो जायगी ।

दाधा के समान शब्दों की धुसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये । प्रणिदास्यति  
प्रणिधारयति यहाँ प्रणिपूर्वक ट्, छ्, धातुओं से णिच् परे रहते वृद्धि और  
रपर हो कर दार्, धार् ये रूप बनते हैं । उनके अन्तर्गत दाधा की इस सूत्र  
से धुसंज्ञा प्राप्त होती है ।

१. गा मा दा अग्रहणेष्वविशेष इस परिभाषा का ज्ञातव्य वैप् धातु का पितृ  
ही है । अनुदासौ सुप्तिता से पिन् प्रत्यय को अनुदातन्व विधान किया है धातु को नहीं ।  
वैप् में पिन् इस लिये किया है कि धुसंज्ञा में दार् के निषेध के साथ वैप् का निषेध  
भी हो जावे । वैप् का दार् रूप लाक्षणिक है । लाक्षणिक होने से दार् शब्द से  
गृहीत ही नहीं होगा तो धुसंज्ञा निषेध के लिये उस में पितृ करना व्यर्थ है । पितृ  
करने से पता लगता है कि दा अग्रहण में लभणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नहीं लगती ।  
उस से गा मा दा अग्रहणेष्वविशेष यह परिभाषा सिद्ध हो जाता है । जिस प्रकार  
गा मा दा इन के ग्रहण में लभण प्रतिपदोक्त परिभाषा नहीं मानी जाती उसी प्रकार  
दाधा ध्वदाप्० सूत्र के दा के समान धा के ग्रहण में भी निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्ध-  
कस्य ( अनुबन्धरहित के ग्रहण में अनुबन्ध सहित का ग्रहण नहीं होता ) यह परिभाषा  
नहीं मानी जायगी तो प्रणिदाता बड़ा धेङ् की भी धुसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । यदि  
धातु पाठ में धा धातु निरनुबन्धक नहीं है । सभी सानुबन्धक हे तथापि दाधा ध्वदाप्  
इस सूत्र में धा यह निरनुबन्धक का अग्रहण है । उस से निरनुबन्धक परिभाषा की

समानशब्दाप्रतिषेधोऽर्थवद्ग्रहणात् ।

समानशब्दानामप्रतिषेधः । अनर्थकः प्रतिषेधः अप्रतिषेधः ।  
धुसंज्ञा कस्मान्न भवति । अर्थवद्ग्रहणात् । अर्थवतो दाधोर्ग्रहणात् । न  
चैतावर्थवन्तौ ।

अनुपसर्गाद्वा ।

अथवा यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति । न  
चैतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः ।

यद्येधम् इहापि तर्हि न प्राप्नोति । प्रणिदापयति । प्रणिधापयति ।

दाधा के समान शब्दों की धुसंज्ञा का निषेध स्वर्थ है अर्थवद्ग्रहणे  
नानर्थक्यस्य इस परिभाषा से दाधा की धुसंज्ञा में अर्थवान् दाधा लिये जायेंगे ।  
प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में दार्, धार् धातुओं के सार्थक होने पर भी उनके अवयव  
दा धा अनर्थक हैं । अनर्थक होने से उनकी धुसंज्ञा नहीं होगी तो नि को  
णत्व नहीं होगा । अथवा—प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में दा धा की धुसंज्ञा मान  
भी हैं तो भी प्रति शब्दों के दाधा के प्रति उपसर्ग न होने से णत्व नहीं होगा ।  
क्योंकि प्र परा आदि का जिस धातु की क्रिया के साथ योग होता है उसके प्रति ही  
वे गति या उपसर्गसंज्ञक होते हैं । प्रनिदारयति, प्रनिधारयति में प्र नि का योग  
दा धा के प्रति नहीं है अपि तु दार्, धार् के प्रति है इस लिये दार्, धार् के  
प्रति ही वे उपसर्ग हैं दा धा के प्रति नहीं ।

फिर तो प्रणिदापयति, प्रणिधापयति यहाँ भी धुसंज्ञा नहीं होनी चाहिये ।  
क्योंकि यहाँ भी दा धा धातुओं से णिच् परे रहते पुक् का आगम हो कर दाप्

प्राप्ति संभव है । वह अनित्य मानी जायगी तो धेद् भी धाम् के समान धा रूप से  
गृहीत होगी । वस्तुतः धेद् की धुसंज्ञा में दो दद् घोः सूत्र का दः ग्रहण ही ज्ञापक  
है । वही घोः की विद्यमानता में भी जो दः ग्रहण किया है वह सिद्ध करता है कि धेद्  
धातु की धुसंज्ञा होती है । दा धातु धुसंज्ञक है ही । धा को दधातेर्हिः से हि आदेश हो  
जायगा । दो को वृत्तिस्यतिमास्था० से इत्त्व हो जायगा । अन्त में दा से भिन्न  
देह् धेद् ही रहती हैं । वे यदि धुसंज्ञक न हों तो घोः इस अंश से ही व्यावृत्त हो  
सकती हैं । घोः के रहते हुए जो दः कहा है वह देह् धेद् की धुसंज्ञा को सिद्ध करता  
है । दः कहने से धुसंज्ञक उन दोनों की दध् आदेश में व्यावृत्ति हो जाती है ।  
दत्तः दत्तवान् ये दा के रूप होंगे । देह् धेद् के धुसंज्ञक होने से दीत्, दीतवान्,  
भीतः धीतवान् रूप बनेंगे । घुमावस्था से ईत्त्व धुसंज्ञक होने पर ही हो सकता है ।

अत्रापि नैतौ दाधावर्थवन्तौ । नाप्येतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः ॥

न वार्थवतो ह्यागमस्तद्गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते यथान्यत्र ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थ-  
यद्ग्रहणेन गृह्यते । यथान्यत्र । तद्यथा अन्यत्रापि अर्थवत आगमोऽर्थवद्-  
ग्रहणेन गृह्यते । यथान्यत्र । लविता चिकीर्षितेति ।

युक्तं पुनर्यन्नित्येषु शब्देष्वागमशासनं स्यात् । न नित्येषु  
नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भविष्यन्तपायोपजनविकारिभिः ।  
'आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः' । अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशः  
स्युः । दाढं युक्तम् । शब्दान्तरैरिह भविष्यम् । तत्र शब्दान्तराच्छब्दान्तर-  
स्य प्रतिपत्तिर्युक्ता ॥

आदेशास्तर्हिमे भविष्यन्ति । अनागमकानां सागमकाः । तत् कथम् ।

धाप् ये रूप बनते हैं । उसमें दाप् धाप् ही अर्थवान् हैं । उनके अवयव दा धा नहीं ।  
प्र नि का योग भी दाप् धाप् की क्रिया के साथ है, दा धा की क्रिया के  
साथ नहीं ।

प्रणिदापयति, प्रणिधापयति में घुसना का अभाव रूप दोष नहीं आता । क्यों ?  
अर्थवान् को होने वाला आगम उसका अवयव बना हुआ उस अर्थवान् के ग्रहण  
में गृहीत हो जाता है । जैसे—अन्यत्र, लविता (दू-इद, तृच्) चिकीर्षिता (चिकीर्ष-  
इद् तृच्) आदि में अर्थवान् तृच् को हुआ इद् का आगम तृच् के ग्रहण से  
गृहीत होता है । उसी प्रकार प्रणिदापयति, प्रणिधापयति में अर्थवान् दा धा को  
हुआ पुक् का आगम दा धा ग्रहण से गृहीत हो जायगा तो घुसना हो जायगी ।

क्या यह ठीक है कि शब्दों को नित्य मानते हुए उन में पुक् आदि आगम  
किये जावें । क्या नित्यशब्दों में वर्णों को कूटस्थ अविचल तथा लोप विकार वृद्धि  
विनाश से रहित नहीं होना चाहिये ? अवश्य होना चाहिये । आगम तो एक प्रकार  
से नये शब्द का जोड़ होता है । क्या फिर नित्य शब्दों में आदेशों का होना  
ठीक है ? बिल्कुल ठीक है । आदेशों में तो एक शब्द का स्थान दूसरा शब्द ले लेता है ।  
उसमें कहीं घटती बढ़ती का अवकाश नहीं । सभी शब्द नित्य हैं । पहले शब्द के  
स्थान में दूसरे शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है ।

तो फिर पुक् इद् आदि को आगम न मानकर आदेश मान लीजिये । तृच् को  
इद् का आगम होता है यह कह कर तृच् के प्रयोग में इत्तृच् का प्रयोग किया

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।  
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥

दीढः प्रतिषेधः स्थाध्वोरित्त्वे ।

दीढः प्रतिषेधः स्थाध्वोरित्त्वे चकव्यः । उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्येति । 'मीनातिमिनोती'त्यात्वे कृते स्थाध्वोरित्त्वेतीत्वं प्राप्नोति ।

कुतः पुनरयं दोषो जायते । किं प्रकृतिग्रहणादाहोस्विद् रूपग्रहणात् ॥

रूपग्रहणादित्याह ।

इह खलु प्रकृतिग्रहणाद् दोषो जायते । उपदिदीषते । 'सनि मीमाधुरभलमे'ति ।

नैप दोषः । दाप्रकृतिरित्युच्यते । न खेयं दाप्रकृतिः । आकारा-

जायगा । इस प्रकार आगमरहित शब्दों के स्थान में आगमसहित आदेश हो जायेंगे । सो कैसे ? दाक्षी के पुत्र पाणिनिमुनि के मत में सभी आदेश सम्पूर्ण शब्द के स्थान में प्रयुक्त होते हैं । शब्द के आदि मध्य अन्त रूप किसी एक देश में होने पर तो शब्द की नित्यता नहीं रह सकती ।

स्थाध्वोरित्त्व से विधीयमान इत्त्व के विषय में दीङ् धातु की घुसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये । उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्य (इस शिक्षक का स्वर क्षीण हो गया=गळा बैठ गया है) यहाँ उपादास्त में उप पूर्वक दीङ् धातु से लुङ् में सिच् पर रहते एज् विषय में मीनातिमिनोति० सूत्र से आवृत्ति हो कर दी का दा बनता है । दा रूप होने से घुसंज्ञा हो जायगी तो स्थाध्वोरित्त्व से कित्त के साथ इत्त्व प्राप्त होता है ।

उपादास्त में क्या मान कर घुसंज्ञा का दोष प्राप्त होता है । क्या दा प्रकृति मान कर या दा रूप मान कर ?

दा रूप मान कर यहाँ घुसंज्ञा प्राप्त होती है ।

लेकिन उपदिदीषते (उप दीङ्-सन्-त) यहाँ उप पूर्वक सम्बन्ध दीङ् धातु में तो दा प्रकृति मान कर घुसंज्ञा प्राप्त होती है । सन् पर रहते द्यो धल से कित्त हो जायगा तो गुण न होने से एज् विषय न रहेगा । एज् विषय न रहने से दी ही रहेगा । तब दा की प्रकृति दी शब्द की घुसंज्ञा हो कर सनि मी मा ॥ रम० ॥ अभ्यास छोप और इस् आदेश प्राप्त होगा ।

यह कोई दोष नहीं । घुसंज्ञा में दाप्रकृति कहा है । आकारान्तों की प्रकृति एजन्त होती है एजन्तों की प्रकृति ईकारान्त होती है । प्रकृति की जो प्रकृति है वह

न्तानामेजन्ताः प्रकृतयः । एजन्तानामपीकारान्ताः । न च प्रकृतेः प्रकृतिः प्रकृतिग्रहणेन गृह्यते ।

स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

न वक्तव्यः । घुसझा कस्मान्न भवति । 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विधातस्ये'त्येव न भविष्यति ।

दाप् प्रतिषेधे न दैप्यनेजन्तत्वात् ।

दाप् प्रतिषेधे दैप्यप्रतिषेधो न प्राप्नोति । अवदातं मुख्यम् । ननु चात्वे कृते भविष्यति । तद्वयात्त्व न प्राप्नोति । किं कारणम् । अनेजन्तत्वात् ।

सिद्धमनुबन्धस्यानकान्तत्वात् ।

प्रकृतिग्रहण से गृहीत नहीं होती । उपदिदीयते में दो यह दा की प्रकृति नहीं मानी जा सकती । दे की प्रकृति तो हो सकती है । दा प्रकृति न होने से यही घुसझा नहीं होगी तो कोई दोष न होगा ।

तो फिर उपादास्त में दोह की घुसझा का निषेध कइ दिया जाय ?

घुसझा का निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । घुसझा क्यों नहीं होती ? सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विधातस्य इस परिभाषा से उपादास्त में घुसझा नहीं होगी । इस परिभाषा का अर्थ है—'तो दो के सम्बन्ध से कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध का नष्ट करने वाले विधि का निमित्त नहीं होता । सानगन-सम्पणो विधि = दो के सम्बन्ध से होने वाला कार्य । तद्वयात्त्वम् = उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाले का । अनमित्तम् = हेतु नहीं बनता । उपादास्त में निम सिच् के अकिञ्च क कारण दोह को आत्व हो कर दा बना है वह दा बन कर घुसझा द्वारा स्याज्जोरत्त्व से सिच् को कित् नहीं कर सकता । घुसझा हो जाने से सिच् क अकिञ्च का विधात होता है इसलिये घुसझा नहीं होगी ।

दाधा ध्वदान० यहा दाप् घातु की घुसझा क निषेध में दैप्य घातु का निषेध नहीं प्राप्त होता । अवदात मुख्यम् (मुद् मुख्य) यहा अब पूर्वक दैप्य घातु से वत् प्रत्यय पर रहते घुसझा का निषेध इष्ट है । घुसझा न होने से यव जनसर्गात् से तकार आदान नहीं होगा तो अवदात मुख्यम् यह इष्ट रूप बन जायगा । आदेच उपदेशे० से आत्व करन पर दाप् बन जायगा फिर अदाप् से निषेध हो जायगा । वह आत्व ही तो नहीं प्राप्त होता । क्यों ? एवन्त न होने से । दैप् के अन्त में पकार है । एप् नहीं है तो आदेच उपदेशे० से आत्व कैस होगा ?

१. व सन्निपात विहन्तीति तद्विधात । कर्मण्यन् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अनुबन्धस्यानेकान्तत्वात् । अनेकान्ता अनुबन्धाः ।

पितृतिषेधाद्वा ।

अथवा दाधा प्वपिदिति वक्ष्यामि । तच्चावश्यं वक्तव्यम् । अदा-  
बिति ह्युच्यमाने इहापि प्रसज्येत प्रणिदापयतीति । शक्यं तावदनेनाबिति  
ब्रुवता चान्तस्य प्रतिषेधो विज्ञानुम् ॥

सूत्रं तर्हि भिद्यते ॥

यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं दाप् प्रतिषेधे न द्वैपीति । परिहृत-  
मेतत् 'सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वादिति' । अथैकान्तेषु दोष एव ।

दैप् की घुसंज्ञा का निषेध सिद्ध हो जायगा । कैसे ? अनुबन्ध के अनेकान्त  
अर्थात् अनवयव होने से । दैप् का प्रकार अनुबन्ध धातु का अवयव नहीं माना जायगा  
तो दै के पृजन्त होने से आप्त हो जायगा । अनेकान्ता अनुबन्धाः यह परिभाषा  
है । इस का अर्थ है अनुबन्ध धातु आदि के अवयव नहीं होते । अथवा दा धा  
प्वपित् ऐसा सूत्र बनायेंगे । उसमें अपित् शब्द से पित् का निषेध होगा तो दाप्  
दैप् दोनों निषिद्ध हो जायेंगे । दा धा प्वपित् ऐसा सूत्र अवश्य बनाना ही चाहिये ।  
अदाप् कहने से तो प्रणिदापयति यही णिजन्त दा धातु में भी दाप् रूप होने ॥  
घुसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है । वैसे प्रणिदापयति में घुसंज्ञा का निषेध रोकने  
के लिये यह भी तरीका है कि दा धा प्वदाप् में दाप् का निषेध न कर के दाप् का  
निषेध करें । दाधा प्वदाप् आद्यन्तवदेकस्मिन् इस संहिता पाठ में अदाप् कहता हुआ  
यह अभ्येता अदाप् के समान अदाप् भी तो समझ सकता है । क्योंकि सन्धि में  
पकारान्त तथा बकारान्त दोनों ही निकल सकते हैं । उस अवस्था में दाप् का  
निषेध न मान कर दाप् का निषेध मानेंगे तो दाप् दैप् दोनों धातु धातुपाठ में  
बकारान्त पढ़ दिये जायेंगे । प्रणिदापयति में दाप् न होने से घुसंज्ञा का निषेध  
न होगा ।

दा धा प्वपित् इस न्यास को मानने पर पाणिनि का दा धा प्वदाप् यह  
सूत्र तो बदलना होगा ।

जैसा पाणिनि का दा धा प्वदाप् यह सूत्र है वैसा ही रहने दीजिये । यह जो  
कहा था कि दाप् के निषेध में दैप् का निषेध नहीं प्राप्त होता उसका समाधान  
अनुबन्ध के अनेकान्त होने से कर दिया था । अनेकान्ता अनुबन्धाः इस परिभाषा  
के समान एकान्ता अनुबन्धाः यह परिभाषा भी है । इसका अर्थ है—अनुबन्ध  
धातु आदि के एकान्त अर्थात् अवयव होते हैं । अनुबन्धों के एकान्त मानने के पक्ष



एकान्तेष्वपि न दोषः । आत्वे कृते भविष्यति । ननु चोक्तं तज्ज्ञात्वं न प्राप्नोति । किं कारणम् अनेजन्तत्वादिति । पकारलोपे कृते भविष्यति । नह्ययं तदा दाप् भवति । भूतपूर्वगत्या भविष्यति । एतच्चात्र युक्तम् । यत्सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु भूतपूर्वगतिर्विज्ञायते । अनैमित्तिको ह्यनुबन्धलोपस्तावत्येव भवति । अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वमिति । यद्यमुदीचां माळो व्यतिहारे इति मेळः सानुबन्धकस्यास्यभूतस्य ग्रहणं करोति । अथवा दावेवायं न दैयस्ति । कथमयदायति । इयन् विकरणो भविष्यति ॥

### आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥१॥१॥२१॥

मे दोष ही है । एकान्त मानने पर भी दोष नहीं है । दैप् को आत्व करने पर दाप् बन जायगा । यह जो कहा था कि एजन्त न होने से आत्व नहीं प्राप्त होता पकार का लोप करने पर एजन्त बन जायगा । तब यह दाप् नहीं रहता तो भूतपूर्वगति से दाप् समझ लिया जायगा । पहले दैप् अवस्था में पकार था । पकार का लोप हो कर आत्व होने से दा बन गया । भूतपूर्व पकार के कारण दाप् बन जायगा । भूतपूर्वगति वाली बात यहाँ ठीक बैठती है । सभी सानुबन्धक शब्दों में भूतपूर्वगति से काम लिया जाता है । भूतपूर्व गति का अर्थ है—जो पहले था उसके बाद में न रहने पर भी उसकी पहली सत्ता को मान कर काम करना । क्योंकि अनुबन्ध का लोप तो अनैमित्तिक है । बिना निमित्त के होने से इत्संज्ञा होते ही हो जाता है । तावत्सर्व=वही समय, उतने में ही अर्थात् इत्संज्ञा होते ही । अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर उसकी पहली सत्ता को मान कर उसका कार्य किया जाता है । अथवा आचार्य का व्यवहार इस बात का शापक है कि अनुबन्ध के कारण एजन्तत्व का अभाव नहीं होता । अर्थात् अनुबन्ध रहते हुए भी एजन्त बना रहता है । उदीचा माळो व्यतिहारे इस सूत्र में जो ङकार अनुबन्ध सहित मेळ धातु को एजन्त मान कर आदेश उप० सिं आत्व-विधान द्वारा माळः यह निर्देश किया है वही इस बात को सिद्ध करता है कि अनुबन्ध से एजन्तत्व का विघात नहीं होता । नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् यह परिभाषा है । इसका अर्थ स्पष्ट है—अनुबन्ध का किया हुआ एजन्तत्व का अभाव नहीं होता ।

अथवा दैप् शोधने धातु को भी दाप् शोधने बना कर दिवादि गण में पड़ देना चाहिये जिससे अदाप् में दाप्, दैप् का झगड़ा ही न रहे । दैप् का दाप् होने पर अवशयति यह रूप कैसे बनेगा । दिवादिगणीय धातु हो जाने से इयन् विकरण हो कर बन जायगा ।

किमर्थमिदमुच्यते ?

सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम् ।

सति अन्यस्मिन् यस्मात् पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते ।  
सति अन्यस्मिन् यस्मात् परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्त इत्युच्यते ।  
सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावादेतस्मात् कारणात् एकस्मिन्नाद्यन्तापदिष्टानि  
कार्याणि न सिध्यन्ति इष्यन्ते च स्युरिति । ताभ्यन्तरेण यत्नं न सिध्यन्ति  
इत्येकस्मिन्नाद्यन्तवद् वचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

तत्र व्यपदेशिवद्वचनम् ।

तत्र व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः । व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीति  
वक्तव्यम् ।

किं प्रयोजनम् ?

एकाचो द्वे प्रथमार्थम् ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ।

अन्य के होने पर जिससे पूर्व नहीं है पर है वह आदि कहाता है । अन्य के होने पर ही जिससे पर नहीं है पूरे है वह अन्त कहाता है । इस प्रकार आदि अन्त का व्यवहार अन्य के होने पर होता है । अकेले में नहीं हो सकता । इस कारण एक ही में आदि अन्त को कहे हुए कार्य नहीं किये जा सकते । इष्ट है कि अकेले में भी वे हों । वे बिना यत्न के सिद्ध नहीं होते इसलिये यह सूत्र बनाया है ।

यह सूत्र का प्रयोजन ठीक है । किन्तु आद्यन्तवदेकस्मिन् की जगह व्यपदेशिवदेकस्मिन् यह सूत्र या परिभाषा बना कर व्यपदेशिवद्भाव कहना चाहिये । अमुप्य में मुख्य के समान व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं ।<sup>१</sup>

व्यपदेशिवद्भाव का क्या प्रयोजन है ?

१ निमित्त होने से जिसका मुख्य व्यपदेश है वह व्यपदेशी है । पर पाठ एक अच् वाला शब्द रूप है, एकाच् इसका मुख्य व्यपदेश है । इ (ण्) यह अच् रूप ही है, एकाच् नहीं । तो भी व्यपदेशी पर की तरह इसके विषय में भी कार्य होगा । यही व्यपदेशिवद्भाव है ।

वक्ष्यति—‘एकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देश’ इति । तस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात् पपाच पपाठ । इयाय आर इत्यत्र न स्यात् । व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ।

पत्रे चादेशसम्प्रत्ययार्थम् ।

वक्ष्यति—‘आदेशप्रत्यययोरित्यवयवपण्ठी’ति । एतस्मिन् क्रियमाणे इहैव स्यात् करिष्यति हरिष्यति । इहन स्यात् इन्द्रो मा वक्षत्, स देवान् यक्षदिति । व्यपदेशिवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ।

स तर्हि व्यपदेशिवद्भावावो वक्तव्यः ।

न वक्तव्यः ।

अवचनान्त्रिकविज्ञानात् सिद्धम् ।

एकाचो द्वे प्रथमस्य सूत्र पर कहेंगे कि एकाचः यह बहुव्रीहि समास का निर्देश है । एकः अच् यस्मिन् स एकाच् इस प्रकार बहुव्रीहि समास मान कर एक अच् वाला यह अर्थ यहाँ लिया जायगा । इस अर्थ को लेने पर पपाच, पपाठ (पच् पड़-लिट्, तिप् णङ्) यहाँ द्वित्व हो सकेगा । पच्, पड़ दोनों एक अच् वाले हैं किन्तु इयाय (इण्-लिट्, तिप् णङ्) आर (अ-लिट्, तिप्, णङ्) यहाँ द्वित्व न हो सकेगा । इ और अर ये एक अच् वाले न हो कर एक अच् रूप हैं । व्यपदेशिवद्भाव से एक अच् रूप को एक अच् वाला मान कर यहाँ भी द्वित्व सिद्ध हो जायगा । आदेशप्रत्यययोः सूत्र पर कहेंगे कि यहाँ प्रत्यय शब्द में जो पण्ठी है वह अवयवपण्ठी है । अर्थात् प्रत्यय के अवयव सकार को पत्र होता है । प्रत्ययावयव सकार को पत्र मानने पर करिष्यति हरिष्यति (कृ, हृ-स्यति) यहाँ सकार को पत्र हो सकेगा । यहाँ स्य प्रत्यय का अवयव सकार है । किन्तु इन्द्रो मा वक्षत्, स देवान् यक्षत् इन वैदिक प्रयोगस्थ वक्षत् यक्षत् (बह्, यञ्-लेट्, सिप्, तिप्) में सिप् विकरण के सकार को पत्र न हो सकेगा । तिप् यह प्रत्यय रूप सकार है प्रत्यय का अवयव सकार नहीं है । व्यपदेशिवद्भाव से प्रत्यय रूप सकार को भी प्रत्यय का अवयव सकार मान कर पत्र सिद्ध हो जायगा ।

तो फिर व्यपदेशिवद्भाव कह दिया जाय ?

व्यपदेशिवद्भाव के कहने की आवश्यकता नहीं । बिना कहे लोकव्यवहार से

१. वचनस्याभावः अवचनम् ।

२. विज्ञान शब्द का यहाँ व्यवहार अर्थ है ।

अन्तरेणैव घचनं लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत् । तद्यथा लोके शालासमुदायो ग्राम इत्युच्यते । भवति चैतदेकस्मिन्नपि एकशालो ग्राम इति ।

विषय उपन्यासः । ग्रामशब्दोऽयं बहुवचनः । अस्-येव 'शालासमुदाये' वर्तते । तद्यथा ग्रामो दग्धः इति । अस्ति 'वाटपरिक्षेपे' वर्तते । तद्यथा ग्रामं प्रविष्ट इति । अस्ति च 'मनुष्येषु' वर्तते । तद्यथा ग्रामो गतो ग्राम आगत इति । अस्ति 'सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके' वर्तते । तद्यथा ग्रामो लब्ध इति । तद् य. सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तमभिसमीक्ष्येतत् प्रयुज्यते एकशालो ग्राम इति ।

यथा तर्हि वर्णसमुदाय पदम् । पदसमुदाय ऋक् । ऋरु समुदाय. सूक्तमित्युच्यते । भवति चैतदेकस्मिन्नप्येकवर्ण पदम् एकपदा ऋक्, एकैव सूक्तमिति ।

अत्राप्यर्थेन युक्तो व्यपदेशः । पद<sup>१</sup> नामार्थः । ऋक् नामार्थः ।

ही यह सिद्ध हो जायगा । जैसे शालासमुदाय (बहुत घरों का समूह) ग्राम कहा जाता है किन्तु लोक में एक शाला वाले में भी ग्राम शब्द का प्रयोग देखता है । यह एक घर का ग्राम है ।

यह ग्राम का उदाहरण ठीक नहीं । क्योंकि ग्राम शब्द के बहुत से अर्थ हैं । शालासमुदाय वाटपरिक्षेप (खेतों की रखवाली के लिये बनाई हुई बाड़ या बाड़ा) अन्तर्गत मनुष्य जंगल खेतों की सीमा, पहाड़ डील आदि ये सब ग्राम कहाते हैं । उन में समीपवर्ती जंगल खेत की सीमा, डीले आदि अर्थ के विचार से हमें ग्राम मिला है यह एक शाला वाला ग्राम है ऐसा प्रयोग होता है । गाव के पास जंगल में या खेत की सीमा में बने एक घर को देख कर कह देते हैं यह एक घर का गांव है ।

ग्राम का उदाहरण न सही, यह दूसरा उदाहरण लीजिये । वर्णों के समूह को पद पदों के समूह को ऋचा और ऋचाओं के समूह को सूक्त कहते हैं । किन्तु लोक में एक वर्ण में भी पद शब्द का, एक पद में भी ऋचा शब्द का और एक ऋचा में भी सूक्त शब्द का प्रयोग होता है । जैसे यह एक अक्षर का पद है । यह एक पद की ऋचा है । यह एक ऋचा का सूक्त है ।

यहाँ भी अर्थ की दृष्टि से वैसा प्रयोग होता है । यह एक अक्षर वाला पद

१ पद से यहाँ पाद समझना चाहिये, क्योंकि एकपद-रूप कोई ऋचा नहीं है ।

२ पद के अर्थ को अमेदोपचार से पद बहु दिया है । एकवर्ण पदम् इत्यादि में एकवर्णादि बहुव्रीहि का पदार्थादि अन्य पदार्थ है ।

सूक्त नामार्थे इति ।

यथा तर्हि बहुषु पुत्रेषु एतदुपपन्नं भवति अय मे ज्येष्ठोऽयं मे मध्यमोऽय मे कनीयानिति । भवति चेतदेकस्मिन्नपि अयमेव मे ज्येष्ठोऽयमेव मे मध्यमोऽयमेव मे कनीयानिति ।

तथाऽसूतायामसोप्यमाणायां च भवति प्रथमगर्भेण हतेति ।

तथाऽनेत्यानाजिगमिपुराह-इदं मे प्रथममागमनमिति ॥

आद्यन्तवद्भावश्च शम्भोऽवस्तुम् । कथम् ।

अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादाद्यन्तयो सिद्धमेकस्मिन् ।

अपूर्वलक्षण आदिः, अनुत्तरलक्षणोऽन्तः, एतच्चेकस्मिन्नपि

का अर्थ है । यह एक पद वाला ऋचा का अर्थ है । यह एक ऋचा वाला सूक्त का अर्थ है ।

अष्टा तो यह उदाहरण लीजिये । बहुत से पुत्रों के होने पर तो यह कहना ठीक बनता है कि यह पुत्र मेरा बड़ा है, यह बिचला है और यह सब से छोटा है । किन्तु लोक में एक ही पुत्र के होने पर भी यह व्यवहार वीक्षता है कि यही पुत्र मेरा बड़ा है, यही बिचला है और यही सब से छोटा है । इसी प्रकार जो स्त्री पहले कभी प्रसूत नहीं हुई और आगे भी किसी कारणवश प्रसूत न होने वाली है उसके कुक्षिस्थ गर्भ के कारण जब उसकी मृत्यु हो जाती है तब यह प्रयोग होता है कि वह स्त्री पहले गर्भ से मारी गई । जिस स्त्री का अनेक बार प्रसव हो चुका है, वही प्रथम गर्भ यह व्यवदेश ठीक है और जिसका प्रसव आगे होगा वही भी पूर्वोत्पन्न पुत्र से मारे जाना संगत है पर प्रकृत में प्रथम गर्भ से मारी गई ऐसा प्रयोग कैसे हुआ । किन्तु ऐसा प्रयोग होता है । ऐसा लोकव्यवहार है । इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी के घर पहले कभी नहीं आया और आगे भी कारणवश वहाँ कभी जाने की इच्छा नहीं रखता है वह एक बार उसके घर में जा कर कहता है कि यह मेरा आपके घर में पहला आगमन है । यहाँ एक ही आगमन में पहला आगमन यह प्रयोग जिस आधार पर किया गया । किन्तु लोक में ऐसा प्रयोग होता है । इस लिये लोक व्यवहार से ही सिद्ध हो जाने पर (शास्त्र में) व्यवदेशवद्भाव कहने की आवश्यकता नहीं ।

आद्यन्तवद्भाव वाले इस सूत्र के कहने की भी कोई आवश्यकता नहीं । क्यों ? आदि का लक्षण हम यह नहीं करेंगे कि जिस से पूर्व नहीं है पर है वह

भवति । अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वाद् एतस्मात् कारणाद् एकस्मिन्नप्या-  
द्यन्तापदिष्टानि कार्याणि भविष्यन्तीति नार्थ आद्यन्तवद्भावेन ।

गोनर्दीयस्त्वाह सत्यमेतत् सति त्वन्यस्मिन्निति ।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ।

आदिवत्त्वे प्रयोजनं प्रत्ययज्निदाद्युदात्तत्वे ।

प्रत्ययस्यादिरुदात्तो भवतीति इहैव स्यात् कर्तव्यं, तैत्तिरीयः ।

औपगवः कापटवः इत्यत्र न स्यात् । जित्यादिर्नित्यम् इति इहैव स्यात्  
अहिचुम्बकायनिः, आग्निवेश्यः । गार्ग्यः, कृतिः इत्यत्र न स्यात् ।

आदि है अपितु यह (इतना ही) करेंगे कि जिस से पूर्व नहीं है वह आदि है । पर  
हो या न हो उस की जरूरत नहीं । इसी प्रकार अन्त का लक्षण यह नहीं करेंगे कि  
जिस से पर नहीं है पूर्व है वह अन्त है अपितु यह करेंगे कि जिस से पर नहीं है  
वह अन्त है । पूर्व में हो या न हो उस की अपेक्षा नहीं । आदि अन्त का यह  
लक्षण एक में भी घट जायगा । क्योंकि जब एक ही अक्षर है तो उसके पूर्व में  
कुछ न होने में वही आदि है । पर में भी कुछ न होने से वही अन्त है ।

गोनर्दीय अर्थात् भाष्यकार तो यह कहते हैं कि अन्य के होने पर ही आदि  
अन्त का व्यवहार ठीक बनता है अकेले में नहीं इस लिये आद्यन्तवत्करिम्न इस  
सूत्र की आवश्यकता अवश्य माननी चाहिये ।

इस सूत्र के प्रयोजन क्या है ?

आदिवद्भाव के तो ये प्रयोजन हैं । आद्युदात्तत्वं से प्रत्यय के आदि अक्षर  
को उदात्त कहा है वह कर्तव्यम् (कृतव्यम्) तैत्तिरीय. ( तित्तिरि-उण्=ईय ) यहीं  
प्राप्त हो सकता है । तव्य और ईय प्रत्ययों में कई अक्षर होने से उन के आदि  
अक्षर त और ई हो जाते हैं । किन्तु औपगवः कापटवः ( उपगु, कपटु-अण् ) यहाँ  
केवल एक अक्षर वाले अण् प्रत्यय में नहीं प्राप्त हो सकता । इस सूत्र में एक को भी  
आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाता है । जित्यादिर्नित्यम् से जित् नित् प्रत्यय  
पर रहते प्रकृति को आद्युदात्त कहा है । वह अहिचुम्बकायनिः ( अहि चुम्बक-  
किन्=आयनि ) आग्निवेश्य. ( अग्निवेश-यञ् ) यहाँ ही प्राप्त हो सकता है । क्योंकि  
अहिचुम्बक अग्निवेश शब्दों में कई अक्षर होने से उन के आदि अक्षर दोनों अकार  
हो जाते हैं । किन्तु गार्ग्यः ( गार्ग=गार्ग्य-यञ् ) कृतिः ( कृ-तिन् ) यहाँ केवल गा  
और कृ ये एक अक्षर होने से प्राप्त नहीं हो सकता । एक को भी आदिवद्भाव से

बलादेरार्धधातुकस्येड् ।

बलादेरार्धधातुकस्येड् प्रयोजनम् । आर्धधातुकस्येड् बलादेरिती-  
हैव स्यात् करिष्यति हरिष्यति । जोषिषत् मन्दिषदित्यत्र न स्यात् ।

यस्मिन्विधिस्तदादित्वे ।

यस्मिन् विधिस्तदादित्वे प्रयोजनम् । ब्रूयति यस्मिन् विधि-  
स्तदादावल्प्रहण इति । तस्मिन् क्रियमाणे 'अधि इन्धुधातुभ्रुवां प्योरियडु-  
वडां' इति इहैव स्यात् ध्रियः भ्रुवः । ध्रियौ भ्रुवौ इत्यत्र न स्यात् ।

अजाद्यादृते ।

अजाद्यादृते प्रयोजनम् । 'आडजादीनाम्' इति इहैव स्यात् ऐहिष्ट  
ऐक्षिष्ट । ऐष्ट अभ्येष्ट इत्यत्र न स्यात् ।

आदि मान कर हो जाता है । आर्धधातुकस्येड् वजरेः से बलादि आर्धधातुक को  
इड् का आगम कहा है । यह करिष्यति हरिष्यति (कृ ह स्यति) यहाँ ही प्राप्त  
हो सकता है । क्योंकि आर्धधातुक स्य प्रत्यय में कई अक्षर होने से उस के आदि  
में सकार होने से यह बलादि है । किन्तु जोषिषत् मन्दिषत् (जुप् मन्द्-सिप् तिप्)  
यहाँ सिप् धिकरण (आर्धधातुक प्रत्यय) के केवल एक अक्षर रूप (स्) होने से प्राप्त  
नहीं हो सकता । एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाता है ।

यस्मिन् विधिस्तदादावल्प्रहणे यह परिभाषा आगे येन विधिस्तदन्तस्य  
सूत्र पर करेंगे । उस से अल् प्रहणविषयक सप्तमी विभक्ति के निर्देशों में वदादि-  
विधि होती है । जैसे अचिरनुगानु० सूत्र में अधि यह सप्तमी विभक्ति प्रत्यय का  
विशेषण है । उस में वदादिविधि हो कर अजादि अर्थ होता है । अजादि प्रत्यय पर होने  
पर इयङ् उवङ् होंगे तो ध्रियः भ्रुवः (श्री भू-नस्) यहाँ ही वे प्राप्त हो सकेंगे ।  
जस् प्रत्यय में कई अक्षर होने से अकार आदि में हो जाता है । किन्तु ध्रियौ भ्रुवौ  
(श्री भू-भौ) यहाँ केवल एक अक्षर रूप औ के परे होने पर प्राप्त न हो सकेंगे ।  
एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाते हैं ।

आडजादीनाम् से अजादि अङ्गों को आट का आगम कहा है वह ऐहिष्ट ऐक्षिष्ट  
(ईह ईश्-सिच् लुङ् व) यहाँ ही प्राप्त हो सकता है । क्योंकि ईह ईश् में कई  
अक्षर होने से उन का आदि अक्षर ई यह अच् हो जाता है । किन्तु ऐष्ट अघ्येष्ट  
(ईह्, अधि इह्-सिच् लुङ् व) यहाँ ईह् और इह् अङ्गों के केवल एक अच् रूप होने

अथान्तवत्त्वे कानि प्रयोजनानि ?

अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे ।

अन्तवद् द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे प्रयोजनम् । ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् इतीहैव स्यात् पचेते इति, पचेथे इति । खद्वे इति, माले इति इत्यत्र न स्यात् ।

मिदचोन्त्यात्परः ।

मिदचोऽन्त्यात्परः प्रयोजनम् । इहैव स्यात् कुण्डानि वनानि । तानि यानीत्यत्र न स्यात् ।

अचोन्त्यादि टि ।

अचोन्त्यादि टि प्रयोजनम् । टित आत्मनेपदानां टेरे इतीहैव स्यात्

से प्राप्त नहीं हो सकता । एक को भी आदिवद्भाव से आदि मान कर हो जाता है ।

अन्तवद्भाव के क्या प्रयोजन हैं ?

अन्तवद्भावके ये प्रयोजन हैं—ईदूदेवं सूत्र से ईकारान्त, उकारान्त, एकारान्त, द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा कही है वह पचेते इति पचेथे इति (पच्-भाताम्, आधाम्=आति, आधे) यहाँ ही प्राप्त हो सकती है क्योंकि आति, आधे में कई अक्षर होने से एकारान्त द्विवचन हो जाता है । किन्तु खद्वे इति, माले इति (खदवा माला-शी=ई) यहाँ शी की ई के केवल एक ईकाररूप या एकाररूप होने से प्राप्त नहीं हो सकती । एक को भी अन्तवद्भाव से अन्त मान कर हो जाती है ।

मिदचोन्त्यात्परः से मित् (नुम्) का आगम अन्तिम अच् से पर कहा है । वह कुण्डानि वनानि यहाँ ही प्राप्त हो सकता है क्योंकि कुण्ड और वन में कई अक्षर होने से अन्तिम अच् ड और न का अकार हो जाता है । किन्तु तानि यानि (तद्=त, यद्=य, जस् शि) यहाँ तद्, यद् के त, य शब्दों में एक ही अच् होने से नहीं प्राप्त हो सकता । एक को भी अन्तवद्भाव से अन्त मान कर हो जाता है ।

अचोन्त्यादि टि से अचों के मध्य में अन्तिम अच् की टि संज्ञा कही है । वह टित आत्मनेपदाना टे रे से टि को एत्व करने में उपयुक्त होगी । उससे कुर्वाते, कुर्वाथे (कृ-आताम्, आधाम्) यहाँ आताम्, आधाम् में कई अक्षर होने से अन्तिम अच् ता, था का आ हो जायगा तो आम् की टि संज्ञा हो कर टेरेव सिद्ध हो जाया है । किन्तु कुरते (कृ-ठ) कुरे (कृ-इद) यहाँ क



कुर्वाते कुर्वाथे । कुरुते कुर्वे इत्यत्र न स्यात् ।

अलोन्त्यस्य ।

अलोन्त्यस्य प्रयोजनम् । अतो दीर्घो यञि सुपि च इहेव स्यात् घटाभ्या पटाभ्यामिति । आभ्याम् इत्यत्र न स्यात् ।

येनविधिस्तदन्तत्वे ।

येन विधिस्तदन्तत्वे प्रयोजनम् । अथो यत् इहेव स्यात् चेय ज्ञेयम् । एयमध्येयमित्यत्र न स्यात् । आद्यन्तवदेकस्मिन् कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ।

तरप् तमपौ घः ॥१॥१॥२॥

घसहाया नदीतरे प्रतिषेधः ।

और इद् प्रत्ययो में केवल एक अक्ष हाये से अन्तिम अच् न बन सकगा तो टि सश न हो कर टरेन्व नहीं प्राप्त हाता । एक को भी अन्तवज्ञाव से अन्त मान कर हो जाता है ।

अलोन्त्यस्य से षष्ठीनिर्दिष्ट क अन्तिम अक्षर को आदश कहा है । यह अनो दीर्घो यञि सुपि च यद्वा उपयुक्त होता है । सुपि च से अदन्त अह् क अन्तिम अक्षर को दीर्घ होगा ता घटाभ्याम् पटाभ्याम् म ही प्राप्त हो सकेगा (क्योंकि घट ए में कई अक्षर हान से अन्तिम अक्षर ट का अ हो जाता है । किन्तु आभ्याम् (इदम्=अ-भ्याम्) यद्वा इदम् शब्द का अकार केवल अ रूप अह् है अकारान्त नहीं है जब अकारान्त नहीं है ता उसका अन्तिम अक्षर कहा स हो सकता है । इस लिय यद्वा सुपि च ॥ दीर्घ नहीं प्राप्त हो सकता । एक को भी अन्तवज्ञाव से अन्त मान कर हो जाता है ।

येन विधिस्तदन्तस्य से विशेषण द्वारा कहा हुआ कार्य तदन्त को होता है । जैसे अथो यत् यद्वा अच् विशेषण द्वारा धातु से यत् प्रत्यय कहा है तो यह अन्त धातु से होगा । इस लिय चेशम् चैयम् (चि जि-यत्) यद्वा चि नि में अन्तिम इकार के कारण अचन हाने से यत् हो सकता है किन्तु एयम् अध्ययम् (ईङ्, अधि इङ्-यत्) यद्वा ईङ् और इङ् के केवल एक अक्षरूप हाने से नहीं प्राप्त हो सकता । एक को भी अन्तवज्ञाव से अन्त मान कर हा जाता है ।

घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिपेधो वक्तव्यः । नद्यास्तरौ नदीतरः ।

घसंज्ञायां नदीतरेऽप्रतिपेधः ।

अनर्थकः प्रतिपेधः अप्रतिपेधः । घसंज्ञा कस्मान्न भवति । तरव-  
ग्रहणं ह्यौपदेशिकम् । औपदेशिकस्य तरपो ग्रहणम् । न चैव उपदेशे  
तरप् शब्दः ।

तरप् तमप् की घसंज्ञा में नदीतर शब्द के तर की भी घसज्ञा प्राप्त होती है उस का निषेध कहना चाहिये । नद्यास्तरः नदीतरः । यहाँ तृ धातु से कर्ताभिन्न कारक में श्रुदोरप् से अप् प्रत्यय हो कर तर बनता है । यह अप् प्रत्यय के पकार अनुबन्ध को मिला कर तरप् प्रत्यय के समान रूप वाला तरप् हो जाता है । तरप् प्रत्यय जैसे पकार अनुबन्ध के हट जाने पर तर होता है उसके समान यह भी तर है । इस की भी घसंज्ञा प्राप्त होनी चाहिये ।

नदीतर शब्द में घसज्ञा का निषेध कहना व्यर्थ है । घसंज्ञा क्यों नहीं होती ? उपदेशावस्था में जो तरप् है उसका घसंज्ञा में ग्रहण है । नदीतर में तरप् उपदेशावस्था में नहीं । औपदेशिक का अर्थ उपदेशावस्था में होने वाला है । उपदेशावस्था में तो अप् है । प्रयोगावस्था में तर है । तरप् कहीं नहीं है । इस लिये इसकी घसंज्ञा नहीं है गो ।

बाले स्वार्थिक प्रत्ययों के प्रकरण में ही तावी घः या पितौ घः ऐसा सूत्र बना कर तरप् तमप् प्रत्ययों की घसज्ञा सिद्ध हो सकती थी । फिर भी जो उस प्रकरण से हटा कर यहाँ संज्ञा प्रकरण में तरप् तमप् की घसंज्ञा की है वह इस बात की सूचक है कि अतिशय अर्पणहित केवच स्वार्थ में भी तरप् तमप् प्रत्यय होते हैं । उससे अव्याच्यतरम्, श्रेष्ठतमः यहा स्वार्थ में तरप् तमप् सिद्ध हो जाते हैं ।

१. यदि यह कहो कि तमप् प्रत्यय के साहचर्य से तर भी प्रत्यय ही लिया जायगा यह तर प्रत्यय है नहीं इस लिये इसकी घसंज्ञा न होगी तो यह बात भी नहीं बनती । क्योंकि सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् यह जो साहचर्य नियम है वह अनित्य होने से सर्वत्र नहीं लगता । उस की अनित्यता में द्विस्त्रिप्रचतुरिति कृत्वोर्थे इस सूत्र का कृत्वोर्थग्रहण ही शङ्क है । वहाँ कृत्वोर्थग्रहण इस लिये किया है कि चतुर् शब्द में कृत्वसुत्रार्थ सूच प्रत्यय के विसर्ग को पल हो । शब्द चतुर् के रेफजन्य विसर्ग को न हो । यदि सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् यह नियम निय होता तो द्वि त्रि शब्दों के विसर्ग के साहचर्य से चतुर् का विसर्ग भी सूच प्रत्यय का ही लिया जायगा तो उम के लिये किया गया कृत्वोर्थग्रहण व्यर्थ है । द्वि त्रि का विसर्ग तो सर्वथा सूच का ही समान है । चतुर् में संदेह है वह उन दोनों के साहचर्य से हट जाता । उस अवस्था में कृत्वोर्थग्रहण व्यर्थ हो कर साहचर्य नियम की अनित्यता का शङ्क है ।

किं चकथ्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ।

इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धरूपग्रहणेषु रूपमार्थीयते । यथास्येतद् रूपमिति । रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम् । तस्मिन् च लौकिके प्रयोगे सानुबन्धकानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते । कोऽसौ । उपदेशो नाम । न चैव उपदेशे तत्प शब्दः । अथवास्त्वस्य घसञ्ज्ञा । को दोषः ? घादिषु नद्या ह्रस्वो भवतीति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत । समानाधिकरणेषु घादिषु इत्येव तत् । यदा तर्हि

क्या यह बात कहनी होगी कि आवाष्चारणरूप उपदेशावस्था में तत्प की घसञ्ज्ञा होती है ।

कहने की कोई आवश्यकता नहीं ।

बिना कहे कैसे समझी जायगी ?

यथा व्याकरण शास्त्र में सभी अनुबन्धयुक्त शब्दों में पहले उसके साभाव्यारुप रूप का ग्रहण किया जाता है । असली रूप का निश्चय लौकिक प्रयोग के बिना होता नहीं । लौकिक प्रयोग में अनुबन्धों के हट जाने से अनुबन्धसहित का प्रयोग नहीं होता । उस अवस्था में वृत्ता जो शास्त्रीय प्रयोग है उसका आश्रयण किया जाता है । वह क्या है ? शास्त्रिय उपदेश । उस शास्त्रीय उपदेश में नदीतर का तर शब्द तत्प नहीं बनता । अथवा नदीतर के तर की घसञ्ज्ञा हो भी जावे तो क्या दोष है । आप कहेंगे कि घरूपकल्पचेलङ्० सूत्र से नदीसंज्ञक नदी शब्द के ईकार की ह्रस्व प्राप्ति होता है तो वह कोई दोष नहीं । समानाधिकरण अर्थात् प्रकृत्यर्थ के समान अभिधेय वाले घ रूप, कण्मादि के परे होने पर ह्रस्व होता है । नदीतर में यन्त्री समाप्त होने से व्यधिकरण तर शब्द है । यदि कही जब नदी चासी तर नदीतर । इस प्रकार कर्मधारय समास मान कर नदी रूप तर ऐसा अर्थ विवक्षित होगा तब समानाधिकरण तर शब्द होने पर ह्रस्व प्राप्ति होता है तो भा दोष नहीं । क्योंकि स्त्रीलिङ्ग धरूप कल्यादि के परे होने

१ अतिशायन अर्थ में विहित प्रत्यय तत्प आदि स्वार्थिक हैं । अतिशायन प्रकृत्यर्थ का विशेषण है । स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति से अभिहित ( बड़े हुए ) अर्थ के शीतक होते हैं । समानाधिकरण=प्रकृत के समान विषय वाला ।

सैव नदी स एव तरस्तदा प्राप्नोति । स्त्रीलिङ्गेषु घादिषु इत्येव तत् । अवश्य चेतदेवं विज्ञेयम् । समानाधिकरणेषु घादिषु इत्युच्यमान इह प्रसज्येत—महिषीरूपमिव । ब्राह्मणीरूपमिवेति ।

बहुगणवतुडति संख्या ॥१॥१२२॥

सख्यासज्ञाया सख्याग्रहणम् ।

संख्यासज्ञायां सख्याग्रहणं कर्तव्यम् । बहुगणवतुडतयः सख्या संज्ञा भवन्ति । संख्या च सख्या संज्ञा भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

सख्या सप्रत्ययार्थम् ।

एकादिकायाः संख्यायाः संख्याप्रदेशेषु सख्येत्येष संप्रत्ययो यथा स्यात् । ननु चैकादिका संख्या लोक संख्येति प्रतीता तेनास्याः

पर ह्रस्व होता है । नदीतर में स्त्रीलिङ्ग तर शब्द नहीं है । इस लिये ह्रस्व नहीं होगा । स्त्रीलिङ्ग घ रूप आदि पर होने पर ही ह्रस्व मानना भी चाहिये । यदि केवल समानाधिकरण घ रूप आदि पर होने पर ह्रस्व मानें तो महिषीरूपमिव ब्राह्मणीरूपमिव यद्वा भी ह्रस्व प्राप्त होगा । यहाँ रूप शब्द महिषी का समानाधिकरण है । महिषी इव रूपम् ब्राह्मणी इव रूपम् (=आकृति) इस अर्थ में महिषीरूपमिव ब्राह्मणीरूपमिव सिंहीरूपमिव ऐसा मैनायणी सहिता ( ३,८,५ ) आदि में प्रयोग आता है । वहाँ सुर् सुपा समास मान कर रूप शब्द पर रहते महिषी आदि नदी सज्ञक शब्दों को ह्रस्व प्राप्त होता है । रूप शब्द यद्वा महिषी आदि का समानाधिकरण होने पर भी स्त्रीलिङ्ग नहीं है इस लिये ह्रस्व नहीं होता ।

बहुगण वतु डति की संख्या संज्ञा में एक द्वि आदि सरया शब्दों की भी सख्यासज्ञा कहनी चाहिये । क्या प्रयोजन है ? सख्या स्थलों में बहु गण आदि की तरह एक द्वि आदि में भी सख्या संज्ञा हो कर सख्यासज्ञोक्त कार्य हो सकें । एक द्वि आदि तो स्वयमेव लोक में सख्या शब्द से प्रसिद्ध हैं इस लिये सरयासज्ञा के बिना भी सख्यास्थलों में उन में सरयासज्ञोक्त कार्य हो जायेंगे । तो भी उन के सख्या संज्ञा करनी ही चाहिये । क्योंकि बिना संख्या संज्ञा किये सख्या स्थलों में

१. यदि अप्रत्यय तर और तम की घ संज्ञा होगी तो उनके साहचर्य में पड़े हुए अप्रत्यय रूप आदि का भी ह्रस्व विधि में ग्रहण हो जायगा ।

संख्याप्रदेशेषु संख्यासम्प्रत्ययो भविष्यति । एवमपि कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

इतरथा हासम्प्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद् यथा लोके ।

अक्रियमाणे हि संख्याग्रहणे एकादिकायाः संख्यायाः संख्येत्येष सम्प्रत्ययो न स्यात् । किं कारणम् । अकृत्रिमत्वात् । बह्वादीनां कृत्रिमा संज्ञा । 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति' । यथा लोके । गोपालकमानय कटजकमानयेति यस्यैषा संज्ञा भवति स आनीयते न यो गाः पालयति यो वा कटे जातः ।

यदि तर्हि कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति 'नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य' इत्यत्रापि प्रसज्येत ।

पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति ।

तद्विशेषेभ्यस्तर्हि प्राप्नोति गङ्गायमुने इति ।

एक द्वि आदि को संख्या नहीं समझा जायगा । एक द्वि आदि के अकृत्रिम होने से नवनिर्मित इस संख्यासंज्ञा द्वारा विहित न होने से संख्या प्रदेशों में उन का ग्रहण न होगा । बहु गण आदि को तो संख्या संज्ञा कृत्रिम है । नूतन विहित है । एक द्वि आदि को अकृत्रिम है । कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिम कार्यसम्प्रत्ययो भवति इस न्यायमूलक परिभाषा के अनुसार कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों के कार्यविचार में कृत्रिम में ही कार्य किया जाता है । जैसे लोक में गोपालक को हाथो कटज को हाथो ऐसा कहने पर जिस को गोपालक कटजक ये संज्ञायें हैं, नाम हैं वही हाया जाता है न कि जो कोई भी गीओ को पालता है या कट में उत्पन्न हुआ है वह हाया जाता है । कृत्रिम=कृतिनिष्पन्न, नवनिर्मित । अकृत्रिम=कृत्रिम से भिन्न, स्वतःसिद्ध ।

यदि कृत्रिमाकृत्रिमयोः० इस परिभाषा को मानते हैं तो नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः यहाँ भी नदी शब्द से सूत्र्याख्या नदी इस कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण प्राप्त होता है । नदी शब्द का नहीं ।

पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्दों के ग्रहणसामर्थ्य से यहाँ नदी में कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण नहीं होगा । अन्यथा पौर्णमासी और आग्रहायणी भी सूत्र्याख्या ईकारान्त शब्द होने से नदी से ही गृहीत हो जाते ।

नदीपौर्णमास्या० सूत्र में नदी शब्द से कृत्रिम नदी संज्ञा का ग्रहण न होने पर भी नदीविशेषवाची गङ्गा यमुना शब्दों का ग्रहण प्राप्त होकर उन से परे समासान्त टच् प्राप्त होता है ।

भवति । साधीयो वा यष्टिहस्तं गमिष्यति ।

यथैव तर्ह्यर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्य-  
सम्प्रत्ययो भवति एवमिहापि प्राप्नोति । जानाति ह्यसौ बद्धादीनामियं  
संज्ञा कृतेति ।

न यथा लोके तथा व्याकरणे । उभयगतिः पुनरिह भवति ।  
अन्यत्रापि नावद्यमिहेव । तद्यथा 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'ति कृत्रिमा कर्म  
संज्ञा । कर्मप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति । 'कर्मणि द्वितीये' ति कृत्रिमस्य  
ग्रहणम् । 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' इत्यत्राकृत्रिमस्य । तथा 'साधकतमं  
करणमि'ति कृत्रिमा करणसंज्ञा । करणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति ।  
'कर्तृकरणयोस्तृतीयेति' कृत्रिमस्य ग्रहणम् । 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्य-  
मेघभ्यः करणे' इत्यत्राकृत्रिमस्य । तथा 'आधारोऽधिकरणमिति'

(गगाला है) अथवा कट में उत्पन्न हुआ है उन्हें लाना है । उभयगति =  
दुविधा में पड़ना या दोनों प्रकार का काम होना । अपनी समझ में शर्तिया तौर  
पर वह हाथ में लड़ी रखने वाले गगाले के पास ही जायगा । उसे ही बुला कर  
लायेगा । साधीयः=शर्तिया तौर पर, निश्चित ही । उसे आप द्वारा रखे हुए उसके  
गोपालक इस नाम का पुरुष उसे अविविक्त है बिना प्रकरण के वह गोपालक  
कटजक को नाम विशेष नहीं समझ सकता । यौगिक शब्द ही समझेगा ।

जिस प्रकार किसी विशेष सामर्थ्य अथवा प्रकरण से लोक में कृत्रिमाकृत्रिम  
व्याय की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार यहाँ शास्त्र में भी प्राप्त होती है । क्योंकि  
यह अभ्येता जानता है कि विशेष प्रयोजन के लिये बहुवचनवृत्ति की संख्या  
संज्ञा की गई है । इस लिये उन्हें को संख्या समझेगा । एक द्वि आदि को नहीं ।

जैसा लोक में व्यवहार देखते हैं व्याकरणशास्त्र में सर्वथा वैसा व्यवहार  
नहीं होता । यहाँ तो दोनों प्रकार का बोध होता है । कृत्रिम भी गृहीत होता  
है अकृत्रिम भी । केवल इस संख्या संज्ञा में ही नहीं, अन्यत्र स्थलों में भी  
कहीं कृत्रिम कहीं अकृत्रिम का ग्रहण होता है । जैसे कर्तुरीप्सिततमं कर्म इस सूत्र  
से विहित कर्मसंज्ञा स्वनिर्मित होने से कृत्रिम है । किन्तु कर्म के स्थलों में कृत्रिम  
और अकृत्रिम दोनों प्रकार के कर्म लिये जाते हैं । कर्मणि द्वितीया में कृत्रिम  
कर्म संज्ञा ली गई है । कर्तरि कर्मव्यतिहारे में कर्म शब्द का अर्थ क्रिया या काम  
होने से अकृत्रिम का ग्रहण है । साधकतमं करणम् में कृत्रिम करण संज्ञा है । किन्तु  
करणस्थलों में कृत्रिम अकृत्रिम दोनों प्रकार के करण लिये जाते हैं । कर्तृकरणयो-  
स्तृतीया में कृत्रिम करण संज्ञा है । शब्दवैरकलहाभ्रकण्यमेघभ्यः करणे में करण

कृत्रिमा अधिकरणसंज्ञा । अधिकरणप्रदेशे चोभयगतिर्भवति ।  
'सप्तम्यधिकरणे'ति कृत्रिमस्य ग्रहणम् । 'विप्रतिपिद्धं चानधिकरणवाची'  
त्यत्राकृत्रिमस्य ।

अथवा नेदं संज्ञाकरणं तद्वदतिदेशोऽयम् । बहुगणवतुडतयः  
संख्यावद् भवन्तीति ।

स तर्हि वतिनिर्देशः कर्तव्यः ।

न कर्तव्यः ।

न ह्यन्तरेण वतिमतिदेशो गम्यते ?

अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते । तद्यथा एष ब्रह्मदत्तः ।  
अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवद्वयं भवतीति । एवमिहापि  
असंख्यां संख्येत्याह । संख्यावदिति गम्यते ।

का अर्थ करना होने से अकृत्रिम का ग्रहण है । आपारोऽधिकरणम् में कृत्रिम  
अधिकरण संज्ञा है । किन्तु अधिकरण स्थलों में कृत्रिम अकृत्रिम दोनों प्रकार के  
अधिकरण लिये जाते हैं । सप्तम्यधिकरणे च में कृत्रिम अधिकरण संज्ञा ली गई है ।  
विप्रतिपिद्धं चानधिकरणवाचि में अधिकरण का अर्थ द्रव्य होने से अकृत्रिम का  
ग्रहण है ।

अथवा यह संख्यासंज्ञा सूत्र न मान कर संख्या का अतिदेशसूत्र मान  
लिया जायगा । एक के तुल्य दूसरे को मान कर उसमें वैसा व्यवहार अतिदेश  
होता है । अतिदेश मानने पर अर्थ होगा—बहुगणवतुडति ये संख्यावद् समझे  
जाते हैं । जैसे एक द्वि आदि संख्या प्रसिद्ध हैं वैसे बहु गण आदि भी संख्या माने  
जाते हैं । तद्वदतिदेश=संख्या के समान व्यवहार मानना ।

अतिदेश सूत्र मानने पर संख्यावद् इस प्रकार वति प्रत्यय का निर्देश  
करना होगा ?

वति प्रत्यय के निर्देश की आवश्यकता नहीं ।

वति प्रत्यय के निर्देश बिना तो अतिदेश नहीं समझा जायगा ?

वति निर्देश के बिना भी अतिदेश समझ लिया जायगा । जैसे ब्रह्मदत्त-  
भिन्न को कोई कहे कि यह ब्रह्मदत्त है तो उससे इन समझ लेते हैं कि वह  
ब्रह्मदत्त के समान है । इसी प्रकार यहाँ संख्याभिन्न बहुगणवतुडत को संख्या  
कहने से वे संख्या के समान समझें जायेंगे । अथवा आचार्य का व्यवहार इस बात  
का ज्ञापक है कि एक द्वि आदि को संख्यासंज्ञा का कार्य होते हैं । संख्याना  
अतिशदन्तायाः कन् सूत्र से कन् विधान में अतिशदन्तायाः कह कर जो ति और

अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्येकादिकायाः संख्यायाः संख्या-  
प्रदेशेण संप्रत्यय इति । यद्यं 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' इति  
तिशदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । न हि कृत्रिमा  
त्यन्ता शदन्ता वा संख्यास्ति ।

ननु चेयमस्ति उक्तिः ।

यत्तर्हि शदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति । यच्चापि त्यन्तायाः प्रतिषेधं  
शास्ति । ननु चाप्यतं इत्यर्थमेतत् स्यात् । अर्थवद्ग्रहणे नानर्थक्येति  
अर्थवतस्तिशब्दस्य ग्रहणं, न च उतेस्तिशब्दोऽर्थवान् ।

अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः ।  
कुत एतत् । लघ्वर्थे हि संज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे

शब्द प्रत्ययान्त संख्या का निषेध किया है उससे यह बात सिद्ध होती है ।  
कैसे ? बहुगणवत्तुइति इस कृत्रिम संख्या संज्ञा में कोई भी ति और शब्द  
प्रत्ययान्त नहीं है जिसके लिये कन् प्रत्यय का निषेध करना चरितार्थ हो सके ।  
एक द्वि आदि में तो सप्ततिः पञ्चाशन् इत्यादि हैं जिनके लिये कन् प्रत्यय का  
निषेध करना चरितार्थ हो सकता है । उससे एक द्वि आदि की भी संख्या संज्ञा  
सिद्ध हो जाती है ।

बहुगणवत्तुइति इस कृत्रिम संख्या संज्ञा में भी उक्ति यह तिशब्दान्त है ।  
उसमें कन् को रोकने के लिये ति शब्दान्त का निषेध चरितार्थ हो सकता है ।

तो भी शब्द प्रत्ययान्त का निषेध तो व्यर्थ हो कर ज्ञापक ही है ।  
वस्तुतः ति प्रत्ययान्त का निषेध भी व्यर्थ हो कर शारक है । यह जो उक्ति  
के लिये ति शब्दान्त के निषेध को चरितार्थ कहा है वह ठीक नहीं । अर्थवद्ग्रहणे  
नानर्थक्य इस परिभाषा के अनुसार अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण  
नहीं होगा । अतिशदन्तायाः इस निषेध में ति शब्द अर्थवान् लिया गया है ।  
उक्ति का ति शब्द अर्थवान् नहीं है । उक्ति इस समुदाय के अर्थवान् होने पर भी  
उसका अवयव ति शब्द सर्वथा अनर्थक है । इस लिये ति के निषेध में  
उक्ति नहीं लिया जायगा । हाँ, सप्तति का ति शब्द तो ति प्रत्यय रूप होने  
से अर्थवान् है वह ले लिया जायगा । उसके निषेध से मात्रम् होता है कि  
वर्ग संज्ञादि भी संख्या हैं । अथवा संख्या यह बहुत अक्षरों वाली पड़ी संज्ञा  
होने से कृत्रिम संज्ञा वह होती है जिससे छोटी और कोई चीज़ न हो ।  
करणस्थले में कृत्रिम ६ अक्षर वाली छोटी से छोटी संज्ञा होनी चाहिये ।  
तीसरी में कृत्रिम करणाप्रबोध के लिये संज्ञा की जाती है । वहाँ पड़ी संज्ञा



एतत् प्रयोजनम् अन्यर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत । संख्यायते अनयेति संख्या । एकादिकया चापि संख्यायते ।

उत्तरार्थेन चापि नार्थः संख्याग्रहणेन । इदं प्रकृतमुत्तरानुवर्तिष्यते ।

इदं चै संज्ञार्थमुत्तरत्र च सञ्ज्ञिप्रतिषेधेनार्थः । न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवति । न संख्यायत्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद् भवति । नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति ।

यत्तावदुच्यते न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति । अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति । तद्यथा शास्त्रार्थं कुल्याः प्रणीयन्ते । ताभ्यश्च

करने का यह प्रयोजन होगा कि वह अन्यर्थ संज्ञा मानी जाय । अन्यर्थ अर्थात् अर्थ के अनुसार नाम वाली हो । संख्या का अर्थ है जिस से गिना जाय । एक द्वि आदि स भी गिना जाता है इस लिये ये भी संख्या हो जायगी ।

प्याता पद् इस उत्तर सूत्र के लिये भी संख्याग्रहण की आवश्यकता नहीं । बहुगणवत्तुवति का संज्ञा शब्द ही उत्तर सूत्र के लिये भी अनुवृत्त हो जायगा ।

यह संख्या शब्द तो यहाँ संज्ञार्थ है । और प्यान्ता पद् इस उत्तरसूत्र में प्यान्ता इस संज्ञा का विशेषण बनाना अभीष्ट है । संज्ञा के लिये प्रयुक्त संख्या शब्द अनुवृत्त हो कर संज्ञा का विशेषण कैसे हो सकता है । अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त शब्द अनुवृत्ति मात्र से अन्य प्रयोजन के लिये नहीं हो सकता । और न ही अन्य शब्द अनुवृत्ति मात्र से अन्य हो सकता है । गोह सर्पण करती हुई सर्पण मात्र से सर्प नहीं हो सकती ।

यह जो कहा कि अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त शब्द अन्य प्रयोजन के लिये नहीं हो सकता सो कोई बात नहीं । अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त वस्तु भी उस से अन्य प्रयोजन के लिये प्रयुक्त होती है । जैसे खेत में धानादि को सींचने के लिये

१ संख्या के अन्यर्थ संज्ञा होने पर एक द्वि आदि तो संख्या मान लिये जायेंगे किन्तु लघ्यानुवाच ॥ बहुगणवत्तु वति से अतिरिक्त भूरि प्रभूत बहुल आदि संख्या नहीं होंगे । जैसे सर्वनाम संज्ञा के अन्यर्थ होने पर भी सर्व विश्व आदि गणपटित शब्द ही सर्वनाम संज्ञक होते हैं । सक्त्त वृत्त आदि सब के नाम होते हुए भी सर्वनाम नहीं कहते हैं ।

पानीयं पीयते। उपस्पृश्यते च। शालयश्च भाव्यन्ते। यदप्युच्यते न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद् भवति। नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवतीति। भवेद् द्रव्येष्वेतदेव स्यात्। शब्दस्तु खलु येन येन विशेपेणाभिसवध्यते तस्य तस्य विशेषको भवति।

अथवा सापेक्षोऽयं प्णान्ता इति निर्देशः क्रियते। न चान्यत् किञ्चिदपेक्ष्यमस्ति। तेन सख्यामेवापेक्षिष्यामहे।

अध्यर्धग्रहणं च समासकन्विध्यर्थम्।

अध्यर्धग्रहणं च कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। समासकन्विध्यर्थम्। समासविध्यर्थम्। कन्विध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्। अध्यर्धशूर्पम्। कन्विध्यर्थम्। अध्यर्धकम्।

लुकि चाग्रहणम्।

नहरे बनाई जाती हैं। साथ ही उन से पानी भी पिया जाता है। उन में स्नान भी किया जाता है और धान भी उत्पन्न किये जाते हैं। और यह जो कहा कि अन्य शब्द अनुवृत्तिमात्र से अन्य नहीं हो सकता। गाह सर्पणमात्र से सर्प नहीं बन सकती सो यह बात द्रव्यों में तो ठीक है। गोह तो सार नहीं बन सकती, किन्तु शब्द तो जिस २ विशेष (=परिच्छेद) के साथ जुड़ता है उस २ का परिच्छेदक हो जाता है। यहा सज्ञा सूत्र में पढा हुआ सरया शब्द सज्ञा वाचक है। वही प्णान्ता पद में प्णान्ता इस सज्ञा के साथ जुड़ कर उस का विशेषण बन जायगा। अथवा प्णान्ता यह स्त्रीलिङ्ग निर्देश सापेक्ष है। किसी की अपेक्षा रखता है। और कुछ अपेक्ष्य है नहीं तो हम बिना अनुवृत्ति के भी निकट लगती हुई सरया की ही अपेक्षा करेंगे। प्णान्ता सख्या। पकारान्त नकारान्त जो सरया उस की पद सज्ञा होती है।

सख्यासज्ञा में अध्यर्ध शब्द का ग्रहण भी करना चाहिये। किस लिये? समासविधि और कन्विधि के लिये। समासविधि के लिये जैसे—अध्यर्धशूर्पम् यहा अध्यर्धेन शूर्णेन क्रीतम् इस अर्थ में शूर्पादनन्यतरस्याम् से तद्धित अञ् या ट् प्रत्यय होता है। अध्यर्ध शब्द की सरयासज्ञा हो जाने से तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च सूत्र से सरयावाची अध्यर्ध शब्द का शूर्प शब्द से तद्धितार्थ में तत्पुरतः समास हो कर अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसज्ञायाम् से अञ्, ट् का लुक् हो जाता है। कन्विधि के लिये जैसे—अध्यर्धकम्। यहाँ अध्यर्धेन क्रीतम् इस अर्थ में अध्यर्ध शब्द की सख्या सज्ञा हो जाने से सख्याया अतिशदन्ताया ऋ से

लुकि चाध्यर्धग्रहणं न कर्तव्यं भवति । 'अध्यर्धपूर्वद्विगोलुंगसंज्ञायामि'ति । द्विगोरित्येव सिद्धम् ।

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः ।

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । समासकन्विध्यर्थमेव । समासविध्यर्थं कन्विध्यर्थं च । समासविध्यर्थं तावत् । अर्धपञ्चमशूर्पम् । कन्विध्यर्थम् । अर्धपञ्चमकम् ।

अधिकग्रहणं चालुकि समासोत्तरपदवृद्धयर्थम् ।

अधिकग्रहणं चालुकि कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । समासोत्तरपदवृद्धयर्थम् । समासविध्यर्थमुत्तरपदवृद्धयर्थं च । समासविध्यर्थं तावत् ।

तद्वित्त कन् प्रत्यय हो जाता है । अध्यर्ध शब्द की संख्यासंज्ञा कहने से अर्धपूर्व द्विगो० इस आर्हीय तद्वित्त प्रत्यय का लुक् करने वाले सूत्र में अध्यर्ध शब्द का ग्रहण भी न करना पड़ेगा यह लाघव होगा । क्योंकि अध्यर्ध की संख्यासंज्ञा हो जाने से सत्मापूर्वो द्विगु इस सूत्र से अन्यर्धशूर्पम् यह द्विगुसमास हो जायगा तो द्विगोर् लुगमज्ञायाम् इत्यने से ही तद्वित्त लुक् सिद्ध हो जायगा ।<sup>१</sup>

अर्ध शब्द है पूर्वपद में जिसके ऐसे पूरणार्थक प्रत्ययान्त शब्द की भी संख्या संज्ञा कहनी चाहिये । किस लिये ? समासविधि और कन्विधि के लिये । समासविधि के लिये जैसे—अर्धपञ्चमशूर्पम् । यही अर्धेनपञ्चम अर्धपञ्चम । अर्धपञ्चमेन शूर्पेण कीतम् इस अर्थ में शूर्पादनन्यतरस्याम् से तद्वित्त अञ् या ठञ् प्रत्यय होता है । पञ्चम शब्द पूरणप्रत्ययान्त है । उसके पूर्व में अर्ध शब्द है । अर्धपञ्चम शब्द की संख्यासंज्ञा होने से उसका शूर्प शब्द के साथ तद्विताभोत्तरपद० से द्विगु समास हो कर अन्यर्धपूर्वाद्विगो० से अञ् ठञ् का लुक् सिद्ध हो जाता है । कन्विधि के लिये जैसे—अर्धपञ्चमकम् । यहाँ अर्धपञ्चमेन कीतम् इस अर्थ में अर्धपञ्चम की संख्यासंज्ञा होने से सत्माया अतिशदन्ताया कन् से कन् प्रत्यय होता है ।

अधिक शब्द की भी संख्या संज्ञा कहनी चाहिये । किस लिये ? समास विधि और उत्तरपदवृद्धि के लिये । समासविधि और उत्तरपदवृद्धि दोनों का

१ अध्यर्ध शब्द आधे से अधिक का वाचक है । अर्धेन अधिक अध्यर्ध । एक पूरा और आधा अधिक अर्थात् डेढ़ । यह पूरी सत्मा न होने से सत्मा सङ्ग नहीं हो सकता या इस लिये इसकी सत्मासंज्ञा की गई है ।

अधिकपाष्टिकः । अधिकसाप्ततिकः । उत्तरपदवृद्धयर्थम् । अधिकपाष्टिकः ।  
अधिकसाप्ततिकः । अलुकीति किमर्थम् । अधिकपाष्टिकः । अधिक-  
साप्ततिकः ।

बहुव्रीहौ चाग्रहणम् ।

बहुव्रीहौ चाधिकशब्दस्य ग्रहणं न कर्तव्यं भवति । 'सख्ययाव्यया  
सन्नादूराधिरुसख्या. सख्येये' इति सत्येत्येव सिद्धम् ।

एक ही उदाहरण है—अधिकपाष्टिक । अधिकसाप्ततिक । यहाँ अधिकया पठ्या  
सप्तया वा कीति इस अर्थ में प्राग्गतेष्ठन् से आहीय ठ्ण् प्रत्यय हुआ । अधिक  
शब्द की सख्यासज्ञा होने से उसका षट् सप्तति शब्द के साथ सादृतार्थोत्तरपद  
समाहारे च से द्विगुसमास सिद्ध हो जाता है । साथ ही सख्याया सवत्सरसख्यस्य  
च से उत्तरपदवृद्धि भी सिद्ध हो जाती है । अलुकि कहने से तद्धित का लुक्  
करने में अधिक शब्द की सख्यासज्ञा नहीं होती इस लिये अर्धपूर्वद्विगो० से  
ठ्ण् का लुक् नहीं हुआ ।<sup>१</sup>

अधिक शब्द की सख्यासज्ञा करने का यह लाभ भी है कि सख्ययाव्यया-  
सन्नादूराधिरुसख्या सख्येये इस बहुव्रीहि समास के सूत्र में अधिक शब्द का  
ग्रहण नहीं करना पड़ेगा । अधिका विंशतिर्येषां ते अधिकविंशा । यहाँ अधिक शब्द  
की सख्यासज्ञा होने से सूत्र में सख्या ग्रहण से ही बहुव्रीहि समास हो  
जायगा ।

१ यद्यपि आहीय अर्थों में उत्तरपदवृद्धयर्थ अधिक शब्द की सख्या सज्ञा  
कहने से लुक् की निश्चात स्वयमेव हो जायगी क्योंकि तद्धित का लुक् हो जाने पर  
उत्तरपदवृद्धि प्राप्त ही नहीं इस लिये अधिकग्रहण चालुकि० इस उक्त वार्तिक में  
अलुकि कहना व्यर्थ सा प्रतीत होता है तो भी वह व्यर्थ नहीं है । कुछ आहीय अर्थों  
तथा उनसे परे दूसरे प्राग्गतीय अर्थों में जहाँ अर्धपूर्वद्विगोलुगसंज्ञायाम् यह  
सूत्र नहीं लगता जैसे—अधिका षट् परिमाणमस्य अधिकपाष्टिक यहाँ सदस्य  
परिमाणम् में सोऽस्याशरस्नभृतय से सोऽस्य की अनुज्ञात आने पर जो पुन सदस्य  
इस समर्थविभक्ति का निर्देश किया है उसके सामर्थ्य से आहीय ठ्ण् का लुक्  
निषिद्ध हो जाता है वहाँ अधिक शब्द की यदि सख्या सज्ञा नहीं की जायगी तो  
सख्याया सवत्सरसख्यस्य च से उत्तरपदवृद्धि न हो सगी । अलुकि कहने से बेयत् लुक्  
करने में ही सख्या सज्ञा का निषेध है । अन्यत्र सर्वत्र उत्तरपदवृद्धियों में सख्या  
सज्ञा हो जायगी । इसी लिये अधिक सवत्सरमधीष्टो भूतो भूतो वा अधिकसाप्ततिक

बद्धादीनामग्रहणम् ।

बद्धादीनां ग्रहणं शस्यमकर्तुम् ।

केनेदानीं संख्याप्रदेशेषु संख्यासंप्रत्ययो भविष्यति ।

ज्ञापकात् सिद्धम् ।

ज्ञापकं किम् ? यद्यं 'वतोरिह वे'ति संख्याया विहितस्य फनो घत्थन्तादिदं शास्ति ।

वतोरेव तज्ज्ञापकं स्यात् ।

नेत्याह । योगापेक्षं ज्ञापकम् ।

ष्णान्ता पद् ॥११॥२४॥

पदसंज्ञायामुपदेशवचनम् ।

पदसंज्ञायामुपदेशग्रहणं कर्तव्यम् । उपदेशे पञ्कारणकारान्ता संख्या

बहुगणवतु इति हन सयकी संख्यासंज्ञा करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

बहुगण आदि में संख्यासंज्ञोक्त कार्य कैसे होंगे ?

ज्ञापक से सिद्ध हो जायेंगे । क्या ज्ञापक है ? वतोरिह वा (५।१।२३) सूत्र से जो वतु प्रत्ययान्त से विहित फन् प्रत्यय को इडागमविकल्प कहा है उसी से वतु की संख्यासंज्ञा सिद्ध हो जाती है ।

वह तो केवल वतु का ही ज्ञापक हुआ ।

नहीं । वतु के द्वारा बहु गण आदि सभी का ज्ञापक हो जाता है । योगापेक्षं ज्ञापकम् । सूत्रापेक्षं ज्ञापकं माना जायगा । वतु जिसमें पदा है वह सब सूत्र ही संख्यासंज्ञक होता है यह वतु के उपलक्षण से जाना जायगा ।

पञ्कारान्त नकारान्त की पदसंज्ञा में उपदेश ग्रहण करना चाहिये । उपदेश

यथा रान्यइ. संवत्सराच्च से पञ्च में प्राप्तीय ठन् होता है । वह आर्तीय मे परे है यथा छक् न होने से उत्तरपदवृद्धि हो जाती है ।

१. तान्यै यइ हे कि बहुपूगगगसेवस्य त्रिषुक् इस सूत्र में बहु गण की वनोरिषुक् से वतु की और पदकान्तकतिवचनुरां थुक् से इति की संख्या संज्ञा सिद्ध हो जाती है । क्योंकि ये सब संख्यासंज्ञोक्त कार्य हैं । इन लिये बहुगण आदि चारों की संख्या संज्ञा अन्यथा सिद्ध हो जाने से बहुगणवतुइति संख्या सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है इस प्रकार भाव्यवर्तिकारों ने इस सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

पट्संज्ञा भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । शताद्यष्टनोर्नुम्नुडर्थम् । शतानि सहस्राणि नुमि कृते प्णान्ता पडिति पट्संज्ञा प्राप्नोति । उपदेशग्रहणान्तं भवति । अष्टानामित्यत्रात्वे कृते पट्संज्ञा न प्राप्नोति । उपदेशग्रहणाद् भवति ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् । इह तावत् शतानि सहस्राणीति 'संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विद्यानस्ये'ति । अष्टनोऽप्युक्तम् । किमुक्तम् । 'अष्टनो

में जो प्रकारान्त नकारान्त संख्या उसकी पट्संज्ञा होती है ऐसा कहना चाहिये । किस लिये ? शत और अष्टन् शब्दों में नुम् और नुड होने पर इष्ट रूप की सिद्धि के लिये । शतानि सहस्राणि यहाँ शत सहस्र शब्दों से नपुंसक में जस् शस् पर रहते जस् शस् को शि आदेश और शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा हो कर नपुंसकस्य शलचः से नुम् का आगम होता है । नुम् होने पर शतन् सहस्रन् ये नकारान्त संख्या हो जाती हैं । प्णान्ता पट् से इनकी पट्संज्ञा हो कर पट्भ्यो लृक् से जस् शस् का लृक् नहीं होगा । क्योंकि शतन् सहस्रन् ये उपदेशावस्था में नान्त नहीं हैं । अष्टानाम् यहाँ अष्टन् शब्द में पष्ठीबहुवचन आम् पर होने पर अष्टन आ विभक्तौ से नकार को आकार होता है । आकार हो कर नान्त न रहने से पट्संज्ञा न होगी तो पट्चतुर्भ्यश्च से नुड नहीं प्राप्त होता । उपदेश ग्रहण करने से आत्व करने पर भी पट्संज्ञा बनी रहेगी तो नुड सिद्ध हो जाता है । क्योंकि अष्टन् उपदेशावस्था में नान्त है ।

शत और अष्टन् शब्दों में जो दोष कहा है उसका समाधान कह चुके हैं । शतानि सहस्राणि में तो संनिपातलक्षण परिभाषा से दोष न होगा । संनिपातलक्षण परिभाषा का विचार कई जगह पहले भी आ चुका है । उसका अर्थ है— जो दो के सम्बन्ध से कार्य होता है वह उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने वाले का निमित्त नहीं होता । यहाँ शतानि सहस्राणि में जिस सर्वनामस्थानसंज्ञक जस् शस् की शि को मान कर नपुंसकस्य शलचः से नुम् हुआ है वह नुम् पट्संज्ञा द्वारा पट्भ्यो लृक् की प्रवृत्ति से शि का विघात नहीं कर सकता । अर्थात् शि लृक् नहीं होगा । अष्टन् में भी कहा है । क्या ? अष्टनोर्दीर्घात् में जो दीर्घग्रहण किया है वह इस बात का शापक है कि आत्व करने पर भी अष्टन् की पट्संज्ञा बनी रहती है । अष्टनोर्दीर्घात् सूत्र में दीर्घग्रहण इस लिये किया है कि अष्टान् यहाँ आत्व हो कर दीर्घ बने अष्टन् से परे सुप् विभक्ति को उदात्त हो जावे । दीर्घभिन्न अष्टान् यहाँ न हो । यदि आत्व करने पर अष्टन् शब्द की पट्संज्ञा

दीर्घग्रहणं पदसंज्ञाज्ञापकमाकारान्तस्य नुडर्थमिति ।

अथवाऽऽकारोप्यत्र निर्दिश्यते पकारान्ता नकारान्ता आकारान्ता च संख्या पदसंज्ञा भवतीति ।

इहापि तर्हि प्राप्नोति सधमादो घुम्न एकास्ताः । एका इति ।

नैप दोषः । एकशब्दोऽयं बहुवचनं । अस्त्येव संख्यापरः । तद्यथा एको द्वौ बहव इति । अस्त्यसहायवाची । तद्यथा—एकान्वयः । एकहलानि । एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमिति । असहायैरित्यर्थः । अस्त्यन्यार्थे वर्तते ।

न होती तो अष्टासु के पदसंज्ञक न होने वहाँ सन्त्युपोत्तमम् से पदसंज्ञक अष्टन् को कहा हुआ उपोत्तम स्वर प्राप्त ही न होगा । केवल अष्टसु इस पदसंज्ञक में ही उपोत्तमस्वर हो कर अष्टसु यह मध्योदात्त बन जायगा । अष्टासु में अष्टन् इतने सूत्र से सुप् विभक्ति का स्वर हो कर अष्टासु यह अन्तोदात्त बन जायगा । इस प्रकार दीर्घग्रहण के बिना भी दोनों इष्ट रूप सिद्ध हो जायेंगे । व्यर्थ हुआ दीर्घग्रहण यह सूचित करता है कि अष्टासु यहाँ आत्व होने पर भी पदसंज्ञा होती है तो अष्टसु के समान अष्टासु भी पदसंज्ञक हो जायगा । तब अष्टन् यह इतना सूत्र सन्त्युपोत्तमम् का अपवाद होने से उसको बाध लेगा तो दोनों जगह अन्तोदात्त प्राप्त होगा उसको रोकने के लिये दीर्घग्रहण करना आवश्यक हो जाता है । दीर्घग्रहण करने पर अष्टासु में ही अन्तादात्त होगा । अष्टसु में सन्त्युपोत्तमम् से मध्योदात्त रहेगा जो कि इष्ट है ।

अथवा णान्ता इस शब्द में आकार का भी प्रश्लिष्ट निर्देश समझना चाहिये । ण् आ अन्ता=णान्ता । एकारान्त नकारान्त और आकारान्त सरया की पदसंज्ञा होती है । उससे अष्टानाम् में आत्व होने पर भी पदसंज्ञा हो जायगी ।

यदि णान्ता में आकार का भी निर्देश है तो सधमादो घुम्न एकास्ता इस वेदमन्त्र के एका शब्द में स्त्रोल्लिङ्ग टाप् प्रत्यय हो कर आकारान्त होने से पदसंज्ञा प्राप्त होती है । पदसंज्ञा हो कर उस का लृक् होना चाहिये ।

यह कोई दोष नहीं । एक शब्द के बहुत से वचन होते हैं । एक तो संख्या । जैसे—एक द्वौ बहव । यहाँ एक दो बहुत आदि संख्या अर्थ हैं । दूसरा असहाय, अकेला । जैसे—एकान्वय । एकहलानि । एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् । यद्वा अकेली अग्नि वाले, अकेले हल वाले लोग, अकेले क्षुद्रक लोगो ने जीत लिया । इन सब में एक शब्द का सहायरहित अर्थ है । तीसरा—अन्य या दूसरा ।

तद्यथा-प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेकेति । अन्येत्यर्थः । सधमादो घुम्न एकास्ताः ।  
अन्या इत्यर्थः । तद्योऽन्यार्थे वर्तते तस्यैष प्रयोगः ।

इह तर्हि प्राप्नोति द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या चेति ।

एवं तर्हि सप्तमे योगविभागः करिष्यते । 'अष्टाभ्य औश्' । ततः  
'पङ्भ्यः' । पङ्भ्यश्च यदुक्तमष्टाभ्योपि तद् भवति । ततो 'लुक्' ।  
लुक् च भवति । पङ्भ्य इति ।

अथवा उपरिष्ठाद् योगविभागः करिष्यते । 'अष्टन आ विभक्तौ' ।  
ततो 'रायः' । रायश्च विभक्तायाकारादेशो भवति । हलीत्युभयोः शेषः ।

जैसे—प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका । एक प्रजा की रक्षा करता है दूसरा भन्न बल की ।  
यहाँ एक शब्द का अन्य अर्थ है । सधमादो घुम्न एकास्ताः यहाँ भी एक शब्द  
का अन्य अर्थ है । सत्या नहीं है । इस लिये आकारान्त होने पर भी सत्या न  
होने से पदसंज्ञा नहीं होगी ।

तो फिर द्वाभ्यामिष्टये० यहाँ द्वाभ्याम् इस आकारान्त संख्या शब्द की  
पदसंज्ञा प्राप्त होती है । एकया च दशभिश्च स्वभूते० इस वेदमन्त्र में स्त्रीलिङ्ग  
नियुत् शब्द का विशेषण होने से द्वाभ्याम् यह स्त्रीलिङ्ग का टाद्यन्त रूप है ।  
यहाँ पदसंज्ञा होने से पट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः से विभक्तिस्वर प्राप्त होता है ।

अच्छा तो सप्तमाध्याय में योगविभाग करेंगे । अष्टाभ्य औश् इस सूत्र के  
बाद पङ्भ्य इतना सूत्र बनायेंगे । उस का अर्थ होगा—जो पदसंज्ञक से कार्य  
कहे हैं वे आठवाले अष्टन् शब्द से भी हो जाते हैं । तो अष्टानाम् में पट्चतुर्भ्यश्च  
से लुट् हो जायगा । उस के बाद लुक् यह सूत्र बनायेंगे । उस का अर्थ होगा पद-  
संज्ञक से परे जस् शस् का लुक् होता है । तो अष्ट २ यहाँ जस् शस् का लुक् भी  
सिद्ध हो जायगा ।

अथवा उसी सप्तमाध्याय में आगे चल कर योगविभागे करेंगे । अष्टन  
आ विभक्तौ । इस के बाद राय इतना सूत्र बनायेंगे । उस का अर्थ होगा—यै शब्द  
को विभक्ति पर रहते आत्व होता है (फिर हलि यह सूत्र बनायेंगे जो अष्टन आ विभक्ती  
और राय दोनों का शेष होगा । अर्थात् दोनों आत्व करने वाले सूत्र हलादि विभक्ति  
पर होने पर आत्व करेंगे । अष्टानाम् में लुट् होने के बाद हलादि विभक्ति बनती  
है इस लिये यहाँ आत्व से पहले नकारान्त अवस्था में ही पट्चतुर्भ्यश्च से आम् को  
लुट् हो जायगा । उस के परे होने पर फिर आत्व हो जायगा ।

१. जस् शस् में तो हलादि न होने पर भी अष्टाभ्य औश् इस आय निर्देश



यद्येवं प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः इति न सिध्यति । प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः  
इति प्राप्नोति ।

यथालक्षणमप्रयुक्ते ।

यदि अष्टन आ विभक्तौ से विधीयमान आत्वं इत्यादि विभक्ति परे होने पर ही होता है तब तो प्रियाष्टौ प्रियाष्टाः यहाँ अज्ञादि औ जस् परे रहते आत्वं नहीं प्राप्त होता । प्रिया अष्टौ यस्य स प्रियाष्टा । प्रथमा के एकवचन में नाम्त की उपधा को दीर्घ हो कर राणा की तरह बन गया । फिर औ जस् परे रहते उन के इत्यादि न होने से आत्वं न होगा तो नाम्त की उपधा को दीर्घ हो कर प्रियाष्टानौ प्रियाष्टान्, यही रूप बनेंगे । प्रियाष्टौ प्रियाष्टा, ये नहीं बन सकेंगे । ये तो आत्वं होने पर ही बन सकते हैं ।

जो अप्रयुक्त शब्द हैं उन में यथालक्षण कार्य समझना चाहिये । जैसा सूत्र कहे वैसा रूप बनाइये । प्रियाष्टौ प्रियाष्टा, में इत्यादि न होने से आत्वं की प्राप्ति नहीं होती है तो आत्वं न कीजिये । प्रियाष्टानौ प्रियाष्टान् यही रूप इष्ट बना लीजिये । प्रियाष्टौ प्रियाष्टा अनिष्ट समझिये । लक्षणमनतिक्रम्य यथालक्षणम् । शिष्ट प्रयुक्त शब्दों का ही यह शास्त्र अन्वयाख्यान करता है । शिष्टाप्रयुक्त अथवा स्वमनीषिको-त्प्रेक्षित अनर्गल शब्दों का अन्वाख्यान नहीं करता है । तात्पर्य यह है कि लोक में अप्रयुक्त शब्दों का यदि प्रयोग अभीष्ट भी हो तो वह लक्षणानुसार होना चाहिये । लक्षणविरुद्ध प्रयोग नहीं होना चाहिये । अथवा अप्रयुक्त शब्दों का अप्रयोग ही युक्तियुक्त है । लक्षण द्वारा उन के नूतन निर्माण की चेष्टा ही नहीं करनी चाहिये । इस प्रकार यथालक्षणप्रयुक्त हम आत्वं वचन के दो अभिप्राय स्पष्ट होते हैं ।

के सामर्थ्य से आत्वं माना जायगा । आत्वंनिर्देश का मही प्रयोजन है कि जहाँ आत्वं हो वहीं औश् हो । यदि यह प्रयोजन न हो तो लाघव के लिये आचार्य अष्टम्य औश् ऐसा कहते ।

१ अष्टम्य औश् से विहित जो जस् के स्थान में औश् हो वह भी जहाँ अष्टन् अर्थ की प्रधानता है वहीं आत्वं का अनुमान करायेगा । क्योंकि अष्टम्य यह बहुवचननिर्देश अष्टन् अर्थ की प्रधानता को सूचित करता है । प्रियाष्टा में अष्टन् अर्थ की प्रधानता नहीं है । यहाँ अष्टन् अर्थ गौण है । अन्य पदार्थ ही प्रधान है । इस लिये जिस में ज्ञानक ने भी आत्वं का अनुमान नहीं हो सकता । अष्टन आ विभक्तौ सूत्र में अष्टन इस एक वचन के निर्देश ने गौण र्थक अष्टन् शब्द में भी उसका प्रज्ञात होता है । पदादाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च इस परिभाषा के अनुसार अष्टन् शब्दान्त

इति च ॥११॥२५॥

इदं इतिग्रहणं द्विः क्रियते सख्यासज्ञाया पदसज्ञायां च । एकं शक्यमकर्तुम् । कथम् । यदि तावत् संख्यासज्ञाया क्रियते पदसज्ञायां न करिष्यत । कथम् 'ष्णान्ता पङि'त्यत्र इतीत्यनुवर्तिष्यते । अथ पदसज्ञाया क्रियते सख्यासज्ञायां न करिष्यते । इति चेत्तत्र सख्या सज्ञाप्यनुवर्तिष्यते ।

क्तक्तत्तु निष्ठा ॥११॥२६॥

निष्ठासज्ञाया समानशब्दप्रतिषेध ।

निष्ठासज्ञाया समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्य । लोतो गर्त इति ।

निष्ठासज्ञाया समानशब्दाप्रतिषेध ।

निष्ठासज्ञाया समानशब्दानामप्रतिषेध । अनर्थक प्रतिषेध अप्रतिषेध । निष्ठासज्ञा कस्मान्न भवति । अनुबन्धोऽन्यत्पत्त्यकार । अनुबन्ध क्रियते सोऽन्यस्य करिष्यति ।

यह इति ग्रहण दो बार किया गया है । एक तो बहुगणवत्तुइति सत्या इस सख्यासज्ञा सूत्र में । और दूसरा इति च इस पदसज्ञा सूत्र में । इन दोनों में से कोई एक हटाया जा सकता है । कैसा ? यदि बहुगण० में इति रखते हैं तो इति च इस सूत्र वाला इति हट सकता है । ण्णान्ता पद में पूरा सूत्र से इति की अनुवृत्ति भी कर लेंगे तो अर्थ होगा—यकारान्त नकारान्त सख्या के साथ सत्यासज्ञक तद्धित इति प्रत्यय की भी पदसज्ञा होती है । और यदि इति च इस पदसज्ञा में इति रखते हैं तो बहुगण० वाला इति हट सकता है । इति च में सत्या सज्ञा की अनुवृत्ति करके इत्यन्त जो सख्या उसकी पदसज्ञा मानेंगे तो इति की सत्यासज्ञा इत सिद्ध हो जायगी ।

क्त क्तवत्तु की निष्ठा सज्ञा में क्त क्तवत्तु के समान शब्दों की निष्ठा सज्ञा का निषेध कदना चाहिये । जैसे— लोट । गर्त । यह लट् और शू घातुओं ॥ औणादिक तन् प्रत्यय हाकर लोट गर्त ये रूप बनते हैं । लोट यह द्रव्यवाची शब्द है । इस का अर्थ मप=माड़ा है । गर्त भी द्रव्यवाची है । इस का अर्थ गड़ा है । इत गत चित स्तुत इन क्रिया शब्दों में स्थित त शब्द के समान यहाँ त शब्द होने से इस की भी निष्ठा सज्ञा प्राप्त होती है ।

निष्ठासज्ञा में समान शब्दों के निषेध की आवश्यकता नहीं । निष्ठा सज्ञा

प्रियाष्टन् शब्द में भी अष्टन् भा० यह आव अज्ञाधिनाराय होने से प्राप्त होता है । यह हठादि कइने पर औ जस् परे रहते प्रियाष्टौ प्रियाष्टा यहाँ नहीं प्राप्त हो सकता ।

अनुबन्धोऽन्यत्त्वर इति चेन्न लोपात् ।

अनुबन्धोऽन्यस्वर इति चेत् तन्न । किं कारणम् । लोपात् ।  
लुप्यतेऽत्रानुबन्धः । लुप्तेऽत्रानुबन्धे नान्यत्त्वं भवति । तद्यथा कतरद्  
देवदत्तस्य गृहम् । अदो यत्रासौ काक इति । उत्पतिते काके नष्टं तद् गृहं  
भवति । एवमिहापि लुप्तेऽनुबन्धे नष्टः प्रत्ययो भवति ।

यद्यपि लुप्यते जानाति त्वसौ सानुबन्धरुस्येयं संज्ञा कृतेति ।  
तद्यथा इतरत्रापि कतरद् देवदत्तस्य गृहम् । अदो यत्रासौ काक  
इति । उत्पतिते काके यद्यपि नष्टं तद् गृहं भवति । अन्ततस्तमुद्देशं  
जानातीति ।

सिद्धविपर्यासश्च ।

सिद्धश्च विपर्यासः । यद्यपि जानाति संदेहस्तु तस्य भवति ।

क्यों नहीं होती ? निष्ठासंज्ञा वाले चक्कबनु प्रत्ययो में ककार अनुबन्ध लगाया है  
वह लोत, गर्त, के अनुबन्धरहित त दाब्द की अपने से भिन्नता करके निष्ठा संज्ञा  
न होने देगा ।

ककार अनुबन्ध विद्यमान हो तो अन्यता (=भेद) करे । वह तो लुप्त हो चुका  
है । उस के लुप्त हो जाने पर दोनों त दाब्द बराबर हैं । इस लिये दोनों की  
निष्ठासंज्ञा प्राप्त है । अनुबन्ध के लुप्त होने पर दोनों में भिन्नता नहीं रहती ।  
जैसे किसी ने पूछा कि देवदत्त का घर कौन सा है ? दूसरे ने उत्तर दिया जहाँ  
वह कौवा बैठा है वह देवदत्त का घर है । कौवे के उड़ जाने पर देवदत्त के घर  
का पता नहीं लगता । वह घर ही समझ नहीं पड़ता । इसी प्रकार यहाँ क प्रत्यय  
का ककार अनुबन्ध लुप्त हो जाने पर क प्रत्यय समझ नहीं पड़ता । क और त  
दोनों बराबर हो जाते हैं ।

यद्यपि ककार अनुबन्ध का लोप हो जाने पर क नहीं रहता वह त हो जाता  
है फिर भी अन्येता यह तो जानता ही है कि यह पहले ककार अनुबन्धसहित क  
था इस की निष्ठा संज्ञा की गई है । जैसे अन्यत्र लोक में भी देवदत्त का घर कौन  
सा है ऐसा पूजने पर जहाँ वह कौवा बैठा है यह उत्तर दिया जाता है । यहाँ कौवे  
के उड़ जाने पर यद्यपि घर का पता नहीं रहता फिर भी आखिरकार वह उस ऊँचे  
स्थान को जानता ही है कि यहाँ कौवा बैठा था ।

इस में विपर्यास=सन्देह तो बना रहता है । यद्यपि वह जानता है कि

१. विपर्यास का प्रायः 'अप्राप्तक निश्चय' अर्थ होता है, यहाँ संशय अर्थ है ।

अयं स तदशब्दो लोको गतं इति । अयं स तदशब्दो लूनो गीर्णं इति । तद्यथा इतरत्रापि कतरद् देवदत्तस्य गृहम् । अतो यत्रासी कतर इति । उत्पतिते फाके यद्यपि तमुद्देशं जानाति सन्देहस्तु तस्य भवति इदं तद् गृहमिदं तद् गृहमिति ।

एवं तर्हि ।

कारककालविशेषात् सिद्धम् ।

कारककालविशेषादुपादेयौ । भूते यस्तदशब्दः कर्मणि कतरि भावे चेति । तद्यथा इतरत्रापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकरी भवति सोऽध्रुवेण निमित्तेन ध्रुवं निमित्तमुपादत्ते वेदिकां पुण्डरीकं वा ।

एवमपि प्राकीर्णं इत्यत्रापि प्राप्नोति ।

यह व शब्द है जिस की निष्ठा संज्ञा की गई है तो भी दो व शब्द देख कर उसे सन्देह तो होता ही है कि क्या लूनः गीर्णः वाला व शब्द निष्ठा संज्ञक है या लोनः गर्णः वाला । लूनः गीर्णः में लृ. गृ. घानुभों से क प्रत्यय हो कर उसे त्वादिभ्यः से निष्ठानत्व हो गया है । जैसे अन्यत्र भी 'देवदत्त का घर कौन सा है' इस प्रश्न का 'जहां वह कौवा बैठा है' यह उत्तर मिलने पर जब कौवा उड़ जाता है तब यद्यपि वह उस स्थान को मूलतः जानता है कि यहाँ कौवा कौवा बैठा था फिर भी उसे यह सन्देह तो होता ही है—यह वह देवदत्त का घर है जिस पर कौवा बैठा था या वह है ।

अच्छा तो निष्ठासंज्ञा में कारकविशेष और कालविशेष का उपादान करेंगे । भूतकाल में क्या कर्ता कर्म एवं भाववाच्य में जो व शब्द है उस की निष्ठा संज्ञा होती है ऐसा कहेंगे । उस से लोनः गर्णः में व शब्द की निष्ठा संज्ञा नहीं होगी । क्योंकि वह भूतकाल में नहीं हुआ है । जैसे अन्यत्र लोक में भी जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक काम करने वाला था अपनी ममता से काम लेने बाधा होता है वह देवदत्त के घर पर बैठे हुए कौवे रूप अध्रुव निमित्त को जो कि कौवे के उड़ जाने पर स्थिर नहीं रहेगा, उस के द्वारा घर में स्थित वेदी या पुण्डरीक रूप ध्रुव निमित्त को अपनी पहचान के लिये ग्रहण कर लेता है । वह जानता है कि कौवा तो उड़ भी सकता है उस के उड़ जाने पर देवदत्त के घर का पता नहीं रहेगा इस लिये उस अस्थिर कौवे के बैठने पर ध्यान न दे कर वह उस घर में स्थित कौवे से सम्बद्ध स्थिर विद्यमान वेदी या कमल के निशान को पहचान के लिये सुदृश्य कर लेता है । निमित्त=निशान । अध्रुव=अस्थिर । पुण्डरीक=कमल ।

कारक काल विशेष का उपादान करने पर भी प्राकीर्णं (प्र कृ तिष्-उद् व )

लुङि सिजादिदर्शनात् ।

लुङि सिजादिदर्शनाच्च भविष्यति ।

यत्र तर्हि सिजादयो न दृश्यन्ते प्राभिस्तेति ।

दृश्यन्तेऽत्रापि सिजादयः ।

किं चकड्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गस्यते ?

यथेयायमनुपदिष्टान् कारककालविशेषानवगच्छति । एवमेतदप्यवगन्तुमर्हति यत्र सिजादयो नेति ।

यहा त शब्द की निष्ठा सज्ञा प्राप्त होती है । यह लुङ् एकार का त शब्द भूतकाल में हुआ है ।

प्राक् लुङ् इस लुङ् एकार के त शब्द में सिच आदि विकरण भी दीखते हैं इस लिये इस की निष्ठा सज्ञा नहीं होगी । यहा कृ धातु से सीधा परे त शब्द नहीं है । बीच में सिच आदि का व्यवधान है ।

जहा सिच आदि का व्यवधान नहीं दीखता है वहा त शब्द की निष्ठा सज्ञा प्राप्त होती है । जैसे प्राभित् ( प्रभिद् सिच् लुङ् त ) यहाँ शलो शलि से सिच् का छोप हो जाने पर भिद् से सीधा परे त शब्द है ।

प्राभित् में भी सिच् आदि दीखते हैं ।

क्या यह बात कहनी होगी ?

नहीं ।

बिना कहे कैसे समझी जायगी ?

नित प्रकार यह अध्येता कारक काल विशेषों को बिना कहे समझ लेता है उसी प्रकार यह बात भी बिना कहे समझ जायगी कि जहा सिजादि नहीं दीखते वहा त शब्द की निष्ठा सज्ञा होगी । प्राभित् में जब कर्ता कारक तथा भूतकाल की स्थिति को वह जानता है तो उस के साथ होने वाले सिच् आदि को भी अवश्य ही जानता है । इस लिये यहा त शब्द की निष्ठा सज्ञा नहीं होगी ।

# पष्ठ आह्निक में प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार

इम आह्निक में सर्वादीनि सर्वनामानि ॥११११२७॥

इम सूत्र से ले कर नवेति विभाषा ॥११११४४॥

इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्का समाधान सहित विचार किया गया है।  
क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥११११२७॥

(क) सर्वादि शब्द में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास मान कर सर्व शब्द की भी सर्वनाम संज्ञा सिद्ध की है।

(ख) सर्वनाम शब्द में निपातन से णत्व का अभाव प्रतिपादन करते हुए बाधकान्येव निपातमानि भवन्ति यह परिभाषा स्वीकार की है।

(ग) संज्ञोपसर्जनप्रतिषेध इम वार्तिक के प्रयोजन बता कर नानाविध युक्तियों में उसका खण्डन किया है।

(घ) अक्त् के लिये उभ शब्द की सर्वनाम संज्ञा का खण्डन कर के भवतु शब्द की सर्वनाम संज्ञा के प्रयोजन बताये हैं।

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥११११२८॥

दिक्, समासे, बहुव्रीहौ इन सबका पदद्वय दिया कर बहुव्रीहिप्रहण का उत्तरसूत्रार्थ विशेष प्रयोजन बताया है।

न बहुव्रीहौ ॥११११२९॥

(क) सूत्र के कई उदाहरण दे कर उसकी प्रयोजनवत्ता मानते हुए भी मायकार ने अपनी तर्क से सूत्र का खण्डन कर दिया है।

(ख) आद्यो भूतपूर्व आद्यपूर्वः आद्यपूर्वाय यहाँ सर्वनाम संज्ञा के निषेध के लिये विशेष वचन का खण्डन भी किया है।

चूरीपासमासे ॥११११३०॥

समासप्रहण का द्विविध प्रयोजन बताया है।

विभाषा जसि ॥११११३२॥

केवल जस् वा कार्य जो शीभाव है उसक करने में ही सर्वनाम संज्ञा का विघ्न माना है।

पूर्वपरान्तदक्षिणोत्तरानराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥११११३४॥

गणपाठ से सिद्ध होने पर भी सूत्र का प्रयोजन केवल जस् में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प सिद्ध किया है ।

स्वमहातिघनाट्यायाम् ॥१११३५॥

आख्याग्रहण का प्रयोजन बताया है ।

अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानयोः ॥१११३६॥

उपसंख्यान ग्रहण का खण्डन करके अपुरि तथा तीयस्य द्वित्सु वा इन दो वार्तिकों का प्रयोजन बताया है ।

स्वरादिनिपातमव्ययम् ॥१११३७॥

चादिगण से पृथक् स्वरादिगण का तथा निपातसंज्ञा से पृथक् अव्ययसंज्ञा का प्रयोजन सिद्ध किया है ।

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥१११३८॥

(क) असर्वविभक्ति के स्थान में अविभक्ति अथवा अलिङ्गम्, असंख्यम् इन म्यासों का खण्डन मण्डन करके अन्ततः कुछ निश्चित तद्धित प्रत्ययों का पाठ ही अव्ययसंज्ञा के लिये सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है ।

(ख) अव्यय की अन्वर्थसंज्ञा मान कर अत्युच्चै, अन्युच्चैसी, अन्युच्चैस में अव्ययसंज्ञा का अभाव सिद्ध किया है ।

हृस्मेजन्तः ॥१११३९॥

(क) कृन् जो मकारान्त अथवा हृदन्त जो मकारान्त दोनों की अव्ययसंज्ञा स्वीकार करके हृस्मेजन्तश्चानिकारोकारप्रकृति अनन्यप्रकृतिरिति वा । इन दोनों वार्तिकों का सनिपातपरिभाषा द्वारा खण्डन किया है ।

(ख) सनिपात परिभाषा के प्रयोजन तथा दोष भी बताये हैं । अन्त में अपरिहार्य रूप से सनिपात परिभाषा को स्वीकार किया है ।

अव्ययीभावश्च ॥१११४१॥

अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा करने के परिगणित प्रयोजन बता कर उनकी अन्यथासिद्धि से सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

दि सर्वनामस्थानम्, सुडनपुंसकस्य ॥१११४२-४३॥

अनपुंसकस्य को प्रसज्यप्रतिषेध मानने में प्राप्त दो दोष दिखाये हैं । एक तो कृण्डानि यहाँ नपुंसक के जस् में सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध प्राप्त होता है । दूसरा नपुंसकस्य न भवति इस अर्थ में अनपुंसकस्य यह असमर्थसमास है । अन्त में दोनों

दोनों का समाधान करके प्रसज्यप्रतिषेधपक्ष को भी स्वीकार किया है। अर्ह्यपरमा, अथाद्धभोजी आदि कुछ असमर्थ समासों के उदाहरण भी दिखाये हैं।

नवेति विभाषा ॥१११४४॥

(क) इतिकरणद्वारा नवा शब्द के वजाय नवा शब्द के अर्थ जो निषेध और विकल्प हैं उनकी विभाषासंज्ञा सिद्ध की है।

(ख) नवा कुण्डिका, नवा घटिका आदि में नवा के समान शब्दों की विभाषा संज्ञा का निषेध सिद्ध किया है।

(ग) नवा यह निषेधवाची एक शब्द न मान कर निषेध तथा विकल्पद्वानी न और वा ये दो शब्द माने हैं। उससे प्राप्त अप्राप्त तथा प्राप्ताप्राप्त तीनों प्रकार की विभाषाओं में पहले निषेध की प्रवृत्ति हो कर फिर विकल्प की प्रवृत्ति होती है, ऐसा सिद्धान्त स्वीकार किया है।

(घ) विभाषा शब्द का सम्बन्ध शब्दसाधुत्व के साथ न मान कर सूत्रविहित कार्य के साथ माना है। साथ ही अनित्यशब्दवाद का खण्डन भी किया है।

(ङ) अन्त में लोकशास्त्र व्यवहार से सिद्ध होने पर इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है।

(च) फिर क्रमशः अप्राप्त, प्राप्त तथा उभयत्र तीनों प्रकार की विभाषायें उपलक्षण रूप से दिखाई हैं।



## अथ षष्ठमाह्निकम्

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१॥१॥२७॥

सर्वादीनीति कोऽय समासः ?

बहुव्रीहिरित्याह ।

कोऽस्य विग्रहः ?

सर्वशब्द आदिर्येषां तानोमानीति ।

यद्येवं सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न प्राप्नोति । किं कारणम् ? अन्यपदार्थत्वाद् बहुव्रीहेः । बहुव्रीहिरयमन्यपदार्थं वर्तते । तेन यद्व्यक्तं सर्वशब्दात् तस्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्नोति । तद्यथा चित्रगुरानीयतामित्युक्ते यस्य ता गावो भवन्ति स एवानीयते न गावः ।

नेप दोषः । भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि । तद्यथा

---

सर्वादिनि इति शब्द में क्या समास है ?

बहुव्रीहि ।

इस का क्या विग्रह है ?

सर्वशब्द आदिर्येषां तानि सर्वादीनि । अर्थात् जिन के आदि में सर्व शब्द है वे सर्वादि कहते हैं ।

तब तो सर्वशब्द की सर्वनामसंज्ञा नहीं प्राप्त होती । क्यों ? बहुव्रीहि समास अन्यपदार्थप्रधान होता है । जिन के आदि में सर्व शब्द है उन की सर्वनामसंज्ञा होगी तो सर्व शब्द से अन्य जो विश्वप्रभृति शब्द हैं उन की सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होती है, सर्व की नहीं । क्योंकि विश्वप्रभृति के आदि में सर्व शब्द है । जैसे—चित्रगु को टाओ ऐसा कहने पर जिस की चित्र विचित्र गाए हैं वह मनुष्य ही टाया जाता है, गौएँ नहीं ।

यह कोई दोष नहीं । बहुव्रीहि समास में तद्गुणसंविज्ञान भी होता है ।

---

१. संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध होने पर तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि होता है स्वस्वामिभाव सम्बन्ध में अतद्गुणसंविज्ञान । तद् शब्द अन्यपदार्थ का परामर्शक है । गुण=विशेषण, वर्तिपदार्थ रूप अवयव ।

चित्रवाससमानय, लोहितोष्णीपा ऋत्विजः प्रचरन्तीति । तद्गुण आनीयते तद्गुणाश्च प्रचरन्तीति ।

इह सर्वनामानीति 'पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामग' इति णत्वं प्राप्नोति तस्य प्रतिपेधो वक्तव्यः ।

सर्वनामसञ्ज्ञाया निपातनाण्णत्वाभाव ।

सर्वनामसञ्ज्ञायां निपातनाण्णत्वं न भविष्यति ।

किमेतन्निपातन नाम ?

अथ क. प्रतिपेधो नाम ?

अविशेषेण किञ्चिदुक्त्या विशेषेण नेत्युच्यते । तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यते इदं न भवतीति ।

तस्य अन्यपदार्थस्य गुणा तद्गुणा, तेषामपि कार्ये सविज्ञान तद्गुणसविज्ञानम् । उस अन्यपदार्थ के उपलक्षक को समासघटक अवयव हैं उन का भी अन्यपदार्थ के साथ कार्य में ग्रहण होना तद्गुणसविज्ञान होता है । अवयवार्थविशिष्ट अन्यपदार्थ का ग्रहण होने से सर्व शब्द निन के आदि में है उन के साथ सर्व की भी सर्वनामसञ्ज्ञा हो जायगी । जैसे—चित्रवाससमानय कहने पर चित्र विशिष्ट करडों वाला मनुष्य ही लाया जाता है । नकि कपडे रहित केवल मनुष्य । लोहितोष्णीपा ऋत्विज प्रचरन्ति कहने पर लाल पगड़ी वाले (रक्तशिरोवेष्टन सयुक्त) ऋत्विक् अनुष्ठान करते हैं न कि पगड़ी रहित केवल ऋत्विक् ।

सर्वनामानि शब्द में पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामग सूत्र से णत्व प्राप्त होता है उस का निषेध कहना चाहिये । क्योंकि सर्वनाम यह सञ्ज्ञा है । सर्वशब्द पूर्वपद में है । उस के रेफ से परे अह् व्यग्राय होने से णत्व प्राप्त है ।

सर्वनाम' (इस) सञ्ज्ञा में निपातन से णत्व नहीं होगा ।'

यह निपातन क्या चीज है ?

हम पूछते हैं निषेध क्या चीज है ?

सामान्य रूप से कोई कार्य कइ कर फिर विशेष रूप से 'न' ऐसा करते हैं तो वह आचार्य का यह स्पष्ट अभिप्राय होता है कि यह कार्य न हो । विशेष विषय में किसी कार्य को रोकने का नाम निषेध है ।

१ लोक में भी णवरहित सर्वनाम शब्द का प्रयोग होता है, अतः इसका यहाँ साधुत्व बताया जा रहा है ।

निपातनमप्येवंजातीयकमेव । अविशेषेण णत्वमुत्तत्वा विशेषेण निपातनं क्रियते । तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यते इदं न भवतीति ।

ननु च निपातनाच्चाणत्वं स्यात्, यथा प्राप्तं च णत्वम् ?

किमन्येऽप्येवंविधयो भवन्ति ? [ यदि भवन्ति तदा ] इको यणचोति यण् स्यात् यथाप्राप्तश्चेत् श्रूयेत ?

नैष दोषः । अस्त्यत्र विशेषः । पष्ठ्यात्र निर्देशः क्रियते । षष्ठी च पुनः स्थानिने नियतयति ।

इह तर्हि कर्तरि शप् द्विधादिभ्यः श्यन् इति वचनाच्च श्यन् स्यात्, यथाप्राप्तश्च शप् श्रूयेत ।

निपातन भी इसी प्रकार का होता है । सामान्यतया णत्व कह कर विशेष रूप से सर्वनाम यह णत्वरहित निपातन किया है जहाँ आचार्य का यह स्पष्ट अभिप्राय विदित (अनुमित) होता है कि यहाँ णत्व नहीं होता ।

सर्वनाम इस निपातन से णत्वं का अभाव रहे पर सामान्यतया प्राप्त णत्व भी हो जाय ऐसा क्यो न माने ?

क्या इस प्रकार कोई और भी कार्य होते हैं ? जहाँ भाव भ्रमान पूर्व विधि-निरोध दोनों चलते रहें । यदि ऐसा है तो इका यणचि इस सूत्र के वचन से इक् के स्थान में यण् हो जाय, पर सामान्यतया प्राप्त यण् का अभाव भी रहे तो इक् सुनाई देना चाहिये । ( भाव यह है कि सूत्र यण् साधु है यह कहता है इक् की निवृत्ति नहीं करता ) ।

यह कोई दोष नहीं । यहाँ विशेष बात है । इह इस षष्ठी रिभक्ति से यहाँ निर्देश किया है । षष्ठी स्थानेयोगा के नियमानुसार यण् आदेश इक् स्थानी को सर्वथा हटा देगा ।

अच्छा तो यह लीजिये । कर्तरि शप् कह कर फिर दिवादिभ्यः श्यन् कहा है । वहाँ श्यन् के वचन से तो श्यन् दो जाय पर सामान्यतया प्राप्त शप् भी होता रहे ।

१ भाव यह है कि प्रतिषेध का निवृत्ति में तात्पर्य होता है, यह कार्य नहीं होता है इस में अभिप्राय होना है । निपातन तो उच्चाारत रूपविशेष के साधुन को बतलाता है, रूपान्तर (उस से भिन्न रूप) को हटाता नहीं । यह परस्पर भेद है ।

नैष दोषः । शयादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते ।

तत् तर्हि शपो ग्रहणं कर्तव्यम् ?

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क प्रकृतम् ? कर्तरि शप् इति ।

तद्वे प्रथमानिर्दिष्टं, पष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः ।

दिवादिभ्य इत्येषा पञ्चमी शविति प्रथमायाः पष्ठी प्रकल्पयिष्यति तस्मादित्युत्तरस्येति ।

प्रत्ययविधिरयम् । न च प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पना भवन्ति ।

यह भी दोष नहीं । शप् के स्थान में श्यन् आदि आदेश मान लिये जावेंगे वे स्थानी शप् की निवृत्ति कर देंगे ।

स्थानीनिर्देश के लिये श्यन् आदि में शप् ग्रहण करना होगा ।

नहीं करना होगा । कर्तरि शप् से चले आ रहे शप् की अनुवृत्ति कर देंगे ।

कर्तरि शप् में तो शप् यह प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट है । आरको स्थानी-निर्देश के लिये पष्ठी विभक्ति चाहिये ।

दिवादिभ्य श्यन् में दिवादिभ्यः यह पञ्चमी तस्मादित्युत्तरस्य के नियम से शप् इस प्रथमा को पष्ठी बना लेगी । अर्थ होगा—दिवादियों से परे शप् के स्थान में श्यन् होता है ।

दिवादिभ्यः श्यन् तो प्रत्यय विधि है । वह श्यन् प्रत्यय का विधान करता है आदेश का नहीं । प्रत्यय विधि में पठनी किसी विभक्ति को तस्मादित्युत्तरस्य

१. श्यन् आदि को शप् के स्थान में आदेश मानने पर भी श्यन् के निवृत्ति एवं निवृत्ति शपक से शप् का शिव स्थानियद्वारा से श्यन् आदि में नहीं आयेगा तो कर्तरि ( कृ-उ-तिप् ) में शप् के स्थान में होने वाला उ प्रत्यय निरु नहीं होगा उस रा उ प्रत्यय अनुदात्त न हो कर उदात्त ही रहेगा । कुर्वती ( कृ-उ-शृ-वृ-न् ) में शप् स्थानीय उ प्रत्यय के शप् न होने से शप्श्यनोन्त्यम् से शुभ्र नहीं दगा । रुधादिभ्य श्नुम् शप् के स्थान में होने वाला श्नुम् मिदचन्त्यत्तरः के नियम से रुध् के अन्तिम अच् से परे ही जायगा और शप् की निवृत्ति कर देगा । जैसे अस्त्रो रोपधयो रमन्यतरस्याम् से होने वाला रमागम अस्त्र् के अन्तिम अच् से परे होता है और उस के एक तथा उपधा की निवृत्ति कर देता है । इस प्रकार वही दोष न आने से श्यन् आदि को शयादेश मानना भी ठीक है ।

नायं प्रत्ययविधिः । विहितः प्रत्ययः । प्रवृत्तश्चानुवर्तते ।

इह तर्हि 'अन्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् ष्टेरिति' वचनाच्चाकच् स्यात् । यथा प्राप्तश्च कः श्रूयेत ।

नेप दोषः । नाप्राप्ते हि केऽकजारभ्यते स बाधको भविष्यति ।

निपातनमप्यवजातीयक्रमेव । नाप्राप्ते णत्वे निपातनमारभ्यते तद् बाधक भविष्यति ।

यद् तर्हि निपातनान्यप्येवजातीयकानि भवन्ति समस्तते दोषो भवति । इहान्य चयाकरणाः समस्तते विभाषा लोपमारभन्ते 'समो हितततयो' धेति । सततम् । सततम् । सहितम् । सहितम् । इह पुनर्भवान् निपातनाच्च लोपमिच्छति 'अपरस्परः क्रियासातत्ये' इति । यथाप्राप्तं चालोपम् । सततमित्येतन्न सिध्यति ।

के नियम से पष्ठ में बदलने मानी नहीं होती ।

दिवादिभ्य इयन् को प्रत्यय विधि नहीं मानेंगे । प्रत्यय तो कर्त्तर शप् से विहित है ही । वही शप् प्रत्यय अनुवृत्ति से दिवादिभ्य इयन् में चला आ रहा है । तब दिवादिभ्य इयन् का अर्थ होगा—दिवादियों से परे अनुवर्तमान शप् के स्थान में इयन् आदेश होता है ।

अच्छा फिर यह लीजिये । अन्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् ष्टे इस वचन से तो अकच् हो जाय पर सामान्यतया प्राप्त क प्रत्यय भी होकर सुनाई देता रहे ।

यह भी दोष नहीं । क प्रत्यय की अवश्य प्राप्ति में अपवाद रूप से कच् का विधान किया है उह येन नाप्राप्त भ्याय से क को बाध होगा ।

तब तो निपातन भा इसी प्रकार का है । णत्व की अवश्य प्राप्ति में ही अपवाद रूप से सर्वनाम यह णत्व का अभाव निपातन किया है यह णत्व को बाध होगा ।

यदि निपातन भी अपवादरूप से बाधक माने जाते हैं तो सम् से परे तत् शब्द में दोष जाता है । यहा कुछ वैयाकरण समो वा हितततया इस वचन द्वारा सम् के मकार का तत् और इत् शब्द पर रहते विकल्प से लोप विधान करते हैं । सततम् । सततम् । सहितम् । सहितम् । इधर आप अपरस्पर क्रियासातत्ये इस सूत्र में सातत्य निपातन से मकार का ल प इष्ट मानते हैं तो सततम् में सामान्यतया प्राप्त लोप का अभाव नहीं सिद्ध होता । सातत्य यह निपातन बाधक हो जायगा

फतन्व्योऽत्र यत्नः । बाधकान्येव हि निपातनानि भवन्ति ।

संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः ।

संज्ञोपसर्जनीभूतानां सर्वादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः । सर्वो नाम कश्चित् । तस्मै सर्वाय देहि । अतिसर्वाय देहि ।

तो सर्वथा संतत, सातत्य कोई भी रूप न बन सकेगा । केवल संतत या सातत्य ही बनेंगे ।

इस विषय में ध्यान करना होगा । लुप्तेदवश्यमः कृत्ये० इस श्लोक में कथित समो वा हितततयोः । इस वचन को मानना ही होगा । उसी से संततम्, संततम् ये दो रूप बन जायेंगे, निपातन की जरूरत नहीं । निपातन तो अवश्यमेव बाधक होते हैं ।

किसी की संज्ञा और उपसर्जन कर्णात् सौष्ठ यत्ने रूप सर्वसंज्ञियों की सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहना चाहिये । संज्ञा का अर्थ नाम है । उपसर्जन गौण को कहते हैं । जैसे किसी का नाम सर्व है उसकी चतुर्थी विभक्ति के प्रकरण में सर्वाय देहि यह रूप बनता है । यहाँ सर्वनामसंज्ञा हो जाती तो सर्वनाम्नः स्मै से स्मै हो कर सर्वस्मै ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता । संज्ञा में सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहने से यह न होगा । सर्वमतिक्रान्तः अतिसर्वः । तस्मै अतिसर्वाय देहि । यहाँ अतिसर्व शब्द में प्रादिसमास है अतिक्रान्त अर्थ मुख्य है । सर्व का अर्थ उपसर्जन है । गौण है । गौण में सर्वनामसंज्ञा का निषेध कहने से स्मै न होगा ।

१. निपातनों की बाधक मानने पर भी सातत्यम् इस रूप का तो अनभिधान होने से अप्रयोग होगा । संततम् विशेष वचन से बन जायगा । पुराणश्लेषेण ब्राह्मण-कल्पेषु में पुराण निपातन से पुरातन शब्द का बाध प्राप्त होना है यह पृथेदरात्रि मान कर साधु बना लिया जायगा । पुराण के समान पुरातन शब्द भी स्वीकार्य होगा ।

२. संज्ञा की सर्वनामसंज्ञा का निषेध तो अन्यथा भी सिद्ध किया जा सकता है । क्योंकि या कडारादेका संज्ञा सूत्र के भाष्य में प्रातिपदिक, गुणवचन, समाग, ह्रस्व, तद्धित, अन्यस्य सर्वनाम, असर्वलिङ्गा जाति, एन्द्रव्योमनिदेशिनी संज्ञा ये कुछ संज्ञायें कम से बड़ी गई हैं । इनमें परसंज्ञा पूर्वसंज्ञा की बाध देती है । उस अवस्था में परपठित एन्द्रव्योमानिदेशिनी संज्ञा द्वारा पूर्वपठित सर्वनाम संज्ञा का स्वयमेव बाध हो जायगा ता संज्ञा के विषय में इस निषेध की आवश्यकता नहीं रहनी ।

३. येन विधिस्तदन्तस्य सूत्र में पठित प्रयोजनं सर्वनामाप्यपसंज्ञायाम् । इस

स कथं कर्तव्यः ?

पाठात् पर्युदास पठिताना सज्ञाकरणम् ।

पाठादेव पर्युदासः कर्तव्यः । शुद्धानां पठितानां संज्ञा कर्तव्या ।  
सर्वादीनि सर्वनामसज्ञानि भवन्ति । सज्ञोपसर्जनीभूतानि न सर्वादीनि ।

किमविशेषेण ?

नेत्याह । विशेषेण च । किं प्रयोजनम् ?

सर्वाधानन्तर्यकार्यार्थम् ।

सर्वादीनामानन्तर्येण यदुच्यते कार्यं तदपि सज्ञोपसर्जनीभूतानां  
मा भूदिति । किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनं इतरादीनामद्भभावे ।

इतरादीनामद्भभावे प्रयोजनम् । अतिक्रान्तमिदं ब्राह्मणकुलं

सज्ञा और उपसर्जन की सर्वनामसज्ञा का निषेध कैसे किया जायगा ?

सर्वादिगण के पाठ से ही सज्ञा और उपसर्जन वाले सर्वादियों को हटा  
दिया जायगा । सज्ञा उपसर्जन रहित कुल शुद्ध पठित सर्वादियों की ही सर्वनाम  
सज्ञा की जायगा । सज्ञा और उपसर्जन बने हुए सर्वादि शब्द सर्वादि  
गणपाठ में न होंगे तो उनकी सर्वनाम सज्ञा नहीं होगी । अर्थात् असज्ञोपसर्जनानि यद्  
सर्वादीनि का विशेषण रहेगा ।

क्या सामान्यरूप से सम्पूर्ण सर्वादिगण के कथित कार्यों में ही सज्ञा और  
उपसर्जन का निषेध होगा ?

नहीं । विशेषरूप से भी कथित सर्वादिगण के (=गणपाठोपलक्षित विशिष्ट)  
कार्यों में सज्ञा और उपसर्जन का निषेध होगा । क्या प्रयोजन है ? सर्वादि के  
अन्तर्गत त्वदादि इतरादि का आनन्तर्य=परत्वाऽप्यस्य स चो कार्यं विहित है उनमें भी  
सज्ञा और उपसर्जन की सर्वनामसज्ञा का निषेध इष्ट है । अद्भ इतरादिभ्य  
पञ्चभ्य से इतरादियों से परे सज्ञा उपसर्जन बने हुए सर्वादि शब्दों को

वचनद्वारा सर्वनामसज्ञा में भी अव्ययसज्ञा के समान तदन्तर्वाध मानी गई है इस  
लिये परमसर्व की तरह अतिसर्व म भी सर्वनामसज्ञा का प्राप्ति सम्भव है । परमसर्व  
में सर्व शब्द के अर्थ का प्रधानता हान से वही सर्वनामसज्ञा इष्ट है । किन्तु अतिसर्व  
में अतकान्त अर्थ की प्रधानता है । सर्व शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं है इस  
लिये अतिसर्व की सर्वनामसज्ञा इष्ट नहीं है उसके लिये यहाँ कहा जा रहा है ।

कतरत् अतिक्तरं ब्राह्मणकुलमिति ।

त्यदादिविधौ च ।

त्यदादिविधौ च प्रयोजनम् । अतिमान्तोय ब्राह्मणस्तम् अतितद् ब्राह्मण इति ।

सज्ञाप्रतिषेधस्तावन्न वक्तव्य । उपरिष्ठाद् योगविभाग करिष्यते । 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम्' । ततो 'ऽसंज्ञायाम्' इति । सर्वादीनीत्येव यान्यनुमान्तानि असंज्ञाया तानि द्रष्टव्यानि ।

उपसर्जनप्रतिषेधश्च न कर्तव्य । अनुपसर्जनादित्येव योग

सर्वनामसज्ञा न होने से सु और अम् क स्थान से अद्भ आदेश न होना प्रयोजन है । जिस—अतिमातमिद् ब्राह्मणकुल कतरत्=अतिक्तर ब्राह्मणकुलम् । यहाँ अतिक्तरम् इस प्रादिसमास में कतर शब्द उपसर्जन है । अतिक्रान्त अर्थ मुख्य है । कतर शब्द के उपसर्जन होने से सर्वनाम सज्ञा न होगी तो अद्भ आदेश नहीं होगा । त्यदादीनाम से त्यदादि को अत्र कार्य का भी सज्ञा उपसर्जन बन हुए सर्वोदि शब्दों की सर्वनाम सज्ञा न होने से रुक जाना प्रयोजन है । जिस—अति का तोऽयं ब्राह्मणस्तम्=अतितद् ब्राह्मण । यहाँ अतितद् इस प्रादिसमास में तद् शब्द उपसर्जन है । अतिक्रान्त अर्थ मुख्य है । तद् के उपसर्जन होने से सर्वनाम सज्ञा न होगी तो त्यदादयश्च न होगा ।

सज्ञा की सर्वनामसज्ञा का निषेध कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं । भागे सूत्र में योगविभाग करेंगे । पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् यह एक सूत्र बनायेंगे । उस के बाद अमज्ञायाम् यह दूसरा सूत्र होगा । उस का अर्थ होगा—सर्वादीनाम सर्वनामानि स हे कर पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् तक कहे हुए सब सूत्रों के कार्य सज्ञाभिन्न में होत हैं । उस से सज्ञाविषयक सर्वादियों का सर्वनामसज्ञा न होगी ।

उपसर्जन का निषेध कहने की भी आवश्यकता नहीं । भागे अनुपांश्याय में अनुपसर्जनात् यह सूत्र नि प्रयोजन होने से खण्डित किया गया है' उस से यहाँ

१ यदि कहो कि रत्नाप्रयोगों में अनुपसर्जन अर्थात् प्रधान से तदन्तर्विधि का ज्ञान करने के लिए अनुपसर्जनात् यह सूत्र रह सकता है किमिदं कुरचरी (कुर चर-ट राय) यदी टिप्पणतात् कुरचर शब्द के अनुपसर्जन होने से टिप्पणतात् सूत्र से कुर हा जान और बहुकुरचरा नगरा (बहुय कुरचरा यस्यां मा भवती) यदी कुरचर के उपसर्जन होने से स्पष्ट हो । टिप्पण ग्रहणरत्ना प्रातिपदिकेन तदन्तर्विधिनांस्ति इय परिभाषा से तदन्तर्विधि का निषेध हो कर सूत्र में गृह्यमाण प्रातिपदिक से ही प्रत्यक्ष हो



प्रत्याख्यायते तमेवमभिसंमन्त्स्यामः । अनुपसर्जनं च अदिति । किमिदम्

परिभाषा रूप से प्रयोजन लेंगे । अनुपसर्जनात् यह पञ्चमी न मान कर अनुपसर्जन  
अ अत्=अनुपसर्जनात् इस प्रकार पदों का सम्बन्ध समझेंगे । अनुपसर्जन इस शब्द

सकेगा । टिड्ढाणञ् आदि प्रत्यया में भी प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्त-  
स्य ग्रहणं भवति इस परिभाषा से अन्यूनानतिरिक्त प्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा, प्रत्य-  
यान्त जिस के अन्त में है उस का ग्रहण न होगा तो कौम्भकारेय यह रूप नहीं बन  
सकेगा । यहा कुम्भकार्या अपत्यम् इस अर्थ में कुम्भकारी शब्द का अवयव वार शब्द  
अण् प्रत्ययान्त है । उस से टिड्ढाणञ् सूत्र से झीप् हो कर वारी यह स्त्री प्रत्ययान्त  
हुआ । कुम्भकारी यह समुदाय स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं है । अपत्य अर्थ में स्त्रीभ्यो ङक्  
से स्त्रीप्रत्ययान्त से होने वाला टक् प्रत्यय केवल वारी से हो सकेगा । ङक् पर रहते  
कारी ही अङ्ग होगा । आदिवृद्धि भी कारी को ही होगी कुम्भकारी को नहीं, तो कुम्भकारेय  
ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । इस सूत्र से प्रधान में तदन्तविधि स्थापित कर देने पर  
टिड्ढाणञ्० सूत्र अण्णन्तान्त से भी झीप् कर देगा तो केवल वार स झीप् न हो कर  
कुम्भकार से भी हो जायगा । तब कुम्भकारी के स्त्रीप्रत्ययान्त हो जाने से ङक् हो जायगा ।  
कुम्भ शब्द को आदिवृद्धि हो कर कौम्भकारेयः यह इष्ट रूप बन जायगा । यदि  
कोई कहे कि कौम्भकारेय तो अनुपसर्जनात् सूत्र के बिना भी बन जायगा ।  
क्योंकि कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहण भवति इस परिभाषा से कृत् प्रत्यय के ग्रहण  
में कारक पूर्वक का भी ग्रहण होने से कार के साथ कुम्भकार भी अण्णन्त माना जायगा  
उस से झीप् हो कर कुम्भकारी इस स्त्रीप्रत्ययान्त से ङक् होगा तो कुम्भ को आदि वृद्धि  
हो कर कौम्भकारेय बन जायगा सो ठीक नहीं । कृद्ग्रहण परिभाषा वरा लगती है  
जहा केवल कृत् का ही ग्रहण हो । जहा कृत् अकृत् दोनों का ग्रहण हो वही उक्त  
परिभाषा नहीं लगती । टिड्ढाणञ्० सूत्र में जो अण्ग्रहण है वह केवल कृप्रत्यय का ही  
नहीं है अपितु तद्धित का भी है इस लिये केवल कृत् का ग्रहण न होने से कृद्ग्रहण  
परिभाषा नहीं लगेगी तो टिड्ढाणञ्० में कुम्भकार यह अण्णन्त न बन सकेगा ।  
अण्णन्त न होने से झीप् नहीं प्राप्त होगा । उस में तदन्तावधि से झीप् करने के लिये  
अनुपसर्जनात् सूत्र की आवश्यकता है तो यह बात भी नहीं बनती । अनुपसर्जनात् सूत्र  
की फिर भी आवश्यकता नहीं । स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने ॥ इस परिभाषा में उपसर्जनभिन्न  
स्त्रीप्रत्यय में प्रत्ययग्रहण परिभाषोक तदशदित्यम का निषेध होना है इस लिये कुम्भकार  
में यदि केवल अण्णन्त कार से भी झीप् हो जाय तो भी ङक् प्रत्यय तो कुम्भकारी इस  
स्त्रीप्रत्ययान्तभिन्न समुदाय से भी हो जायगा । क्योंकि यह उपसर्जनभिन्न स्त्रीप्रत्यय  
है । उस में तदशदित्यम केन होने से स्त्रीप्रत्ययान्त कारी से अतिरिक्त कुम्भ भी ले लिया  
जायगा तो कुम्भ को आदिवृद्धि हो कर कौम्भकारेयः यह इष्ट रूप बन जायगा ।

‘द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ’ घृतपती दक्षिमत्या उदक्च यौ वा । ‘वन घृतम्’ इत्यदक-  
नामसु पाठात् । भवत इति शेषः । ‘भुवनानां भूतानाम्’ अभिधिया अभिधायनीये’ भवन इति  
सर्वत्रानुसंधेयम् । ‘उर्वी विस्तीर्णं’ पृथ्वी बहुकार्यरूपेण प्रविते च ‘मनुष्टुपे मधुन उदक्च’  
‘दोग्ध्या’ ‘मुपेक्षमा मुरूपे’ वर्णस्य मर्चस्य निधानस्य ‘धर्मणा धारणेन’ विष्कभिते पृथग्यारिते  
‘अजरे नित्ये’ ‘भूरिरेतमा बहुरेतस्के बहुकार्ये’ वा भवत । अत्र साक्षात् द्यावापृथिव्यो स्तुति प्रमहान्  
वरणस्येति द्रष्टव्यम् ॥

असंश्वन्ती भूरिधारे पर्यस्वती घृतं दुहाते मुकुते शुचित्रते ।

राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः मिश्रतं यन्मनुर्हितम् ॥ २ ॥

असंश्वन्ती इति । भूरिधारे इति भूरिधारे । पर्यस्वती इति ।

घृतम् । दुहाते इति । मुकुते । शुचित्रते इति शुचित्रते ।

राजन्ती इति । अस्य । भुवनस्य । रोदसी इति ।

अस्मे इति । रेतः । मिश्रतम् । यतः । मनुर्हितम् ॥ २ ॥

‘असंश्वन्ती असंश्वयमाने व्युदस्यन्त्या वा’ ‘भूरिधारे बहुधारे । दिवो वृद्धिधाराः पृथिव्याः द्यौः यु-  
भूतरमधाराः । पृथुभयोरपि बहुधारत्वम्’ । ‘पर्यस्वती उदक्चर्या’ । तथा च यास्क — ‘असंश्व-  
माने इति वा व्युदस्यन्त्याविति वा बहुधारे उदक्चर्या’ (निर. ५०) इति । ‘शुचित्रते शुचित्रिये  
द्यावापृथिव्यौ’ ‘मुकुते शोभनकारिणे यजमानाय’ घृतं मस्यादिसमृद्धिहतमुदक् ‘दुहाते’ । अथ  
प्रत्यक्षस्तुतिः । ‘रोदसी हं द्यावापृथिव्या’ ‘अस्य’ ‘भुवनस्य भूतजातस्य’ ‘राजन्ता ईशाने युवाम्’ ‘अस्मे  
अस्मानु’ ‘रेतः’ ‘प्रजननसमर्थं वीर्यं’ ‘मिश्रतम्’ । ‘यत् रेतः’ ‘मनुर्हितं मनुष्येभ्यो हितम्’ ॥

यो वामृजवे क्रमणाय रोदसी मर्तो ददाश धिपणे स साधति ।

प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि युवोः सिक्ता विपुरुषाणि सव्रता ॥ ३ ॥

यः । वाम् । क्रजवे । क्रमणाय । रोदसी इति । मर्तः । ददाश । धिपणे इति । स । साधति ।

प्र । प्रजाभिः । जायते । धर्मणः । परि । युवोः । सिक्ता । विपुरुषाणि । सव्रता ॥ ३ ॥

‘धिपणे पृष्टे सर्वस्य भुवनस्य निवासभूते वा हे’ ‘रोदसी’ वा युवाभ्यां ‘य’ ‘मर्तं मर्त्यं’  
‘क्रजवे’ क्रमणाय युवयोः सुखगमनाय ‘ददाश हवोषि ददाति’ ‘स मायं’ ‘साधति’ कामाद्  
साधयति । किंच ‘प्रजाभिः पुत्रपौत्रादिभिः’ ‘प्र’ ‘जायते प्रवृद्धो भवति’ । ‘धर्मणः’ कर्मणः ।  
‘परि उपरि’ ‘युवोः युवयोः’ । ‘सिक्ता सिक्तानि रेतसि’ ‘विपुरुषाणि नानावर्णानि’ ‘सव्रता समान  
कर्माणि भूतानि जायन्ते’ ॥

१. ख-घ-त-न-भ-अ-अभिधायनीयेन । २. य-धारकेन । ३. य-बहुकार्येति भावः । ४. ख-त-न-भ-बहुधारम् ; श-बहुधारत्वम् । ५. ख-त-न-भ-स साधति ।

सप्तमीनिर्दिष्टे यदुच्यते प्रवृत्तविभक्तौ तद् भवति ।

यद्येवम् अतितद् अतितद् अतितद् । इति ज्ञानं प्राप्नोति । तच्चापि चक्षव्यम् ।

न चक्षव्यम् । इह तावद् इतरादिभ्यः पञ्चमी' इति पञ्चमी । अङ्ग-  
स्येति पृष्टी । तत्राशक्यं भिन्नविभक्तित्वात् इतरादिभ्य इति पञ्चम्याऽङ्ग  
विशेषयितुम् । तत्र किमन्यच्छब्दस्य विशेषयितुमन्यदतो विहिताप्रत्ययान् ।  
इतरादिभ्यो यो विहित इति । इहेदानीं 'अस्थिदधिसन्ध्यदणामनपुदात्त

भङ्गाधिकार में ही जहाँ सप्तमी विभक्ति का निर्देश करके कार्य कहा है' यहाँ यह प्रवृत्त की विभक्ति में होता है । प्रवृत्त अर्थात् प्रस्तुत अधिवृत्त जो शब्द है उस के अर्थ वाली विभक्ति में कार्य होता है । तो प्रत्ययकृष्णा में अन्यपदार्थ विशेष्य ज्ञार्थ-सम्बन्धिनी दा विभक्ति पर होने पर भी अनङ् हो जायगा । यहाँ गृह्यमाण सन्धि शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं देखी जायगी ।

तब तो अतितद् अतितद्, अतितद् : यहाँ अतिशान्तार्थ प्रिष्टि भङ्ग के अर्थ की प्रधानता में भी त्यदादीनाम से अन्तर प्राप्त होता है । क्योंकि यहाँ भी विभक्तौ यह सप्तमी निर्देश है । और तमतिक्रान्तः=अतनत् । तमनिक्रान्तः=अतिनद् । तमनिक्रान्तः=अतिनद् । इस प्रादिसमास में प्रवृत्त अतनद् इस शब्द के अर्थ की प्रधानता है । गृह्यमाण तद् शब्द के अर्थ की प्रधानता नहीं है । जहाँ भार भङ्गाधि-  
कार में गृह्यमाण शब्द के अर्थ की प्रधानता में कार्य होता है ऐसा कहेंगे यहाँ सप्तमी निर्देश में भङ्गार्थ की प्रधानता में भी कार्य होता है यह बात भी कहनी होगी । ये दोनों बातें कहने में बहुत गौरव होगा ।

कोई गौरव नहीं होगा । ये दोनों ही बातें नहीं कहेंगे । इतरादभ्यः पञ्चम्य में इतरादिभ्य यह पञ्चमी है । और अङ्गस्य के अधिकार से जाने वाली भङ्गस्य यह पृष्टी है । दोनों के भिन्न विभक्ति होने से इतरादभ्यः यह पञ्चमी भङ्ग को विशेषित नहीं कर सकती । अर्थात् भङ्ग का विशेषण नहीं बन सक्ती । दां सिनाप इस के कि इतरादिभ्य इस पञ्चमा को विहित प्रत्यय का विशेषण बनाया जाय और क्का क्कि क्क सञ्जा है । इतरादिभ्यः इस पञ्चमा का अर्थ होगा—  
इतरादि से विहित जो सु अम् उन को धृष्ट आदत्त दाता है । ( इतरादि में कर्त

१ अस्थि दधि० इस सूत्र ने अनङ् जात्वा पूर्वसूत्र ने पुराण पूर्वपादित भङ्गादिषु विभक्तिषु इस सप्तमी निर्देश में उपादे ।

२ तद् शब्द से व्यवहृत गृह्यमाण विभक्ति इस वचना का परान्वय है अपि शब्द सम्बन्धित सप्तमीनिर्देश० इस वचना का समुच्चायक है ।

इति । 'त्यदादीनामो भवती'ति । अस्थ्यादीनामित्येषा पृष्ठी । अङ्गस्ये  
त्यपि त्यदादीनामित्यपि पृष्ठी । अङ्गस्येत्यपि । तत्र कामचारः, गृह्यमाणेन  
वा विभक्तिं विशेषयितुमङ्गेन वा । यावता कामचारः, इह तावदस्थि-  
दधिसम्बन्ध्याम्नदुदात्त इत्यङ्गेन विभक्तिं विशेषयिष्यामः । अस्थ्यादि-  
भिरनङ्म् । अङ्गस्य विभक्तावनङ् भवति अस्थ्यादीनामिति । इहेदानीं  
त्यदादीनामो भवतीति गृह्यमाणेन विभक्तिं विशेषयिष्यामः । अङ्गना  
कारम् । त्यदादीनां विभक्तावो भवन्ति । अङ्गस्येति ।

से विहित सु अन् नहीं है अपि तु अतिकतर से विहित है इस लिये अङ्ग  
नहीं होगा ।

अस्थि दाध० और त्यदादीनाम. इन दोनों में भी देखिये । अग्निदधि-  
सम्बन्ध्याम् यह पृष्ठी है । अङ्गस्य से अधिकृत अङ्गस्य यह भी पृष्ठी है । 'त्यदादीनाम्  
यह पृष्ठी है अङ्गस्य से अधिकृत अङ्गस्य यह भी पृष्ठी है । दोनों के पञ्चान्त होने  
पर हमारी मर्जी है चाहे हम गृह्यमाण शब्द से विभक्ति को विशेषित करें अर्थात्  
सुत्र में पठित शब्द में विहित विभक्ति में कार्य करें या प्रकृत अङ्ग से विभक्ति को  
विशेषित करें । अब मर्जी है तो हम अस्थिदधि० में अङ्ग से विभक्ति को विशेषित  
करेंगे । अनङ् को अदि० आदि से विशेषित करेंगे । तब अर्थ होता है—अङ्ग से विहित  
यदि अजादि विभक्ति पर होने पर अस्थ्यादि शब्दों को अनङ् आदेश होता है । तो  
त्रिभक्त्या प्राप्तेन में सक्रिय शब्द के गौण होने पर भी सक्रिय वाले अङ्ग का अर्थ  
प्रधान होने से अनङ् हो जायगा । अजादीनामः यहाँ गृह्यमाण शब्द से विभक्ति  
को विशेषित करेंगे । अङ्ग से अकार को विशेषित करेंगे । तब अर्थ होगा—त्यदादि  
शब्दों की (उन से विहित) विभक्ति पर होने पर अङ्ग (त्यदादि) को अ अनङ् आदेश  
होता है । फलितार्थ होगा—अजादि रूप जो अङ्ग उस को विभक्ति पर होने पर अकार  
होता है । तो अतएव मैं तद् रूप अङ्ग न होने से अकार नहीं होगा ।

१. जहा इतरादि के अर्थ की प्रधानता है वहाँ इतरादि से विहित ही प्रत्यय  
माना जायगा तो कतरत् के समान परमकतरत् में भी अङ्ग हो जायगा । अतिकतरत्  
में इतर के अर्थ की प्रधानता नहीं है इस लिये उस से विहित न माना जायगा तो  
अङ्ग नहीं होगा । इतरादिभ्य इति पञ्चमी को विहित विशेषण मानने पर अङ्गस्य  
यद् पृष्ठं भी पञ्चमी में परिणत हो जायगा तो अर्थ होगा—अङ्गसङ्कट इतरादि से  
विहित सु अन् को अङ्ग होना है । ऐसा मानने में कहीं दोष न होगा ।

२. जहा त्यदादि के अर्थ की प्रधानता है वहाँ तो त्यदादि रूप ही अङ्ग माना  
जायगा तो शोभनः सः=अविम । न सः=अस । न षट्=अषट् । न कतरत्=अकतरत्  
इत्यादि में अवारादि हो जायेंगे । इसी बात को आगे शङ्का समाधान सहित कहेंगे ।

यद्येवम् अतिसः । अत्वं न प्राप्नोति ।

नैप दोषः । त्यदादिप्रधान एष समास ।

अथवा नेदं संज्ञाकरणम् । पाठविशेषणमिदम् । सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वादीनि । संज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठेते ॥

यद्येवं संज्ञाश्रयं यत् कार्यं तन्न सिध्यति । सर्वनाम्नः स्मै । आमि सर्वनाम्नः सुडिति ।

अन्वर्थग्रहणं तत्र विज्ञास्यते । सर्वेषां यन्नाम तत् सर्वनाम । सर्वनाम्न उत्तरस्य डेः स्मै भवति । सर्वनाम्न उत्तरस्यामः सुड् भवति ।

यद्येवं सकलं कृत्स्नं जगदित्यत्रापि प्राप्नोति । एतेषां चापि शब्दानामेकैकस्य स स विषयः । तस्मिंस्तस्मिन् विषये यो यः शब्दो वर्तते तस्य तस्य तस्मिंस्तस्मिन् वर्तमानस्य सर्वनामकार्यं प्राप्नोति ।

यदि त्यदादीनामः सूत्र में गृह्यमाण शब्द त्यद् तद् आदि की विभक्ति परे होने पर अत्र त्यद् तद् आदि को अकार अन्तादेश मानते हैं तो शोभनः सः=अति सः यहाँ अत्व नहीं प्राप्त होता । क्योंकि यहाँ पूजावाची अति सहित अतिनद् शब्द है । वह गृह्यमाण तद् शब्द नहीं है ।

यह कोई दोष नहीं । इस अतितद् में गृह्यमाण तद् शब्द का ही अर्थ प्रधान है । त्यदादिप्रधान समास होने से अत्व हो जायगा ।

अथवा सर्वनाम शब्द को संज्ञा न मान कर सर्वोदि के गगनराट का विशेषण मान लेंगे । सर्वेना नाम सर्वनाम । जो सब के नाम हैं वे सर्वोदि समझे जायेंगे । संज्ञा और उपसर्जन तो विशेष में अवस्थित होते हैं वे सब के नाम नहीं होते ।

सर्वनाम शब्द को संज्ञा न मानने पर सर्वनाम्नः स्मै, आमि सर्वनाम्नः गुद् इत्यादि सर्वनामसंज्ञा से विहित कार्य नहीं सिद्ध होंगे ? क्योंकि सर्वनाम को संज्ञा मानने पर ही सर्वनाम संज्ञा के आधित कार्य सिद्ध हो सकते हैं ।

सर्वनाम्नः स्मै आदि में सर्वनाम शब्द अन्वर्थ समझा जायगा । जो सब का नाम है वह सर्वनाम है । उस से परे स्मै आदि होते हैं ऐसा अर्थ करेंगे ।

तब तो सकल, कृत्स्न, जगत् इत्यादि शब्द भी सब के नाम होने से सर्वनाम बन जायेंगे । उन से परे भी स्मै आदि प्राप्त होंगे । न केवल उन्हीं से, बल्कि सर्वोदि गगनराट शब्दों में भी एक २ का जो २ वह २ विषय है । उस २ विषय में वर्तमान जो २ शब्द है उन सब को सर्वनाम मान कर सर्वनाम के कार्य प्राप्त होंगे ।

एव तर्ह्यभ्यमनेन क्रियते । पाठश्चेव विशेष्यते सज्ञा च ।

कथ पुनरेकेन यत्नेनोभय लभ्यम् ?

लभ्यमित्याह । कथम् । एकशेषनिर्देशात् । एकशेषनिर्देशोऽयम् । सवादीनि च सर्वादीनि च सर्वादीनि । सर्वनामानि च सर्वनामानि च सवनामानि । सर्वादीनि सवनामसञ्ज्ञानि भवन्ति । सर्वेषा यानि च नामानि तानि सर्वादीनि । सञ्ज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठेत् ।

नैत—सर्वस्मिन् ओदन यहा सर्व शब्द आदन का विगण है । ओदन विशिष्य है । दोना एक दूसरे स अवगृहात (कोडीकृत) हैं । समानाधिकरण हान ॥ सर्व का विषय आदन ह और आदन का विषय सर्व है । तो सर्व की तरह ओदन भी सर्व का नाम हो जाता है । इस लिय आदन में भी सर्वनाम क कार्य प्राप्त हात हैं । इसी प्रकार घट पत्रादि सब शब्द सब सवादि के अर्थ में वर्तमान होंग तब उन सबकी सर्वनामता प्राप्त होती है ।

अच्छा तो सर्वनाम यह शब्द दोनो काम कर वगा । पाठ और सज्ञा दोनों का विगण बनगा । सर्वादिगण पाठत शब्द ही सर्वनाम सञ्ज्ञक होगे और सब क नाम ही सर्वादि लिय जायेंग ।<sup>१</sup>

सर्वनाम इस एक शब्द स य दोनों बाँटे कैसे सिद्ध होंगा ?

सिद्ध हो जायेंगी । कैसे ? सर्वादानि सर्वनामानि यहा एकशेष का निर्देश मानेंग । सवादानि च सर्वादानि च सर्वादानि । सवनामानि च सर्वनामानि च सवनामानि । इस प्रकार दो सवादि और दो सर्वनाम शब्दों में एक सर्वादि और एक सर्वनाम शब्द शेष रह गया है एसा समझेंग ।<sup>२</sup> एक सवादि शब्द गणपाठ का विगण है । दूसरा सर्वनाम सज्ञा का । य हा सर्वादि हैं जो सर्व विद्वा आदि ३५ शब्द गणपाठ में पठित हैं । और उन्हीं को सर्वनाम सज्ञा होती है । इसा प्रकार एक सर्वनाम शब्द अन्वर्थ नाम द्वारा सब क नाम का वाचक है । दूसरा सर्वनाम सज्ञा का । सब क नाम हैं य सर्वादि हैं सज्ञा और उपसर्जन विगण में अवस्थित रहते हैं इस लिये सज्ञा और उपसर्जन बन हुए सवादि शब्दों की सर्वनाम सज्ञा नहीं होगी ।

१ एतेषा चापि । यह निधारण अर्थ में पष्टी है । एतद् शब्द सर्वादि का परामर्शक है सर्व कृष्ण आदि का नहीं ।

२ अर्थान् जो सर्व विन्व आदि शब्द सब के नाम न होंग उन का सर्वादियों में अन्तर्भाव न होगा ।

३ यद्याप सहविवक्षा म एकशेष होता है । दो समान अर्थों की एक साथ

अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः ।  
 युत एतत् । लघ्वर्थे हि संज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे  
 एतत् प्रयोजनम् । अन्यर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत । सर्वादीनि सर्वनाम  
 संज्ञानि भवन्ति । सर्वेषां नामानि इति चातः सर्वनामानि । संज्ञोपसर्जने च  
 विशेषेऽवतिष्ठते ।

अथोभस्य सर्वनामत्वे कोऽर्थः ?

उभस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थः ।

उभस्य सर्वनामत्वेऽकजर्थः पाठः क्रियते । उभसौ ।

किमुच्यतऽकजर्थ इति । न पुनरन्यान्यपि सर्वनामकार्याणि ।

अथवा सर्वनाम वह बहुत अधिकरों वाली बड़ी संज्ञा की गई है । और संज्ञा  
 जहां तक हो छटी स छोटी होनी चाहिये । जिस से छोटी और चीन न हो वह संज्ञा  
 है । क्योंकि लाघव के लिये संज्ञा की जाती है । वहां बड़ी संज्ञा करने का वह प्रयोजन  
 होगा कि वह अन्यर्थ संज्ञा समझी जाय । सर्वोदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है  
 जो सर्वेषां नाम सर्वनाम इस अर्थ के अनुसार सब का नाम भी जाती है । संज्ञा और  
 उपसर्जन विशेष में अवस्थित होने के कारण सब के नाम नहीं होते इस लिये ये  
 सर्वनामसज्ञा न होंगे ।

उभ शब्द की सर्वनामसज्ञा का क्या प्रयोजन है ?

उभ शब्द की सर्वनामसज्ञा का अकृच् होना प्रयोजन है । उभ शब्द को  
 सर्वोदिगण में इस लिये पड़ा गया है कि उस की सर्वनाम संज्ञा हो कर उभसौ  
 (भज्ञासौ उभौ=उभसौ) वहां अन्यसर्वनामान्नामन् प्राप्तेः सूत्र से अकृच् प्रत्यय  
 हो जाय । अन्यया स्वामान्य प्राग्वितीय के प्रत्यय प्राप्त होता है ।

केवल अकृच् के लिये ही उभ शब्द का सर्वोदि में पाठ क्यों कइते हो ?

कोनो क' दन्ता में गदविन ता कइते हैं । यही सर्वोदि और सर्वनाम दोनों में निग १  
 दो बार एक साथ उक्त है इस लिये गदविनता के अभाव में एतदर्थ नहीं प्राप्त  
 होता तो भी एतदर्थ न तात्पर्य तन्त्र या अवृत्ति गदविनता चाहिये । दो शब्दों के बचने  
 को दन्ता में शब्द ११ एक बार उच्चारण तन्त्र है । एक ही सर्वोदि और सर्वनाम  
 शब्द उक्त दो अर्थों का उच्चारण किया हुआ समझा जायगा । या सर्वोदि और  
 सर्वनाम शब्दों को दो बार आवृत्ति करके उक्त दोनों अर्थ निकाल लिये जायेंगे ।

अन्याभावो द्विवचनटाव् विषयत्वात् ।

अन्येषां सर्वनामकार्याणामभावः । किं कारणम् । द्विवचनटाव्-विषयत्वात् । उभशब्दोऽयं द्विवचनटाव् विषयः । अन्यानि च सर्वनामकार्याणि एकवचनबहुवचनेषूच्यन्ते ।

यदा पुनरयमुभशब्दो द्विवचनटाव् विषयः, क इदानीमस्यान्यत्र भवति ?

उभयोऽन्यत्र

उभयशब्दोऽस्यान्यत्र भवति । उभये देवमनुज्याः । उभयो मणिरिति ।

और भी तो बहुत से सर्वनामसज्ञा के कार्य हैं जिन के लिये उन शब्द का सर्वादि में पाठ कहा जा सकता है ।

सर्वनामसज्ञा के अन्य कार्यों का उभ शब्द में संभव न होने से संभाव है । स्वभावतः उभ शब्द केवल द्विवचन में और टाप् प्रत्ययान्त ही प्रयुक्त होता है । स्त्रीलिङ्ग में होने वाला टाप् भी द्विवचन में ही होगा । और सब सर्वनामसज्ञा के कार्य एकवचन या बहुवचन में कहे गये हैं । इस लिये उभ शब्द में उन का संभव नहीं ।

जब उभ शब्द केवल द्विवचन में और टाप् विषय में ही प्रयुक्त होता है तो अन्य वचनों में इस के स्थान में किस शब्द का प्रयोग होता है ?

अन्य वचनों में उभ शब्द के स्थान में उभय शब्द का प्रयोग होता है ।

१ उभादुदात्तो नित्यम् इस तद्धित वृत्ति वाले चर विधायक सूत्र में नियम ग्रहण का यहाँ प्रयोग है कि वृत्ति में उभय शब्द का ही प्रयोग हो उभ ना न हो । उभ शब्द का प्रयोग तो द्व्यर्थान्विधान सामर्थ्य होने पर वाच्य की स्थिति में ही होगा । वृत्ति में अमरैकव सप्त्या का भान होने से द्विवचन का अर्थ नहीं निकल सकता अतः वहाँ उभ शब्द का प्रयोग न हो कर उभय का ही प्रयोग होता है । जैसे—उभाभ्यां स्नानाभ्याम्=उभयतः । उभयो स्थानयो=उभयत्र । ये ही रूप बनेंगे । उभतः, उभत्र ये नहीं बनेंगे । ये असुद्ध हैं । उभौ पुत्रौ यस्य स=उभयपुत्र होगा । उभ-पुत्र नहीं । उभावाही इत्यादि तो द्विदण्डादि गण में पठित होने से साधु मान लिये जायेंगे । उभशब्दोऽयम् इस प्रयोग में उभ का निर्देश करने के लिये ही अत्र नहीं हुआ है । अन्यथा उभयशब्दोऽयम् कहने से उभय शब्द की प्रतीति संभव थी ।



किं च स्याद् यद्यथाक्च न स्यात् ?

फ प्रसज्येत ।

फदचेदानीं काकचोर्विशेष ।

'उभशब्दोऽयं द्विवचनटावविषय' इत्युक्तम् । तत्राकचि सति अचस्तन्मध्यपतितत्वाच्छक्यत एतद् वक्तु द्विवचनपरोऽयमिति । के पुन सति नाय द्विवचनपर स्यात् । तत्र द्विवचनपरता वक्तव्या ।

यथैव तर्हि के सति नाय द्विवचनपर । एवमाप्यपि सति नाय द्विवचनपर स्यात् । तथापि द्विवचनपरता वक्तव्या ।

अवचनादापि तपरविज्ञानम् ।

अन्तरेणापि वचनमापि द्विवचनपरोऽय भविष्यति ।

उभय द्रवमनुष्या । उभयो माणं<sup>१</sup> इसी प्रकार एसी उभों के स्थान में एतद् उभयम् का प्रयोग होगा ।

क्या हा नायगा यदि उभकी में उभ शब्द स अक्च न हो तो ?

क प्रत्यय प्राप्त होगा ।

क और अवच में क्या भेद है ?

अभी कहा है कि उभ शब्द का केवल द्विवचन और टाप ही प्रयोग का विषय है । यदि उभकी में अच हाता है तो वह उभ का टि से पूर्व हागा । उभ क भकारात्तरवर्ती भकार स पूर्व हान स तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणन गृह्यत इस परिभाषा क अनुसार वह उभ क ग्रहण स गृहीत हो नायगा ता उससे पर भी द्विवचन है यह कहा जा सकता है । क प्रत्यय ता प्रत्यय परच के नियम स उभ स पर होगा । उभ क हान पर उभकी में उभ स परे क प्रत्यय का व्यवधान हान क कारण व्यग्रहित द्विवचन न रहेगा । वहाँ द्विवचनपरता कहना हागा । उभकी में उभ स पर व्यग्रहित द्विवचन क साधुर का विधान करना हागा ।

जैम उभकी में क प्रत्यय का व्यवधान होने से उभ स पर द्विवचन नहीं रहता जैसे उभ (उभ-टाप्-औ नीं) यहाँ स्त्राटिङ्ग में टाप् करने पर उसक व्यवधान में भी उभ स पर द्विवचन नहीं रहेगा । वहाँ भी किसी प्रकार द्विवचन वा बनाना हागा ।

टान् में ता गिना वचन क ही उभ से परे द्विवचन हा जायगा ।

१ पीठ्यादिवायुभाववपवी यस्य स उभयो मणि ।

किं वक्तव्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

एकादेशे कृते द्विवचनपरोऽयमन्तादिवद्भावेन ।

अवचनादपि तत्परविज्ञानमिति चेत् केपि तुल्यम् ।

अवचनादपि तत्परविज्ञानमिति चेत् केपि अन्तरेण वचनं द्विवचनपरो भविष्यति । कथम् । स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितोऽविशिष्टा भवन्तीति प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणं भवति ।

क्या यह बात कइनी होगी ?

नहीं ।

बिना कोई कैसे समझी जायगी ?

उभ शब्द के अकार के साथ टाप् का सवर्णदीर्घ एकादेश होगा तो अन्तादिवच से टाप् को पूर्व के प्रति अन्तवत् मान कर उभ से सीधा परे द्विवचन हो जायगा । टाप् प्रत्यय स्वार्थ में होने से उभ शब्द के अर्थ में कोई व्यवधान नहीं डालेगा ।

यदि टाप् में द्विवचन परे हो जायगा तो क प्रत्यय में भी यह बात तुल्य है । वहाँ भी बिना वचन के ही उभ से परे द्विवचन हो जायगा । कैसे ? क प्रत्यय भी स्वार्थिक है । प्रकृति के अर्थ को ही अभिव्यक्त करता है । स्वार्थिक प्रत्यय प्रकृति से अभिन्न होते हैं । प्रकृति के ग्रहण से उनका भी ग्रहण हो जाता है । तो उभ के ग्रहण से क प्रत्ययान्त 'उभक्' भी गृहीत हो जायगा । तब उससे परे औ यह द्विवचन बन जायगा । ऐसी अवस्था में क और अकृष् में कोई भेद नहीं रहता । उसके लिये उभ शब्द का सर्वादिगण में पाठ व्यर्थ है ।'

१ इस प्रकार भाष्यकार तथा वार्तिककार दोनों ने उक्त प्रश्न का कोई उत्तर न देते हुए उभ शब्द का सर्वादिगण में पाठ व्यर्थ मान कर उसका स्पष्टन स्वीकार कर लिया है । बात ठीक भी है । उभकी में क प्रत्यय करें चाहे अकृष् करें दोनों में रूप और स्वर का कोई भेद नहीं । क प्रत्यय में प्रत्ययस्वर से और अकृष् में चिस्वर से उभकी यह अन्तोदात्त रहेगा । हा, अवग्रह में भेद अवश्य है । क प्रत्यय में उभऽकौ ऐसा अवग्रह होगा । अकृष् म उभकौ ऐसा । वहा भी न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्यां किं तर्हि पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् इस भाष्यकार के वचन से पदपाठवारों के अनुसार अवग्रह नहीं करेंगे । अपितु जैसा अपना शास्त्र कहेगा वैसा अवग्रह होगा । अवग्रह करना हमारे अपने लक्षण के अधीन होगा तो हम क और अकृष् में समानता लाने के लिये उभकी में अवग्रह नहीं करेंगे ।



## विभाषा दिक्प्रमाणे बहुव्रीहौ ॥१॥२८॥

दिग्ग्रहणं किमर्थम् ?

न बहुव्रीहाविति प्रतिषेधं चक्ष्यति । तत्र न ज्ञायते क विभाषा क प्रतिषेध इति । दिग्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति । दिगुपदिष्टे विभाषा अन्यत्र प्रतिषेधः ।

दिक् शब्द का ग्रहण किस लिये किया है ।

आगे न बहुव्रीहौ सूत्र से बहुव्रीहि समास में सर्वोदियों की सर्वनाम संज्ञा का निषेध कहेंगे । दिग् ग्रहण के अभाव में यह नहीं जाना जायगा कि कौन से बहुव्रीहि में इस सूत्र से सर्वनाम संज्ञा का विकल्प है और कौन से में उस का सर्वथा निषेध है । क्योंकि विभाषा समासे बहुव्रीहौ इतना सूत्र होने पर सभी बहुव्रीहि समासों में विकल्प प्राप्त होगा । न बहुव्रीहौ से भी सभी बहुव्रीहि में निषेध प्राप्त होगा । दिग् ग्रहण करने पर यह दोष नहीं रहेगा । दिक् ग्रहण से दोनों का विषयविभाग स्पष्ट हो जायगा कि दिगुपदिष्ट बहुव्रीहि में विकल्प होता है । उस से भिन्न बहुव्रीहि में निषेध होता है । जिस में दिक् शब्द का उपदेश है वह दिगुपदिष्ट बहुव्रीहि है । जैसे— दिङ्नामाम्यन्तराले । दिक् समास वाले इसी बहुव्रीहि में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प करने के लिये दिक् शब्द का ग्रहण किया है ।

बृहद्वाङ्मोक्षात् से अपत्य अर्थ में फल् हो जाता है । भवन्तमञ्जति भवद्गदह् । यहा भवतु के सर्वनाम होने से त्रिष्वग्देवयोश्च ढेरत्रयञ्जताश्चप्रत्यये से भवत् की टि की अदि आदेश सिद्ध हो जाता है । भवतो विकारः भवन्मयः । यहाँ त्पदादीनि च से बृहदसंज्ञा हो कर नित्यं बृहदशरादिभ्य से मयद् हो जाता है । भवान् मित्रं यस्य स भवन्मित्रः । यहा भवतु के सर्वनाम होने से बहुव्रीहौ सर्वनामसंख्ययोत्पत्तयानम् इस वार्तिक से भवतु का पूर्वनिपात हो जाता है । भवत इदं भावत्वम् । भवदीयम् । यहा भवतु की त्पदादीनि च से बृहदसंज्ञा हो कर भवत्पञ्चउत्तौ से टक्, ट्स् हो जाते हैं । आकडारीय सूत्र के भाष्य में सकृदप्रातिपदिक विषयक गुणवचनसंज्ञा से परे सर्वनाम संज्ञा पड़ी गई है । वह पर होने के कारण गुणवचन संज्ञा को बाध लेती है । भवतु के सर्वनामसंज्ञक होने से गुणवचनसंज्ञा की बाधा हो जायगी तो भवतो भावः इस अर्थ में गुणवचननाहणादिभ्य । कर्मणि च से प्राप्त ध्वञ् का अभाव सिद्ध हो जाता है । उससे भावत्वम् यह रूप न बन कर भवत्त्वम्, भवत्ता ये इष्ट रूप बन जाते हैं ।

१. एक ही विषय में विकल्प और प्रतिषेध हो नहीं सकते । यदि पर होने

अथ समासग्रहणं किमर्थम् ?

समास एव यो बहुव्रीहिस्तत्र यथा स्याद्, बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र सा भूदिति । दक्षिणदक्षिणस्यै देहि ।

अथ बहुव्रीहिग्रहणं किमर्थम् ?

द्वन्द्वे सा भूत् । दक्षिणोत्तरपूर्वाणामिति ।

समासग्रहण किस लिये किया है ।

समास सशक (सुख्य) जो बहुव्रीहि है वहीं सर्वनाम संज्ञा का विकल्प हो, बहुव्रीहिवद्भाव से बहुव्रीहि माने हुए बहुव्रीहि में विकल्प न हो इस लिये समास ग्रहण किया है । जैसे दक्षिणदक्षिणस्यै देहि । यहाँ स्त्रीलिङ्ग दक्षिणा शब्द को आभाधे च से द्वित्व तथा बहुव्रीहिवद्भाव हुआ है । बहुव्रीहिवत् मानने से स्त्रियाः पुंवत् से पुंवत् हो कर दक्षिणदक्षिणा बनता है । इस में बहुव्रीहि समास न होने से सर्वनाम संज्ञा का विकल्प न होगा तो सर्वादीनि सर्वनामानि से सामान्यप्राप्त सर्वनामसंज्ञा रह जायगी । उस से चतुर्थी के एकवचन में स्याद् आगम हो कर इष्ट रूप बन जाता है ।

बहुव्रीहिग्रहण किस लिये किया है ?

द्वन्द्व समास में सर्वनाम संज्ञा का विकल्प न हो इस लिये बहुव्रीहि ग्रहण किया है । जैसे—दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । दक्षिणा च उत्तरा च पूर्वा च=दक्षिणोत्तरपूर्वाः । तासां दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । यहाँ द्वन्द्व समास में दक्षिणा उत्तरा तादृशों को सर्वनाम्नो भूति माने पुंवद्भावः इस वचन से पुंवत् हो कर दक्षिणोत्तरपूर्वा यह शब्द बनता है । बहुव्रीहि न होने से विकल्प न होगा तो द्वन्द्वे च से नित्य सर्वनाम संज्ञा का निरोध हो कर आभि सर्वनाम्नः शुद् से शुद् नहीं होता ।

ये प्रतिषेध प्रवृत्त होना तो विरुध्य विधान व्यर्थ हो जायगा । यदि पूर्वविप्रतिषेध ने विरुध्य की प्रवृत्ति होगी तो प्रतिषेध विधि व्यर्थ हो जायगी, कारण कि विरुध्य से तदर्थ की सिद्धि हो जायगी ।

१. द्वन्द्वे च यह सूत्र निष्पन्न द्वन्द्व समास में ही सर्वोदि की सर्वनाम संज्ञा का निरोध करता है । निम्नप्रमाण द्वन्द्व समास के घटक अवयवों की सर्वनामसंज्ञा का निरोध नहीं करता इस लिये दक्षिणोत्तरपूर्वा शब्द के घटक अवयव दक्षिणा उत्तरा तादृशों के सर्वनाम होने में उन को पुंवत् होने में कोई बाधा नहीं है ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । द्वन्द्वे चेति प्रतिषेधो भविष्यति ।

नाप्राप्ते प्रतिषेधे इयं विभाषा आरभ्यते सा यथैव न बहुव्रीह्या-  
वित्येतं प्रतिषेधं बाधते एवं द्वन्द्वे चेत्येतमपि बाधेत ।

न बाधेत । किं कारणम् । येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति ।  
न चाप्राप्ते न बहुव्रीह्यावित्येतस्मिन् प्रतिषेधे इयं विभाषा आरभ्यते ।  
द्वन्द्वे चेत्येतस्मिन् पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च । अथवा 'पुरस्तादपवादा  
अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानित्ये' धर्मियं विभाषा न बहुव्रीह्यावि-

यह कोई प्रयोजन नहीं । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् में इस विकल्प को बाध कर  
द्वन्द्वे च से नित्य निषेध हो जायगा ।

निषेध की अवश्य प्राप्ति में यह विकल्प कहा गया है । वह जैसे न बहुव्रीहौ  
इस निषेध को बाधता है वैसे आभ्यसामान्य चिन्ता पक्ष को ले कर द्वन्द्वे च इस  
निषेध को भी बाध लेगा । न प्राप्त=अप्राप्त । न अप्राप्त=नाप्राप्त । अर्थात् अवश्यमेव  
प्राप्त ।

नहीं बाध सकता । क्योंकि येन नाप्राप्त न्याय से बाधा होगी । येन नाप्राप्ते  
यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति यह परिभाषा पहले दीर्घावेदीयाम् आदि सूत्रों  
के भाष्य में भी आ चुकी है । उस से जिस की अवश्य प्राप्ति में इस सूत्र का  
आरम्भ है उसी निषेध को यह बाधेगा । जिस की किसी अंश में प्राप्ति किसी में  
अप्राप्ति होने से निश्चित अवश्य प्राप्ति नहीं है उसे नहीं बाधेगा । न बहुव्रीहौ की  
तो निश्चित अवश्य प्राप्ति है । क्योंकि उस निषेध का कहीं विकल्प नहीं है । वह  
सारे दिग्बहुव्रीहि को व्याप्त करता है । द्वन्द्वे च यह निषेध तो सारे दिग्द्वन्द्व को  
व्याप्त नहीं करता क्योंकि विभाषा जति द्वारा जस् अंश में विकल्प कहा गया है ।  
इस लिये वह अवश्य प्राप्त नहीं है । किं च, यदि यह सूत्र द्वन्द्वे च निषेध को  
बाध कर उस में विकल्प करे तो जस् अंश में यह विभाषा जति विभाषा का  
अनुवादमात्र रह जायगी (यह दोष भी होगा) अतः दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् इस द्वन्द्व  
में यह विकल्प न हो कर द्वन्द्वे च सूत्र से नित्य सर्वनाम संज्ञा का निषेध ही होगा  
तो बहुव्रीहि ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । अथवा पुरस्तादपवादा अनन्तरान्  
विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् इस परिभाषा से यह सूत्र अपने से अनन्तर अव्यवहित  
आने वाले न बहुव्रीहौ इस निषेध को ही बाधेगा । व्यवहित हो कर बाद में आने  
वाले द्वन्द्वे च इस निषेध को नहीं बाधेगा । परिभाषा का अर्थ है—सूत्र पाठ में पहले  
पढ़े हुए अपवादसूत्र अपने से अनन्तर आने वाली विधि को ही बाधते हैं ।

त्येतं प्रतिषेधं बाधिष्यते, द्वन्द्वे चेत्येतं प्रतिषेधं न बाधिष्यते । अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः, इह कस्मान्न भवति या पूर्वा सोत्तरा अस्योन्मुग्धस्य सोऽयं पूर्वोत्तर उन्मुग्धः । तस्मै पूर्वोत्तराय देहीति । 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति' । यद्येवं नार्थो बहुव्रीहिग्रहणेन । द्वन्द्वे कस्मान्न भवति । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति ।

उत्तरार्थे तर्हि बहुव्रीहिग्रहणं कर्तव्यम् ।

न कर्तव्यम् । कियते तत्रैव न बहुव्रीहाविति ।

द्वितीयं कर्तव्यम् । बहुव्रीहिरेव यो बहुव्रीहिस्तत्र यथा स्याद्,

व्यवहित होकर बाद में जाने वाली विधि को नहीं बाधते' अथवा—दक्षिणोत्तर-पूर्वाणाम् यहीं द्वन्द्व में इस विकल्प की प्राप्ति की जाड़ा करने वाले इस स्थिति से यह पठना चाहिये कि—या पूर्वा सा उत्तरा अस्य उन्मुग्धस्य ॥ पूर्वोत्तरः उन्मुग्धः । तस्मै पूर्वोत्तराय देहि । यहाँ पूर्वोत्तर इस दिव्यमास बहुव्रीहि में इस सूत्र से सर्वनामसंज्ञा का विकल्प क्यों नहीं होता तो यह यहीं उत्तर देना कि इस सूत्र में प्रतिपदोक्त दिव्यनामान्यन्तराल सूत्र वाला दिव्य समास बहुव्रीहि लिया गया है । पूर्वोत्तर में दिव्य समास लाक्षणिक है । प्रतिपदोक्त दिव्यनामान्यन्तराल से विहित बहुव्रीहि नहीं है इस लिये लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणं भवति इस परिभाषा के अनुसार प्रतिपदोक्त के ग्रहण में लाक्षणिक का ग्रहण नहीं होगा तो यहाँ लाक्षणिक होने से यह विकल्प नहीं होता है तो उसी परिभाषा के अनुसार दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् में भी विकल्प नहीं होगा । इस लिये बहुव्रीहि ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् में लाक्षणिक दिव्यमास द्वन्द्व है । प्रतिपदविहित दिव्यनामान्यन्तराल वाला बहुव्रीहि समान नहीं है ।

अष्टा तौ न बहुव्रीही इस उत्तर सूत्र के लिये यहाँ बहुव्रीहिग्रहण कर देना चाहिये ।

कोई आवश्यकता नहीं । यहाँ न बहुव्रीही में बहुव्रीहिग्रहण कर दी रता है ।

दूसरा बहुव्रीहिग्रहण कर देना चाहिये । जिस से समान जो बहुव्रीहि है अर्थात् जो मुख्य बहुव्रीहि है, यहीं सर्वनाम संज्ञा का निषेध हो । बहुव्रीहिवत् मान कर जो बहुव्रीहि है वहाँ सर्वनाम संज्ञा का निषेध न होवे । जैसे—एते—एते—एते ।

१. अन्तर विधि को बाधने में चरितार्थ हो जाने में क्षीणशक्ति हो जाने से उत्तर विधियों को नहीं बाधते ।

बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र मा भूत् । एकैकस्मै देहि ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । समास इति वर्तते तेन बहुव्रीहिं विशेषयिष्यामः । समासो यो बहुव्रीहिरिति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । अवयवभूतस्यापि बहुव्रीहेः प्रतिपेक्षो यथा स्यात् । इह मा भूत् । वस्त्रमन्तरमेपां त इमे वस्त्रान्तराः । वसनमन्तरमेपां ॥ इम वसनान्तराः । वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च वस्त्रान्तर-वसनान्तराः ।

यहाँ एक शब्द को एक बहुव्रीहिवत् से द्वित्व तथा बहुव्रीहिवद्भाव हुआ है । बहु-व्रीहिवत् मानने से सुर् का लुक् हो जाता है । इस में बहुव्रीहि समास नहीं है इस लिये न बहुव्रीहि से निषेध न होगा तो सर्वनामः स्मै से के को स्मै हो जाता है ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । इस सूत्र से वहाँ समास की अनुवृत्ति चली जायगी । उस से बहुव्रीहि का सम्बन्ध हो कर बहुव्रीहि समास ही समझा जायगा ।

अच्छा तो फिर इस बहुव्रीहिग्रहण का उत्तर सूत्र में ही वह प्रयोजन है कि अवयवभूत बहुव्रीहि को भी बहुव्रीहि मान कर उसमें न बहुव्रीहि से सर्वनामसंज्ञा का निषेध हो जावे । अर्थात् बहुव्रीहि समासमात्र में चाहे वह स्वतन्त्र बहुव्रीहि हो या किसी अन्य समास का अवयव हो सब में सर्वनाम संज्ञा का निषेध होवे । जैसे—वस्त्रमन्तरमेपां ते वस्त्रान्तरा । वसनमन्तरमेपां ते वसनान्तराः । वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च वस्त्रान्तरवसनान्तराः । यहाँ बहुव्रीहिगर्भे द्वन्द्वसमास में द्वन्द्व की मुख्यता है । बहुव्रीहि उसका अवयव है । तो भी बहुव्रीह्याश्रित सर्वनामसंज्ञा का नित्य निषेध हो जाने से उष्-शी से शीभाव नहीं हुआ । अनुवृत्त बहुव्रीहिग्रहण के सामर्थ्य से द्वन्द्व में प्राप्त विभागा जसि की भी बाधा हो गई ।<sup>१</sup>

१. वसन शब्द का यही गृह अर्थ है, अन्तर शब्द का बाह्य अर्थ है ।

२. उपसर्जन की सर्वनामसंज्ञा का निषेध बार्तिन्धर ने कहा है । सूत्रकार आचार्य पाणिनि ने ऐसा वचन स्वयं नहीं कहा है । इसी लिये उन्होंने न बहुव्रीहि सूत्र का आरम्भ किया है । अन्यथा बहुव्रीहि समास में सर्वादि के उपसर्जन होने के कारण उसी वचन से सर्वनामसंज्ञा न होती और वस्त्रान्तरवसनान्तरा में भी उसी वचन से निषेध सिद्ध था । यहा उस वचन को न मानते हुए ही बहुव्रीहिग्रहण का उक्त प्रयोजन बताया गया है ।



आर्धधातुकत्वं यथा स्यात् । तेन 'ब्रुवो वचि' (सू २४५३) इत्यादि ।  
 'एकाचः' किम् । पुनःपुनर्जागर्ति । 'हलादेः' किम् । भृशमीक्षते । भृशं  
 शोभते रोचते इत्यत्र यङ् नेति भाष्यम् । पौन.पुन्ये तु स्यादेव । रोहच्यते ।  
 शोशुभ्यते । 'सूचिसूत्रिमूत्रमूत्र्यत्यर्थशूर्णोतिभ्यो यङ् वाच्यः' (वा १७५१) ।  
 आद्यास्त्रयश्चुरादावदन्ता । सोसूच्यते । सोसूच्यते । अनेकाच्चत्वेनापोपदे-  
 शत्वात्पत्वं न । मोमूच्यते ।

२६३१ । यस्य हलः । (६-४-४९)

'यस्य' इति सङ्घातग्रहणम् । हलः परस्य यशब्दस्य लोपः स्यादा-

हारे' इति विहितलोडन्तमात्रविषयत्वात् । अत एव 'क्रियासमभिहारे लोट' इति सूत्रभाष्ये  
 "क्रियासमभिहारे लोष्मज्जमपुर्पैकवचनस्य द्वे वाच्ये" इत्येव पठितम् । पौन पुन्ये यङि तु  
 'नित्यवीप्सयो' इति न द्वित्वम् । 'क्रियासमभिहारे द्वे' इत्यनेन पौन पुन्येऽपि लोडन्तद्वित्व-  
 विधानेन पौन पुन्यस्य अन्यतो लोभे सौत्रद्वित्वाप्रवृत्तेर्हापनादित्यलम् । धातोः किमिति ॥  
 'क्रियासमभिहारे' इत्यनेनैव धातोर्लभात्किमर्थं धातुग्रहणमिति प्रश्नः । आर्धधातुकत्व-  
 मिति ॥ धातोरित्यभावे आर्धधातुकत्वमत्र स्यात् । धातोरिति विहितप्रत्ययस्यैव आर्धधातुक-  
 त्वादिति भावः । मुचः इति ॥ यङ् आर्धधातुकत्वे सत्येव तस्मिन् परे 'ब्रुवो वचि' 'ब्रुवो  
 वचि' इत्यादि कार्यं सिध्यति । अन्यथा 'आर्धधातुके' इत्यधिकृत्य तद्विधानात् स्यादिति  
 भावः । भृशमीक्षते इति ॥ नच भृशशब्देनैवान् भृशार्थमानात् यङ् न भविष्यतीति  
 वाच्यम् । भृशत्वं हि यङ्योऽलम्, न तु वाच्यम् । योतनञ्च उक्तस्वापि सम्भवतीति भावः ।  
 यङ् नेति ॥ अनभिधानादिति भाष्ये स्पष्टम् । पौन.पुन्ये स्थितिः ॥ पुन.पुनश्चब्दसमभि-  
 हारेऽपि यङ्स्थलेव । भृशार्थ एवानभिधानोक्तोरिति भावः । सूचिसूत्रीति ॥ सूचि सूत्रि मूत्रि  
 अटि अंति अशू ऊर्णोति एषान्द्वन्द्वः । 'सूच पैशुन्ये, सूत्र वेष्टने, मूत्र प्रक्षवणे' एते त्रय-  
 श्चुराद्यन्तर्गणे कथादावदन्ता । तेषामनेकाच्त्वादप्राप्तौ यङ्वचनमित्याह । आद्यास्त्रयः  
 इति ॥ 'अट गतौ, ऋ गतौ, अश भोजने, अशू व्याप्ता' एषा हलादिवाभावाद्बचनम् ।  
 ऊर्णमल्लु हलादित्वाभावादेकाच्त्वाभावाच्च वचनम् । सोसूच्यते इति ॥ व्यन्ताद्यदि णिलोपे  
 द्वित्वे 'गुणो यङ्लुको' इति अभ्यासगुणः । सूचे षोपदेशत्वभ्रमं वारयति । अनेकाच्च-  
 त्वेनेति ॥ षोपदेशत्वे तु 'धात्वादे' इति पश्य सत्वे कृते आदेशसकारत्वादुत्तरखण्डस्य पर-  
 त्वं स्यादिति भावः । लिटि सोसूचि आमिति स्थिते । यस्य हलः ॥ यकारादकारस्य उच्चार-  
 णार्थवभ्रमं वारयति । सङ्घातग्रहणमिति ॥ यकाराकारसमुदायस्येत्यर्थः । हल इति  
 पञ्चमी । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । 'अतो लोपः' इत्यस्मात् लोप इत्यनुवर्तते । तदाह ।  
 हलः परस्येत्यादिना ॥ ननु 'अलोऽन्त्यस्य' इति यकारादकारस्य लोपः स्यादित्यत आह ।

धधातुके । 'आदेः परस्य' (सू ४४) । 'अतो लोपः' (सू २६०८) ।  
सोसूचांचक्रे । सोसूचिता । सोसूक्षिता । मोमूत्रिता ।

२६३२ । दीर्घोऽकितः । (७-४-८३)

अकितोऽभ्यासस्य दीर्घः स्याद्यडि यङ्लुकि च । अटाट्यते ।

२६३३ । यडि च । (७-४-३०)

अतः संयोगादेश्च कृतो गुणः स्याद्यडि यङ्लुकि च । यकारपररेफस्य न  
द्वित्वनिषेधः । 'अरार्यते' इति भाष्योदाहरणान् । अरारिता । अशाशिता ।  
ऊर्णोनूयते । वेभिद्यते । अष्टोपस्य स्थानिवत्त्वाभ्योपधागुणः । वेभिदिता ।

२६३४ । नित्यं कौटिल्ये गतौ । (३-१-२३)

गत्यर्थात्कौटिल्य एव यङ् स्यान्न तु क्रियासमभिहारे । कुटिलं व्रजति वाप्रज्यते ।

आदेः परस्येति ॥ 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यस्यायमपवाद इति भावः । अतो लोपः इति ॥  
यकाराकारसङ्घाते यकारस्य लोपे सति परिशिष्टस्याकारस्य 'अतो लोपः' इत्यर्थः । ननु मास्तु  
सङ्घातग्रहणम् । यकारस्यैवाल लोपो विधीयताम् । अतो लोपे सति इष्टसिद्धिरिति चेन्न ।  
ईर्ष्याधातोस्तुचि इटि ईर्ष्यतेत्यत्र यकारलोपनिवृत्त्यर्थत्वादित्यलम् । अटधातो यडि 'अजादे-  
द्वितीयस्य' इति व्य इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषेण अभ्यासे यकारनिवृत्तौ अटव्यते इति स्थिते ।  
दीर्घोऽकितः ॥ अभ्यासस्येति ॥ 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।  
यडि यङ्लुकि चेति ॥ 'गुणो यङ्लुको' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । अकित इत्यस्य  
तु ययम्यते इत्यादां प्रयोजनं वक्ष्यते । ऋधातोर्यडि कृते द्वित्वाद्गुणनिषेधे प्राप्ते । यडि  
च्च ॥ 'गुणोऽतिसंयोगाद्यो' इति सूत्रमनुवर्तते । 'रीड् कृत' इत्यस्मात् कृत इति च ।  
तदाह । अतैरित्यादि ॥ तथाच ऋ य इति स्थिते ऋकारस्य गुणे अकारे रपरत्वे अर् य  
इति स्थिते 'न न्द्रा' इति रेफस्य द्वित्वनिषेधे य इत्यस्य द्वित्वे 'दीर्घोऽकितः' इत्यभ्यासदीर्घं  
अर्थायते इति प्राप्ते आह । यकारपररेफस्येति ॥ भाष्योदाहरणादिति ॥ 'धातोरेकाच'  
इति सूत्रे इति शेषः । अरारितेति ॥ 'यस्य हल' इति यकारलोपः । अशाशितेति ॥  
अशाधातोर्यडि इय इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषेण अभ्यासे यकारनिवृत्तौ 'दीर्घोऽकितः' इति  
दीर्घे 'यस्य हल' इति यकारलोपः । ऊर्णोनूयते इति ॥ ऊर्णं य इति स्थिते 'न न्द्रा' इति  
नु इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषे अभ्यासदीर्घः । वेभिद्यते इति ॥ भिद् य इति स्थिते भिद् इत्यस्य  
द्वित्वे हलादिशेषे अभ्यासगुणः । ननु वेभिय इति यङन्ताद्धृदि तासि इटि यलोपे अतो लोपे  
वेभिदितेत्यत्र तासि परे लघूपधगुणः स्यादित्यत आह । अष्टोपस्य स्थानिवत्त्वादिति ॥  
नित्यं कौटिल्ये गतौ ॥ नित्यशब्दः एवार्थः । कौटिल्ये इत्यस्योपरि द्रष्टव्यः । 'धातोरे-  
काच' इत्यतो यङित्यनुवर्तते । तदाह । गत्यर्थात्कौटिल्य एवेति ॥ गत्यर्थवृत्तेर्धातो

एषामभ्यासस्य नुक् स्याद्यङ्यङ्लुक् । गर्हितं जपति जञ्जप्यते  
इत्यादि ।

२६३९ । प्रो यङि । (८-२-२०)

गिरते. रेफस्य लत्व स्याद्यङि । गर्हितं गिलति जेगिल्यते ।  
'घुमास्था—' (सू २४६२) । इतीत्त्वम् । गुण । देदीयते । पेपीयते ।  
सेपीयते । 'विभाषा श्वे.' (सू २४७०) । शोशूयते । जेन्धीयते । 'यङि च'  
(सू २६३३) । सास्मर्यते । 'रीडृत्' (सू १२३४) । चेक्रीयते । सुट् ।  
सञ्चेक्रीयते ।

२६४० । सिचो यङि । (८-३-११२)

सिच. सस्य पो न स्याद्यङि । निसेसिच्यते ।

२६४१ । न कचतेर्यङि । (७-४-६३)

कचतेरभ्यासस्य चुत्व न स्याद्यङि । मोकूयते । कौतिकुचत्योस्तु  
चोकूयते ।

एषामिति ॥ इत्यादीति ॥ जनभ्यन् । दन्दश्चते । दन्दश्यते । बम्भज्यते ।  
पसधातुर्दन्त्यान्त सौत्रा गत्यर्थ इति भावः । ताल्भ्यान्त इति काशिका । प्रो यङि ॥  
शृ इत्यस्य प्र इति पञ्चमवचनम् । 'कूपो रो ल' इत्यत रो ल् इत्यनुवर्तते । तदाह ।  
गिरतेरित्यादि ॥ दा पा स्या एभ्यो यङि विशेषमाह । घुमास्थेत्यादि ॥ शोशूयते  
इति ॥ श्विधातेर्यङि 'सम्प्रसारणन्तदाश्रयश्च कार्यम्बलवत्' इति वचनान् सम्प्रसारणे पूर्वरूपे शु  
इत्यस्य द्वित्वम् 'अकृत्सार्वधातुक्यो' इति दीर्घः । सास्मर्यते इति ॥ स्मृ य इति स्थिते  
सयोगादितवान् 'यङि च' इति परत्वाद्गुणे रपरत्वे द्वित्वे 'दीर्घोऽङ्कित' इत्यभ्यामदार्ढ्यं ।  
चेक्रीयते इति ॥ कृ य इति स्थिते परत्वात् कृकारस्य रीडादेशे की इत्यस्य द्वित्वे अभ्यास-  
गुणः । सुडिति ॥ 'सपरिभ्या करोतां भूषणे' 'समवाये च' इत्यनेनेति शेषः । सिचो  
यङि ॥ 'सहे साड स' इत्यतस्त इति पञ्चमन्तमनुवर्तते । 'मूर्धन्य' इत्यावेष्टुत 'नरपरमृषि'  
इत्यत नेत्यनुवर्तते । तदाह । सिच. इति । निसेसिच्यते इति ॥ 'उपमर्गात्सुनोनि'  
इति 'स्यादिष्वभ्यासेन' इति च पञ्चमनेन निषिध्यते । न कचतेर्यङि ॥ 'अत्र लोप' इत्यत  
अभ्यासस्येति 'कुहोदधु' इत्यत चुरिति चानुवर्तते इति मवा आह । कचतेरभ्यास-  
स्येति ॥ ननु कौयङि इत्येव मिदं दित्वा निर्देशो व्यर्थ इत्यत आह । कौतिकुचत्यो  
स्त्विति ॥ शपा निर्देशार्थं कवतिग्रहणम् । तेन 'कु शब्दे' इति लुग्विचरणस्य 'कुट् शब्दे'  
इति शविचरणस्य च ग्रहणत्र लभ्यते इति भावः । नच कोरित्युक्तेऽपि शपान्तस्य शवि-  
चरणस्य न ग्रहणप्रसङ्गिरिति शङ्क्यम् । तुदादौ 'कुट् शब्दे' इति ह्रस्वान्तपाठस्य न्याम

२६४२ । नीग्वञ्चुसंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् । (७-४-८४)

एषामभ्यासस्य नीगागम स्याद्यङ्यङ्लुको । 'अकित' इत्युक्तेन दीर्घः । नलोपः । वनीवच्यते । सनीस्रस्यते इत्यादि ।

२६४६ । नुगतोऽनुनासिकान्तस्य । (७-४-८५)

अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य योऽभ्यासोऽदन्तस्तस्य नुक् स्यात् । नुका अनु-  
स्वारो लक्ष्यते इत्युक्तम् । यय्यम्यते—ययम्यते । तपरत्वसामर्थ्याद्भूतपूर्वदीर्घस्यापि  
न । 'भाम' कोधे । वामाम्यते । 'ये विभाषा' (२३१९) । जाजायते—जञ्जयते ।  
'हन्तेर्हिंसाया यङि ग्रीभावो वान्य' (वा ४६२१) । जेग्रीयते । 'हिंसा-  
या' किम् । जह्वन्यते ।

२६४४ । रीगृदुपधस्य च । (७-४-९०)

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागम स्याद्यङ्यङ्लुको । वरीवृत्त्यते ।

सम्मतत्वाद् । वस्तुतस्तु न्याससम्मतो तौतादिकस्याप्रवृत्तिरेव फलम् । “लुग्विङ्गणालुग्विकरण  
योरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम्” इति लुग्विकरणस्य ग्रहणनिवृत्तिरिति बोध्यम् । नीग्वञ्चु ॥  
अभ्यासस्येति ॥ ‘अत्र लोपः’ इत्यतस्तदनुगतेरिति भावः । यङ्लुकोरिति ॥ यङि  
यङ्लुकि चेत्यर्थः । न दीर्घः इति ॥ रागागमात्प्राक् प्राप्तेऽभ्यासदीर्घो नैत्यर्थः । भविष्यदपि  
क्वित्त्वन्दीर्घप्रतिबन्धकमिति भावः । नलोपः इति ॥ ‘अनिदिताम्’ इत्यनेन नकारस्य  
लोप इत्यर्थः । इत्यादीति ॥ सनीस्रस्यते, दनीष्वस्यते, वनीप्रस्यते, चनीकस्यते, पना  
पस्यते, पनीपस्यते, चनीकस्यते । नुगतोऽनु ॥ अङ्गस्येत्यधिकृतम् । ‘अत्र लोपः’  
इत्यतः अभ्यासस्येत्यनुवर्तते । ‘गुणो यङ्लुको’ इत्यतः यङ्लुकोरिति च । तदाह । अनु-  
नासिकान्तस्येत्यादि ॥ ननु ययम्यते इत्यत्र नुको नकारस्य अपदान्तत्वादक्षलपरकत्वाच्च कथं  
'नश्च' इत्यनुस्वार इत्यत आह । नुकेति ॥ नन्वभ्यासे ह्रस्वविधानादीर्घस्याभावात् नुग्विधावत  
इति तपरकरणं व्यर्थमित्यत आह । तपरत्वसामर्थ्यादिति ॥ स्वाभाविर एव यो  
ह्रस्व अकार तस्यैव ग्रहणम्, ननु दीर्घादेशभूतस्य ह्रस्वाभारस्येत्येतदर्थं तपरकरणमिति  
भावः । वामाम्यते इति ॥ अत्र आकारस्थानिकस्य ह्रस्वविधिसम्पन्नस्य अकारस्य न  
नुगिति भावः । जनधातोर्गङि नकारस्य आत्वविकल्पः स्मारयति । ये विभाषेति ॥ ग्री-  
भावः इति ॥ यचपीह ह्रीभावविधानपि ‘अभ्यासाच्च’ इति कुत्वे हकारस्य घकार सिध्यति ।  
तथापि प्रयत्नलाघवाभावात् ग्रन्थालाघवाच्च प्राति घकारोच्चारणमिति भावः । जेग्रीयते  
इति ॥ पुनः पुनरतिशयेन वा द्विनस्तीत्यर्थः । अत्र यदीति विषयसम्पन्ना । यङि विवभिते  
मतीति लभ्यते । तेन द्वित्वस्य परत्वेऽपि प्रागेव ग्रीभाव इति बोध्यम् । जह्वन्यते इति ॥  
गङ्गादित गच्छतात्यर्थः । रीगृदुपधस्य च ॥ अभ्यासस्येति ॥ ‘अत्र लोपः’ इत्यतः

शुभ्रादित्वाच्च ण. । नरीनृत्यते । जरीगृह्यते । उभयत्र लत्वम् । चलीकृत्यते ।  
'रीगृत्वत इति वक्तव्यम्' (वा ४६६२) । परीपृच्छ्यते । वरीवृञ्च्यते ।

२६४५ । स्वपित्स्यमिव्येजां यङि । (६-१-१९)

सम्प्रसारण स्याद्यङि । मोपुप्यते । सेसिम्यते । वेवीयते ।

२६४६ । न वशः । (६-१-२०)

वावश्यते ।

२६४७ । चायः की । (६-१-२१)

चेकीयते ।

तदनुवृत्तेरिति भावः । यङ्लुकोरिति ॥ 'गुणो यङ्लुको' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।  
घरीवृत्त्यते इति ॥ 'वृत्तु वनने' अस्माद्यटि द्वित्वे उरदत्त्वे हलादिशेषे अभ्यामस्य रीङ् । नृने  
यङि नरीवृत्त्यने इत्यत्र णत्वमादादृष आह । शुभ्रादिस्त्वाच्च ण. इति ॥ जरीगृह्यते इति ॥  
'ग्रह उपादाने' अस्माद्यटि ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे द्वित्वे उरदत्त्वे हलादिशेषे अभ्या-  
सस्य रीङ् । उभयत्रेति ॥ वृषधातो यटि द्वित्वे उरदत्त्वे रपरत्वे हलादिशेषे रीङ् । चली-  
कृत्यते इत्यत्र 'वृषो गे ल' इत्यभ्यासे रेफस्य लकारः । उत्तरखण्डे ऋकारस्यावयवो रेफ  
तस्य लकारमन्त इत्यर्थः । ननु व्रश्चातोयङि वरीवृञ्च्यते इत्यत्र कथमभ्यामस्य रीङ् ।  
धातोः शकारोपधत्वेन ऋदुपधत्वाभावादित्यत्र आह । रीगृत्वतः इति ॥ 'रीगृदुपधस्य'  
इत्यत्र ऋदुपधस्ये उपनीय ऋवन इति वक्तव्यमित्यर्थः । ऋन् अस्यास्तौतानि ऋवन । 'तसौ  
मत्वर्थे' इति भन्वान् पदत्वाभावात्तदवयवम् । परीपृच्छ्यते इति ॥ प्रच्छधातोयङि  
'ग्रहिज्या' इति रेफस्य सम्प्रसारणमृकारः । पूर्वस्य द्विव रपरत्व हलादिशेष रीङ् । वरी  
वृञ्च्यते इति ॥ व्रश्चातोयङि सम्प्रसारणे द्वित्वादि पूर्ववत् । स्वपित्स्यमि ॥ सम्प्र-  
सारण स्यादिति केनपूरणम् । 'घ्यट सम्प्रसारणम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । सोपुप्यते  
इति ॥ स्वपृधातोयङि वकारस्य सम्प्रसारणे ऊकारे पूर्वस्य द्वित्वे अभ्यामगुणः । उत्तर-  
खण्डे मस्य पत्वम् । सेसिम्यते इति ॥ स्वमुधानोयङि यकारस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे  
द्वित्वादि । अपोपदेशत्वात्तान् य । वेवीयते इति ॥ व्येनो यटि यकारस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे  
द्वित्वादि । 'हल' इति वा 'अकृत्सार्वधातुभ्यो' इति वा दार्ढ्यम् । अथ वश  
धातोयङि वावश्यते इत्यत्र 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते तन्निधेय स्मारयति ।  
न वशः ॥ वशधातोः छान्दसन्वम्प्राप्तिकमिति प्रागेवोक्तम् । चायः की ॥ यङीति शेषः ।  
'स्वपित्स्यमिव्येना यटि' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । चेकीयते इति ॥ 'चाय पूजानिशाम

२६४८ । ई प्राप्नोः । (७-४-३१)

जेप्नोचते । वेप्नोचते ।

२६४९ । अयङ् यि क्ङिति । (७-४-२२)

गाङोऽपङादेशः म्यायादौ ङिति परे । आग्रज्यते । अभ्यानन्य  
ह्रस्व । ततो गुणः । डोटौच्यते । तौत्रौच्यते ।

इति निश्चयस्मरणम् ।



श्रीरस्तु ।

## ॥ अथ तिङन्तयङ्लुक्प्रकरणम् ॥

२६५० । यङोऽचि च । (२-४-७४)

यङोऽन्प्रत्यये लुक् स्याच्चकारात्त विनापि बहुल लुक्स्यान् । अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति । तत् प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वात् द्वित्वम् । अभ्यासकार्यम् । धातुत्वाद्वादादय । 'शेषात्कर्तरि—' (सू २१५९) इति

अथ यङ्लुक्प्रक्रिया निरूप्यन्ते । यङोऽचि च ॥ अचि इति प्रत्ययग्रहणम् । ननु प्रत्याहार । यडा साहचर्यात् । 'प्यक्षस्त्रियार्य' इत्यत लुगित्यनुवर्तते । तदाह । यङोऽच् प्रत्यये लुगिति । चकारात्तं विनापीति ॥ अच्प्रत्ययाभावेऽपीत्यर्थः । बहुलमिति ॥ चकारात् 'बहुलञ्छन्दसि' इति पूर्वसूत्राद्बहुलप्रहणमप्यनुकूप्यत इति भावः । एवञ्च अच्प्रत्यये तदभावेऽपि यङो बहुल लुगिति फलितम् । तेन लुङो यङन्तादचि यङो लुगभावपक्षे अतो लोपे लोलुप इति रूपम् । लुकि तु लोलुव इति रूपं सिज्यति । तथा अच्प्रत्ययाभावेऽपि बो भूयते, बोभवीति, इत्यादौ यङो लुग्विक्-पं सिज्यतीति बोध्यम् । अनैमित्तिकोऽयमिति ॥ अच्प्रत्ययादन्यत्त बोभवीत्यादाौ यङ्लुक् अनैमित्तिकः । ततश्च परस्मादपि द्वित्वादिकार्या अप्रागेव अन्तरङ्गत्वात् लुक् भवति ततो द्वित्वादीति वस्तुतः स्थितिकथनमिदम् । अच्प्रत्यये विधीयमानस्तु यङ्लुक् नैमित्तिकत्वाद्विहित एव । ततश्च परत्वाभित्यत्वाच्च आदौ द्वित्वे कृते यङो लुकि अच्प्रत्ययमाश्रित्य प्राप्तो गुणः 'न धातुलोप आर्धधातुके' इति निषेधान् भवति । अच्प्रत्ययस्य यङ्लोपनिमित्तत्वादिति बोध्यम् । नन्वेव सति यङ्लुकि 'सन्त्यङो' इति द्वित्वं न स्यात् । यङो लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावादित्यत आह । तत्- इति ॥ यङो लुगनन्तरमित्यर्थः । 'न लुमता' इत्यनेन हि लुमताशब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यत्रिषिज्यते । द्वित्वादिकन्तु यङन्तस्य कार्यम्, ननु यङ्निमित्तकम् । यङि परतस्तद्विज्यभावादिति भावः । द्वित्वमिति ॥ नच 'एकाच्' इति विधीयमानं द्वित्वञ्चयमिह यङ्लुकि स्यात् । "स्तिपा शपा" इति निषेधादिति वान्यम् । 'गुणो यङ्लुको' इत्याद्यभ्यासकार्यविधिवलेन द्वित्वनिषेधाभावज्ञापनादिति भावः । अभ्यासकार्यमिति ॥ गुणादाति भावः । धातुत्वादिति ॥ यङो लुकि सत्यपि प्रत्ययलक्षणाश्रित्य यङन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वम् । नच 'न लुमता' इति निषेधः शङ्क्यः । धातुसज्ञाया यङन्तधर्मत्वेन यङि परतोऽङ्गकार्यत्वाभावादिति भावः । यङो द्वित्वात्तदन्तादा मनेप-दमाशङ्क्य आह । शेषादिति ॥ ननु 'शेषात्कर्तरि' इत्यत्र आत्मनेपदनिमित्तहीनो धातुदशोपः ।

परस्मैपदम् । ‘अनुदात्तङितः—’ (सू २१५७) इति तु न । ङित्वस्य प्रत्यया-  
प्रत्ययसाधारणत्वेन प्रत्ययलक्षणाप्रवृत्तेः । यत्र हि ‘प्रत्ययस्यासाधारणं रूप-  
माश्रीयते तत्रैव तत्’ । अत एव सुट्पत्रासाद इत्यत्र ‘अत्वसन्तस्य—’ (सू  
४२५) इति दीर्घो न । येऽपि स्पर्धशीडादयोऽनुदात्तङितस्तेभ्योऽपि न । अनु-  
दात्तङित —’ (सू २१५७) इत्यनुबन्धनिर्देशात् । तत्र च ‘शितपा शपा—’  
(प १३२) इति निषेधान् । अत एव श्यञादयो न । गणेन निर्देशात् । किं  
तु शयेव । ‘चर्करीतं च’ इत्यदादौ पाठाच्छपो लुक् ।

यङन्तधातुस्तु न तथा आत्मनेपदनिमित्त । इकारानुबन्धसत्वादित्यत आह । अनुदात्तङित  
इति तु नेति ॥ कुत इत्यत आह । ङित्वस्येति ॥ तदेवोपपादयति । यत्र हीति ॥  
यस्य प्रत्यये लुप्तेऽपि प्रत्ययमानवृत्तिधर्मपुरस्कारेण तमाश्रित्य कार्यप्रवृत्तिरिष्यते तत्रैव प्रत्यय  
लक्षणम् । यथा राजेल्यत् । तत्र हि लुप्तं सुप्रत्ययं सुवात्मकप्रत्ययमानवृत्तिधर्मपुरस्कारेणाश्रित्य  
सुबन्ततया पदत्वात् ‘नलोप’ इति नकारलोपप्रवृत्तिः । ङित्वन्तु न प्रत्ययमानधर्मः । ‘ङते  
रीयङ्’ इत्यादिप्रत्ययेष्वप्रत्ययेष्वपि चित्रहादिषु सत्वात् । ततश्च यङि लुप्ते सति प्रत्ययलक्षणेन  
तमाश्रित्य तद्वृत्तिङित्वप्रयुक्तद्वयमात्मनेपदं शङ्कितुं शक्यमिति भावः । ननु यत्किञ्चिद्धर्म-  
पुरस्कारेण प्रत्ययाश्रयकार्यं प्रत्ययलक्षणकुतो नेत्यत आह । अत एवेति ॥ प्रत्ययमानवृत्ति-  
धर्मपुरस्कारेण प्रत्ययाश्रयकार्यं प्रत्ययलक्षणाश्रयणादेवेत्यर्थः । दीर्घो नेति ॥ सु शोभना  
दपदः यस्य स सुप्रत्ययासाद इत्यत्र समासावयवत्वाल्लुप्तं जस्य प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य प्राप्त  
असन्तत्त्वलक्षणो दीर्घो न भवति । उणादीनामव्युत्पत्तिपक्षे व्युत्पत्तिपक्षे च अस्त्वस्य वेधा  
इत्यादावप्रत्यये प्रत्यये च सत्त्वेन प्रत्ययमानवृत्तित्वाभावेन तत्पुरस्कारेण दीर्घं क्रियमाणे  
प्रत्ययलक्षणासम्भवादिति भावः । एतत्सर्वं प्रत्ययलक्षणसूत्रभाष्यैर्यदादिषु स्पष्टम् । नच  
सुप्रत्ययासाद इत्यत्र जसो लुका लुप्तत्वात् ‘न लुमता’ इति निषेधादेव दीर्घो न भवि-  
ष्यतीति वाच्यम् । दीर्घस्यासन्तकार्यत्वेन जसि परे अङ्गकार्यत्वाभावादित्यलम् । ननु  
उक्तरीत्या प्रत्ययलक्षणाभावात् लुप्तयङन्तात् ङित्वप्रयुक्तमात्मनेपदं मास्तु । ये तावत् स्पर्धा  
इय अनुदात्तेत ये च शीडादयो ङित पठिता तेभ्य आत्मनेपदं दुर्बारामित्यत आह ।  
येऽपीति ॥ तेभ्योऽपि नेति ॥ तेभ्यो यङ्लुकि नात्मनेपदमित्यर्थः । कुत इत्यत आह ।  
अनुदात्तङित इत्यनुबन्धनिर्देशादिति ॥ नन्वनुबन्धनिर्देशेऽपि यङ्लुकि आत्मनेपदं  
कुतो न स्यादित्यत आह । तत्र च शितपेति ॥ न चानुबन्धनिर्देशादेव ङित्वप्रयुक्तमपि  
कार्यमात्मनेपदं यङ्लुकि न भविष्यति । अतः प्रत्ययासाधारणधर्माश्रयत्वे सत्येव प्रत्यय-  
लक्षणमिति त्रेशानुभवो दृष्टेति वाच्यम् । यदो इकारस्य प्रत्ययानुबन्धत्वेन यङन्तस्य वातो  
रनुबन्धेनानिर्देशादित्यलम् । अत एवेति ॥ “शितपा शपा” इति निषेधादेव यङ्लुकि श्यञा  
दयो विकरणा नेत्यर्थः । “शितपा शपा” इति निषेधमुपपादयति । गणेन निर्देशादिति ॥  
‘दिवादिभ्य इयन्’ ‘रुधादिभ्य श्रम्’ इत्यादिगणनिर्देशादित्यर्थः । किंतु शयेवेति ॥  
‘कर्तरि शप्’ इत्यत्र “शितपा शपा” इति निषेधाविषयत्वादिति भावः । चर्करीतमिति ॥



## २६५१ । यङो वा । (७-३-९४)

यङन्तात्परस्य हलादे पित सार्वधातुकस्येद्वा स्यात् । 'भूसुबो —'

(सू २२२४) इति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषाया न । '—योभूतु तेतेके'

(सू ३५९६) इति छन्दसि निपातनान् । अतएव यङ्लुग्भाषायामपि सिद्ध ।

न च यङ्लुक्यप्राप्त एव गुणभावो निपात्यतामिति वान्यम् । 'प्रकृतिग्रहणे

यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणान्' (प १०१) । 'द्वि प्रयोगो द्विवचन पाठम्' इति

यङ्लुगन्तमदादौ बोद्धामिति व्याख्यात प्राक् । यना यङ्लुगन्ताच्छपो लुगित्यर्थः । एवञ्च  
भूधातोर्त्यङ्गे लुकि द्वित्वादौ बोभू इत्यस्माद्वि तिपि दापा लुकि बाभू ति इति स्थिते । यङो  
वा ॥ 'उतो ऋदि इत्यतो ह्नाति नाभ्यस्तस्याचि' इत्यतः पिति सार्वधातुके इति  
'भुव ईद्' इत्यत ईडिति चानुवर्तते । तदाह । यङन्तादित्यादिना ॥ द्वित्वात्पि आद्य  
वयव ईड । तथाच योभू ई ति इति स्थिते ऊकारस्य गुणे अवादेशे बोभवातानि रूप वक्ष्यति ।  
'भूसुबोस्तिङि' इति गुणनिषेधमाशङ्क्य आह । भूसुबोरिति ॥ निपातनादिति ॥  
'कृते छन्दमि' इत्यतः छन्दसीत्यनुक्तत्वा 'दाधार्तं दर्धानं दर्धपि बोभूतु तेतेके' इत्यादि सूत्रे भूधाता  
यङ्लुगन्तस्य गुणभावो निपात्यतः । 'भूसुबो' इत्येव तत्र गुणनिषेधे सिद्धे गुणाभावे निपातननि  
यमार्थम् । यङ्लुकि छन्दस्येवाम् भूसुबो' इति गुणनिषेधो नान्यत्र इत्यतो लोकेऽपि यङ्लु  
गन्तीति विज्ञायत । एतेन 'यङाच्चि च' इति यङ्लुगिवर्धौ 'बहुळ छन्दसि' इति पूर्व  
सूत्राच्छन्दसाल्लुगन्तस्य नान्यत्र । तदाह । अतएव यङ्लुक् भाषायामपि सिद्धः  
इति ॥ 'भूसुवास्तिङि' इति सूत्रभाष्ये तु बोभूत्वित्येतन्नियमार्थम् । अतएव यङ्लुगन्तस्य  
गुणो न भवति, नान्यत्र । ॥ मा भूत् बोभवातामुक्तम् । अत्रैवेत्यस्य बोभूत्विति लोभ्येवेत्यर्थः ।  
यङ्लुगन्तस्येवस्य भूधातारिति शयः । बोभवाताल्लोदाहृतत्वादिति शब्देन्दुशेखरे प्रप  
ञ्चितम् । बहुलतु भाष्ये यङ्लुगन्तस्येति सामान्याभिप्रायमेव । भूधातुमात्रसङ्कोचे माना  
भावान् । बोभवाति इत्युदाहरणान्नु धात्वन्तराणामपि प्रदर्शनपरमिति मूलकदाशयः ।  
ननु भूधातोर्त्यङ्लुकि बोभू इत्यस्य 'भूसुबोस्तिङि' इति गुणनिषेधप्रसक्तिर्नास्ति । द्वित्वे  
सति यङ्लुगन्तस्य प्रकृत्यन्तरत्वेन भूरूपत्वाभावात् । ततश्च यङ्लुगन्तस्याप्राप्ते गुणाभावे  
तत्प्राप्त्यर्थमेव बोभूत्विति निपातनमिति युक्तम् । तथा च छन्दस्येव यङ्लुगन्तस्य गुण  
निषेधः, न तु भाषायामिति नियमः कथं सिद्धेदित्याशङ्क्य निराकरोति । नच यङ्लु  
कीति ॥ प्रकृतीति ॥ 'प्रकृतिग्रहणेन यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया  
'भूसुबो' इत्यत्र भूग्रहणेन बोभू इति यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणादित्यर्थः । ननु 'प्रकृति  
ग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम्' इत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्य न्यायसिद्धिमिदमित्याह ।  
द्विः प्रयोगः इति ॥ षष्ठाध्यायादौ 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्यतः किमिदं द्विवचन एकाच  
प्रथमस्य एकस्य स्थाने द्वितयान्नक आदेशः म्यान्यपेक्षया अन्यो विधायते, उत स्थानिन  
एकस्य सतः द्विरुच्चारणं विधीयते, ननु तत्स्थानिनः अतिरिच्यते, इति सशङ्क्य 'द्वि प्रयोगो

सिद्धान्तात् । वोभवीति—वोभोति । वोभूत । वोभुवति । वोभवांचकार ।  
वोभविता । अवोभवीत्—अवोभोत् । अवोभूताम् । अवोभुवु । वोभूयात् ।  
वोभूयाताम् । वोभूयास्ताम् । ‘गातिस्था—’ (सू २२२३) इति सिचो लुक् ।  
‘यङो वा’ (सू २६५१) इतीट्पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वादुक् । अवोभूवीत् ।  
अवोभूत् । अवोभूताम् । अभ्यस्ताश्रयो जुस् । नित्यत्वादुक् । अवोभूवु ।  
अवोभविष्यदित्यादि । पास्पर्धाति—पास्पर्द्धि । पास्पर्द्धः । पास्पर्धाति ।

द्विर्वचनम्’ इति सिद्धान्तितम् । तदधिकारस्यत्वात् ‘सन्त्यङो’ इति द्विर्वचनमपि तथाविधमेव ।  
ततश्च भू इत्यस्यैव वोभू इति द्वि प्रयुज्यमानतया ‘भूभुवो’ इति भूप्रहणेन प्रहणाद्यल्लु  
क्यपि निषेधसिद्धे वोभूत्थिति निपातन छन्दस्येव यङ्लुकि गुणनिषेधो, नतु भाषायामिति नियम-  
लाभाद्भोकेऽपि यङ्लुक् सिद्ध इति भावः । वोभूतः इति ॥ अपिस्त्वादीन् । द्वित्वाच्च न  
गुणः । वोभुवतीति ॥ ‘अदभ्यस्तात्’ इत्यत् । द्वित्वात् गुणाभावे उवडिति भावः । वो-  
भवीषि—वोभोषि । वोभूय । वोभूय । वोभवीमि—वोभोमि । वोभूव । वोभूम । वोभ-  
घाञ्चकारेति ॥ ‘कास्यनेकाच्’ इत्याम् । वोभविता । वोभविष्यति । वोभवीतु—वोभोतु-  
वोभूतात् । वोभूताम् । वोभुवतु । हेरपित्वादीन् द्वित्वान् गुणः । वोभूहि—वोभूतात् ।  
वोभूतम् । वोभूत । आट् पित्त्वेन अद्वित्वात् गुणः । वोभवानि । वोभवाव ।  
वोभवाम् । लङ्पाह । अवोभवीदित्यादि । अवोभवुरिति ॥ ‘सिजभ्यस्त’ इति  
जुसि गुणे अवादेशः । अवोभवो—अवोभो । अवोभूतम् । अवोभूत । अवोभवम् ।  
अवोभूव । अवोभूम । वोभूयादिति ॥ विधिलिङि आशीर्लिङि च रूपम् । वोभू-  
यातामिति विधिलिङस्तामि रूपम् । वोभूयु । वोभूया । वोभूयातम् । वोभूयात ।  
वोभूयाम् । वोभूयाव । वोभूयाम् । वोभूयास्तामिति ॥ आशीर्लिङि तामि रूपम् ।  
वोभूयास्त । वोभूयासम् । वोभूयास्व । वोभूयास्म । लुङ्स्तिषि सिचि कृते आह ।  
गातिस्थेति ॥ ईट्पक्षे इति ॥ ‘इतश्च’ इति इकारलोपे कृते ईडागमे ‘सार्वधातुकार्धधातुकयो’  
इति गुण परमपि बाधित्वा नित्यत्वात् ‘भुवो वुग्लुङ्लिटो’ इति वुगित्यर्थः । गुणे कृते  
अकृते च प्राप्ते वुक्ते नित्यत्वं बोध्यम् । अवोभूवीदिति ॥ वुकि कृते सति तेन व्यवधा-  
नादाकरस्य न गुणः । ननु लुङो शेर्जुसि वुकि अवोभूवुरिति रूपं वक्ष्यति । तदयुक्तम् ।  
‘आत’ इति सूत्रे सिङ्लुकि आदन्तादेव शेर्जुसिति नियमनादित्यत आह । अभ्यस्ताश्रयो  
जुसिति ॥ ‘सिजभ्यस्त’ इत्यनेन अभ्यस्तात्परत्वात् जुसित्यर्थः । ‘सिजभ्यस्त’ इति सूत्रे  
सिच परत्वमाश्रित्य यो जुस् प्राप्तस्तस्यैवायनियमः, न त्वभ्यस्ताश्रयजुस इति भावः ।  
अवोभू उस् इति स्थिते ‘जुसि च’ इति गुणमाशङ्क्य आह । नित्यत्वादुगिति ॥ ‘जुसि  
च’ इति गुणापेक्षेत्यर्थः । अवोभूवुरिति ॥ न चान्ताभ्यस्ताश्रयजुस बाधित्वा परत्वात्  
‘अदभ्यस्तात्’ इत्यदादेशः स्यादिति शङ्क्यम् । अभ्यस्ताश्रयजुस अदादेशापवादत्वादिति भावः ।  
अवोभूवी—अवोभो । अवोभूतम् । अवोभवम् । अवोभूव । अवोभूम । इत्यादीति ॥  
अवोभविष्यताम्, अवोभविष्यन्, इत्यादि व्यक्तम् । पास्पर्धातीति ॥ स्पर्धधातो यङ्लुकि

पास्पस्ति । 'हुङ्गल्भ्यो हेर्धि' (सू २४२५) । पास्पर्थि । लङ् । अपास्पर्त्-  
 अपास्पर्द् । सिपि 'दध्' (सू २४६८) इति रुत्वपक्षे 'रो रि' (सू २७३)  
 अपास्पाः । जागाद्धि । जाधात्ति । अजाघान् । सिपि रुत्वपक्षे । अजाघाः ।  
 'नाथृ' । नानात्ति । नानात्त । 'दध' । दादद्धि । दादद्धः । दाधत्ति ।

द्वित्रिवे 'शर्पूर्वा खय' इति प्रकारक्षेपे दाध ऽकृत' इति दीर्घे पास्पर्थ इत्यस्माच्छ्रुतिरपि  
 शपि शपो लुकि 'यो वा' इति ईडागमे रूपम् । ईडभावे त्वाह । पास्पर्थीति ॥ पास्पर्थ् ति  
 इति स्थिते 'क्षपस्तथोर्धोऽव' इति तत्कारस्य धकार । 'झलाञ्जश् स्राक्षे' इति पूर्वधकारस्य  
 द इति भावः । मिच्चस्मस्सु पास्पर्थानि-पास्पर्थिम् । पास्पर्थ्व । पास्पर्थ्म् । पास्पर्थान्धकार ।  
 पास्पर्थिता । पास्पर्थिष्यति । पास्पर्थितु पास्पर्थु-पास्पर्थीत् । पास्पर्थतु । हेरपितृवादीड  
 भाव सिद्धवत्कृत्य आह । हुङ्गल्भ्यः इति ॥ पास्पर्थीति ॥ हेधिभावे 'झरो झरि' इति  
 वा धलोप । पास्पर्थीत् । पास्पर्थम् । पास्पर्थानि । पास्पर्थिव । पास्पर्थाम । लङि तिपि उदा-  
 हरणसूचनम् । ईडि अपास्पर्थीत् इति सिद्धवत्कृत्य ईडभावे आह । अपास्पर्त् इति ॥  
 अपास्पर्थ् त् इति स्थिते हट्टपादिना तत्कारलोपे 'वाऽरसाने' इति चर्चविकल्प इति भावः ।  
 अपास्पर्थाम् । अपास्पर्थु । सिपि तु अपास्पर्थ् इति स्थिते जरवे 'दध्' इति दकारस्य रुत्वपक्षे  
 अपास्पर् रूस् इति स्थिते हट्टपादिना तत्कारलोपे 'रो रि' इति रेफलोपे 'दूलोपे' इति दीर्घे विसर्गे  
 अपास्पाः इति रूपम् । 'सिपि च' इति धस्य दत्वपक्षे तु अपास्पर्थ् इति रूपमित्यर्थः । नच दीर्घे  
 सिपि 'दध्' इति रुत्वमसिद्धमिति शङ्क्यम् । 'दूलोपे' इति सूने टग्रहणेन लणसूने जर्गुधेः  
 अजर्धा इति भाष्यप्रयोगेण च पूर्वत्रामिदमिलस्याप्रवृत्तिबोधनात् । अपास्पर्थम् । अपास्पर्थ्व ।  
 अपास्पर्थ्म् । लिङि पास्पर्थीत् । पास्पर्थीताम् । पास्पर्थीस्ताम् इत्यादि । लुटि अपास्पर्थ् स्  
 इति स्थिते 'अस्तिसिच' इति नित्यमीट् । 'इट ईटि' इति सलोप । अपास्पर्थीत् । अपास्प-  
 र्धिष्ठाम् । अपास्पर्थिषुः । अपास्पर्थिष्यत् । गाधृधातोर्बहुलान्तात् लट्स्तिपि ईदृपक्षे जागाधीति  
 सिद्धवत्कृत्य ईडभावे आह । जागाद्धीति ॥ जागाध् ति इति स्थिते 'क्षपस्तथो' इति तत्का-  
 रस्य ध । जागाद्धः । जागाधति । सिपि ईदृपक्षे जागाधीतीति सिद्धवत्कृत्य ईडभावपक्षे आह ।  
 जागाधसीति ॥ जागाध् सि इति स्थिते 'एकचो वश' इति यस्य भप् धस्य चर्चमिति  
 भावः । जागाद्ध । जागाद्ध । जागाध्मि । जागाध्व । जागाध्म । जागाधाधकार । जागा-  
 धिता । जागाधिष्यति । जागाधीतु-जागाधु-जागाद्धात् । जाग द्दाम् । जागाधतु । जागाद्धि-  
 जागाद्धात् । जागाद्धम् । जागाद्ध । जागाधानि । जागाधाव । जागाधाम । लङि अजागाधीत्-  
 अजाघान् । अजागाद्धाम् । अजागाधु । सिपि ईदृपक्षे अजागाधीरिति सिद्धवत्कृत्य ईडभाव-  
 पक्षे आह । सिपीति ॥ अजागाध् स् इति स्थिते भप्भावे 'सिपि धातोर्त्वा' 'दध्' इति  
 दस्य रुत्वपक्षे हट्टपादिलोपे रेफस्य विसर्गे अजाघा इति रूपमित्यर्थः । दत्वपक्षे तु अजा-  
 धाद् इति बोध्यम् । अजागाद्धाम्, इत्यादि । जागाध्यात् । लुटि 'अस्तिसिच' इति नित्यमीट् ।  
 अजागाधीन् । अजागाधिष्ठाम्, इत्यादि । नाथृ इति ॥ उदाहरणसूचनम् । वर्गद्वितीयान्तो  
 ऽय धातुः न क्षपन्तः । तस्य ईदृपक्षे नानाधीति इति सिद्धवत्कृत्य ईडभावपक्षे आह । नाना-

गुच्छ (चुरा० उभ०—गुच्छयति-ते गुच्छित) १ परिवृत्त करना  
धरना लपेटना परिवेष्टित करना २ छिपाना डक  
सेना अथ— डकना परदा डालना छिपाना अथ  
गुच्छित करना ।

गुच्छम [ गुच्छ + गुच्छ ] १ छिपाना डकना गोपन २ मलमा  
—यथा मलमगुच्छम ।

गुच्छित (वि०) [ गुच्छ + क्त ] १ घिरा हुआ डका हुआ  
२ चूना किया हुआ पीसा हुआ चरा किया हुआ ।

गुच्छ (चुरा० उभ०—गुच्छयति गुच्छित) १ डकना छिपाना  
पीसना चरा करना ।

गुच्छक [ गुच्छ + क्त + क्त ] १ घूल घुन २ तेल का  
बर्तन ३ मद मधुर स्वर ।

गुच्छक [ गुच्छ + क्त ] भाटा भोजन घुन ।

गुच्छित (वि०) [ गुच्छ + क्त ] १ चूना किया हुआ पीसा  
हुआ २ घूल से डका हुआ ।

गुण्य (वि०) [ गुण + यत् ] १ गुणों से युक्त २ गिन  
जान के योग्य ३ वर्णन किया जान के योग्य प्रशस्त  
४ गुणा करने के योग्य बहु रागि जिसे गुणा किया  
जाय ।

गुल्म = गुच्छ ।

गुल्मक [ गुल्म + क्त + क्त ] १ गटठर गुच्छ २ गुल्मस्ता  
३ चंदर ४ पुस्तक का अनुभाग या अध्याय ।

गुद् (भ्वा० आ०—गोद्यते गुदिन) क्रीडा करना खलना ।

गुद्म [ गुद् + क्त ] गुद्मा—पाक० १३१ मनु० ५११३६  
८१८८१ । सम० अङ्गुर कबासीर—आकर्त कोष्ठ  
बद्धा—उद्गुच बनासीर ओष्ठ गुदा का मूल  
—कील—कीलक बनासीर—ग्रह कन्ध मलावरोप  
—पाह गुदा की सूजन (मलडार का पक जाना)  
—अन काच निकलना—बमन (मनु०) गुदा मल  
द्वार स्तम्भ वज्र ।

गुह (वि०) पर०—गुहयति गुहिन) लपेटना डकना  
आवेष्टित करना ढापना ॥ (भ्वा० पर०—गुहयति)  
कृद् होता ॥ (भ्वा० आ०—गोषते) क्रीडा करना  
खलना ।

गुदल [ गुन इति शब्देन दल्यतेऽस्मी—गुन + दल + शिच  
+ अव एक छोट जायताकार डोक का शब्द ।

गुद्वा (डा) स [ पु० ] चातक पत्ती ।

गुद (भ्वा० पर०—गोपायति गोपायिन् या गुप्य)  
१ रक्षा करना बचाना आवेष्टित करना रक्षवाली  
करना—गोपायति कुलस्त्रिय आमानम—सङ्ग०  
जुगोष मानमवस्त—रघु० ११३१ जुगोष गोष्पधरा  
मित्रोर्मि—२११ मट्टि० १७८० २ छिपाना डकना  
—कि वम—वरणानतिव्यतिवरण्याजन गोपायते—अमर  
२२ दे गुद ॥ (भ्वा० आ०—गुपयते—गुप का  
सप्तम रूप) १ गुच्छ समझना कटावना घिन करना

अघिन करना निंदा करना (अपा० के साथ कभी  
कभी कम० के साथ भी) पापाङ्गुगुप्ते—सिद्धा०  
कि त्व मायनगुप्तिष्ठा मट्टि० १५१९ याज्ञ०  
३१२९६ २ छिपाना डकना (इस अर्थ में—गोपते)  
॥ (वि०) पर०—गुपयति) डकाना बिल्लूक हो  
जाता व (चुरा० उभ०—गोपायति—ते) १ बच  
कना २ खलना ३ छिपाना (कविहृत्य से उवघट  
निष्पाकित श्लोक घानु के विभिन्न रूपों पर प्रकाश  
डालता है—गोपायति क्षितिमिमा चतुरन्ध्रसीमा  
पापाङ्गुगुप्ति उदारमनि सदैव क्षित न गोपयति यस्तु  
बन्धोवन्धो धीरो न गुपयति महापति कायजाते ।

गुपिल [ गुप + इलच ] १ राजा २ रक्षक ।

गुप्त (भू० क० कृ०) [ गुप + क्त ] १ प्ररक्षित सभृत  
रक्षित—रक्ष० १०१६० २ छिपाना हुआ डका हुआ  
रहस्यमय—मनु० २११९० ७१७१ ८१७७ ३ अन्तर  
आय से जोखल ४ सभृत—यत् वैश्यो के नाम के  
साथ जुद्धन वाली वर्ण सूचक उपाधि—चन्द्रगुप्त  
समृद्धगुप्त आदि (ब्राह्मणों के नामों के साथ प्राय  
देख या 'वर्मेन' शब्दों के नामों के साथ 'वर्मेन' या  
बातु वैश्यो के नामों के साथ गुप्त' भूति बयभा  
वत और वदो के नामों के साथ दान जोडा जाता  
है गु० शर्मा देवदत्त विप्रस्य वर्मा माता च भूभुज  
भूतिदेवदत्त वैश्यस्य दास गृहस्य कारयत्) —लक्ष  
(अर्थ०) गुप्त रूप से निजी तौर पर छपने डग पर  
—यत्ता काव्यप्रयास य दणित मल्ल स्त्रीपात्रों में से एक  
परवीया नायिका मुनि छिपान वाली नायिका—गुप्त  
मुरतगोपना वतिप्रमाणमुरतगोपना और वतमान  
मुरतगोपना दे० रत्न०—२४ । सम०—कथा गुप्त या  
गोपनीय सभाचार रहस्य मति गुप्तचर जामुस  
—चर जामुस छिप कर घूमन वाला (र) १ बल  
राम का विशेषण २ गुप्तचर जामुस—हानम छिपा  
कर लिया जाय वाला राज गुप्त उपाहार—बैज बल्ला  
हुआ मल ।

गुप्तक [ गुप्त + क्त ] सधारक प्ररक्षक ।

गुप्ति (स्त्री०) [ गुप + क्त ] १ सधारण प्ररक्षा  
—सर्वस्यास्तु सारस्य गुप्यधम—मनु० १८७ ९४ ९९  
याज्ञ० १११९८ २ छिपाना डकना ३ डकना ग्यात  
न रक्षना—अतिशयरागु गोपयति—का० ११४ बिल  
कन्त्रा गुच्छ गुपयन् ५ भूमि में छिप सोपना  
६ प्ररक्षा का उपाय दृष्ट गुपयन् ७ नागराज  
अन्त—सरमस इव मनिस्फोटमन् बरोमि—गि०  
११६० ८ नाव का निवना तल ९ रोज धाम ।

गुक्त गुक्त (गुप्ता० पर०—गुपयति गुप्तिन् गुपिन) गुपना  
गुपन करना ढापना लपेटना—मट्टि० ७१०५  
२ (अन्त०) निजना रक्षना करना ।

(सू २२९९) इति न वृद्धिः । अजङ्गनोन् । अजङ्गनिष्ठाम् । हन्तेर्यङ्लुक् ।  
अभ्यासाच्च' (सू २४३०) इति कुत्वम् । यद्यपि 'हो हन्तेः—' (सू ३५८)  
इत्यतो 'हन्ते' इत्यनुवर्त्य विहितम् । तथापि यङ्लुकि भवत्येवेति न्यासकारः ।  
'दितपा घषा' (प १३२) इति निषेधस्त्वानित्यः । 'गुणो यङ्लुकोः' (सू  
२६३०) इति सामान्यापेक्ष्यापकादिति भावः । जङ्गनीति । जङ्गन्ति ।  
जङ्गतः । जङ्गति । जङ्गतिता । दितपा निदेशाज्जादेशो न । जङ्गहि । अजङ्गनीन्—  
अजङ्गन् । जङ्गन्यान् । आशिपि तु वध्यान् । अवधीन् । अवधिष्ठानित्यादि ।  
वधादेशस्य द्वित्वन्तु न भवति । स्थानिवत्त्वेन 'अनभ्यासस्य' इति निषेधान् ।  
तद्वि समानाधिकरणं धातोर्विशेषणम् । बहुव्रीहिवृत्तान् । आहून्वात्सु 'आहो

'दितपा घषा' इति निषेधात्कथामिह 'हो हन्तेः' इति कुत्वमित्याशेन । गुणः इति ॥ 'गुणो  
यङ्लुको' इति आपकादित्यन्वयः । 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्यत्र एकप्रहणाद्यङ्लुकि द्विवचन-  
स्याभावादभ्यासानावात् 'गुणो यङ्लुको' इत्यन्यासस्य गुणविधान 'दितपा घषा' इत्यादि-  
निषेधस्य ङाचिद्वृत्तके अप्रवृत्तिरप्यवगत्यर्थः । नन्वेकाज्जटपविधेरिव यङ्लुकि ङाचिद्वृत्त-  
निष्पन्नतामिदं 'हो हन्ते' इति दितपा निदेशानिनिनकनिषेधस्य रूपं यङ्लुके अप्रवृत्तिः  
स्यादित्यत आह । सामान्यापेक्षेति ॥ 'गुणो यङ्लुको' इत्यन्यासस्य गुणविधाननेका-  
ज्जटपस्य नित्यत्वं शङ्क्यत्वं तद्वचनोपानन्दमानान्यात् 'दितपा घषा' इत्यादिसर्वनिषेधानां  
यङ्लुके ङाचिद्वृत्तानि अप्यवगत्यर्थः । इति भावः इति ॥ न्यानकृत इति रूपः । जङ्ग-  
नीतीति ॥ 'गुणः' इति वृत् । जङ्गतः इति ॥ 'अनुदानोत्तर' इत्यनुनासिकलोकाः ।  
जङ्गतीति ॥ 'गमहन' इत्यनुशलोकाः । जङ्गनितेति ॥ एकाज्जटपादिनिषेधो न ।  
जङ्गहारत 'हन्तेः' रन्त्यारूप आह । दितपेति ॥ अजङ्गमिति ॥ लज्जतिरि ईशनां  
अजङ्गन् इति स्थिते हन्तपादिलोप इति भावः । आशिपि तु वध्यादिति ॥ अव भावः ।  
वहन् इत्यस्मादाश्लिष्टे 'हो वध स्मिन्' इति वधादेशः । प्रवृत्तिप्रहमेन बहुवृत्तस्यैव  
प्रहणाशेन भावः । अवधीदिति ॥ वहन् इत्यस्मान्मुकस्तिरि 'वृद्धि च' इति वधादेशे 'अन्ति-  
सिच' इति निलमिति भावः । ननु हो यङ्लुगन्त्यात् आश्लिष्टे मुह्यति द्वित्वान्नयेन  
वधादेशे इति तस्य द्वित्वं कुतो न स्यादित्यत आह । वधादेशस्य द्वित्वन्तु न भव-  
तीति ॥ कुत इत्यत आह । स्थानिवत्त्वेनेति ॥ वधादेशान्तरत्वादाशे द्वित्वं कुत नास्ति  
इत्यङ्गवचनस्य स्थाने वधादेशः । तस्य च स्थानिवत्त्वेन सामान्यतया अनभ्यासस्येति निषेधत्र  
द्विवचनपर्यं । ननु सामान्यस्य न्याने भवन् वधादेशः स्थानिवत्त्वेन सामान्योऽस्तु । द्वित्व-  
मुदाहरन् । सामान्यस्येऽप्यन्यामानान्नकथात् अनभ्यासस्येति धातोर्विशेषणम्  
द्वित्वनिषेधादित्यत आह । तद्वीति ॥ धात्ववयवस्य अन्यासस्येत्यत नार्थः । किन्तु अन-  
न्यासो यो धातुः तदवयवस्यैव इत्येव । अनभ्यासप्रहमं समित्यधिकार्यमेव धातोर्विशेषण-

यमहनः' (सू २६९५) इत्यात्मनेपदम् । आजह्वते इत्यादि । 'उत्परस्य—'  
(सू २६३७) इति तपरत्वान्न गुण । 'हलि च' (सू ३५४) इति दीर्घस्तु  
स्यादेव । तस्यासिद्धत्वेन तपरत्वनिवर्त्यत्वायोगान् । चञ्चुरीति-चञ्चूर्ति ।  
चञ्चूर्तः । चञ्चुरिति । अचञ्चुरीन्-अचञ्चू । चङ्घनीति-चङ्घन्ति । 'जन-  
सन—' (सू २५०४) इत्यात्वम् । चङ्घात् । 'गमहन—' (सू २६६३)  
इत्युपधालोपः । चङ्घ्नति । चङ्घाहि । चङ्घनानि । अचङ्घनीत्-  
अचङ्घन् । अचङ्घन्तु 'ये विभाषा' (सू १३१९) । चङ्घ्यायान्-चङ्घ्य-  
न्यात् । अचङ्घनीन्-अचङ्घ्यानीन् । 'उतो वृद्धि—' (सू २४४३)  
इत्यत्र 'नाभ्यस्तस्य' इत्यनुपृत्तेरुतो वृद्धिर्न । योयोति-योयवीति । अयोयवीत्-

मित्यर्थः । नन्वेवमपि न अभ्यास अनभ्यास इति विग्रहे द्वित्वन्दुनिवारमेव । वधादेशस्य  
स्थानिवत्त्वेन धातोः साभ्यासत्वेऽप्यभ्यासानात्मकत्वादित्यत आह । बहुव्रीहिवलादिति ॥  
न विद्यते अभ्यासो यस्य धातोरेति बहुव्रीहिमाश्रित्य अनभ्यासस्येत्येतद्धातोः सामानाधि-  
कार्येण विशेषणमित्यर्थः । प्रकृते च वधादेशस्य धातोः स्थानिवत्त्वेन साभ्यासत्वादभ्यासहान-  
त्वाभावात् द्वित्वमिति भावः । आङ्पूर्वास्थितिः ॥ यङ्लुगन्ताद्धनधातोरेति शेषः । 'आटो  
यमहन' इत्यत्र हन्ग्रहणेन यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् । प्रकृतिग्रहणं यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणा-  
दिति भावः । उत्परस्येति ॥ 'चर गता भक्षणे च अस्माद्यञ्छुकि लट्स्तिपि ईडभावे  
द्वित्वे 'चरफलोद्य' इत्यभ्यासस्य जुङ् । 'उत्परस्यात्' इत्युत्तरखण्डे अस्मास्य उत्त्वं 'हलि च'  
इति दीर्घः । चञ्चूर्तिरिति रूपम् । तिपमाश्रित्य उकारस्य लघूपधगुणस्तु न । उादिति तपर-  
करणसामर्थ्यात् । अन्यथा उरितुक्तेऽपि "भाव्यमानोऽण् सवर्णान् न गङ्गाति इत्येव दार्ष्ट्यादि  
व्यावृत्तेरित्यर्थः । ननु उदिति तपरकरणाद्यथा गुणा निवर्तते तथा 'हलि च' इति दाधोऽपि  
निवर्तते इत्यत आह । हलि चेति दीर्घस्तु स्यादेवेति ॥ कुत इत्यत आह । तस्येति ॥  
'हलि च' इति दीर्घशास्त्रस्य त्रैपादित्वेन 'उत्परस्यात्' इति शास्त्रग्रन्थमिद्वयया तपरस्म-  
रणेन तन्निवृत्तेरसम्भवादित्यर्थः । वस्तुतस्तु गुणस्यापि बहिरङ्गतया अमिद्वत्त्वात्तपरत्वनिवर्त्यत्वं  
न भवति । अतएव विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये 'उदोष्ट' इत्युक्त्वे पौर्णत्ये इत्यत्राभ्यासगुणो दृश्य-  
मान उपपद्यत इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् । अचञ्चूरिति ॥ लट्स्तिपि ईडभावे  
हलट्पादिना तलोपे प्रत्ययलक्षणेन 'हलि च' इति वा पदान्तवान् 'वोरिपधाना' इति वा  
दीर्घः । 'खनु अवदारणे' अस्माद्यञ्छुकि उदाहरति । चङ्घनीतीति ॥ चङ्घाहीति ॥ हेर-  
पित्वेन डित्वात् 'जनसन' इत्यात्वम् । अचङ्घनीदिति ॥ 'अस्तिपिच' इति नित्यमीड् ।  
'अतो हलादे' इति ऋद्धिविभक्त्यः । युधातो योयोताल्लन 'उतो वृद्धि' इति वृद्धिमाशङ्क्य  
आह । उतो वृद्धिरित्यत्रेति ॥ आशिपि दीर्घः इति ॥ 'अकृत्साध्यातुकयो' इत्यनेनेति  
भावः । अयोयवीदिति ॥ ईडि सिचि वृद्धिः । युधातोऽपि युधातुवद्रूपाणीति मत्वा आह ।

गुल्म, स्मम [गुड + मक उल्म ल — तारा०] 1 वृक्षो का गुड पुरपुर बन पायी—मनु० ११४८ ७।१९२ १२।५८ याज्ञ० २।२७२ 2 विपाटिया का दल सैन्य दल जिसमें ४५ पदाति २३ अस्वारही ९ रथारही और ९ यन्त्रारही हान हैं 3 दुग 4 तिस्ली 5 तिस्ली का बड़ जाना 6 गव की गुल्लि चौका 7 घट ।

गुल्मिन (वि०) (स्त्री०—नी०) [गुल्म + इति] सुरमुट या पादवृत्त में उगनवाला बड़ा गुड नित्य बाला नित्य के रंग से ढलत ।

गुल्मी [गुल्म + अन् + डीय] तबू ।

गु (गु) काक [गु + काक] सुरारा का पेड़ ।

गुह (स्त्री० उभ०—गुह्नि-ले) इन्ना छिपाना परदा डालना गुप्त रखना—गुह्य च गृह्णि गुणान प्रकटा करानि—मन० २।७० गृह्यम् इवाङ्गानि मनु० १०५ २५० १४।४९ मट्टि० १६।४९ उप—आश्रित्य करना तरङ्गतरङ्गगृह्णाव—रघु० १३।६३ १८।४७ मट्टि० १४।५० नि० १।१८ वि०, छिपाना गुह्य रखना ।

गुह [गुह + क] 1 कानिष्य का विनाश—गुह इवाग्रति हनक्ति—जा० ८ कु० ५।१४ 2 बाड़ा 3 निवास या वासत का नाम का गृहघर का राजा तथा भावान राम का मित्र था ।

गुह [गुह + टाप्] 1 गुफा कदम टिप्पन का स्थान—हानिबद्धप्रतिगम्भीरस्य—रघु० २।२८ ५१ बमस्य तस्य निहित गृह्याम—महा० 2 छिपाना डकना 3 गड़ा बिल 4 हृदय । सम० आहित (वि०) हृदय में रक्या हुआ घर बड़ा—गुह्य (वि०) गुफा जैसे गुह का चौड़ गुह का लूटे गुह का—साय 1 चूहा 2 घर 3 परमात्मा ।

गुहिनम [गुह + इतच्] बन जंगल ।

गुहेर [गुह + एरच्] 1 अनिनायक प्ररजक 2 सुनार ।

गुह्य (स० क०) [गुह + कृप्] 1 छिपान के योग्य गोपनाय गुह्य रखन के योग्य निजी—गुह्य च गृह्णि—मनु० १।७२ 2 गुप्त एकान्तवासी बिरक्त (सैवानिबल) 3 रहस्यपूर्ण—मन० १८।६३—ह्य 1 पावड 2 कड़वा—ह्यम 1 भद्र रहस्य—धीन वैदास्मि गृह्यानाम—भग० १०।८ १।२ मनु० १२।११३ 2 गुप्त इन्द्रिय गुह्य या स्त्री की जनन स्थान । मन०—गुह्य वि० का विमोचन—दोषक गुह्य—विमोचन गुह्य—मार्चितम् 1 गुप्तवार्त 2 भद्र रहस्य की वार्त—मम कानिष्य का विमोचन ।

गुह्यक [गुह्य गुह्य + क सुब सदास—ब० स०] यहा जैसी एक अपेक्षा की श्रमा जा बुद्ध क सबर तथा उसके काय के सत्पक हैं—गुह्यक्यन यवाक—मेघ० ५ मनु० १२।४३ ।

गु (स्त्री०) [गम + कू टिलोप] 1 बूझ करकट 2 मल बिटा ।

गुड (गु० क० इ०) [गुड + क] 1 छिपा हुआ गुप्त, गुप्त रणिया हुआ 2 डका हुआ । सम०—अङ्ग कथना—अङ्गमि साय—आमन (समम होकर गुनामन् बनना ह मिटा०) य इम प्रश्न समाधान किया है—अवेद वर्णामाद ह्य मिहो वर्णविपयधान गुडात्मा वय विहृन्वयत्पातपादर । परमा मा—उत्पन्न—अ हिन्दुस्य गम्भीरो म र्विन् १२ प्रकार के गुडा में से एक यह उस स्त्री का गुप्त पुत्र है जिसका पति परदेन गया हुआ है तथा वास्तविक पिता मनात है—गृहे प्रच्छन्न उच्छ्वो गुडमनु गुत स्मम यान० २।१२९ १७० मोक्ष सन्नपथा दय 1 गुप्तमाग 2 पर डकी 3 मन बुद्धि—बाह—बाह साय—गुह्य आमुन गुप्तकर भद्रिका गुह्यक बहुवृत्त माय भूपम माय भवुन बीया—बभल (पु०) मङ्गल—साक्षिन (पु०) गुप्त गवाह एम साक्षी जिसन प्रतिवादी की बजा का चुपचाप मुका हो ।

गुह्य—यम [गु—यक] मल बिटा ।

गुह्य (वि०) [ग + कृ] उत्पन्न मल ।

गुह्यम—दे० गुह्य ।

गुह्या ? और के दम व बनी हुई आत्म की आहुति ।

गु (म्ब० पर० परनि) छिडकना तर करना पीला करना ।

गुञ्ज गुञ्ज (स्त्री० पर० परनि गुञ्जनि) दाम करना दहाडना पराना आदि ।

गुञ्जक [गुञ्ज + कृप्] 1 गजर 2 शलजम 3 गात्र (गात्र की पनिया का बराना जिसमें कि नादबता वेन ह)।—जम विर्रले हीर स मारे हुए पशु का मांस ।

गुच्छि (घो) व [?] गौडका का एक जाति ।

गुघ (वि०) पर० गुह्यति गड्ड) लकड़ाना इच्छा करना लोभक प्रयत्नान द्वारा लाभपित होना अभिमायी होना ।

गुघु (वि०) [गुघ + कृ] बामातुर लपट—घु बागदेव ।

गुघु (वि०) [गुघ + कृ] 1 लामी लालची—अगुघुदादे सोमम रघु० १।२१ 2 उत्तुङ्ग इच्छुङ्ग ।

गुह्यम—व्या [गुघ + कृप्] इच्छा लाम ।

गुघ (वि०) [गुघ + क] 1 लामी लालचा—घु—घुघु मिट्ट—मार्जारस्य हि दापन ह्यो गुडा वरदुर्ग हि० १।५९ रघु० १२।५० ५९ । सम०—कुट राजगड क विरट विद्यमान एव पराव वनि—राज मिटो का राजा जटाच—अपेक्षासीमहिनि निमरो लभ्यास्य वाय—उत्तर० २।५५—बाह—बाहिन (वि०) गुघ के परा म युधन (बाण आदि) ।

कुच्छि (स्त्री०) [गुह्यति मञ्ज सभम् यद् + कृप्]

अयोयोत् । योयुयात् । आशिषि दीर्घः । योयूयात् । अयोयावीत् ।  
 नोनवीति—नोनोति । जाहेति—जाहाति । ‘ई ह्रस्वघोः’ (सू २४९७) ।  
 जाहीतः । इह ‘जहातेश्च’ (सू २४९८) ‘आ च हौ’ (सू २४९९)  
 ‘लोपो यि’ (सू २५००) ‘घुमास्था’ (सू २४६२) ‘एलिङि’ (सू २३७४)  
 इत्येते पञ्चापि न भवन्ति । रितपा निर्देशात् । जाहति । जाहासि—जाहेपि ।  
 जाहीथः । जाहीथ । जाहीहि । अजाहेत्—अजाहात् । अजाहीताम् ।  
 अजाहुः । जाहीयात् । आशिषि जाहायात् । अजाहासीत् । अजाहासिष्टाम् ।  
 अजाहिष्यत् । लुका लुप्ते प्रत्ययलक्षणाभावात् ‘स्वपित्स्यमि—’ (सू २६४५)  
 इत्युत्त्वं न । ‘रुदादिभ्यः—’ (सू २४७४) इति गणनिर्दिष्टत्वादीणम् । सास्व-

नोनवीतीति ॥ हाङ्हाकोर्यङ्लुकि तुल्यानि रूपाणि । द्वित्वप्रयुक्तात्मनेपदस्य यट्लुकि  
 अप्रवृत्तेरुक्तत्वादिति मत्वा आह । जाहेतीति ॥ हाङ्हाकोर्यङ्लुगन्ताच्छट्सिति ईडि आहुणे  
 रूपम् । नच हाङोऽभ्यासस्य ‘भृजामित्’ इति इत्त्वम् । हाकस्तु तज्जास्ति । भृज् भाङ् ओहाङ्  
 एयान्त्रयाणामेव तत्र ग्रहणान् कथं हाङ्हाकोस्तुल्यत्वमिति शङ्क्यम् । ‘भृजामित्’ इत्यस्य  
 श्वावेव प्रवृत्ते । न चाकित इति निषेधात् हाकोऽभ्यासस्य दीर्घाभावात् कथमुभयोस्तुल्यरूपत्व-  
 मिति वाच्यम् । क् इत् यस्य सः कित् न विद्यते कित् यस्य सः अकित् तस्य अकित् इति  
 बहुव्रीहिर्गर्भवहुव्रीह्याभ्रयणात् । इह च हाको धातो कित्त्वेऽपि न किङ्त्वम् । तदभ्यासस्य तु  
 वृत्तरान् किङ्त्वम् । ‘द्वि. प्रयोगो द्विवचन पाठम्’ इति सिद्धान्तात् । बहुव्रीह्याभ्रयणसाम-  
 र्थ्यादेव व्यपदेशितत्वेन हाको न कित्त्वम् । अतो हाकोऽप्यभ्यासदीर्घो निर्बाध इति भावः ।  
 जाहीतः इति ॥ हाङ्हाकोस्तसि इत्वमेव । ननु हाको ‘जहातेश्च’ इति इत्त्वविकल्पः कुतो  
 नेत्यत आह । इहेति ॥ हलादौ किङिति सार्वधातुके ‘जहातेश्च’ इति इत्त्वविकल्पः । तथा  
 ‘आ च हौ’ इति जहातेर्हौ परे आत्वमीत्वञ्च, तथा ‘लोपो यि’ इति यादौ सार्वधातुके जहाते-  
 रलोपश्च, तथा ‘घुमास्था’ इति जहातेर्हलादौ किट्त्वार्धधातुके इत्वञ्च, तथा ‘एलिङि’  
 इति जहातेरार्धधातुके परे किट्त्वत्वञ्च, इत्येते पञ्चापि विधयो यङ्लुकि न भवन्तीत्यर्थः ।  
 कुत इत्यत आह । रितयेति ॥ एतच्च जाहीत इत्यत्र ‘ई ह्रस्वघोः’ इति इत्वमेव ।  
 नत्विच्चविकल्प इति स्थितम् । जाहतीति ॥ ‘अदभ्यस्तात्’ इत्यदादेशः ‘आभ्यस्तायोः’  
 इत्यालोपः । जाहायकारः । जाहिता । जाहिष्यति । जाहेतु—जाहातु—जाहीतात् । जाहीताम् ।  
 जाहतु । जाहीहीति ॥ हेरपित्त्वेन टित्त्वादीत्वम् । इह ‘आ च हौ’ इति न । विधिलिट्पाह ।  
 जाहीयादिति ॥ ‘ई ह्रस्वघोः’ इति इत्वमेव । ‘लोपो यि’ इत्यालोपस्तु न । आशिषि । जाहाया-  
 दिति ॥ इह ‘घुमास्था’ इति इत्वम् । ‘एलिङि’ इत्यापि न । अजाहासीदिति ॥ ‘यमरम्’  
 इति सगिटी । ‘जि प्वप् शये’ अस्य यङ्लुकि ‘स्वपित्स्यमिभ्येना याङि’ इति सम्प्रसारणमाशङ्क्य  
 आह । लुका लुप्ते इति ॥ उत्त्वमेति ॥ नस्य सम्प्रसारणेनेत्यर्थः । ईडिभावपक्षे ‘रुदादिभ्यः’





पीति—सास्वप्ति । सास्वप्नः । सास्वपति । असास्वपीत्—असास्वप् । सास्व-  
प्यात् । आशिपि तु 'वचिस्वपि—' (सू २४०९) इत्युत्त्वम् । सासुप्यात् ।  
असास्वापीत्—असास्वपीन् ।

२६५२ । रुग्रिकौ च लुकि । (७-४-९१)

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य 'रक्' 'रिक्' 'रीक्' एते आगमाः  
स्युर्यङ्लुकि ।

२६५३ । ऋतश्च । (७-४-९२)

ऋदन्तधातोरपि तथा । वर्धृतीति—वरिधृतीति—वरीधृतीति । वर्वर्ति—  
वरिवर्ति—वरीवर्ति । वर्धृत—वरिधृत—वरीधृतः । वर्धृतति—वरिधृतति—वरीधृतति ।  
वर्वर्तामास—वरिवर्तामास—वरीवर्तामास । वर्वर्तिता—वरिवर्तिता—वरीवर्तिता ।  
गणनिर्दिष्टत्वात् 'न वृद्धश्चतुर्भ्यः' (सू २६४८) इति न । वर्वर्तिप्यति—वरिवर्ति-  
प्यति—वरीवर्तिप्यति । अवर्धृतीन्—अवरिधृतीन्—अवरीधृतीन् । अवर्वर्म्—अवरि-  
वर्त्—अवरीवर्त् । सिपि 'दश्च' (सू २४६८) इति रुत्वपक्षे 'रो रि' (१७३)  
अवर्वाः—अवरिवा—अवरीवा । गणनिर्दिष्टत्वाद्ङ् न । अवर्वर्तीन्—अवरिवर्तीन् ।

इदमाशङ्क्य आह । रुद्रादिभ्यः इति ॥ असास्वप् इति ॥ लट्स्तिपि ईडभावे हल्ङया-  
दिलोप । असास्वापीत् इति ॥ 'अतो हल्दे' इति वृद्धिविक्त्य । 'अस्तिसिच' इति  
नित्यमीड् । रुग्रिकौ च लुकि ॥ 'ऋदुपधस्य च' इत्यतः ऋदुपधस्येत्यनुवर्तते । रिगपि  
इह चकारात् समुञ्जीते । 'अत्र लोप' इत्यतः अभ्यासस्येत्यनुवर्तते । 'गुणो यङ्लुकोः'  
इत्यतः यङ्लुक्प्रहणञ्च । तदाह । ऋदुपधस्येत्यादिना ॥ रक् उभार उच्चारणार्थः ।  
रिक् ॥ इकार, ध्रुयत एव । एव रीक् ईकारश्च । व्याख्यानात् । ऋतश्च ॥ तथेति ॥ अभ्या-  
सस्य रक् रिक् रीक् एते आगमाः स्यु यङ्लुकीत्यर्थः । 'इतु वर्तने' अस्माद्यङ्लुगन्तात् वृत्त-  
इत्यस्मात्लट्स्तिपि ईट्पक्षे अभ्यासस्य क्रमेण रक् रिक् रीक्योदाहरति । वर्धृतीति—वरि-  
धृतीति—वरीधृतीति इति ॥ ईट्पक्षे 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति नियधान्  
रघूपधगुण । ईडभावेऽपि रगाद्यगमनयमुदाहरति । वर्वर्तीत्यादि ॥ इति नेति ॥ इनि-  
पेधो नेत्यर्थः । लोटि वर्धृतीत्—वर्वर्त्तु—वर्धृतात् । वर्धृताम् । वर्धृतु । वर्धृदि । वर्वर्तानि ।  
लट्स्तिपि ईटि आह । अवर्धृतीदिति ॥ ईडभावे त्वाह । अवर्वर्त् इति ॥ हल्ङयादिना  
तिपो लोप । 'रात्सस्य' इति नियमान् सयोगान्तलोपः । अवर्वाः इति ॥ लट्स्तिपि  
अवर्वर्त् सि इति स्थिते 'दश्च' इति दकारस्य रुत्वे 'रो रि' इति पूर्वरेफस्य लोपे ट्रलोपे इति  
दीर्घे हल्ङयादिना सिपो लोपे रेफस्य विसर्ग इति भावः । अङ् नेति ॥ 'पुपादियुतादि'  
इत्यनेनेति शेषः । 'अस्तिसिचः' इति नित्यमीड् । अथ 'ङ् कृन् करणे' इति धातोऽदाहरति ।

गहिन (वि०) [गह+गि] घर का स्वामी गहम्भ घरवारी गह्यन्ते गहिन कथ नु तनयाविश्लेषयुख नव गा० ४५ उत्तर० २१२२ गा० २१२४ ।

गहीत (म० क० क०) [गह+त] १ लिखा हुआ पकड़ा हुआ केशप गहीत २ स्वीकृत ३ प्राप्त अवाप्त ४ परिहृत पन्ना हुआ ॥ रटा हुआ ६ अविपत ज्ञान—दे० 'गह' । सम० गभी गभवनी स्त्री—दिन (वि०) १ भागा हुआ भयोडा तिगर्बिपर हुआ ॥ तिरोभत सापता

गहीतिन (वि०) (स्त्री०—सी) [गहीत+ति] जिसने कोई बात समझ ली है (अभि० के साथ)—गनीतो वस्त्रज्ञ वग० १२०

गह्य (वि०) [गह+य] १ आच्छादित या प्रसन्न होने के योग्य जसा कि गुणगह्य २ घरेलू ३ जो अपना स्वामी ने दो परतब ४ पालन घर में रखवाया हुआ ५ बाहर स्थित घामगह्य सेना (गर्ब के बाहर स्थित सेना) ह्य १ घर में रहने वाला २ पालन जानवर ह्यम गुण सम० गहि गविहोत्र की जाग भिनको स्थापित रखना प्रयत्न बाह्यण का विहित कम ह

गह्या [गह्य+दाप] नगर के निकट बसा हुआ गाँव

गृ० १ (कथा० पर०—गथापि गण) १ ग करना पुकारना आवाहन करना २ घोषणा करना बोलना उच्चारण करना प्रवचन करना रघ० १० १३ ३ बयान करना प्रचारित करना ४ प्रस्ता करना स्तुति करना—कैचिद्भोता प्राञ्जलपो गणनि भय० ११ २१ भट्टि० ८१७ अत्र प्रोत्साहित करना भट्टि० ८७७ १ (गुण० पर० गिरति या मिलति) १ दिगलता हन्य करना छा जाना २ विहालता उदलता बर देना बहु से कचना अर्थ—(आ०) जाना निगलना—तथावगिभाजव विगावर्मास नोमिनम भट्टि० ८१७ उ—१ पचना बर देना बसन करना उगिरनी य मरुत वणिग पुण्यासि परिमनोन्गार भामि० ११११ पि० १४ १ २ उन्म जन करना विहाल बाहर करन उलट देना कु० १ ३ रघ० १४ ५३ बेगी० ५ १४ पद्य० ५६७ नि निगन्ता सा जाना भामि० १३८ सम १ चालना २ प्रतिका करना वन करना (आ०) सम १ बाहर फर देना निकाल देना २ जोर से चिल्लाना । (वरा० आ० गारवने) १ वन जाना वजन करना २ अध्यापन करना

गह्य (वि०) [ग+उगीति ग इन्वि गदु+कन गहक परा०] खनन के लिए ग (गुण सी) ।

गह्य (वि०) [ग+यन] १ गहक गार्त बाला—गयो माण बक साम्नाम—गा० ३ भा६८ विडा० २ गाय ज्ञन

के योग्य यम १ गीत गायन गान की कला—गय नेन विनीती वाम रघ० १५१६९ मेघ० ८६ अनन्ता बाह्यमस्वाहो गयस्वय विविधता पि० १७३२ ।

गम् (म्भा० जा० गपने गण) दडना खोदना तलान करना—यु० गवे' ।

गह्य [ग गवणे गवर्वा वा ईह ईस्वी गव तारा०] घर, आवास या नारी विजया जाना गहे राग्नि तपति (मुधा० वि० इस ग का अर्थ का रूप अलक त० स० बवान के लिए कम् गवने के साथ प्रयोग होता है उग० गहेधवेदिन (वि०) घर पर तोड़मारका अर्थात् कायर मोह गहेदाहिन् (वि०) घर पर ही तेज अर्थात् कायर गहेनदिन (वि०) घर पर ही ललकारन वाला अर्थात् कायर पूरे का मर्गा या इरपोक गहेमेहिन् (वि०) घर में ही मनन वाला अर्थात् झालसी गहेपाड डींग मारनवाला आपसकाघी सत्तीसोर गहेशर अपन मोन्ले म कुला भी गर होता है चारणकारी के धूरमा कालीन के गर डींग मारनवाला कायर

गहिन (वि०) (स्त्री०—सी) [ग+गि] गहिन गहिनी [गहिन+हीप] पत्नी घर की स्वामिनी—वय यस्य सिवा क्षमा च जन्ती गान्धिविचर गहिनी—भा० ४९ मन्महिम्या प्रिय इति मत केनसा कातरण मेघ० ७७

ग (म्भा० पर० गायति गीत) १ गाना गीत गाना—जाने साथ रेभिजेन गीतन यण्ड० ३ गीतमय गविह्य गीतनाम गा० १ मन० ४६४ ९४७ २ गान के स्वर में बालना या पाठ करना ३ बजाने वाला घोषणा करना कन्ना (छन्दोमी भाषा में) गीतवाचयमर्षोक्तिरसा—भा० २ ४ गान के स्वर में बजाने वाला बयान करना या प्रवचन करना चारण दंगीत—गा० २ १४ प्रवचनम्य गीतये—कु० २५ अन्—गान व अनकरण करना—अनगापनि काविदुग्धवनपञ्चमरागन—गीत० १ हि० ३ १० अर्थ निगन करना कथित करना उन् ऊंचे स्वर में गाना उन् स्वर में गायन उन्गावना विन्दति किञ्चराचम कु० १८ गयमगानागुभाभा—मेघ० ८६ उन्गीयमान वनेवेदाभि—रघ० २ १२ उच—गाना निकट गावा गिप्यप्रगिप्यगयोमया नयेवेदि तममन्ममिषयाम उज्जु कि० १८ ४७ परि—गाना बयान करना बजाने करना वि १ बन्नाय गाना लिखना कलाहित करना विती यमे ममयहेहाहिना—न० ११७ २ विपय स्वर (बयेन स्वर) में गाना ।

गर (वि०) (स्त्री०—री) [गिरि+अण] पहाड़ में आया हुआ पहाड़ी पहाड़ पर उत्पन्न ।



पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधात् । आरति-अरियति । लिङि स्तिपा निर्देशान् 'गुणोऽ-  
ति—' (सू २३८०) इति गुणो न । रिङ् । रलोप । दीर्घः । आरियात्-  
अरियिष्यात् । 'गृह् प्रहणे' जर्गृहीति-जर्गर्हि । जर्गृढः । जर्गृहति ।

रेफलोपे कर्तव्ये यणादेशसम्पन्नस्य रेफस्य अच परस्मिन् इति स्थानिवत्त्वात् ऋकारपरकत्वादे-  
परकत्वाभावात् कथं पूर्वरेफस्य लोप इत्यत आह । पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधादिति ॥  
पूर्वत्रासिद्धीयकार्ये कर्तव्ये स्थानिवत्त्वनिषेधादित्यर्थः । आरतीति ॥ अर् अति इति स्थिते  
पूर्वरेफस्य लोपे सति 'ढलोपे' इति दार्ढ्यं । नच यण स्थानिवत्त्व शङ्क्यम् । दीर्घविधौ तन्निषे-  
धादिति भावः । अरियतीति ॥ द्वित्वे उरदत्त्वे हलादिशेषे रिक्कि रीक् च कृते परत्वाद-  
भ्यासस्य इयङि सतो यणि रिप्राकोस्तुल्यमेव रूपमित्यर्थः । अरयि-अरियायि-अररीयि-  
अरियरीयि । अर्क्य-अरियथ । अरमि-अरियमि-अररोमि-अरियरीमि । अर्क्य-  
अरियव । अररायकार-अरियरायकार । अररिता-अरियरिता । अररिष्यति-अरियरिष्यति ।  
अर्तु-अरियर्तु-अररीतु-अरियरीतु-अर्क्यता-अरियतात् । अर्क्यताम्-अरियताम् ।  
आर्तु-अरियर्तु । अर्क्य-अरियहि । अरराणि-अरियराणि । अरराव-अरियराव ।  
लुङि आर - आरिय - आररीन् - आरियरीत् । आर्क्यताम्-अरियताम् । आरह -  
आरियर । आर - आरिय - आररी - आरियरी । आर्क्यताम् आरियताम् ।  
आर्क्य-अरियत । आररम्-आरियरम् । आर्क्य-अरियव । विधिलिङि अर्क्य-  
यात्-अरिययात् । अर्क्यताम् अरिययाताम् । अर्क्यु-अरिययु । इत्यादि ।  
आशीर्लिङि विशेषमाह । लिङि स्तिपेति ॥ एकं अर् ऋ यात् इति स्थिते 'अर्ति' इति स्तिपा  
निर्देशात् 'गुणोऽति' इति गुणो नेत्यर्थः । रिङिति ॥ ऋकारस्येति शेषः । तथाच  
अर् रि यात् इति स्थिते आह । दीर्घः इति ॥ 'री रि' इति लोपे 'ढलोपे' इति दीर्घ  
इत्यर्थः । तथाच परिनिष्ठितमाह । आरियादिति ॥ रिप्राकोस्त्वाह । अरियियादिति ॥  
अरि ऋ यात् अरी ऋ यात् इति स्थिते इवर्णस्य इयङ् ऋकारस्य रिङ् । 'लोपो व्यो' इति यलोपस्तु  
न । बहिरङ्गत्वेन रिगोऽसिद्धत्वात् । 'अच परस्मिन्' इति स्थानिवत्त्वाच्च । 'न पदान्त' इति  
निषेधस्तु न शङ्क्यः । 'स्वरदीर्घ्यलोपेषु लोपहृत्पाजादेश एव न स्थानिवत्' इत्युक्तं ।  
लुङि आररीन्-आरियरीत् । लुङि आररिष्यत्-आरियरिष्यत् । गृह् प्रहणे इति ॥  
ऋदुपधोऽयम् । यञ् लुकि द्वित्वे उरदत्त्वे हलादिशेषे अभ्यासस्य रूपप्रीकः । तदाह ।  
जर्गृहीतीत्यादि ॥ ईटपक्षे नाभ्यस्तस्यापि पिति सार्वधातुके' इति लघूपधगुणनिषेधः ।  
ईडभावे त्वाह । जर्गर्हि इत्यादि ॥ जर्गृह् ति इति स्थिते लघूपधगुणे स्वरत्वे टत्वधत्वटुत्वलोपाः ।  
'यणो मय' इति शिष्टस्य टस्य द्वित्वविकल्पः । एव जरिगन्-जरीगर्हि । जर्गृढः इति ॥  
रुक् ङत्वधत्वटुत्वलोपाः । वित्त्वान् गुणः । एव जरिगृढ-जरीगृढ । जर्गृहतीति ॥ ३ ।  
'अदभ्यस्तान्' इत्यतः । जर्गृहीभि-जरिगृहीभि जरीगृहीभि । 'नाभ्यस्तस्यापि पिति' इति  
न लघूपधगुणः । जर्गर्हि-जरिगर्हि-जरीगर्हि । जर्गृन्-जरिगृढ-जरीगृढ । जर्गृढ-जरि-  
गृढ-जरीगृढ । जर्गृहीभि-जरिगृहीभि-जरीगृहीभि । जर्गर्हि-जरिगर्हि-जरीगर्हि । जर्गृढ-  
जरीगृढ ।

गोमुख—धनय गोत्रो का समूह, यवेली—बहर पहाड़  
 —धूम, धूम १ गृह २ सनरा—बलि पत्नी की  
 घल सख्या का समय (सम्पन्न समय ही गोई जवलो  
 से भर लोटनी है उनके घनत से धूल के बाल एकर  
 हो जाते हैं इसी लिए इस काल का नाम सार्धलि  
 पहाड़) —धनु दूध देन वाली गाय जिसके गोने बछड़ा  
 हो —प्र पहाड़—मन्दी मान्द सारस (पत्नी) —नद  
 १ सारस पत्नी २ एक देश का नाम—मदीय मन्दा  
 भाष्य के कर्ता पतञ्जलि यति—मस्त मास्त १ एक  
 प्रकार का छाप २ एक प्रकार का रत्न मास्त  
 १ साह २ भद्रिचर ३ ग्वाला ४ गोत्रो का स्वामी  
 —माय ग्वाला निष्पन्न गोमुख—क ग्वाला (एक  
 वनसकर जाति)—गोपवेगस्य विष्वा—मेघ १५  
 २ गोपाल का प्रधान ३ गाय का अधीशक्त ४ राजा  
 ५ प्रसक्त अभिभावक (बी) १ ग्वाल की पत्नी  
 —गोपीपीनरपायमन्त्रकलकरगुणाली—गोम ५  
 ० ब्रह्मका इन्द्र ईश ग्वाला का मुलिया इष्ट का  
 विरूपण इन्द्र गुपारी का पेड़ बघू (स्त्री) ग्वाल  
 की पत्नी बघूटी गायी ग्वाले की पत्नी पला गाय  
 बघूटीकुलकीराय भाषा १—वति ३ गोत्रो का  
 स्वामी २ साह ३ नया भविष्य ४ भूय ५ इन्द्र  
 ६ इष्ट का नाम ७ गिव का नाम ८ चरन का नाम  
 ९ राजा—पशु यज्ञाय गाय—पातली छप्पर का सजा  
 लन के लिए सके नीचे लगी टटो बली बलमी  
 पात १ ग्वाला २ राजा ३ कण का विषय  
 ० धात्री गोपाला गोपार—पातका १ ग्वाला २ गिव  
 का विषय—पातिका—वाली ग्वाले की पत्नी  
 गोपी पीत सजन गयी का एक प्रकार घुछण  
 गाय का घुल (छत्र) १ एक प्रकार का बन्दर २ दा  
 चार या चौतीस लडा का एक हाथ—कुटिल गिव के  
 ईल (नागिया) का मित्र—बुध जकाय बछड़ा बुरम  
 १ नगरद्वार २ मुख्य दरवाजा वि० ५५  
 ३ मन्दिर का सजा हुआ तोरनद्वार—गुरीवम गाय का  
 गोबर—प्रकाण्डम जिया गाय का माँ—प्रवार  
 गोचरभूमि पग्राह का बरागह—गोप २१६६  
 —प्रवेश गोत्रो का जगल से लौटन का समय  
 गाय काल या सप्या समय भुन (पु०) पहाड़—सर्पिक  
 (वि०) डाम कुतामासी—बडलम १ भुगोच  
 २ गोत्रा का समूह—मनम—गज्युनि—मन्तिलका  
 सीधी गाय भट्ट गो—मक ग्वाला—मातम गो का  
 मात—माय १ एक प्रकार का भट्टक २ गो—जन  
 कुहने घनजनि न हि गोमायमानि केसरी वि०  
 १६१२५ ३ गाय का विराटाल ४ एक गाय का  
 नाम—मक्ष—मृगम एक प्रकार का वाद्ययन्त्र  
 भग० ११३ (क) १ मगरमच्छ घडियाल

२ एक तरह की (चोर के द्वारा लगाई गई) लच  
 (लम) टकायेडा बना हुआ मकान (—लम  
 —लौ) जपमाला रखन की छापानु व आकार की  
 बेली बिगम हाथ डाल कर बाग के दाना की गिनते  
 रहने का मूढ (वि०) बेल की भाँति बूट मृशम  
 गाय का मुख—मग नीलगाय गवय एक प्रकार  
 का बेल—मैद नामद नाम का एक रत्न (यह  
 रत्न हिमालय पहाड़ और सिंधु नदी से प्राप्य  
 है तथा वैद्य पीता नाल और गहरे नाल रंग का  
 होता है) गोमम बैलगाड़ी रत्न १ ग्वाला  
 २ गोपाल ३ सनरा—रङ्ग १ भुगारी २ बली  
 ३ नानुदय गिवर छाया रत्न १ गाय का घुल  
 २ दही ३ छाल जम मटडा—राज बडिमा साह—रत्न  
 दो काल के बराबर बुरी का माय—राहिका राही  
 बना पत्नी रोक्का एक भुगारिण पशु जिसकी  
 ऊर्ध्वत गोमम गोपित स माना जाती है मषका जा गाय  
 के गिर से उपलब्ध होता है लक्ष्मण मरक की भाषा  
 जो गाय की ही पत्नी है—साय (म) स समूह एक  
 तरह का बन्दर—भा० १५०—सोमी केडा—बल  
 बछड़ा अर्धिन (पु०) भडिमा बधन मयुरा के  
 निकट बन्धन प्रयोग म स्थित एक विस्फा पहाड़  
 ० भर धारिल (प०) कण का विषय बना  
 वास गाय वाग्म वास गोपाला विद १ गो  
 पात्रक गोपाला का अध्या २ कण ३ बहसति  
 —विष (स्त्री) विष्ठा गावर विमग और  
 तडके (य गोण जल म चरन के लिए खानी जाना  
 है) गोयम दूध का माय गून्म गोत्रो का लूहा  
 —गून्मरक बडिमा गोंड या गाय—बघ बडिमा साह  
 ० बज गिव का विषय ब्रह्म १ गोपाला २ गोत्रा  
 का समूह गोवर भद्रि गयुत (गु०) गोबर  
 गालम लो गोत्रो की रखन का स्थान धनुषम  
 गोत्रा की नाद जोग छ गोत्रा का स्थान गान्  
 सख्य गान्—सदुष नीलगाय गवय की एक  
 जाति सघ भोर तडके (य समय जब गोत्रो  
 प्रात काल चरन के लिए खान दी जाती है) धुरिका  
 गाय गोत्रन की रत्ना लक्ष १ गाय का  
 लव ओडा २ कृपा का गुच्छा गून्मता अर्धि  
 ३ चार लड की धारिणी का मात सखा जो  
 जारो का गुच्छा स्थानम गोपाला इवामिन  
 (पु०) गोत्रा का स्वामी २ धारिक माय ३  
 मगाजा व माध लदान बली सम्मानपूर्वक पत्नी  
 (ग० बगैव वाग्मविन)—हमा गायध—हम  
 (हमव) गावर हिन (वि०) गोत्रा की रत्ना कर्म  
 वाला।

गोहम्य [१] तरद्वज ।



गोभी [गुण+घञ+ङीय] 1 गन्ध शीता 2 द्रोण के बराबर मात्र 3 चौखट पट्टपुरान कण्ड

गोष्ठ [गो अष्ठ इय] 1 मासल नाभि 2 निम्न जाति का पुरुष पहाड़ी नरपत्नी तथा वृष्णा नदी के मध्यवर्ती विषय प्रदेश के पूर्वी भाग का निवासी

गोतम [गो अस्त तथा यस्म्य ब० सं० एयो०] अङ्गि राहुट से सबंध रखने वाला एक अध्वि गन्तानन्द का पिता तथा ब्रह्मका का पति

गोतमी [गोत्रम् गोप] गोतम की पुत्री अहम्बा । सम० धुन गतामल का विनायक

गोपा [गुप्थने घट्टपने बाहुरक्षण गप+घा टाप] 1 युद्ध के लिए व राट से बचने के लिए बाए हाथ में बाधी जान वाली शस्त्र को पन्टी 2 बहिवाल मारमक्क 3 स्नायु हाथ

गोषि (य०) [गोत्रेण घोषन-विम्व आभाते न] 1 अस्त्रक 2 गधा में बहने वाला परिधान

गोषिका [गुप्थाति-गप+घल+टाप एक प्रकार की छिपकिली गोह

गोप (स्त्री०-वी) गप+अच घा वा 3 रत्नक रत्न करने वाला गालिमोया जगन्नाथ रच० ४२० 2 छिपाना गन्त रहना 3 बुद्धन गान्नी 4 हन्दी शोभ 5 प्रकाश प्रभा दीप्ति

गोपयामन [गप+आय यट] प्ररक्षण सम्पन्न बचाव गोपयित [वि०] [गप आय+क] प्ररक्षित बचाया हुआ

गोप्य (स्त्री० इको) [गप+गच] 1 प्ररक्षक सधारक अभिभावक-सम्मिम्बन गोप्यरि गाहपात्र-रच० १४ १५५ मानवि० ५० नम० ११११ 2 छिपान वाला गन्त रहने वाला (य०) विम्व का विनायक

गोमत (वि०) [गो+मगुच] 1 गोश्री से संपन्न-सी एक नली का नाम

गोमय घम [गो+मयट] गोवर छत्रम् प्रियम् कुकुर मत्ता सोर का छतरी जमी

गोमिन (य०) [गो+मिनि] 1 मणिपा का स्वामी 2 गोदडे 3 पूजा करने वाला 4 बड़ेदेव का लेखक

गोरक्षम् गप+ल्यट] स्त्री अध्यवसाय घव

गोदम [गप+ददन वि०] (गो भी) मस्तिष्क निभाय

गोले [गप+अच डम्प] 1 पिण्ड भगोल 2 निम्न लोच अतरिक्ष 3 आकाश मंडल 4 विषया का जाल पुत्र तु० कु० 5 एक राशि पर कई ब्रह्म का समागम-सा 1 काठ की गद (इससे लटक सलते ह) 2 गोल पानी भरने का बड़ा भंडा 3 लाल सखिया मनासिल 4 भस्मी स्थाही 5 भस्मी सहीनी 6 दुर्गा देवी 7 गोमवरी नदी ।

गोलक [पट+भुक् डम्प ल] 1 पिंड भूगोल 2 बन्नी

के खलन के लिए काठ की गद 3 पानी का मटका 4 विषया का जाल पुत्र 5 पाँच या पाँच से अधिक ब्रह्म का सम्मिलन 6 गद की पिडिया 7 सुखदायक गो

गोळ (म्वा० या०-गोष्ठ) एकत्र होना इकट्ठा होना टर लगना

गोष्ठ छम् [गोष्ठ+अच] (प्राप गोष्ठम्) 1 इज गांगान गोघर 2 खातो का स्थान छ सभा या समाज इस ब्रह्म का कुता जो हरेक को भौकता ह (जाल) वह आलसी पुरुष जो अपने पत्नीसियों की निगरा करता गोष्ठपण्डित ब्रह्म में निपुण लड़ी छोटा मिथ्या दीव हाकन बाला

गोष्ठि-छी (स्त्री०) [गोष्ठ+इन गाष्ठ+ङीय] 1 सभा सम्मेलन 2 अनुसमाय समाज 3 मलाप बातचात प्रवचन-गोष्ठी सचविनि समन भत०

१८-मा० १० ५ तनय सह सबदा गोष्ठीमन भवति पच० २ 4 समाय जमाव 5 पारिवारिक सबंध रिनेनर विवाह वह जिससे सबंध बनाय रखने की आवश्यकता ह) 6 एक प्रकार का एकाकी नाटक वति सभा का प्रधान समापति

गोष्पदम् [गो पदम् व० त०-मा+प+अच नि० मुट पच व] 1 गाप का पर 2 जगती पर बना घास के पर का चिह्न 3 पर के चिह्न में समा जान वाले जल की शाखा अपात बहुत ही छोटा ब्रह्म 4 गाप के तर चिह्न में मगान के योग्य माया 5 बड़े स्थान ब्रह्म गोश्री का जाल-जाला बहुतायत से हो

गोष्ट (वि०) गन् स्थल यापनीय छिपान के योग्य ।

गोष्ठिक [यम्वा+ठक्] सुनार ।

गोड (य०) एक देव का नाम स्कन्दपुराण इसकी स्थिति इस प्रकार बतलाता ह-ब्रह्मण समारम्भ भवनगाम्प निवि गोडदेव सपस्थान सबविद्याविहार । 2 ब्राह्मणा का एक भद्र हा (ब० ब०) गोड देव के निवासी श्री 1 पाठ से बढाई हुई गराव-गोडी पट्टी व माथी के विविधा विविधा मुर-भन० १११५ 2 एक राशिगो 3 (अल० गा० य) रीति वति या काव्य रचना की एक गली सा० ६० कार चार रोतियों का बणन करता ह काव्य० म केवल तीन का हो जल्हेर बड़ा परपा का ही दूसरा नाम गोडी ह जोर प्रकाशकस्त (यण) तु परपा (अर्थात् गोडी) काव्य० ७ गोड प्रकाशकवर्ष बन आडम्बर पुत्र समासबहुना गोडी-मा० ६० ६२७ ।

गोष्ठिक [गड+ठक्] इस यन्त्र ।

गोष (वि०) (स्त्री० को) [गुप+अच] 1 मातहत द्वितीय कोटि का, अनावश्यक 2 (म्वा० म) अवलोक





या व्यवधान-सहित (स्वयं मुख्य या प्रधान) — गौण कमणि दुहादे प्रधान बौद्धिबुद्धिमान — सिद्धा ३ आल वारिक रूपक अग्रवान् अथ व प्रवृत्त (गन्ध या व्यर्थ अदि) 4 प्रधान और अग्रधान अथ की समानता पर स्थापित जैसा कि 'गौणी लक्षण' में 5 गुणा की गणना से संघट 6 विधापण ।

गौष्म्य [गुण + ध्यञ्] मातृहती निचली या घटिया अव स्थिति ।

गौतम [गौतम + अण्] 1 भारद्वाज ऋषि का नाथ 2 गातम का पुत्र 'गाना' 3 द्रोण का सारा कुपाचार्य 4 बुद्ध 5 'पापा'त्न का प्रणता । सम० — समया मोदोवरो नदी ।

गौतमी [गौतम + डीप्] 1 द्रोण की पत्नी हृषी 2 योदा बरी का विपण 3 बुद्ध की गिषा 4 गौतम द्वारा प्रणीत व्यापारालम् 5 हल्ली 6 मोरोचन ।

गौधुमीनम [गौधूम + अण्] गूठ का रस ।

गौनद [गौन + अण्] महाभाष्य के प्रणता पत्रजि मुनि का विशेषण ।

गौपिक [गौपिका + अण्] गोपी या ग्वाले की स्त्री का पुत्र ।

गौपेय [गुप्ता + ठक्] वैप स्त्री का पुत्र ।

गौर (वि०) (स्त्री० — रा — टी) [गू + र वि०] स्केन — कैलाशगौर वपमावहना — रघु० २।३५ डिर्लद गन्धर्वगौरस्य तस्य — मेघ० ५९ ५२ ऋतु० १।६ 2 पीला सा पीत — रत्न-गौरीचनाक्षपिनान्तगौरम — कु० ७।१७ रघु० १।६५ गौराङ्गि नर्वन वदपि कुर्वा — रत्न० 3 लालरग का 4 चमकना हुआ उज्ज्वल 5 विपुल स्वच्छ मुन्दर — र० 1 सफेद रस 2 पीला रग 3 लाल रग 4 सफेद सरसो 5 चन्द्रमा 6 एक प्रकार का श्रेता 7 एक प्रकार का हरिण रस 1 पच्छेत्तर 2 जाफरान 3 सोना । सम० — आस्य एक प्रकार की काला बदर जिसका मूह सफेद हो — सधर सफेद सरसा ।

गौरव्यम [गौरव्य + ध्यञ्] ग्वाले का काम गोपालन ।

गौरव्यम [गुह + अण्] 1 बाज भार (ग०) — मुरब्दमा आश्रितगमगौरवान् — रघु० २।११ 2 महत्त्व ऊँचा मुख्य या मूलावन — स्वविक्रमे गौरवमादधानय — रघु० — १।४।८ १।८।३९ कायगौरवेण मुद्रा० ५ गुण्ठा या महत्त्व 3 सम्मान आदर विचार — तथापि यम ध्वनि त गुरुरिन्मि गौरव्य — गि० २।३१ प्रयाजना पेलितया प्रभुता प्रायश्चय गौरवमशितानु — कु० २।१ अमर १० 4 सम्मान मर्यादा धडा — काशी गता गौरव्य पत्र० १।१६५ मनु० २।१४। 5 दुष्करता 6 (छ० में) दीपना (जम की अजर की) 7 (अर्था दिक् की) गहराई — यन्त्राधारी गौरवम — मा० १।३ ।

सम० — आसनम सम्मान वर पद — ईरित (वि०) प्राप्त यास्वी विस्थान ।

गौरविन (वि०) [गौरव + इनच्] अयत सम्मानित गौरव युक्त ।

गौरिका [गौरी + कन + टाप् इत्यञ्] कुमांगी बन्धा अत्रि बाहिता लक्षरी ।

गौरिल [गौर + इत्तन्] 1 सफेद सरसो 2 हस्तात या लहे की चुरा ।

गौरी [गौर दीप्] 1 पावती — जैसा कि 'गौरीनाथ' में 2 आठव की आयु की बन्धा — अष्टवर्षा भवेद्गौरी 3 बहु लक्ष्मी जो अभी रखस्वला नहीं हुई कुमांगी बन्धा 4 गारे या पील रस की स्त्री 5 पत्नी 6 हल्ली 7 गारोवन 8 वरग की पत्नी 9 मल्लिका लता 10 तुलसी का पीसा 11 मजीठ का पीसा । सम०

— काल — नाथ गिह का विपणन — मूह हिमालय पहाड — गौरीगुरोवह्नरमाविदेग — रघु० २।२६ कि० ५।२१ — ज कानिदेय (जम) अजरक — बहु यानिस्वया अर्था जिसमें गिरलिय (की मुक्ति) स्थापित किया जाता है — गुह कानिदेय — सलितम हस्तात — मुत्त 1 कानिदेय 2 गण 3 एसी स्त्री का पुत्र जिसका विवाह आठ वय की अवस्था में हुआ था ।

गौरुत्विक [गुरन्त्य + ठक्] गुरुपत्नी से साथ व्यवहार करन वाला ।

गौरुत्विक [गौरुत्व + ठक्] जो गाय क गुम या अगुम चिह्नो का पहचानता है ।

गौरुत्विक [गुम्स + ठक्] किसी सेना की टोली का एक सिपाही ।

गौरुत्विक (वि०) (स्त्री० — की) [गौरव + ठक्] सो गौमा का स्वामी ।

गवा [गुम + मा डिव हितवान् अमा लाप्] पूस्वा ।

गघ घन्व (गवा० आ० — प्रघने गघने) 1 टडा हाना 2 टुट्ट होना 3 झुक्ना ।

गघनेय [घय + ल्युट् कनेय] 1 जमाना घाडा करना आम हो जाता 2 एक जाहू नयी करना 3 रखना करना लिम्बना (इय अय में — प्रघना गघ नी है) ।

गघ [घय — वज्] गुड गुच्छा लच्छा ।

गघिन (गू० क० ह०) [घय + कन नयप्] 1 एक अण्ड नया किया हुआ या बाधा हुआ 2 रविन वर्ण कनिशयेरव घनितम् स्वर्गेति गि० ०।३० 3 जम बड धनीबड 4 गाडा किया हुआ 5 गालपाय ।

गघ (गवा०, गवा० पर०, वग० उम० गवा० आ० — अघनि घन्वाति घवर्गेन न घवनि घवने) 1 गूधना बापना नया करना मेट्टि० ७।१०५ सखा घवन् 2 जम में गहन घवावड करना नियमित नियमित में जाहन्व 3 बनना बना बनाना

‘यकारवकारान्तानां तु ऊठ्भाविनां यङ्लुङ् नास्ति’ इति ‘च्योः—’ (सू २५६१) इति सूत्रे भाष्ये ध्वनित कैयटेन स्पष्टीकृतम् । इदं च ‘च्योः—’ (सू २५६१) इति यत्रोठ् तद्विषयकम् । ‘ज्वरत्वर—’ (सू २५६४) इत्यु-  
ठ्भाविनो स्त्रिविमव्योस्तु यङ्लुगस्त्येवेति न्याय्यम् । माधवादिसम्मत च ।  
‘मव्य बन्धने’ अय यान्त ऊठ्भावी ‘तेषु देषु देवने’ इत्यादयो वान्ताः ।  
‘ह्य गतौ’ जाह्यीति—जाहति । जाहतः । जाहयति । जाह्यीपि—जाहसि ।

लुङि तिपि—इति अपाप्रच्छीतं । ईडभावे तु अपाप्रच्छत् इति स्थिते हल्वादिना तलोपे छस्य  
प तस्य जश्त्वक्तव्यं । अपाप्रच्छत् । अपाप्रच्छाम् । अपाप्रच्छु । अपाप्रच्छी—अपाप्रच्छ । अपाप्रच्छम् ।  
अपाप्रच्छ । अपाप्रच्छम् । अपाप्रच्छु । अपाप्रच्छम् । लिङि पाप्रच्छयात् । लुङि अपाप्रच्छीत् ।  
‘अस्तिचित्’ इति नित्यमीदृशः । अपाप्रच्छिष्यत् । ऊठ्भाविनामिति ॥ ‘भू प्राप्तौ’ नुरा  
दिराधृषाय । तस्मात् ‘ऊठ्भाविनाधर्मयोगिनि’ इति भविष्यदर्शे णिनि । ऊठ् प्राप्स्यता  
मित्यर्थः । ऊठ्विषयाणां णिति यावत् । ध्वनितमिति ॥ सूचितमित्यर्थः । स्पष्टीकृतमिति ॥  
तथाहि ‘च्यो’ इति सूत्रे हिमहणानुवृत्तां काश्चित् दोषानुद्भाव्य परिहृत्य किङ्करहणानुवृत्तिं  
स्वाकृत्योक्तं भाष्ये । एतावानेव विशयः । अनुवर्तमाने किङ्करहणे छप्पत्व वक्तव्यमिति ।  
अत्र कैयटः । प्रष्टुः, पृष्ठमित्यादौ ‘च्यो’ इति छस्य शत्वे कृते तस्य ‘त्रध’ इति  
पत्वे ङुत्वमिति स्थितिः । तत्र किङ्करीत्यनुवृत्तौ छस्य शत्वन् स्यात् । अतः छस्य पत्व  
वक्तव्यमित्यर्थः । नच किङ्करहणानुवृत्तावस्य शत्वाभावेऽपि न दोषः । ब्रह्मादिना छस्य पत्वे  
इष्टसिद्धेरिति वाच्यम् । न । ‘च्यो’ इत्यत्र “छस्य पत्व वक्तव्यम्” इत्यनेनैव प्रेत्यादिषिद्धे  
ब्रह्मादिसूत्रे छप्रहणन कर्तव्यमित्याशयात् । नच प्रडिति किञ्चन्तात् सोर्लोपे पत्वार्थं ब्रह्मा  
दिसूत्रे छप्रहणमिति वाच्यम् । तत्रापि किञ्चनिमित्तशब्दादस्य दुर्निवारत्वात् । विचि तु प्रच्छ  
धातोरनभिधानानास्ति । एवञ्चान्न भाष्ये “ऊठ्भाविभ्यो यङ्लुङ् नास्ति” इत्युक्तप्रायम् ।  
अन्यथा ‘च्यो’ इत्यत्र किङ्करहणानुवृत्तौ दिवेर्यङ्लुङि तिषादौ ईडभावे लघूपधगुणे ‘लोपो  
व्यो’ इति वलोपे ईडदेति देदेपीत्याद्यूठ् अभावे रूपम् । तदनुवृत्तौ तु वस्य ऊठि देशोति,  
देशोपि, इत्यादि रूपमिति विशेषस्य सत्त्वादेतावानेवेत्येवकारो विरुध्यते । अतः ऊठ्भाविना  
यकारवकारान्तानां यङ् इत्यङ्ङनास्तीति विज्ञायते इत्यलम् । इदञ्चेति ॥ ‘च्यो’ इति सूत्रेण  
यत्र ऊठ् प्रवर्तते तद्विषयः इत्यन्वेय इदम् उक्तं ज्ञापनमित्यर्थः । स्त्रिविमव्योस्त्विति ॥ ‘स्त्रि  
गतिशोपणयोः, मव्य बन्धने’ इत्यनयो इत्यर्थः । न्याय्यमिति ॥ उक्तज्ञापनस्य ‘च्यो’ इति  
सूत्रस्य भाष्यमूलकत्वादित्येव भावः । ननु ज्ञापनस्य सामान्यापेक्षत्वाद्भूतो नाश्रयते इत्यत आह ।  
माधवादिसम्मतञ्चेति ॥ उक्तविशेषवत्त्वमिति शेषः । ऊठ्भावीति ॥ अतो नास्य  
यङ्लुगिति भावः । वान्तः इति ॥ ऊठ्भाविन इति शेषः । नैतयामपि यङ्लुगागति भावः ।  
ऊठ्भाविनामिति विशेषणस्य प्रह्लाद व्यावर्त्यमाह । ह्य गताविति ॥ अस्य यान्तत्वेऽपि  
ऊठ्विषयत्वाभावादस्त्येव यङ्लुङ् जाह्यीति भावः । जाह्यतीति ॥ द्विप ईडभावे ‘लोपो व्यो’

4 लिखना रचना करना ग्रन्थानि काव्यानि विस्तारानिमिष काव्य० १० ७ बनाना निर्माण करना पना करना—ग्रन्थानि बाणविन्दनिकर पद्य पद्यस्य वा० ९० भट्टि० १७ ६९ उद्य—बाचना मधी करना मुद्रा० ११४ जलजटिल करना—लता प्रतानोदशयित स वेग—रथ० २१८ 2 सोलना डोला करना ।

ग्रन्थ [ग्रन्थ—ग्रन्थ] 1 बागना गद्यना (बाण० से भी) 2 कृति प्रबंध रचना साहित्यिक कृति पुस्तक—ग्रन्थारम्भ ग्रन्थरूप ग्रन्थसमाप्ति आदि 3 दोस्त सन्धि 4 २२ माताओं का दलोक अनुष्टुप छ० । रथ० कार—कृत (१०) लेखक रचयिता—ग्रन्था रथ समवितेष्टवेस्ता ग्रन्थकृत्यरामयति—काव्य० १—कुटी—कटी 1 पुस्तकावय 2 ब्रह्मविन्दिर—विस्तार—विस्तार ग्रन्थ का कई भागों में बिना जन विस्तारमयों गली सन्धि बिना पुस्तक का अनभाग या अग्र्याय (सन्धुत य अनभाग) आदि के पयाय अग्र्याय गद्य के अन्तगत छ० ।

ग्रन्थानन—भा [ग्रन्थ—ग्रन्थ] १० ग्रन्थ ।

ग्रन्थि [ग्रन्थ—ग्रन्थ] 1 गाँठ गच्छा उमार स्तनी मास ग्रन्थी कनकचक्राविपमिनी—मत्त० १२० इसी प्रकार मवाग्रन्थि 2 स्तनी का बधन या गाँठ वरथ की गाँठ—इदमपहितमुहमग्रन्थिना स्तनपदेन १०१ १८ मन्त्र० १११ मन० २१४३ भन० १५७ 3 हथपा पसा रखन के लिए कपड के अन्त म गाँठ अलग बटवा बन सम्पत्ति कुसोहाहारिद्वय परकरगतग्रन्थि गनना०—पद्य० ११११ ४ नरबुल की गाँठ यत्र आनि श्री शोरा की गाँठ या जोन 5 गरीर क अवयवा ना जोन 6 उपायन लाडना-मरोडना निम्नाय सचाई म उलट कर 7 गरीर की काहिवात्रा म सूजन बढोरना । सद्य०—ग्रन्थक—भद्री बीचक गिरह्वर अङ्गलौपन्थिग्रन्थ उद्यत प्रथमे ग्रहे—मनु० १२७७ याज्ञ० २७४ पद्य० पद्यम 1 एक मुग वयसत वस—विजभाज० ११२० 2 एक प्रकार ना मुगव इव्य—अभ्यतम 1 विवाह के अवसर पर दूहे और पुलहित वा गठशोष करना 2 बन्धन हुए मनी ।

ग्रन्थिक [ग्रन्थि—क+क] 1 अयातिवी दवज 2 राजा विराट क यहाँ अनाजकास के अवसर पर बहुल वा नाम ।

ग्रन्थित दे० ग्रन्थित ।

ग्रन्थिन (ग्रन्थि) [ग्रन्थि—इति] 1 जो बहुत सो पुस्तक पढ़ता २ विद्यापी—अग्रम्यो ग्रन्थिन श्रद्धा ग्रन्थिम्यो धारिणा वरा—मन० १ १०३ 2 विद्वान् पण्डित ।

ग्रन्थित (वि०) [ग्रन्थि+ग्रन्थित—लच्] गठवाला अटित ।

ग्रस 1 (ग्रस० बा०—ग्रसते ग्रस्त) 1 निगलना भक्षणना खा जाना समाप्त कर देना स इषा पथिनी कुत्सा सक्षिप्य ग्रसते पुन—महा० भग० ११३० 2 पक डना 3 ग्रहण लयना द्रावेय दस्तने दिनारतिना श्राणचरी मास्वरी मत० २१४ हिमागुणा ग्रसते तज्जदिन स्पष्ट वल्म—मि० २१४९ 4 गब्दो की मित्रा-जुल्य कर जल्पद लिखना 5 नष्ट करना सम नष्ट करना भट्टि० १२४ ११ (ग्रस० पर० चरा० उभ०—ग्रसति श्रासयति—ले) खाना निगलना । ग्रसनम [ग्रस+ल्युट] 1 निगलना खा लेना 2 पकडना मृग या चडमा का गच्छपास ।

ग्रस्त (ग्र० क० क०) [ग्रस+ल्य] 1 खाया हुआ निगला हुआ 2 पकडा ग्रा पीडित ग्रस्त अविहृत—ग्रह विवर्त भाति 3 ग्रहण—सम्प अर्पणवर्ति शब्द या वाक्य सम० अन्तम ग्रहणग्रस्त मृग या चडमा का भस्म होना—उद्ययः ग्रहण-ग्रस्त मृग या चडमा का उगना ।

ग्रह (कपा० उभ० (वेद में वर्ण)—ग्रहणाति गहीत ग्रै० शाहस्य सधन्त-विपमति) 1 पकडना लेना ग्रहण करना पकड लेना धामना लपक लेना कस कर पकडना लवीजगहनु पावान् राजा राजी व माधवी—रथ० ११५७—आरुण गह्वते हस्ती बाजा दलामु गह्वते मन्त्र० ११५० त वृष्ट जगह ना० ३६३ पाणि गहीदा चरय गहीत्वा 2 प्राप्त करना लेना स्वीकार करना बलपूर्वक धमूल करना—अत्रात्मावे नयय स मायो बलिमग्रहीत—रथ० ११८ मन० ७१२४ ९ १६२ 3 हिरान्त म लेना विरयनार करना इन्द्री बयना देविद्याह गहोखा विन्नम० १ यास्तव चारान गह्वीमा—मन० ८१३ ४ गिर पसार करना रोक्का पकडना भा० ६ ३५ 5 मोह लना आह्वय करना—महापद्मगहीतहृन्मया मया—विन्नम० ४ हृदये गह्वते कारा मन्त्र० ११५० माधवपीष्ट हरिणान् ग्रहीतुम—पू० १८ १३ 6 जीव लेना उकसाना अपनी आर करने के लिए पुन लाना अन्धबधन ग्रहणायात चाण० ३ 7 प्रव्रत करना सन्नुष्ट करना हल करना अनुकल करना—ग्रहीतुमायान परिचयथा मुद्रमहान्भावा द्वि निता न्यमथिन मि० १११७ २३ 8 प्रस्त करना पकडना विपदना (मूल प्राणि क वा) उस कि पितामहीन या वेतालपहान् म ९ धारण करना लेना दनिम गहीन ग्रहण मि० ११२१ भट्टि० ११२९ १० सीखना जानना ग्रहणाना समग्रता वि० १०८ ११ ध्यान देना विचार करना विचारस करना मान लेना यद्यपि मत्तिधमृदिना तथय मनी उभ०—ग० ६ परिह्रासविबलित सख परमायन न

बलि लोपे यच्चादौ दीर्घः । जाहामि । जाहावः । जाहामः । 'हर्य गतिकान्त्योः' । जाहर्ह्यति-जाहर्ति । जाहर्तः । जाहर्ह्यति । लोटि । जाहर्हि । अजाहः । अजाहर्ताम् । अजाहर्ह्युः । 'मव वन्धने' ।

२६५४ । ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च । (६-४-२०)

ज्वरादीनामुपधावकारयोरुठ् स्यात्कौ झलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये । अत्र किञ्चिदिति नानुवर्तते । अवतेस्तुनि 'ओतुः' इति दर्शनान् । अनुनासिक-प्रहणं चानुवर्तते । अवतेर्मेनिन्प्रत्यये तस्य टिलोपे 'ओम्' इति दर्शनान् । ईड-भावे ऊठि पिति गुणः । मामोति-मामवीति । मामूत । मामवति । मामोषि ।

इति यलोपः । निषि ईडभावे जाह्यु मि इति स्थिते आह । बलि लोपे इति ॥ इटि जाहर्ह्यमि । जाह्याम्कार । जाह्यिता । जाह्यिष्यनि । लोटि जाहर्ह्यीतु-जाहर्तु-जाहर्तान् । जाहर्ताम् । जाहर्तु । जाहर्हि । जाहर्ह्यनि । जाहर्ह्याव । लटि अजाहर्ह्यीन् अजाहर्तु । अजाहर्ताम् । अजाहर्तु । अजाहर्ह्या-अजाहर्तु । अजाहर्तम् । अजाहर्तु । अजाहर्ह्यम् । अजाहर्ह्याव । अजाहर्ह्याम् । जाहर्ह्यात् । लुङि 'झयन्त इति न वृद्धि । 'अस्तिसिच' इति नित्यमीड् । अजाहर्ह्यात् । अजाहर्ह्यिष्टाम् । अजाहर्ह्यिष्यत् । जाहर्ह्यति ॥ तिपि जाहर्ह्यु ति इति स्थिते ईडभावे यलोपः । जाहर्ह्यति ॥ हो यलोपः । लट्स्तिपि अजाहर्ह्यु त् इति स्थिते यलोपः । हल्ङयादिना तकारलोपः । रेफस्य विमर्गः इति मत्वा आह । अजाहः इति ॥ निष्पन्त्येव रूपम् । ज्वरत्वरस्त्रिव्यविमवामुपधायाश्च ॥ ज्वरत्वरस्त्रिवि अवि मव् एयान्दून् । 'नृष्टो शब्' इत्यतः वकारप्रहणम् ऊर्ध्वप्रहणम् अनुनासिके इति चानुवर्तते । छस्य श इति नानुवर्तते । ज्वरादिषु छस्य अभावेन असम्भवान् । 'अनुनासिकस्य किञ्चलो किञ्चि' इत्यतः किञ्चलोरिति चानुवर्तते । चकारो वकारसमुच्चयार्थः । तदाह । ज्वरादीनामिति ॥ अद्यतेस्तुनीति ॥ अवधातोर्गौणादिके तुन्प्रत्यये कृते अकारवकारयो-रुठि तस्य गुणे ओतुगिति दृश्यते । किञ्चलीत्यनुवृत्तौ तु तन् स्यादिति भावः । ओमिति ॥ 'अवतेष्टिलोपश्च' इत्याणादिकसूत्रम् । 'अव रक्षणे' इति धातोर्मन्प्रत्ययः स्यात् । प्रत्ययस्य टेलोपश्चेति तदर्थः । तथाच अम् म् इति स्थिते उपधाभूतस्य अकारस्य वकारस्य च ऊठि तस्य गुणे ओमिति दृश्यते । 'ज्वरत्वर' इत्यत्र अनुनासिकप्रहणाननुवृत्तौ तु भनिनि परे अवतेरुठ् न स्यात् । किञ्चलोरेव तद्विधिलाभादिति भावः । ऊठि पितीति ॥ मवधातोर्-इलुक् । मामव ति इति स्थिते ईडभावपक्षे अकारवकारयोरेकस्मिन् ऊठि तिपि । पित्त्वेन डित्त्वा भावाद्भकारस्य गुणे मामोतीति रूपमिल्लर्थः । उपधाया वकारस्य च प्रलेकमूट् इति पक्षे सवर्णदीर्घः । पञ्चद्वयमपि 'एकः पूर्वपरयो' इत्यतः माथ्ये स्पष्टम् । ईडपक्षे आह । मामवीतीति ॥ अत्र ऊट् न । कौ झलादीं अनुनासिकादीं च परे तद्विधानात् । मामूतः इति ॥ अकारवकारयोरुठि तसो टित्वान् गुण इति भावः । मामवतीति ॥ 'अदभ्यस्तात्' इत्यन् । मामवीपीति सिद्धवन्त्येव आह । मामोपीति ॥ झलपरकत्वाद् । मामूथः । मामूथः ।

गहना वष—१० २११८ एव जने गहनावि  
मन्त्रि० १ मुद्रा० ३ १२ (इन्धो द्वारा) समय  
रत्ना या प्रयत्न करना—अग्निमान्त्रिक गहनी ठोको  
—रत्न० १११५ ॥ पारणत होना मन्त्रि० व  
पकडना सव्य मन्त्र—रत्न० १८५६ १४ अनुमान  
लगाना अटवल लगाना अन्दाज लगाना अथर्व  
निकारण गहनामन्त्रित मन्त्र—मनु० ८१२६  
१५ उच्चारण करना—लेख करना (नाम आदि का)  
मन्त्रि० मन्त्र मन्त्र नामादि न गहनीतम मन्त्र० ३०५ व  
नु नामादि गहनीयानि पथी प्रथे परन्त्य तु मनु०  
५ १५७ १६ नाम लेना सरोजना कियना मन्त्रन  
पुस्तक गहनीतम—पथ० ७ यात्र० २१६९ मनु०  
८१२१ १७ किला को बन्धित करना छीन लेना  
लट लेना बन्धुवक ले लना मन्त्रि० १९ १५ १३  
१८ पन्नात धारण करना (बस्त्रादि) कासालि  
जीर्णानि दया विनाय मन्त्रि० गहनाति नरोत्तराणि  
—मन्त्र० १०२ १९ गन्ध धारण करना २० (उपवास)  
रत्ना २१ कण लगाना २२ उत्तरान्त्रित मन्त्र—इम  
घानु न अथ उम सत्ता के अनुपार विभिन्न प्रकार से  
परिधानि हा जात है जिससे इसे बोझा जाय प्र०  
१ गहना करवाना पकडवाना स्वीकार करवाना  
२ विवाह म उपहार देना ३ निशाना परिचय  
करवाना अनु— अनुपक करना आभार मनना  
हुना प्रमत्ति करना—अनुपहनीहमना अथर्व  
समान्त्रिका १० ७ अनुपाना स्य अथर्वकथन  
हम बड आभारी इ अनुपम विनम्र मन्त्रकार  
करना अथ— दूर करना पकडना अथर्व बलपूर्वक  
पकडना अथर्व १ विरोध करना मुकाबला करना  
२ दण्ड देना ३ हस्तगत करना परामृत करना  
आ आग्रह करना उद्— १ उठाना ऊपर करना  
सीधा खड़ा करना—उत्पहीनालवन्ता—मन्त्र० ८  
मन्त्रि० १५ ५२ २ उभा करना निकालना उद्—  
१ उठाना २ पकड लेना अधिकार म ले लेना—मनु०  
७११८४ ३ स्वीकार करना मजुरी देना ४ सहायता  
करना अथर्व करना नि— १ धाम लेना जाव  
पकड करना २ दमन करना रोचना दवाना  
नियत करना—मन्त्र० २१६८ ३ टहराना गाथा  
हास्य निगहीती प्रत्य द्वारा—मन्त्र० ४ दण्ड  
देना सत्ता देना—मनु० ८११० ११०८ ५ पकडना  
लेना हाथ लगाना नमामपुष्ट निगहीनधनु रत्न०  
२ ३० ६ (कोय आदि) बन्ध करना मन्त्र—माधुरी-  
भित्ति निगह—मन्त्र० २ धरि— १ कोली धरना  
अभिगत करना २ धरना ३ हस्तन करना पकडना  
४ लेना धारण करना ५ स्वीकार करना ६ महापडा  
करना मरक्षण देना प्र— १ रत्ना पकडना २ दमन

करना रोचना ३ पलाना विस्तार करना प्रति—  
१ बाधना एकदमा सहायता देना अथर्वप्रणिहोत  
मन्त्र मन्त्रि० ४ मनु० २१५८ २ लेना स्वाकार  
करना प्राप्त करना दणति प्रतिगहनाति—पथ०  
२ अमोघा प्रतिगहनातिवर्धनपदमाणि—रत्न०  
११५४ ३ उपहार स्वरूप लेना या स्वीकार  
करना ४ अनुपम व्यवहार करना विरोध करना  
मुकाबला करना राबना प्रतिगहना काकुत्स्थल  
मन्त्रप्रवृत्तान रत्न० ४५४० ११५७ ५ पाणि  
ग्रहण करना—मनु० ९७२ ६ जाना मानना  
समनुकष होना ध्यान से मुनना ७ आग्रह लेना  
अवर्णित होना वि— १ धामना या पकडना २ कलह  
करना लडना विवाद करना विगहना मन्त्रि० विद्विषा  
बली य हृदयस्वास्थ्यमन्त्रि० नि— १ १५१  
मन्त्रि० ६८६ १७१२ सम १ सग्रह करना  
एकत्र करना सव्य करना आडना सगह्य वनम  
पायान २ साधन प्राप्त करना ३ दमन करना  
रोचना (बोझा को) लगाना देना ४ (अनुप आदि  
को) डोरी बाँधना ५ (आ० पर० चुरा० उ०)  
बहुति ग्राह्यति ठे) लेना प्राप्त करना आदि।

ग्रह [ग्रह + अथ] १ पक्कना ग्रहण करना अधिकार  
जमाना अभिप्रेत दण्ड कथन रत्न० १०१११  
२ पकड ग्रहण प्रभाव—कथकप्रवृत्त पथ०  
११२६ ३ लेना प्राप्त करना स्वाकार करना प्राप्ति  
४ चुराना लटना अङ्गुलीप्रतिधम्य छापप्रथमे ग्रह  
मनु० ११२७७ इमा प्रकार गह ५ लुट का  
माल बदमारी ६ ग्रहण लगाना ७ ग्रहण ७ ग्रह  
(ग्रह गिनती से नौह—ग्रहमन्त्रा मन्त्रप्रवृत्त बन्धनादि  
बहुमन्त्रि० गन्धमन्त्रा राहु वैष्णवी ग्रहमन्त्र।)  
—गन्धमन्त्राग्रहमन्त्राणि (रात्रि) रत्न० ११२० ११३  
११२८ मुद्रा स्तवभाण मन्त्रप्रवृत्त भास्वना  
गन्धमन्त्राणा वागमन्त्रा देन ग्रहमन्त्रा मा—मन्त्र०  
११३० ८ उत्प्रेष उच्चारण मन्त्रा (नाम आदि  
का) मन्त्रमन्त्रिग्रह स्वेष्टमन्त्रिग्रह पुनव—मनु०  
८२३१ अथर्व ८३ ९ मन्त्रमन्त्रा ग्रहमन्त्रा  
१० गिनाल्लिग मन्त्रा ११ अतिप्रवृत्त भागना वा  
एक विग्रह वग आ बचना म विग्रह कर उद्ग मन्त्र  
मन्त्रोद या कुमदा से बल कर देना १२ (विचारा  
व धारणाया का) ग्रहण प्रत्यक्षरण १३ सहायता वा  
अथ या उपकरण १४ मन्त्रातिना अथ अथर्वमन्त्र  
१५ प्रयाजन आभार १६ अथर्व मन्त्रमन्त्रा मन्त्र०  
—अथर्व (वि०) अथर्व के प्रभाव पर नियंत्र अथर्व  
मन्त्र राहु का विग्रह (मन्त्र) ग्रह की टकरार  
—अथर्व मन्त्र—आधार आभार अथर्व मन्त्र  
(मन्त्रावा विग्रह मन्त्र)—अथर्व १ मन्त्र २ मन्त्रा

मामोमि । मामावः । मामूम् । मामोतु-मामूतात् । मामूहि । मामवानि ।  
अमामोत्-अमामो । अमामवम् । अमामाव । अमामूम् । 'तुर्वी हिंसायाम्' ।  
तोतूर्वाति ।

२६५५ । राह्योपः । (६-४-२१)

रेफात्परयोश्चोर्लोपः स्यात्कौ शलादाबनुनासिकादौ च प्रत्यये । इति  
बलोपः । लघूपधगुण ।

२६५६ । न धातुलोप आर्धधातुके । (१-१-४)

धात्वशलोपनिमित्ते आर्धधातुके परे इको गुणवृद्धी न स्तः । इति नेह

मानवानि इति सिद्धवत्कृत् आह । मामोमीति ॥ अनुनासिकपरकत्वाद् । गुण । मामावः  
इति ॥ मानव् वस् इति स्थिते परनिमित्ताभावाद् न । 'लापो व्या' इति बलोपे 'अतो  
दाधा यणि' इति दीर्घः । मामूमः इति ॥ मानव् नस् इति स्थिते अनुनासिकपरकत्वाद् ।  
डित्त्वान् गुण । मानवान्नकारः । नामविता । नामविष्यति । लोटि आह । मामोत्विति ।  
मामूतादिति ॥ डित्त्वान् गुण । मामूताम् । मानवतु । मामूहीति ॥ ऊटि हेरापत्त्वेन  
डित्त्वान् गुण । मामूताम् । मामूतम् । मामूत । मामवान्तीति ॥ आट् पित्त्वादित्त्व-  
ठ्ठण । मानवाव । मानवाम् । लङ्गस्तिष्याह । अमामोदिति ॥ अनामूताम् । अनामवु ।  
सिष्याह । अमामोरिति ॥ अनामूतम् । अनामूत । लिङि नामव्यात् । लुङि 'आत्तासिच'  
इति नित्यमाद् । अनामवोन्-अमानावात् । अनामविष्यन् । ज्वरतेषु जाज्वरीति-जाज्वान्  
इत्यादि । त्वरतेषु तात्वरति-तातूति इत्यादि । स्निग्धेषु सस्निग्धाति । ईडभावे तु ऊटि सेलान्,  
इत्यादि । अवतेषु ऋडभावात् क्रिप्युदाहरणम् । ऊ । उवौ । उव । इत्यायुषम् । तोतूर्वा  
तीति ॥ 'उपधायान्' इति दीर्घः । ईडभावे तातुव् ति इति स्थिते 'न्द्वा शङ्' इन्दुडि प्राप्ते ।  
राह्योपः ॥ 'न्द्वा शङ् अनुनासिके च' इति सूत्रमूठवर्जमनुवर्तते । 'अनुनासिकस्य क्लृत्लो'  
इत्यन्त-क्लृत्लोरिति च । तदाह । रेफात्परयोरित्यादि ॥ अत्रापि क्लृत्ताति नानुवर्तते । पूर्वं  
मूत्र तदननुवृत्तः । घलोपः इति । तथाच तातुरति इति स्थिते उकारस्य लघूपधगुणः । तिप्  
पित्त्वेन अटित्त्वादित्यर्थः । न धातुलोपे ॥ 'इको गुणवृद्धी' इत्यनुवर्तते । तत्र धातुलोपे सात  
इको गुणवृद्धी न स्तः आर्धधातुके परत इत्यथ लघातो यङन्तात् पचायचि यङो लुकि लोडव इत्यत्र  
गुणनिषेधाभावप्रसङ्गात् । अथ धात्ववयवस्य यङो लोपेऽपि धातोर्लोपाभावान् । धात्ववयवलोप  
सर्तात्त्वर्थः तु शाङ्धातोस्तृचि शयिता, इत्यत्र गुणो न स्यान् । तत्र धात्ववयवङ्कारलोपसत्त्वान् ।  
आर्धधातुके परे यो धात्ववयवलोपः तस्मिन् सर्तात्त्वर्थे शेते इत्यत्रापि गुणनिषेधः स्यात् ।  
तत्र ङ्कारलोपस्य आर्धधातुपरकत्वमन्वत्त्वादित्यतो व्याचष्टे । धात्वशलोपनिमित्ते इति ॥  
धातु लोपयतीति धातुलोपः कर्मण्यण् । धातुलोपनिमित्ते आर्धधातुके परे इति यावन् ।  
लालव इत्यायुदाहरणम् । मूञ्धातोर्यङन्तान् पचायचि 'यङोऽत्र च' इत्यप्यत्यन्तार्थिल





निषेधः । तिवादीनामनार्धधातुकत्वान् । तोतोर्ति । ‘हलि च’ (सू ३५४)  
इति दीर्घः । तोतूर्त । तोतूर्वति । तोथोर्ति । दोदोर्ति । दोधोर्ति । ‘मुच्छा’ ।  
मोमोर्ति । मोमूर्त । मोमूर्च्छतीत्यादि । ‘आर्धधातुके’ इति विषयसप्तमी ।  
तेन यङि विवक्षिते अजेर्वी । वेवीयते । अस्य यङ्लुग्रास्ति । लुकापहारे  
विषयत्वासम्भवेन वीभावस्याप्रवृत्तेः ।

इति तिङन्तयङ्लुक्प्रकरणम् ।

यत्ने लुकि अच्प्रत्ययमाश्रित्य प्राप्ते गुणोऽनेन निषिध्यते । मर्त्यजीताति ॥ वृद्धिनिषेधो  
दाहरणम् । धात्विति किम् । शीच् शेता । इह उत्सृष्टानुबन्धस्य धातुत्व, ननु साधु  
बन्धस्येति । कैयटादिमते तु धातुग्रहण स्पष्टार्थम् । इदं सूत्रं भाष्ये प्रत्याख्यातम् । हरदत्तेन  
पुनरुद्धतम् । कोस्तुमे तु तदपि दूषयित्वा प्रत्याख्यातमेव । इति नेहेति ॥ तोतुरतीत्यत्र  
अयं गुणनिषेधो नेत्यर्थः । हलि चेति ॥ तोतुर्व तस् इति स्थिते ‘लोपो व्यो’ इति  
वकारस्य लोप बाधित्वा ‘च्छो शृठ’ इत्यूठि प्राप्ते वकारस्यानेन लोपे ‘हलि च’ इति दीर्घ  
इत्यर्थः । यद्यपि तोतोर्तीत्यत्र ‘च्छो’ इत्यूठ अग्रश्चेवकारस्य लोपो व्यो’ इति लोप  
सिध्यति । तथापि तोतूर्त इत्यादौ ऊठा बाधनाय आवश्यकोऽयं लोपो न्याय्यत्वात्तोतोर्तीत्य  
त्रोपन्यस्त इति बोध्यम् । तोतूर्धतीति ॥ ‘अदभ्यस्तात्’ इत्यत् । ‘उपधायाच्च’ इति दार्घ्यं ।  
तोतोर्धीपि-तोतोधि । तोतूर्ध । तोतूर्ध । तोतूर्धामि-तोतोमि । तोतूर्ध । तोतूर्म ।  
तोतूर्धश्चकार । तोतूर्धिता । तोतूर्धिव्यति । तोतूर्धातु-तोतोर्धु-तोतूर्धात् । तोतूर्धाम् ।  
तोतूर्धु । तोतूर्ध । तोतूर्धाणि । लङि अतोतूर्धात्-अतोतो । अतोतूर्धाम् । अतोतूर्धु ।  
अतोतूर्धा-अतोतो । अतोतूर्धम् । अतोतूर्ध । अतोतूर्धम् । अतोतूर्ध । अतोतूर्ध । तोत्  
प्यात् । लुकि ‘अस्तिसिच’ इति नित्यमाट । अतोतूर्धात् । अतोतूर्धिव्यत् । धुर्धातोर्ददाह  
रति । तोथोर्तीति ॥ धुर्धातो रूपम् । दोधोर्तीति ॥ धुर्धातो रूपम् । दोधोर्तीति ॥  
धुर्धातो रूपम् । मुच्छाधातो मोमूर्च्छाति सिद्धवत्कृत्य ईडभावे आह । मोमोर्तीति ॥  
‘रात्रौ’ इति छस्य लोप । इत्यादीति ॥ मोमूर्च्छाधि-मोमोधि । मोमूर्च्छामि मोमोमि ।  
मोमूर्च्छ । मोमूर्हि । अमोमूर्च्छात्-अमोम् । सिध्यप्येवम् । लङि ‘अस्तिसिच’ इति नित्यमाट ।  
अमोमूर्च्छात् । अमोमूर्च्छिव्यत् । विषयसप्तमीति ॥ ‘अनेर्व्यञ्जनो’ इति वामावीवधौ  
आर्धधातुके इत्यनुवृत्त विषयसप्तम्यन्तनाश्रयते । ननु परसप्तम्यन्तमित्यर्थः । ततः किमित्यत  
आह । तेनेति ॥ विषयसप्तम्याश्रयणनेत्यर्थः । विवक्षिते इति ॥ यटि विवक्षिते तत  
प्रागेव अनेर्वाभाव इत्यर्थः । एवञ्च कृत वामावे हलादत्वाद्यद् लभ्यते इति मत्वा आह ।  
वेवीयते इति ॥ ननु अनेर्वाभावानन्तरं यटि सति तस्य ‘योऽचि च’ इति पाक्षिको लुक्  
कुतो नोदाह्रियते इत्यत आह । अस्य यङ्लुङ्नास्तीति ॥ विषयत्वेति ॥ लुका लुप्तयङ्  
भाविज्ञानविषयत्वाभावेनेत्यर्थः ।

इति श्रीवासुदेवदक्षितविदुषा विरचिताया सिद्धान्तकौमुदीव्याख्याया

वालमनोरमाया यङ्लुगन्तप्रक्रिया समाप्ता ।

पालतू (पग बाँधि) 4 आवधिन (विप० वय) 5 नीच अंगिष्ट (गर्भ का तरह) केवल जोड़ व्यक्तिया द्वारा प्रयुक्त—चुम्बन नहि मे भाव कामपागलत्तय—रस० या कोटिस्त हूने मन—सा० द० ५७४ यह शास्त्र उक्तियो के उगहरण ह 6 जगद अखिल—स्य पालतू मूजर—अयम 1 गवाह भाषण 2 देहात म तैवार किया हुआ भाजन 3 मधुन । सम०—अश्व-गधा—कमन घामीण वा व्यवसाय—कुम्हकुम्ह कुम्ह—घम 1 घामीण का वन्य 2 स्त्रीसमीप मधुन—पशु पालतू जानवर—बडि (वि०) उवाह मजा दिया अनाडी—कलभा बर्या रडी—मुलम स्त्री समीप मधुन ।

प्राक्त (प०) [प्रत—ड प्र प्र+वा+वन+विज] 1 पयर चटान कि हि नापनद्वयनि मन्त्रत्वका बनि प्राधान सफलवन इति यद्वासी० १ अपि बाबा रोनिनि अपि दलनि बखस्य हूयम—उत्तर० १।२८ वि० ५।२१ 2 पहा 3 बाक ।

प्रात [पम+पञ] 1 कौर कौर के बराबर कोई वस्तु मनु० ३।१३३ ६२८ पाप० ३।५५ 2 भोजन पोषण 3 सुय या वज्रमा का ग्रहणग्रस्त भाव । सम० आच्छादनम भोजन वस्त्र अपाणि अनिवाय जीवन सारन—गल्पम गये म अन्वन वाला (मछली का कोटा) आनि कोई पण्य ।

प्राह (वि०) (स्त्री० हो) [ग्रह+पञ] पकड़न वाला मुन्डी से जकड़न वाला लन वाला घामन वाला प्राप्न करन वाला ह 1 पकड़ना जकड़ना 2 धनि धाल मगरमच्छ राधाहवनी मत० ३।४५ 3 बन्नी 4 स्त्रीचरण 5 सम्पत्ता नाद 6 हठ द्वापह 7 निर्धारण दन् दिवस्य मय० १०।१९ 8 राग ।

प्राक् (वि०) (स्त्री०—हिका) [ग्रह+वन] प्राप्न करन वाला केन वाला क 1 बाव धन 2 विद विवित्तक 3 कृता सरीगर 4 पुलिस अधिकारी ।

प्रीबा [गिरननरा—न+नेनि वि०] मर्न वयन का पिछला भाग—प्रीवामद्वाभिराम महनुपतति ध्वन्न न्तदुष्टि ग० १।३। सम० चट्टा घोट के सके म लकना हुआ घना ।

प्रीवालिका २० प्रीवा ।

प्रीविन (प०) [प्रीवा+वि] ऊ० ।

प्रीम (वि०) [पमने ग्मान—घम+मनिन] गरम उग्र धम 1 गर्मी का मोमम गरम श्रुत [अपि और आपाद के मीन]—प्रीममयमविह्वर यावताम ग० १ २५० १६।५४ नाभि० १ ५५ २ गर्मी उष्णता । सम०—कालीन (वि०) गर्मी के मोमम

से मयव रखन वाला—उद्गवा—जा—भवा नव मस्तिष्क लता नवादी ।

प्र (स्त्री०—वी) प्रवेय (स्त्री०—वी) (वि०) [प्रीवा+अण टन वा] गन् पर होन वाला या गन्तव्यो वय—घम 1 गले का पट्टा या हार 2 हाथी की गन्त म पहनी आन वाली जूती—नासतन करिणा इव निपनेउन्मापनि रघ० ४४८ ७५ ।

प्रवेयकम [प्रीवा+कञ] 1 गले का आभूषण—उग० अस्माक सधि वाससी न शिरे प्रवेयक मोम्बलम—सा० ४० ३ 2 हाथी के गले में पहन जानवाली जूती ।

प्रम्वक (वि०) (स्त्री० लिङ्गा) [प्रीम+कुञ] 1 गरमी के मोमम म बोना हुआ 2 गरमी के श्रुत म गिया जान वाला (कण भाँति) ।

प्रम्वकम [प्र+मिज+स्तुट पुक ह्वस] 1 धुपाना मूख जाना 2 बकावट ।

प्रम्व (म्या० मी०—मलने मलन) खाना निगलना ।

प्रम्व (म्या० उ०—धुरा० आ०—लहृदि—ने लहृदि—ने) 1 जवा वज्रमा उ० म जीवना 2 लेना प्राप्त करना ।

प्रम्व [प्रम्व—अप] 1 पाने से लपन वाला 2 दाव बाजी लपाना गन लपाना 3 पाना 4 जवा लपना 5 विधान ।

प्रम्व (म० क० कु०) [प्र+क] 1 कण्ठ खाने चका हुआ लान खसलन 2 रोगी बीमार ।

प्रम्वि (स्त्री०) [प्र—वि] 1 अवधान कण्ठनि वषा व—मनश्च स्थानियच्छति मन० १।५३ अङ्गलानि मुरनत्रिणा—मय० ७० ११ ग० ४४ 2 ह्वात क्षीर अन्नाय परालानि य नीतिरितीया—गि० २।३० यर यर हि वनश्च स्थानिभवति आरन भय० ४७ 3 दुबलता निवन्ना 4 बीमारी ।

प्रम्वि (वि०) [प्र+म्] कण्ठ धाम्न ।

प्रम्व (म्या० पर०—ल्यवि लुक्) 1 जाना चन्ना विरता 2 चुरता लुटना 3 छीन लेना बर्जिन करना—वृत्तायम्बुव प्रामान अग्नीवीचरणा य—मटि० १५।३० ।

प्र (म्या० पर०—ल्यवि लुक्) 1 विरतिन या बर्जिन अनभव कन्ना काय करन का शी न करना (मुद् घन के माथ) 2 कण्ठ या धान होना पका हुआ या अवमन्ने अनुवह करना 3 मह्य छात्रा हतो माहृहाना उगस लेना मटि० १९ १३ ६।१२ 4 सींग हुआ मटिउ गता प्र० मल ल्य—वपनि 1 मुखा नेना गुक कर लेन चान पचाना सति पचुवाना 2 बकावट ।

प्रवी (प०) [प्र+वी] 1 चन्मा 2 कूर

श्रीरस्तु ।

## ॥ अथ तिङन्तनामधातुप्रकरणम् ॥

२६५७ । सुप आत्मनः क्यच् । (३-१-८)

इपिकर्मणः एपितृसम्बन्धिनः सुबन्तादिच्छायामर्थे क्यन्प्रत्ययो वा स्यात् । धात्ववयवत्वात्सुच्छुक् ।

२६५८ । क्यचि च । (७-४-३३)

अस्य ईत् स्यात् । आत्मन पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । 'वान्तो यि प्रत्यये' (सू ६३) गव्यति । नाव्यति । 'लोपः शाकल्यस्य' (सू ६७) इति तु न । अपदान्तत्वात् । तथा हि ।

अथ नामधातुप्रक्रिया निरूप्यन्ते । सुप आत्मनः क्यच् ॥ प्रत्ययग्रहणपरिभाषया सुबन्तादिति लभ्यते । 'धातो कर्मण' इति सूत्रात्कर्मण इच्छाया वेल्यनुवर्तते । कर्मण इति पदमी । कर्मकारकादिति लभ्यते । सन्निधानादिच्छाम्प्रत्येव कर्मत्व विवक्षितम् । आत्मन्शब्द स्वपर्याय । तादर्थ्यस्य शेषत्वविवक्षाया यष्टी । स्वार्थात्कर्मण इति लभ्यते । स्वथ इच्छाया सन्निधापितत्वादेर्पितैव विवक्षित । तथाच स्वस्मै यदिष्यते कर्मकारक तद्वृत्ते स्फुटत्वादिच्छाया क्यञ्चा स्यादिति फलति । तदिदमभिप्रेत्य आह । इपिकर्मणः एपितृसम्बन्धिनः इत्यादिना ॥ एपितृणांदिपिकर्मण इत्यर्थः । एपितृ स्वार्थे यदिष्यते कर्मकारक तद्वाचकात्सुबन्तादिति यावत् । धात्ववयवत्वादिति ॥ सुबन्तात् क्यचि कृते तदन्तस्य सनायन्ता इति धातुत्वादिति भावः । क्यचि च ॥ 'अस्य च्वा' इत्यनुवर्तते । 'ई प्राप्नो' इत्यत ईप्रहणमेति मत्वा शेषम्पूरयति । अस्येति ॥ अकारस्येत्यर्थः । पुत्रीयतीति ॥ क्यचि पुत्र य इति स्थिते ईत्वे पुत्रीय इति धातोर्लङादिरित्यर्थः । आत्मन किम् । राज्ञ पुत्रमिच्छति । पदविधित्वेन समर्थपरिभाषाया प्रवृत्तेर्महान्त पुत्रमिच्छतात्यत्र पुत्रशब्दान् क्यच् । गव्यतीति ॥ गानात्मन इच्छतात्यर्थः । नाव्यतीति ॥ नावनात्मन इच्छतीत्यर्थः । अपदान्तत्वादिति ॥ 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यस्य पदान्त एव प्रवृत्तेरिति भावः । नन्वन्तवर्ति विभक्त्या पदत्वमस्त्वैवेत्यत आह । तथा हीति ॥ यथा पदस्य भवति तथोच्यते इत्यर्थः ।

## २६५९ । नः क्ये । (१-४-१५)

न्यचि क्यडि च नान्तमेव पठ म्यान्नान्यन् । सन्निपातपरिभाषया  
क्यचो यस्य लोपो न । गन्त्राश्चकार । गन्त्रिता । नात्र्याश्चकार । नात्र्यिता ।  
नलोप । राजीयति । प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (म १२७३) । त्वद्यति । मद्यति ।  
'एकार्थयो' इत्येव । युष्मद्यति । अस्मद्यति 'हलि च' (सू ३५४) ।  
गीर्यति । पूर्यति । धातो इत्येव । नेह । द्विमिच्छति दिव्यति । इह पुर-  
मिच्छति पुर्यतीति माधवोक्त प्रत्युदाहरण चिन्त्यम् । पुर्गिरो. साम्यान् ।

न. क्ये ॥ नकारादकार उच्चारणार्थः । युष्मन्तम् इत्यतस्सुनन्त पदमित्यनुवर्तते ।  
सुनन्त नकारेण विशेष्यते । नदन्तावाः । नकारान्तं सुनन्त पदसङ्गं स्यादिति लभ्यते । सुवर्ग-  
त्वादेव पदत्वे मिद्ध निरुमाधामङ्गम् । क्यप्रणणेन क्यञ्ज्यङ्गाग्रहणम् । लोहितादिङाज्य क्यप-  
वचनम्' इति वक्ष्यमाणतया हलन्तात् क्यपाऽभावात् । तदाह । न्यचि न्यडि चेत्या-  
दिना ॥ ननु गव्यादकारेण आम् आम्पानुस्वानाम्भान् परे वकाराद्धल उत्तरस्य यकारस्य  
'यस्य हल' इति त्रय स्यादित्यत आम् । सन्निपानेति ॥ यकारनिमित्तकावादेशमन्य-  
नवकारस्य यकारलोपं प्रति निमित्तवाम्भवादान् भावः । गन्त्रियतेति ॥ इटि अतो लोपः ।  
राजीयतीत्यत्र आह । नलोपः इति ॥ राजानमिच्छतामर्थे न्यचि राजन् यति इति स्थिते 'न-  
क्ये' इति पदन्तानकारस्य लोप इत्यर्थः । कृते नलोपः क्यचि च' इत्यकारस्य ईत्त्वमिति मन्वा-  
आह । राजीयतीति ॥ नच ईत्त्वे कन्ये नलोपस्यामिद्वन् शङ्क्यम् । 'नलोपस्तुप्स्वर' इति  
नियमादित्यलम् । ननु त्वामामन इच्छति मामामन इच्छतात्वत्त युष्मदस्मद्द्रवाङ्घ्रि-  
धात्ववयवत्वात् सुपो लुकि प्रत्ययलभ्याभावात् 'त्वमावेकवचने' इति कथं त्वमा स्याताम् ।  
विभक्तौ परत एव तद्विधानादित्यत्र आह । प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति ॥ सुपो लुका लुप्त-  
त्वेऽपि क्यचमादाय मय्यन्तस्य त्वमाविति भावः । ननु युष्मानामन इच्छति, अस्मानामन  
इच्छति, युष्मद्यति, अस्मद्यति, इत्यत्रापि क्यचमादाय त्वमौ स्यातामित्यत्र आह । एकार्थयो-  
रित्येवेति ॥ 'प्रत्ययान्तरपदयोश्च' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति सूत्रमनुवृत्तम् । एकवचनश-  
ब्दश्च न ह्य किन्तु एन्वविशिष्टाद्यङ्गित्वमेकवचनशब्देन विवक्षितमिति युष्मदस्मदप्रमियाया  
प्रपञ्चितं प्राक् । तथाच युष्मदस्मदोरेकवचनविशिष्टाद्यङ्गित्वमाभावात् त्वमाविति भावः । गिरमा-  
त्मन इच्छति पुरमामन इच्छतान्यत्र गिर दापुन दाश्च क्यचि विशेषमाह । हलि चेति ॥  
उपधादार्थं इति शेषः । ननु दिवमिच्छति दिव्यतायत्रापि 'हलि च' इति दार्थं स्यादित्यत  
आह । धातोरित्येवेति । 'हलि च' इति सूत्रे 'मिपि धातो' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।  
दिव्यतीति ॥ दिव्याद' अव्युपन प्रातिपादकमिति भावः । इहेति ॥ 'हलि च' इति सूत्रे  
धातोरित्यनुवृत्ते पुर्यतायत्र न दार्थं इति माधवग्रन्थश्चिन्त्य इत्यर्थः । कुन इत्यत आह ।  
पुर्गिरो. साम्यादिति । 'गृशदे, पृ पालनपूरणयो' इत्याभ्याङ्गिपि 'ऋत इदातो' इति  
'उदाङ्गपूर्वस्य' इति च इत्त्वे उत्त्वे च कृते रपरत्वे गिर्शदस्य पुर्शन्दस्य च निष्पत्तेरिति भावः ।

घटिपय (वि०) [घटी+घटा+घा+य घटादेः]  
बेनन म फक मारन वाला म कुम्हार

घटिपय (वि०) [घटी+घट+घा मम ह्रस्व] जो  
बड़ा घर (घाटी) घाटा है

घटी [घ+टी] 1 छोटा घण्टा 2 ४ मिनट के बराबर  
समय की नाप 3 छोटा जल-घण्टा जिसमें प्लि की  
घटियाँ गिनन का काम किया जाय सम—कोर  
कुम्हार घट्ट—घट्ट (वि०) दे० 'घण्ट' यत्रम  
1 पानी ऊपर उठाने वाली रस्स की घटियाँ कुएँ पर  
पड़ा हुआ रस्सी-ढोका दे० अरबट्ट 2 दिन का समय  
आजान का एक साधन

घटीहक [ ? ] लिखित नाम की रायों से उद्भूत शीघ्र  
का एक पृष्ठ (यह बहुत बलवान पृष्ठ का कोरव और  
पृष्ठका व घट्ट म यह रस्स कोरनापूर्वक पाण्डवा की  
आर स लडा पानु ह्म म शान्त गिन द्वारा कच के  
हथों मारा गया सु० म० २१५)

घट्ट (म्या० आ० घट्टे—बुआ घरा० उम० घण्ट  
पति के घट्टिन) 1 खिलाता हस्तक देना अने  
बाधघट्टिता लता म 2 स्पर्श करना मल्ला हाथों  
स मल्ला विजयनलघट्टितेव शेष मउ० १०४  
महि० १४ 3 चिकनाता मल्लाता 4 ईर्ष्या दूष  
की आवता मे शोल्ता 5 हाथ पट्टाला अथ  
शोल्ता परि—अनार करना गि० ९६४ वि  
1 हड्डना कर देना गिन विनर मल्ला बलरता  
पडा देता शि० १९४ अ० ५४ 2 मल्ल  
धिता रगडना काश्मिरी विधट्टितवाहिमा  
क्रु० ३८४९ कु० १९ वि० ८४५ गि० ८०४  
१०४१ सम 1 घपघपाला 2 स्पर्श करना  
निन्ता 3 एकत्र करना सङ्घ करना 4 रगडना  
धितना दबाता रघ० ६७

घण्ट [घण्ट घण्टा] 1 घण्टा घण्टे के म घण्टी तक  
बनी घण्टी 2 खिलाता मल्ला अन्त्या 3 घण्टी  
घर सम० कुना घण्टी घर अथवा मल्ला के  
नी० दे० बीबिन (घ०) घाट न प्रान्त मल्लूम म  
अधना निर्वाह करी बाला 2 दणवर्ग (वर्गघा रस  
काज्जान)

घण्टा [घण्ट घण्टा+टाप] 1 खिलाता खिलाता हूर  
का देता अन्त्या करना 2 रगडना 3 जीविका  
दान अन्त्या व्यवसाय पण

घण्ट [घण्ट+अव] एक प्रकार का मल्ल घण्टी

घण्टा [घण्ट+अव+अप] 1 घण्टा 2 घण्टा का या काव  
का शाल पट्टा जिसे समय का मल्ला व जि मसरो उ  
पलित कर बने है सम० अथवा घण्टा कर  
—घण्ट कम घण्टियों के घण्टा घण्टा लाह मल्ला  
वजन बाया—मल्ला घण्टा का अथवा घण्टा नीव

की मल्ल नटन राजमाम मल्ल शय (दामवन्दरा  
राजमनी घण्टापय रसना कीटि) —दाम 1 बाया  
2 घण्टी का जागज

घण्टा [घण्टा+टीप—वन ह्रस्व] घाटी घण्टी  
घण्टा

घण्ट [घण्ट+उण] 1 घाटी की घाटी पर बनी एक पट्टा  
जिसमें घण्टर मल्ल होने ह्म ताप प्रकाश

घण्ट [घण्ट इति मल्ल कुदम घण्टेन घण्टा+टी+ट]  
मघमघल

घण्ट (वि०) [हय मला अथ घण्टा+अव दाम०]

1 मल्ल हय मल्ल दाम—मल्लमल्ल घण्टाघन म०

१० दामा घण्टाघन दाम० १० ११ १८

2 मल्ल घण्टि घण्टा घण्टाघनमल्ल—मल्ल०

१० ८८ मल्ल ५३ 3 घण्टा घण्टा घण्टा

घण्टाघन (अथ मल्ल घण्टाघन मल्ल घण्टा

घण्टाघन मल्लमल्लमल्लमल्ल मल्ल० १० १० १० १०

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल मल्ल

दीव्यतीति दीर्घस्तु प्राचः प्रानादिक एव । अदस्यति । 'रीकृतः' (सू १२३४) ।  
कर्त्रीयति । 'क्यच्च्योश्च' (सू २११९) । गार्गीयति । वात्सीयति ।  
'अकृत्सार्व' (सू २२९८) इति दीर्घ । कवीयति । वाच्यति । समिध्यति ।

२६६० । क्यस्य विभाषा । (६-४-५०)

हलः परयो क्यच्च्यङोर्लोपो वा त्यादार्धधातुके । 'आदेः परस्य'  
(सू ४४) । 'अतो लोपः' (सू २३०८) । तस्य स्थानिवत्त्वाद्घूपधगुणो न ।  
समिधिता-समिध्यिता । 'मान्तप्रकृतिकसुबन्ताद्व्ययाच्च क्यच् न' (वा  
१७१४) । किमिच्छति । इदमिच्छति । स्वरिच्छति ।

२६६१ । अशनायोदन्यधनाया व्रुमुक्षापिपासागर्धेषु । (७-४-३४)

प्रानादिक एवेति ॥ दीर्घशब्दस्य अन्युत्पन्नप्रादिपदिकत्वात् धातुत्वम् । दिग्धातोः क्विबन्ताद्  
क्यचि ऊठि दुशब्दाच्च क्यचि द्यूतीत्येव उचितम् । विवि तु लघूपधगुणे 'लोपो व्यो' इति  
लोपे देशब्दाद् क्यचि देयतात्येवोचितमिति भावः । अदस्यतीति ॥ अनुनात्मन इच्छतान्यर्थे  
अदस्यद्वात् क्यचि जुषो जुक्का लुप्तत्वाद्भिन्नकिपरकत्वाभावात् त्यादायत्वम् । सान्तत्वान्नोत्पन्नत्वे ।  
'न क्ये' इति नियमेन पदान्तत्वाभावात् सस्य रत्वमिति भावः । कर्तृशब्दाद् क्यचि विशेष  
नाह । रीकृतः इति ॥ गार्गीशब्दाद् क्यचि विशेषनाह । क्यच्च्योश्चेति ॥ आप  
त्यस्य ययो यकारस्य लोप इति भावः । कृते ङलोपे 'क्यचि च' इत्यकारस्य ईत्वं भत्वा  
आह । गार्गीयतीति ॥ वात्सीयतीति ॥ वान्त्स्यशब्दाद् क्यचि पूर्ववत् । क्विश्चब्दाद्  
क्यचि विशेषनाह । अकृत्सार्वेति ॥ वाच्यतीति ॥ वाच्यशब्दाद् क्यचि 'न क्ये' इति  
नियमेन पदत्वाभावात् कुत्वम् । 'क्वचित्स्वप्' इति सन्प्रसारपन्तु न । धातोः कार्यमुच्यमान  
धातुविहितप्रत्यये एवेति नियमात् । समिध्यतीति ॥ समिध्यशब्दाद् क्यचि 'न क्ये' इति  
नियमेन पदत्वाभावात् जश्त्वम् । लुटस्तासि इति समिध्य इता इति स्थिते 'दस्य हल' इति  
नित्ये यलोपे प्राप्ते । क्यस्य विभाषा ॥ 'दस्य हल' इत्यत हल इति पञ्चमन्तानु  
वर्तते । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । तदाह । हलः परयोः क्यच्च्यङोरिति ॥  
क्यधु नात्र गृह्यते । 'लोहितडाज्ज्य क्यच्चनम्' इति वक्ष्यमाणतत्त्वाद्दन्तात्तद्भावात् । अन्त  
लोपनादप्यत्र आह । आदेः परस्येति ॥ तथाच सनिष् अ इता इति स्थिते आह ।  
अतो लोपः इति ॥ तथाच सनिष् इता इति स्थिते लघूपधगुणनाशश्च आह । तस्य  
स्थानिवत्त्वादिति ॥ क्यच्च्युक्ते 'मान्ताव्ययेभ्य प्रतिषध' इति वार्तिकम् । मान्तेभ्य  
अव्ययेभ्यश्च क्यच्च प्रतिषेध इत्यर्थे पुत्रनान्नन इच्छति पुत्रावतालत्र न स्यात् । पुत्रविच्छ-  
तीत्यादावेव स्यात् । मान्तानि मान्ताव्ययानि तेभ्य इत्यर्थे स्वरिच्छतालत्र क्यच्च प्रतिषेधा  
न स्यात् । अतस्तद्वातिक विवृण्वन्नाह । मान्तप्रकृतिकसुबन्ताद्व्ययाच्च न्यच् नेति ॥  
अशनायोदन्य ॥ अशनाय उदन्य धनाय श्लेषान्द्र । क्यजन्ताः इति ॥ एवं

अथवा डोलपन—मूल्य (यजिन म) घन राशि का मूल अंक—रत्न 1 गाढ़ा रत्न 2 अंक गाढ़ा 3 कपूर 4 जल—धरा घन का वग (यजिन म) उल्टा घात—वलय (नव०) आकाश घनवय सहस्रवय कुबल—कि० ५।१७ वल्लिवा वल्लि विजली बाह्य एक प्रकार का कदर कुम्हवा बाहुन 1 गिर 2 इन्द्र—इयाम (वि०) बाल को भाँजि काला गहरा कागज पक्का रंग—रत्न 1 राम और कुप्य का विषापण सम्यक् वर्णानुसार 1 कपूर-घन सातलीहारहार—रत्न० १ (यजिन पञ्चमो म उल्टेय) 2 घारा 3 वज्र—स्वयं मेघमयन—हस्तसख्या (यजिन म) लम्बाई को विटटी आदि मापन की माप (एक हाथ लंबा एक हाथ मोटा या चौड़ा और एक हाथ ऊँचा डर)

घन/घन [हन—अथ हनेष्वयम दिव्यप्रमाणस्य आक च] 1 इन्द्र 2 विद्विषा या मददस्त हाथी 3 पानी से भरा हुआ या भरमान वाला बादल ।

घरट्ट [घर सङ्गम भूति अतिशायि—घर+घट्ट +अण गन् परस्मैपद] बरसात घरट्ट चक्को

घघर (वि०) [घघ+रा+क] 1 अस्पष्ट घघराट करन वाला घरघर गध करन वाला घघरवा घरघर शान सति मा० ५।१९ 2 कलकल ध्वनि करन वाला (बादल की नाति) गडगड गन् करन वाला रत्न 1 अस्पष्ट कलकल ध्वनि मा० गडगड या घरघर की ध्वनि 2 कीर्णहृष गोर 3 दरवाजा डोर 4 इसी अहूत ० उल्लेख 6 तुपानि ।

घघरा—घी [घघर+राज डीय वा] 1 घुंघरु जो आभयन की भाँति काम आव 2 घघरओ की गघर ध्वनि 3 गगा 4 एक प्रकार की बाणा ।

घघरिका [घघर+टन टाप] 1 आभयन की नाति प्रयुक्त होने वाले घघर 2 एक प्रकार का बाणयन ।

घघरितम [घघर+इतक] मधुर के घरघरान का गन्

घघ [घरति अज्ञान घ+अक नि० गय] 1 नाप गर्मी—हि० १९७ 2 गर्मी को बहुत निम्न निम्न शान हाथीकामाजगम घघ प्रियाविगिबोरोष्टम रत्न० १६।४ 3 स्वेद पसीना—गि० १५८ 4 कड़ा उबालन का पात्र । सन० अश मूर ग० ५१४—अत वयोदनु अश्व अम्भल (न०) स्वेद पसीना ग० १३० मा० १।७ चक्षिका घाम पित्त घनोरी (बहु एव पसीन और गर्मी से गठेर पर पड़ा होने वाला डोट-छाट गन्) दाबित मुख रत्न० ११।६४ छति मुख कि० ५।८१ वयस (नव०) स्वेद पसीना गि० १३५ ।

घघ घघनम [घघ+घञा ल्यट वा] 1 रगड घिसर 2 पीसना चरा करना ।

घघ (म्या० अदा०—पर०—यसति घसित घन्त) खाना निखलना (यह अथवा घानु ह अर्घ घानु के कुछ लक्षारो म ही इसक रूप बनते हैं) ।

घघघर (वि०) [घघ+नगरम्] 1 गाऊ घेट—गावानकी घघघर—आयि० ११३४ 2 निखल जान वाला हाथ करन वाला नुपदमुतनमूषघघरी दोगिरसि—वेणी० ५।३६ ।

घघ (वि०) [घघ+रक] पौडाकर भटिकर छ 1 नि—घघा यमिध्वनि अकिध्वनि मुद्रपेपघ—मुभा० 2 मूय—मूवावी० ६।८—छम कसर जाकरान ।

घाट टो [घट+अघ स्विषा टाप] गदन का पिछला भाग ।

घाटिक [घटा ठक] 1 बटी बजान वाला 2 भाट या धारण 3 धूरे का बीधा ।

घात [हन विच+घञा] 1 शहार आघात खरीक घाट ज्वाघात—ग० १।१३ नयनारघत—गीत० १० इसी प्रकार पाणिघात गिरीघात आदि 2 मार गाना चोर पट्टुघात शहार करना बच करना—विशोभा नगाक्या सजल विपुघातविद्वधन—उत्तर० १।४४ पाघात गीत० १ मा० २१५१ २२५२ 3 बाघ 4 गधयफल सय०—घाट अशुभ राशि पर स्थित चन्द्रमा तिथि आग घाट नि १३३ अम आग गधय बार अगान्ति—स्वातम वचड खाना बधस्थान

घातिक (वि०) [घघ+धल] मारनवाला शहार करने वाला हथार शहारक क्षातिर बध करन वाला ।

घातन (वि०) [हन+घिच+ल्यट] हत्याका क्रान्तिल मज 1 प्रहार करना मार गालना हुपा करना बध करना (यज्ञ म) पशु बलि देना ।

घातिन (वि० (स्त्री०—नी) [हन विच+घिनि] 1 प्रहार करने वाला मारन वाला 2 (पक्षियों की) पकड़न वाला या मारन वाला 3 विनाशकारी सम०—यसिन—विहग वाड रदन

घातुक (वि०) (स्त्री० की) [हन+घिच+उङञा] 1 मारन वाला शहारकारी अतिधक्कर चोट पट्टुघात वाला 2 घर बग्स हिल ।

घाय (वि०) [हन+घिच ध्वन मारे जान के योग्य बहु व्यक्ति विषे मार देव चाहिए ।

घार [घ घञ डिङका वर करना ।

घातिक घतेन निव ठञा] भी म ठक हुए बूड (विशेषा विनम डि होते ह) (इन्ही को देवकर पचाव म मस पक्षिों व कहा था—ठिठप्यनया बहुलीभवन्ति) ।

घास [घघ+घञा] 1 बाहार 2 गोबरधून या जरागाह का घास—वासीमावत वन० ५ वासमुष्ट परलवे

क्यजन्ता निपात्यन्ते । अशनायति । उदन्यति । धनायति । 'बुभुक्षादौ'  
किम् । अशनीयति । उदकीयति । धनीयति ।

२६६२ । अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि । (७-१-५१)

एषा क्यचि असुगागम स्यान् । 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्' (वा  
४३०९) । अश्वस्यति यङ्या । वृषस्यति गौ । 'क्षीरलवणयोर्लालसायाम्'  
(वा ४३१५) । क्षीरस्यति जाल् । लवणस्यत्युष्ट्र । 'सर्वप्रातिपदिकाना क्यचि  
लालसाया सुगमुकौ' (वा ४६१६-१७) दधिस्यति-दध्यस्यति । मधुस्यति-  
मध्वस्यति ।

२६६३ । काम्यच्च । (३-२-४)

उक्तविषये काम्यच् स्यान् । पुत्रमात्मन इच्छति पुत्रकाम्यति । इह  
'यस्य हल' (सू २६३१) इति लोपो न । अनर्थकत्वान् । यस्य इति सहात-

त्रय शब्दा क्रमण बुभुक्षादिष्वथपु निपायन्त इत्यर्थः । भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा । पातुमिच्छा  
पिपासा । गर्ह अभिक्ताया । अशनायतीति ॥ अशने यन् तदशनम् अन्न, तद्भोक्तुमि-  
च्छतीत्यर्थः । 'क्यचि च इति इत्वाभावा निपात्यते । 'अकृन्सार्व' इति दार्घ्यं ।  
उदन्यतीति ॥ उदक् पातुमिच्छतात्यर्थः । उदक्शब्दस्य उदनादेशो निपात्यते  
नलोपाभावश्च । धनायतीति ॥ पावनार्थं सत्यपि धन अधिक धन वाञ्छतीत्यर्थः ।  
इत्वाभावो निपात्यते । अशनीयतीति ॥ अशनम् अन्न तत्प्राप्तुमिच्छति । वैश्व-  
देवागर्धमित्यर्थः । उदकीयतीति ॥ सस्यादिसेवनार्थमुदकमिच्छतीत्यर्थः । धनी-  
यतीति ॥ दृष्टिस्मन् पावनाय धनमिच्छतात्यर्थः । अश्वक्षीर ॥ क्यचि परे  
ऽमुगिति शपथरणम् । 'पाचमेरमुक्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । अमुकि ककार इत्  
उकार उच्चारणार्थः । किन्वादन्त्यावयवः । अश्ववृषया इति वातकम् । अश्वस्यति  
यङ्येति ॥ मैथुनाथमश्वमिच्छनीयश्च । वृषस्यति गौरिति ॥ मैथुनार्थं वृषमिच्छती-  
त्यर्थः । 'क्यस्यन्ती तु कामुका' इति वेशस्तु अश्ववृषरूपप्रकृत्यर्थपरित्यागेन मैथुनेच्छा  
मात्रे लाभणिकः । 'क्षीरलवणया' इति वातकम् । अमुगिति शपथः । लालसा उत्कटेच्छा ।  
सर्वप्रातिपदिकानामिति ॥ इदमपि वातिकम् । लालसाया सर्वया प्रातिपदिकाना क्यच्  
वक्तव्यः । तस्मिन् पर प्रकृताना सुगमुकौ च वक्तव्या इत्यर्थः । न चानेनैव वातिकेन सिद्धे  
'क्षीरलवणयोर्लालसायाम्' शब्द वातिक व्यथमिति शङ्क्यम् । 'क्षीरलवणयो' इति वातिक  
कालायनायम् । 'मवप्रातिपदिकानाम्' इति तु मतान्तरमित्यदोषान् । एतच्च भाष्ये अपर आह-  
त्यनन ध्वनितम् । काम्यच्च ॥ 'सुप आ मन क्यच्' इत्युत्तरमिदं सूत्रम् । तदाह । उक्त-  
विषये इति ॥ पुत्रकाम्यतीति ॥ कस्येन्त्यज्ञा तु न, फलाभावात् । अनर्थकत्वा-  
दिति ॥ काम्यच्च एकदेशस्य यकारस्य अर्थाभावादित्यर्थः । ननु चेभिदिता इत्यत्रापि



दद्यात् सवत्सर तु य—ग्रहा० । सम०—कुम्भ  
—स्वायम् चरागाह ।

घृ (म्वा० आ०—घवते घृत) गन्ध करना हल्ला मवाना ।

घृ (घृ+स्त्रिण्) नवतर की गूटर गु ।

घृट १ (नुदा० पर०—घृति घृति) १ फिर प्रहार करना बदला लेने के लिए प्रहार करना मुकाबला करना  
२ विरोध करना ॥ (म्वा० आ०—घोटते)  
३ वापिस बोना लौटना २ वस्तु विनिमय करना  
बन्ता-बन्ती करना ।

घृट घृति, टी (स्त्री०) घृटिक—का (घृट+अच्  
इत् वा घटि+होय क्त स्त्रिया टाप वा) टखना ।

घृण १ (म्वा० आ०—नुदा० पर०—घाणने घृणति घृणित)  
लुडकना बचकर लाना लटखडाना बढरना  
॥ (म्वा० आ०) लेना प्राप्त करना ।

घृण (घृण+क) लकड़ी में पाया जान वाला बिगड़ प्रकार का कीड़ा । सम० अक्षरम्—लिपि (स्त्री०) लकड़ी या पुस्तक के पन्ने म कीड़ी के द्वारा बनाई हुई रेखाएँ जा कुछ कुछ अनपेक्षित जैसी प्रतीत होती हैं । स्वाय २० “वाय” के अन्तर्गत ।

घृष्ट घृष्टक घृष्टिका [ घृष्ट+क घृष्ट+कन घृष्टक+  
टाप इचम् ] टखना ।

घृथ (घृथ+ड नि०) भौंरा ।

घूर (नुदा० पर०—घूरति घूरित) १ सम् करना कालाहल करना घुराट भरना घुघकारना (सूजर कुत्त आदि का) घुरघुराना—क क कुत्त न घुघुरायित घुरीघुरी घुरेछकर—का० उ २ डरावना बनना भयकर होना ३ घुल में घिस्नाना ।

घुरी (घुर+कि+होय) नायना (विगड़कर सूजर की धूपन)—घुघुरायित घुरीघुरी घुरेछकर काव्य० उ ।

घुघुरी (घुर इन्धन्यक घुराट—घुर+घुर+क) १ बालर पिल्लड़ (एक प्रकार का कीड़ा) २ घुराट भरना घुराति सूजर आदि जानवर के गले से निकलन वाली आवाज ।

घुघुर (घुघुर+अच्+होय) सूजर की आवाज ।

घुलघुलाव [ घुलघुन इत्यम्भकारोडि—घुलघुल+आ  
+व+अच् ] एक प्रकार का कुत्तर ।

घृ १ (म्वा० पर०—घृण० उच०—घोषति घोषयति—ते  
घृति घृण घोषति) १ गन्ध करना कालाहल करना  
२ ऊँचे स्वर से बिल्लाना नावजनिक रूप से घोषणा करना सप्त पागात्रे तासा दुष्मन्त इति घृणाय  
—ग० ६१२२ घोषयतु ममघनिर्गम—वी० १०  
इति धारयडोड इतिम करिगइतिवसाहून् वचन  
—हि० २१८६ रघु० १११० आ—उच्च स्वर से  
राना सावजनिक रूप से घोषणा करना—भट्टि०

३१२ । उच्—उच्च स्वर से घोषणा करना साव  
जनिक रूप से घोषणा करना ॥ (म्वा०—आ०—घुवते)  
सुन्दर या उज्ज्वल होना ।

घुसृणम [ घुसृ+कणक पयो० ] केसर जाफरान—यस  
स्त्रीणा मसृणघुसृणालेनाणा कुपदी विक्रम०  
१८३१ ।

घक [ घृ इत्यक्त्वा कायति घू+कं+व ] उल्हा । सम०  
—अरि कोरा ।

घूण (म्वा० आ०—नुदा० पर०—घूणने घूणति घूणित)  
इधर-उधर लुडकना इधर-उधर घूमना बचकर  
काटना मूटना हिलाना छिपटना लडखडाना  
—घोषिनामतिमेन घुघुणविभ्रमाणिघुघुनि घुघुनि  
—वि० १०३२ मयात्काविपणिपू—भट्टि० १५३२  
११८ नि० १११८ अयापि ता मुरतयापर  
घूमनाना—वी० ५ इर०—घुणति—ने हिलाना  
बढरना या लपेटना—नयनान्वहानि घुणयन—हु०  
४१८ नि० २११६ म० ११८० (मा तथा वि  
उपमय के रूप जान पर भी धातु का वही अर्थ रहता  
है) ।

घूण (वि०) [ घृण+अच् ] हिलान वाला इधर-उधर  
चलन फिरन शाला । सम०—बायु बहवर ।

घूणनम—मा [ घूण+स्वट ]—हिलाना हिलाना लपेटना  
बचकर लाना मूटना घमना मौलियुगबलत  
—वी० ० घूर्णनामाचपतनभ्रमणा—ना० इति—  
सा० २०१

घ १ (म्वा० पर०—घरति घृत्) छिडकना ।

॥ (घुग० उच०—घारयति—त घारित) छिडकाव  
करना गीला करना तर करना अग्नि—छिडकना  
या छिडकाव करना ।

घूष (तना० पर०—घोषति घृण) घमकना जलना ।

घृषा [ घृ+वक+टाप ] दया तमस मुकुमारता—ता  
बिलाव्य वनितावध घृषा परिषा सह भूयोव राधव  
—रघु० १११७ ११८१ कि० १५१२ २ ऊँ  
अस्ति घिन तस्यात्र होय परपुष्टघृष्ट घृषा च  
वीणास्वधिते विदेन—नै० ११० ११२० रघु०  
१११६५ ३ छिडको विष्ठा ।

घृषालु (वि०) [ घृषा+आलुव ] सफरुण दयापूर्ण  
मनु-हृदय ।

घृषि [ घृ+नि नि० ] १ घर्षी घृष २ प्रकाश की  
किरण ३ घृष ४ सहर (नरु०) जल । सम०—निधि  
सूय ।

घृतम [ घृ+कन ] १ घी ताया हुआ भक्षण—(सर्पिलीन  
मात्रेण स्वायत्त घृतीभूत घृत भवेन—मा०) २ मस्रन  
३ जक । सम०—अग्र—अग्नि (घृ०) बहती  
हुई बाण आहुति (स्त्री०) घी की आहुति—आहू

ग्रहणमित्युक्तम् । यशस्काम्यति । सर्पिष्काम्यति । मान्ताव्ययेभ्योऽप्ययं स्या-  
देव । किङ्काम्यति । स्वःकाम्यति ।

### २६६४ । उपमानादाचारे । (३-१-१०)

उपमानात्कर्मणः सुबन्तादाचारार्थं क्यच् स्यात् । पुत्रमिवाचरति पुत्री-  
यति छादम् । विष्णूयति द्विजम् । 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्' (वा १७१७) ।  
प्रासादीयति कुट्यां भिक्षुः । कुटीयति प्रासादे ।

### २६६५ । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । (३-१-११)

उपमानात्कर्तुः सुबन्तादाचारे क्यङ् वा स्यात्, सान्तस्य तु कर्तृवा-  
चकस्य लोपो वा स्यात् । क्यङ् वेत्युक्तेः पक्षे वाक्यम् । सान्तस्य लोपस्तु  
क्यङ्सन्नियोगादिष्टः । स च व्यवस्थितः । 'ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां

यकारस्य अनर्थकत्वात्लोपो न स्यादित्यत आह । यस्य इतीति ॥ 'यस्य हल.' इत्यत्र  
यस्येत्यनेन यकाराभारसङ्घातग्रहणमित्यनुपदमेवोक्तमित्यर्थः । तथाच वेभिद्य इता इति स्थिते  
यदो यस्य सङ्घातस्यार्थवत्त्वाद्यकारलोपो निर्वाधः । प्रवृत्ते तु काम्यजेकदेशस्य यस्यानर्थकत्वा-  
त्लोपो नेति भावः । यशस्काम्यतीति ॥ 'सोऽपदादौ' इति सत्वम् । ननु मिनात्मनः इच्छति  
निद्राम्यति स्त्र काम्यतीति कथम् । मान्ताव्ययाना नेल्यनुवृत्तेरित्यत आह । मान्ताव्ययेभ्यो-  
ऽप्ययमिति ॥ उपमानादाचारे ॥ 'मुप आत्मनः क्यच्' इत्यनुवर्तते । 'धातोः कर्मण-  
स्मानानकर्तृनात्' इत्यतो धातोरिति । तदाह । उपमानात्कर्मणः इत्यादिना ॥  
उपमान यत्कर्मभारकं तद्वृत्तेस्तुबन्तादित्यर्थः । पुत्रमिवेति ॥ 'धातोः कर्मणः' इत्यतः  
वेत्यनुवृत्तेरनेन सूचिता । छात्र पुत्रत्वेन उपचरतीत्यर्थः । विष्णूयतीति ॥ द्विजं विष्णु-  
त्वेन उपचरतीत्यर्थः । अधिकरणाच्चेति ॥ उपमानभूताधिकरणवृत्तेरपि सुबन्तादाचारे  
क्यजिति वक्तव्यमित्यर्थः । प्रासादीयति कुट्यामिति ॥ प्रासाद इव कुटपा हृद्ये वर्तते  
इत्यर्थः । कुटीयति प्रासादे इति ॥ कुट्यामिव प्रासादे हृद्ये वर्तते इत्यर्थः । कर्तुः  
क्यङ् सलोपश्च ॥ कर्तुरित्वावर्तते । कर्तुः क्यङिलेख वाक्यम् । अत्र कर्तुरिति पञ्चम्य-  
न्तम् । उपमानादाचारे इत्यनुवर्तते । 'धातोः कर्मणः' इत्यतः वेति च । तदाह । उपमाना-  
दिति ॥ उपमान यत्कर्तृभारकं तद्वृत्ते सुबन्तादित्यर्थः । कर्तुं सलोपश्चेति द्वितीय वाक्यम् ।  
चकार तुपर्याय भिन्नक्रमः । स इति लुप्तपट्टीकं पृथक्पदम् । कर्तुरिति पञ्चम्यन्तस्य विशेषणम् ।  
तदन्ताविधिः । तदाह । सान्तस्य त्विति ॥ पक्षे इति ॥ क्यङ्भावपक्षे इत्यर्थः । क्यङ्-  
भावपक्षे गन्तारलोप इति भ्रन वारयति । सान्तस्य लोपस्त्विति ॥ एतच्च महाभाष्ये  
स्पष्टम् । क्यङि सलोपविमलः स्यादित्यत आह । स च व्यवस्थितः इति ॥ सान्तस्य  
मलोप इत्यर्थः । व्यवस्थामेव दर्शयति । ओजसोऽप्सरसः इति ॥ इदं वार्तिकम् । ओज-

विभाषया' (वा १७१९-२०) । कृष्ण इवाचरति कृष्णायते । ओजशब्दो वृत्तिविषये तद्वति । ओजायते । अप्सरायते । यशायते-यशस्यते । विद्यायते-विद्वस्यते । त्वद्यते । मद्यते । अनेकार्थत्वे तु युष्मद्यते । अस्मद्यते । 'क्यङ्-मानिनोश्च' (सू ८३७) कुमारीवाचरति कुमारायते । हरिणीवाचरति हरितायते । गुर्वाव गुरुयते । सपत्नीव सपत्नायते । सपत्नीयते । सपत्नीयते । युवतिरिव युवायते । पट्टीमृद्धाविव पट्टीमृदूयते । 'न कोपधाया' (सू ८३८) पाचिकायते । 'आचारेऽवगल्भङ्गीयहोडेभ्य क्त्वा' (वा १७२१) ।

इशब्दः इति ॥ न्यन्तोऽयम् । सनाद्यन्ता इति धातुत्वाद् इति । तत्र ओजशब्द ओजस्विनि वर्तत इत्यर्थः । ओजायते इति ॥ ओजस्वीवाचरतीत्यर्थः । ओजशब्दात् क्यङि सलोपे 'अकृत्सार्व' इति दार्घ्यं इति भावः । अप्सरायते इति ॥ अप्सरशब्दात् क्यङि सलोपदीर्घा । क्यङो द्वित्वादात्मनेपदम् । इतरेषां विभाषयेत्यस्योदाहरति । यशायते-यशस्यते इति ॥ यशस्वावाचरतीत्यर्थः । विद्यायते-विद्वस्यते इति ॥ विद्वान्निवाचरतीत्यर्थः । विद्वन्छब्दात् क्यङि सलोपावन्त्यः । त्वद्यते । मद्यते इति ॥ त्वमिव अहमिव आचरतीत्यर्थः । युष्मदस्मच्छब्दात् क्यङि 'प्रत्ययोत्तरपरयोश्च' इति मपर्यन्तस्य त्वमौ । युष्मद्यते । अस्मद्यते इति ॥ यूयमिव वयमिव आचरतात्यर्थः । 'त्वमावेकवचने' इत्यस्मात् 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति सूत्रे एकवचने इत्यनुवृत्तेरेकवचिशिष्टार्थवृत्तित्वे सत्येव युष्मदस्मदोऽवगमाविति भावः । कुमार्यादिशब्दात् क्यङि पुवत्त्व स्मारयति । क्यङ् मानिनोश्चेति । कुमारायते इति ॥ पुवत्त्वेन शेषो निवृत्तौ दीर्घः । हरितायते इति ॥ हरिणीशब्दात् क्यङि पुवत्त्वेन 'वर्णादनुदात्तात्' इति नत्वस्य ङापथ निवृत्तौ दीर्घः । गुरुयते इति ॥ गुर्वाशब्दात् क्यङि ङापो निवृत्ता दीर्घः । सपत्नायते इति ॥ सप्तपर्यायात् सपत्नशब्दात् शार्ङ्गरवादित्वेन ङानन्तात् पुवत्त्वेन ङानो निवृत्तौ दार्घ्यं इति भावः । सपत्नीयते इति ॥ समानं पतिं स्वामी यस्या इति बहुव्रीहौ सपत्तिशब्दस्य नत्वे ङापि च सपत्नीशब्दान् क्यङि पुवत्त्वेन ङीत्वननत्वानिनिवृत्तौ दीर्घः इति भावः । सपत्नीयते इति ॥ विवाहनिबन्धनं पतिशब्दमात्रेण समानं पतिं यस्या इति बहुव्रीहौ सपत्नीशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गत्वात् पुवत्त्वमिति भावः । युवायते इति ॥ युवतिशब्दात् क्यङि पुवत्त्वे तिस्रस्त्रयस्य निवृत्तौ नलोपे दीर्घः इति भावः । वयोवाचिनाच्चातिर्कार्यं वैकारिपक्रमिति 'जातेरस्त्रीविषयात्' इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । एतेन 'जातेश्च' इति निषेधादिह पुवत्त्व दुर्लभमित्यपास्तमिति शब्देन्दुशेखरे स्मृतम् । पट्टीमृदूयते इति ॥ इह पूर्वपदस्य क्यङ्परकवाभावान् पुवत्त्वम् । ननु पाचिन्नेवाचरति पाचिकायते इत्यत्रापि 'क्यङ्मानिनोश्च' इति पुवत्त्वेन टाप 'प्रत्ययस्थात्' इति इत्वस्य च निवृत्तौ पाचकायते इति स्यादित्यत आह । न कोपधायाः इति ॥ 'आचारेऽवगल्भङ्गीयहोडेभ्य क्त्वा' इति वार्तिकम् । उपमानादित्यनुवर्तते । 'धातोः कर्मण' इत्यतो वाग्रहणस्यास्मिन्प्रकरणे अनुवृत्त्यैव सिद्धे वाग्रहणं व्यर्थमित्यत आह । चा-

वाग्रहणान् क्यङपि । अवगल्भादयः पचाद्यजन्ताः । किप्सन्नियोगेनानुदात्तत्व-  
मनुनासिकत्व चान्प्रत्ययस्य प्रतिज्ञायते । तेन तङ् । अवगल्भते । क्लीनते ।  
होडते । भूतपूर्वादप्यनेकाच आम् । एतद्वार्तिकारम्भसामर्थ्यान् । न च  
अवगल्भते इत्यादिसिद्धिस्तत्फलम् । केवलानामेवाचारेऽपि वृत्तिसम्भवान् ।  
धातूनामनेकार्थत्वात् । अवगल्भाच्चक्रे । क्लीनाच्चक्रे । होडाच्चक्रे । वार्तिकेऽवे-  
त्युपसर्गाविशिष्टपाठात्केवलानुपसर्गान्तरविशिष्टाच्च क्यङेवेति मायवादयः ।

ग्रहणात् क्यङर्पीति ॥ अन्यथा विशेषविहितत्वान् त्रिषा क्यङो वाध स्यादिति भावः ।  
तथाचान् वाशब्दो विकल्पार्थक इति फलितम् । अत्र सुप इति नानुवर्तते । प्रातिपदिकान्  
क्यङोऽप्राप्तौ वाग्रहणान् समुचीयते इति केचिन् । अवगल्भादयः इति ॥ 'गल्भ धात्र्ये'  
(अवपूर्व) 'ह्रीव अधात्र्ये' 'होड अनादरे' एभ्यः पचाद्यचि अवगल्भादिशब्दाभ्यो  
निष्पन्ना इत्यर्थः । तथाच अवगल्भ इवाचरति ह्रीव इवाचरति होड इवाचरतीत्यर्थे अवगल्भादि  
शब्देभ्यः त्रिप्क्यङाविति स्थितम् । अवगल्भते इत्यात्मनेपदमायाहः । किप्सन्नियोगे  
नेति ॥ अन्त्यस्य अकारस्य अनुदात्तत्वमनुनासिकत्वञ्चान् प्रतिज्ञायते । ततश्च तस्य इत्स  
ज्ञाया लोपे अनुदात्तत्वादात्मनेपद लभ्यते । तदाह । तेन तङिति ॥ अवगल्भते इति ॥  
त्रिपि भस्मारादकारस्य लोपे हल्न्ताङ्गदादौ तन्नि शनिति भावः । ननु अवगल्भाच्चक्रे, क्लीना-  
च्चक्रे, हाडाच्चक्रे, इत्यत्र कथमाम् । अन्त्यस्य च इत्सज्ञालोपाभ्यामपहारेण धातूनामस्यत्वेन  
'कास्यनेकाच्' इत्यस्याग्रहणे । नच अवगल्भ इत्यस्य त्रिबन्तस्य धातोरेकाचकत्वमस्तीति  
वाच्यम् । 'उपसर्गसमानाकार पूर्वपद धातुमज्ञाप्रयोगेनैव प्रत्यये चिक्रापिते पृथक् क्रियतः' इत्य-  
नुपदमेव वक्ष्यमाणत्वादित्यत आह । भूतपूर्वादपि ॥ त्रिपुपने प्राक्तन्मनेकाच्यव भूत  
पूर्वगत्या आधिल्येति । भूतपूर्वगत्याश्रयेण प्रमाणमाह । एतद्वार्तिकेनेति ॥ 'मर्वप्रातिपदिके-  
भ्यः क्लिप्ता' इति वक्ष्यमाणवार्तिकदेव अवगल्भते अवगल्भे इत्यादि मिदौ पुनरेभ्यः क्लिप्त्रिधान  
तत्सन्नियोगेन अन्त्यवर्णस्य अनुदात्तत्वानुनासिकत्वप्रतिज्ञानार्थं सद्गतपूर्वगत्या अनेकाच्यवाश्रयण  
ज्ञापयतीत्यर्थः । नन्वनुदात्तत्वानुनासिकत्वप्रतिज्ञानस्यात्मनेपदसिद्धानुपसर्गान्तर-  
कतेत्याशङ्क्य निराकराति । न चावगल्भते इत्यादिसिद्धिस्तत्फलमिति ॥ कुत इत्यत  
आह । केवलानामिति ॥ अप्रत्ययविहितानान्धातुषाऽसिद्धानामनुदात्तेनामेव गल्भादिधा-  
तूनामवगल्भ इवाचरतीत्याद्यर्थेषु वृत्तिसम्भवान् । तच्च कुत इत्यत आह । धातूनामनेकार्थ-  
त्वादिति ॥ एवञ्च 'आचारेऽवगल्भ' इति क्लिप्त्रिधानमनुगन्धसम्भवार्थं सद्गतपूर्वगत्या अनेका-  
च्यवाश्रयण ज्ञापयतीति सिद्धम् । नच 'मर्वप्रातिपदिकेभ्यः' इति त्रिपि अवगल्भतीत्यादिवारणाय  
अनुपसर्गाम्भनमुपशीर्णमिति कथन्तस्य उच्चापसर्गोति वाच्यम् । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः' इति  
वार्तिकेन त्रिपि तथा प्रयोगे दृष्टापत्तेः । भूतपूर्वाश्रयणपरमाप्यप्रामाण्येन 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः' इति  
वार्तिकस्य अवगल्भादिभ्यः अप्रवृत्तिविज्ञानाद्वेन्यास्तान्तावन् । 'आचारेऽवगल्भ' इत्यत्र अवलस्य  
प्रयोजनमाह । अवेत्युपसर्गोति ॥ केवलादिति ॥ उपसर्गविहीनादवगल्भशब्दादित्यर्थः ।

तद् नेति तूचितम् । ‘सर्वप्रातिपदिकेभ्य चिञ्वा वक्तव्य ’ (वा १७२२) ।  
पूर्ववार्तिकं तु अनुबन्धासङ्गार्थं तत्र चिञ्चन्यते । प्रातिपदिकग्रहणादिह सुप-  
इति न सम्प्रध्यते । तेन पदकार्यं न । कृष्ण इमाचरति कृष्णाति । ‘अतो गुणे’  
(सू १९१) इति शपा सह पररूपम् । ज इवाचरति अति । अत । अन्ति ।  
प्रत्ययग्रहणमपनीय अनेकाच्च इत्युत्तेर्नाम् । औ । अतु. । उ । द्वित्वम् ।  
‘अतो गुणे’ (सू १९१) ‘अत आदे’ (सू २२४८) इति दीर्घं णल ।

उपसर्गान्तरेति ॥ प्रग-भानुग-भादिन-दादित्य । क्यटेनेति ॥ न तु क्वित्यर्थः । माध-  
वादय इत्यस्त्रसाद्भवम् । तद्भाष्यमाह । तद् नेति सूचितमिति ॥ केवलादुपसर्गान्तरविशि-  
ष्टाच्च गल्भशब्दान् अनन क्विभावोऽपि मवप्रातपदिनेभ्य ' इति वातिकेन क्विप् निर्वाधः ।  
परन्तु अवपूर्वत्व एवानुबन्धासन्नतादा मनेपदमेव तत्र नेति वक्तुमुचितमित्यर्थः । सर्वप्राति-  
पदिकेभ्यः इति ॥ आचार इति शयः । नन्वेनेनैव वातिकेन मिद्धे 'आचारेऽवगल्भ' इति  
वातिक व्यर्थमित्यत आह । पूर्ववातिकमुन्निवृत्तिरिति ॥ अन्यवर्णस्य इमहासिद्धयर्थमित्यर्थः ।  
तर्हि तत्र क्विग्रहण व्यर्थमित्यत आह । तत्र क्विनूयते इति ॥ तन्मनियोगेनानुबन्धा-  
सन्नार्थमित्यर्थः । पदकार्यं नेति ॥ राजानतात्वाद् नलोपादिकनेत्यर्थः । अन्यथा अन्तर्वति-  
विभक्त्या पदत्वानलोपादिक स्यादिति भावः । पररूपमिति ॥ कृष्णशब्दात् क्विबन्तात्प्रादा-  
शपि 'अतो गुणे' इति पररूपमित्यर्थः । कृष्णाश्रकारः । कृष्णिता । कृष्णिप्यति । कृष्णतु । अह-  
ष्णत् । कृष्णोत् । कृष्णायात् । अतो लोपापरत्वान् 'अकृन्सार्व' इति दीर्घः । विशेषविहि-  
तत्वादतो लोप इत्यन्ये । अ इवेति ॥ अ विष्णु । स इवेत्यर्थः । अर्त्तति ॥ शपा  
पररूपम् । अस्ति । अथ । अथ । आमि । आव । आम । क्विप्प्रत्ययान्तत्वादि  
'कास्प्रत्ययात्' इत्याम्प्रत्ययमाशङ्क्य आह । प्रत्ययग्रहणमपनीयेति ॥ औ । अतु ।  
उ । इति सिद्धरूपप्रदर्शनम् । तत्र प्रक्रियान्दर्शयति । द्वित्वमिति ॥ णलि 'द्विर्वच-  
नेऽचि' इति लोपस्य निषेध इति भावः । अतो गुणे इति ॥ द्वित्वे कृते अ अ अ  
इति स्थिते अन्तरङ्गत्वादतो लोप बाधित्वा पररूपमिति भावः । अत आदेरिति ॥ नच  
परत्वानित्यत्वादपवादत्वाच्च 'अतो गुणे' इत्यस्मात्प्राक् 'अत आदे' इत्यस्य प्रवृत्ति-  
रिति वाच्यम् । तस्य बहिरङ्गत्वात् । 'अत आदे' इत्यस्यापवादत्वेऽपि आनर्देश्यत्र-  
ह्लादिदेशपा प्रागेव परत्वात् 'अत आद' इत्यस्य चरितार्थत्वेन बाधस्त्वासम्भवात् । "अप-  
वादोऽपि यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते" इत्युक्ते इत्यन्यत्र विस्तरः । यद्यन्यत्र  
प्रक्रियाव्युत्पन्ने फलविशेषो नास्ति । तथापि न्याय्यत्वादेवमुक्तम् । णल औ इति ॥ पररूपे

१ 'अनेकाग्रहण तुलम्पाश्रयम्' इतिवन् एकाज्यावृत्त्यर्थम् इत्यनुत्तया प्रत्ययान्तैका-  
ज्योऽप्याम् भवत्येव-इति नागेसासिद्धान्तः ।

औ । वृद्धि । अतुसादिषु तु 'आतो लोप इटि च' (सू २३७२) इत्याहोप । मालेवाचरति मालाति । लिङ्गविशिष्टपरिभाषयैकादेशस्य पूर्वान्तत्वाद्वा क्विप् । मालाश्चकार । लङि । अमालात् । अत्र हल्ङ-यादिलोपो न । डीप्साहचर्यादा-  
पोऽपि सोरेव लोपविधानात् । इट्सकौ । अमालासीत् । कविरिव कवयति ।  
आशीलिङि । कवीयात् । 'सिचि वृद्धि —' (सू २२९७) इत्यत्र 'धातो' ।  
इत्यनुवर्त्य धातुरेव यो धातुरिति व्याख्यानान्नामधातोर्न वृद्धिरिति कैयटादयः ।  
अकवयीत् । माधवस्तु नामधातोरपि वृद्धिमिच्छति । अकवायीत् । विरिव

दीष च आ अ इति स्थिते 'आत औ णल' इत्यौत्वमिति भावः । वृद्धिरिति ॥ आ औ  
इति स्थिते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धिरित्यर्थः । तथा च औ इति रूपं परिनिष्ठितम् । अतुसा  
दिष्विति ॥ अ अतुस, अ उस्, इति स्थिते द्वित्वे पररूपे 'अत आदे' इति दीर्घे आता  
लोप इत्यर्थः । अतु । उ । इति प्रत्ययमात्रं सिध्यन्ते । अलि इटि द्वित्वे दाधे आलोपे, इधः अधु ।  
अ । औ । इव । इम । वस्तुतस्तु 'कास्यनेकाग्रहणम्' इति वार्तिकस्याप्यावसरे प्रत्ययग्रहणम्  
पनीयेति भाष्ये नोक्तम् । कासेश्च प्रत्ययान्ताच्च आमिति लभ्यते । अत एव 'आचारेऽवगल्भम्'  
बहोदेभ्य' इति वार्तिकं अवगल्भाश्च इत्यादीं अन्त्यवर्णस्यानुबन्धत्वेन एकाचत्वेऽपि 'कासूप्रत्य  
यात्' इत्यामित्युक्तं भाष्ये इति शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् । इता । इष्यति । अतु-अतात् ।  
अताम् । अन्तु । अ-अतात् । अतम् । अत । आनि । आव । आम । आन् । आताम् ।  
आन् । आ । आतम् । आत । आम् । आव । आम । विधिलिङि एत् । एताम् । एयु ।  
ए । एतम् । एत । एयम् । एष । एम । आयात् । आयास्ताम् । आयासु । लुङि 'इट  
ईदि' इति सिञ्जलोपे 'आटश्च' इति वृद्धिं बाधित्वा परत्वादतो लोपे इटा सह आटो वृद्धौ  
ऐत्, ऐशाम्, ऐयु, इत्यादीति कश्चित् । आर्धधातुकोपदेशकाले एव परत्वादतो लोपे अत्रस्या  
भाषादाद् नेत्यन्ये । ईत् । ईस्ताम् । इत्यादि । ऐष्यत् । वस्तुतस्तु आकारान्तेभ्य आचारे क्विप्  
नास्त्येवेति विश्वपाशब्दनिरूपणे प्रपञ्चितम् । ननु मालाशब्दस्य टाप्प्रत्ययान्तत्वेन प्रातिपदि  
क्त्वाभावात्ततः क्व क्विवित्यत आह । लिङ्गविशिष्टेति ॥ टीप्साहचर्यादिति ॥  
इयन्ताश्चाचारक्विप्तात् गौरीशब्दान् लुङि अगौरयात् इत्यादीं तिस्रोऽयन्तापरत्वासम्भवात्  
तत्साहचर्यादावयन्तादपि न तयोर्लोप इत्यर्थः । कथयतीति ॥ शपि गुणयादेशो । कवी  
यादिति ॥ 'अकृत्सार्व' इति दाधं । लुङि अकवि ईत् इति स्थिते सिचि वृद्धिमाशङ्क्य  
आह । सिचि वृद्धिरित्यत्रेति ॥ सिचा धातोराक्षेपतो लोभेऽपि 'कृत इद्भातो' इत्यत  
स्तदनुवर्त्येधातुरेव यो धातुरिति लभ्यते इति भावः । कैयटादयः इति ॥ 'इको गुणवृद्धी'  
इति सूत्रे गोशब्दादाचारकपि अगवीदित्युपक्रम्य तयोक्तत्वादिति भावः । माध्वयस्त्विति ॥  
'सिचि वृद्धि' इत्यत 'कृत इद्भातो' इत्यतो धातुग्रहणानुवृत्तौ मानाभावेन धातुरेव यो  
धातुरित्युक्तार्थालाभादिति तदाराय । वस्तुतस्तु 'इको गुणवृद्धी' 'वदत्रपहलन्तस्याच'  
इत्यादिसूत्रस्थभाष्यं सिचि परत एजन्त नास्तीत्युक्तत्वादेजन्तेभ्य आचारक्विप् नास्त्येवेति

वयति । विवाय । विव्यतु । अवयीत्—अवायीत् । श्रीरिव श्रयति । शिश्नाय । शिश्रियतु । पितेव पितरति । आशिपि रिङ् । पित्रियान् । भूरिव भवति । अत्र ‘गातिस्था—’ (सू २२२३) इति ‘भुवो वुक्—’ (सू २१७४) इति ‘भवतेः—’ (सू २१८१) इति च न भवति । अभिव्यक्तत्वेन धातुपाठ-स्थस्यैव तन्न ग्रहणात् । अभावीत् । बुभाव । दुरिव द्रवति । ‘णिशि—’ (सू २३१२) इति चङ् न । अद्रावीत् ।

२६६६ । अनुनासिकस्य किङ्गलोः किङ्गति । (६-४-१५)

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घं स्यात्क्वौ झलादौ च किङ्गति । इवमिवाचरति इदामति । राजेव राजानति । पन्था इव पथीनति । मथीनति । रुभुक्षीणति । द्यौरिव देवतीति माधव । अत्र ऊठि द्यवतीत्युचितम् । क इव कति । ‘चकौ’ इति हरदत्त । माधयस्तु ‘प्यङ्गोपौ’ इति वचनाण्णलि

शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम् । घिरिचेति ॥ वि पक्षी स इवेत्यर्थः । अभिव्यक्तत्वेनेति ॥ अभावीदिति ॥ इह ‘गातिस्था’ इति मित्रो न लुक् । बुभावेति ॥ इह न वुक् । अभ्यासस्य अत्वच्च न । चङ् नेति ॥ ‘णिशि’ इति सूत्रे द्वग्रहणेन धातुपाठस्यैव ग्रहणादिति भावः । अनुनासिकस्य ॥ अङ्गस्येति धातुमनुनासिकेन विशेष्यते । तदन्तविधिः । ‘नोपधाया’ इत्यत उपधाया इति ‘द्वलेपे’ इत्यतो दीर्घ इति चानुवर्तते । तदाह । अनुनासिकान्तस्येत्यादिना ॥ इदामतीति ॥ ‘हलन्तेभ्य आचारकिप् नास्ति’ इति ‘ह्रस्वनद्याप’ इति सूत्रभाष्ये स्पष्टमिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । पथीनतीति ॥ पथिन्शब्दान् द्विपि अनुनासिकस्येति इकारस्य दीर्घः । इदन्तु मायवानुलोधेन । किञ्चभ्युपगमे त्रिपि पथेनतीत्येव युक्तम् । ‘इन्हन्’ इति नियमेन दार्ढ्याप्राप्ते । नच नियमस्य सजातत्वापेक्षत्वात् सुवानन्तर्य एवायनियमो नान्यत्रेति वान्यम् । तथा सति वृत्तप्र स्त्री वृत्तप्रायनापि अलोप बाधित्वा अन्तरङ्गत्वात् ‘अनुनासिकस्य’ इत्युपधादीर्घापत्तेरित्याहुः । देवतीतीति ॥ दिव्शब्दादाचारकि वन्तात् शपि लघूपधगुणः । ‘न क्ये’ इति नियमेन अपदान्तत्वात् ‘दिव उत्’ इत्युक्त्वेनेति भावः । अत्र ऊठीति ॥ दिव्शब्दात् द्विपि ‘न्टो’ इति वकारस्य ऊठि कृते लघूपधगुण बाधित्वा परत्वादिकारस्य यणि द्वाब्दात् शपि ऊकारस्य गुणे अवादेशे च द्यवतीति रूपमुचितमित्यर्थः । चकाधिति ॥ कशब्दात् द्विपि वन्तात् द्विपि द्वित्वे चुवे चक अ इति स्थिते ककारादकारस्य अतो लोपापरत्वाद्बद्धौ आकारे ‘आत औ णल्’ इत्यौन्वे वृद्धिरेकादेश इति भावः । माधवस्त्विति ॥ चरु अ इति स्थिते पूर्वविप्रतिषेध-वृद्धि बाधित्वा ककारादकारस्य अतो लोपे कृते णलोऽकारेण सह चक इति रूपमित्यर्थः । नचैव सति अ इवाचरति अति । औ । अनु इत्यत्रापि लिटि ‘अत आदे’ इति दीर्घ बाधित्वा अतो लोप स्यादिति वान्यम् । प्यङ्गोपाविति पूर्वविप्रतिषेधलभ्य ‘अतो लोप’ सन्निहितमेव ‘अङ्गत्सार्व’ इति दीर्घ बाधते । ‘ननु

वृद्धिं बाधित्वा अतो लोपान् चक इति रूपमाह । स्व इव सस्वौ । सस्व । यत्तु स्वामास । स्वाश्वकार इति । तदनाकरमेव ।

२६६७ । भृशादिभ्यो भुव्यच्चेर्लोपश्च हलः । (६-१-१२)

अभूततद्भावविषयेभ्यो भृशादिभ्यो भवत्यर्थे क्यङ् स्याद्वलन्तानामेपां लोपश्च । अभृशो भृशो भवति भृशायते । ‘अच्चेः’ इति पर्युदासबलान् ‘अभूततद्भावे’ इति लङ्घम् । तेनेह न । क्व दिवा भृशा भवन्ति । ये रात्रौ भृशा नक्षत्रादयस्ते दिवा क्व भवन्तीत्यर्थः । ‘सुमनम्’ अस्य सलोपः । सुमनायते । चुरादौ ‘संप्राम युद्धे’ इति पठ्यते । तत्र ‘संप्राम’ इति प्रातिपदिकम् । तस्मात् ‘तत्करोति—’ इति णिच् सिद्ध । तत्सन्नियोगेनानुबन्ध आसज्यते ।

अत आदे’ इति दीर्घमपि । ‘अनन्तरस्य’ इति न्यायादिति भाषवाशय इत्याहु । तदनाकर मेवेति ॥ अनेकाच्चाभावादिति भावः । वस्तुनस्तु प्रत्ययग्रहणमपनीयेत्यस्य भाष्ये अदर्शान् प्रत्ययान्तत्वादात्मबल्येवेति युक्तमेवेत्यनुपदमेवोक्तम् । भृशादिभ्यो ॥ भवन भू भावे णिप् । तदाह । भवत्यर्थे इति ॥ भवने इत्यर्थः । क्यङ् स्यादिति ॥ ‘कर्तुं क्यङ् सलोपश्च’ इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । हलन्तानामेपामिति ॥ भृशादिषु ये हलन्ताः तेषां सलोपः क्यङ् चेत्यर्थः । ‘ननु अभूततद्भावे’ इति कृतो लङ्घमित्यत आह । अच्चेरिति पर्युदासबलादिति ॥ अभूततद्भावग्रहणमिति वार्तिकमेनह्यर्थक्यनपरमिति भावः । ये रात्रौ भृशाः इति ॥ भृशादिषु हलन्तमुदाहरति । सुमनस् इति ॥ सुमनायते इति ॥ असुमना सुमना भवतीत्यर्थः । यद्यपि क्षियामित्यधिकारे ‘अप्सुमनस्तमासिक्तावर्णान्भृशत्वञ्च’ इति लिङ्गानुशासनसूत्रे सुमनश्शब्दस्य नित्य बहुवचन विहितम् । तथापि तद्देवादियर्थान्भृशविषयम् । सु शोभन मनो यस्येति सुमना इति बहुव्रीहिसौगिक इति भावः । सुमनायत इति क्यङि सलोपे ‘अहृत्सार्वे’ इति दीर्घः । ननु लङि मनश्शब्दात्प्रागटि ‘स्वमनायत’ इति वक्ष्यमाणमनुपपन्नम् । अङ्गस्य अङ्घ्रिधानात् सुमनश्शब्दस्य समस्तस्यैव लट् प्रत्यङ्गत्वान् । “प्रत्ययग्रहणे यस्मान् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्” इत्याशङ्क्य आह । चुरादौ संप्राम युद्धे इति पठ्यते इति ॥ ततश्च कचिन् सोपसर्गपाठबलादन्यस्मान् सोपसर्गादाचारविधि उपसर्गस्य न धातुसज्ञाप्रवेश इति विज्ञायने इत्यर्थः । ननु चुरादौ सङ्गामेति समस्तो धातुः, ननु सोपसर्गो ग्रामशब्दः । एवञ्चास्य प्रातिपदिकन्याभावान् सोपसर्गात् विधि उपसर्गस्य न धातुसज्ञाप्रवेश इत्यत्र कथमिदं नमकमित्यत आह । तत्र संप्राम इति प्रातिपदिकमिति ॥ ‘प्रसेराच’ इत्याणादिके मन्प्रत्यये निष्पन्नस्य ग्रामशब्दस्य ‘कृतद्धित’ इति प्रातिपदिनम् । अव्युत्पत्तिपक्षे ‘अर्थवदधातु’ इति प्रातिपदिनत्वमित्यर्थः । ननु चुरादावस्य पाठो धातुविना विहितचौरादिकणित्यर्थः । एवञ्च प्रातिपदिकत्वेन चुरादौ तस्य पाठो व्यर्थ इत्यत आह । तस्मादिति ॥ तस्मात्सङ्गाम इति



युद्धे योऽयं ग्रामशब्दः इत्युक्तेऽपि सामर्थ्यात्संग्रामशब्दे लब्धे विशिष्टपाठो ज्ञापयति । ‘उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक् क्रियते’ इति । तेन मन, गच्छात्प्रागट् । स्वमनायत । उन्मनायते । उदमनायत । एवं च अवागल्भत अवागल्भिष्टेत्यादावप्यवेत्यस्य ग्रथकरणं बोध्यम् । ज्ञापकं च सजातीयविषयम् । तेन यत्रोपसर्गस्वरूपं सकलं श्रूयते न

प्रातिपदिकान् चारादिकणिसम्भवेऽपि ‘तत्करोति’ इत्यर्थे णिच मिद्ध इत्यर्थः । ननु ‘तत्करोति’ इत्यनेनैव सङ्ग्रामशब्दान् प्रातिपदिकणिगणित्वे निमित्तमिह चुरादीं तस्य पाठ इत्यत आह । तस्मिन्प्रयोगेनेति ॥ णिन्मन्त्रियोगेन अकारस्य इन्मन्त्रकस्य अनुदात्तत्वात्तस्य आमन्त्रणार्थ इत्यर्थः । नच मन्त्रादकारस्य इन्मन्त्रकत्वे अङोपस्य णिनिमित्तत्वाभावादमसङ्ग्रामत इत्यत्र ‘णौ चट्पुपधाया’ इत्युपधाहूस्व स्यादिति वाच्यम् । सङ्ग्रामेऽत्र हि न्यादिवाददन्तः । तस्मादकार, अनुन्मन्धवेनासज्यते इत्यर्थः । एवञ्च णौ अनो लोपे सति णावग्लोपित्वानोपधाहूस्व । कथादिन्व-लक्षणादन्तःकालाभार्थवात्य चुरादीं पाठ इति भावः । ननु चुरादीं सङ्ग्रामशब्दस्य ‘तत्करोति’ इति णिचि परे अस्त्वनुबन्धाम्ना । तथापि आचारकृपि उपसर्गस्य न धातुमज्ञाप्रवेश इत्यत्र कथमस्य ज्ञापकतेत्यत आह । युद्धे इति ॥ सामर्थ्यादिति ॥ ग्राम युद्धे इत्येतावन्तव सङ्ग्रामशब्दो लभ्यते । केवलस्य ग्रामशब्दस्य युद्धे प्रयोगाभावादित्यर्थः । विशिष्टपाठः इति । सङ्ग्रामशब्दपाठ इत्यर्थः । ज्ञाप्यमर्थमाह । समानाकारमिति ॥ सङ्ग्रामशब्दे युद्धवाचिनि समित्यस्य म्रियायोगाभावान् समानाकारमित्युक्तम् । धातुसंज्ञाप्रयोजके इति । त्रिवादाविति शेषः । पृथक् क्रियते इति ॥ तथाच न तस्य धातुसंज्ञाप्रवेश इत्यर्थः । तत्र किमित्यत आह । तेनेति ॥ सम् इत्यस्य धातुमज्ञाप्रवेशाभावेनेत्यर्थः । तथाच सुमनश्चान्दान् आचारकृपि विवक्षिते मनश्चब्दमानस्य धातुन्वात्ततो लटि - नश्चब्दस्यैवाङ्गत्वात्तत्र प्रागेव अद् । न तु सुमनम् इति समुदायान्प्रागित्यर्थः । एतेन सङ्ग्रामयन्तरेव सोपसर्गान् नान्य-स्मादित्यादि भाष्य ‘वृशादिभ्यः’ इति मूर्धस्थ व्याप्त्यातमिति बोध्यम् । उन्मनायते इति ॥ वृशादित्वान् न्यङि सलोपः । एवञ्चेति ॥ एवमुक्तरीत्या ‘आचारेऽवगन्त’ इति त्रिवा-धावपि अवित्यस्य पृथक्करणान् गल्भशब्दात्प्रागेव अद् इत्यर्थः । ननु आ ऊट ओट ‘कुगति’ इति ममास । अस्माद्भाषादित्वान् क्यटि आटायते इत्यादि रूपम् । अप्रापि आटो धातुसंज्ञाप्रवेशो न स्यात् । तत्र यद्यपि लटि ऊटशब्दाद्वा आटो वा प्राक् आटि न रूपे विशेषः । उभयथापि आटायते येव रूपं मिद्धमेव । तथापि ओटायति क्यटन्तान् चाप्रत्यये अतो लोपे ओटाधिक्ये ये-वेत्यते । अत्र क्यटि चिकीर्षिते उक्तरीत्या पृथक्करणस्य आह ‘कुगतिप्रादयः’ इति चाप्रत्य-यान्तेन समाने सति ‘ममामेऽनञ्पूर्वे षो ल्यप्’ इति ल्यप् स्यादित्यत आह । ज्ञापकञ्च सजातीयविषयमिति ॥ तदेवोपपादयति । तेनेति ॥ चुरादीं ‘सङ्ग्राम युद्धे’ इति सम्ग्रहणस्य उक्तार्थे पृथक्करणे ज्ञापकस्य सजातीयविषयकत्वाश्रयणेन यत्र उपसर्गस्वरूपं अविकृतं श्रूयते नन्वेकादेशोनापहतं तत्रैव उपसर्गस्य पृथक्कृतिरिति विज्ञायते इत्यर्थः । सङ्ग्रामे सम्ग्रह-

त्वादेशेनापहृतं तत्रैव पृथक्कृतिः । एवं च 'आ ऊढः ओढः' स इवाचर्य ओढायित्वा । अत्र 'उन्मनाप्य, अवगल्भ्य' इतिवन्न ल्यप् । ज्ञापकस्य विशेषविषयत्वे पाष्ठवार्तिकं तद्भाष्यं च प्रमाणम् । तथाहि । 'उस्योमाङ्क्ष्वाटः प्रतिषेधः' (३६३६) । उस्योमाङोश्च परयोराटः पररूपं नेत्यर्थः । उस्त्रामैच्छत् औम्नीयत् । औङ्कारीयत् । औढीयत् । 'आटश्च' (सू २६९) इति चशब्देन पुनर्वृद्धिविधानादिदं सिद्धमिति पाष्ठे स्थितम् ।

णस्य ज्ञापकस्य एवविधत्वादिति भावः । ततः किमिल्यत आह । एवञ्चेति ॥ ओढायित्येति ॥ ओटशब्दात् शृशादित्वात् क्यटि ओढायेत्यस्मात् क्यङन्तात् ज्ञाप्रत्यये अतो लोपे रूपम् । अत्रेति ॥ अत्र न त्यबिल्यन्वयः । क्यङि विवक्षिते आड एकादेशेनापहृतत्वेन पृथक्करणाभावे सति तस्य आड. ज्ञाप्रत्ययान्तेन समासाभावात् त्वविति भावः । उन्मनाप्य, अवगल्भ्यवदिति व्यतिरेकदृष्टान्तः । उन्मनसुशब्दात् शृशादित्वादाचारे क्यङि सकारलोपे 'अकृत्सार्व' इति दीर्घे उन्मनायेत्यस्मात् क्त्वा ल्यपि अतो लोपे उन्मनाप्येति रूपम् । अवगल्भशब्दात् आचारेऽवगल्भेति क्तिबन्तात् क्त्वा ल्यपि रूपम् । अत्र उदित्यस्य अवेल्यस्य च उपसर्गस्वरूपस्य अनपहृतत्वेन क्यङि क्विपि च विवक्षिते पृथक्कृततया तयोः ज्ञान्तेन समासे सति ल्यबुचितः । इह तु ओढायित्वेत्यत्र न तथेति व्यतिरेकदृष्टान्तोऽयम् । ज्ञापकस्य सजातीयत्वे प्रमाणं दर्शयति । ज्ञापकस्येति ॥ पाष्ठ वार्तिकं दर्शयति । उस्योमाङ्क्षिति ॥ उसि ओम् आङ् एषान्द्वन्द्वः । षष्ठस्य प्रथमे पादे 'ओमाङोश्च' इति सूत्रे इदं वार्तिकं पठितम् । तत्राचष्टे । उस्योमाङोश्च परयोरिति ॥ 'एङि पररूपम्' इत्यतः पररूपग्रहणानुवृत्तिं मत्वा आह । पररूपं नेति ॥ उसि तावदुदाहरति । औम्नीयदिति ॥ उस्त्रामात्मन ऐच्छदित्यर्थे 'सुप आत्मनः' इति क्यजन्ताङ्ङि उस्त्रायशब्दादङ्गात्प्रागाटि कृते 'उस्यपदान्तात्' इति पररूपं प्राप्तमनेन निषिध्यते । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा त्वनित्या । अस्मादेव भाष्योदाहरणात् । अन्यथा भिन्गुरित्यादौ पररूपं न स्यात् । आगमसहितस्य युस एवार्थवत्त्वादिति भावः । ओमि परतः उदाहरति । औङ्कारीयदिति ॥ ओङ्कारशब्दात् क्यजन्ताङ्ङि अङ्गस्य आटि कृते 'ओमाङोश्च' इति पररूपं प्राप्तमनेन निषिध्यते । आङि उदाहरति । औढीयदिति ॥ आ ऊढः ओटः तस्मात् क्यजन्ताङ्ङि अङ्गस्य ओटशब्दस्य आटि कृते 'ओमाङोश्च' इति पररूपं प्राप्तमनेन निषिध्यते । उदाहरणत्रयमिदं भाष्ये स्थितम् । तत्र यदि उपसर्गस्वरूपस्य एकादेशेनापहारेऽपि क्यञि पृथक् स्यात् तर्हि क्यञि विवक्षिते आड. पृथक्कृता सत्या धातुबहिर्भावाद्दशशब्दात् प्रागाड परत्र आटि सति पररूपस्याप्रसक्तोराडि पररूपप्रतिषेधो व्यर्थः स्यात् । तथाच उक्तज्ञापकस्य सजातीयविषयत्वे तु अत्र आड एकादेशेनापहारात् पृथक्करणाभावादोटाशब्दात् प्रागाङ्गमे सति आङि पररूपप्राप्तेस्तन्निषेधोऽर्थवान् भवति । अतो ज्ञापकस्य सजातीयविषयत्वे 'उस्योमाङ्क्षु' इत्याङ्गद्वन्द्वम् औटौक्यदिति तदुदाहरणपरिभाष्यम् अत्र प्रमाणमिति भावः । ज्ञापकस्य सजातीयविषयत्वे प्रमाणान्तरमाह । आटश्चेति चशब्देनेति ॥ 'आटश्च' इति चकार पुनर्वृद्धिविधानार्थः । तथाच आटोऽपि वृद्धिरेव

२६६८ । लोहितादिडाज्भ्यः क्यप् । (३-१-१३)

लोहितादिभ्यो डाजन्ताश्च भवत्यर्थे क्यप् स्यान् ।

२६६९ । वा क्यषः । (१-३-९०)

क्यपन्तात्परस्मैपदं वा स्यान् । लोहितायति-लोहितायते । अत्र 'अच्चेः' इत्यनुवृत्त्या अभूततद्भावविषयत्वं लब्धम् । तच्च लोहितशब्दस्यैव विशेषणम् । न तु डाचोऽसम्भवान् । नाप्यादिशब्दग्राह्याणाम् । तस्य प्रत्याख्यानात् । तथाच वार्तिकं—'लोहितडाज्भ्यः क्यप्चचनं, भृशादिष्वितराणि' (वा १७२९-३०) इति । न चैवं काम्यच इव क्यपोऽपि ककारः श्रूयेत । उच्चारणसामर्थ्यादिति वाच्यम् । तस्यापि भाष्ये प्रत्याख्यानात् । पटपटायति-पटपटायते । कृभ्वस्तियोगं विनापीह डाच् । डाजन्तात्क्यपो विधानसामर्थ्यान् । यत्तु—

लोहितश्यामदुःस्नानि हर्षगर्वसुरानि च ।

मूर्छानिद्राकृपाधूमाः करुणा नित्यचर्मणी ॥

यथा स्यात् नान्यत्पररूपमिति लभ्यते इत्यपि पष्ठाध्याये 'ओमाटोश्च' इति सूत्रे 'आटश्च' इति सूत्रे च भाष्ये स्थितामित्यर्थः । एवञ्च एतद्वार्तिकप्रत्याख्यानपरस्मैपदकारस्तद्भाष्यभाजं ज्ञापकमित्युक्तमभवति । लोहितादि ॥ भवत्यर्थे इति ॥ 'भृशादिभ्यो भुवि' इत्यतः भुवि इति अनुवृत्तेरिति भावः । वा क्यषः ॥ परस्मैपदमिति ॥ 'शेषात्कर्त्तरि' इत्यतः स्तदनुवृत्तेरिति भावः । लोहितायतीति ॥ अलोहितो लोहितो भवतीत्यर्थः । अत्रेति ॥ 'लोहितादि' इति सूत्रे इत्यर्थः । तथेति ॥ अभूततद्भावविषयत्वमित्यर्थः । असम्भवादिति ॥ अव्यक्तानुकरणात् डाचो विहितत्वेन तस्य अभूततद्भावविषयत्वे अनुकरणस्य भङ्गापत्तेरिति भावः । नाप्यादिशब्दग्राह्याणामिति ॥ श्यामादिशब्दशानामिति शेषः । तस्येति ॥ आदिग्रहणस्येत्यर्थः । आदिग्रहणप्रत्याख्याने प्रमाणं दर्शयति । तथाचेति ॥ आदिग्रहणमपनीय लोहितशब्दान् डाजन्तेभ्यश्च क्यप्चचनं कर्तव्यम् । इतराणि लोहितादिगणपठितानि श्यामादीनि प्रातिपदिकानि भृशादिष्वेव पठनीयानित्यर्थः । एवञ्च श्यामादिशब्देभ्यः क्यप्चचनं नान्यत्पररूपमेवेति फलितम् । तस्यापीति ॥ आदिग्रहणस्येव म्यपः ककारस्यापि भाष्ये प्रत्याख्यातत्वादित्यर्थः । पटपटायतीति ॥ अव्यक्तानुकरणात् व्यञ्जवरादादनिर्ता डाजिति पटच्छब्दात् डाचि विवक्षिते सति 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' इति द्वित्वे 'निलमात्रेडिते डाचि' इति पूर्वखण्डान्तस्य तकारस्य उत्तरखण्डादेः पकारस्य च पररूपे एकस्मिन् पकारे द्वित्वात्रिलोपे पटपटाशब्दात् डाजन्तात् क्यपि तदन्ताद्डाजतीति भावः । 'अभूततद्भावे' इति तु नात्र सम्बध्यते इत्युक्तम् । नह्यपटच्छब्दः पटच्छब्दो भवतीति युज्यते । ननु कृभ्वस्तियोगाभावादिह कथं डाजित्यत आह । कृभ्वस्तियोगं विनापीति ॥ भवार्थसत्तामात्रेणेत्यर्थः । कुन्

इति पठित्वा श्यामादिभ्योऽपि क्यपि पदद्वयमुदाहरन्ति । तद्भाष्यवार्तिक-  
कविरुद्धम् । तस्मात्तेभ्यः क्यडेव । श्यामायते । दुःखादयो वृत्तिविषये तद्वति  
वर्तन्ते । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया लोहिनीशब्दादपि क्यप् । लोहिनीयति-  
लोहिनीयते ।

### २६७० । कष्टाय क्रमणे । (३-१-१४)

चतुर्थ्यन्तात्कष्टशब्दादुत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात् । कष्टाय क्रमते कष्टायते ।  
पापं कर्तुमुत्सहते इत्यर्थः । 'सत्रकक्षकष्टकृच्छ्रगहनेभ्यः कण्वचिकीर्षायामिति  
वक्तव्यम्' (१७६१) । कण्वं पापम् । सत्रादयो वृत्तिविषये पापार्थाः ।  
तेभ्यो द्वितीयान्तेभ्यश्चिकीर्षायां क्यङ् । पापं चीकिर्षतीत्यस्वपदविग्रहः  
सत्रायते । कक्षायते इत्यादि ।

### २६७१ । कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः । (३-१-१५)

इत्यत आह । जाजन्तादिति ॥ तद्भाष्येति ॥ 'भृशादिष्वितराणि' इत्युक्तवार्तिकं तद्भाष्य-  
विरुद्धमित्यर्थः । तस्मादिति ॥ उक्तवार्तिकभाष्यविरोधान् तेभ्यः श्यामादिभ्यः भृशादित्वलक्षण  
क्यडेव ननु क्यपित्यर्थः । ततश्च 'वाक्यष' इत्यम्याप्रवृत्ते हिक्त्वादात्मनेपदमेवेति मत्वा आह । श्या-  
मायते इति । श्यामो भवतीत्यर्थः । ननु देवदत्तस्सुखायते इति कथं । देवदत्तस्य सुखत्वाभावादित्यत  
आह । सुखादयः इति ॥ श्यामादिषु मे सुखदुःखादिशब्दा गुणवचनाः ते सुखादिगुणवति वर्तन्ते  
इत्यर्थः । एवम् सुखायते इत्यत्र सुखवान् भवतीत्यर्थः । एव दुःखायते इत्यादावपि । ननु  
लोहितशब्दाद्विहित क्यप् कथं लोहिनीशब्दान् स्यादित्यत आह । लिङ्गविशिष्टेति ॥  
कष्टाय क्रमणे ॥ क्रमणशब्द विवृणोति । उत्साहे इति ॥ अस्वरितत्वाद् क्यपिति  
नानुवर्तते इति भावः । क्रियाधोपपदस्येति चतुर्थीति मत्वा आह । पापङ्कर्तुमिति ॥ क्रमते  
इत्यत्र 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रम' इति तट् । 'कण्वचिकीर्षायाम्' इत्यत्र कण्वपद व्याकृष्टे ।  
कण्वं पापमिति ॥ सत्रादिशब्दान् विवृणोति । सत्रादयः इति ॥ द्वितीयान्तेभ्यः  
इति ॥ चिकीर्षाया द्वितीयाप्यन्तस्यैवान्वययोग्यत्वादिति भावः । कण्वशब्दस्तु मत्तादिशब्दानां  
कण्वपरत्वे तान्पर्यग्राहकः । केचित्तु कण्वस्यभिक्तिकम् । कण्ववतिभ्य इति व्याचक्षते ।  
अस्वपदविग्रहः इति ॥ उक्तावेव सत्रादिशब्दानां पापवाचित्वादिति भावः । इदं कण्व-  
शब्दादन्यत्रैव । कष्टाय क्रमते इति तु स्वपदविग्रहोऽस्येव । भाष्ये एव विग्रहः प्रदर्श्य  
सत्तादिषु विग्रहाप्रदर्शनादित्याहुः । कर्मणो रोमन्थ ॥ रतुघातोऽप्यन्तान् 'घान्धर्धनिर्देशो  
इव' इति शक्तिं वतिशब्दः । आवर्तनमर्थः । चरेस्सम्पदादित्वाद्भावे क्विप् । वानं चर  
अनयोर्द्वन्द्वान्तरसमी । आवर्तने चरणे चेति लभ्यते । कर्मशब्देन कर्मकारकं विवक्षितम् ।  
द्वित्रे एववचनम् । तथाच कर्मकारकवृत्तिभ्यां रोमन्थतपशब्दानि लभ्यते । यथा

रोमन्थतपोभ्या कर्मभ्या क्रमेण वर्तनाया चरणे चार्थे क्यङ् स्यात् । रोमन्थं वर्तयति रोमन्थायते । ‘हनुचलने इति उक्तव्यम्’ (वा १७६२) । चर्चितस्याकृष्य पुनश्चर्वणमित्यर्थः । नेह । कीटो रोमन्थं वर्तयति । अपान-प्रदेशान्निस्तृतं द्रव्यमिह रोमन्थः । तदभ्रातीत्यर्थः इति कैयटः । वर्तुळं करो-तीत्यर्थः इति न्यासकारहरदत्तौ । ‘तपस परस्मैपदं च’ (वा १७६६) । तपश्चरति तपस्यति ।

### २६७२ । वाष्पोष्मभ्यामुद्गमने । (३-१-१६)

आभ्या कर्मभ्या क्यङ् स्यान् । वास्पमुद्गमति वाष्पायते । ऊष्मायते । ‘फेनाद्येति वान्यम्’ (वा १७६४) । फेनायते ।

### २६७३ । शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेधेभ्यः करणे । ३-१-१७)

एभ्य कर्मभ्य करोत्यर्थे क्यङ् स्यात् । शब्दं करोति शब्दायते । पक्षे ‘तत्करोति-’ इति णिजपीड्यत इति न्यासः । शब्दयति । ‘सुदिनदुर्दिननी-हारेभ्यश्च’ (वा १७३६-३७) । सुदिनायते ।

सङ्ख्यमन्वयः । तदाह । रोमन्थतपोभ्यामिति ॥ रोमन्थमिति ॥ उद्ग्रीर्णस्य निर्ग्रीर्ण-स्य वा मन्थो रोमन्थ इति भाष्यम् । उद्ग्रीर्णस्य उदरादुपरि स्पृष्टद्वारा निर्गतस्य निर्ग्रीर्णस्य अपानद्वारा निर्गतस्य च मन्थं चर्वणं रोमन्थ इत्यर्थः । वर्तयतीति ॥ आवर्तयत इत्यर्थः । हनुचलने इति ॥ हनु ताड्य तच्चलनं सत्येव अयं विधिरित्यर्थः । तथाच उदरगतभक्षितं द्रव्यन्तृणादिकं पुनः पुनराकृष्य ताड्यचलनेन चूर्णितस्य पुनः पुनः प्राशने रोमन्थशब्दात् क्यङिति फलितम् । तदाह । चर्चितस्येति ॥ हनुचलनेन भक्षितस्य उदरं प्रविष्टस्य पुनः पुनराकृष्य हनुचलनेन भक्षणं गम्य इति फलितमित्यर्थः । कीटः इति ॥ इह हनुचलनाभावान्न क्यङिति भावः । तदेवापपादयति । अपानेति ॥ ‘तपस परस्मैपदश्च’ इति वार्तिकम् । तपश्चरति कर्मकारकप्रति । पूर्वसूत्राचरणे क्यङ् लभते । त्विच्छप्रयुक्तमात्मनेपदं बाधित्वा परस्मैपदमेव लभते इत्यर्थः । तपस्यतीति ॥ प्रातिपदिकादेवास्य क्यङुत्पत्तेरन्तर्वातिविमत्तयभावात् ‘न क्ये’ इति नियमाच्च पदत्वाभावात् इत्वमिति भावः । वाष्पोष्मभ्यामुद्गमने ॥ आभ्याङ्कर्मभ्यामिति ॥ ‘कर्मणो रोमन्थ’ इत्यतः कर्मप्रवृत्तं मनुवर्तत इति भवः । कर्मकारकप्रतिभ्यामित्यर्थः । फेनायते इति ॥ फेनमुद्गमतीत्यर्थः । शब्दवैरः ॥ ऋणक्रिया । तदाह । करोत्यर्थे इति ॥ तत् करोतीति णिच्चेऽपवादः । पक्षे इति ॥ वदादिदित्यर्थः । न्यासः इति ॥ भाष्यानाहटत्वमत्र अक्षविचाजम् । “सुदिन

२६७४ । सुखादिभ्यः कर्तृवेदनायाम् । (३-१-१८)

एभ्यः कर्मभ्यो वेदनायानर्थे क्यङ् न्याद्वेदनाकर्तुर्गेव चेतुग्रादी-  
नि स्युः । सुखं वेदयते मुगायते । 'कर्तृग्रहणम्' जिम् । परम्य सुखं वेदयते ।

२६७५ । नमोवरिवश्चित्तः क्यच् । (३-१-१९)

'करणे इत्यनुवृत्तेः क्रियाविशेषे पूजायां परिचर्यायानाश्रये च । नम-  
स्यति देवान् । पूजयतीत्यर्थः । वरिवस्यति गुरुन् । शुकृपते इत्यर्थः । चित्रापते ।  
विम्मयते इत्यर्थः । विस्मापयते इत्यन्ये ।

२६७६ । पुच्छभाण्डर्चावगाणिङ् । (३-१-२०)

'पुच्छादुदमने व्यमने परमने च' । (वा १७४६) । विविधं विस्मृष्टं बोत्सेपणं  
व्यमनम् । उत्पुच्छयते । विपुच्छयते । परिपुच्छयते । 'भाण्डात्मनाचयने' (वा  
१७४४) । संभाण्डयते । भाण्डानि मनाचिनोति । रागीकरोतीत्यर्थः । नम-  
ज्भाण्डत । 'चीवराशार्जने परिधाने च' (वा १७४५) । मञ्जीवरयते भिद्युः ।  
चीवराण्यर्जयति, परिधत्ते वेत्यर्थः ।

हुदिनं' इति वार्तिकम् । करोत्यर्थे क्यङिति दोषः । सुखादिभ्यः ॥ कर्तृ इति पृथक्पद एव  
पठारम् । 'कर्मणो रोमन्य' इत्यतः कर्मग्रहणानुगमि मन्वा आह । एभ्यः कर्मभ्यः इति ॥  
वेदनायामिति ॥ शाने इत्यर्थः । कर्तृन् च वेदना प्रत्येव निवक्षितम् । उपस्थितत्वात् प्रति  
पदोच्चा पठा । वेदनाकर्तृवर्तितन्यमुगादिशब्देभ्य इति लभ्यते । पलितमाह । वेदनाकर्तु-  
रेव चेदिति ॥ सुखं वेदयते इति ॥ जनानीत्यर्थः । 'विद वेदनायाम्' इति वुरादी ।  
नमो वरिचम् ॥ नमन् वरिवन् विवद् एषा मनाहारद्वन्द्वापदना । अमनेपदार्थे द्विर-  
शब्दो द्विभिदिष्टः । 'श-ईवर' इत्यतः करणे इत्यनुवर्तने । करण क्रिया । मा च पूजापरि-  
चर्याश्च-र्त्तिका विरक्षिता । नमस् पूजयाम् । वरिवन् परिचर्यायाम् । चित्त आश्रये ।  
इति वार्तिकः । तदाह । करणे इत्यनुवृत्तेरित्यादिना ॥ नमस्यति देवानिति ॥  
कार्यविमर्शेर्वायम्बात् द्वितीया । परिचर्यां शुकृपति मन्वा आह । शुकृपते इत्यर्थः इति ।  
आश्रयशब्दो विम्मयवाचाति मन्वा आह । विम्मयते इत्यर्थः इति ॥ विस्मापयते  
इत्यन्ये इति ॥ आश्रयशब्दो विस्मापनपर इति भावः । नमश्चिनीयमानाणामिति मन्त्रः ।  
असौ नायकस्य विम्मयमुगादयत्रित्यर्थः । पुच्छभाण्ड ॥ 'पुच्छादुदमने' इति वार्तिकम् ।  
उत्पुच्छयते इति ॥ विविध विस्मृष्ट वा पुच्छनुक्षिपत्यर्थः । 'भाण्डात् मनाचयने'  
इत्यपि वार्तिकम् । ममवभाण्डतेति ॥ उपमर्गयमानाकार पूर्वपद घातवत्प्रसोजके प्रत्यये  
विवर्तिने पृथक्प्रत्यये अनुक्त्वात् समान्प्रत्ययात् क्यङिति । नाण्डशब्दात् प्रत्येव इति भावः ।

## २६७७ । मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् । (३-१-२१)

कृत्र्ये । मुण्ड करोति मुण्डयति । 'व्रताद्भोजनतन्निवृत्त्यो' (वा ५०६०) । पयः शूद्राज्ज वा व्रतयति । 'बस्त्रात्समान्छादने' (वा ५०६१) । संवस्त्रयति । 'हस्त्यादिभ्यो ग्रहणे' (वा ५०६२) । 'हलिकल्योरदन्तत्वं च निपात्यते' (वा १७४७) । हलि कलि वा गृह्णाति हलयति कलयति । महद्धल हलि । परत्वाद्वृद्धौ सत्यामपीष्टवद्भावेऽग्रेव लुप्यते । अतः सन्वद्भाव-दीर्घो न । अजहलत् । अचकलन् । कृत गृह्णाति कृतयति । तूस्तानि विहन्ति वितूस्तयति । तूस्त केशा इत्येके । जटीभूता. केशा इत्यन्ये । पापमित्यपरे । मुण्डादयः 'सत्यापपाश—' (सू २५६३) इत्यत्रैव पठितुं युक्ता । 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे—' इत्येव सिद्धे केषांचिद्रूढं सापेक्षेभ्योऽपि णिज-

एवमुत्पुण्डयते इत्यादावपि । 'चीबरादार्जने' इत्यपि वातिकम् । मुण्डमिश्र ॥ कृत्र्ये इति शेषपूरणम् । 'शब्दवैर' इत्यत करणे इत्यनुवृत्तेरिति भावः । 'व्रताद्भोजने' इति वाति-कम् । पयः शूद्राज्ज वा व्रतयतीति ॥ पयो भुङ्क्ते, शूद्राज्ज वर्जयतीत्यर्थः । 'बस्त्रात्समा-न्छादने' इत्यपि वातिकम् । भाष्ये तु न दृश्यते । संवस्त्रयतीति ॥ वस्त्रेण सम्यगान्छा-दयतीत्यर्थः । वस्त्रम्परिधत्ते इति वा । 'हस्त्यादिभ्यो ग्रहणे' इति वातिकम् । भाष्ये तु न दृश्यते । हलिकल्योरिति ॥ हलिकली इदन्ता । हलकलशब्दावदन्ता इदन्ता च । यावि-दन्ता तयोरत्त्वनिपात्यते इति भाष्ये स्पष्टम् । हलयति कलयतीति ॥ हलिकलिभ्या णा इकारस्य अकारे इष्टवत्त्वेन टेलपि हलि कलि इति प्यन्ताभ्या लडादीति भावः । महद्धलं हलिरिति ॥ अत्र वृद्धप्रयोगः अन्वेषणीयः । नन्वनयोरिकारान्तयोरदन्तत्वनिपातन ध्वयम् । इकारस्य णाविष्टवत्त्वाच्चेपि हलयति कलयतीति सिद्धे । नच अजहलत् अचकलत् इत्यत्र मन्वत्त्वाप्रवृत्तये अग्लोपित्वात् तयोरदन्तत्वमिति वाच्यम् । इकारलोपेऽप्यग्लोपित्वसिद्धे इत्यत आह । परत्वादिति ॥ इकारस्य णा इष्टवत्त्वे टिलोपात् प्रागेव परत्वात् 'अचो ङ्गिति' इति वृद्धा कृताया ऐकारस्य इष्टवत्त्वात् टिलोपे अग्लोपित्व न स्यात् । इकारयोरत्त्वे तु अकारस्य टिलोपात् प्राक् परत्वाद्वृद्धौ सत्यामप्याकार एव इष्टवत्त्वाल्लुप्यते इत्यर्थः । अतः इति ॥ अग्लोपित्वात् सन्वत्त्व 'दीर्घो लघो' इति दीर्घत्व नेत्यर्थः । कृतं गृह्णातीति ॥ उपकार स्वाकरोतीत्यर्थः । पठितुं युक्ताः इति ॥ लघवादेकसूत्रत्वं युष्मिल्यर्थः । के-पाञ्चिदिति ॥ मुण्डादीनामित्यर्थः । सापेक्षेभ्योऽपीति ॥ अन्यथा णिजन्तस्यास्य सना-द्यन्तवृत्तित्वाद्विशेषणसापेक्षत्वे मुण्डादिभ्यो णिज् भवेत् । सविशेषणानां वृत्तिनिषेधान् । इह मुण्डादीनां पुनर्ग्रहणे तु तत्सामर्थ्यात् सापेक्षेभ्योऽपि मुण्डादिभ्यो णिच् सिद्ध्यतीत्यर्थः । स्प-ष्टघेद 'सुप आत्मन' इत्यत्र भाष्यकैयटयोः । मुण्डयति माणवकमिति ॥ अतः माणवक

र्थम् । मुण्डयति माणवकम् । मिश्रयत्यन्नम् । ऋक्षयति वस्त्रम् । लवणयति  
 व्यञ्जनमिति । हलिकत्योरदन्तत्वार्थम् । सत्यस्यापुगर्थम् । केपांचित्तु प्रपञ्चा-  
 र्थम् । सत्यं करोत्याचष्टे वा सत्यापयति । ‘अर्थवेदयोरप्यापुग्वक्तव्यः’  
 (वा १७५८) । अर्थापयति । वेदापयति । पाशं विमुञ्चति विपाशयति ।  
 रूपं पश्यति रूपयति । वीणयोपगायत्युपनीयति । तूलेनानुकुण्णात्यनु-  
 तूलयति । तृणान्नं तूलेनानुचट्टयतीत्यर्थः । श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति ।  
 सेनयाभियाति अभिषेणयति । ‘उपसर्गास्तुनोति—’ (सू २२७०) इति षः ।  
 अभ्यषेणयत् । ‘प्राक्सितात्—’ (सू २२७६) इति षः । अभिपिषेणयिपति ।  
 ‘स्थादिष्वभ्यासेन च—’ (२२७७) इति षः । लोमान्यनुमाष्टि अनुलोमयति ।  
 ‘त्वचं संवरणे’ षः । त्वचं गृह्णाति त्वचयति । चर्मणा संनहति सञ्च-  
 र्मयति । वर्णं गृह्णाति वर्णयति । चूर्णैरवध्वंसते अवचूर्णयति । इष्टवदित्यति-  
 देशात्पुंवद्भावादयः । एनीमाचष्टे एतयति । दरदमाचष्टे दारदयति ।

मुण्डहरोतीत्यर्थे मुण्डशब्दस्य माणवकसापेक्षत्वेऽपि णिजिति भावः । यदा तु प्रकरणादिना  
 माणवकत्वादिविशेषणं ज्ञाप्यते तदैव मुण्डयतीति णिजिति भावः । ‘मुप आत्मनः’ इति  
 सूत्रभाष्ये तु मुण्डय माणवकमित्यत्र गमकत्वाण्विच् । महान्तं पुनर्मिच्छतीत्यादीं तु  
 अगमकत्वात् न क्यजित्युक्तम् । तदा प्रपञ्चार्थमेव मुण्डादिग्रहणमिति शब्देन्दुशेखरे स्थि-  
 तम् । ऋक्षयति वस्त्रमिति ॥ निर्मलं करोतीत्यर्थः । लवणयति व्यञ्जनमिति ॥  
 लवणयुक्तं करोतीत्यर्थः । हलिकत्योरिति ॥ एवञ्च ताभ्यां सापेक्षाभ्यां न णिच् ।  
 तद्वहणस्य अदन्तत्वनिपातने चरितार्थत्वादिति भावः । ननु सत्यशब्दात् तत्करोति इत्या-  
 दिनैव णिच्सिद्धे, ‘सत्याप’ इति सूत्रे सत्यग्रहणं व्यर्थमित्यत आह । सत्यस्यापुग-  
 र्थमिति । केपाञ्चिदिति ॥ पाशादीनामित्यर्थः । सत्यापयतीति ॥ आपुनविधि-  
 सान्निध्यात्तु टिलोपः । पाशं विमुञ्चतीत्यादीं ‘प्रातिपदिकाद्वात्वर्थे’ इति णिच् । अभिपि-  
 षेणयिपतीति ॥ अभिषेणि इति ष्यन्तात्सनि रूपम् । ननु त्वचङ्गृह्णाति त्वचयतीति कथम् ।  
 त्वच्छब्दाच्चकारान्ताण्वि टिलोपे त्वचयतीत्यापत्तेरित्यत आह । त्वचेति ॥ ‘त्वचं संवरणे’  
 इत्यस्मान् ‘पुमि सज्ञाया घ. प्रायेण’ इति घप्रत्यय इत्यर्थः । पुंवद्भावादयः इति ॥ आदि-  
 ना रमावटिलोपादिग्रहणम् । एतयतीति ॥ ‘मस्याडे’ इति पुवत्त्वस्य इष्टनि प्रहतेः  
 णावपि तस्यातिदेशान् ‘वर्णादनुदात्तान्’ इति स्त्रीप्रत्ययस्य तत्सन्निधौगशिष्टनत्वस्य च निवृत्त्या  
 एतद्वन्दे तकारादकारस्य टिलोप इति भावः । नन्वेनांशब्दाणां टिलोपेन स्त्रीप्रत्ययनिवृत्त्या  
 तन्मन्निधौगशिष्टनत्वस्यापि निवृत्त्या एतयतीति सिद्धयतीत्यस्वरसम्बन्धान् पुवद्भावे उदाहरणान्तर-  
 माह । दरदमिति ॥ दरदिति कश्चिद्भावा, तस्यापत्यं दारदः ‘द्यञ्मगध’ इत्यण् । रूपप-  
 त्ये तु दरदोऽपत्यं स्त्री दरद ‘अतश्च’ इत्यणो लुक् । तामाचष्टे इत्यर्थे दरच्छब्दाग्नौ इष्टव-



पृथुं प्रथयति । वृद्धौ सत्यां पूर्वं वा टिलोपः । अपिप्रथत्-अपप्रथत् ।  
 मृदुं म्रदयति । अमम्रदत् । भृशं कृशं दृढं भ्रशयति क्रशयति द्रढयति ।  
 अवभ्रशत् अचक्रशत् अदद्रदत् । परिब्रदयति । पर्यवब्रदत् । ऊढिमाख्यत् ।  
 औजिढत् । ढत्वादीनामसिद्धत्वात् हृतिशब्दस्य द्वित्वम् । 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे'  
 इति त्वनित्यमित्युक्तम् । 'दिशब्दस्य' द्वित्वमित्यन्ये । औजिढत्-औडिढत् ।  
 ऊढिमाख्यन् । औजिढत्-औडिढत् । 'ओ. पुयण्—' (सू २५७७) इति  
 वर्गप्रत्याहारजप्रहो लिङ्गं 'द्वित्वे कार्ये णावच आदेशो न' इति ऊनयता-

त्वाद् पुवत्त्वेन स्त्रियामित्यनुवृत्तौ 'अतश्च' इति स्त्रिया विहितस्य अण्प्रत्ययद्विको निवृत्तौ दारद-  
 शब्दे टेलोपे दारदयतीति रूपं सिध्यति । पुवद्भावे तु दरदशब्दस्य टिलोपे सति दर-  
 यतीति स्यादिति भावः । टिलोपस्य अजादेशत्वेन स्थानिवत्त्वाभोगादिति । 'पृथु मृदु भृशश्चैव  
 कृशश्च दृढमेव च । परिपूर्वं वृद्धश्चैव षडन्तावविधो स्मरेत् ॥' इति क्रमेणोदाहरति । पृथुमिति ॥  
 आचष्टे इति शेषः । प्रथयति । तत्र प्रक्रिया दर्शयति । वृद्धौ सत्यामिति ॥ पृथु  
 इ इति स्थिते परत्वाद्वृद्धौ कृताया टिलोपः । अथवा कृतायामकृतायाश्च वृद्धौ प्रवृत्त्या नित्य-  
 त्वाद्वृद्धः प्राक् टिलोपः । उभयधापि 'र ऋत' इति रभावे प्रथयतीति रूपमिति भावः ।  
 बलुतल्लु अकृताया वृद्धौ उकारस्य लोपः । कृतायान्तु औकारस्य लोपः । तथा च "शब्दान्तरस्य  
 प्रादुवन ।वधिरनित्य" इति टिलोपः अनित्यः । ततश्च परत्वाद् टिलोपात् प्राग्वद्विरेषेति  
 'मुञ्जमिश्र' इति सूत्रे भाष्ये स्थितम् । वृद्धौ सत्या पूर्वं वा टिलोप इति मूलन्तु कृताकृतप्र-  
 सङ्गित्वाद्विलोपस्य नित्यत्वमभिप्रेत्येति बोध्यम् । अपिप्रथदिति ॥ वृद्धौ सत्या टिलोपे अग्लो-  
 पित्वाभावात् सन्वत्त्वे 'सन्वत्' इति इत्वे 'दीपो लघो' इति दीर्घे इति भावः । अपप्रथ-  
 दिति ॥ वृद्धे पूर्वं टिलोपेन उकारस्य निवृत्तावग्लोपित्वात् सन्वत्त्वाभावे रूपम् । अबभ्रश-  
 दित्यादौ वृद्धे पूर्वं टिलोपे अग्लोपित्वान्न सन्वत्त्वमिति भावः । वृद्धौ सत्या टिलोपे ॥ अभिभ्र-  
 शदित्याद्युक्तम् । औजिढदिति ॥ ऊहधातो किनि टत्वधन्वश्रुत्वटलोपेषु ऊडि तस्मात् णौ  
 टिलोपे ऊडि इति ष्यन्ताल्लुडि चटि आटि वृद्धौ औडि अत् इति स्थिते प्रक्रिया दर्शयति ।  
 ढत्वादीनामिति ॥ टत्वधन्वश्रुत्वटलोपानामसिद्धत्वात् 'अजादेशद्वितीयस्य' इति हृति शब्द-  
 स्य द्वित्वमित्यर्थः । इत्युक्तमिति ॥ लुग्विकरणप्रक्रियाया ऊर्णुञ्धाताविति शेषः । एवञ्च  
 हृतिशब्दस्य द्वित्वे हलादिशेषं 'कृहोश्चु' इति हस्य चुत्वामिति भावः । दिशब्दस्येति ॥  
 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इत्यस्य क्वचिदनित्यत्वेऽप्यत्र तदप्रवृत्तौ मानाभावादिति भावः । ऊढ-  
 माख्यदिति ॥ ऊहधातो कप्रत्यये टत्वधन्वश्रुत्वटलोपेषु ऊडिशब्दात् ष्यन्ताल्लुडि चटि  
 ढत्वादीनामसिद्धत्वात् हृतेत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषे अभ्यासस्य चुत्वे रूपम् । औडिढदिति ॥  
 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इति ढत्वादीनामसिद्धत्वाभावपक्षे दशब्दस्य द्वित्वे रूपम् । नन्विह  
 परत्वात् टिलोपे सति णिच्सहितस्य हतीति ढीत्यस्य वा द्वित्वे कृते अभ्यासे इकार एव  
 ध्रुयेत नत्वकार इत्यत आह । ओः पुयणित्यादि ॥ स्वराब्दाणिच टिलोपमाशङ्क्य आह ।

वुक्तम् । ‘प्रकृत्यैकाच्’ (सू २०१०) । वृद्धिपुको । स्वापयति । त्वा मां वा  
आचष्टे त्वापयति मापयति । मपर्यन्तस्य त्वमौ । पररूपात्पूर्वं नित्यत्वाद्विद्वाप-  
वृद्धिपुको । त्वादयति मादयति इति तु न्याय्यम् । अन्तरङ्गत्वात्पररूपे कृते  
‘प्रकृत्यैकाच्’ (सू २०१०) इति प्रकृतिभावात् । न च प्रकृतिभावो भाष्ये  
प्रत्याख्यात इति भ्रमितव्यम् । भाष्यस्य प्रेष्टाद्युदाहरणविशेषेऽन्यथासिद्धि-  
परत्वात् । युवामावा वा युष्मयति अस्मयति । श्रानमाचष्टे शावयति ।

प्रकृत्यैकाजिति ॥ प्रकृतिभावाग्लोपाभावे अकारस्य वृद्धौ आकारे पुगागम । तदाह ।  
वृद्धिपुकायिति ॥ त्वापयति मापयति इत्यत्र प्रक्रिया दर्शयति । मपर्यन्तस्येति ॥ युष्म-  
दस्मज्जा गौ ‘प्रत्ययोत्तरपदयोश्च’ इति मपर्यन्तस्य त्वमौ । त्व अद् इ, म अद् इ इति स्थिते  
आह । पररूपादिति ॥ कृते अकृतं च पररूपे ढिलोपस्य प्रकृतेनित्यत्वम्बोध्यम् । त्व इ  
न इ इति स्थिते आह । वृद्धिरिति ॥ अकारस्य आकार । ढिलोपस्य स्थानिवत्त्वन्दु न  
शङ्क्यम् । अजादेशत्वाभावात् । पुगिति ॥ ‘अर्ति’ इत्यनेनेति भाव । तदेवम्प्राचीनमत  
मुपन्यस्य स्वमतमाह । त्वादयतीत्यादिना ॥ तदेवोपपादयति । अन्तरङ्गत्वादिति ॥  
त्व अद् इ, म अद् इ इति स्थिते नित्यमपि ढिलोपम्बावित्वा अन्तरङ्गत्वात्पररूप कृते  
‘प्रकृत्यैकाच्’ इति प्रकृतिभावे ढिलोपस्याप्रवृत्तौ उपधावृद्धिरिति भाव । ननु ‘इष्टमेयस्तु’  
किमुदाहरणमिति प्रश्ने प्रेयान् प्रेमा प्रेष्टु इत्युदाहरणानि प्रदर्श्य नैतदस्ति प्रयोजन ‘प्रस्यस्व’  
इति विहितप्रादीनामाभीयवेनासिद्धतया तस्य ढिलोपाप्रसक्तेरित्युक्ता प्रेयान् प्रेष्ट इत्यत्र ‘प्रश-  
स्यस्व प्र’ इति भ्रादेशस्य पाचमिकतया आभीयत्वाभावेनासिद्धत्वाभावात् ढिलोपे अप्राप्ते प्रकृ-  
तिभावविधिरित्युदाहरणान्तर प्रदर्श्य भ्रादेशे अरारोच्चारणसामर्थ्याद्विलोपो न भविष्यतीत्युक्ता  
छत्रिवत्तम छत्रिष्ठ इत्यस्य ‘विन्मतोर्लुक्’ इति लुङ्निवृत्त्यर्थं प्रकृतिभावविधानमित्युक्ता प्राप्त  
एव ढिलोपे आरभ्यमाणस्य लुक्स्तदपवादतया लुका ढिलोपस्य बाधो भविष्यतीति ‘प्रकृत्यैका-  
च्’ इत्यस्य भाष्ये प्रत्याख्यातत्वात् ‘त्वादयति, मादयति’ इत्यत्र प्रकृतिभावोपन्यासो न युज्यते  
इत्याशङ्क्य निराकरोति । न च प्रकृतिभावो भाष्ये प्रत्याख्यात इति भ्रमितव्य-  
मिति ॥ कुत इत्यत आह । भाष्यस्येति ॥ उदाहृतभाष्यस्य हि प्रेयान् प्रेष्ट इत्यादीनां  
प्रकृतिभाव विनाऽपि साधने तात्पर्यं, न तु प्रकृतिभावप्रत्याख्यानमभिमतम् । स्वमाचष्टे स्वाप-  
यतीत्यादा तदावश्यकत्वात् । अत एव ‘प्रकृत्यैकान्’ ‘इष्टमेयस्तु’ चैत्रैकाच उच्चारणसामर्थ्या  
दवचनात् प्रकृतिभाव इति वार्तिकव्याख्यावसरे ‘अन्तरेणापि वचनं प्रकृतिभावो भविष्यति’ इति  
भाष्ये उक्तम् । अन्यथा अन्तरेणैव वचनमित्युच्येत इत्यास्तान्तावत् । ‘प्रत्ययोत्तरपदयोश्च’ इत्यत्र  
एकवचने इत्यनुरक्तम् । तच्च यौगिकमाधीयते । एतत्त्वविशिष्टवाचिनोर्युष्मदस्मदोरिति लभ्यते  
इति मत्वा आह । युवामावां चेति ॥ न च द्वयोरुक्तौ युवावादेशो शङ्क्यो विभक्त्युक्ता  
लभत्वात् । न च लुक् प्रागेव युवावौ किञ्च स्यातामिति वाच्यम् । ‘अन्तरङ्गानपि विधीन्  
वाहिरङ्गो लुम्बाधते’ इत्युक्तेरिति भाव । शावयतीति ॥ श्रानमाचष्टे इत्यर्थः । भन्शब्दाणां

‘नस्तद्धिते’ (सू ६७९) इति टिलोपः । प्रकृतिभावस्तु न, येन नाप्राप्तिन्यायेन ‘टेः’ (सू १७८६) इत्यस्यैव बाधको हि सः । भत्वात्सम्प्रसारणम् । अन्ये तु ‘नस्तद्धिते’ (सू ६७९) इति नेहातिदिश्यते । इष्टानि तस्यादृष्टत्वात् । ब्रह्मिष्ठ इत्यादौ परत्वान् ‘टेः’ (सू १७८६) इत्यस्यैव प्रवृत्तेः । तेन शुनयतीति रूपमाहुः । विद्वांसमाचष्टे विद्वयति । अङ्गवृत्तपरिभाषया सम्प्रसारणं नेत्येके । सम्प्रसारणे वृद्धावावादेशे च विदावयतीत्यन्ये । नित्यत्वादृष्टिलोपात्प्राक्सम्प्रसारणम् । अन्तरङ्गत्वात्पूर्वरूपं टिलोपः । विदयतीत्यपरे ।

श्वन् इ इति स्थिते आह । नस्तद्धिते इति ॥ ‘प्रकृत्यैकाच्’ इति प्रकृतिभावमाशङ्क्य आह । प्रकृतिभावस्तु नेति ॥ कुत इत्यत आह । येनेति ॥ ‘टे’ इति टिलोपे प्राप्ते सत्येव प्रकृत्यैकान्तिरारभ्यत । ‘नस्तद्धिते’ इत्यस्य क्जिष्ठ इत्यादौ अप्राप्तोऽपि प्रकृतिभाव आरभ्यते इति भावः । भत्वादिति ॥ इष्टवत्त्वेन भत्वात् ‘श्वयुव’ इति सम्प्रसारणमित्यर्थः । तथा च श्वन् इ इति स्थिते टिलोपे सति तस्याभीयत्वेनासिद्धत्वादप्रन्तत्वात् वस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे उकारस्य वद्धौ आवादेशः । अन्ये त्विति ॥ इष्टानि दृष्टस्यैव इष्टवदित्यतिदेशः । टेरेत्येव टिलोप इष्टानि दृष्ट, न तु ‘नस्तद्धिते’ इति अतो नास्यातिदेश इत्यर्थः । नन्वतिशयेन ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ इत्यत्र नस्तद्धिते इति टिलोपो दृष्ट इत्यत आह । ब्रह्मिष्ठ इत्यादाधिति ॥ तेनेति ॥ ‘नस्तद्धिते’ इत्यस्याप्रवर्तनेनेत्यर्थः । ततश्च प्रकृतिभावात् ‘टे’ इति लोपस्याभावे सम्प्रसारणे शुनयतीति रूपमित्यर्थः । आहुरित्यखरसोद्भावनम् । तद्वीजन्तु ब्रह्मवच्छब्दादिष्टानि टेरेति टिलोपापवादे ‘विम्मतोर्लृक्’ इति मनुषो लृक् ‘नस्तद्धिते’ इति टिलोपो दृष्ट एव । ततश्च इष्टानि तस्यादृष्टत्वा दित्युक्तम् । किञ्च ऋहिष्ठ इत्यादौ परत्वाद्येरेत्यस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम् । केवलस्य ब्रह्मशब्दस्य वेदादिवचनस्य गुणवचनत्वाभावेन इष्टानो दुर्लभत्वात् ‘अजादेर्गुणवचनादेव’ इत्युक्ते । भत्वन्तादिष्टानि तु मतोर्लृकि तेन ‘टे’ इत्यस्य प्रवर्तिबाधेन लुगुत्तरन्तदप्रवर्त्या परत्वादित्यप्यसङ्गतिरिति शब्देन्दुशेखरे स्थितम् । विद्वयतीति ॥ विद्वत्शब्दाण्यौ टिलोपः । ननु इष्टवत्त्वात् भत्वे वसोत्सम्प्रसारणमित्याशङ्क्य आह । अङ्गवृत्तेति ॥ ‘अङ्गवृत्ते पुनर्वत्तावविधि’ इति परिभाषयेत्यर्थः । ‘अङ्गकाये कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्’ इति तदर्थः । वस्तुतस्तु विद्वयतीत्यन ‘टे’ इत्यसोलोपे वस्वन्तत्वाभावात् सम्प्रसारणाप्रसक्तैराङ्गवृत्तपरिभाषोपन्यासो वृथेत्यखरस मूचयति । इत्येके इति । सम्प्रसारणे इति ॥ विद्वत्शब्दाण्यौ इष्टवत्त्वेन टिलोपे कृते वकारस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे उकारस्य वद्धौ आवादेशे विदावयतीत्यन्ये मन्यन्ते इत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववदेवास्वरस टिलोपे सति वस्वन्तत्वाभावात् । नित्यत्वादिति ॥ ऽटलाप कृते अकृते च प्रवृत्ते सम्प्रसारणं नित्यम् । टिलोपस्तु कृते सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते उसो भवति । अकृते तु अम् इत्यनित्यः । “शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यः” इति न्यायादिति भावः । ननु कृतेऽपि सम्प्रसारणे परस्पात्राक् अस एव टिलोप इति तस्य नित्यत्वमित्यत आह । अन्तरङ्गत्वात्पूर्वरूपं टिलोपः इति ॥ सम्प्रसारणे पूर्वरूपे कृते

उदश्चमाचष्टे उदीचयति । उदैचिचत् । प्रत्यश्च प्रतीचयति । प्रत्यचिचत् ।  
 'इकोऽसवर्णे—' (सू ९१) इति प्रकृतिभावपक्षे, प्रतिअचिचत् । सम्यश्च-  
 माचष्टे समीचयति । सम्यचिचत्—समिअचिचत् । तिर्यश्चमाचष्टे तिराययति ।  
 अश्चेष्टिलोपेनापहारेऽपि वहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात्तिरसस्तिरि । 'असिद्धवदत्र—'  
 (सू २१८३) इति चिणो लुङ्न्यायेन प्रथमटिलोपोऽसिद्ध । अतः पुनष्टिलोपो  
 उत्तो लोपेऽपि वस्वन्तत्वस्य विनक्ष्यत्वात् सम्प्रसारणमित्यस्वरस सूचयति । इत्यपरे  
 इति ॥ एवञ्च विद्वयताति प्रथमपक्ष एव स्थितः । तत्राङ्गवृत्तपरिभाषोपगमात् एव वृधेति  
 स्थितम् । उदीचयतीति ॥ उत्पूर्वरादृतिरित्यादिना किञि 'अनिदिताम्' इति नलोपे  
 उदचशब्दः । तस्माणां इप्रवत्त्वेन भत्वादच इत्यकारलोप बाधित्वा 'उद ईत्' इति ईत्वे  
 उदीचि इति ण्यन्त ङादय इति भावः । उदैचिचदिति ॥ लुङि 'द्विवचनेऽचि' इति  
 णिलोपनिषेधे चिश्चशब्दस्य द्वित्वम् 'उपसर्गसमानाकारम्पूर्वपद धातुसङ्गाप्रयोजके प्रत्यय चिन्म  
 पिते पृथक् भ्रमते' इत्युक्तद उपर्याजित भावः । एवञ्च उद पृथक्करणेन 'प्रकृत्यैकाच्' इति  
 प्रवृत्तिभावान् टिलापः । प्रतीचयतीति ॥ अच इत्यङोपे 'चा' इति पूर्वस्य दीर्घः । इह  
 अच इत्यङोपे चिश्चदात्प्रामटि तकारादिकारस्य यण् । अच इत्यकारलोपस्याभीयत्वेऽपि अस  
 मानाश्रयत्वानासिद्धत्वम् । लोपस्य णिनिमित्तत्वात् । आटस्तु लुङ्निमित्तत्वात् । इकोऽसव  
 र्णे इतीति ॥ 'न समासे' इति तु न । पृथक्करणेन समासनिवृत्ते । समीचयतीति ॥ 'सम  
 स्समि' इति सम्यादेशः । अच इति लोप चाविति दार्ढ्यं । सम्यचिचदिति ॥ सम्यादेशस्य  
 स्थानिवत्त्वेनोपसर्गत्वात् पृथक्करणम् । पृथक्करणेन उत्तरपदपरत्वाभावेऽप्यन्तरङ्गत्वाज्ज्ञातस्त्वस्या  
 देशो न निवर्तते । तिराययतीति ॥ तिरस् इत्यव्ययम् । तत्पूर्वात् अच् किञि नलोपे तिरस्  
 अच् इत्यस्माणां टिगोपेन धातोनिवृत्तौ तिरसस्तिर्यलोपे इति तिरिभावे इकारस्य वृद्धावायादेशे  
 तिरामि इत्यस्मात् ण्यन्ताङ्गादिति भावः । न च तिरस पृथक्करणे सति धातो 'प्रकृत्यैकाच्' इति  
 प्रवृत्तिभावात् कथं टिलोप इति वाच्यम् । तिरसित्यस्य कदाचनोपसर्गतया उपसर्गसमानाकार  
 त्वाभावेन पृथक्करणाभावात् । नन्वेव सति अश्चेष्टिलोपेनापहारे सति अयतिपरकत्वविरहा-  
 त्कथमिह तिरसस्तिरिभाव इत्यत आह । अश्चेष्टिलोपेनेति । वहिरङ्गत्वेनेति ॥ वहि  
 र्भूतणिनिमित्तत्वादिति भावः । नन्वेव तिरसस्तिरि । तत्र रेफादिकारस्य देरिति लोप स्या  
 दित्यत आह । असिद्धवदत्रेति ॥ प्रथमटिलोपोऽसिद्ध इत्यन्वयः । तिरस् अच् इ इति  
 स्थिते प्रथमप्रवृत्त अच इत्येवरूपेणोप तिरोष्टिलोपे कर्तव्ये आभीयत्वादसिद्ध इत्यर्थः ।  
 ननु प्रथमटिलोपस्य कथन्तिरोष्टिलोपे कर्तव्ये असिद्धत्वम् । टिलोपशान्त्रस्य एतत्वादित्यत आह ।  
 चिणो लुङ्न्यायेनेति ॥ पञ्चधातोर्भावर्मणोलुङ्गस्तदि प्रथमपुरुषैकवचने तशब्द परे 'चिण्  
 भावर्मणा' इति च्लेधिणि उपधादृद्धौ अटि अपाचि ट् इत्यस्मात् 'तिश्च' इति तत्रपि तदन्तात्  
 'किमेतिच्ययथादाम्' इत्याम्प्रत्यये अपाचिततरामिति त्वित्येते 'चिणो लुङ्' इति प्रथमस्य तशब्दस्य  
 लुकि कृते पुनस्तरप्रययतशब्दस्य लुङ् न भवति । स्थानिभेदेन लुङो भेदमाश्रित्य प्रथमलुङ्  
 अभिद्वन्वेन व्यवधानादिति स्थितिः । एवमिहापीत्यथ । अतः इति ॥ प्रथमटिलोपस्यासिद्ध

पदार्थकः सम्पद्यते । एवमिहापि नवा शब्दादितिकरणः प्रयुज्यमानो नवा-  
शब्द स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्यावयति । सोऽसौ स्वस्मात् पदार्थात्  
प्रच्युतो यासौ शब्दपदार्थकता तस्या लौकिकमर्थं प्रत्यावयति न चेति  
यद् गम्यते, न चेति यत् प्रतीयते इति ।

समानशब्दप्रतिषेध ।

समानशब्दानां<sup>१</sup> प्रतिषेधो वक्तव्यः । नवा कुण्डिका नवा  
घटिकेति

किंच स्यात् । यद्येतेषामपि विभाषासंज्ञा स्यात् ।

विभाषा दिक् समासे बहुव्रीहौ । दक्षिणपूर्वस्यां शालायाम् ।  
अचिरकृतायां संप्रत्ययः स्यात् ।

न वा विधिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधसम्प्रत्ययो यथा लोके ।

यद् शब्दस्वरूप है उस से हटा कर उस के लोकप्रसिद्ध निषेध अर्थ का बोध  
करावेगा । जैसे त्व ग्राम गमिष्यति न वा इस लौकिक वाक्य में त्व गाँव जायगा या  
नहीं इस प्रकार न वा का अर्थ निषेध समझा जाता है । यहाँ इतना ही भेद है कि  
लोक में इति लगने पर अर्थबोधक शब्द शब्दबोधक हो जाता है और शास्त्र में  
इति लगने पर शब्द स्वरूप बोधक शब्द उस के अर्थ का बोधक हो जाता है । इति  
शब्द अर्थ को बदल देता है ।

न वा शब्द का समान शब्द जिन अर्थों का वाचक है उनकी विभाषा संज्ञा  
का निषेध कहना चाहिये जैसे न वा कुण्डिका ( नई कुण्डी ) । नवा घटिका  
( नई घड़ी ) । यहाँ न वा का अर्थ नया है, निषेध नहीं है । उसकी भी विभाषासंज्ञा  
प्राप्त होती है जिसका निषेध कहना चाहिये ।

क्या हो जायगा यदि नया अर्थवाचक न वा शब्द की भी विभाषासंज्ञा  
हो जाय तो ?

विभाषा दिक् समासे बहुव्रीहौ में विभाषा कहने से नवीन अर्थबोधक दिक्  
शब्दों के समास की सरनामसंज्ञा होगी तो दक्षिणपूर्वस्यां शालायाम् में नूतन  
रचित शाला की प्रतीति होने लगेगी ।

१ यद् बहुव्रीहि समास है । समानः शब्दो वाचको येषामर्थानाम् ते समान-  
शब्दाः ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । विधिपूर्वकत्वात् । विधाय किञ्चिन्न-  
वेत्युच्यते । तेन प्रतिषेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भविष्यति । तद्यथा लोके  
ग्रामो भवता गन्तव्यो न वा । नेति गम्यते ।

अस्ति कारणं येन नवेति लोके प्रतिषेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भवति ।  
किं कारणम् । विलिङ्गं हि भवान् लोके निर्देशं करोति । अङ्गं हि समान-  
लेङ्गो निर्देशः कियतां प्रत्यग्रवाचिनः सम्प्रत्ययो भविष्यति । तद्यथा  
ग्रामो भवता गन्तव्यो नचः । प्रत्यग्र इति गम्यते ।

एतच्चैव न जानीमः कचिद् व्याकरणे समानलिङ्गो निर्देशः  
ह्यते इति । अपि चात्र कामचारः प्रयोन्तुः शब्दानामभिसम्बन्धे ।

यह कोई दोष नहीं । विधिस्थलों में पहले कुछ विधान कर के फिर नवा  
पह कहा जाना है तो उससे निषेध अर्थ ही समझा जायगा । नूतन अर्थ  
नहीं । क्योंकि विभाषा यह संज्ञा संज्ञाप्रदेशों में अर्थपरिष्कार के लिये की गई  
है वहाँ विधिशास्त्र में नवा की उपस्थिति होगी तो नवा शब्द से निषेध  
अर्थ का बोध होगा । जैसे लोक में ग्रामो भवता गन्तव्यो नवा ऐसा कहने पर  
नवा शब्द का आप गांव जायेंगे या नहीं, यह निषेध अर्थ ही समझा जाता है,  
नहीं नहीं । विधिवाक्यों की अनुकूलता के लिये प्रकृतसंज्ञा सूत्र में भी नवा  
निषेधार्थक ही लिया जायगा ।

लोक में नवा शब्द से निषेध अर्थ के समझ जाने का तो कारण है । आप  
ग्रामो भवता गन्तव्यो नवा इस लौकिक वाक्य में ग्राम शब्द से भिन्न लिङ्ग वाले  
व्यधिकरण नवा शब्द का प्रयोग करते हैं । ग्राम पुलिङ्ग है । नवा स्त्रीलिङ्ग है ।  
इस लिये वहाँ निषेध अर्थ समझा जाता है । यदि आप ग्राम शब्द के समान लिङ्ग  
वाले समानाधिकरण नवा शब्द का प्रयोग करके ग्रामो भवता गन्तव्यो नवा  
ऐसा कहें तो निश्चित ही नवा शब्द से आप नया गांव जायेंगे इस प्रकार नया  
इस अर्थ की प्रतीति होगी ।

हम यही नहीं जानते कि व्याकरण में कहाँ नवा शब्द का समानलिङ्ग  
निर्देश किया है । अर्थात् कहाँ नहीं हुआ है । दूसरी बात यह भी है कि वाक्यस्थ

१. यद्यपि विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् इस सूत्र में सेना  
सुरादि के स्त्रीलिङ्ग होने से विभाषा उन्वोपस्थापि नवा शब्द स्त्रीलिङ्ग समझ है  
तो भी भिन्न विभक्ति होने से दोनों का सामानाधिकरण्य नहीं बनता । सेना सुरादि  
में पष्ठी बहुवचन का निर्देश है । विभाषागस्यापि नवा में नहीं है ।

तद्यथा यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा । यदा यवागूशब्दो भुजिना सम्बध्यते भुजिर्नवाशब्देन तदा प्रतिपेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भवति । यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा । नेति गम्यते । यदा तु नवाशब्दो यवागूशब्देनाभिसम्बध्यते न भुजिना तदा प्रत्यग्रवाचिनः सम्प्रत्ययो भवति । यथा यवागूर्नवा भवता भोक्तव्या । प्रत्यग्रेति गम्यत । न चेह वयं विभाषाग्रहणेन सर्वादीन्यभिसवर्धनामः— दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि विभाषा भवन्तीति । किं तर्हि सर्वनामसंज्ञाभिसम्बध्यते दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति विभाषति ।

विध्यनित्यत्वमनुपपन्न प्रतिपेधसंज्ञाकरणात् ।

विधेरनित्यत्वं नोपपद्यते । शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः । शिश्वाय शिश्विष्यतुः शिश्विष्युः । किं कारणम् । प्रतिपेधसंज्ञाकरणात् । प्रतिपेधस्येयं संज्ञा क्रियते । तेन विभाषाप्रदेशेऽपि प्रतिपेधस्येव सम्प्रत्ययः स्यात् ।

शब्दों का परस्पर सम्बन्ध करना बोलने वाले की इच्छा पर निर्भर है । जैसे— यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा इस वाक्य में यदि यवागू शब्द का सम्बन्ध भोजन-क्रिया से विवक्षित हो और भोजन क्रिया का नवा से तो भार यवागू (खिचड़ी) लायेंगे या नहीं इस प्रकार नवा शब्द का निपेध अर्थ समझा जायगा । और यदि यवागू शब्द का सम्बन्ध नवा से विवक्षित हो भोजन क्रिया से न हो तो भार नई यवागू लायेंगे इस प्रकार नवा शब्द का नया अर्थ समझा जायेगा । हम यहां विभाषा दिक् समासे० में विभाषा का सम्बन्ध सर्वादि के साथ करके ऐसा अर्थ नहीं करेंगे कि दिक्समास बहुव्रीहि में सर्वनाम संज्ञक सर्वादि विभाषा होते हैं । अधिक विभाषा का सम्बन्ध भवति क्रिया के साथ कर के ऐसा अर्थ करेंगे कि दिक्समास बहुव्रीहि में सर्वादि सर्वनामसंज्ञक विभाषा होते हैं । सर्वनामसंज्ञा होने के साथ विभाषा का सम्बन्ध है । सर्वादि के साथ नहीं । इस लिये निपेध अर्थ का ही बोध होगा । नये का नहीं ।

विभाषा संज्ञा में विधि की अनित्यता जर्थात् विकल्प नहीं बनता । विकल्प को विभाषासंज्ञा नहीं प्राप्त होती । क्योंकि नवा यह शब्द अथवा की तरह एक ही निपातसंज्ञक अव्यय है । जिसका अर्थ निपेध है । उस से विभाषा स्थलों में केवल निपेध की प्रतीति होगी विकल्प की नहीं तो विभाषा स्वेः में दिग्धातु को सम्प्रसारण के विकल्प से होने वाले शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः । शिश्वाय शिश्विष्यतुः शिश्विष्युः ये दो २ रूप नहीं बन सकेंगे ।

मिद्ध तु प्रसज्यप्रतिषेधात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । प्रसज्यप्रतिषेधात् । विधाय किं चिन्नवे-  
त्युच्यते तेनोभय भविष्यति ।

विप्रतिषिद्ध तु ।

विप्रतिषिद्ध तु भवति । अत्र न विज्ञायते केनाभिप्रायेण प्रसजति ।  
केन निवृत्तिं करोतीति ।

न वा प्रसङ्गसामर्थ्यादन्यत्र प्रतिषेधविषयात् ।

न वा एष दोष । किं कारणम् । प्रसङ्गसामर्थ्यात् । प्रसङ्गसामर्थ्याच्च  
विधिर्भविष्यति अन्यत्र प्रतिषेधविषयात् । प्रतिषेधसामर्थ्याच्च प्रतिषेधो  
भविष्यति अन्यत्र विधिर्विषयात् ।

तदेतत् क सिद्ध भवति । या अप्राप्ते विभाषा । या हि प्राप्ते

पहल विधान करक फिर नवा गन्ध स निरध कहा गया है उस स विधि  
और निरध क दाना रूप बन जायग । प्रत्यय=विधाय प्रतिषेध निरध=प्रत्ययप्रतिषेध ।  
विभाषा श्व यहा विधानु यत्नादि ह । उस में बचन्वय स किन् प्रत्यय पर रहते  
सम्प्रसारण का विधान है । विभाषा कहन स निरध दा चायगा जिसस पित्  
प्रत्यय पर रहत विधिका अनुमान दा चायगा क्याकि निरध प्राप्तेपूर्वक हावा है ।  
या विकल्प हाकर दा रूप बन जायग ।

इस में वा परस्पर विरोध प्राप्त हो जायगा । दो रूप कस बन जायेंग ।  
क्योंकि विधि और निरध दाना स य० नहीं मालूम हागा कि किस अभिप्राय स  
विधि है और किस अभिप्राय स निरध है । इस लिय दाना युगपत् नहीं हो  
सकत । एक ही विषय में विधि और निरध परस्पर विरुद्ध हैं ।

प्रसङ्ग-विधि क सामर्थ्य स वा विधि दा चायगा निषेध विषय का छाड़ कर ।  
विभाषा द्वारा निषेध किया गया है उस के सामर्थ्य से निरध हो चायगा विधि  
विषय का छाड़ कर । इस प्रकार पन्ना स विधि और निरध दाना हाकर दा रूप  
बन जायेंगे । विधि नी ध्वर्य न हो भार निरध भी ध्वर्य न हा इस लिय दाना का  
पर्याय मान कर काम चढ़ जायगा । परस्पर विरुद्ध हाव स दाना का औत्पत्त्य दा  
असम्भव है ।

विधि और निरध का पर्याय नहीं सिद्ध हो सकगा जो अप्राप्त विभाषायें  
हैं । अप्राप्तविभाषाया में बिना प्राप्ति क हा निरध कहन स विधि का अनुमान  
कर लिया जायगा क्याकि सिधपूर्वक ही निषेध हावा हे । इस लिय वहा विधि  
और निरध दाना का पर्याय होकर दा रूप बन जायेंग । लेकिन आ प्राप्त विभाषायें



विभाषा कृतसामर्थ्यस्तत्र पूर्वैव विधिरिति कृत्वा प्रतिषेधस्यैव सम्प्रत्ययः स्यात् ।

एतदपि सिद्धम् । कथम् । विभाषेति महती संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् । लघ्वर्थे हि संज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम् उभयोः संज्ञा यथा विज्ञायेत । नेति च वेति च । तत्र या तावद् अप्राप्ते विभाषा तत्र प्रतिषेध्यं नास्तीति कृत्वा वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति । या हि प्राप्ते विभाषा तत्रोभयमुपस्थितं भवति नेति च वेति च । तत्र नेत्यनेन प्रतिषिद्धे वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति ।

एवमपि ।

विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्वचनानुपपत्तिः ।

विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्वचनं नोपपद्यते । शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः ।

है वहाँ तो पूर्व से प्राप्त का निषेध ही जाना जायगा । कारण कि वहाँ विधि पूर्व शास्त्र द्वारा कृतसामर्थ्य है अर्थात् विधान से उस ने निषेध की विधि कल्पना करने की शक्ति को नष्ट कर दिया है । सो निषेध विधि का अनुमान नहीं करायेगा । उस अवस्था में विधि और निषेध का पर्याय न होकर निषेध का ही एक रूप बन सकेगा, विधि का नहीं ।

यह भी सिद्ध हो जायगा । अप्राप्तविभाषा की तरह प्राप्तविभाषाओं में भी दो रूप बन जायेंगे । कैसे ? विभाषा यह बहुत भक्षरों वाली बड़ी संज्ञा की है । और संज्ञा छोटी से छोटी होनी चाहिये । क्योंकि लाघव के लिए संज्ञा की जाती है तो बड़ी संज्ञा करने का यह प्रयोजन होगा कि नवा यह निषेधवाची एक निपात न मान कर न और वा ये दो निपात माने जायेंगे जिन का अर्थ निषेध और विकल्प होगा । उस से निषेध और विकल्प दोनों की विभाषा संज्ञा होगी केवल निषेध की नहीं । ऐसा मानने पर जो अप्राप्तविभाषायें हैं वहाँ बिना प्राप्ति के ही विभाषा कहने से निषेधार्थक न-अंश का कोई प्रयोजन नहीं होगा तो वा-अंश से विकल्प हो कर दो रूप बन जायेंगे । और जो प्राप्त विभाषायें हैं उन में प्राप्ति का निषेध आवश्यक है इसलिये पहले न-अंश से निषेध होकर फिर वा अंश से विकल्प हो जायगा तो वहाँ भी दो रूप बन जायेंगे ।

निषेध और विकल्प की विभाषा संज्ञा मानने पर भी जो उभयत्र विभाषायें हैं अर्थात् एक साथ ही किसी अंश में प्राप्त और किसी में अप्राप्त विभाषायें हैं वहाँ विधि और निषेध के दो रूप एक साथ नहीं सिद्ध हो सकते । क्योंकि निषेधार्थक न-शब्द वहाँ प्राप्त अंश में निषेध कर देगा फिर वा से विकल्प हो

शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वियु । किं कारणम् ।

भवतीति चेन्न प्रतिषेध ।

भवतीति चेत् प्रतिषेधो न प्राप्नोति ।

नेति चेन्न विधिः ।

नेति चेद् विधि न सिध्यति ।

सिद्ध तु पूर्वस्योत्तरेण बाधितत्वात् ।

पूर्वविधिमुत्तरो विधिर्बाधते । इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थ इत्युक्तम् ।

जायगा तो प्राप्त अंश में ही दो रूप बन सकेंगे । अप्राप्त अंश खाली रह जायगा । वहाँ कुछ न होगा । और जो वहाँ अप्राप्त अंश है वहाँ न का प्रयोजन न होने से वा से विकल्प हो जायगा तो केवल अप्राप्त अंश में ही दो रूप बन सकेंगे । प्राप्त अंश रह जायगा । जैसे—विभाषा शब्द यह उभयत्र विभाषा है । लिट् के कित् अंश में तो वचित्स्वपि० स द्विव को प्राप्त सम्प्रसारण है वहाँ भी दो रूप बनाने हैं । और लिट् के अकित् अंश में किसी से भी सम्प्रसारण प्राप्त नहीं है वहाँ भी दो रूप बनाने हैं । शुशाव, शिश्वाय ये अकित् लिट् के रूप हैं । शुशुवत्, शिशुवत्, शित्वियत् शिद्वयुः ये कित् लिट् के रूप हैं । दोनों में एक साथ दो २ रूप नहीं बन सकेंगे । क्योंकि विभाषा शब्द की वा भवति 'विकल्प से होता है' इस प्रकार यदि विधिमुख से प्रवृत्ति मानें तो प्राप्त अंश में निरर्थक नहीं सिद्ध होता । और यदि वा न भवति 'विकल्प से नहीं होता है' इस प्रकार निरर्थकमुख से प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त अंश में विधि नहीं सिद्ध होती ।

उभयत्र विभाषाओं में भी दोनों अंशों में दो २ रूप सिद्ध हो जायेंगे । क्योंकि सूत्र में पठित न यह पूर्वविधि वा इस उत्तरविधि से बाधित हो जायगी तो पहले प्राप्त अप्राप्त सभी अंशों में न की प्रवृत्ति हो कर निरर्थक हो जायगा । निरर्थक द्वारा प्राप्त अप्राप्त सब अंश समान कर दिये जायेंगे । फिर वा से सभी प्राप्त अप्राप्त अंशों में विकल्प हो जायगा । इस प्रकार उभयत्र विभाषाओं में भी दो रूप बन जायेंगे । न वेति में न इति और वा इति इस प्रकार न वा सन्देहों में इति लगाना दोनों के निषेध और विकल्प अर्थ के निर्देश के लिये है यह अभी कह चुके हैं ।

१. न और वा की सूत्र पठित क्रम से ही प्रवृत्ति होगी । यदि पहले वा की प्रवृत्ति कर के फिर न की प्रवृत्ति करें तो वा की प्रवृत्ति व्यर्थ हो जायगी । इस लिये

साधनुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे यस्य विभाषा तस्य साधुत्वम् ।

साधनुशासनेऽस्मिन् शास्त्रे यस्य विभाषा क्रियते स विभाषा साधुः स्यात् । समासश्चेव हि विभाषा क्रियते तेन समासस्यैव विभाषा साधुत्व स्यात् ।

साधुशब्दों के अनुशासन रूप इस व्याकरण शास्त्र में जिस को विभाषा कहा है उस का साधुत्व भी विभाषित एवं वैकल्पिक होना चाहिये । अर्थात् कार्य के विकल्प के साथ उस के साधुत्व में भी विकल्प होना चाहिये । वह एक पक्ष में साधु हो और दूसरे पक्ष में असाधु रहे । विभाषा इस सूत्र से समास प्रकरण को विभाषा कहा गया है । समास विकल्प से होता है इसलिये समास में ही साधुत्व

पहले सर्वत्र निषेध कर के फिर सर्वत्र विकल्प का विधान होगा । मीमांसा आदि अन्य शास्त्रों में केवल विकल्प को ही विभाषा माना जाता है निषेध को नहीं । किन्तु यहाँ व्याकरण में निषेध और विकल्प दोनों की विभाषामहा नानी गई है । न और वा की एक साथ विभाषासंज्ञा मानने का प्रयोजन उभयत्र विभाषाओं में है । प्राप्त विभाषा और अप्राप्तविभाषा तो इस सूत्र के बिना भी सिद्ध हो सकती हैं । प्राप्त विभाषाओं में विधि तो पहले से ही थी, पक्ष में विभाषा कहने से निषेध हो कर दो रूप बन जायेंगे । अप्राप्त विभाषाओं में भी अप्राप्ति रूप निषेध पहले से ही थी पक्ष में विभाषा कहने से विधि हो कर दो रूप बन जायेंगे । किन्तु विभाषा इवे, इत्यादि उभयत्र विभाषाओं में इस सूत्र के बिना काम नहीं चल सकता । वहा विकल्प स होता है इस प्रकार यदि विधियुक्त से प्रवृत्ति मानें तो जहाँ पहले से सम्प्रसारण प्राप्त नहीं है ऐसे अकिन् जो तिन् सिन् मिप् हैं वहाँ दो रूप बन सकेंगे । शुश्राव शिश्राव । शुश्रविथ शिश्रविथ । क्योंकि वहाँ निषेध तो पहले से सिद्ध है ही, पक्ष में विभाषा कहने से विधि हो जायगा । किन् जो अनुस् आदि है उन में वचित्स्वपि० से नित्य ही सम्प्रसारण प्राप्त रहेगा । और यदि विकल्प से नहीं होता है इस प्रकार निषेधमुख से प्रवृत्ति मानें तो किन् अनुत् आदि में प्राप्त सम्प्रसारण का पक्ष में निषेध हो कर वहीं शुश्रुवुः शुश्रुवुः । शश्विचुः, तिश्विचुः आदि दो रूप बन सकेंगे । अकिन् तिप् आदि में नहीं बन सकेंगे । इस सूत्र के बना देने पर पहले किन् अकिन् दोनों जगह निषेध की प्रवृत्ति होगी । फिर दोनों जगह विकल्प की प्रवृत्ति हो कर सर्वत्र दो रूप बन जायेंगे । बाद तो विभाषा इवे, इत्यादि उभयत्र विभाषाओं में भी विधियुक्त एवं निषेधमुख दोनों प्रवृत्तिमा लक्ष्यभेद से एक साथ इष्ट मानें तब तो इस सूत्र के बिना भी उभयत्र विभाषाओं में दो रूप सिद्ध हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ है । यह बात आगे अध्याप्यो वा निदिशत्वाद् इस वार्तिकद्वारा स्वयं कहेंगे ।

अस्तु यः साधुः स प्रयोक्ष्यते असाधुर्न प्रयोक्ष्यते ।

न चेव हि कदाचिद् व्याकरणे राजपुरुष इत्येतस्यामवस्थायाम-  
साधुत्वमिष्यते । अपि च—

द्वेधाऽप्रतिपत्तिः ।

द्वेध शब्दानामप्रतिपत्तिः स्यात् । इच्छामश्च पुनर्विभाषाप्रदेशेषु  
द्वेधं शब्दानां प्रतिपत्तिः स्यादिति । तच्च न सिध्यति । यस्य पुनः  
कार्याः शब्दाः । विभाषासो समास निर्वर्तयति ।

यस्यापि नित्याः शब्दास्तस्याप्येष दोषो न भवति । कथम् । न  
विभाषाप्रद्वेगेन साधुत्वमभिसम्बध्यते । किं तर्हि । समाससज्ञाभिसम्बध्यते ।  
समास इत्येषा सज्ञा विभाषा भवतीति । तद्यथा मध्यः पशुर्विभाषितः ।

का रिक्त्य भी प्राप्त है ।

अच्छा, जो साधु शब्द होगा उस का प्रयोग करेंगे । असाधु का नहीं करेंगे ।

किन्तु राजपुरुषः यह समस्त पद तो सर्वथा साधु है । इसमें असाधुत्व की  
संभावना ही इष्ट नहीं है । यहाँ तो विभाषा का सम्बन्ध साधुत्व के साथ होना से इस  
में भी पक्ष में असाधुत्व प्राप्त होता है । इस के अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि  
विभाषा कहने में शब्दों के दो रूप इष्ट हैं वे नहीं सिद्ध होंगे । क्योंकि विभाषा  
का सम्बन्ध तो साधुत्व के साथ हो गया । कार्य के साथ न रहा तो दो रूप कैसे  
बनेंगे । हम चाहते हैं कि शब्दों के दो रूप बनें । वे विभाषा कहने पर भी नहीं  
बन पाते । जो तो शब्दों को कार्य अर्थात् कृति निश्चय एवं अनित्य मानता है  
उसके मत में तो विभाषा का सम्बन्ध विधीयमान कार्य के साथ होना से शब्दों  
के दो रूप बन जायेंगे । यह समास का रिक्त्य से विधान करता है न कि उसके  
साधुत्व का । नित्यशब्दवादी के मत में समास के नित्य सिद्ध होने से उसका  
अन्वाख्यानमात्र किया जाता है । नया विधान नहीं ।

जिसके मत में शब्द नित्य हैं उसमें भी यह दोष नहीं आता क्योंकि वह  
विभाषा का सम्बन्ध साधुत्व के साथ न कर के समाससज्ञा के साथ ही करेगा ।  
साधुत्व पुरुषत्व नहीं है । समाससज्ञा के पुरुषत्व होने से उसी के साथ विभाषा  
का सम्बन्ध होगा तो नित्यशब्दवादी के मत में भी शब्दों के दो रूप बन जायेंगे ।  
जैसे—नव्यः पशुर्विभाषितः । नेव्याऽनइवान् विभाषितः इस शास्त्ररचन में विभाषा  
का सम्बन्ध बालम्भन क्रिया के साथ है । इसका अर्थ है—यज्ञिय पशु विभाषित है ।  
यज्ञिय बैड विभाषित है । अर्थात् यज्ञिय बैड या अन्य पशु का बालम्भन

मेघोऽनङ्वान् विभाषित इति । नैतद् विचार्यते अनङ्वान् नानङ्वान् इति । किं तर्हि । आलम्ब्यो नालम्ब्य इति ।

कार्येषु युगपदन्वाचनयौगपद्यन् ।

कार्येषु शब्देषु युगपदन्वाचयेन च यदुच्यते तस्य युगपद्वचनता प्राप्नोति । 'तय्यत्तय्यानीयरः' । 'ढक् च मण्डूकादि'ति । यस्य पुनर्नित्याः शब्दाः प्रयुक्तानामसौ साधुत्वमन्वाचये ।

ननु च यस्यापि कार्यास्तस्याप्येष न दोषः । कथम् । प्रत्ययः परे भवतीत्युच्यते । न चकस्याः प्रकृतेरनेकस्य प्रत्ययस्य युगपत्परत्वेन संभवोस्ति ।

नापि भ्रूमः प्रत्ययमाला प्राप्नोतीति । किं तर्हि । कर्तव्यमिति

विकल्पित है । उसका आलम्बन किया नी जा सकता है, नहीं नी । यहाँ विभाषा शब्द से उस पद के अनङ्वाद् होने या न होने का विकल्प नहीं है । यह नहीं विचार किया जाता कि वह अनङ्वाद् है या नहीं है । अरिनु वह आलम्बन योग्य है या नहीं इसका विचार होता है ।

इसके अतिरिक्त अनित्य शब्दवाद में यह दोष है कि जो कार्य एक साथ या अन्वाचनरूप चकार के योग से कहे गये हैं वे एक साथ प्राप्त होते हैं । तय्यत्तय्यानीयरः यहाँ तय्यत् तय्य नीनीयरः य तीनों प्रत्यय एक साथ उच्चारित हैं इस लिये धातु से एक साथ ही उत्पन्न होने चाहिये । अलग २ नहीं । ढक् च नङ्कात् यः चकार से ण् प्रत्यय अन्वाचनरूप है वे दोनों एक साथ ही नङ्क शब्द से उत्पन्न होने चाहिये । अलग २ नहीं । नित्यशब्दवादो को अलग २ प्रयुक्त तय्यशब्द के साधुत्व मात्र का अन्वाख्यान करता है उस के मत में नये शब्द उत्पन्न नहीं किये जाते इस लिये वहाँ यह दूष नहीं आता ।

अनित्यशब्दवादी के मत में नी यह दोष नहीं है । क्योंकि प्रत्ययः परम के वचन से प्रत्यय, धातु या प्रातिपदिक से परे होता है । एक प्रकृति से परे एक साथ अनेक प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो सकते । इस लिये एक २ ही होगा ।

हम यह कब कहते हैं कि प्रकृति से परे तय्यशब्द सब प्रत्ययों की एक साथ माला प्राप्त होता है । अरिनु यह कहते हैं कि एक शब्द के साथ ही दूसरे

१. युगपद्वचनयौगपद्यन् ।

२. अन्वाचनसमुच्चय, त्रिप्रकार चकार से अथवा स्वरित्व से विधान है ।

प्रयोक्तव्ये युगपद् द्वितीयस्य तृतीयस्य च प्रयोगः प्राप्नोतीति ।

नैष दोषः । अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः । अर्थं संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते । तत्रैकेनोक्तत्वात् तस्यार्थस्य द्वितीयस्य तृतीयस्य च प्रयोगेण न भवितव्यम् । उक्तार्थानामप्रयोग इति ।

आचार्यदेशशीलनेन च तद्विषयता ।

आचार्यदेशशीलनेन च यदुच्यते तस्य तद्विषयता प्राप्नोति । 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य । प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलमिति । गालवा एव ह्रस्वान् प्रयुञ्जोस्त् । प्राक्षु चव हि फिन् स्यात् । तद्यथा जमदग्निवी एतत्पञ्चममवदानमवाचत् । तस्मान्नाजामदग्न्यः पञ्चावृत्त जुहाति । यस्य पुनर्निस्त्याः शब्दाः गालवग्रहण तस्य पूजार्थम् । वेशग्रहण च कीर्त्यर्थम् ।

तीसरे शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है । कर्तव्यम् के प्रयोग के साथ ही करणायम् का प्रयोग भी प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । अर्थ को समझाने के लिये शब्द का प्रयोग होता है । मैं शब्द बोल कर इस अर्थ को समझाऊंगा इस लिये शब्द बोला जाता है । उसमें एक शब्द से उस अर्थ की प्रतीति हो जाने पर फिर उसी अर्थ वाले दूसरे तीसरे शब्द का प्रयोग नहीं होगा । उक्तार्थानामप्रयोगः यह न्याय प्रसिद्ध है । इस का अर्थ है—गतार्थ हुए शब्द का प्रयोग नहीं होता । जिस ( करणाय ) शब्द का अर्थ ( कर्तव्य ) शब्द द्वारा एक बार कहा जा चुका वह शब्द नहीं बोला जाता ।

अनित्यशब्दवाद में यह भी दोष है कि किसी आचार्य या देश का नाम ले कर जो कार्य कहें हैं उनका प्रयोग का विषय वह आचार्य या देश ही होना चाहिये, सब नहीं । व कार्य उसी आचार्य या देश द्वारा प्रयुक्त होने चाहिये । इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य में गालव आचार्य के नाम से ह्रस्व कहा है तो गालव आचार्य ही ह्रस्व का प्रयोग करे । प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम् में प्राग्दश वासियों के नाम से फिन् कहा है तो प्राग्दशवासी ही फिन् का प्रयोग करे । सब नहीं । जैसे—जमदग्निर्वी एतपञ्चममवदानमवाचत्० यह किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है । इसका अर्थ है—क्योंकि जमदग्नि ऋषि ने इस पुरोडाश का पाचवा अवदान किं वा खण्ड किया था इस लिये जमदग्निसंगे ही पाच खण्ड बाल पुरोडाश की आहुति देवे । दूसरा अजामदग्न्य अमदग्निसंगे ही स भिन्न नहीं । पञ्चावृत्तम्= पाच खण्ड वाला पुरोडाश । यद्वा पञ्चावृत्त पुरोडाश की हवि कबल जमदग्नि-

ननु च यस्यापि कार्याः शब्दास्तस्यापि गालवग्रहण पूजार्थं स्यात् । देशग्रहणं च कीर्त्यर्थम् ।

तत्कीर्तने च द्वेधाऽप्रतिपत्तिः ।

तत्कीर्तने च द्वेध शब्दानामप्रतिपत्तिः स्यात् । इच्छामश्च पुनराचार्यग्रहणेपु देशग्रहणेपु च द्वेध शब्दानां प्रतिपत्तिः स्यादिति । तच्च न सिध्यति ।

अशिष्यो वा विदितत्वात् ।

अशिष्यो वा पुनरस्य योगः । किं कारणम् । विदितत्वात् । यदनेन योगेन प्राच्यन्ते तस्यार्थस्य विदितत्वात् । येषि ह्येतां सहां नारभन्ते

गोत्रोत्तरम्न व्यक्ति का ही विषय है । अन्य का नहीं । नित्यशब्दवाद में तो यह दोष नहीं आता । उसके मत में गालव का ग्रहण पूजा के लिये है और प्राक् देश का ग्रहण उस देश की घिरस्ययी कीर्ति के लिये है ।

अनित्यशब्दवाद में भी यह दोष नहीं आता । उसके मत में भी गालव ग्रहण पूजा के लिये और प्राक् ग्रहण उस देश की कीर्ति के लिये हो सकता है । अनित्यशब्दवादी इका ह्रस्वो० का ऐसा अर्थ कर सकता है कि जिस प्रकार गालव आचार्य न इक् को ह्रस्व किया है वैसे तुम भी करो ।

यह ठीक है कि अनित्यशब्दवादी के मत में गालव ग्रहण पूजा के लिये और प्राक् ग्रहण देश की कीर्ति के लिये रहे, किन्तु इक् को ह्रस्व तो गालव के मत में हा विहित होगा । फिर भी प्राक् देश में हा विहित होगा तो शब्द के दो रूप ता निश्चय न हुए । हम चाहते हैं कि आचार्य और देश वाले कार्य में भी शब्दों के दो रूप हों । यह बात अनित्य शब्दवाद में सिद्ध नहीं होती । इस लिये यह पक्ष अयुक्त है । नित्यशब्दवाद में तो ह्रस्व और वाच्य वाले दो रूप पहले से ही विद्यमान हैं । उनका नया विधान नहीं करना है अतः गालवग्रहण कवल ह्रस्व की स्मृति द्वारा पूजार्थ है । इस लिये शब्दों को नित्य मानना ही युक्तियुक्त एवं निद्राप्त है ।

विचारपूर्वक देखने पर नेवेति विभाषा यह सूत्र भी अशिष्य है । अनुशासन की अपेक्षा नहीं रखता । इसकी आवश्यकता नहीं । क्योंकि जो इसका अर्थ है, जो इस सूत्र के बनाने से हम चाहते हैं वह लाकृतास्त्र-विदित है । लोक उपा शास्त्र व्यवहार से ही सिद्ध है । जो लोग इस विभाषा सज्ञा को नहीं बनाते वे भी विभाषा शब्द कहन पर उस कार्य का

तेपि विभापेत्युक्तेऽनित्यत्वमवगच्छन्ति । याज्ञिकाः खल्वपि संज्ञामनारम्भाणां विभापेत्युक्तेऽनित्यत्वमवगच्छन्ति । तद्यथा मेघ्यः पशुर्विभापितो मेघ्योऽनङ्गवान् विभापित इति । आलब्धन्यो नालब्धन्य इति गम्यते । आचार्यः खल्वपि संज्ञामारम्भाणो भूयिष्ठमन्येरपि शब्देरेतमर्थं संप्रत्याययति । बहुलमन्यतरस्याम् उभयथा वा एकेषामिति ।

अप्राप्ते त्रिसंशयाः ।

इत उत्तरं या विभाषा अनुक्रमिष्यामः अप्राप्ते ता द्रष्टव्याः । त्रिसंशयास्तु भवन्ति । प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति ।

द्वन्द्वे च विभाषा जति ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते कथं चाप्राप्ते कथं चोभयत्रेति ।

अनित्यता समझ लेते हैं । याज्ञिक लोग भी इस संज्ञा को न जानते हुए ही विभाषा शब्द से कार्य की अनित्यता जान लेते हैं । जैसे मेघ्यः पशुर्विभापितः इस वचन में विभाषा शब्द से भावस्मृत क्रिया का विकल्प समझ लिया जाता है । इसी आचार्य पाणिनि नगशान् भी इस विभाषा संज्ञा को जानते हुए ही अन्य शब्दों से भी इसी विकल्प अर्थ को समझा रहे हैं । जैसे सूत्रों में भाते बाळे बहुलम् । अन्यतरस्याम् । उभयथा । वा । एकेशाम् । इत्यादि शब्द विभाषा के ही पर्याय हैं । जब उन शब्दों से बिना कोई भी विकल्प अर्थ का बोध हो जाता है तो विभाषा से भी हो जायगा । इस लिये इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है ।

इससे जगें जो विभाषा कहेंगे वे अप्राप्त विभाषा समझनी चाहियें । किन्तु वे प्राप्त अप्राप्त तथा उभयत्र अर्थात् प्राप्ताप्राप्त इन तीन संशयों वाली तो होंगी । उनमें प्राप्त अप्राप्त तथा प्राप्ताप्राप्त का संदेह तो अवश्य होगा ।

द्वन्द्वे च विभाषा जति इस सर्वनामसंज्ञा के प्रकरण में पठित प्रथमचरमतया-त्यार्थकतिष्येनेनादव के तय ग्रहण की विभाषा में सन्देह है कि यह विभाषा प्राप्त है या अप्राप्त है या उभयत्र है ।

प्रथमचरमतयात्यार्थ० सूत्र की तय ग्रहण वाली विभाषा में कैसे सन्देह है ?

१. त्रयः संशया यासु ताः, बहुव्रीहिः ।



यदिन्द्र पूर्वो अपराय शिक्षन्नयज्ज्यायान्कनीयसो देष्णम् ।

अमृत इत्पर्यासीत दूरमा चित्र चित्र्यं भरा रयिं नः ॥ ७ ॥

यत् । इन्द्र । पूर्वः । अपराय । शिक्षन् । अयत् । ज्यायान् । कनीयसः । देष्णम् ।

अमृतः । इत् । परि । आसीत् । दूरम् । आ । चित्र । चित्र्यम् । भर । रयिम् । नः ॥ ७ ॥

हे ऽचित्र चायनीय ऽइन्द्र ऽयत् धनं ऽपूर्वः पिता ज्येष्ठो भ्राता वा ऽअपराय पुत्राय कनीयसे वा ऽशिक्षन् प्रयच्छन् । शिक्षतिर्दानकर्मा 'प्रीणाति शिक्षति' इति दानकर्मसु पाठात् । भवतीति शेषः । यच्च ऽदेष्णं देयं धनं ऽज्यायान् ज्येष्ठः ऽकनीयसः ऽअयत् प्राप्नुयात् । यच्चापि धनं पितृतो लब्ध्वा पुत्रः ऽअमृत ऽइत् अमृत एव सन् पितृगृहं विहाय ऽदूरं ऽपर्यासीत आस्ते तत्त्रिविधं ऽचित्र्यं चायनीयं ऽरयिं धनं ऽनः अस्मभ्यम् ऽआ ऽभर आहर ॥

यस्त इन्द्र प्रियो जनो ददाशदसन्निरेके अद्रिवः सखा ते ।

वयं ते अस्यां सुमतौ चनिष्ठाः स्याम वरूथे अघ्नतो नृपीतौ ॥ ८ ॥

यः । ते । इन्द्र । प्रियः । जनः । ददाशत् । असत् । निरेके । अद्रिवः । सखा । ते ।

वयम् । ते । अस्याम् । सुमतौ । चनिष्ठाः । स्याम । वरूथे । अघ्नतः । नृपीतौ ॥ ८ ॥

हे ऽइन्द्र ऽयः ऽते तुभ्यं ऽप्रियः सखा ऽजनः ऽददाशत् हवींषि दद्यात् हे ऽअद्रिवः सः ऽसखा ऽते तव ऽनिरेके दाने ऽअसत् स्यात् । ऽवयं च वसिष्ठाः ऽअघ्नतः अहिंसतः ऽते तव ऽअस्यां ऽसुमतौ अनुग्रहबुद्धौ वर्तमानाः ऽचनिष्ठाः स्तुतिमत्तरा अतिशयेनान्नवन्तो वा । चनोऽन्नम् । ऽनृपीतौ नृणां रक्षके ऽवरूथे गृहे वरणीये वा धने ऽस्याम वसेम अवेम वा ॥

एष स्तोमो अचिक्रद्वृषा त उत स्तामुर्मघवन्नक्रपिष्ट ।

रायस्कामो जरितारं त आगन्त्वमङ्ग शक्र वस्व आ शक्रो नः ॥ ९ ॥

एषः । स्तोमः । अचिक्रदत् । वृषा । ते । उत । स्तामुः । मघवन् । अक्रपिष्ट ।

रायः । कामः । जरितारम् । ते । आ । अगन् । त्वम् । अङ्ग । शक्र । वस्वः । आ । शक्रः । नः ॥ ९ ॥

हे ऽमघवन् धनवन्निन्द्र ऽते त्वदर्थं ऽवृषा सेक्ता ऽएषः ऽस्तोमः सोमः सूयमानः<sup>१</sup> ऽअचिक्रदत् क्रन्दति । ऽउत अपि च ऽस्तामुः स्तोता ऽअक्रपिष्ट अस्तौत् । अपि च हे ऽशक्र ऽते तव ऽजरितारं स्तोतारं मां ऽरायः धनस्य ऽकामः अभिलाषः ऽआगन् आगतः । अतः ऽत्वं ऽवस्वः धनम् । कर्मणि पठौ । नः अस्मभ्यम् ऽअङ्ग क्षिप्रम् ऽआ ऽशक्रः धेहि ॥

स न इन्द्र त्वयताया इपे धास्मना च ये मघवानो जुनन्ति ।

वस्वी पु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० ॥

सः । नः । इन्द्र । त्वयतायै । इपे । धाः । त्मना । च । ये । मघवानः । जुनन्ति ।

वस्वी । सु । ते । जरित्रे । अस्तु । शक्तिः । यूयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । नः ॥ १० ॥

न व्याप्नुवन्नित्यर्थः । एवेन एहि आमीयेन च शयमा वरेन वृत्र जयन्त्य त्वमवधी । शत्रु-  
न युधा युद्धेन एते तव अन्तर्हि सा एन एविविदन् न लब्धवान् ॥

देवाश्चित्ते अमुर्याय पूर्वेऽनु क्षत्राय ममिरे सहामि ।

इन्द्रो मघानि दयते विपक्षेन्द्रं वाजस्य जोहुमन्त सातो ॥ ७ ॥

देवा । चित् । ते । अमुर्याय । पूर्वे । अनु । क्षत्राय । ममिरे । महासि ।

इन्द्र । मघानि । दयते । विपक्षेन्द्रं । वाजस्य । जोहुमन्त । सातो ॥ ७ ॥

पूर्वे देवाश्चित् अमुरा अपि अमुषाय वलाय एक्षत्राय । क्षदिहिसक्त्वा । उल । हन्ता घामे  
कर्तुमित्यर्थः । इन्द्र एते तव महासि वलानि अनु ममिरे ॥ 'हीन' ( पा सू. ४. ८६ )  
इत्यनु कर्मप्रवचनीयः ॥ तत्र वलेभ्या हीना ममिर इत्यर्थः । तथा च निगमान्तरम्—'अनु ते  
पर्यैरुहती वीर्ये ममे' ( ऋ स १. ५७. ५ ) इति । अय पराक्षस्तुतिः । इन्द्र शत्रुन् विपक्ष  
मघानि महनीयानि धनानि दयते नैवेभ्य प्रयच्छति । अपि च इन्द्र वाजस्य अश्वस्य एमातो  
लाभार्थं जोहुवन्त स्तुवन्ति स्तातार आह्वयन्ति वा ॥

कीरिश्चिद्धि त्वामवसे जुहावेशानमिन्द्र सौभगस्य भूरः ।

अवो वभूथ शतमूते अस्मे अभिक्षत्तुस्त्वारतो वरुता ॥ ८ ॥

कीरि । चित् । हि । त्वाम् । अवसे । जुहाव । इशानम् । इन्द्र । सौभगस्य । भूरै ।

अव । वभूथ । शतम् । अस्ते । अभिक्षत्तु । त्वाऽऽन । वरुता ॥ ८ ॥

इन्द्र ईशान एवा कीरि स्तोता । 'कार कीरि' इति स्तोत्रनामसु पाठात् । वसिष्ठ  
अवसे रक्षणाय जुहाव एहि स्ताति हि ह्वयति वा । चित् इति पूरण । अपि च इ शतमूते  
वदुरक्षेन्द्र अस्मे अस्माक भूरै प्रभूतस्य सौभगस्य धनस्य अव रक्षा वभूथ वभूविध ।  
अभिक्षत्तु अभिहितस्य एवावतः एवमवशस्य एवता वारयिता च भव ॥

सखायस्त इन्द्र विश्वह स्याम नमोवृधासो महिना तरुत्र ।

वन्वन्तु स्म तेऽवसा समीकेऽभीतिमुर्यो वनुपां शवासि ॥ ९ ॥

सखाय । ते । इन्द्र । विश्वह । स्याम । नमः । वृधास । महिना । तरुत्र ।

वन्वन्तु । स्म । ते । अवसा । समीके । अभीतिम् । अर्य । वनुपाम् । शवासि ॥ ९ ॥

इन्द्र एते तव नमोवृधास नमसा स्तुत्या हविषा वा वध्यितारा वय विश्वह सर्वदा  
सखाय स्याम भवम । महिना महिम्ना एतत् अत्यन्त तारकेन्द्र एते तव अवसा रक्षणेन  
समीके सग्रामे अर्य अभीतिम् अभिगमन वनुपा हिसकाना शवासि वलानि च वन्वन्तु  
स्तोतारा हिसन्तु ॥

हे वृक्ष इन्द्र त्वम् अहिना वृत्रेण परिष्ठिताः आक्रान्ताः पूर्वाः बह्वीः अपः उदकानि  
 वत्तवितवै सवितुं कः अकर्षीः । धेनाः नद्यश्च त्वत् त्वत्तो हेतोः स्थ्यो न रथिन इव  
 वावक्रे निर्गच्छन्ति । 'वकि कौटिल्ये' इति धातुः । विश्वा विश्वानि कृत्रिमाणि भुवनानि च  
 भीषा त्वत्तो भीत्या रेजन्ते कम्पन्ते ॥

भीमो विवेपायुधेभिरेषामपांसि विश्वा नर्याणि विद्वान् ।

इन्द्रः पुरो जर्हषाणो वि दूधोद्वि वज्रहस्तो महिना जघान ॥ ४ ॥

भीमः । विवेष । आयुधेभिः । एषाम् । अपांसि । विश्वा । नर्याणि । विद्वान् ।

इन्द्रः । पुरः । जर्हषाणः । वि । दूधोत् । वि । वज्रहस्तः । महिना । जघान् ॥ ४ ॥

इन्द्रः नर्याणि नरहितानि विश्वा विश्वानि अपांसि कर्माणि विद्वान् जानन् आयु-  
 धेभिः आयुधैः भीमः भयंकरः सन् एषाम् । कर्मणि पठ्ठी । एतानसुरान् विवेष व्यासवान् ।  
 पुरः च तेषां वि दूधोत् अकम्पयत् । अपि च जर्हषाणः हव्यन् महिना महिना युक्तः वज्र-  
 हस्तः सन् तान् वि जघान ॥

न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः ।

स शर्धदुर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्रदेवा अपि गुर्कतं नः ॥ ५ ॥

न । यातवः । इन्द्र । जूजुवुः । नः । न । वन्दना । शविष्ठ । वेद्याभिः ।

सः । शर्धत् । अर्यः । विषुणस्य । जन्तोः । मा । शिश्रदेवाः । अपि । गुः । कृतम् । नः ॥ ५ ॥

हे इन्द्र यातवः राक्षसाः नः अस्मान् न जूजुवुः न हिंस्युः । जूजुवुरिति हिंसाक्रियः  
 पृथक्करणक्रियो वा । अपि च हे शविष्ठ बलवत्तमेन्द्र वन्दना वन्दनानि रक्षांसि वेद्याभिः  
 वेद्याभ्यः प्रजाभ्यो नोऽस्मान् न जूजुवुः न पृथक्कुर्वन्तु । किञ्च अर्यः स्वामी सः इन्द्रः विषु-  
 णस्य विषमस्य जन्तोः प्राणिनः शासने शर्धत् उत्सहेत । अथ च शिश्रदेवाः । शिश्रेण दीव्यन्ति  
 क्रीडन्त इति शिश्रदेवाः । अब्रह्मचर्या इत्यर्थः । नः अस्माकम् कृतं यज्ञं सत्यं वा मा अपि  
 गुः मा अपिगमन् । तथा च यास्कः—'स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोर्विषमस्य मा शिश्रदेवा  
 अब्रह्मचर्याः । शिश्रं श्रथते । अपि गुर्कतं नः सत्यं वा यज्ञं वा' ( निरु. ४. १९ ) इति ॥ ३ ॥

अभि क्रत्वेन्द्र भूरध जमन्न ते विव्यद्वाहिमानं रजांसि ।

स्वेना हि वृत्रं शर्वसा जघन्थ न शत्रुरन्तं विविदद्युधा ते ॥ ६ ॥

अभि । क्रत्वा । इन्द्र । भुः । अध । जमन् । न । ते । विव्यक् । महिमानम् । रजांसि ।

स्वेन । हि । वृत्रम् । शर्वसा । जघन्थ । न । शत्रुः । अन्तम् । विविदत् । युधा । ते ॥ ६ ॥

हे इन्द्र त्वं क्रत्वा कर्मणा जमन् पृथिव्यां वर्तमानान् जन्तून् वा अभि भूः अभ्यभूः ।  
 अध अपि च ते तव महिमानं रजांसि सर्वे लोकाः न विव्यक् । व्यचिर्व्याप्तिकर्मा ।

वो॒य । सु । मे । म॒घऽव॒न् । वाच॑म् । आ । इ॒माम् । या॒म् । ते । व॒मि॒ष्ट । अ॒र्च॑ति । प्र॒दर्श॑स्तिम् ।  
इ॒मा । व॒क्ष॑ । स॒धऽमा॑दे । जु॒प॒स्व ॥ ३ ॥

हे १मघवन् धनवच्चिन्द्र १ते तव १प्रशस्ति स्तुतिरूपा १या १वाच १वमिष्ट १अर्चति वदति  
ताम् १इमां १मे वमिष्टस्य सबन्धिना वाच १सु १आ १बाध सुष्ठु अभिवृध्यस्व । किञ्च १इमा इमानि  
१वक्ष्य वक्ष्याणि १मधमादे यत्ते १उपस्व सेरस्व ॥

श्रु॒धी ह॒वँ वि॒पि॒पा॒न॒स्याद्रे॒वो॒धा वि॒प्र॒स्या॒र्च॑तो म॒नी॒षाम् ।

कू॒ष्वा दु॒वां॑स्प॒न्त॒मा स॒चे॒मा ॥ ४ ॥

श्रु॒धि । ह॒व॑म् । वि॒ऽपि॒पा॒न॒स्य॑ । अ॒त्रे । वो॒य । वि॒प्र॒स्य॑ । अ॒र्च॑त । म॒नी॒षाम् ।

कू॒ष्व । दु॒वां॑सि । अ॒न्त॑मा । म॒चा । इ॒मा ॥ ४ ॥

हे इन्द्र १विपिपानस्य विपीतवतो विपिवतो या मम १अत्रे प्राव्य १हवम् आह्वान १श्रुधि  
शृणु । तथा च निगमान्तर—‘प्रावम्यो वाच वदता वदज्जय ’ (क स १० १४ १) इति ।  
१विप्रस्य प्रावस्य वमिष्टस्य १अर्चत स्तुत १मनीषा स्तुति १वोध वृध्यस्व च । १इमा इमानि  
क्रियमाणानि १दुवासि परिचरणानि १अन्तमा अन्तिकृतमानि बुद्धिस्थानि १सचा सह सहायभूत  
सन् वा १कृष्व कुरु च ॥

न ते॒ गि॒रो अ॒पि मृ॒ष्ये त॒ुरस्य॑ न सु॒ष्टुति॑र्म॒सुर्य॑स्य वि॒द्वान् ।

सदा॑ ते॒ नाम॑ स्वय॒शो वि॒वकि॑म ॥ ५ ॥

न । ते । गि॒र । अ॒पि । मृ॒ष्ये । त॒ुरस्य॑ । न । सु॒ऽस्तु॒तिम् । अ॒न॒ुर्य॑स्य । वि॒द्वान् ।

सदा॑ । ते । नाम॑ । स्व॒ऽय॒शः । वि॒वकि॑म ॥ ५ ॥

हे इन्द्र १तुरस्य शत्रूणां हिमकस्य १ते तव १गिर स्तुती १असुरस्य । द्वितीयार्थं पठ्यते ।  
त्वदीयमसुर्यं बल १विद्वान् जानन्नह १न १अपि १मृष्ये । मृषिमान्नकम्मा । न मानयामि । न परि  
त्यजामीदर्थ । १सुष्टुति शोभना स्तुति च १न अपि मृष्ये । मृषेमान्नकर्मत्वमन्यत्रापि दृश्यते ।  
तद्यथा—‘मा नो अग्ने सत्या पित्याणि प्र न पिष्टा ’ (क स १ ७१ १०) इति । किन्तु १स्वयश  
असाधारणयश १ते तव १नाम स्तोत्र सदैव १विवकिम भवामि ॥ ५ ॥

भूरि॑ हि ते॒ सर्व॑ना॒ मानु॑षे॒षु भूरि॑ म॒नी॒षी ह॒वते॑ त्वामि॒त् ।

मा॒रे अ॒स्मन्म॑ध॒वज्ज्यो॑र्कः ॥ ६ ॥

भूरि॑ । हि । ते । सर्व॑ना । मानु॑षे॒षु । भूरि॑ । म॒नी॒षा । ह॒व॑ते । त्वाम् । इत् ।

मा । आ॒रे । अ॒स्मत् । म॒घऽव॒न् । ज्यो॑क् । क॒रि॒ति क ॥ ६ ॥

हे १मघवन् १ते तव १सवना सवनानि सोनाभिषवणानि १भूरि भूरीणि १मानुषेषु अस्मानु  
वर्तन्त इति शेष । १मनीषा स्तोता १त्वामिद् त्वामेव १भूरि १हवते नितरां ह्वरति स्तौति । अत  
१अस्मत् अस्मत् १आरे दूरे १ज्योक् चिरकाल १मा १क आत्मान मा कार्षी । क्षिप्रमात्मानम  
स्मदासन्नं कुर्वित्यर्थ ॥

स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्मना च ये मघवानो जुनन्ति ।

वस्वी पु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्युयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ १० ॥

सः । नः । इन्द्र । त्वयतायै । इषे । धाः । त्मना । च । ये । मघवानः । जुनन्ति ।

वस्वी । सु । ते । जरित्रे । अस्तु । शक्तिः । युयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । नः ॥ १० ॥

इयमृग्याख्यातचरा ॥ ४ ॥

‘ पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा ’ इति नवचं पञ्चमं सूक्तम् । अनुक्रम्यते च—‘ पिब नव वैराजमृतेऽन्त्याम् ’ इति । वसिष्ठ ऋषिः । आदितोऽष्टौ विराजो नवमी त्रिष्टुप् । इन्द्रो देवता । दशरात्रे चतुर्थेऽहनि निष्केवल्यशस्त्रे ‘ पिबा सोममिन्द्र ’ इति षट् स्तोत्रियानुरूपौ । सूत्रितं च—‘ वैराजं चेत्पृष्ठं पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेति षट् स्तोत्रियानुरूपौ ’ ( आश्व. श्रौ. ७. ११ ) इति । महाव्रतेऽपि निष्केवल्य आद्याः षट्चः । सूत्रितं च—‘ पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेति षट् ’ ( ऐ. आ. ५. ३. १ ) इति । आद्या निष्केवल्यशस्त्रयाज्या । सूत्रितं च—‘ पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वेति याज्या ’ ( आश्व. श्रौ. ५. १५ ) इति । चतुर्थेऽहनि माध्यंदिनसवने होत्रकशस्त्रेषु सप्त विराजर्क्षी-स्तृचान् कृत्वैकैकस्तृचः शंसनीयः । तत्र ‘ न ते गिरः ’ इत्याद्याश्चतस्र ऋचः । सूत्रितं च—‘ न ते गिरो अपि मृत्ये तुरस्य प्र वो महे महिवृधे भरध्वम् ’ ( आश्व. श्रौ. ७. ११ ) इति ॥

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्विः ।

सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वी ॥ १ ॥

पिब । सोमम् । इन्द्र । मन्दतु । त्वा । यम् । ते । सुषाव । हरिऽअश्वा । अद्विः ।

सोतुः । बाहुऽभ्याम् । सुयतः । न । अर्वा ॥ १ ॥

हे १इन्द्र १सोमं १पिब । स सोमः १त्वा त्वां १मन्दतु मादयतु । हे १हर्यश्च १ते त्वदर्थं १सोतुः अभिपवर्तुः १बाहुभ्याम् १अर्वा १न रश्मिभ्यामश्च इव १सुयतः सुष्ठु परिगृहीतः १अद्विः ग्रावा १यं सोमं १सुषाव ॥

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्च हंसि ।

स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

यः । ते । मदः । युज्यः । चारुः । अस्ति । येन । वृत्राणि । हरिऽअश्च । हंसि ।

सः । त्वाम् । इन्द्र । प्रभुवसो इति प्रभुऽवसो । ममत्तु ॥ २ ॥

हे १हर्यश्च १ते तव १यः? १युज्यः अनुगुणः १चारुः समीचीनः १मदः मदकरः सोमः १अस्ति विद्यते १येन च पीतेन सोमेन १वृत्राणि १हंसि हे १प्रभूवसो प्रभूतधन १इन्द्र १त्वां १सः सोमः १ममत्तु मादयतु ॥

वोधा सु मे मघवन्वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् ।

इमा ब्रह्म सधमादे जुपस्व ॥ ३ ॥

१ध्रुवस्या अदृच्छया १ब्रह्माणि स्तोत्राणि हवींषि च इन्द्रायम् १उत् १दत्त १सप्त ऋषय इति शेष । १उ इति पूरण । इ १वसिष्ठ त्वनपि १समय यने १इन्द्र १महय स्तोत्राणि हविषा च पूतय । अपि च १य इन्द्र १विधानि भुवनानि १शवसा १लेन १आ १ततान स १इवत उपाननवत १म नम १वचामि स्तुतिरूपाणि वाक्यानि १उपगता भवतु ॥

अयामि धोर्ष इन्द्र देवर्जामिरिज्यन्त यच्छुरुगो विगोचि ।

नहि स्वमार्युश्चिकित्ते जनेषु तानीदंवास्पतिं पश्यस्मान् ॥ २ ॥

अयामि । धोर्ष । इन्द्र । देवऽर्जामि । इत्यन्त । यत् । शुरुग । विगोचि ।

नहि । त्वम् । आर्मु । चारुत । जनेषु । तानि । इत् । अहाम । नति । पृषि । त्स्मान् ॥ २ ॥

१यत् यदा १शुरुग । शुरुग रूपताति पुरुष नाप्य । १इत्यन्त वधन्त तदा इ १इन्द्र त्वर्ष १विवाचि स्तानरि १वचामि देवाना दन्तु १घोर । स्तुतिरूप रचना गोर । १अयामि अकारि । अपि च १जनेषु मध्य कनापि १स्वनायु स्वनाविन १नहि १चिकित न ज्ञानत । य १आयु क्षीयते १तानात् तानि सत्राण्यव १ब्रह्माणि पापानि १अस्मान् १अति १पाप अतिदारय ॥

युजे रथं गुरेपणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्युः ।

वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्सेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्नान् ॥ ३ ॥

युजे । रथम् । गोऽर्पणम् । हरिऽन्याम् । उर्ष । ब्रह्माणि । जुजुषाणम् । अस्युः ।

वि । बाधिष्ट । स्य । रोदसा गति । महिऽत्वा । इन्द्र । गुराणि । अप्रति । जघन्नान् ॥ ३ ॥

१गवयण गावा प्रापकमिन्द्रस्य १रथ १हरिभ्याम् इन्द्रग्राहाभ्या १उप स्तोत्राणि पुनः । १ब्रह्माणि स्तोत्राणि १जुजुषाण परिवारे सव्यमानमिन्द्रम् १उप १अस्यु उपातिष्ठन् । १स्य माऽय मिन्द्र १महित्वा नहतन १रोदसी बाधावृथिन्या १वि १बाधिष्ट स्वबाधिष्ट च । अपि च १इन्द्र १वृत्राणि जघन्न अप्रतिद्वन्द्वानि १जघन्नान् हतवान् ॥

आर्षश्चित्पिपुः स्तर्यो न गावो नक्षत्रं जरितारस्त इन्द्र ।

याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि राजान् ॥ ४ ॥

आर्ष । चित् । पिपु । स्तर्य । न । गाव । नक्षत्रम् । जरितार । त । इन्द्र ।

याहि । वायु । न । निऽयुत । न । अच्छ । त्वम् । हि । धीभि । दयसे । वि । राजान् ॥ ४ ॥

इ १इन्द्र स्वप्रसादात् १आपश्चिन् आप १स्तया १न १गाव स्तया वस्ता गाव इय १पिपु वधन्ताम् । अप्रसूता गावा मासला भवन्ति हि । १त तत्र १जरितार स्तोत्राश्च १रुतम् उदक १नक्षत्र व्याप्नुवन् । अपि च त्व १न अस्मान् १नियुत १वायुन वायुरिव १अच्छ १याहि अभियाहि । १त्व १हि १धामि प्रज्ञाभि कमनिर्वा १वागान् अज्ञानि १वि १दयसे स्तान्भ्य प्रयच्छसि ॥

१. ज-ऐरत प्रेरितवत् । २ त-याप्तान् । ३ त-न भ-स स्व पावतम् । ४ ख-भ-सेव्यमिन्द्रम् । ५ ख-अप्रतिद्विद्वानो ज-प्रातद्वन्द्वानि न भ इति द्वन्द्वानि ।

तुभ्येदिमा सर्वना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि ।  
त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि ॥ ७ ॥

तुभ्य । इत् । इमा । सर्वना । शूर । विश्वा । तुभ्यम् । ब्रह्माणि । वर्धना । कृणोमि ।  
त्वम् । नृभिः । हव्यः । विश्वधा । असि ॥ ७ ॥

हे वशूर वतुभ्येत् तुभ्यमेव वइमा इमानि विश्वा विश्वानि वसवना सोमाभिपवणानि मया  
क्रियन्त इति शेषः । वतुभ्यं त्वदर्थमेव वर्धना वर्धनानि ब्रह्माणि स्तोत्राणि कृणोमि करोमि ।  
वत्वम् एव नृभिः यज्ञानां नेतृभिः विश्वधा सर्वप्रकारैः वहव्यः ह्यातव्यः स्तुत्यो वा असि ॥

नू चिन्तु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्रुवन्ति महिमानमुग्र ।  
न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ॥ ८ ॥

नु । चित् । तु । ते । मन्यमानस्य । दस्म । उत् । अश्रुवन्ति । महिमानम् । उग्र ।  
न । वीर्यम् । इन्द्र । ते । न । राधः ॥ ८ ॥

हे वदस्म दर्शनीय मन्यमानस्य स्तूयमानस्य ते तव महिमानम् । नू चिदिति प्रति-  
षेधार्थः । वनु क्षिप्रं वनू वचित् वउदश्रुवन्ति केचन न प्राप्नुवन्ति । हे वउग्र उद्गूणं ते तव  
वराधः धनं वन उदश्रुवन्ति ॥

ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः ।

अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ९ ॥

ये । च । पूर्व । ऋषयः । ये । च । नूत्नाः । इन्द्र । ब्रह्माणि । जनयन्त । विप्राः ।  
अस्मे इति । ते । सन्तु । सख्या । शिवानि । यूयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । नः ॥ ९ ॥

ये वच वपूर्वे प्राक्तनाः वऋषयः ये वच वनूत्नाः नूतनाः वविप्राः मेधाविन ऋषयः  
वब्रह्माणि स्तोत्राणि वजनयन्त अजनयन्त तेष्विव अस्मे अस्मास्वपि हे वइन्द्र वते तव वसख्या  
सख्यानि वशिवानि भद्राणि वसन्तु । स्पष्टमन्यत् ॥ ६ ॥

‘उदु ब्रह्माणि’ इति पठ्यं पठं सूक्तं वसिष्ठस्यार्पं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । अनुक्रम्यते च— ‘उदु  
पट्’ इति । अग्निष्टोमे माध्यंदिने सवने ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र एतत्सूक्तम् । सूत्रितं च— ‘उदु ब्रह्माण्य-  
जीपी वज्री वृषभस्तुरापाळिति याज्या’ ( आश्व. श्रौ. ५. १६ ) इति । चातुर्विधिकेऽहनि माध्यंदिन-  
सवने ब्राह्मणाच्छंसिशस्त्र एतदहरहःशस्यसंज्ञकं सूक्तम् । सूत्रितं च— ‘उदु ब्रह्माण्यभि तप्रेवेतीतरावह-  
रहःशस्ये’ ( आश्व. श्रौ. ७. ४ ) इति । अहर्गणेषु द्वितीयादिष्वहःसु एतदेव सूक्तम् । महाव्रतेऽपि  
निष्केवल्य एतत्सूक्तम् । सूत्रितं च— ‘उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्या ते मह इन्द्रोत्पुयेति पञ्च सूक्तानि’  
( ऐ. आ. ५. २. २ ) इति ॥

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्थं महया वसिष्ठ ।

आ यो विश्वानि शर्वसा ततानोपश्रोता म ईर्वतो वचांसि ॥ १ ॥

उत् । ऊँ इति । ब्रह्माणि । ऐरत् । श्रवस्या । इन्द्रम् । सऽमर्थम् । महय । वसिष्ठ ।

आ । यः । विश्वानि । शर्वसा । ततान । उपऽश्रोता । मे । ईर्वतः । वचांसि ॥ १ ॥

गृभीतम् । ते । मन । इन्द्र । द्विऽवर्होः । सुत । सोम । परिऽसिक्ता । मधूनि ।  
विऽसृष्टधेना । भरते । सुऽनुक्ति । इयम् । इन्द्रम् । जोहुवती । मनीषा ॥ २ ॥

हे १ इन्द्र १ द्विर्वर्हा । पृथ्व्यै प्रथमा । द्विर्वर्हा द्वयोः स्थानयो १ परिऽसृष्टस्य १ ते तव १ मन  
१ गृभीतम् अस्माभिः परिगृहीतम् । १ सोम च १ सुत अभिपुत । १ मधूनि च १ परिऽसिक्ता पात्रेषु  
परिपित्तानि । १ विऽसृष्टधेना विऽसृष्टजिह्वा मध्यमस्वरेणोच्चार्यमाणा १ सुऽनुक्ति सुसमाप्ति १ इय  
१ मनीषा स्तुति १ इन्द्र १ जोहुवती शृङ्गनाद्धयन्ती १ भरते सन्धियते च ॥

आ नो दिव आ पृथिव्या ऋजीपिन्निदं बर्हिः सोमपेयाय याहि ।

वहन्तु त्वा हरयो मय्यश्वाङ्गूपमच्छा त्वसं मदाय ॥ ३ ॥

आ । न । दिव । आ । पृथिव्या । ऋजीपिन् । इदम् । बर्हिः । सोमपेयाय । याहि ।  
वहन्तु । त्वा । हरय । मय्यश्वा । आङ्गूपम् । अच्छ । त्वसम् । मदाय ॥ ३ ॥

हे १ ऋजीपिन् इन्द्र १ न अस्माकम् १ इदं बर्हि इमं यज्ञ १ सोमपेयाय १ दिव स्वर्गात् १ आ  
१ याहि आगच्छ । १ पृथिव्या अन्तरिक्षाच्च । आप पृथिवी १ इत्यन्तरिक्षनामसु पाप्मात् । १ आ  
याहि । अपि च १ तवस प्रयुज्य वलन्त वा १ मय्यश्वा मदाभिमुख १ त्वा त्वाम् १ आङ्गूप स्तोत्रम्  
१ अच्छ अभि १ मदाय मदाय १ हरय अश्वा १ वहन्तु ॥

आ नो विश्वाभिरुतिभिः सजोषा ब्रह्म जुषाणो हर्यश्च याहि ।

वरीवृजत्स्थविरेभिः सुशिप्रास्मे दधदृपणं शुष्ममिन्द्र ॥ ४ ॥

आ । न । विश्वाभि । उतिभिः । सजोषा । ब्रह्म । जुषाण । हरिऽअश्च । याहि ।  
वरीवृजत् । स्थविरेभिः । सुऽशिप्रा । अस्मे इति । दधत् । दृपणम् । शुष्मम् । इन्द्र ॥ ४ ॥

हे १ हर्यश्च हरिनामकाश्च १ सुशिप्रा शोभनहनो १ इन्द्र १ विश्वाभि सर्वाभि १ उतिभि रक्षाभि  
१ सजोषा सगत १ स्थविरेभि वृद्धैर्मरिभि सह १ वरीवृजत् नरान् शृङ्ग हिंसन् १ अस्मे अस्मभ्य १ दृपण  
कामाना वपितार १ शुष्म वलन्त पुत्र १ दधत् प्रयच्छन् १ ब्रह्म स्तोत्र १ जुषाण सेवमान १ न  
अस्मान् १ आ १ याहि ॥

एष स्तोमो मह उग्राय वाहे धुरीऽवात्यो न वाजयन्धायि ।

इन्द्र त्वायमर्क ईद्रे वर्तनां दिवां चामधि नः श्रोमतं धाः ॥ ५ ॥

एष । स्तोम । मह । उग्राय । वाहे । धुरिऽइव । अत्य । न । वाजयन् । अधायि ।  
इन्द्र । त्वा । अयम् । अर्क । ईद्रे । वर्तनान् । दिविऽन । चाम् । अधि । न । श्रोमतम् । धा ॥ ५ ॥

१ मह महते १ उग्राय उद्गूर्णाय आतस्विने वा १ वाह विश्वस्य वोढु इन्द्राय १ धुरीव रथस्य  
१ अत्यो १ न अथ इव १ वाजयन् बल कुर्वन् १ एष १ स्तोम १ अधायि व्यधायि । अथ मत्पत्न्यस्तुति ।  
हे १ इन्द्र य त्वाम् १ अयमर्क स्तोता १ वसूना वसूनि धनानि १ ईद्रे याचते स त्व १ न अस्मासु १ धा  
१ दिवां च १ श्रोमत श्रवणीयमद्य पुत्र वा १ अधि १ धा अधिधेहि ॥

१. न-स्थानयो । तथा च निरुक्त-‘परिऽसृष्टो मध्यमे च स्थाने उत्तमे च’ (निब. १. १७) ।

२. धा-प्रयच्छस्त्वम् ।



ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविरार्धसं जरित्रे ।

एको देवत्रा दयसे हि मर्तान् अस्मिञ्छूरु सर्वने मादयस्व ॥ ५ ॥

ते । त्वा । मदाः । इन्द्र । मादयन्तु । शुष्मिणम् । तुविऽरार्धसम् । जरित्रे ।

एकः । देवऽत्रा । दयसे । हि । मर्तान् । अस्मिन् । शूरु । सर्वने । मादयस्व ॥ ५ ॥

हे ऽइन्द्र ऽत्वा त्वां ऽते एते ऽमदाः मदकराः सोमाः ऽमादयन्तु । अपि च ऽजरित्रे स्तोत्रे ऽशुष्मिणं बलवन्तं ऽतुविरार्धसं बहुधनं पुत्रं प्रयच्छतीति शेषः । हे ऽशूर त्वं ऽदेवत्रा देवेषु ऽएकः एव ऽमर्तान् मनुष्यान् ऽदयसे ऽहि । दयतिरनुकम्पार्थः । ऽअस्मिन् ऽसर्वने यज्ञे ऽमादयस्व ॥

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यकैः ।

स नः स्तुतो वीरवद्वातु गोमधूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

एव । इत् । इन्द्रम् । वृषणम् । वज्रऽबाहुम् । वसिष्ठासः । अभि । अर्चन्ति । अकैः ।

सः । नः । स्तुतः । वीरऽवत् । धातु । गोऽमत् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ६ ॥

ऽवसिष्ठासः वसिष्ठाः ऽवज्रबाहुं वज्रकल्पबाहुं ऽवृषणं कामानां वर्षितारम् ऽइन्द्रम् ऽएवेत् उक्तेन प्रकारेणैव ऽअकैः अर्चनीयैः स्तोत्रैः ऽअभ्यर्चन्ति अभिपूजयन्ति । ऽस्तुतः ऽसः इन्द्रः ऽनः अस्मभ्यं ऽवीरवत् पुत्रादियुक्तं ऽगोमत् गोयुक्तं<sup>१</sup> च धनं ऽधातु ददातु । स्पष्टमन्यत् ॥ ॥ ७ ॥

‘ योनिष्ट इन्द्र सद्ने अकारि ’ इति षडृचं सप्तमं सूक्तं वसिष्ठस्यार्थं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । अनुक्रम्यते च—‘ योनिः ’ इति । महाव्रते निष्केवल्य एतत्सूक्तम् । सूत्रितं च—‘ योनिष्ट इन्द्र सद्ने अकारीत्ये-  
तस्य चतस्रः शस्त्वोत्तमासुपसंतत्योपोत्तमया परिदधाति ’ ( ऐ. आ. ५. ३. १ ) इति ॥

योनिष्ट इन्द्र सद्ने अकारि तमा नृभिः पुरुहूत प्र याहि ।

असो यथा नोऽविता वृधे च ददो वसूनि ममदश्च सोमैः ॥ १ ॥

योनिः । ते । इन्द्र । सद्ने । अकारि । तम् । आ । नृभिः । पुरुऽहूत । प्र । याहि ।

असः । यथा । नः । अविता । वृधे । च । ददः । वसूनि । ममदः । च । सोमैः ॥ १ ॥

हे ऽइन्द्र ऽते तव ऽसद्ने सदनार्थं ऽयोनिः स्थानम् ऽअकारि । हे ऽपुरुहूत ऽनृभिः मरुद्भिः सार्धं ऽतं योनिम् ऽआ ऽप्र ऽयाहि । ऽनः अस्माकं ऽयथा ऽअविता रक्षिता ऽअसः भवसि नोऽस्माकं ऽवृधे वर्धनाय ऽच असः । तथा च ऽवसूनि ऽददः अस्मभ्यं देहि । ऽसोमैः अस्मदीयैः ऽममदः मादयस्व ऽच ॥

गृभीतं ते मन इन्द्र द्विवर्हाः सुतः सोमः परिपिक्ता मधूनि ।

विसृष्टधेना भरते सुवृक्तिरियमिन्द्रं जोह्वती मनीषा ॥ २ ॥

शतम् । ते । शिप्रिन् । उतर्य । सुदामे । सहस्रम् । शमा । उत । रानि । अस्तु ।  
जहि । मर्थ । पुनर्प । मर्त्यस्य । अस्मे इति । बुध्नन् । अपि । रनम् । च । मोह ॥३॥

हे शिप्रिन् उष्णाधिप्रिन्द्र १ ते त्वदाया २ शत उद्गार ३ उतर रक्षा ४ सुदास शाननदानाग  
मद्य सन्तु । ५ सहस्र ६ शसा शसनाग कामाश्च सन्तु । ७ उत अपि च रानि जनम् ८ अस्तु ।  
९ वनुष हिस्रस्य १० मर्त्यस्य ११ यद्य हिमामाधनमायुध च १२ जहि । अपि च १३ अन्म १४ अग्नि अन्मानु  
१५ बुध्न दीप्तिमद्वर यशो वा १६ रत्न १७ च १८ धेहि । नया च यास्क — 'बुध्न योनितंयशा वात्र या । अन्म  
बुध्नमधि रत्न च धेहि । अस्मासु बुध्न च रत्न च धेहि' ( निह ५ ५ ) इति ॥

त्वारितो हीन्द्र ऋत्वे अस्मि त्वारितोऽवितुः शूर रातो ।

विश्वेदहानि तत्रिपीर उग्रं ओकः कृणुष्व हरिरो न मर्षीः ॥ ४ ॥

त्वाऽरत । हि । इन्द्र । ऋत्वे । आस्मि । त्वाऽरत । अवितु । शूर । रातो ।

विर्षा । इत् । अहानि । तत्रिपीर । उग्र । ओक । कृणुष्व । हरिऽर । न । मर्षी ॥४॥

इ १ इन्द्र २ त्वावत त्वत्पदस्य ३ ऋत्वे कनजे ४ अस्मि भवामि ५ हि । इ ६ शूर ७ अवितु  
विश्वस्य रक्षितु ८ त्वावत त्वत्पदस्य ९ रातो दान चास्माति शप । इ १० तत्रिपीर ११ वन्वन् १२ उग्र  
ओनस्विप्रिन्द्र १३ विश्वेत् विश्वान्येव १४ अहानि १५ ओक अस्माक स्यान् १६ कृणुष्व कुरु । इ १७ हरि  
हरिवन् १८ न १९ मर्षी अस्माक हिस्या ॥

कुत्सा एते हर्यश्वाय श्रुपमिन्द्रे सहो देवर्जतमियानाः ।

सत्रा कृधि सुहना शूर वृत्रा वयं तरुत्राः सनुयाम वार्जम् ॥ ५ ॥

कुत्सा । एते । हरिऽश्वाय । श्रुपम् । इन्द्रे । सह । देवऽर्जतम् । इयाना ।

सत्रा । कृधि । सुहना । शूर । वृत्रा । वयम् । तरुत्रा । सनुयाम । वार्जम् ॥ ५ ॥

१ एते २ वय वसिष्ठा ३ हर्यश्वाय हरिनामकाश्वायन्द्राय ४ श्रुप सुखकर स्तात्र ५ कुत्सा कुवाजा ।  
करोते कुत्सशब्दनिष्पत्ति । ६ इन्द्रे ७ देवर्जत दैव प्रेरित ८ सह बलम् ९ इयाना याचनाना १० तरुत्रा  
दुगाणि तीर्णा सन्त ११ वय वल १२ सनुयाम लभेमहि । अपि च ॥ १३ शूर १४ वृत्रा वृत्राणि शत्रून्  
१५ सुहना हन्तु मुशकानि १६ सत्रा सबदा १७ कृधि कुरु ॥

एषा न इन्द्र वार्यस्य पूर्धि प्र ते महीं सुमतिं वेविदाम ।

इषे पिन्व मध्वत्तम्यः सुवीरा ययं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

एष । न । इन्द्र । वार्यस्य । पूर्धि । प्र । ते । महीम् । सुऽमतिम् । वेविदाम ।

इषम् । पिन्व । मध्वत्तम्य । सुऽवीराम् । ययम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । न । ॥६॥

इय व्याख्यातचरा ॥ ॥ ९ ॥

'न सोम इन्द्रम्' इति पञ्चमं नवमं सूक्त वसिष्ठस्यापं ऋभर्मन्द्रम् । तथा चानुकन्यते—

'न सोम पञ्च' इति । महावत् उक्तो विनियोग ॥

१ श-तेजस्विप्रिन्द्र ।

ए॒वा न॑ इन्द्र॒ वार्य॑स्य पू॒र्धिं प्र ते॑ म॒हीं सु॑म॒तिं वे॑वि॒दाम् ।

इषं॑ पि॒न्व म॒घव॑द्भ्यः सु॒वीरां॑ यूयं पा॒त स्व॒स्तिभिः॑ सदा॑ नः ॥ ६ ॥

ए॒व । नः॑ । इन्द्र॒ । वार्य॑स्य । पू॒र्धिं । प्र । ते॑ । म॒हीम् । सु॒ऽम॒तिम् । वे॒वि॒दाम् ।

इष॑म् । पि॒न्व । म॒घव॑त्ऽभ्यः । सु॒ऽवीरा॑म् । यूयम् । पा॒त । स्व॒स्तिऽभिः॑ । सदा॑ । नः॑ ॥ ६ ॥

हे १ इन्द्र १ नः अस्मान् १ एव एवं १ वार्यस्य । तृतीयार्थे षष्ठी । वरणीयेन धनेन १ पूर्धि पूरय । १ ते तव १ महीं महतीं १ सुमतिम् अनुग्रहबुद्धिं १ वेविदाम् भृशं लभेमहि । १ मघवद्भ्यः हविष्मद्भ्योऽस्मभ्यं १ सुवीरां शोभनपुत्रादियुताम् १ इषम् अन्नं १ पिन्व प्रयच्छेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ॥ ८ ॥

‘आ ते मह इन्द्र’ इति षडृचमष्टमं सूक्तं वसिष्ठस्यार्थं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । ‘आ ते’ इत्यनुक्रान्तम् । महाव्रते निष्केवल्य इदमादीनि पञ्च सूक्तानि । सूत्रितं च—‘आ ते मह इन्द्रोत्युग्रेति पञ्च सूक्तानि’ (ऐ. आ. ५. २. २) इति ॥

आ ते॑ म॒ह इन्द्रो॑त्यु॒ग्र स॑म॒न्यवो॑ यत्स॒मर॑न्त॒ सेनाः॑ ।

पता॑ति दि॒द्युन्न॑र्यस्य बा॒ह्वोर्मा॑ ते म॒नो वि॒ष्वद्य॑ ॒ग्वि चा॑रीत् ॥ १ ॥

आ । ते॑ । म॒हः । इन्द्र॒ । ऊ॒ती । उ॒ग्र । स॒ऽम॒न्यवः॑ । यत् । स॒म्ऽअ॑रन्त॒ । सेनाः॑ ।

पता॑ति । दि॒द्युत् । न॒र्यस्य॑ । बा॒ह्वोः । मा । ते॑ । म॒नः । वि॒ष्वद्य॑क् । वि । चा॒रीत् ॥ १ ॥

हे १ उग्र उद्गूर्ण ओजस्विन् १ इन्द्र १ यत् यदा १ समन्यवः । समो मन्युरभिमानो यासां ताः समन्यवः । १ सेनाः १ समरन्त युध्यन्ते संगच्छन्ते १ वा तदा १ नर्यस्य नरहितस्य १ महः महतः १ ते तव १ बाह्वोः स्थिता १ दिद्युत् आयुधम् । ‘दिद्युत् हेतिः’ इति वज्रनामसु पाठात् । १ ऊती ऊत्यै अस्मद्रक्षायै १ आ १ पताति आपततु । तव २ १ विष्वद्यक् विष्वगन्तु १ मनः च १ मा १ वि १ चारीत् अस्मात्वेव स्थिरं भवतु ॥

नि दु॒र्ग इन्द्र॑ श्र॒थिह्य॑मि॒त्रान॑भि॒ ये नो॑ म॒र्तासो॑ अ॒मन्ति॑ ।

आ॒रे तं शंसं॑ कृणुहि नि॒नित्सो॑रा नो॑ भर॒ संभर॑णं वसू॒नाम् ॥ २ ॥

नि । दुः॒ऽगे । इन्द्र॑ । श्र॒थि॒हि । अ॒मि॒त्रान् । अ॒भि । ये । नः॑ । म॒र्ता॑सः । अ॒मन्ति॑ ।

आ॒रे । तम् । शंस॑म् । कृणु॑हि । नि॒नित्सोः॑ । आ । नः॑ । भ॒र । स॒म्ऽअ॑भरणम् । वसू॒नाम् ॥ २ ॥

हे १ इन्द्र १ दुर्गे युद्धे १ ये १ मर्तासः सताः १ अभि अभिमुखाः सन्तः १ नः अस्मान् १ अमन्ति अभिभवन्ति तान् १ अमित्रान् शत्रून् १ नि १ श्रथिहि निजहि । अपि च १ निनित्सोः अस्मान्निन्दतु-मिच्छतो नरस्य १ तं १ शंसम् आशंसनम् १ आरे दूरे १ कृणुहि कुरु । अपि च १ नः अस्मभ्यं १ वसूनां धनानां १ संभरणं समूहम् १ आ १ भर आहर ॥

श॒तं ते॑ शि॒म्रिन्नू॑तयः सु॒दासै॑ सह॒स्रं शंसा॑ उ॒त रा॒तिर॑स्तु ।

ज॒हि वर्ध॑र्वनु॒पो म॒र्त्यस्या॒स्मे द्यु॒म्नम॑धि॒ रत्नं॑ च धेहि ॥ ३ ॥

एव । तम् । आहु । उत । शृण्वे । इन्द्र । एक । त्रिऽभक्ता । तरणि । मघानाम् ।  
मिथुऽतुर । ऊतये । यस्य । पूर्वा । अस्मे इति । भद्राणि । सध्वत । प्रियार्णि ॥ ४ ॥

यस्य इन्द्रस्य मिथ परस्पर तुर वाधमाना सस्त्रिण वा पूर्वा पूव्या बहुय ऊतय  
रक्षा सन्ति तम् एव एवमुक्तगुणम् आहु एव रूपय । उत अपि चाद्यापि स इन्द्र मघाना  
महनीयाना धनाना विभक्ता दाता इति तरणि आपदस्तारयितेति शृण्व ध्रूयते । तस्य च प्रसादान्  
अस्मे अस्मान् प्रियाणि भद्राणि कर्याणानि सध्वत सेत्रन्ताम् ॥

एवा वसिष्ठ इन्द्रमृतये नृकृष्टीनां वृषभं सुते गृणाति ।

सहस्रिण उपे नो माहि वाजान्पूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

एव । वसिष्ठ । इन्द्रम् । ऊतये । नृन् । कृष्टीनाम् । वृषभम् । सुते । गृणाति ।  
सहस्रिण । उपे । न । माहि । वाजान् । पूयम् । पात । स्वस्तिभिः । सदा । न ॥ ५ ॥

वसिष्ठ नृन् नृणाम् । पञ्चम्ये द्वितीया । ऊतये रक्षाय नृकृष्टीना प्रचाना वृषभ कामाना  
वर्षितारम् इन्द्रम् एव एव पूर्वोक्तप्रकारेण गृणाति स्ताति । अथ प्रत्यक्षस्तुति । इन्द्र न  
अत्मभ्य सहस्रिण सहस्रसत्पाकान् वाजान् अश्वानि उपे माहि । प्रयच्छेयथ । स्पष्ट  
मन्यत् ॥ ॥ १० ॥

‘ इन्द्र नर ’ इति पञ्चमं दशम सूक्त वसिष्ठस्यायं त्रैदुभमैन्द्रम् । ‘ इन्द्र नर ’ इत्यनुक्रान्तम् ।  
महाप्रते निष्केवत्य एतः सूक्तमुक्त तृतीयत्वेन । येन्द्रे पश्या वपापुराडासहस्रिणामाद्यास्तिस्र क्रमेणानु  
वाक्या । सूत्रित च—‘ इन्द्र नरो नमधिता हवन्त इत्युरु ना लोकमनु नेयि विद्वान् ’ ( आश्व  
श्री ३ ७ ) इति ॥

इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ताः ।

शूरो नृपाता शर्वसश्चकान आ गोमति ब्रजे भजा त्वं नः ॥ १ ॥

इन्द्रम् । नर । नेमधिता । हवन्ते । यत् । पार्या । युनजते । धिय । ता ।

शूर । नृऽपाता । शर्वस । चकान । आ । गोऽमति । ब्रजे । भजा । त्वम् । न ॥ १ ॥

यत् यदा पार्या युद्धभरणनिमित्ता ता प्रसिद्धा धिय कर्माणि युनजत प्रयुज्यन्ते  
तदा नर नेतार यम् इन्द्र नेमधिता नमधिता सप्रामे हवन्ते हवन्ति ॥ त्वं शूर  
नृपाता नृणा समक्ता च शर्वस बलस्य बलं चकान कामयमानश्च सन् गोमति ब्रजे गाधे  
गोसमूहे न अस्मान् वा भज प्रापय ॥

१ इन्द्र इति तिल उद्धम् । २ ख वन भ द्र—‘ तदा नरो नेतारो यमिन्द्र हवन्ते त-य-नेमधिता  
नेमधिता सप्रामे नर कर्मणा नेतार इन्द्र हवन्त आह्वयतात्पर्य । यमिन्द्र हवन्ते । ३ ख श भ-श-  
‘ गोमति प्रापय ’ नास्ति, घ- न अस्माक गोमति गोयुक्ते ब्रजे गोष्ठे गोष्ठमाभज सरत्, इन्द्र-गोमति  
गाव सन्त्यस्मिन्निति गोमत् तस्मिन् ब्रजे गोष्ठे समूहे नोऽस्मानामभज प्रापय, त-य-गोमति गाव  
सन्त्यस्मिन्निति गोमत् ब्रजे गोष्ठे समूहे नोऽस्माना भज प्रापय, य-गोमति ब्रजे नोऽस्माना भज देहात्यर्थ ।

न सोम इन्द्रमसुतो ममाद् नाब्रह्माणो मघवानं सुतासः ।

तस्मा उक्थं जनये यज्जुजोषन्नृवन्नवीयः शृण्वद्यथा नः ॥ १ ॥

न । सोमः । इन्द्रम् । असुतः । ममाद् । न । अब्रह्माणः । मघवानम् । सुतासः ।

तस्मै । उक्थम् । जनये । यत् । जुजोषत् । नृवत् । नवीयः । शृण्वत् । यथा । नः ॥ १ ॥

वमघवानं धनवन्तम् वइन्द्रम् वअसुतः नाभिषुतः वसोमः वन वममाद् न तर्पयति । वसुतासः अभिषुता अपि सोमाः वअब्रह्माणः स्तोत्रहीनाः वन ममदुः । ममाद् इत्येतदाख्यातं बहुवचनान्ततया विपरिणतं सदत्र संबध्यते । अत एव त्रिष्वपि सवनेषु पावमानैः स्तोत्रैः स्तुता एव सोमा ह्वयन्ते । अपि च वनः अस्मदीयं वयत् वउक्थम् इन्द्रः वजुजोषत् सेवेत वयथा च वनृवत् राजेवादरेण वशृणवत् शृणुयात् तथा वनवीयः नवतरम्<sup>१</sup> उक्थं शस्त्रं वतस्मै इन्द्राय वजनये । पठामीत्यर्थः ॥

उक्थउक्थे सोम इन्द्रं ममाद् नीथेनीथे मघवानं सुतासः ।

यदी सबाधः पितरं न पुत्राः समानदक्षा अवसे हवन्ते ॥ २ ॥

उक्थेऽउक्थे । सोमः । इन्द्रम् । ममाद् । नीथेऽनीथे । मघवानम् । सुतासः ॥

यत् । ईम् । सऽबाधः । पितरम् । न । पुत्राः । समानऽदक्षाः । अवसे । हवन्ते ॥ २ ॥

वयत् यस्मात् वउक्थेउक्थे शस्त्रेशस्त्रे क्रियमाणे वसोमः वमघवानम् वइन्द्रं वममाद् मादयति वनीथेनीथे स्तोत्रेस्तोत्रे क्रियमाणे वसुतासः अभिषुताः सोमाः मादयन्ति तस्मात् वईम् एनमिन्द्रं वसबाधः परस्परं मिलिताः वसमानदक्षाः समानोऽसाहा ऋत्विजः वपुत्राः वपितरं वन पितरमिव वअवसे तर्पणाय स्वरक्षणाय वा वहवन्ते । शस्त्रैः स्तोत्रैश्च स्तुवन्ति ॥

चकार ता कृण्वन्नूनमन्या यानि ब्रुवन्ति वेधसः सुतेषु ।

जनीरिव पतिरेकः समानो नि मामृजे पुर इन्द्रः सु सर्वाः ॥ ३ ॥

चकार । ता । कृण्वत् । नूनम् । अन्या । यानि । ब्रुवन्ति । वेधसः । सुतेषु ।

जनीऽइव । पतिः । एकः । समानः । नि । मामृजे । पुरः । इन्द्रः । सु । सर्वाः ॥ ३ ॥

ववेधसः स्तोत्राणां विधातारः वसुतेषु सोमेष्वभिषुतेषु वयानि कर्माणि वब्रुवन्ति तानि ब्रुवद्वादीनि कर्माणीन्द्रः पूर्वस्मिन् काले वचकार । वनूनं संग्रह्यपि वअन्या अन्यानि कर्माणि वइणवत् कुर्यात् । अपि च सः वइन्द्रः वसर्वाः वपुरः शत्रुनगरीः वसमानः समवृत्तिः वएकः<sup>२</sup> अल्हायः<sup>२</sup> वपतिः वजनीरिव जाया इव वसु वनि वमामृजे सम्यक् शोधयेत् ॥

एवा तमाहुरुत शृण्व इन्द्र एको विभक्ता तरणिर्मधानाम् ।

निश्चस्तर ऊतयो यस्य भद्राणि सश्वत प्रियाणि ॥ ४ ॥

‘एकः असहायः’ नास्ति ।

शतम् । ते । शिग्रिन् । ऊतय । सुदामै । सहस्रम् । शसा । उत । राति । अस्तु ।  
जहि । वध । वनुष । मर्त्यस्य । अस्मे इति । द्युम्नन् । अधि । रनेम् । च । धोह ॥३॥

हे शिग्रिन् उष्णापिबिन्द्र ष्ते वदाया षक्त बह्वय षक्तय रक्षा षुदास शान्तदानाय  
मह्य सन्तु । षसहस्र षशसा शसनाया कामाऽ सन्तु । षउत अपि च षराति धनम् षअस्तु ।  
षवनुष हिसकस्य षमर्त्यस्य षवध । हसासाधनमायुध च षजहि । अपि च षरने षअधि अस्मासु  
षद्युम्न दीप्तिमद्ब यशो वा षरन षच षधेहि । तथा च यास्क — 'द्युम्न दानतेयदा वात्र रा । अस्मे  
द्युम्नमधि एन च धेहि । अस्मासु द्युम्न च रन च धेहि' ( निरु ५ ५ ) इति ॥

त्वार्यतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वार्यतोऽवितुः शूर रातौ ।

निश्चेदहानि तत्रिपीर उग्र ओकः कृणुष्व हरिः न मर्धाः ॥ ४ ॥

त्वाऽर्यत । हि । इन्द्र । न र्धै । अस्मि । त्वाऽर्यत । अत्रितु । शूर । रातौ ।

विधा । इत् । अहानि । तत्रिपीऽन् । उग्र । ओक । कृणुष्व । हरिऽव । न । मर्धा ॥४॥

हे इन्द्र त्वावत त्वत्सदृशस्य षक्रव कमणे षअस्मि भवामि षहि । हे षशूर षअवितु  
विधस्य रक्षितु षत्वावत त्वत्सदृशस्य षरातौ दानं चास्माति शेष । हे षतत्रिपाव बलवन् षउग्र  
ओनस्त्रिबिन्द्र षविधेत् विधान्येव षअहानि षआक अस्माक स्थान षकृणुष्व करु । हे षहरिव  
हरिवन् षन मर्धा अस्माक हिस्या ॥

कुत्सा एते हर्यश्वाय शूपमिन्द्रे सहो देवर्जतमियाः ।

सत्रा कृधि सुहना शूर वृत्रा युयं तरुत्राः सनुयाम् वार्जम् ॥ ५ ॥

कुत्सा । एते । हरिऽअश्वाय । शूपम् । इन्द्रै । सह । देवऽर्यतम् । इयाना ।

सत्रा । कृधि । सुऽहना । शूर । वृत्रा । युयम् । तरुत्रा । सनुयाम् । वार्जम् ॥ ५ ॥

ऽप्ये षवय वसिष्ठा षइयश्वाय हरिनामकाश्वायेन्द्राय षशूप सुतर्कर स्तात्र षकुत्सा कुत्राणा ।  
करोते कुत्सशब्दनिष्पत्ति । षइन्द्रे षदेवर्जत दधै प्ररित षसह यलम् षइयाना पाचमाना षतरत्रा  
हुगाणि तार्णा सन्त षवान बल षसनुयाम रुभेमहि । अपि च हे षशूर षवृत्रा वृत्राणि शत्रून्  
षसुहना हन्तु सुशकानि षसत्रा सर्वदा षकृधि करु ॥

एवा न इन्द्र वार्यस्य पूर्धि प्र ते मही सुमतिं वेचिदाम ।

इषं पिन्व मध्वर्द्धयः सुवीरां यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

एव । न । इन्द्र । वार्यस्य । पूर्धि । प्र । ते । महीम् । सुऽमतिम् । वेचिदाम ।

इषम् । पिन्व । मध्वर्द्धयः । सुऽवीरांम् । यूयन् । पात । स्वस्तिऽभि । सदा । न ॥६॥

इय व्याख्यारतचरा ॥ ॥ ५ ॥

‘न सोम इन्द्रम्’ इति पञ्चवै नवमं सूक्तं वसिष्ठस्यापे ऋभर्मन्त्रम् । तथा चानुनम्यते—

‘न साम पञ्च’ इति । महाव्रत उक्ता विनियोग ॥

उभयत्र । प्राप्ते तावत् । अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु  
वत्स्यामः । यत् कश्मीरेष्ववसाम । यत्तत्रौदनं भोक्ष्यामहे । यत्तत्रौदनम-  
भुञ्ज्महि । अप्राप्ते । अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः । कश्मी-  
रानगच्छाम । तत्रौदनं भोक्ष्यामहे । तत्रौदनमभुञ्ज्महि ।

विभाषा श्वेः ।

प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र धेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

कितीति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र धेति ।

उभयत्र । प्राप्ते तावत् । शुशुबतुः, शुशुनुः । शिश्वियतुः, शिश्वियुः ।  
अप्राप्ते । शुशाव, शुशविथ । शिश्वाय, शिश्वयिथ ।

पर निषेध का विकल्प मानें और यद् के योग में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा साक्षात्के  
को बाध कर न यदि की प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से न यदि  
को बाध कर विभाषा साक्षात्के की प्रवृत्ति मानें तो यद् योग में प्राप्त तद्विषय में  
अप्राप्त होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषा साक्षात्के यह उभयत्र विभाषा है । प्राप्त अप्राप्त दोनों में विकल्प  
होता है । प्राप्त में जैसे—अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः, अवसाम ।  
यत् तत्रौदनं भोक्ष्यामहे, अभुञ्ज्महि । यहाँ यद् के योग में प्राप्त निषेध का विकल्प  
हो जाता है । लृट् और लङ् दोनों का प्रयोग होता है । अप्राप्त में जैसे—अभिजानासि  
देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः, अगच्छाम । तत्रौदनं भोक्ष्यामहे, अभुञ्ज्महि । यहाँ यद्  
योग न होने पर भी लृट् और लङ् का विकल्प हो जाता है ।

विभाषा श्वेः में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

कैसे सन्देह है ।

यदि वचि स्वपि यजादीना किति से कित् की अनुवृत्ति करके कित् लिट् में  
नित्य प्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि कित् की  
अनुवृत्ति ॥ करके कित् अकित् सब लिट् में सम्प्रसारण का विकल्प मानें और कित्  
लिट् में पूर्वविप्रतिषेध से विभाषा श्वेः को बाध कर वचि स्वपि की प्रवृत्ति मानें तो  
कित् शंस में प्राप्त अकित् शंस में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

विभाषा श्वेः यह उभयत्र विभाषा है । इस से कित् और अकित् सारे लिट् में  
दिव को विकल्प से सम्प्रसारण होता है । प्राप्त में जैसे—शुशुबतुः, शुशुनुः, शिश्वियतुः

विभाषा मधुशालानाम् ।

सपूर्वाद् घुपे प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति सन्देहः ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

‘घुपिरविशब्दने’ इति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

उभयत्र । प्राप्ते तज्ज् । सधुपिता या रज्जु । अप्राप्ते सधुपित वा वाच्यमाह ।

आटपूर्वात् स्वने प्राप्ते अप्राप्ते उभयत्र वेति ।

कथं च प्राप्ते । कथं चाप्राप्ते । कथं चोभयत्र ।

जिह्वानु । यहा अनुस आदि किन् लिट० में वचस्वरि० स प्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प है । अप्राप्त में जैसे—गुहाय उवाचय । शिवाय, राजविय । यहा अकिन् तिव सिप में अप्राप्त सम्प्रसारण का विकल्प है ।

रन्मन्वरसधुपस्वनाम् में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है । यह भी पहल सन्दर्भक घुप में ।

कैसे सन्देह है ।

यदि घुपिरविशब्दने स अविशब्दने की अनुवृत्ति करके अविशब्दनेविकल्पक सधुप स नित्य प्राप्त इट् निगध का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि अविशब्दने होन या न हाने पर सधुप स इट् निगध का विकल्प मानें और अविशब्दने में पूर्वप्रतिगध स रन्मन्वर० को बाध कर घुपविश० का प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त विभाषा है । परावन्तिगध स घुपिरव० का बाध कर रन्मन्वर० का प्रवृत्ति मानें तो अविशब्दने में प्राप्त लटिक् में अप्राप्त विकल्प होन से उभयत्र विभाषा है ।

रन्मन्वर० में सन्दर्भक घुप का विभाषा उभयत्र विभाषा है । प्राप्त में जैसे—उवाच सधुपिता रज्जु । यहा अविशब्दने में प्राप्त इट्निगध का विकल्प होता है । अप्राप्त में जैसे—सधुप सधुपित वाच्यमाह । यहा विशब्दने अर्थ में अप्राप्त इट्निगध का विकल्प होता है ।

रन्मन्वर० के आन्तरिक स्वर का जो विभाषा है उस में भा प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का सन्देह है ।

आन्तरिक स्वर का विभाषा में प्राप्त अप्राप्त उभयत्र का कैसे सन्देह है ।



मनसीति वा नित्ये प्राप्ते । अन्यत्र वाऽप्राप्ते । उभयत्र वेति ।

उभयत्र । प्राप्ते तावत् । आस्वान्त मनः । आस्वनितं मनः । अप्राप्ते ।  
आस्वनितो देवदत्तः । आस्वान्तो देवदत्त इति ।

यदि ध्रुव्यस्वान्तध्वान्त० सूत्र से मनस् की अनुवृत्ति करके मन सम्बन्धी अर्थ में नित्य प्राप्त इटनिषेध का विकल्प मानें तो प्राप्त विभाषा है । यदि मनस् की अनुवृत्ति न करके मन सम्बन्धी अर्थ के होने या न होने पर विकल्प माने और मनस् अर्थ में पूर्वविप्रतिषेध से रुप्यमत्वर० को बाध कर ध्रुव्यस्वान्तध्वान्त० की प्रवृत्ति मानें तो अप्राप्त विभाषा है । परविप्रतिषेध से ध्रुव्यस्वान्तध्वान्त० को बाध कर रुप्यमत्वर० की प्रवृत्ति मानें तो मनस् में प्राप्त तद्विन्न में अप्राप्त विकल्प होने से उभयत्र विभाषा है ।

रुप्यमत्वर० में आहपूर्वक स्वन् की विभाषा उभयत्र विभाषा है । प्राप्त में जैसे—आस्वान्त, आस्वनित मन । यहाँ मनस् अर्थ में नित्य प्राप्त इटनिषेध का विकल्प होता है । अप्राप्त में जैसे—आस्वनित आस्वान्तो वा देवदत्तः । यहाँ मनस् में भिन्न अर्थ में अप्राप्त इटनिषेध का विकल्प है ।<sup>१</sup>

१ वार्तिककार तथा भाष्यकार ने दैवयज्ञि शौचिदृष्टि साख्यमुद्रि० इत्यादि अष्टाध्यायीस्थ सारी विभाषाओं पर विचार नहीं किया है । ये कुछ विभाषाएँ उपलक्षण तौर पर विचारार्थ प्रस्तुत की हैं । स्थालापुलाकन्याय से उन्हीं के द्वारा विभाषा पदार्थ का तत्त्व स्पष्ट हो जाता है ।

यहाँ षष्ठ आह्निक का सविवरण अनुवाद समाप्त हुआ ।

## सप्तम आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में इग्यण सम्प्रसारणम् ॥१११४५॥ इस सूत्र से ले कर अनेकाह-  
शित्सर्वस्य ॥१११४५॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर शङ्का समाधान सहित विचार  
क्रिया है। क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विचार ये हैं—

इग्यण सम्प्रसारणम् ॥१११४५॥ इक् यण, इस पदसमूहप वाक्य का जो  
अर्थ है कि यण् क स्थान में इक् हो उस वाक्यार्थ की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है, या यण्  
के स्थान में हो चुके केवल इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है। इन दोनों पक्षों में प्राप्त  
दोषों का समाधान करके दोनों ही पक्ष स्वीकार किये हैं। विधि स्थलो में वाक्यपक्ष काम  
देगा। उससे विधिवाक्यों में सम्प्रसारण कहने से यण् के स्थान में इक् हो जायगा।  
अनुवाद स्थलों में वर्णपक्ष काम देगा। उससे केवल इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा होगी जो  
कि यण् के स्थान में हो चुका है।

आधन्तौ टकितौ ॥१११४६॥ यथासत्य नियम से टिट् कित् को कम से आदि  
अन्त सिद्ध किया है।

टिट् कित् को आगम मानने में प्राप्त दोष का समाधान करते हुए इस सूत्र को  
परिभाषा सूत्र मानने के साथ संज्ञा सूत्र भी स्वीकार किया है। संज्ञा पक्ष में अर्थ होगा—  
इत्संज्ञक टकार ककार क्रम से आदि अन्त की संज्ञा होते हैं।

टिट् कित् प्रत्ययों का आदि अन्त में न होना सिद्ध किया है।

मिदचोऽन्यात्पर. ॥१११४७॥ सूत्र का प्रयोजन बताते हुए तकशैण्डिन्याय  
का उदाहरण दिया है। उससे सभ्य में भी बाधकता होती है न केवल असभ्य में ही यह  
सिद्ध किया है।

अन्यात्पूर्वो भस्त्रे इस वार्तिक को स्वीकार करके भर्गिमन्थोश्च इस वार्तिक का  
खण्डन किया है।

मित् में पूर्वान्त परादि अक्षर ये तीनों पक्ष दिखा कर अन्त में निर्दोष होने से  
पूर्वान्तपक्ष को स्वीकार किया है।

एच इग्नम्वादेशे ॥१११४८॥ सूत्र का प्रयोजन बता कर दीर्घ इच्चाति रूप  
दोष का निराकरण किया है। अन्त में अन्यथासिद्ध होने से सूत्र का ही खण्डन कर  
दिया है।

पट्टी स्थानयोगा ॥१११४९॥ स्थानयोगा शब्द की व्युत्पत्ति दिखा कर सूत्र का प्रयोजन बताया है ।

शास इदद्दह्योः इत्यादि अवयव पट्टी स्थलों में इस परिभाषा सूत्र की अप्रवृत्ति दिखाई है ।

अन्त में प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि से सूत्र का खण्डन करके इसे निर्दिश्यमान-स्थादेशा भवन्ति इस परिभाषा में तात्पर्यग्राहक सिद्ध किया है ।

स्थानेन्तरतम. ॥१११५०॥ सूत्र के उदाहरण देकर पुनः स्थानग्रहण के प्रयोजन के साथ तन्मू प्रहण का प्रयोजन बताया है ।

इस परिभाषा सूत्र की आवश्यकता बताते हुए स्थानेन्तरतम उरणरपर। हम सन्धि में अन्तरतमे यह सप्तम्यन्त है या अन्तरतम. यह प्रथमान्त है हम पर गुणदोष दिखाते हुए विचार किया है । अन्त में निर्दोष होने से अन्तरतम यह प्रथमान्तपक्ष स्वीकार किया है ।

सूत्र के स्वतन्त्रविधायकत्व का तथा अन्य सूत्र निश्चयन कार्य के नियमप्रतिपादकत्व का खण्डन करके इसे लक्षणान्तरशेषभूत सिद्ध किया है ।

प्रत्याम वचन का खण्डन करने के साथ स्वभावसिद्ध लोकव्यवहार से इस सूत्र का भी खण्डन कर दिया है ।

सूत्र की विद्यमानता में भी प्राप्त दोषों का समाधान किया है ।

उरण रपर. ॥१११५१॥ सूत्र के स्वतन्त्रविधायकत्व का खण्डन किया है । जिसमें ऋ के स्थान में रपरसहित केवल अण् का ही विधान तथा ऋ के स्थान में अण् जनण् दोनों की सत्ता में अण् को केवल रपरन्वमात्र का विधान इन दोनों बातों का खण्डन करके इसे लक्षणान्तरशेषभूत सिद्ध किया है ।

अण् प्रहण का प्रयोजन बता कर एकादेश के उपसर्गान का खण्डन किया है ।

रपर में पूर्वान्त परादि अभक्त ये तीनों पक्ष दिखा कर अन्त में निर्दोष होने से पूर्वान्तपक्ष को स्वीकार किया है ।

अलोन्त्यस्य ॥१११५२॥ अलः की पट्टी का एकवचन मान कर अन्त्य का विशेषण माना है । इस परिभाषा सूत्र की आवश्यकता बनाई है ।

चित्च ॥१११५३॥ तातद् आदेश के चित् होने पर भी उसमें इस सूत्र की अप्रवृत्ति सिद्ध की है ।

आदेः परस्य ॥१११५३॥ अलोन्त्यस्य, आदेः परस्य, अनेकाल् शित्सर्वस्य इन तीनों में अलोन्त्यस्य को उत्सर्ग माना है । अगले दोनों उसके अपवाद हैं । उन दोनों में भी पर होने से अनेकाल् शित्सर्वस्य को आदेः परस्य का बाधक सिद्ध किया है ।

अनेकाल् शित्सर्वस्य ॥१११५५॥ शित् ग्रहण का प्रयोजन अन्यथा सिद्ध करके उससे मानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् यह परिभाषा स्थापित की है ।

---

## अथ सप्तममाह्निकम्

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥१॥१॥४५॥

किमिय वाक्यस्य सम्प्रसारणसज्ञा क्रियते इग्यण इत्येतद् वाक्यं सम्प्रसारणसज्ञं भवतीति । आहोस्विद् वर्णस्य, इग् यो यणः स्थाने वर्णः स सम्प्रसारणसज्ञो भवतीति ।

कद्वचात्र विशेषः ?

सम्प्रसारणसज्ञाया वाक्यस्य सज्ञा चेद् वर्णविधिः ।

सम्प्रसारणसज्ञायां वाक्यस्य सज्ञा चेद् वर्णविधिर्न सिध्यति । सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवतीति । सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवतीति । न हि वाक्यस्य सम्प्रसारणसज्ञायां सत्यामेव निर्देश उपपद्यते । नाप्येतयोः कार्ययोः सम्बन्धोऽस्ति ।

क्या यह वाक्य की सम्प्रसारणसज्ञा का जाती है या वर्ण की ? वाक्य इह् से यह वाक्यार्थ का ग्रहण है । इह् यण इस पदसमूह रूप वाक्य का जो अर्थ है—यण् के स्थान में इह् होता है इस वाक्यार्थ की सम्प्रसारणसज्ञा मानते हैं या यण् के स्थान में इह् केवल इह् वर्ण की । वाक्यसज्ञा पक्ष में इह् यणो भवति इस प्रकार भवति क्रिया का अभ्याहार कर के यण् के स्थान में जब इह् किया जा रहा हो तब सम्प्रसारणसज्ञा होगी, अर्थात् यण् के स्थान में इह् के विधान की सम्प्रसारणसज्ञा होगी । और वर्णसज्ञा पक्ष में पहले से विधान किये हुए इह् वर्ण की सम्प्रसारणसज्ञा होगी ।

इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है ।

यदि वाक्य की सम्प्रसारणसज्ञा मानते हैं तो वर्ण के कार्य (वर्णाग्र्य दीर्घादि) नहीं सिद्ध होते । जैसे—सम्प्रसारणाच्च सूत्र से सम्प्रसारण से अच् पर रहते पूर्व पर के स्थान में पूर्व रूप एकादेश होता है वह वाक्य की सज्ञा में नहीं बनता । इसी प्रकार सम्प्रसारणस्य सूत्र से सम्प्रसारणसज्ञक अण् को दीर्घ होता है वह भी वाक्य की सज्ञा में नहीं बनता । यहाँ अनुवाद स्थलों में यण् के स्थान में इह् का विधान नहीं किया जा रहा है इस लिये सम्प्रसारणसज्ञा न होगी तो उक्त कार्य नहीं सिद्ध होंगे । वाक्य की सज्ञा में न तो सम्प्रसारणात् सम्प्रसारणस्य ये निर्देश ही ठीक बनते हैं और न ही इन क यो का सम्भव है ।

अस्तु तर्हि वर्णस्य ।

वर्णस्य संज्ञा चेन्निर्वृत्तिः ।

वर्णस्य संज्ञा चेन्निर्वृत्तिर्न सिध्यति । 'प्यङः सम्प्रसारणमि'ति । स एव हि तावदिग् दुर्लभो यस्य संज्ञा क्रियते । अथापि कथं चिल्लभ्येत । केनासौ यणः स्थाने स्यात् । अनेन चैव ह्यसौ व्यवस्थाप्यते । तदितरे-तराधयं भवति । इतरेतराधयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ।

विभक्तिविशेषनिर्देशस्तु ज्ञापक उभयसंज्ञात्वस्य ।

यद्यं विभक्तिविशेषनिर्देशं करोति सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवति, सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवति, प्यङः सम्प्रसारणं भवतीति तेन ज्ञायते उभयोः संज्ञा भवतीति । यत्तावदाह सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवति, सम्प्रसारणस्य दीर्घो भवतीति तेन ज्ञायते वर्णस्य भवतीति । यदप्याह—

अन्ता तो वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा मान लीजिये ।

यदि वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा मानते हैं तो निर्वृत्ति अर्थात् यण् के स्थान में इक् वर्ण का विधान नहीं सिद्ध होता । प्यङः सम्प्रसारणं पुनपयोस्तपुषे इत्यादि विधित्थलों में पहले से विधान किया हुआ इक् वर्ण न मिलने से सम्प्रसारण-संज्ञा न होगी तो सम्प्रसारण का विधान न हो सकेगा । प्यङः सम्प्रसारण० आदि विधिसूत्रों में वह इक् वर्ण ही मिलना दुर्लभ है जिसकी सम्प्रसारणसंज्ञा होगी है । यदि किसी तरह वाच्य को नित्य मान कर इक् वर्ण मिल भी जाय तो भी वह यण् के स्थान में हुआ है यह कैसे मालूम होगा । विधिसूत्र से पूर्व उसे यण् के स्थान में करने वाला कौन होगा । प्यङः सम्प्रसारणम् इत्यादि विधिसूत्र द्वारा सम्प्रसारण विधान होने पर इस सम्प्रसारणसंज्ञा विधायक शास्त्र से ही यह इक् यण् के स्थान में स्थिति में लाया जाता है ऐसा कह कर यण् के स्थान में इक् वर्ण का विधान स्मरस्थित किया जाता है । और विधान किये हुए इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा है तो प्यङः सम्प्रसारण० कैसे प्रवृत्त होगा । इस प्रकार वर्ण की संज्ञा में यह इतरेतराधय दोष हो जाता है । इतरेतराधय दोष वाले कार्य नहीं सिद्ध हो सकते ।

सूत्रों में भिन्न २ विभक्तियों का निर्देश इस बात का ज्ञापक है कि वाच्य और वर्ण दोनों की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है । सम्प्रसारणाच्च, सम्प्रसारणस्य यदा पञ्चमी, षष्ठी विभक्तियों के निर्देश से इक् वर्ण की सम्प्रसारणसंज्ञा समग्री

प्यङ्. सम्प्रसारणमिति तेन ज्ञायते वाच्यस्यापि संज्ञा भवतीति ।

अथवा पुनरस्तु वाच्यस्येव । मनु चोक्तं सम्प्रसारणसंज्ञायां वाच्यस्य संज्ञा चेद् वर्णविधिर्न सिध्यतीति । नेप दोषः । यथा काकाज्जातः कारुः । श्येनाज्जातः श्येनः । एव सम्प्रसारणाज्जात सम्प्रसारणम् । तस्मात्परः पूर्वो भवति, तस्य दीर्घो भवतीति ।

अथवा दृश्यन्ते हि वाच्येषु वाच्यैकदेशान् प्रयुज्जानाः । पदेषु च पदैकदेशान् । वाच्येषु तावद् वाच्यैकदेशान्—प्रविश पिण्डीम् । प्रविश तर्पणम् इति । पदेषु पदैकदेशान्—देवदत्तो दत्तः । सत्यभामा भामेति । एवमिहापि सम्प्रसारणनिवृत्तात्, सम्प्रसारणनिवृत्तस्य एतस्य वाच्यस्यार्थं सम्प्रसारणात् सम्प्रसारणस्येत्येष वाच्यैकदेशः प्रयुज्यते । तेन

जायगा और प्यङ्. सम्प्रसारणम् इस सूत्र में सम्प्र आहूति एकत्र ही इन में से किसी एक का आश्रयण कर के दोनों की सम्प्रसारणसंज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

अथवा केवल वाक्य की ही सम्प्रसारणसंज्ञा मान लीजिये । उसमें वर्णविधि सिद्ध न होने का जो दोष कहा है वह कुछ नहीं । जैसे कौप या श्येन (बान्) से उत्पन्न बच्चे को भी उपचार से कौपा या श्येन कह देते हैं उसी प्रकार सम्प्रसारण से निम्न दत्त वर्ण भी सम्प्रसारण शब्द से व्यवहृत हो जायगा तो सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप तथा सम्प्रसारणस्य से दीर्घ सिद्ध हो जायगा ।

अथवा वाक्यो और पदो का पूरा प्रयोग न कर के उनके एकदेश या अवयवो का प्रयोग भी करत देखे जाते हैं । जैसे गृह प्रविश इस पूरे वाक्य के स्थान में केवल प्रविश का ही प्रयोग कर दिया जाता है । पिण्डी भुज्ज्व के स्थान में केवल पिण्डीम् का ही प्रयोग हो जाता है । तर्पण दत्त के स्थान में केवल तर्पणम् ही प्रयुक्त समझ लिया जाता है । पदो म भी देवदत्त के स्थान में केवल दत्त और सत्यभामा के स्थान में केवल भामा का ही प्रयोग हो जाता है । इसी प्रकार यहाँ सम्प्रसारणनिवृत्तात्, सम्प्रसारणनिवृत्तस्य इन पदो के स्थान में सम्प्रसारणान्, सम्प्रसारणस्य इव एकदेश का प्रयोग किया हुआ समझना चाहिये । सम्प्रसारण से जो निवृत्त निम्न वर्ण हैं वह सम्प्रसारणनिवृत्त हैं उसी का एकदेश सम्प्रसारणाच्च में सम्प्रसारणात् है । उससे परे पूर्वरूप एकदेश होता

१. वाच्यैकदेश से यहाँ आश्रयण का तात्पर्य सम्प्रसारणात्, सम्प्रसारणस्य इस पदसमूह के एकदेश से है । क्योंकि दोनों पदों में एकदेश का प्रयोग समझा गया है इस लिय उसे वाच्यैकदेश कह दिया है ।

निवृत्तस्य निधिं विज्ञास्यामः । सम्प्रसारणनिवृत्तात्, सम्प्रसारणनिवृत्त-  
स्येति ।

अथवा आहाय सम्प्रसारणात् परः पूर्वो भवति । सम्प्रसारणस्य  
दीर्घो भवतीति । न च वान्यस्य सम्प्रसारणसङ्ख्यायां सत्यामेव निर्देश  
उपपद्यते । नाप्येतयोः कार्ययोः सम्भवोऽस्तीति तत्र वचनाद् भविष्यति ।

अथवा पुनरस्तु वर्णस्य । ननु चोक्त वर्णसङ्ख्या चेन्निवृत्तिरिति ।  
नेप दोषः । इतरेतराश्रयमात्रमेतच्चोदितम् । सर्वाणि चेतरेतराश्रयाण्ये  
कत्वेन परिहृतानि सिद्धं तु नित्यशब्दत्वादिति ।

नेद तुल्यमन्येरितरेतराश्रयैः । न हि तत्र किञ्चिदुच्यते अस्य स्थाने  
ये आकारेकारौकारा भाव्यन्ते ते वृद्धिसङ्ख्या भवन्तीति । इह हि पुनरुच्यते  
इग् यो यणः स्थाने वर्णः स सम्प्रसारणसङ्को भवतीति ।

एव तर्हि भाविनीय सङ्ख्या विज्ञास्यते । तद्यथा कश्चित् कचित्  
तन्तुवायमाह अस्य सूत्रस्य शाट्क वयेति । स पश्यति यदि शाट्को,  
है । सम्प्रसारणस्य मे भी सम्प्रसारण से निवृत्त वर्ण को सम्प्रसारण समझ कर  
उसे ही दीर्घ होता है ।

अथवा सम्प्रसारणाच्च और सम्प्रसारणस्य इन वचनो के सामर्थ्य से  
वाक्य की सङ्ख्या में भी इक् वर्ण की सम्प्रसारणसङ्ख्या हो जायगी । अन्यथा  
वाक्य की सङ्ख्या में उक्त सूत्रों का निर्देश ठीक न बनने से तथा सद्विहित कार्य  
का असम्भन होने से ये सूत्र व्यर्थ हो जायेंगे ।

अथवा वर्ण की ही सम्प्रसारणसङ्ख्या मान लीजिये उसमें भी दोष नहीं ।  
यह तो इतरेतराश्रय मात्र दोष कहा था वह शब्दों को नित्य मानने से  
होगा । क्योंकि सभी इतरेतराश्रय दोषों का यह एक ही समाधान किया गया  
है कि शब्दों को नित्य माना जाये ।

यह इतरेतराश्रय दोष अन्य इतरेतराश्रय दोषों के समान नहीं है ।  
क्योंकि वृद्धिरादैच् इत्यादि सङ्ख्या स्थलों में किसी के स्थान में हुए आकार ऐकार  
औकार की वृद्धिसङ्ख्या नहीं कही गई है । यहाँ तो यण के स्थान में हुए  
इक् की सम्प्रसारणसङ्ख्या का जाती है हर एक इक् वर्ण की नहीं । तो इक् को  
नित्य मानने पर भी वह यण के स्थान में हुआ है यह नहीं जाना जा सकता ।

अच्छा तो सम्प्रसारण यह भाविनी (आगे होने वाली) सङ्ख्या मान ली जायगी ।  
यण के स्थान में वह इक् होगा जिसका नाम आगे सम्प्रसारण होगा । ऐसा



न वातव्यः। अथ वातव्यो न शाटकः। शाट्को वातव्यश्चेति विप्रति-  
पिद्धम्। भाविनी खल्वस्य संज्ञाऽभिप्रेता स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते  
शाटक इत्येतद् भवतीति। एवमिहापि स यणः स्थाने भवति  
यस्याभिनिर्वृत्तस्य सम्प्रसारणमित्येषा संज्ञा भविष्यति।

अथवा इजादियजादिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते। यजाद्युप-  
देशात्तु इजादिनिवृत्तिः प्रसन्ता। प्रयुज्यते च पुनर्लोका इष्टम् उप्तम्  
इति। ते मन्यामहे अस्य यण स्थाने इममिकं प्रयुज्यते इति। तत्र  
तस्यासाध्वभिमतस्य शास्त्रेण साधुत्वमन्वाच्यायते किति साधुर्भवति  
इति साधुर्भवतीति।

मानने पर कोई दोष नहीं होगा। जैसे कोई किसी जुलाहे से कहे कि इस सूत  
का शाटक (धोती) बुन दे। वह सोचता है यदि शाटक है तो बुनने की  
आवश्यकता नहीं। और यदि बुनना है तो अभी शाटक नहीं। शाटक बुन दे  
यह दोनों बातें विरोधी होने से कैसे की जाएंगी। तो फिर सोचता है कि इस  
सूत को ऐसे बुन दे जिसके बुने जाने पर वह शाटक कहलायेगा। इसी प्रकार यहाँ  
प्यङ्गः सम्प्रसारण० में भी यण् के स्थान में यह इक् होगा जिस की आगे  
सम्प्रसारणसंज्ञा होगी।

अथवा सम्प्रसारणसज्ञा के बिना भी लंके में यज इज्, यण उप् इन दो  
प्रकार के धातुओं के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। धातुपाठ में केवल यज, यप्  
का उपदेश है उससे इज् उप् का प्रयोग नहीं होना चाहिये। पर होता है जैसे—  
इष्टम् यहाँ इज् का। और उप्तम् यहाँ उप् का। इससे यण् के स्थान में  
इक् का होना लोकसिद्ध है। इस लोकसिद्ध यण के स्थान में प्रयुक्त होने वाले  
इक् की शास्त्र द्वारा सम्प्रसारणसंज्ञा कर के किन् या डिन् में सम्प्रसारण का  
प्रयोग साधु है अन्यत्र असाधु है यह बताया जाता है।<sup>१</sup>

१. इग्यणः सम्प्रसारणम् में यथासत्य नियम से यकार के स्थान में हुए इकार  
की, वकार के स्थान में हुए उकार की, रेफ के स्थान में हुए ऋकार की और  
लकार के स्थान में हुए लृकार की सम्प्रसारणसंज्ञा होती है। इन लिये अदुहितराम्  
(दुह, लृक्, इट्, तर, आम्) यहाँ लृक् के लृकार-रूप यण् के स्थान में हुए इट्  
प्रथम एप इक् की सम्प्रसारणसंज्ञा न होगी तो हलः से इट् को दीर्घ न होगा।  
द्युभ्याम् (दिक्, म्याम्) में दिक् उत्त में वकार के स्थान में हुए उकार की  
सम्प्रसारणसंज्ञा होने पर यद्यपि दिक् के इकार को यण् हो कर हलः से दीर्घ

## आद्यन्तौ टकितौ ॥११॥४६॥

समासनिर्देशोऽयम् । तत्र न ज्ञायते क आदिः कोऽन्त इति । तद्यथा अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तावित्युक्ते तत्र न ज्ञायते कस्याजा धनं कस्यावय इति ।

यद्यपि तावल्लोक एष दृष्टान्तः । दृष्टान्तस्यापि तु पुरुषारम्भो नियतको भवति ।

अस्ति चेह कश्चित् पुरुषारम्भः ?

अस्तीत्याह ।

टकितो मे समास का निर्देश होने से यह पता नहीं लगता कि टिक् और किक् में कौन आदि में होता है और कौन अन्त में । जैसे—अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ यह समस्त वाक्य है । इसका अर्थ है—देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों बरूरी और भेड़ धन वाले हैं । इसमें यह पता नहीं लगता कि किसका बरूरी धन है और किसका भेड़ । दोनों के दोनों धन होने भी संभव हैं । यहाँ भी टिक् किक् दोनों ही आदि में और दोनों ही अन्त में हो जावें यह अर्थ भी सम्भव है ।

यद्यपि लोक में अजाविधनी देवदत्तयज्ञदत्तौ यह दृष्टान्त है । फिर भी उस लौकिक दृष्टान्त की पुरुषारम्भ से यत्नविशेष से बाधा हो सकती है ।

क्या यहाँ कोई यत्न विशेष है ?

हाँ है ।

प्राप्त होता है तो भी वह उत् में तपरकरणसामर्थ्य से नहीं होगा । तपर का प्रयोजन वही है कि उवार ह्रस्व ही रहे । अक्षगुर्वौ (अक्ष-गू-गौ) में दिक् के बरार के स्थान में हुए ऊट् की सम्प्रसारणसंज्ञा होने पर सम्प्रसारणाच्च से प्राप्त औ का पूर्वरूप एगोदेश भी वार्णादाह गलीयो भवति इस परिभाषा बल से न होगा । उमके अनुसार वर्णसम्बन्धी पूर्वरूप शास्त्र से अक्षसम्बन्धी अचि श्नुधातु० यह उवङ्शास्त्र ब्रह्मान् होगा तो पूर्वरूप को बाध कर पहले ऊट् को उवङ् हो जायगा । फिर पूर्वरूप की प्राप्ति न रहने से कोई दोष न होगा । इस प्रकार सम्प्रसारणसंज्ञा में ययामेग्य सम्बन्ध बनाने के लिये श्रुल्लङ् सूत्र में लृकार वा उपदेश करना आवश्यक हो जाता है । वार्तिककार द्वारा वही लृकार का प्रत्याख्यान उस अन्वया में चिन्त्य बन जाता है ।

कः ।

सत्यातानुदेशो नाम ।

कौ पुनस्तुतितावाचन्तौ भवत ?

आगमाविन्याह ।

युक्तं पुनर्यन्तित्येषु नाम शब्देषु आगमशासन स्यात् । न नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थेरविचालिभिर्गणैर्मन्त्रित्यमनपायोपजनविकारिभिः । आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः ।

अथ युक्तं यन्तित्येषु शब्देष्वदेशाः स्युः ।

षाढ युक्तम् । शब्दान्तरैरिह भवितव्यम् । तत्र शब्दान्तरात् शब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता ।

आदेशास्तर्हिमे भविष्यन्ति । अनागमकानां सागमकाः । तत्

कौन सा ?

यथासत्यमनुदश समानाम् यह यथासत्य का नियम । यहाँ शास्त्र में यथामन्यमनुदेश समानाम् इस अर्थविशेष से लौकिक दृष्टान्त की बाधा हो जायगा ता तब और किन् क्रम से आदि अन्त में समझ जायेंगे । तब आदि में होगा और किन् अन्त में ।

क्रम से आदि अन्त में होने वाले ये तब किन् कौन हैं ?

आगम हैं ।

क्या यह ठीक है कि नित्य शब्द मानते हुए आगम किये जायें । क्या नित्य शब्दों में वर्णों को कूटस्थ (परिणाम शून्य) अविचाली (अचल) तथा नाश वृद्धि विकार रहित नहीं होना चाहिये ? अवश्य होना चाहिये । आगम तो एक तथे शब्द की वृद्धि का नाम है । उससे शब्द में वृद्धि हो कर नित्यता कैसे रहेगी ।

नित्य शब्द को मानते हुए आदेशों का होना भी कैसे ठीक है ?

तो तो ठीक है । आदेशों में पहले शब्द की जगह दूसरे शब्द का प्रयोग होने से प्रयोग ही बदलता है शब्द नहीं इस लिये आदेश पक्ष में शब्द की नित्यता में कोई बाधा नहीं आती ।

तो ये भी आदेश ही मान लिये जायेंगे । अनागमक अर्थात् इत्यादि आगम रहित तथे के स्थान में सागमक अर्थात् इत्यादि आगमसहित इत्यथ शब्द आदेश

Prokoplje, Dir -Gen of Machine Building Directorate, Serbia, mem Exec. Council, Serbia, Pres. Board of Management, Fed Chamber of Industry; Fed. Sec for Foreign Trade 62-67.  
c/o Secretariat for Foreign Trade, Belgrade, Yugoslavia.

**Dzyubanko, Grigori Nikiforovich;** Soviet diplomatist;  
b. 1914; ed Ukrainian Inst of Journalism  
Member C P of Soviet Union 40-; Journalistic work

31-36; Party work 40-42; at Ministry of Foreign Affairs 44-45; Senior Asst. Deputy Political Counsellor to Soviet Section, Allied Comm. on Austria 45-50; Asst Head, Third European Dept., Ministry of Foreign Affairs 50-56; Counsellor, Soviet Embassy, Vienna 56-59; Counsellor, Ministry of Foreign Affairs, Moscow 59-65, Amb. to Nepal 65-; Red Banner of Labour, etc.  
U S S R Embassy, Katmandu, Nepal.

## E

**Eagle, Harry, A.B., M.D.**, American researcher in cell biology, b 13 July 1905, New York City; *m* Hope Whaley 1928, one *d*, ed Johns Hopkins Univ and Johns Hopkins Medical School

Assistant and Instructor Dept of Medicine, Harvard Medical School 28-32, Nat Research Fellow 32-33, Asst Prof of Microbiology, Univ of Pa Medical School 33-36, U.S. Public Health Service 36-61, Dir Venereal Disease Research Lab and Lab of Experimental Therapeutics, Johns Hopkins School of Hygiene and Public Health, and the Public Health Service 36-48, Adjunct Prof of Bacteriology, Johns Hopkins School of Hygiene and Public Health 46-48, Scientific Dir., Research Branch, Nat Cancer Inst 47-49, Chief, Section on Experimental Therapeutics at Nat Microbiological Inst., Nat Inst of Health 49-59, Laboratory of Cell Biology at Nat. Inst of Allergy and Infectious Diseases 59-61, Prof and Chair, Dept of Cell Biology, Albert Einstein Coll of Medicine, N.Y. 61-, Div. of Biological Sciences 68-, Harvey Lecturer 59, Trustee Microbiological Foundation (Waksman), mem numerous ctees including Scientific Advisory Council of Sloan Kettering Inst for Cancer Research, Council for Research Analysis and Projection of American Cancer Soc, mem numerous socs including Nat Acad of Sciences (also on its Cttee on Science and Public Policy), American Acad of Arts and Sciences, Soc of American Microbiologists (Pres 57-58), American Acad of Microbiology, American Assn of Cancer Research (on Board of Dirs 63-66), Hon MSc Yale Univ, Hon DSc Wayne Univ, Eli Lilly Award in Microbiology 36, Alvarenga Prize, Coll of Physicians of Pa 36, Presidential Certificate of Merit 48, Borden Award American Assn of Medical Colls 64, Albert Einstein Commemorative Award 68

Publs Studies relating to Bacterial physiology, Immunochemistry serodiagnosis of syphilis, blood coagulation, Chemotherapy syphilis, trypanosomiasis and tropical diseases, Detoxification of mental poisoning, Mode of action of antibiotics, Cell and tissue culture

Albert Einstein College of Medicine, Eastchester Road and Morris Park Avenue, Bronx, N.Y. 10461, Home 370 Orienta Avenue, Vamaronneck N.Y. 10543, U.S.A. Telephone 212-430 2815 (Office), 914 OW 8-8218 (Home)

**Eagleton, Thomas Francis, LL.B.**, American lawyer and politician, b 4 Sept 1929, ed Amherst Coll and Harvard Univ

Admitted to Mo Bar 53, private law practice St Louis 53-56, Circuit Attorney, St Louis 57-60, Attorney Gen State of Mo 61-65, Lieut-Gov 65-68, Senator from Mo 69, Democrat

U.S. Senate, Washington, D.C., U.S.A.

**Eames, Charles;** American designer

Independent designer of furniture, toys, films, exhibits etc., in partnership with wife, Ray Eames

Office 901 Washington Boulevard, Venice, Calif, Home 203 Chautauqua Boulevard, Pacific Palisades Calif, U.S.A.

**Earle, Arthur Frederick, Ph.D.**, Canadian economist and business executive, b 13 Sept 1921, Toronto Ont

s of Frederick Charles Earle and Hilda Mary (nee Brown), *m* Vera Domini Lithgow 1946, two s one *d*

ed Univ of Toronto and London School of Economics

Royal Canadian Navy 39-40, Canada Packers Ltd 46-48, Aluminum Ltd in British Guiana, West Indies and Canada 48-53, Treas Alumina Jamaica Ltd 53-55, Sales Exec., Aluminum Union, London 55-58, Vice-Pres Aluminum Ltd Sales, Inc., New York, Dep

Chair Hoover Ltd 61-63, Managing Dir 63-65, Principal, London Graduate School of Business Studies 65-, Dir. Hoover Ltd., and The British Aluminum Co Ltd, mem. The Consumer Council 63-68, mem of Council of Management of Ditchley Foundation, Gov Nat Inst of Econ and Social Research, Nat Econ Devt Council for the Electrical Eng Industry, N.E.D.C. Cttee on Management Educ., Training and Devt., Gov London School of Econ., Fellow, British Inst. of Management.

Leisure interest hill climbing

The London Business School, 28 Northumberland Avenue, London, W.C.2, "Rotherfield", The Ridgeway, Gerrards Cross, Bucks., England

Telephone 01-930-2180 (Office), 498 2110 (Home).

**Earle, Ion, B.A., T.D.**, British commercial official, b 12 April 1916, Neath, Glamorgan, s of Stephen Earle and Beatrice (nee Blair White), *m* Elizabeth Dain Stevens 1946, one s one *d*, ed Stowe School Univ Coll., Oxford and Univ of Grenoble

Head of Regional Org Fed of British Industries 52-60, Chief Exec Export Council for Europe 60-64, Dir British Nat. Export Council 64-66, Deputy Dir Gen 66

Leisure interests golf gardening travel

British National Export Council, 6-14 Dean Farrar Street London, S.W.1, Home 5 McKay Road, London, S.W.20 England

**Eason, Henry, C.B.E., J.P., B.Com., F.R.B.**, British banking administrator, b 12 April 1910, Middlesbrough, s of late H and F J Eason, *m* Florence Isobel Stevenson 1939 one s two *d* ed Yarm and King's Coll, Univ of Durham

Barrister, Lloyds Bank Ltd until 39, Royal Air Force

Barrister, Lloyds Bank Ltd until 39, Royal Air Force (Wing Commr), Second World War, Sec-Gen Inst of Bankers 59-

Leisure interests golf travel reading

Institute of Bankers, 10 Lombard Street, London, E.C.3, England

**Eastland, James O.;** American politician, b 28 Nov 1904, ed Univs of Mississippi and Alabama and Vanderbilt Univ

Admitted to Mississippi Bar 27, Practised law, mem Mississippi House of Reps 28-32, Senator from Miss 43-, Democrat

Ruleville, Miss, U.S.A.

**Eaton, Cyrus Stephen, A.B., D.C.L., LL.D.** American industrialist and railroad executive b 27 Dec 1883

ed McMaster Univ, Toronto

Co-founder Cliffs Corpn founder Republic Steel Corpn, former Dir Cleveland Trust Co Republic Steel Corpn, Youngstown Sheet and Tube Co, Inland Steel, Nat. Acme, Chair and Dir Chesapeake and Ohio Riv. Steep Rock Iron Mines Ltd, West Kentucky Coal Co, Chair Pres and Dir Portsmouth Steel Corpn, fmr Dir Sherwin-Williams Co, Cleveland Electric Illumination Co Kansas City Power and Light Co, Trustee, Denison Univ, Univ of Chicago Cleveland Museum of Natural History, mem American Council of Learned Soci., American Historical Assn, American Philosophical Assn, Dir Harry S Truman Library Inst, Econ Council, Royal Norwegian Acad of Sciences, American Acad of Arts and Sciences

Publs *The Time-Term Tradition* '40 *Father and Son* '42 *The Professor Talks to His Wife* '42 *Investment Crises* '41, *The Professor Talks to His Wife* '42 *A New Plan to Banish—Complication or Development?* '44 *A New Plan to Re-open the U.S. Capital Market* '45, *A Capitalist Looks at Labor* '47, *Is the Glob. B.G. Enough for Capitalists?* and

*Communism* 58, *Canada's Choice* 59, *The Engineer as Philosopher* 61  
 Terminal Tower, Cleveland 44101, Home Acadia Farms, Northfield, Ohio 44067, U S A  
 Telephone. 216-861 2200 (Office), 216-467-7125 (Home).

**Eban, Abba;** Israeli diplomatist and politician, b 2 Feb 1915, ed Univ of Cambridge  
 Research Fellow and Tutor for Oriental Languages, Pembroke Coll 38, apptd Liaison Officer of Allied H Q with the Jewish population in Jerusalem for training volunteers 42, Chief Instructor at the Middle East Arab Centre in Jerusalem 44, entered service of Jewish Agency 46, apptd Liaison Officer with UN Special Comm on Palestine 47, apptd by the Provisional Govt of Israel as its rep in the UN 48, perm rep with rank of Minister 49 59, Vice-Pres Gen Assembly 53, Amb to U S A 50-59, elected to Knesset 59 Minister without Portfolio 59 60, Minister of Educ and Culture 60 63, Deputy Prime Minister 63-66, Minister of Foreign Affairs 66-, Pres Weizmann Inst of Science 58 66, Vice-Pres. UN Conf. on Science and Technology in Advancement of New States 63, mem UN Advisory Cttee on Science and Technology for Devt, M A (Cambridge), Hon Dr (Univs of New York, Boston, Maryland, Cincinnati, Temple, etc.), Fellow World Acad of Arts and Sciences, Fellow American Acad of Arts and Sciences  
 Pubs *The Modern Literary Movement in Egypt* 44, *Maze of Justice* 46, *Social and Cultural Problems in the Middle East* 47, *The Toynbee Heresy* 55, *Voice of Israel* 57 9 *Tide of Nationalism* 59, *Chaim Weizman A Collective Biography* 62 *Reality and Mission in the Middle East (Foreign Affairs)* 65 *Israel in the World* 66 *My People* 68 numerous articles in English, French, Hebrew and Arabic  
 Ministry of Foreign Affairs, Jerusalem, Israel  
 Telephone 51042

**Ebdon, Hubert George;** American engineer, b 98, ed Cooper Union and Brooklyn Polytechnic Inst  
 Joined Combustion Eng Inc, N Y C 17, Sales Rep. 29 38, Asst Sales Man 38-40 Gen Sales Man 40-50, Vice-Pres (Sales) 50-56, Exec Vice-Pres 56-57, Pres 57-63, Vice Chair Board 63 65, Chair 65-, mem various professional orgs  
 277 Park Avenue, New York, N Y 10017, U S A

**Eberhard, Harmon Sewell;** American manufacturer; b 1900  
 Joined Caterpillar Tractor Co 16, successively Draftsman, Chief Engineer, Vice-Pres Research, Eng and Mfg, Exec Vice Pres 16 54, Pres 54-, Chair of Board 62 66, Dir Central Illinois Light Co, Commercial Nat Bank, Illinois Central Industries, Caterpillar Tractor Co, Whirlpool Corp, Del Monte Corp  
 7618 North Edgewild Drive, Peoria, Ill, U S A

**Eberhart, Richard,** M A, LITT D; American poet, b 5 April 1904 Austin, Minn, s of late Alpha La Rue Eberhart and late Lena Lowenstein, m Helen Elizabeth Butcher 1941, one s one d, ed Univ of Minnesota, Dartmouth Coll, St John's Coll, Cambridge and Harvard Univ  
 United States Naval Reserve World War II rose to Lieut Commr, Asst Man. Butcher Polish Co 46, now Hon Vice Pres and mem of Board of Dirs, Master of English, St Mark's School, Southborough Mass 33 41, Cambridge School, Kendal Green Mass, 41-42, Visiting Prof of English and Poet in residence, Univ of Washington 52 53, Prof of English, Univ of Connecticut 53-54, inaugural Visiting Prof of English, Poet in residence, Wheaton Coll, Norton, Mass 54 55, Resident Fellow in Creative Writing, Christian Gauss Lecturer, Princeton 55 56, Prof of English, Poet in residence, Dartmouth 56-, Class of 1925 Prof 68-; mem Advisory Cttee on Arts for Nat Cultural Center, Washington (now John F Kennedy Center for Per-

forming Arts) 59, Consultant in Poetry, Library of Congress 59-61; mem. Nat Inst Arts and Letters 60, Peace Corps Mission to Kenya Aug 66, American Acad Arts and Sciences 67, Founder and Pres Poets' Theatre Inc, Cambridge, Mass 51, Harriet Monroe Memorial Prize 50, Shelley Memorial Prize 51, Bollingen Prize 62, Pulitzer Prize 66, Fellow of Acad of American Poets 69, Hon Consultant in American Letters, Library of Congress 63 66, 66-69  
 Leisure interests cruising on coast of Maine and swimming  
 Pubs *A Bravery of Earth* 30, *Reading the Spirit* 37, *Song and Idea* 42, *Poems New and Selected* 44, *Burr Oaks* 47, *Brotherhood of Men* 49, *An Herb Basket* 50, *Selected Poems* 51, *Undercliff* 53, *Great Praises* 57, *Collected Poems 1930-60* 60, *Collected Verse Plays* 62, *The Quarry* 64, *Selected Poems 1930-65* 65, *New Directions* 65, *Thirty One Sonnets* 67, *Shifts of Being* 68  
 5 Webster Terrace, Hanover, New Hampshire 03755, U S A  
 Telephone 643 2938

**Eberle, Josef;** German newspaper publisher, b 1901, Rothenburg, Neckar, m Else Lemberger, ed Grammar School, Rothenburg  
 Former bookseller, with Radio Stuttgart until 33, served American consulate, Stuttgart until 42, publisher and ed *Stuttgarter Zeitung* 45-, Pres Württemberg Bibliotheksgesellschaft and Galerie-Verein, Stuttgart, Vice-Pres Deutsche Schullergesellschaft, Stuttgart-Marbach, mem Deutsche Akad Darmstadt, PEN Club, Prof Dr phil h c Tübingen  
 Leisure interests collecting antiques, bronzes, Latin poetry  
 Pubs *Interview mit Cicero, Laudes, Stunden mit Ovid, Ovid, Heilmittel* (translation), *Amores* (Latin poetry), *Sal Niger* (100 Epigrams, Latin and German) *Latensche Nächte* (essays)  
 Rosengartenstrasse 9, Stuttgart Frauenkopf, German Federal Republic  
 Telephone 299-171.

**Ebert, Carl (Anton Charles),** CBE American (b. German) opera director, b. 20 Feb 1887, ed Max Reinhardt's School of Dramatic Art, Berlin  
 Began career as actor at Max Reinhardt's Deutsches Theater, Berlin 09-14, Schauspielhaus, Frankfurt a M 15-22, Staatstheater, Berlin 22 27, Founder, Dir, teacher in Schools of Dramatic Art in Frankfurt 19, and Berlin (Prof) 25, acted in silent films, recited European Literature, parts included Faust, Egmont, Lear, Brutus, Petruccio, Peer Gynt, etc, Gen Dir and Producer, Hess Landestheater 27-31, Stadtische Oper, Berlin, 31-33, left Germany because of Nazi regime March 33, acted Zurich and Basle, Guest Producer Basle, Salzburg Festival, State Opera and Burgtheater Vienna, Arena Verona 32-38, Maggio Musicale Florence 33-37, Teatro Colon Buenos Aires 33-36, Artistic Dir and Producer Glyndebourne Opera 34-59, of Glyndebourne productions at Edinburgh Festivals 47-55, Adviser to Turkish Ministry of Educ, Founder Dir (and teacher) Turkish State School of Opera and Drama, Ankara 36- and Turkish Nat Theatre, Ankara 39-47, Prof and Head Opera Dept, Univ of Southern Calif, Los Angeles 48-54, Artistic Dir and Producer Guild Opera Co, Los Angeles 50-, Gen Dir and Producer Stadtische Oper, Berlin 54-61, Pres German section of Int Theatre Inst, Berlin 56-61, Guest Producer London, Milan, Ankara, Venice, Paris, New York, Copenhagen 47-59, Biennale world premiere Stravinsky's *The Rake's Progress*, Producer Metropolitan Opera New York, Glyndebourne Opera England, also Zurich, Ireland, Copenhagen, Deutsche Oper, Berlin 61-67, Master Class in Opera, BBC TV London 65, Hon mem Deutsche Oper Berlin, Staatstheater Darmstadt, Board of Dirs Opera Guild of S California, Int

## मिदचोऽन्त्यात्परः ॥१॥१॥४७॥

किमर्थमिदमुच्यते ?

मिदचोन्त्यात्पर स्थानपरप्रत्ययस्यापवाद ।

मिदचोन्त्यात्पर इत्युच्यते । स्थानेयोगत्वस्य प्रत्ययपरत्वस्य, चापवादः । स्थानेयोगत्वस्य तावत् । कुण्डानि वनानि । पयांसि यशांसि । प्रत्ययपरत्वस्य । भिनत्ति छिनत्ति ।

अत्रेदिद युस्तमुदाहरणम्—कुण्डानि वनानि । यत्र नास्ति संभयो यद्यमचोन्त्यात्परश्च स्यात् स्थाने चेति । इदं त्यपुषतम्—पयांसि यशांसीति । अस्ति हि संभयो यद्यमचोन्त्यात्परश्च स्यात् स्थाने चेति ।

एतदपि युक्तम् । कथम् । नैवेद्यं आशापयति नापि धर्मसूत्रकारः

यह सूत्र क्यों बनाया है ?

यह सूत्र इस लिये बनाया है कि स्थानेयोग पट्टी से सम्बद्ध अलोन्त्यस्य सूत्र का और परश्च सूत्र का अपवाद हो कर बाधक हो जाये । जैसे—कुण्डानि वनानि । पयांसि । यशांसि । (कुण्ड वन पयस यशास्-जम दास्) यहां नपुंसक्य शब्द से हुआ नुम् का आगम मिन् होने से अलोन्त्यस्य को बाध कर कुण्ड भादि के अन्तिम अच् से परे होता है । प्रत्ययपरत्व का उदाहरण जैसे भिनत्ति छिनत्ति । (भिनद् छिनद्-ल्हृट् तिप्) यहां ऋधादिभ्यः इन् से हुआ इन् प्रत्यय मिन् होने से प्रत्यय परश्च को बाध कर भिद् छिद् के अन्तिम अच् से परे होता है ।

कुण्डानि वनानि यह उदाहरण तो ठीक है यहां एक साथ कुण्ड के अन्तिम अल् अकार के स्थान में और उसी अन्तिम अच् अकार से परे नुम् का होना सम्भव नहीं । इस लिये अलोन्त्य को बाध कर मिदचोन्त्यात्पर हो जाये । परन्तु पयांस यशांसि यह उदाहरण ठीक नहीं । यहां एक साथ पयस के अन्तिम अच् सकार के स्थान में और अन्तिम अच् पकार के अकार से परे नुम् का होना सम्भव है इस लिये मिदचोन्त्यात्पर से अलोन्त्य को बाधा न हो कर अलोन्त्य सूत्र में सकार के स्थान में ही नुम् प्राप्त होता है ।

पयांसि यशांसि यह उदाहरण भी ठीक है । क्योंकि अरवादों में दासने

पठन्ति अपवादैस्तसर्गा वाध्यन्तामिति । किं तर्हि । लौकिकोऽय दृष्टान्तः ।  
लोके हि सत्यपि सम्भवे वाधनं भवति । तद्यथा ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां  
तत्र कौण्डिन्यायेति सत्यपि सम्भवे दधिदानस्य तत्रदानं नियतं भवति ।  
एवमिहापि सत्यपि सम्भवे अचामन्त्यात्परत्वं पृथीस्थानेयोगत्वं  
वाधिष्यते ।

अन्त्यात्पूर्वो मस्तेर्मिदनुपङ्गसंयोगादिलोपार्थम् ।

अन्त्यात्पूर्वो मस्तेर्मिद्वक्तव्यः । किं प्रयोजनम् । अनुपङ्गसंयोगादि-  
लोपार्थम् । अनुपङ्गलोपार्थं संयोगादिलोपार्थं च । अनुपङ्गलोपार्थं तावत् ।  
मग्नः । मग्नवान् । संयोगादिलोपार्थम् मङ्क्ता मङ्क्त्वम् मङ्क्त्वम् ।

वाधे जाते हैं यह लोक्यवहार सिद्ध बात है इस के लिये न तो राजाओं है  
और न ही धर्मशास्त्र बनाने वाले कोई वचन पढ़ते हैं । एक में सम्भव  
हाने पर भी बाधा होती है । जैसे सब ब्राह्मणों को दही देओ किन्तु कौण्डिन्य  
कुण्डिन गोत्रज ब्राह्मण को तत्र (हरसी) देओ ऐसा कहने पर कौण्डिन्य को दही देने  
का सम्भव होने पर भी तत्र ही दिया जाता है । तत्र कहने से दही का  
देना रुक जाता है । इसी प्रकार पयासि यथासं यहाँ अलोक्य का सम्भव  
होन पर भी मिद्वचो० से उसकी बाधा हो जायगी ता अन्तिम अक्षर से परे  
ही नुम् होगा ।

मस्ते धातु में सिद्ध आगम को अन्तिम अक्षर से पूर्व कहना चाहिये ।  
जिससे अनुपङ्ग अर्थात् नकार का लोप और संयोगादि सकार का लोप सिद्ध  
हो सकें । अनुपङ्ग जैसे—मग्नं मग्नवान् । (मस्त् कृत्, क्तवत्) यहाँ मस्त् धातु  
से क्त क्तवत् प्रत्यय परे होने पर मस्मिन्शोर्ज्ञि से हुआ नुम् का आगम  
मस्त् के अन्तिम अक्षर जकार से पूर्व हो जायगा तो मस्न् हो कर नकार  
के उपधा में आ जाने से अनिर्दिता हल उपधाया से नकार का लोप सिद्ध हो  
जाता है । साथ ही सकार के संयोगादि हो जाने से स्को संयोगाद्यो० से सकार  
का लोप भी सिद्ध हो जाता है । अकेले संयोगादिलोप का उदाहरण जैसे—  
मङ्क्ता मङ्क्त्वम् मङ्क्त्वम् । (मस्त् कृत्, क्तवत्) यहाँ मस्मिन् इस  
स्थिति में सकार के संयोगादि हो जाने से स्को संयोगाद्यो से सकार का  
लोप सिद्ध हो जाता है ।



भजिमच्योश्च ।

भजिमच्योश्चान्त्यात्पूर्वो मिद्वक्तव्यः । भरुजा मरीचय इति ।

स तर्हि वक्तव्यः ।

न चन्तव्यः । निपातनात् सिद्धम् । किं निपातनम् । भरुजा शब्दोऽङ्गुल्यादिषु पठ्यते । मरीचिशब्दो वाक्त्रादिषु ।

किं पुनरयं पूर्वान्तः, आहोस्वित् परादि, आहोस्विदभक्तः ।

कथं चायं पूर्वान्तः स्यात्, कथं वा परादिः कथं वाऽभक्तः ।

यद्यन्त इति वर्तते ततः पूर्वान्तः । अथादिरिति वर्तते ततः परादिः ।  
अथोभयं निवृत्तं ततोऽभक्तः ।

भृज् और मर्च धातुओं में भी मित् को अन्तिम अक्षर से पूर्व कहना चाहिये । जैसे—भरुजा मरीचय । ये उदाहरण हैं । भरुजा में भृज् धातु से अच् प्रत्यय पर होने पर लघूपधगुण हो कर औणादिक ऊम् का आगम भृज के अन्तिम अक्षर जकार से पूर्व हो जायगा तो भरुजा सिद्ध हो जाता है । मरीचि में मर्च धातु में इ प्रत्यय पर रहते औणादिक ईम् का आगम मर्च के अन्तिम अक्षर चकार से पूर्व हो जायगा तो मरीचि शब्द सिद्ध हो जाता है ।

भजिमच्योश्च यह वचन क्या कह दिया जाय ?

इस वचन की कोई आवश्यकता नहीं । भरुजा मरीचि ये दोनों शब्द निपातन से सिद्ध हो जायेंगे । क्या निपातन है ? भरुजा शब्द तो अङ्गुल्यादिभ्यङ्क् इस सूत्र से अङ्गुल्यादिगण में पड़ा गया है । मरीचि शब्द वाक्त्रादिभ्यङ्क् इस सूत्र के वाक्त्रादिगण में । गणपाठ में पठित होने से दोनों शब्द निपातन से सिद्ध माने जायेंगे ।

क्या यह मित् का आगम पूर्व का अन्ताग्रयण होता है या पर का आदि अग्रयण, या अभवत अर्थात् दोनों में से किसी का भी अग्रयण नहीं होता ?

कैसे तो यह पूर्व का अन्ताग्रयण हो सकता है । जैसे पर का आदि अग्रयण और कैसे अभवत किसी का भी अग्रयण नहीं ।

यदि आन्तरी टिकती इस पूर्व सूत्र से यहाँ अन्त की अनुवृत्ति लार्गे तो पूर्व का अन्ताग्रयण हो सकता है । यदि आदि की अनुवृत्ति लार्गे तो पर का आदि

कश्चात्र विशेषः ।

अभक्ते दीर्घनलोपस्वरणत्वानुस्वारशीभावा ।

यद्यभक्तो दीर्घत्व न प्राप्नोति । कुण्डानि वनानि । नोपधायाः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धावि'ति दीर्घत्व न प्राप्नोति । दीर्घ ॥ नलोप-  
नलोपश्च न सिध्यति । अग्ने श्री ते वाजिना श्री पथस्था । ता ता  
पिण्डानाम् । 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नलोपो न प्राप्नोति । न-  
लोप ॥ स्वर-स्वरश्च न सिध्यति । सर्वाणि ज्योतीषि । सर्वस्य सुपी'-  
त्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति । स्वर ॥ णत्व-णत्व च न सिध्यति । मापवापाणि ।  
श्रीहिवापाणि । पूर्वान्ते प्रातिपदिकान्तनकारस्येति सिद्धम् । परादौ

भवयव । और यदि दोनो में से किसी की भी अनुवृत्ति न लावें तो अभक्त हो सकता है ।

इन तीनों पक्षों में क्या विशेष है ?

अभक्त पक्ष मानने पर दीर्घ, नलोप, स्वर, णत्व, अनुस्वार और शीभावा  
सिद्ध नहीं होते । कुण्डानि वनानि यहाँ तुम् के अभक्त होने से नास्त अङ्ग  
न होगा तो नोपधाया की अनुवृत्ति से सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ सूत्र से उपधा  
दीर्घ नहीं प्राप्त होता ।' ता ता पिण्डानाम् यहाँ तानि के स्थान में वैदिक  
व्यत्यय से ता यह रूप होता है । शेरुन्दसि बहुलम् से शि का लोप हो कर  
थान् इस अवस्था में तुम् के अभक्त होने से प्रातिपदिकान्त नकार न होगा  
तो नलोप प्रातिपदि० से नकार का लोप नहीं प्राप्त होता । सर्वाणि यहाँ तुम्  
के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो चायगा तो सर्वशब्द स परे अव्यवहित  
सुप् न मिलने से सर्वस्य सुपि से आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता । मापवापाणि  
श्रीहिवापाणि यहाँ तुम् के अभक्त होने से प्रातिपदिकान्त नकार न होगा तो  
प्रातिपदिकान्ततुम्विभक्तिषु च से णत्व नहीं प्राप्त होता । उसके लिये सूत्र  
में तुम् ग्रहण करना होगा । पूर्वान्त पक्ष में तो प्रातिपदिक के अन्त में नकार  
हो जाने से प्रातिपदिकान्त कहने से ही णत्व सिद्ध है । परादिपक्ष में भी

१. यदि कहो यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययऽङ्गम् इस सूत्र में तदादिग्रहण  
तदादिवचन स्यादिनुमर्थम् इस वचन द्वारा तुम् सहित का अङ्गसंज्ञा क ग्ये  
तुम् के अभक्त होने पर भी कुण्डानि वनानि में कुण्डन् वनन् ये नान्त अङ्ग  
बन जायेंगे तब तो यह दोष न होगा ।

विभक्तिकारस्येति । अभक्ते नुमो ग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् ।  
क्रियते एतन् न्यास एव । 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु चे'ति । णत्व ॥  
अनुस्वार-अनुस्वारश्च न सिध्यति । द्विपन्तपः परन्तपः । मोनुस्वारो  
हली'त्यनुस्वारो न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । 'नश्चापदान्तस्य हली'त्येवं  
भविष्यति । यस्तर्हि न श्त्परः । वहंलिहो गौः । अभ्रंलिहो यायुः ।  
अनुस्वार ॥ शीभाव-शीभावश्च न सिध्यति । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी ।  
नपुसकादुत्तरस्यौडः शीभावो भजतीति शीभावो न प्राप्नोति । शीभाव ॥

एवं तर्हि परादिः करिष्यते ।

परादौ गुणवृद्धयैत्तदीर्घनलोपानुस्वारशीभावे नकारप्रतिषेधः ।

यदि परादिः गुणः प्रतिषेध्यः । त्रपुणे जतुने तुम्बुरुणे । 'घेडिंती'ति  
गुणः प्राप्नोति । गुण ॥ वृद्धि-वृद्धिः प्रतिषेध्या । अतिसस्तीनि ब्राह्मण-

विभक्ति का अवयव हो जाने से विभक्ति कहने से णत्व सिद्ध है । उन दोनों  
में नुम् ग्रहण नहीं करना पड़ता । यदि कहो प्रातिपदिकान्तनुम् विभ० सूत्र  
में नुम् ग्रहण कर ही रहा है तब तो यह णत्व का दोष न होगा । द्विपन्तप  
परन्तप यहाँ नुम् के अभक्त होने से मान्त पद न होगा तो मोनुस्वारः से  
अनुस्वार नहीं प्राप्त होता । यदि कहो मोनुस्वारः से न सही, नश्चापदान्तस्य  
हलि से अनुस्वार कर लेंगे तो वहंलिह् । अभ्रंलिह् यहाँ लिह् के एकार के  
हल् न होने से हल् परे न होगा तो नश्चापदान्तस्य० से भी अनुस्वार नहीं  
प्राप्त होगा । नपुणी जतुनी तुम्बुरुणी यहाँ नुम् के अभक्त होने से उसका  
व्यवधान हो जायगा तो नपुसकाच्च से औड् को शी आदेश नहीं प्राप्त होता ।

तो फिर मित् को परादि मान लेंगे ।

मित् को परादि मानने पर गुण वृद्धि, औत्तर, दीर्घ, नलोप, अनुस्वार  
और शीभाव में नकार का प्रतिषेध करना होगा । त्रपुणे जतुने तुम्बुरुणे यहाँ  
नुम् परादि हो कर दे विभक्ति का अवयव हो जायगा तो त्रपु आदि को

१ द्विपन्तप यह उदाहरण तो परन्तपः के प्रसङ्ग से कह दिया है । इसमें  
नुम् को अनुस्वार की अप्राप्ति का दोष नहीं है । क्योंकि द्विपन् शब्द को हुआ नुम्  
का आगम तन्मध्यपतितस्त्रग्रहणेन गृह्यते इमं न्याय से द्विपन् के ग्रहण से  
पृथीत हो जायगा । द्विपम् इमं के मान्त पद बन जाने से मोऽनुस्वारः सिद्ध है ।

कुलानि । सत्पुंसबुद्धौ इति णित्वे 'अचो ङ्णित्तीति वृद्धि' प्राप्नोति । वृद्धि ॥ औत्त्व-औत्त्य च प्रतिषेध्यम् । त्रपुणि जतुनि तुम्बुरुणि । 'इदुद्भ्याम् औदच्च घेरि'ति औत्त्व प्राप्नोति । औत्त्व । दीर्घ दीर्घत्व च न सिध्यति । कुण्डानि वनानि । 'नोपधायाः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति दीर्घत्व न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । 'अतो दीर्घा यञि सुपि चेत्ये'व भविष्यति । इह तर्हि अस्थीनि दधीनि प्रियसखीनि ब्राह्मणकुलानि । दीर्घ । नलोप-नलोपश्च न सिध्यति । अग्ने श्री ते वाजिना श्री पद्यस्था । ता ता पिण्डानाम् । नलोप प्रातिपदिकान्तस्येति नलोपो न प्राप्नोति । नलोप । अनुस्वार-अनुस्वारश्च न सिध्यति । द्विपन्तपः परन्तपः । 'मोनुस्वारो हली'त्यनुस्वारो न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । 'नश्चापदान्तस्य झली'त्येव भविष्यति । यस्तर्हि न झत्पर' । वहलिहो गौः । अभ्रलिहो वायुः । अनुस्वार । शीभावे नकारप्रतिषेधः । शीभावे नकारप्रतिषेधो वक्तव्य' । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी । सनुम्बुरुस्य शीभावः प्राप्नोति ।

बोद्धति से गुण प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा । सखायमतिमान्तानि अतिसखीनि ब्राह्मणकुलानि यहां तुम् परादि हो कर जस् विभक्ति का अवयव हो जायगा तो सत्पुंसबुद्धौ से णित्व हो कर अन्त अतिसखि शब्द को अचो ङ्णित्तीति से वृद्धि प्राप्त होती है उसका निषेध कहना होगा । त्रपुणि जतुनि तुम्बुरुणि यहां तुम् परादि हो कर णि विभक्ति का अवयव हो जायगा तो औत्त्व ये से औत्त्व प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा । कुण्डानि वनानि यहां तुम् के परादि हो जाने से नाम्न्त अङ्ग न होगा तो सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से दीर्घ नहीं प्राप्त होता । यदि कहो कुण्डानि वनानि में नि के पञादि सुप् हो जाने से सुपि च से दीर्घ कर लेंगे तो अस्थान दधानि प्रियसखीनि यहां अस्थि आदि क अदन्त न होने से सुपि च से भी दीर्घ नहीं प्राप्त होता । अग्न त्रा त० इस वैदिक प्रयोग में त्रीणि के स्थान में श्री यह रूप होता है । यहां तुम् के परादि होने से प्रातिपदिकान्त नकार न मिलेगा तो नलोप प्रातिपदिकान्तस्य से नलोप नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार तानि के स्थान में प्रयुक्त ता इसमें तुम् के परादि होने से नलोप नहीं प्राप्त होता । द्विपन्तप परन्तप यहां तुम् के परादि होने से भान्त पद न होगा तो मोनुस्वार से अनुस्वार नहीं प्राप्त होता । यदि कहो मोनुस्वार से न सही, नश्चापदान्तस्य झलि स कर लेंगे तो वहलिह अभ्रलिह यहां लिह का एकार च् परे न होने से नश्चापदान्त० से भी अनुस्वार नहीं प्राप्त होता । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणा यहां औद् को शीभाव करने में भी नकार का प्रतिषेध करना होगा । तुम् परादि

नैप दोषः । 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ती'त्येवं न भविष्यति । यस्तर्हि निर्दिश्यते तस्य न प्राप्नोति । कस्मात् । नुमा व्यवहितत्वात् ।

एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते ।

पूर्वान्ते नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च ।

यदि पूर्वान्तः क्रियते नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च न सिध्यति । नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वम् । आराशस्त्रिणी । धाना शप्कुलिनी । निष्कौशाम्बिनी । निर्वाराणसिनी । द्विगुस्वर—पञ्चारत्निनी । दशारत्निनी ॥

हो कर औ रिभक्ति का अरथ हो जायगा तो नुम् सहित औ को ही प्राप्त होता है । यदि व्हो निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इस न्याय से नपुंसकाच्च में निर्दिष्ट करल नुम् रहित औ को ही ही होगा तो भी नुम् का व्यवधान हो जाने से औद् को ही नहीं प्राप्त होता ।

अरदा तो फिर मित् को पूर्वान्त मान लेंगे ।

मित् को पूर्वान्त मानने पर नपुंसक को और उपसर्जन को होने वाला ह्रस्व तथा द्विगुस्वर नहीं सिद्ध होते । आराशस्त्रिणी । धानाशप्कुलिनी । यहाँ आरा च शस्त्री च ते आराशस्त्रिणी । धानाश्च शप्कुत्वश्च ते धानाशप्कुलिनी इस द्वन्द्व समास में जातिरप्राणिनाम् से एवञ्चाव हो कर नपुंसक हो जाता है । आरा शस्त्री-औ, धाना शप्कुली-औ इस अवस्था में नपुंसकाच्च से औ को ही हो कर ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकम् से प्राप्त ह्रस्व को मिल्य होने से इवोपि विभक्ती से विहित नुम् बाध होगा तो पहले नुम् हो जायगा । नुम् को पूर्वान्त मानने पर आरा शस्त्री, धानाशप्कुली ये अजन्त न रहेंगे तो ह्रस्वो नपुंसके० से नपुंसकह्रस्व नहीं प्राप्त होता । निष्कौशाम्बिनी निर्वाराणसिनी यहाँ निर्गते कौशाम्ब्याः ये ते । निर्गते वाराणस्याः ये ते इस प्रादिसमास में नपुंसक लिङ्ग का प्रथमा द्विचन औ होता है । निग् कौशाम्बी-औ, निग् वाराणसी-औ इस अवस्था में औ को ही हो कर गोत्रियोदगर्जनस्य स प्राप्त ह्रस्व को मिल्य होने से इवो नि रिभक्ती यह बाध होगा तो पहले नुम् हो जायगा । नुम् को पूर्वान्त मानने पर कौशाम्बी वाराणसी क अजन्त न रहने से उपसर्जन ह्रस्व नहीं प्राप्त होता । पञ्चारत्निनी यहाँ पञ्च अरज्यः प्रमाणमनयो ते । पञ्चानामरत्नीनां समाहारो वा ते । इस प्रकार तद्विचार्य में वा समाहार में द्विगु समास है । पञ्चारत्नि-औ इस अवस्था में नपुंसक में औ को ही हो कर इवोऽपि रिभक्ती से नुम् होता है । नुम् को पूर्वान्त मानने

नुमि कृतेऽनजन्तत्वादेते विधयो न प्राप्नुवन्ति ।

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । बहिरङ्गलक्षणत्वात् । बहिरङ्गो नुम् । अन्तरङ्गा एते विधयः । 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' । द्विगुस्वरे भूयान् परिहारः । संघातभन्तोऽसौ नोत्सहतेऽवयवस्येगन्ततां विहन्तुमिति कृत्वा द्विगुस्थरो भविष्यति ।

एच इग्रस्त्रादेशे ॥११॥४८॥

किमर्थमिदमुच्यते ।

एच इवचन सवर्णाकारनिवृत्त्यर्थम् ।

एच इग् भवतीत्युच्यते सवर्णनिवृत्त्यर्थमकारनिवृत्त्यर्थं च । सवर्ण-

पर पञ्चारणि के इगन्त न रहने से इगन्तकालकपालभगालशरावेयु द्विगौ सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर नहीं प्राप्त होता ।

ये कोई दोष नहीं । आराशस्त्रिणी आदि में नित्य नुम् को भी अन्तरङ्ग ह्रस्व बाध लेगा तो पहले नपुंसक ह्रस्व और उपसर्जन ह्रस्व हो कर बाद में नुम् होगा । क्योंकि विभक्ति को अपेक्षा रखने वाला नुम् बहिरङ्ग है । और विभक्ति की अपेक्षा न रखने वाला ह्रस्व अन्तरङ्ग है । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा बल से ह्रस्व के प्रति नुम् असिद्ध हो जायगा तो पहले ह्रस्व ही होगा । नुम् न होगा । ह्रस्व के बाद नुम् हो जाने से कोई दोष न होगा । पञ्चारणिनी यहाँ द्विगुस्वर के विषय में विशेष समाधान यह भी है कि पञ्चारणिनी इस समुदाय का भक्त (अवयव बना हुआ) नुम्, पञ्चारणि की ही इगन्तता को पूर्वान्त हो कर नष्ट करेगा । उसके अवयव अरलि की इगन्तता को नष्ट नहीं करेगा तो नुम् होने पर भी अरलि के इगन्त रहने से इगन्तकालकपाल० से पूर्वपदप्रकृति-स्वर निर्बाध हो जायगा ।'

यह सूत्र किस लिये बनाया है ।

यह सूत्र इस लिये बनाया है कि एचों को इक् ही ह्रस्व होवे । एचों में

१. यहा पूर्वान्त परादि अमकत इन तीनों पक्षों में निर्दोष होने से पूर्वान्त पक्ष को ही माध्यकार तथा वार्तिककार ने स्वीकार किया है ।

निवृत्त्यर्थं तावत्-एडो ह्रस्वादेशशासनेषु अर्धं एकारः, अर्धं ओकारो वा मा भूदिति । अकारनिवृत्त्यर्थं च । इमावेचौ समाहारवर्णौ । मात्रावर्णस्य, मात्रावर्णोऽवर्णयोः । तयोर्ह्रस्वशासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात् । कदाचिद्वर्णो वर्णौ । मा कदाचिदवर्णौ भूदित्येवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

दीर्घप्रसङ्गस्तु ।

दीर्घास्तिरुः प्राप्नुवन्ति । किं कारणम् । स्थानेन्तरतमो भवतीति ।

ननु च ह्रस्वादेश इत्युच्यते तेन दीर्घा न भविष्यन्ति ।

विषयाधर्मतत् स्यात् । एचो ह्रस्वप्रसङ्गे इह भवतीति ।

दीर्घाप्रसङ्गस्तु निवर्तकत्वात् ।

दीर्घाणां त्विकामप्रसङ्गः । किं कारणम् । निवर्तकत्वात् । नानेनेको नियत्यन्ते । किं तर्हि । अनिको नियत्यन्ते । सिद्धा ह्यत्र ह्रस्वा इकाश्चानिफट्टा ।

ए ओ ऐ औ ये चार अक्षर हैं । उनमें ए ओ के सरणी आधा ए और आधा ओ भी मात्रिक होने से ह्रस्व प्राप्त होते हैं । वे न होंगे । ए ओ ये दोनों प्रक्षिष्टावर्ण हैं । इन में अकार का प्रविभाग नहीं हो सकता इस लिये अकार की ह्रस्वप्राप्ति की तो संभावना नहीं । किन्तु ऐ औ ये दोनों प्रक्षिष्टावर्ण हैं । इनमें एक मात्रा अवर्ण की है । एक इवर्ण उवर्ण की । दोनों का प्रविभाग सम्भव है । दोनों में इवर्ण उवर्ण के साथ अवर्ण की भी मात्रा होने से कभी अवर्ण ह्रस्व न होवे अपितु इवर्ण उवर्ण ही होंगे इस लिये यह सूत्र बनाया है ।

सूत्र का यह प्रयोजन तो है किन्तु एओं के दीर्घ होने से उनके स्थान में होने वाले इक् भी अन्तरतम परिभाषा से दीर्घ ही प्राप्त होते हैं ।

सूत्र में ह्रस्वादेश कहने का प्रयोजन तो ह्रस्वस्थित में एओं को इक् करना है । एओं को ह्रस्व करते समय इक् भी ह्रस्व ही होंगे यह कैसे मानें ?

एओं के स्थान में इक् ह्रस्व ही होंगे, दीर्घ नहीं । क्योंकि इस सूत्र को इकों का निर्गन्क ( निष्पादक ) न मान कर अनिर्गन्क का निर्गन्क ( हटाने वाला ) मानेंगे । ह्रस्व करने वाले सूत्र के साथ इस की एकवाक्यता हो जायगी तो एओं को जो भी ह्रस्व होंगे वे इक् ही होंगे । इस प्रकार एओं में इक्-भिन्न ह्रस्वों को हटाना इस सूत्र का काम होगा । यह एओं को ह्रस्व इक् का विधान न कर के

तत्रानेनातिको निवर्त्यन्ते ।

सवर्णनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः ।

सिद्धमेकः सस्थानत्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । एङः सस्थानत्वात् इकारोकारौ भविष्यतः ।  
अर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वा न भविष्यति ।

ननु च एङः सस्थानतरावर्धेकारार्धोकारौ ।

न तौ स्तः । यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत् ।

ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्निराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं  
वाधीयते । सुजाते ए अश्वसूते । अध्यर्थो ओ अद्रिभिः सुतम् । शुक्रं ते  
ए अन्यत् । यजतं ते ए अन्यदिति ।

पार्षदकृतिरेषा तत्र भवताम् । नैव लोके नान्यस्मिन् वेदे अर्ध  
एकारः, अर्ध ओकारो वास्ति ।

इक् भिन्न ह्रस्वो को हटायेगा । एचों को इक् और अनिक् दोनों प्रकार के ह्रस्व  
प्राप्त हैं ।

एङ् में ए ओ के सवर्णी आधा ए और आधा ओ ह्रस्व न हो जायें इसके  
लिये तो एच इग्रस्वादिसे इस सूत्र के बनाने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि  
ए ओ के सस्थान अर्थात् तुल्यस्थान वाले इकार उकार हैं वे ही ह्रस्व होंगे ।

ए ओ समानस्थान वाले आधा ए और आधा ओ जब विद्यमान हैं तो  
वे ह्रस्व क्यों न हों ?

आधा ए और आधा ओ तो कही हैं ही नहीं । यदि होते तो आचार्य  
मात्रिक होने से उन्हीं का अक्षरसमाम्नाय में उपदेश करते । द्विमात्रिक ए  
ओ का नहीं ।

छन्दोग शास्त्राध्यायिओ सात्यमुग्निराणायन के शिष्य सुजाते ए अश्वसूते  
अध्यर्थो ओ अद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते ए अन्यन्, यजतं ते ए अन्यन्, यद्वा आधा  
ए और आधा ओ पड़ते हैं । ( ये ए ओ कहाँ से आये ? )

वह उनकी पार्षदकृति है । अपने प्रातिशारय का नियम है । वे अपने  
यद्वा जैसा उच्चारण करना चाहें करें । किन्तु लोक या अन्य किसी वेद में  
आधा ए और आधा ओ नहीं है ।



अकारनिवृत्त्यर्थेनापि नाथः ।

ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् ।

ऐचोश्चोत्तर भूयस्त्वाद्वर्णो न मविष्यति । भूयसी मात्रेवर्णोवर्णयो-  
ग्यस्यभ्यवर्णस्य । भूयस् एव ग्रहणानि मविष्यन्ति । तद्यथा ब्राह्मण-  
ग्राम आनीयतामिन्युच्यते । तत्र चावरतः पञ्चकारकी भवति ।

षष्ठी स्थानेयोगा ॥१॥१४९॥

किमिदं स्थानेयोगेति ?

स्थाने योगोऽस्याः सा स्थानेयोगा । सप्तम्यलोपो निपातनात् ।

ऐ औ में अवर्ण इस्व न हो जावे इस के लिये भी इस सूत्र की आवश्यकता नहीं । क्योंकि ऐऔ में उत्तरभूयस्त्व अर्थात् पिछले इवर्ण उवर्ण की अधिकता होने से वही इस्व होगा, अवर्ण नहीं । ऐ औ ये दोनों सिद्धिदावर्ण हैं इनमें अवर्ण की मात्रा थोड़ी और इवर्ण उवर्ण की अधिक सुवर्ण में जाती है । इस लिये अधिक मात्रा वाले इवर्ण उवर्ण का ही ग्रहण होगा । जैसे ब्राह्मणग्राम आनीयनाम् इस वाक्य द्वारा ब्राह्मणों का गांव बुलाओ ऐसा कहा जाता है । उसमें त्रिम गांव में अधिकता से ब्राह्मण हैं वही बुलाया जाता है । यद्यपि वहाँ कम से कम पञ्चकारकी अर्थात् थोड़ी, जुलाहा, बटई, भाई और कुम्हार ये ५ गिल्दी अवश्य ही होते हैं । पञ्चाना काठकाग ममाहारः = पञ्चकारकी ।<sup>१</sup>

यह स्थानेयोगा क्या है ? ( यदि यह समस्त यह है तो मुष् का लुक् हो कर स्थानयोगा होना चाहिये । अममस्त अवस्था में स्त्रीलिङ्ग वही शब्द का विशेषण स्थाने युक्ति, ऐसा होना चाहिये) ।

स्थाने योगोऽस्याः सा स्थानेयोगा । यह बहुव्रीहि सामान्य है । इसमें निपातन से सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं हुआ । अथवा स्थानेन योगोऽस्याः सा स्थानेयोगा । इस प्रकार तृतीयात्वंद वाक्य बहुव्रीहि सामान्य है । तृतीया का लुक् हो कर निपातन से एकार हो गया है । या निपातन से तृतीया विभक्ति से के स्थान में एकार हो कर उसका अलुक् है । त्रिम का स्थान में या स्थान के कारण योग है सम्बन्ध है वह वृत्ती स्थानेयोगा कहाती है । जैसे—देवदत्तस्य घरदत्तः । यही वृत्ती में देवदत्त के साथ घरदत्त का पुत्रयादिशब्द सम्बन्ध

१. इस प्रकार भाष्य चार्णिकचर्यो ने इस सूत्र का खंडन कर दिया है ।

तृतीयाया वा एत्वम् । स्थानेन योगोऽस्याः सा स्थानेयोगेति ।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

पष्ठी स्थानेयोगवचन नियमार्थम् । नियमार्थोऽयमारम्भः । एकशतं पष्ठ्यर्था यावन्तो वा सन्ति ते सर्वे पष्ठ्यामुच्चारिताया प्राप्नुवन्ति । इष्यते च व्याकरणे या पष्ठी सा स्थानेयोगेव स्यादिति तत्त्वान्तरेण यत्न न सिध्यतीति पष्ठ्याः स्थानेयोगवचन नियमार्थम् । एयमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं सहीति ।

अनयवपठ्यादिष्वतिप्रसङ्गं शासे गाह इति

अनयवपठ्यादयस्तु न सिध्यन्ति । तत्र को दोषः । शास इदं हलोरिति शासेश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च । 'ऊदुपधाया गोह' इति गोहश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च ।

समझा जाता है उसी प्रकार अस्तर्भू इत्यादि पठिषों में इस परिभारा द्वारा स्थाननिमित्तक सम्बन्ध समझा जायगा । स्थान शब्द प्रसङ्गाधी या अधराधी दोनों प्रकार का माना गया है ता अस्तर्भू का अर्थ होगा—अस के स्थान में प्रसङ्ग में उसका प्रयोग की प्राप्ति में भू का प्रयोग होता है । या अस् क अर्थ में भू का प्रयोग होता है ।

यह सूत्र क्यों बनाया है ?

यह सूत्र नियम के लिये बनाया है । एक सौ या उससे अधिक और नितने भी पष्ठी के अर्थ हैं वे सब पष्ठी का उच्चारण करने पर प्राप्त होते हैं । हम चाहते हैं कि व्याकरण में जो पष्ठी है उसका स्थान के साथ ही सम्बन्ध हो । यह बात बिना यत्न किये सिद्ध नहीं होती इस लिये पष्ठी स्थानेयोगा यह नियमसूत्र बनाया है ।

सूत्र का यह प्रयोजन तो है किन्तु शास गाह इन अवयव पठिषों में भी स्थान का सम्बन्ध प्राप्त होता है । किसी का अङ्ग बनी हुई पष्ठी को अवयव पष्ठी कहते हैं । वैय शास इदं हलौ यहा उपधाया इस पष्ठी का अङ्ग बनी हुई शास यह पष्ठी अवयवपष्ठी है । उस में भी स्थान का योग होगा तो शास के स्थान में और किसी भी उपधा के स्थान में इकार प्राप्त होगा है । ऊदुपधाया गाह यहा भी गोह के स्थान में और

अवयवपष्ठ्यादीनां चाप्राप्तिर्योगस्यासदिग्धत्वात् ।

अवयवपष्ठ्यादीनां च नियमस्याप्राप्तिः । किं कारणम् । योगस्यासं-  
दिग्धत्वात् । सन्देहे नियमः । न चावयवपष्ठ्यादिषु सन्देहः ।

किं वक्तव्यमेतत् ।

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

लौकिकोऽयं दृष्टान्तः । तद्यथा लोके कश्चित् कंचित् पृच्छति  
ग्रामान्तरं गमिष्यामि पन्थानं मे भवानुपदिशत्विति । स तस्माद्याचष्टे  
अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो' ग्रहीतव्यः । अमुष्मिन्नवकाशे हस्तयाम इति ।

किसी भी उपधा के स्थान में ऊकार प्राप्त होता है ।

शासः गोहः आदि अवयवपष्ठियों के योग में सन्देह न होने से  
स्थान योग का नियम न होगा । जहाँ योग में सन्देह होता है वही  
पृष्टी स्थानयोगा यह नियम लगता है । शासः गोहः में शास और गोह की  
अवयव जो उपधा इस प्रकार पृष्टी का अवयव रूप अर्थ सन्देह रहित है  
इस लिये वहाँ इस सूत्र की उपस्थिति न होगी ।

क्या यह बात कहनी होगी कि सन्देह में ही यह स्थानयोग का  
नियम लगता है ?

नहीं । कहने की कोई आवश्यकता नहीं ।

चिर विना कहे कैसे समझी जायगी ?

लोक व्यवहार से यह बात समझ ही जायगी । सन्देह में ही नियम  
हुमा करता है । जैसे लोक में कोई किसी से पूछता है कि मैं दूसरे  
गाँव जाऊँगा, आप मुझे रास्ता बता दें तो वह उसे बताता है कि ऐसे  
स्थान में दापे दाप हों जाना और ऐसे स्थान में बापे दाप । जो वहाँ  
तिर्यङ् पथ अपनाई गन्तव्य दिशा से भिन्न दिशा का मार्ग होता है उस में  
जाना न होने से सन्देह नहीं तो उसे नहीं बताया जाता । इसी प्रकार

१. हस्तो दक्षिणो यस्य स पन्था हस्तदक्षिणः । बहुव्रीहिः । भाष्यशास्त्रपत्र  
से यहाँ सर्वनाम का परनिर्वाह माया है ।

यस्तत्र तिर्यक्पथो' भवति न तस्मिन् सन्देह इति कृत्वा नासात्रुपदिश्यते ।  
एवमिहापि सन्देहे नियमः । न चात्रयवपष्ठ्यादिषु सन्देहः ।

अथवा स्थाने अयोगा स्थानेयोगा । किमिदमयोगेति । अन्यक्तयोगा  
अयोगा ।

अथवा योगवती योगा । का पुनर्योगवती । यस्या वहवो योगाः ।  
कुत एतत् । भूमि हि मनुष्य भवति ।

विशिष्टा वा पष्ठी स्थानेयोगा ।

अथवा किंचिल्लिङ्गमासज्य वक्ष्यामि इत्यंलिङ्गा पष्ठी स्थानेयोगा  
भवतीति । न च तल्लिङ्गमवयवपष्ठ्यादिषु करिष्यते ।

यद्येव 'शास इदहलो' शा हौ । शासिग्रहण कर्तव्य स्थाने-

यहां भी सन्देह में स्थानेयोग का नियम है । शास गोह आदि अवयवपष्ठियों  
में सन्देह न होने से इस नियम की उपस्थिति न होगी ।

अथवा स्थानेयोगा में स्थाने अयोगा इस प्रकार अयोगा का प्रक्षेप  
समझेंगे । यह अयोगा क्या है । अन्यक्तयोगा अयोगा । जो अस्पष्ट  
(अनिर्धारित) योग (सम्बन्ध) वाली है । जहां योग का साफ पता नहीं लगता  
ऐसी पष्ठी का स्थान के साथ योग होता है यह सूत्र का अर्थ होगा ।

अथवा योगवती योगा इस प्रकार योगा शब्द में बहुतों अर्थ में  
मत्पर्याय अच् प्रत्यय मान कर जहां बहुत से योग सम्भव हैं उस पष्ठी का स्थान  
अर्थ के साथ योग माना जायगा ।

अथवा किसी विशेष सकृत् वाली पष्ठी को ही स्थानयोगा मानेंगे । कोई  
विशेष चिह्न लगा कर कहेंगे कि इस चिह्न वाली पष्ठी स्थानेयोगा होती है ।  
वह चिह्न अवयवपष्ठियों में नहीं लगायेंगे । उस से उनका सम्बन्ध स्थानयोग  
से नहीं होगा ।

तब तो शास इदहलो में शास के स्थान पष्ठी न होने से शा हौ इस  
उत्तर सूत्र में भी अनुवृत्त शास यह स्थान पष्ठी न होगी तो वहां स्थान

१ टेडा मार्ग । पूर्व अथवा पश्चिम दिशा में जाते हुए के लिये दक्षिण व उत्तर  
को जाने वाला मार्ग ।

योगार्थं लिङ्गमासङ्ख्यामीति ।

न कर्तव्यम् । यदेवाद्: पुरस्तादवयवपष्ठव्यं प्रकृतम्, एतदुत्तरमा-  
नुवृत्तं सत् स्थानेयोगार्थं भविष्यति । कथम् । अधिकारो नाम त्रिप्रकारः ।  
कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति । यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः  
सर्वं घेदमाभिज्वलयति । अपरोऽधिकारो यथा रज्ज्वा अयसा वा घटं  
काष्ठमनुवृष्यते तद्वदनुवृष्यते चक्रारेण । अपरोऽधिकारः प्रतियोगं  
तस्यानिर्देशार्थं इति योगे योगे उपतिष्ठते । तद् यदप्येकः अधिकारः  
प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थं इति, तदा हि यदेवाद्: पुरस्तादवयवपष्ठव्यार्थम्  
एतदुत्तरमानुवृत्तं सत् स्थानेयोगार्थं भविष्यति ।

सम्प्रत्ययमात्रमेतद् भवति । न ह्यनुच्चार्य शब्दं लिङ्गं शक्य-  
मासङ्ख्यन्तुम् ।

पन्दी बनाने के लिये अलग शास्त्र ग्रहण करना पड़ेगा । अन्यथा शास्त्र के  
स्थान में शा आदेश न हो सकेगा ।

हा ही में स्थान पन्दी के लिये अलग शास्त्र ग्रहण करने की आवश्यक-  
कता नहीं । शास्त्र इदम् एतम् से ही शास्त्रों की अनुवृत्ति कर देंगे । ऊपर शास्त्रः  
यह अवयववा होता हुआ भी शा ही में अनुवृत्त होकर स्थान पन्दी बन  
जायगा । कैसे ? अधिकार तीन प्रकार का होता है । एक परिभाषा रूप  
जो एक स्थान पर रहता हुआ ही सारे शास्त्र में व्यापृत होता है ।  
सम्पूर्ण शास्त्र को प्रकाशित करता है । जैसे सम्यक् प्रदीप्त दीपक एक कोने  
में रखा हुआ ही सारे घर को प्रकाशित करता है । दूसरा अधिकार अनुवृत्ति रूप  
है जा च शब्द लगा कर ऊपर से खींचा जाता है जैसे रस्सी या लोहे  
से बंधी लकड़ी खींची जाती है । तीसरा अधिकार स्वरित चिह्न से समझा  
गता है जब कि अधिवृत्त हर जगह निर्दिष्ट (उपधारित) न किया जाकर भी  
स्वरितचिह्न द्वारा जगह तक अवगत होता है यहाँ तक प्रत्येक सूत्र में उपस्थित  
होता है । इन तीनों में जब तीसरे प्रकार का अधिकार मानेंगे तो शास्त्र इदम्-  
एतम् में अवयव पन्दी बना हुआ 'शास्त्रः' यह शब्द स्वरितचिह्न द्वारा अनुवृत्ति  
से शा ही में स्थान पन्दी बन जायगा । अर्थात् यहाँ शाब्दाधिकार का आधायन  
किया जायगा ।

स्वरितचिह्न में अनुवृत्ति करके स्थान पन्दी का अनुमान तो हो जायगा  
पर बिना शास्त्रः पढ़े उस में स्थान पन्दी का लिङ्ग (चिह्न) नहीं लगाया  
जा सकता ।

एवं तद्वादिशे तल्लिङ्गं करिष्यते । तत् प्रकृतिमास्कन्त्यति ।

यदि नियमः करिष्यते । यत्रेका पष्ठी अनेकं च विशेष्यं तत्र न सिध्यति । अङ्गस्य हलः अणः सम्प्रसारणस्येति । हलपि विशेष्योऽपि विशेष्यः । सम्प्रसारणमपि विशेष्यम् । असति पुनानियमे कामचारः । एकया पष्ठ्या अनेकं विशेषयितुम् । तद्यथा देवदत्तस्य पुत्रः पाणिः कम्बल इति । तस्मान्नार्थो नियमेन ।

ननु चोक्तम् एकशतं पष्ठ्यथाः यावन्तो धा सन्ति ते सर्वे पष्ठ्या-  
मुच्चारितायां प्राप्नुवन्तीति ।

नैप दोषः । यद्यपि लोके बहवोऽभिसम्यन्धा आर्था यौना मौखाः  
सौवादेवेति । शब्दस्य तु शब्देन कोऽभ्योभिसम्यन्धो भवितुमर्हति

तो शा आदेश मे वह लिङ्ग लगा दूँगे । आदेश किसी के स्थान में  
ही होता है इस लिये वह अपनी प्रकृति (स्थानी) शास्त्र को पकड़ लेगा ।<sup>१</sup>

यदि यह नियम सूत्र बनाते हैं तो जहाँ एक पष्ठी (स्थान में ही हुई) का  
अनेक विशेष्यो ॥ साथ सम्बन्ध अभीष्ट है वहाँ काम नहीं चलता । जैसे—अहस्प,  
हल, अणः, मन्प्रसारणस्य । यहाँ स्थानपष्ठी से अङ्ग भी विशेष्य है । हल् भी  
विशेष्य है, अण् भी विशेष्य है । सम्प्रसारण भी विशेष्य है । सरके स्थानपष्ठी  
हो जाने से हलः सूत्र का अर्थ ठीक नहीं बनता । नियम न बनाने पर तो  
हमारी इच्छा है एक ही पष्ठी से अनेक को विशेषित करने में किसी को  
स्थानपष्ठी या भवयवपष्ठी कुछ भी बनावें । जैसे—देवदत्तस्य पुत्रः पाणि कम्बल ।  
देवदत्त का पुत्र, देवदत्त का हाथ और देवदत्त का कम्बल यहाँ देवदत्त में  
पष्ठी का पुत्रादि के साथ जन्मजनक भाव खद्ययनावयविभार, स्वस्वामिभार  
आदि भिन्न भिन्न सम्बन्ध होता है । इस लिये इस सूत्र का न बनाना ही  
ठीक है ।

यह जो कहा था कि बिना इस नियम सूत्र के सैकड़ों पष्ठी के अर्थ  
पष्ठी के उच्चारण करने पर प्राप्त होंगे उसका क्या समाधान है ?

वह कोई दोष नहीं । यद्यपि लोक में आर्थ=घन से होने वाले स्वामी  
भृत्य आदि, यौन=योनि से होने वाले पिता पुत्रादि, मौख=मुख से होने  
वाले गुरु शिष्य आदि, सौत्र=सुत्र से होने वाले यजमान पुरोहित आदि बहुत

१. आदेश में लिये हुए लिङ्ग का कार्य उसके स्थानी में फलित होगा ।

अन्यदतः स्थानात् ।

शब्दस्यापि शब्देनानन्तरादयोऽमिसम्बन्धाः । अस्तेभूभंवतीति सन्देहः स्थाने अनन्तरे समीपे इति ।

सन्देहमात्रमेतद् भवति । सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति । स्थान इति व्याख्यास्यामः ।

न तर्हीदानीमयं योगो वक्तव्यः । वक्तव्यश्च । किं प्रयोजनम् । पठ्यन्तं स्थानेन यथा युज्येत यतः पठ्युच्चारिता । किं कृतं भवति । निर्दिश्यमानरूपादेशा भवन्तीति परिभाषा न कर्तव्या भवति ।

से सम्बन्ध है किन्तु शब्द का शब्द के साथ और क्या सम्बन्ध हो सकता है सिवाय स्थान के । हम लिये सूत्र के बिना भी स्वतः स्थानरूप सम्बन्ध समझ लिया जायगा ।

शब्द के भी शब्द के साथ अनन्तर समीप आदि सम्बन्ध होते हैं । इस सूत्र के बिना अस्तेभूः में सन्देह है कि अस् के स्थान में भू हो या अम् के समीप अथवा अनन्तर भू हो ।

यह तो केवल सन्देह मात्र हुआ । और सन्देहों में सब जगह व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् यह परिभाषा उपस्थित होती है । हम परिभाषा का अर्थ है—आपार्थक्य व्याख्यान से ही विशेष बात का ज्ञान होता है । केवल सन्देहमात्र से लक्षण (शिष्यायक सूत्र) अलक्षण (अप्रमाण) नहीं हो जाता । उससे अस्तेभूः में व्याख्यान से स्थान अर्थ समझ लिया जायगा ।

तो यह सूत्र न बनावे । हम समझते हैं यह सूत्र बनाना चाहिये । जिससे पठ्यन्त का ही स्थान से सम्बन्ध हो अन्य का न हो । जिसमें पठ्ठी विभक्ति का उच्चारण किया है उसी के स्थान में कार्य हो । उसका साथ जुड़े हुए दूसरे शब्द में यह कार्य न हो । उससे क्या होगा कि निर्दिश्यमानरूपादेशा भवन्ति यह परिभाषा अलग नहीं बनानी पड़ेगी । हम परिभाषा का अर्थ इसी सूत्र में निकल जायगा । हम परिभाषा का अर्थ है—पठ्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट शब्द के स्थान में आदेश होते हैं । उसमें पाद पर से कहा हुआ पाद आदेशा बन्नाधिकार में लदन्तशिषि मान कर द्विपाद् शब्द से शिष्ट हो कर भी द्वि को छोड़ कर केवल पाद् को होगा क्योंकि पादः पर में पाद् शब्द में ही पठ्ठी का उच्चारण किया है । द्विपाद् से नहीं । इस प्रकार यह

## स्थानेन्तरतमः ॥१॥१५०॥

किमुदाहरणम् ?

‘इको यणचि’ । दध्यत्र । मध्वत्र । तालुस्थानस्य तालुस्थानः । ओष्ठस्थानस्य ओष्ठस्थानो यथा स्यादिति ।

नैतदस्ति । सत्यातानुदेशेनाप्येतत् सिद्धम् ।

इदं तर्हि तस्यस्थमिपां तान्तन्ताम् । इति । एकार्यस्यैकार्यः । द्वयर्थस्य द्वयर्थः । यद्वर्थस्य यद्वर्थो यथा स्यादिति ।

सूत्र निर्दिष्टमानस्यादेशा भवन्ति इम परिभाषा में तत्पर्यभाषक हो कर भरितायं हो जाता है ।

इस सूत्र का क्या उदाहरण है ?

इको यणचि । दध्यत्र । मध्वत्र । ये इस सूत्र के उदाहरण हैं । दधि+अत्र = दध्यत्र । मधु+अत्र = मध्वत्र । यहा इको यणचि से विहित यगदेश इस अन्तरतम परिभाषा के नियम से तालुस्थान वाले इकार के स्थान में तालुस्थान वाला षकार और ओष्ठ स्थान वाले ठकार के स्थान में ओष्ठस्थान वाला दकार हाता है ।

यह कोई उदाहरण नहीं । इको यणचि में इक् और यण् समान सत्या वाले हैं । इस लिये यथासत्यमनुशे समानाम् इस नियम से इक् के स्थान में ञम् से यण् हो जायेंगे ।

तो फिर तस्यस्थमिपा तान्तन्ताम् यह उदाहरण लीजिये । यहा एकत्व अर्थ वाले मिप के स्थान में एकत्व अर्थ वाला अम्, द्वित्व अर्थ वाले तस् धस् के स्थान में त्रित्व अर्थ वाला ताम् तम् और बहुत्व अर्थ वाले थ के स्थान में बहुत्व अर्थ वाला त आदेश होता है ।

१ यद्यपि अर्थत साम्य मानने पर इक अपने इम्ब दार्घादि सवर्णियों के भेद से ६६ होते हैं और यण् केवल ७ । इस लिय वैषम्य होने से सत्यातानुदेश नहीं प्राप्त होता तो भा यथासकमनु० इस सूत्र में शब्दत साम्य मान कर कम से इक् के स्थान में यण् हो जायेंगे । घस्लु+आदेश=घस्लुदेश यहा लृकार के स्थान में लृकार आदेश मा दीखता है इस लिये इ उ ऋ के समान लृ के भी स्थानी मिलने से इक् और यण् का सत्यासाम्य हो जायगा ।



ननु च एतदपि संख्यातानुदेशेनेव सिद्धम् ।

इदं तर्ह्यङ्कः सवर्णे दीर्घ इति । दण्डाग्रम् । क्षुपाग्रम् । दर्धीन्द्रः । मधून्द्रः । कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थानः । तालुस्थानयोस्तालुस्थानः । ओष्ठस्थानयोरोष्ठस्थानो यथा स्यात् ।

अथ स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं किमर्थम् ।

यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं यलीयो यथा स्यात् । किं पुनस्तत् । चेता स्तोता । प्रमाणतोऽकारो गुणः प्राप्नोति । स्थानत एकारोऽकारः । पुनः स्थानग्रहणादेऽकारोऽकारौ भवतः ।

अथ तमग्रहणं किमर्थम् ।

‘क्षयो होन्यतरस्यामित्यत्र सौष्माणः सौष्माण इति द्वितीया-

यहाँ भी यथामूल्यमनुदेश • के नियम से तस् आदि के स्थान में क्रम से ताम् आदि हो जायेंगे ।

अच्छा तो अब सवर्णे दीर्घ यह उदाहरण हीजिये । दण्डाग्रम् क्षुपाग्रम् यहाँ दण्ड=नग्रम्, क्षुप+नग्रम् इस अवस्था में कण्ठस्थान वाले अकार के स्थान में कण्ठस्थान वाला आकार दीर्घ होता है । दर्धीन्द्रः यहाँ दधि+इन्द्रः इस अवस्था में तालुस्थान वाले इकार के स्थान में तालुस्थान वाला ईकार दीर्घ होता है । मधून्द्रः यहाँ मधु+उन्द्र इस अवस्था में ओष्ठस्थान वाले उकार के स्थान में ओष्ठस्थान वाला उकार दीर्घ होता है ।

एन्ही स्थानेयोगा से स्थान की आकृति आने पर फिर यहाँ स्थान ग्रहण क्यों किया है ?

जहाँ स्थान अर्थ गुण प्रमाण आदि अनेक प्रकार का भान्तर्य (सादृश्य) सम्भव हो यहाँ स्थान का भान्तर्य ही बलवान् माना जाये इस लिये यहाँ पुनः स्थान ग्रहण किया है । चेता स्तोता ( चि स्तु-तृच् ) यहाँ चि स्तु में इकार उकार के एकमात्रिक होने से उनके स्थान में प्रमाणहृत (मात्राहृत) भान्तर्य को ले कर एकमात्रिक अकार गुण प्राप्त होता है । और स्थानहृत भान्तर्य को ले कर एकार ओकार गुण प्राप्त होते हैं । स्थान का भान्तर्य बलवान् मान कर एकार ओकार गुण होते हैं । अकार नहीं ।

अन्तरतमः यहाँ तम ग्रहण क्यों किया है ?

यान्+इसति=याग्यसति । त्रिष्टुप्+इसति=त्रिष्टुप्सति । यहाँ क्षयो होन्य-

सा किं प्रकृतितो भवति स्थानिन्यन्तरतमे पठ्यति । आहोस्विदादेशतः स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति ।

कुतः पुनरियं विचारणा ।

उभयथा हि तुल्या संहिता । स्थानेन्तरतम उरण् रपर इति ।

किं चातः । यदि प्रकृतितः । इको यणचिती यणां ये, अन्तरतमा इक्-स्तत्र पठ्यी । यत्र पठ्यी तत्रादेशा भवन्तीति इहैव स्यात् दध्यत्र मध्वत्र । कुमार्यर्थम् ब्रह्मबन्ध्वर्थम् इत्यत्र न स्यात् । आदेशत पुनरन्तरतमनिवृत्तौ सत्यां सर्वत्र पठ्यी । यत्र पठ्यी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवति । तथा इको गुणवृद्धी इति गुणवृद्धयोरे अन्तरतमा इक्स्तत्र पठ्यी । यत्र

प्रकृति (स्थानी) से माना जाता है या आदेश से ? स्थानेन्तरतम उरण् रपरः इस संहितापाठ से यदि अन्तरतम शब्द को सप्तम्यन्त समझ कर स्थानेन्तरतमे ऐसा सूत्र मानें तो अन्तरतम स्थानी में स्थानयोगा पठ्यी हो कर अन्तरतम स्थान में आदेश होगा अर्थात् आदेश को अपना अन्तरतम स्थानी देखना होगा । उस पक्ष में स्थानी अन्तरतम हो जायगा । और यदि अन्तरतम शब्द को प्रथमान्त समझ कर स्थानेन्तरतम, ऐसा सूत्र मानें तो स्थान में प्राप्त होने वाले आदेशों में जा अन्तरतम आदेश है वह होगा । उस पक्ष में आदेश अन्तरतम हो जायगा ।

यह विचार किस लिये किया जा रहा है ।

दोनों पक्षों में एक सी सन्धि होने से यह विचार किया जा रहा है ।

इस में क्या है यदि स्थानेन्तरतमे इस प्रकार सप्तम्यन्त पाठ मानते हैं तो अन्तरतम (अर्थात् आदेश के) स्थानी में ही स्थान पठ्यी होगी । जहाँ पठ्यी होगी वहाँ आदेश होंगे तो इको यणाच् से दधि+अत्र=दध्यत्र । मधु+अत्र=मध्वत्र । यद्वा इस्व इक् में ही यण् हो सकेगा । कुमारी+अर्थम्=कुमार्यर्थम् । ब्रह्मबन्धु+अर्थम्=ब्रह्मबन्ध्वर्थम् यद्वा दीर्घ इक् में न हो सकेगा । क्योंकि यण् अर्धमात्रिक हैं । उन का अन्तरतम स्थानी 'स्वल्पान्तर न दोषाय' के न्याय से एकमात्रिक इक् ही समीप पडता है द्विमात्रिक नहीं । स्थानेन्तरतम इस प्रथमान्त पाठ में तो प्राप्त प्रसङ्ग आदेशों में से अन्तरतम आदेश होगा उस से स्थानी के अन्तरतम न होने पर भी सर्वत्र इक् के स्थान में अन्तरतम यणादेश हो जायगा ।

सप्तम्यन्तपाठ में यह भी दोष है कि इको गुणवृद्धी से इक् के स्थान

पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति इहेव स्यात् नेता लबिता नायको लावकः । चेता स्तोता चायक स्तावक इत्यत्र न स्यात् । आदेशतः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवति ।

तथा ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे गुणवृद्धयोर्धन्तरतममृवर्णं तत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति इहेव स्यात् । कर्ता हर्ता आस्तारको निपारकः । आस्तरिता निपरिता कारको हारक इत्यत्र न स्यात् । आदेशतः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवतीति ।

आदेशतोऽन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यामय दोषः । 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यत्र स्थानिनिर्देशः कर्तव्य । ओकारौकारयोरिति वक्तव्यम् । एकारे-कारयोर्मा भूदिति । प्रकृतितः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां वान्तादेशस्य

में होने वाले गुण वृद्धि नेता लावता ( नी लृ-तृच् ) । नायक लावकः ( नी लृ-ण्वुल् ) यहाँ दीर्घ इक् में ही हो सकेगा । चेता स्तोता ( चि स्तु-तृच् ) । चायक स्तावकः ( चि स्तु-ण्वुल् ) यहाँ इस्व इक् में न हो सकेगा । क्योंकि ए ओ ऐ औ के दीर्घ होने से उन का अन्तरतम स्थानी दीर्घ इक् ही होगा, इस्व नहीं । प्रथमान्तपाठ में तो आदेश अन्तरतम होगा उससे सर्वत्र इक् के स्थान में अन्तरतम गुण वृद्धि हो जायेंगे ।

सप्तम्यन्त पाठ में यह एक और दोष है कि ऋवर्ण के स्थान में होने वाला गुण कर्ता हर्ता ( कृ, हृ, तृच् ) यहाँ इस्व ऋकार में ही होगा । निपरिता आस्तरिता ( आस्तृ निपृ-तृच् ) यहाँ दीर्घ ऋकार में न होगा । और वृद्धि आस्तारकः निपारकः ( आ स्तृ नि पृ-ण्वुल् ) यहाँ दीर्घ ऋकार में ही होगी । कारक हारकः ( कृ हृ-ण्वुल् ) यहाँ इस्व ऋकार में न होगी । क्योंकि गुणसंज्ञक अकार के इस्व होने से उसका अन्तरतम स्थानी इस्व ऋकार ही होगा, दीर्घ नहीं । और वृद्धिसंज्ञक आकार के दीर्घ होने से उसका अन्तरतम स्थानी दीर्घ ऋकार ही होगा, इस्व नहीं । प्रथमान्तपाठ में तो आदेश अन्तरतम होगा उससे सर्वत्र ऋवर्ण के स्थान में अन्तरतम अकार और आकार गुणवृद्धि हो जायेंगे ।

प्रथमान्त पाठ में यह दोष है कि वान्तो यि प्रत्यये में वकारान्त भव् आव् आदेश के लिये उसके स्थानी ओ औ का ग्रहण करना होगा । ओदौतोरिति वक्तव्यम् ऐसा वचन कहना होगा । जिससे ओ औ के स्थान में ही क्रम से भव् आव् हो, ए ऐ के स्थान में न हो । सप्तम्यन्त पाठ में तो अन्तरतम स्थान

एक्षु या अन्तरतमा प्रकृतिस्तत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेण स्थानिनिर्दिशं सिद्धं भवति ।

आदेशतोऽप्यन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां न दोषः । कथम् । वान्तग्रहणं न करिष्यते । यि प्रत्यये एचोऽयादयो भवन्तीत्येव ।

यदि न क्रियते चेय जेयमित्यत्रापि प्राप्नोति ।

‘क्षय्यज्यौ शस्यार्थे’ इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति । क्षिज्योरेवैच इति ।

तयोस्तर्हि शक्यार्थादन्यत्रापि प्राप्नोति । क्षेयं पापं, जेयो वृषलः ।

उभयतो नियमो विज्ञास्यते क्षिज्योरेवैचस्तयोश्च शक्यार्थ एवेति ।

में आदेश होगा उससे अच् आच् के अन्तरतम स्थानी ओ औ ही मिलेंगे । ए ऐ नहीं तो वहाँ अच् आच् नहीं होंगे । उस पक्ष में ओदौतोरिति वक्तव्यम् यह वचन कहने की आवश्यकता नहीं ।

यह कोई दोष नहीं । वान्तो यि प्रत्यये में वान्त ग्रहण ही हटा देंगे । यि प्रत्यय इतना सूत्र रखेंगे । यकारादि प्रत्यय पर होने पर एचो को अयादि आदेश होते हैं ऐसा कहेंगे ।

यदि वान्तो यि प्रत्यये में वान्त ग्रहण नहीं करेंगे तो चेयम् जेयम् (चि जि-यत्) यहाँ यकारादि यत् प्रत्यय पर होने पर चि जि के एकार को भी अयादेश प्राप्त होता है ।

क्षय्यज्यौ शक्यार्थे इस सूत्र के नियमार्थ होने से चेयम् जेयम् में एकार को अयादेश नहीं होगा । अन्यथा यि प्रत्यये इतने सूत्र से ही क्षि जि के एकार को अयादेश सिद्ध होने पर क्षय्यज्यौ० सूत्र व्यर्थ है । वह व्यर्थ हो कर नियमार्थ होगा कि क्षि, जि के एच् को अयादेश होता है अन्य के नहीं ।

तब तो क्षेय पापम्, जेयो वृषलः यहाँ शक्य अर्थ से अन्यत्र भी क्षय्यज्यौ से क्षि जि के एच् को अयादेश प्राप्त होता है ।

दोनों तरफ नियम समझा जायगा । यादि प्रत्यय पर होने पर यदि एच् को अयादि आदेश हो तो क्षि जि के ही एच् को हो और उनको भी शक्य अर्थ में ही हो इस प्रकार दोनों ओर से नियम होने पर क्षेयं पापम्, जेयो वृषलः यहाँ अयादेश न होगा । यहाँ शक्य अर्थ न हो कर अई अर्थ है । क्षेतुमई पापं क्षेयम् । जेतुमहौ वृषलो जेयः ।

इहापि तर्हि नियमान्न प्राप्नोति । लव्यम् । पव्यम् । अवश्यलाव्यम् ।  
अवश्यपान्यमिति ।

तुल्यजातीयस्य नियमः ।

कश्च तुल्यजातीयः ।

यथाजातीयक क्षिज्योरेच् ।

कथजातीयकः क्षिज्योरेच् ।

एकार ।

एवमपि रायमिच्छति रेयतीत्यत्रापि प्राप्नोति ।

रा यिच्छन्द्सः<sup>१</sup> । दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ।

क्षय्य पव्य • क नियम से चैयम् चैयम् की तरह लव्यम् पव्यम् (छू पू पयत्) अवश्यगव्यम् अवश्यपव्यम् (अवश्य छू पू पयत्) यहा भी आ औ को अव् आव् आदेश नहीं प्राप्त होते ।

क्षय्य जय्यी • सूत्र अपने तुल्यजातीय का ही नियम करेगा ।

उसका तुल्यजातीय कौन है ?

निस प्रकार का क्षि नि का एच् है ।

किस प्रकार का क्षि नि का एच् है ?

एकार है । इस लिय चैयम् जैयम् यहा एकारान्त का ही नियम होगा । लव्यम् पव्यम् अवश्यगव्यम् अवश्यपव्यम् मे एकार न होने ॥ उसका नियम न होगा तो बहा ओ औ को अव् आव् हा आयेंगे ।

फिर भी रायमिच्छति रयात यहा क्यश् प्रत्ययान्त रै इस नामधातु क एकार को आप आदेश प्राप्त होता है क्योंकि क्षि नि के एच् स एकार की ही नियम मे श्वावृत्ति होगी ऐकार की नहीं ।

यकारादि प्रत्यय पर होने पर रै शब्द का प्रयोग छान्दस है । अर्थात् वैदिक है । इस लिय रैयति में आयादेश न हगा । क्योंकि छन्द म दृष्टानुविधि होती है । वहा दृष्ट का अनुविधान होता है । जैसा देखते हैं वैसा कर लेते हैं । रैयति को छान्दस मान कर आयादेश का अभाव समझेंगे ।

१ रा यि च्छान्दस यहा माध्य का पाठ है । कुछ लोग रायिश्छान्दस ऐसा

‘ऊदुपधाया गोह’ । आदशतोऽन्तरतमनिवृत्तौ सत्यामुपधाग्रहण क्तव्यम् । प्रकृतित पुनरन्तरतमनिवृत्तौ सत्यामूकारस्य गो हो यान्तरतमा प्रकृतिस्तत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेणोपधाग्रहण सिद्ध भवति ।

आदशतोऽप्यन्तरतमनिवृत्तौ सत्या न दोष । क्रियत एतन् न्यास एव ।

‘रदाभ्या निष्ठातो न पूर्वस्य च द’ । आदेशतोऽन्तरतमनिवृत्तौ सत्या तकारग्रहण क्तव्यम् । प्रकृतित पुनरन्तरतमनिवृत्तौ सत्या नकारस्य निष्ठाया याऽन्तरतमा प्रकृतिस्तत्र पष्ठी । यत्र पष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरणापि तकारग्रहण सिद्ध भवति ।

प्रथमान्त पाठ म यह भी दाष है कि ऊदुपधाया गोह में उपधा ग्रहण करना होगा । जिसस गोह क उपधा ओकार क स्थान में उकार हो । अन्य अल हकार क स्थान में न हो । सप्तम्यन्तपाठ में तो अन्तरतम स्थान में आदश होगा । उसस उकार आदश अपन अन्तरतम स्थानी ओकार को ही दखगा तो वना उपधा ग्रहण किय काम चल जाता है ।

यह क ई दाष नहीं । ऊदुपधाया गोह में उपधा ग्रहण किया हुआ ही है । अन्यथा गोह क अन्य अल हकार क स्थान म उकार प्राप्त होता है । उपधा ग्रहण स नहीं हाता ।

प्रथमान्त पाठ में यह एक ओर दोष है कि रदाभ्या निष्ठातो न पूर्वस्य च द सूत्र में तकार ग्रहण करना होगा । जिसस निष्ठा क तकार का मत्व हो सक । सप्तम्यन्त पाठ म तो अन्तरतम स्थान में आदश हागा । उसस

पाठ मानत हैं । वह पाठ अनुपपन्न है । क्यन्त रै धातु ॥ धातुनिर्देश में इक प्रत्यय करन पर भी शयि यह रूप नहा बन सकता । रा यि च्छान्दस का अर्थ है कि यि अर्थात् यकारादि प्रत्यय परे होन पर रै शब्द छादस है । अथात् यकारादि क्यच् प्रत्यय परे रहत रै शब्द का प्रयोग केवल वद म होता है लोक में नहीं । क्यच स अन्यत्र ता रै का प्रयोग लोक म भी हो सकता ह । किन्हीं क मत में र शब्द का प्रयोग लोक म सवथा हो नहीं होता । वैसे गो समानाश्रनान्तात् इस वचन द्वारा परिगणित गो आदि सही क्यच का विधान होन स एसारान्त रै शब्द स क्यच होगा ही नहीं तो रैयति का प्रयोग भी न होगा उसमें आवाःस का प्रदन ही नहीं उठता ।

आदेशतोऽप्यन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां न दोषः । क्रियते एतन्  
न्यास एव ।

किं पुनरिदं निर्वर्तकम् । अन्तरतमा अनेन निर्वर्त्यन्ते । आहोस्वित्  
प्रतिपादकम् । अन्येन निर्वृत्तानामनेन प्रतिपत्तिः ।

कदचात्र विशेषः ।

स्थानेन्तरतमनिर्वर्तकं सर्वस्थानिनिवृत्तिः ।

स्थानेऽन्तरतमनिर्वर्तके सर्वस्थानिनां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि  
प्राप्नोति दधि मधु ।

नत्वं अपने अन्तरतम स्थाना का हूँदेगा तो बिना तकार ग्रहण किये भी काम  
चल जाता है ।

यह कोई दध नहीं । रक्षान्यां निष्ठातो न.० सूत्र में तकार ग्रहण किया  
हुआ ही है । अन्यथा भिन्नवद्भ्याम् ( भिद्व-क्त्वत्तु ) यक्षा निष्ठाप्रत्यय कत्वत्तु  
के तकार का भी नत्वं प्राप्त होता है । यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा इस वर्णो-  
च्चारण शिक्षा के वचनानुसार नकार का अन्तरतम स्थाना तकार हो जाता है  
उसको नत्वं रोकने के लिये निष्ठात इस प्रकार निष्ठा के साथ तकार ग्रहण  
करना आवश्यक है ।<sup>१</sup>

क्या यह सूत्र निर्वर्तक है । अर्थात् स्वयं ही अन्तरतम आदेश करने  
वाला है या प्रतिपादक है । अन्य से किय हुए आदेशों की अन्तरतमता का  
प्रतिपादन करने वाला है ।<sup>२</sup>

इसमें क्या विशेष है ?

यदि यह स्वतन्त्र रूप से स्वयं ही अन्तरतम आदेश करने वाला है तो  
सब स्थानियों की निवृत्ति प्राप्त होती है । दध मधु यक्षा भी कोई न कोई  
अन्तरतम आदेश हो कर दधि मधु शब्दों की निवृत्ति हो जानी चाहिये ।

१. इस प्रकार भाष्यकार ने स्थानेन्तरतम. इस प्रथमान्त पाठ का निर्दोष  
सिद्ध कर के स्वीकार कर लिया है । स्थानेन्तरतमे इस सप्तम्यन्त पाठ के दोषों का  
समाधान न होने से वह पक्ष स्वहृत नहीं हुआ ।

२. प्रश्न यह है कि क्या यह स्वतन्त्र लक्षण है अथवा अन्य से विहत आदेशों  
का नियामक है अथवा लक्षणान्तर का शेष है ।

अस्तु । न केचिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते । तत्रान्तयेतो दधिशब्दस्य दधिशब्द एव, मधुशब्दस्य मधुशब्द एवादेशो भविष्यति ।

यदि चैवं क्वचिद् वैरूप्यं तत्र दोषः स्यात् । विसं मुसलमिति । 'इण्कोरादेशप्रत्यययोरिति' पत्वं प्राप्नोति । अपि च इष्टा व्यवस्था न प्रकल्पेत । तद्यथा तप्ते आप्ते तिलाः प्रक्षिप्ता मुहूर्तमपि नावतिष्ठन्ते एवमिमे वर्णा मुहूर्तमपि नावतिष्ठेरन् ।

अस्तु तर्हि प्रतिपादकम् । अन्येन निर्वृत्तानामनेन प्रतिपत्तिः ।

निर्वृत्तप्रतिपत्तौ निर्वृत्तिः ।

निर्वृत्तप्रतिपत्तौ निर्वृत्तिर्न सिध्यति । सर्वे सर्वत्र प्राप्नुवन्ति ।

किं तद्युच्यते निर्वृत्तिर्न सिध्यतीति । न साधीयो निर्वृत्तिः

अच्छी बात है । दधि मधु में और तो कोई आदेश नज़दीक दीखता नहीं । अन्तरतम होने से दधि मधु ही आदेश हो जायेंगे ।

इस प्रकार आदेश मानने पर किन्हीं शब्दों में विरूपता आ जाने से दोष होगा । जैसे—विसं मुसलम् । यहाँ सकार को सकार आदेश मानने पर आदेश का सकार हो जायगा तो इण् कवर्ग से परे आदेशप्रत्यययोः से विधीयमान पत्व प्राप्त होगा ।

इसके अतिरिक्त बार २ आदेश होते रहने से वर्णों की इष्ट व्यवस्था भी न बनेगी । जैसे गर्म तप हुए भाङ्ग में ढाले ठिठ क्षण भर भी नहीं ढहरते वैसे ये वर्ण भी क्षण भर नहीं ढहरेंगे ।

तो फिर इस सूत्र को प्रतिपादक मान लें । और से किये हुए आदेशों में अन्तरतमों की साधुता का बोधक यह सूत्र है ऐसा समझ लें ।

अन्यों से निष्पत्तों का प्रतिपादक मानने पर (अभिमत शब्द की) निष्पत्ति नहीं सिद्ध होती । सब जगह सब आदेश प्राप्त होते हैं ।

यह क्या कहा है कि निर्याचि सिद्ध नहीं होती । क्या अन्तरतम आदेशों की

१. जब विस शब्द के स्थान में विस आदेश और मुसल के स्थान में मुसल आदेश करेंगे तब तो पत्व प्राप्ति का दोष नहीं होगा । क्योंकि उस समय सम्पूर्ण शब्द के स्थान में आदेश हुआ है केवल सकार के स्थान में नहीं इस लिये आदेश का सकार न होने से पत्व न होगा ।



सिद्धा भवति ।

न ब्रूमो निर्वृत्तिर्न सिद्धीतीति । किं तर्हि । इष्टा व्यवस्था न प्रकल्पते । न सर्वे सर्वत्रेप्यन्ते ।

इदमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

अनर्थकं च ।

अनर्थकमेतत् स्यात् । यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयात् मा भुङ्था इति किं तेन कृतं स्यात् ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् । 'सिद्धं तु पण्यधिकारे वचनादिति' । पण्यधिकारेऽयं योगः कर्तव्यः । स्थानेन्तरतमः पण्यनिर्दिष्टस्येति ।

निष्पत्ति अच्छी तरह सिद्ध नहीं हो रही । साधीयः = अच्छी तरह ।

हम यह नहीं कहते कि निष्पत्ति सिद्ध नहीं होती । आदेश की निष्पत्ति तो हो रही है परन्तु आदिश्यमान वणों की इष्ट व्यवस्था नहीं सिद्ध होती । सब जगह सब वणों के आदेश इष्ट नहीं हैं । अक् के स्थान में सब दीर्घ आदेश हो जायेंगे तो अन्तरतम दीर्घ आदेश नहीं सिद्ध होते ।

फिर स्थानेन्तरतमः यह सूत्र क्या करेगा ?

यह सूत्र एक प्रकार से व्यर्थ ही होगा । जो किसी के भोजन खा चुकने पर कहे कि तुम भोजन मत खाना तो उसके ऐसा कहने से क्या होगा । वह तो खा चुका । जब और से आदेश हो चुके तब शास्त्र प्रामाण्य से उन के साधुत्व ज्ञान के बाद यह सूत्र अन्तरतम हों ऐसा कह कर उन के असाधुत्व का प्रतिपादन कैसे करेगा ।

इस दोष का समाधान कह चुके हैं । क्या ? इस सूत्र को निर्वर्तक या प्रतिपादक दोनों ही न मान कर लक्षणान्तरशेषभूत मानेंगे । पण्य स्थानेयोगा के अधिकार में इसे पढ़ देंगे । उस से जहाँ पण्य के निर्देश से दीर्घ आदि आदेशों का विधान हो रहा होगा वहीं इस की उपस्थिति हो जायगी तो इसके द्वारा आदेश परिष्कृत हो कर अन्तरतम हो जायेंगे । सब आदेश सब जगह नहीं होंगे । इस प्रकार विधिसूत्रों के साथ इस की एकराक्यता होने से कोई दोष न होगा ।

प्रत्यात्मवचनं त्र ।

प्रत्यात्ममिति च वक्तव्यम् । वि<sup>म</sup>योजनम् । यो यस्यान्तरतमः स तस्य स्थाने यथा स्यात् । अन्यस्यान्तरतमोऽन्यस्य स्थाने मा भूदिति ।

प्रत्यात्मवचनमशिष्यं स्वभावसिद्धत्वात् ।

प्रत्यात्मवचनमशिष्यम् । किं कारणम् । स्वभावसिद्धत्वात् । स्वभावत एतत् सिद्धम् । तद्यथा समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते न चोच्यते प्रत्यात्ममिति प्रत्यात्मं चासते ।

अन्तरतमवचनं च ।

अन्तरतमवचनं चाशिष्यम् । योगश्चाप्ययमशिष्यः । कुतः । स्वभावसिद्धत्वादेव । तद्यथा समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैव कृशाः कृशेः सहासते' न पाण्डवः पाण्डुभिः । येपामेव किंचिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते । तथा गावो दिवसं चरितवत्यो यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते । तथा यान्येतानि गोयुक्तकानि संघुष्टकानि भवन्ति तान्यन्योन्यमपश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति ।

अन्तरतमविधानं मे प्रत्यात्म शब्द का ग्रहण करना चाहिये । प्रत्यात्म अर्थात् अपना अपना जो जिस का अन्तरतम है वह उसी के स्थान में हो । अन्य का अन्तरतम अन्य के स्थान में न हो यह कहना चाहिये ।

प्रत्यात्म ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं । यह तो स्वभाव से ही सिद्ध है कि जो जिस का अन्तरतम है वह उसी के स्थान में होता है । जैसे समाज=उत्सव पर जन-समागम, समाश=सहभोज, और समवाय=सभा आदि में 'बैठिये' ऐसा कहने पर जो जिस स्थान के योग्य होता है वह वहीं बैठता है । अपने अपने स्थान पर न कहने पर सब अपने अपने स्थान पर ही बैठते हैं ।

इस प्रकार स्थानान्तरतमः इस सूत्र की भी आवश्यकता नहीं रहती । यह भी अशिष्य है । उपदेश की अपेक्षा नहीं रखता । क्योंकि सभा आदि में बैठिये ऐसा कहने पर न तो दुबले आदमी दुबलों के साथ बैठते हैं, न पीले वर्ण वाले पीले वर्ण वाले के साथ, बल्कि जिन के साथ कुछ अर्थरूप (विद्या जाति धनादि के कारण) आन्तर्य (सादृश्य) होता है उन्हीं के साथ बैठते हैं । दिन में बाहर चर कर आई हुई गौएं घर में जो जिसका बच्चा होता है उसी के साथ सोती हैं ।

एवं तावच्चेतनावत्सु ।

अचेतनेष्वपि । तथा ( १ ) पृथः क्षितो बहुवेगं' गत्वा नैव तिर्यग्-  
गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीं । पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः । तथा  
या एता आन्तरिक्षः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः । स धूम आकाशे  
निवाते नैव तिर्यग् गच्छति नावर्गवरोहति । अव्यविकारोऽप एव गच्छत्या-  
न्तर्यतः । तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं  
नैव तिर्यग् गच्छति नावर्गवरोहति । ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्या-  
न्तर्यतः ।

व्यञ्जनस्वरव्यतिक्रमे च तत्कालप्रसङ्गः ।

व्यञ्जनव्यतिक्रमे स्वरव्यतिक्रमे च तत्कालता प्राप्नोति । व्यञ्जनव्यति-

संघुटकानि=एक साथ जुड़ में जुटने वाले होने से अत्यन्त परिचित गोयुक्तकानि=बैलों  
के जोड़े जब एक दूसरे को नहीं देखते तो रंभाने लगते हैं ।

यह व्यवहार तो केवल चेतना वाले प्राणियों में दीखता है (पर यहां भाविष्ट  
होने वाले वर्ण अचेतन हैं) ।

अचेतनों में भी दीखता है । जैसे फैंका हुआ मिट्टी का ढेला बड़े वेग  
से ऊपर जा कर न तो तिरछा जाता है और न ऊपर ही चढ़ता है । पृथिवी का  
विकार होने से नीचे पृथिवी पर ही आ गिरता है । पृथिवी के साथ उसका  
आन्तर्य है, सारश्य है । इस लिये वह पृथिवी में ही मिल जाता है । यह जो  
अन्तरिक्ष में सूक्ष्म समुद्र का पानी है, अग्निसंयोग से कायादि में उत्पन्न उस  
का विकार धुआं आकाश में बन्द हवा में न तो तिरछा जाता है और न नीचे  
उतरता है । पानी का विकार होने से अन्तरिक्ष के पानी में ही मिल जाता है ।  
सूर्य का विकार जो ज्वालायें हैं वे आकाश में बन्द हवा में तिरछी या नीचे न  
जाकर सूर्य का विकार होने से सूर्य में ही मिल जाती हैं । अग्नि की लपटें अग्नि में  
मिल जाती हैं । सूर्य की किरणें सूर्य में मिल जाती हैं ।

व्यञ्जन के परिवर्तन में और स्वर के परिवर्तन में स्थानान्तरतमः इस

१. किन्हीं पुस्तकों में बाहुवेगं पाठ है । उसमें अर्थ होगा बाहु के वेग के  
साथ । बहुवेगं=बहुत वेग के साथ । यह क्रियाविशेषण है ।

२. इस प्रकार भाष्यकार ने चेतनाचेतन जगत् के व्यवहार से अन्तरतम नियम  
को अन्यथा सिद्ध करके इस सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

क्रमे । इष्टम् । उत्तम् । आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्यार्धमात्रिक इक् प्राप्नोति ।

नैव लोके नैव वेदे अर्धमात्रिक इ<sup>म</sup>त् ।

कस्तर्हि ? ।

मात्रिकः । योस्ति स भविष्यति ।

स्वरव्यतिक्रमे । दध्यत्र मध्वत्र । कुमार्यर्थम् ब्रह्मबन्ध्वर्थम् । आन्तर्य-  
तो मात्रिकस्य द्विमात्रिकस्येको मात्रिको द्विमात्रिको यण् प्राप्नोति ।

नैव लोके नैव वेदे मात्रिको द्विमात्रिको वा यणस्ति ।

कस्तर्हि ।

अर्धमात्रिकः । योस्ति स भविष्यति ।

अन्तरतम नियम के मानने पर उत्तरतमकाल वर्ण का ग्रहण प्राप्त होता है । व्यञ्जन के परिवर्तन में जैसे—इष्टम्, उत्तम् (यञ् वप-क्त) यही यञ् वप् में यकार वकार व्यञ्जन अर्धमात्रिक हैं उन के स्थान में होने वाले इकार उकार भी अन्तरतम परिभाषा से अर्धमात्रिक प्राप्त होते हैं ।

लोक और वेद में कहीं भी इकार उकार अर्धमात्रिक (आधी मात्रा वाले) नहीं हैं ।

फिर कौन से हैं ।

मात्रिक हैं । जो हैं वे हो जायेंगे । इस लिये इष्टम् उत्तम् में एक मात्रिक ही इकार उकार होंगे, अर्धमात्रिक नहीं ।

स्वर के परिवर्तन में जैसे—दध्यत्र मध्वत्र (दधि-अत्र, मधु-अत्र) । कुमार्यर्थम् ब्रह्मबन्ध्वर्थम् (कुमारी-अर्थम्, ब्रह्मबन्धू-अर्थम्) यहां मात्रिक और द्विमात्रिक इवर्ण उवर्ण स्वर के स्थान में होने वाला यण् भी अन्तरतमपरिभाषा से मात्रिक द्विमात्रिक प्राप्त होता है ।

लोक और वेद में कहीं भी यण् मात्रिक और द्विमात्रिक नहीं है ।

फिर कौन सा है ।

आधी मात्रा वाला है । जो है वह हो जायगा । इस लिये दध्यत्र आदि में अर्धमात्रिक ही यण् होगा मात्रिक द्विमात्रिक नहीं ।

नेप दोषः । तपरे गुणवृद्धी ।

ननु च तः परो यस्मात् सोऽयं तपः म  
नेत्याह । तादपि परस्तपर इति ।

यदि तादपि परस्तपर । ऋदोरविति इहेव स्यात् ययः स्तवः ।  
लवः पय इत्यत्र न स्यात् ।

नेप तकारः । कस्तर्हि । दकारः ।

किं दकारे प्रयोजनम् ?

अथ किं तकारे ? यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोपि । अथ मुख

यह कह दोष नहीं । गुणवृद्धि सज्ञा में अदृक् आदैच् कह कर भ ए ओ और आ ऐ औ ये सब तपर किये गये हैं । इस लिये तपरस्तत्कालस्य के नियम से सवर्ण का ग्रहण न होगा तो त्रिमात्रिक चतुर्मात्रिक आदेश न होंगे ।

तपरस्तत्कालस्य यहा तपर शब्द में तो त परो यस्मात् स तपर इस प्रकार बहुव्रीहि समास माना है । उससे न आ ही तपर बनेंगे । ए ओ ऐ औ तपर नहीं बनेंगे । उनके तपर न होने से तत्काल का नियम न होगा तो सवर्णग्रहण प्राप्य होता है ।

यह बात नहीं है । तपर शब्द में तात् पर तपर इस प्रकार पञ्चमी तत्पुरुष समास भी मानत हैं । उससे ए ओ ऐ औ भी तपर हो जायेंगे तो तत्काल का नियम हो कर उनमें सवर्णग्रहण न होगा ।

यदि तपर शब्द में तापर तपर । इस प्रकार पञ्चमीतत्पुरुष समास भी मानते हैं तो ऋदोरप में उवर्ण भी तपर हो जायगा । उसके तपर हो जाने से तत्काल का नियम हो कर ह्रस्व उकारान्त धातु से ही अप प्रत्यय हो सकगा । दीर्घ उकारान्त से न हो सकगा । तो यव स्तव (यु स्तु-अप्) ये ही रूप बन सकेंगे । यव पय (लू पू-अप्) ये न बन सकेंगे । यव स्तव में यु स्तु धातु ह्रस्व उकारान्त है । यव पय में लू पू दीर्घ उकारान्त है ।

ऋदोरप् में ऋत् ओरप्=ऋदोरप् इस प्रकार तकार नहीं मानेंगे । किन्तु ऋद् ओरप्=ऋदोरप् इस प्रकार दकार मानगे ।

ऋदोरप् में दकार मानने का क्या प्रयोजन है ?

यहा तकार मानने का भी क्या प्रयोजन है क्योंकि आप तपर शब्द में केवल

सुखार्थस्तस्मै, दकारोपि ।

एज्भावे । कुर्वते कुव आन्तर्यतोऽर्धतृतीयमात्रस्य द्विसंज्ञकस्या-  
र्धतृतीयमात्र एच् प्राप्नोति ।

नैव लोके नच वेदेऽर्धतृतीयमात्र एजस्ति ।

ऋवर्गस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे सर्वप्रसङ्गोऽविशेषात् ।

ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे सर्वप्रसङ्गः । सर्वगुणवृद्धिप्रसङ्गः । सर्वे  
गुणवृद्धिसंज्ञका ऋवर्णस्य स्थाने प्राप्नुवन्ति । किं कारणम् । भविष्येति ।  
न हि कश्चिद् विशेष उपादीयते एवंजातीयको गुणवृद्धिसंज्ञक ऋवर्णस्य  
स्थाने भवतीति । अनुपादीयमाने विशेषे सर्वप्रसङ्गः ।

बहुव्रीहि समास मान्ते है उससे न ही तपर बनेगा । उकार तो तपर न होगा ।  
और न के लिये तपर करना ग्यर्थ है । वह स्वतः ही दीर्घ पढ़ा है । हाँ, उकार  
के लिये तपर करना सफल हो सकता है पर वह पञ्चमी तत्पुरुष समास में ही  
सम्भव है । इस लिये हम वहाँ उकार न मान कर दकार मानते हैं । जिससे  
तपरस्तकालस्य की प्रवृत्ति न हो । और उवर्ण भरते सवर्णियों का प्रहण कर  
सके । केवल बहुव्रीहि समास मानने वाले के लिये ऋदोरप् में उकार दकार  
दोनों समान हैं । वहाँ यदि सन्देशाभाव के लिये तपर किया हुआ मानेंगे तो वपर  
भी सन्देशाभाव के लिये हो सकता है । यदि सुल्लङ्घक मुख से उच्चारण करने में  
सहायक होने के लिये तपर मानेंगे तो वपर भी उसके लिये हो सकता है ।

एज् भाव का उदाहरण कुर्वते कुर्वाणे है । कुर्वते कुर्वाणे (इ-भाताम्,  
आयाम्) यर् आताम् आयाम् में टि सञ्ज्ञक आम् के दाईं मात्रा वाला होने  
से उसके स्थान में होने वाला टेरव भी अन्तरवर्ण परिभाषा से दाईं मात्रा  
वाला प्राप्त होता है ।

लोक और वेद में कहीं भी दाईं मात्रा वाला एकार नहीं है । द्विमात्रिक तो  
है । इस लिये द्विमात्रिक हो जायगा ।

ऋवर्ण के स्थान में गुणवृद्धी कहने पर गुणवृद्धिसंज्ञक सभी वर्ण प्राप्त होते हैं ।  
क्योंकि ऋवर्ण के स्थान में होने के लिये गुणवृद्धिसंज्ञा वाले किसी विशेष वर्ण  
को नहीं कहा गया है कि यह गुणवृद्धिसंज्ञक वर्ण ऋवर्ण के स्थान में होता है ।  
बिना विशेष वर्ण के कहे सभी वर्ण प्राप्त होते हैं ।

न वा ऋवर्णस्य स्थाने रपरप्रसङ्गात् अवर्णस्यान्तर्यम् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । ऋणस्य स्थाने रपरप्रसङ्गात् ।  
उः स्थाने अण् प्रसज्यमान एव रपरो भवतीत्युच्यते तत्र ऋवर्णस्यान्तर्यतो  
रेफवतो रेफयानकार एवान्तरतमो भवति ।

सर्वादेशप्रसङ्गस्त्वेनेकालत्वात् । सर्वादेशस्तु गुणवृद्धिसंज्ञक ऋवर्ण-  
स्य प्राप्नोति । किं कारणम् । अनेकालत्वात् । अनेकाल् शित् सर्वस्येति ।

नवानेकालत्वस्य तदाश्रयत्वाद् ऋवर्णदेशस्याविधात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । अनेकालत्वस्य तदाश्रयत्वात् ।  
यदायमुः स्थानेऽण् तदायमनेकाल् । अनेकालत्वस्य तदाश्रयत्वाद् ऋवर्णा-  
देशस्य विधातो न भविष्यति ।

अथवाऽनान्तर्यमेवैतयोरान्तर्यम् । एकस्याप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति ।

यह कोई दोष नहीं । उरण् रपरः से ऋवर्ण के स्थान में प्रसज्यमान  
होते ही अण् रपर कहा गया है । उससे रेफ वाले ऋवर्ण के स्थान में उसके अन्तरतम  
रेफ वाले अर् आर् गुणवृद्धि हो जायेंगे ।<sup>१</sup>

यदि ऋवर्ण के स्थान में अर् आर् गुणवृद्धि होंगे तो वे अनेकाल् होने से  
अनेकाल् शित्सर्वस्य के नियम से सारे ऋवर्णान्ति अङ्ग को प्राप्त होते हैं ।

यह कोई दोष नहीं । ऋवर्ण के स्थान में होने वाले अण् के द्वारा रपर हो कर  
ही अर् आर् अनेकाल् होते हैं । पीछे अनेकाल् होने पर वे अपने आश्रयभूत  
ऋवर्ण का विधात नहीं कर सकते । जब तक ऋवर्ण के स्थान में अर् आर्  
नहीं हो पाते तब तक वे अनेकाल् नहीं बनते । जब तक अनेकाल् नहीं बनते  
तब तक सर्वादेश नहीं हो सकते इस लिये पहले ऋवर्ण के स्थान में हो, फिर  
अनेकाल् हों इस उक्त आनुपूर्वी से अनेकाल् हो कर भी पूर्वप्रवृत्त ऋवर्ण के  
स्थानित्व का विधात नहीं हो सकता ।

अथवा ऋवर्ण और अवर्ण का अनान्तर्य (असादृश्य ही आन्तर्य (सादृश्य) है ।  
उनका परस्पर न मिलना ही मिलना है । एक अवर्ण के अनुकूल तो प्रकृति नहीं ।

१ उरण् रपर. इसके साथ गुणवृद्धिशास्त्र की एकवाक्यता होने पर ऐसा  
अर्थ होगा—अङ्ग के अन्त्य इक् ऋवर्ण की रपर अण् रूप गुण होता है ।

अपरस्यान्तरतम आदेशो नास्ति एतदेवैतयोऽन्तर्यम् ।<sup>१</sup>

सम्प्रयोगो नष्टाश्वदग्धरथवत्<sup>२</sup> ।

अथवा नष्टाश्वदग्धरथवत् सम्प्रयोगो भविष्यति । तद्यथा तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्धः । इमौ सम्प्रयुज्यावहा इति । एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्ति, अस्तु नौ सम्प्रयोग इति ।

विषम उपन्यासः । चेतनाचत्स्वरथात् प्रकरणाद्वा लोके सम्प्रयोगो भवति । वर्णाश्च पुनरचेतनाः । तत्र किंकृतः सम्प्रयोगः ।

यद्यपि वर्णा अचेतनाः, यस्त्वसौ प्रयुङ्क्ते स चेतनावान् ।

एजवर्णयोरादेशोऽवर्णं स्थानिनोऽवर्णप्रधानत्वात् ।

दूसरे ऋवर्ण के अनुकूल आदेश नहीं । इस प्रकार दोनों के न मिलने से मेल हो जायगा ।

अथवा नष्टाश्व दग्धरथ व्याय से दोनों का मेल हो जायगा । नष्टाश्वदग्धरथ व्याय का स्वरूप यह है कि एक का घोड़ा नष्ट हो गया । दूसरे का रथ जल गया तो वे आपस में कहते हैं—तेरा घोड़ा खोया गया और मेरा रथ जल गया । चलो दोनों मिल जावें । तू मुझे रथ दे और मैं तुझे घोड़ा दूँ । दोनों का काम हो जायगा । इसी तरह यहाँ भी तेरा तो अन्तरतम स्थानी नहीं और मेरा अन्तरतम आदेश नहीं, चलो दोनों मिल ले इस प्रकार अवर्ण और ऋवर्ण मिल जावेंगे ।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं । चेतनागान् पदार्थों में प्रकरण या सामर्थ्य से लोक में मेल हो सकता है । वर्ण तो अचेतन हैं इन में कैसे मेल होगा ।

यद्यपि वर्ण अचेतन हैं तो भी उन का प्रयोग करने वाला तो चेतन है उस से मेल हो जायगा ।

१. अब सूत्रान्तर से निर्जित (निष्पन्न) अणु को रपर करने में भी कोई दोष नहीं इसे इस प्रकार ऋते हैं । सदृश सम्बन्धी के अभाव वाला होना दोनों का साधारण धर्मरूप सादृश्य है यह भाष्य तात्पर्य है ।

२. सूत्र प्रत्याख्यान पक्ष में समाधान कहते हैं—सम्प्रयोगो वा इत्यादि ।



एजवर्णयोरादेशोऽवर्णं प्राप्नोति । खट्वैलका । मालौपगवः । किं कारणम् । स्थानिनोऽवर्णप्रधानत्वात् । स्मृत्वात्रावर्णप्रधानः ।

सिद्धं तुभयान्तरे ।

सिद्धमेतत् । कथम् । उभयोर्योऽन्तरतमस्तेन भवितव्यम् । नचावर्णमुभयोरन्तरतमम् ।

उरण् रपरः । १।१।५१।

किमिदमुरण् रपरवचनमन्यनिवृत्त्यर्थम् । उः स्थाने अणेष भवति रपरश्चेति । आहोस्विद् रपरत्वमात्रमेनेन विधीयते । उः स्थाने अण् च अनण् च । अण् तु रपर इति ।

कश्चात्र विशेषः ।

एच् और अवर्ण के एकादेश में अवर्ण की प्रधानता होने से दोनों के स्थान में अवर्ण आदेश ही प्राप्त होता है । खट्वा-एलका=खट्वैलका । माला-औपगव = मालौपगव । यहा रुद्विरेचि से विधीयमान आ ऐ औ के एकादेश में ऐ औ न होकर आ होना चाहिये । क्योंकि स्थानी ए औ में भी अवर्ण के विद्यमान होने से उस की प्रधानता है ।

यह कोई दोष नहीं । खट्वैलका, मालौपगव में ऐ औ वृद्धि एकादेश सिद्ध हो जायेंगे । क्योंकि ओ उभय अर्थात् आ और ऐ औ दोनों का अन्तरतम होगा वही आदेश होगा । आकार केवल कण्ठस्थान वाला होने से दोनों का अन्तरतम नहीं है । ऐ औ तो कण्ठ के साथ तालु ओष्ठ स्थान वाले भी होने से दोनों स्थानियों के अन्तरतम हैं इस लिये दोनों के स्थान में ऐ औ ही वृद्धि होगे, आकार नहीं ।

क्या उरण् रपर इस सूत्र से ऋ के स्थान में अण् ही हो और वह रपर हो इस प्रकार अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति की जाती है या ऋ के स्थान में अण् अनण् सब हों पर अण् तो रपर हो इस प्रकार अण् को केवल रपर मात्र किया जाता है । पहले पक्ष में यह ऋ के स्थान में प्राप्त अन्तरतम आदेशों को भी वाचकर अण् ही करेगा और उसे रपर भी साथ में कर देगा । दूसरे पक्ष में किसी से प्राप्त ऋ के स्थान में अण् को रपरमात्र करेगा ।

इस में क्या विशेष है ।

उरण्परवचनमन्यनिर्त्यर्थमिति चेदुदात्तादिषु दोषः ।

उरण्परवचनमन्यनिर्त्यर्थं चेदुदात्तादिषु दोषो भवति ।

के पुनरुदात्तादयः ।

उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकाः । कृतिः हृतिः । कृतं हृतम् ।  
प्रकृतं प्रहृतम् । नूँः पाहि ।

अस्तु तर्हि उः स्थाने अण् च अनण् च । अण् तु रपर इति ।

य उः स्थानेऽण् स रपर इति चेद् गुणवृद्धयोर्वर्णाप्रतिपत्तिः ।

यदि यह अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति करता है तो उदात्त आदि में दोष होगा ।

उदात्त आदि कौन से हैं ?

उदात्त अनुदात्त स्वरित और अनुनासिक । कृतिः हृतिः (कृ हृ-त्तिन्) यहाँ कृ की ऋ के स्थान में अन्तरतम न्निन्त्यादिर्नित्यम् से उदात्त ऋ न होकर अण् (अ इ उ) में से ही कोई अक्षर प्राप्त होना चाहिये । क्योंकि ऋ अण् नहीं है उसे बाध कर यह ऋ के स्थान में अण् ही करेगा तो कृतिः हृति में उदात्त ऋ न हो सकेगा । इसी प्रकार हृतम् हृतम् यहाँ कृ की ऋ के स्थान में अन्तरतम अनुदात्त पदमेकवर्जम् से अनुदात्त ऋ को बाध कर अण् प्राप्त होता है । प्रकृतम् प्रहृतम् यहाँ कृ की ऋ के स्थान में अन्तरतम उगतादनुदात्तस्य स्वरितः से स्वरित ऋ को बाध कर अण् प्राप्त होता है । नूँः पाहि (नून्-पाहि) यहाँ नून् पे से नून् के न् को स् होने पर अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा से ऋ के स्थान में अन्तरतम अनुनासिक ऋ को बाध कर अण् प्राप्त होता है ।

अष्टा तो ऋ के स्थान में अण् अनण् सब हों पर अण् तो रपर हो यह वृत्तरा पक्ष मान लीजिये ।

यदि ऋ के स्थान में अण् अनण् सब मान कर अण् को केवल रपर किया जाता है तो ऋवर्ण के स्थान में गुणवृद्धि करने में ऋवर्ण का मिश्रण

१. यद्यपि इन पक्ष में नून् शब्द में नृ से शस् परे रहते पूर्वमवर्ण दीर्घ ऋ न होकर अण् ही प्राप्त होता है । उस अवस्था में नून् यह रूप भी नहीं बन सकता तो भी नून् पे सूत्र में निगतन से ऋ दीर्घ हो जायगा । उससे नून् यह रूप बन जायगा ।

य उः स्थाने अण् स रपर इति चेद् गुणवृद्धिः धोरवर्णस्याप्रतिपत्तिः । कर्ता हर्ता वार्धगण्यः । किं हि साधीयः-<sup>नृ</sup>म<sup>२</sup> यासवर्णे यदवर्णं स्यात् न पुनरेडैचौ ।

पूर्वस्मिन्नपि पक्षे एष दोषः । किं साधीयः । तत्रापि ऋवर्णस्यासवर्णे यदवर्णं स्यात् न पुनरिकारोकारौ । अथ मतमेतत्-उः स्थाने अणश्चानणश्च प्रसङ्गे अणोव भवति रपरश्चेति सिद्धा पूर्वस्मिन् पक्षेऽवर्णस्य प्रतिपत्तिः । यत्तु तदुक्तमुदात्तादिषु दोष इति स इह दोषो जायते न वा जायते ।

जायते स दोषः । कथम् । उदात्त इत्यनेनाणोपि प्रतिनिर्दिश्यन्ते अनणोपि ।

यद्यपि अणोपि प्रतिनिर्दिश्यन्ते न तु प्राप्नुवन्ति । किं कारणम् ।

ही दुर्लभ है । कर्ता हर्ता (कृ हृ लृच्) । वार्धगण्यः नृधगणस्यापत्यम्, वृधगण-यन्) । यहाँ कृ ह और वृधगण के ऋ को गुणवृद्धि करने में कौन सा ऐसा षड्विधा साधक हेतु है जिस से ऋ के सभी असवर्णी गुणवृद्धि संज्ञक वर्णों में अ आ ही गुणवृद्धि होंगे, ए ओ ऐ औ नहीं होंगे । जैसा गुणसंज्ञक अण् अकार ऋ का असवर्ण है वैसे ही ए ओ भी हैं । इसी प्रकार जैसा वृद्धिसंज्ञक ऋण् आकार ऋ का असवर्ण है । वैसे ही ऐ औ भी हैं । ऋ के स्थान में अ आ ही गुणवृद्धि होंगे ए ओ ऐ औ नहीं होंगे इस में क्या साधक हेतु है ?

यह दोष तो पहले पक्ष में भी है । वहाँ भी कौन सा ऐसा षड्विधा साधक हेतु है जिस से ऋ के स्थान में असवर्णी अणों में से अ आ ही होंगे इ उ न होंगे । यदि कइो पहले पक्ष में यह दोष नहीं क्योंकि वहाँ ऋ के स्थान में अण् अनण की प्राप्ति में अण् ही हो और वह रपर हो ऐसा नियम कर देने से अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति की जाती है । इ उ के अण् होने पर भी गुणवृद्धि संज्ञक न होने से ऋ के स्थान में उन की प्राप्ति ही नहीं तो इ उ न होकर अ आ ही होंगे । तो पहले पक्ष में जो उदात्त आदि का दोष कहा है उस पर तो विचार होना चाहिये कि वह इस पक्ष में भी दोष है या नहीं ।

हाँ वह दोष इस पक्ष में भी होता है । क्योंकि कृति हृति आदि में अण् भी उदात्त आदि प्राप्त हो सकते हैं और अनण् ऋ भी ।

यद्यपि अण् भी उदात्त आदि हो सकते हैं पर कृतिः हृति आदि में

स्थानेन्तरतमो भवतीति ।

कुतो जु खल्वेतत् द्वयोः परिभाषयोः सावकाशयोः समवस्थितयोः स्थानेन्तरतम इति उरण् रपरः च, स्थानेन्तरतम इत्यनया परिभाषया व्यवस्था भविष्यति न पुनरुण् रपर इति ।

अतः किम् ?

अत एव दोषो जायते उदात्तादिषु दोष इति । ये चाप्येते ऋवर्णस्य स्थाने प्रतिपदमादेशा उच्यन्ते तेषु रपरत्वं न प्राप्नोति । ऋत इद् धातो-रुदोष्य पूर्वस्येति ।

सिद्ध तु प्रसङ्गे रपरत्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । प्रसङ्गे रपरत्वात् । उः स्थाने अण् प्रसज्यमान

वे प्राप्त तो नहीं हैं । क्योंकि स्थानेन्तरतमः इस अन्तरतम परिभाषा से ऋ के स्थान में ऋ ही उदात्त आदि होगा । अण् नहीं ।

यह कैसे मानें कि स्थानेन्तरतमः और उरण् रपरः इन दोनों सावकाश परिभाषाओं की एक साथ उपस्थिति में यहाँ अन्तरतम परिभाषा की बात मान कर प्रयोग व्यवस्था की जायगी । उरण् रपरः की बात नहीं मानी जायगी ?

इस से क्या ?

इस से यही है कि उरण् रपरः से व्यवस्था मानने पर कृति कृतिः आदि में कहा हुआ उदात्त आदि का दोष इस दूसरे पक्ष में भी प्राप्त रहेगा इस के साथ पहले पक्ष में यह भी दोष है कि जो ऋ के स्थान में प्रतिपदविहित है ( साक्षात् विधान किए हुए ) आदेश कहे हैं उनमें अण् को रपर नहीं प्राप्त होता । जैसे—ऋत इद् धातोः उदोष्यपूर्वस्य । यहाँ ऋ के स्थान में इकार उकार का साक्षान् विधान है । क्योंकि यह सूत्र तो जहाँ अण् अनण् की प्राप्ति में अण् ही हो इस प्रकार अनियम प्रसङ्ग में नियम विधान द्वारा अण् से भिन्न आदेशों की निवृत्ति की गई है वहीं इस नियम का शेषभूत रपर करेगा । ऋत इद् धातोः उदोष्यपूर्वस्य में अनियमप्रसक्ति रहित साक्षात् इकार रूप अण् का विधान है इस लिये वहाँ रपर न हो सकेगा ।

ऋ के स्थान में विधि सूत्रों से प्राप्त होता हुआ ही अण् इससे रपर लिया जायगा तो कोई दोष न होगा । विधि सूत्रों के साथ इसकी एक वाक्यता हो जायगी तो यह लक्षणांतर शेषभूत बन कर स्वतन्त्र विधायक न होगा । कर्ता हर्ता वार्धगप्यः में गुणवृद्धि के प्रसङ्ग में विधानकाल में ही अण् रपर हो जायगा

एव रपरो भवति ।

किं चक्षव्यमेतत् ?

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ।

स्थान इति वर्तते । स्थानशब्दश्च प्रसङ्गवाची ।

यद्येवमादेशोऽविशेषितो भवति ।

आदेशश्च विशेषितः । कथम् । द्वितीयं स्थानग्रहणं प्रकृतमनुवर्तते । तत्रैवमभिसम्बन्धः करिष्यते । उः स्थाने अण् स्थाने इति । उः स्थाने

तो ऋ के स्थान में अर् अर् गुणवृद्धि मिल जावेगी । कृतिः इति, आवि में अण् का प्रसङ्ग ही नहीं है क्योंकि स्थानेन्तरतम परिभाषा से ऋ के स्थान में अर् ही उदात्त आदि प्राप्त है । इस लिये वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी ।

क्या यह बात कहनी होगी कि प्रसङ्ग में ही रपर होता है ।

नहीं ।

बिना कोई कैसे समझी जायगी ?

स्थानेऽन्तरतम से यहाँ स्थान शब्द की अनुवृत्ति करेंगे । स्थान का अर्थ प्रसङ्ग है ही इस लिये प्रसक्त होता हुआ अण् रपर होता है यह अर्थ निकल आयगा ।

ऐसा होने पर भी अण् आदेश ऋवर्ण के स्थान सम्बन्ध से विशेषित न हो सकेगा । अर्थात् ऋ के स्थान में होना रूप सम्बन्ध अण् का न बन सकेगा । स्थान शब्द की अनुवृत्ति से केवल यह अर्थ निकलेगा कि दूसरों से प्रसक्त होता हुआ अण् रपर होता है । पर वह ऋ के स्थान में प्रसक्त होता हुआ रपर होता है यह अर्थ नहीं निकल सकता । हम चाहते हैं कि ऋवर्ण के स्थान में ही प्रसक्त होता हुआ अण् रपर हो ।

अण् आदेश ऋ के स्थान सम्बन्ध से भी विशेषित हो जायगा । कैसे ? पष्ठी स्थानियोगा से दूसरा स्थाने शब्द का ग्रहण भी प्रकृत अनुवृत्त होता था

१. उ. यह जो पष्ठी है इसे ही स्थान पष्ठी क्यों न मान लिया जाय, जिससे स्थाने पद की अनुवृत्ति न करनी पड़ेगी । नहीं, ऐसा नहीं हो सकता ।

प्रसङ्गे अण् प्रसज्यमान एव रपरं भवति ।

अथाण् ग्रहणं किमर्थम् ? अण् रपरो भवतीत्येवोच्येत ।

ऊ रपरः इतीयत्युच्यमान इदानीं रपरः स्यात् ?

यः स्थाने भवति ।

कश्च स्थाने भवति ।

आदेशः ।

आदेशो रपर इति चेद् रीरिविधिषु रपरप्रतिषेधः ।

आदेशो रपर इति चेद् रीरिविधिषु रपरत्वस्य प्रतिषेधो  
वक्तव्यः ।

के पुनः रीरिविधयः ?

अकङ् लोपानङ् नङ् रीङ् रिङ् आदेशाः । अकङ्-सौघातकिः । अरुङ् ।

रहा है । उससे उ स्थाने अण् स्थाने रपरः ऐसा वाक्यान्त होगा । अ के स्थान में प्रसक्त होता हुआ ही अण् रपर होगा यह अभीष्टार्थ सिद्ध हो कर कहीं दोष न होगा ।

अण् ग्रहण किस लिये किया है । ऊ रपरः इतना ही सूत्र क्यों न बना दिया जाय ?

ऊ रपरः इतना सूत्र होने पर अ के स्थान में कौन रपर होगा ?

जो अ के स्थान में होगा ।

अ के स्थान में कौन होगा ?

आदेशः । इस लिये अ के स्थान में होने वाला आदेश रपर हो जायगा ।

आदेश को रपर मानने में रीरि विधियों में प्राप्त रपर का निषेध कहना चाहिये ।

रीरि विधियाँ कौन सी हैं ?

अकङ्, लोप, आनङ्, अनङ्, रीङ्, रिङ् ये आदेश रीरि विधियाँ हैं ।

उरण् रपरः यह अ के स्थान में अण् का विधान नहीं करता, अण् तो लक्षणान्तर से किया जाता है सो यह इस अंश में विधिसून नहीं रहता । पञ्जी स्थानेयोगा यह परिभाषा विधिशास्त्र का अङ्ग है, वहीं उपस्थित होती है, अनुवाद में नहीं । अतः स्थाने की अनुवृत्ति अवश्य कर्तव्य है ।

लोप-पैतृष्वसेयः । लोप । आनङ् होतापोः । आनङ् । अनङ्-कर्ता हर्ता ।  
अनङ् । रीङ्-मात्रीयति पित्रीयति । रीङ्-क्रियते ह्रियते । रिङ् ।

उदात्तादिषु ।

उदात्तादिषु च किम् । रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । कृतिः ।  
हृतिः । कृतं हृतम् । प्रकृतं प्रहृतम्, नूः पाहि । तस्मादण्ग्रहणं

इन में रीङ् रिङ् आदेश की सहचरित सभी विधियों को रीरिविधि कह दिया है । अक् जैसे—तौघातकिः । (सुधातुरपत्यं, सुधातृ-ङ्) यहाँ सुधातृ शब्द से अपत्य अर्थ में सुधातुरक् च से इङ् प्रत्यय और सुधातृ के ऋ के स्थान में अक् आदेश होता है । उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । लोप जैसे—पैतृष्वसेयः । (पितृष्वसुरपत्यं, पितृष्वसृ-ङ्) यहाँ पितृष्वसृ शब्द से अपत्य अर्थ में टकि लोपः से ङ् प्रत्यय और पितृष्वसृ के ऋ का लोप रूप आदेश होता है । उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । आनङ् जैसे—होतापोतारी । (होता च पोता च) यहाँ होतृ पोतृ शब्द के द्वन्द्व में होतृ के ऋ के स्थान में आनङ् ऋनो द्वन्द्व से आनङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । अनङ्-कर्ता हर्ता (कृ हृ-वृच्) यहाँ कर्तृ हर्तृ शब्द के ऋ के स्थान में ऋदुशानस्फुट० से अनङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । रीङ्-मात्रीयति पित्रीयति । (मातरमिच्छति पितरमिच्छति मातृ पितृ-क्यच् तिप्) यहाँ मातृ पितृ शब्द के ऋ के स्थान में रीङ् ऋतः से रीङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । रिङ्-क्रियते ह्रियते । (कृ हृ-यक् त) यहाँ कृ हृ के ऋ के स्थान में रिङ् शयग्लिङ्छु से रिङ् आदेश होता है उसके अण् न होने पर भी रपर प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त कृतिः हृतिः, कृतम् हृतम्, प्रकृतम् प्रहृतम्, नूः पाहि इत्यादि में उदात्त अनुदात्त

१ यदि वही लोप को रपर मानने पर पैतृष्वसेयः यह अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । यह रूप तो ङकि लोपः से ऋ का लोप न कर के भी इको यणचि से यण् हो कर प्राप्त हो सकता था इस लिये लोप विधान सामर्थ्य से रपर न होगा तो इस का उत्तर यह है कि लोप तो सर्वादेश हो कर चरितार्थ हो सकता है । सारे पितृष्वसृ शब्द के स्थान में लोप हो जावे इस लिये भी लोप विधान रह सकता है अतः सामर्थ्य न होने से वह रपर को नहीं रोक सकता ।

२. यद्यपि आनङ् को रपर हो कर रेफ का संयोगान्त लोप हो जायगा तो भी उसके असिद्ध होने से आनङ् के न का लोप न हो सकेगा ।

कर्तव्यम् ।

एकादेशस्त्वन कर्तव्यम् ।

एकादेशस्योपसर्गान् वदन्त्यम् । खट्वर्श्यः । मालर्श्यः ।

किं पुनः कारणं न सिद्धम् ।

उः स्थानेऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवतीत्युच्यते, न चायमुच्च स्थानेऽण् शिष्यते । किं तर्हि । आन्यस्य च ।

अन्यग्रहणात् सिद्धम् ।

यद्यन ऋणं तदाश्रय रपरत्वं भविष्यति । तद्यथा माया न भोक्तव्या इत्युक्ते मित्रा अपि न भुज्यन्ते ।

अवयवग्रहणात् सिद्धमिति चेदादेशे रान्तप्रतिषेधः ।

अन्यवग्रहणात् सिद्धमिति चेदादेशे रान्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

स्वरित अनुनासिक ऋ आदेश हाता है उसके अण् न हाने पर भी रपर प्राप्त होता है । इस लिखे उक्त दाया की निवृत्ति के लिये अण ग्रहण करना चाहिये ।

एकादेश में रपर का उपसर्गान् करना चाहिये । जैसे—खट्वा+ऋश्य = खट्वर्श्य । माणा+ऋश्य = मालर्श्य । यद्वा पूर्व पर के स्थान में आवृण्ण से गुण एकादेश हुआ है वह रपर हट है ।

क्या कारण है जो एकादेश में रपर सिद्ध नहीं होता ।

ऋ के स्थान में प्रसज्यमान अण को रपर कहा है । खट्वर्श्य यहाँ एकादेश में केवल ऋ के ही स्थान में आदेश नहीं हुआ बल्कि ऋ और आ दोनों के स्थान में हुआ है । इस लिये रपर प्राप्त नहीं होता ।

आ और ऋ इस अनुदाय के अवयव ऋ के स्थान में आदेश होने से रपर हो जायगा । जैसे—उड् न खान चाह्यै एसा कहन पर चावल आदि में मिले हुए उड् भी नहीं खाये चात ।

यदि आ और ऋ अनुदाय के अवयव ऋ के स्थान में आदेश मानने से खट्वर्श्य, मालर्श्य में रपर हो जायगा तो अण् अनङ् (अणभिन्न) उभय मिश्रित

१ उ यह वर्णग्रहण सर्वत्र तदन्त विधि का प्रयोक्त होता है—यह न्याय है । इससे यहाँ ऋकारान्त सङ्घ का ग्रहण हो जायगा ।



होतापोतारौ । यथैवोश्चान्यस्य च स्थाने ऋणो रपरो भवतीति एवं य उः स्थाने ऽण् चानण् च सोपि रपरः स्यात् ।

यदि पुनर्ऋवर्णान्तस्य स्थाने ऋणो रपरत्वमुच्येत—खट्वर्द्यः । माल्दर्थः ।

नैवं शक्यम् । इह न प्रसज्येत कर्ता हर्ता । किरति गिरति । ऋवर्णान्तस्येत्युच्यते न चैतद् ऋवर्णान्तस्येति ।

ननु चैतदपि व्यपदेशिवद्भावेन ऋवर्णान्तम् ।

अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः । न चेपोऽर्थवान् । तस्मान्नैवं शक्यम् ।

आदेश मे भी अण् को अवयव मान कर रपर प्राप्त होता है उसका निषेध कहना चाहिये । जैसे—होतापोतारौ यहा आनङ् आदेश में अण् अनण् दोनों होने से उसमे अण् अवयव को मान कर रपर हो जाना चाहिये ।

ऋ के स्थान में रपर न मान कर यदि ऋणान्त के स्थान में रपर मानें तो खट्वर्द्य माल्दर्थ में आ और ऋ समुदाय के अन्त में ऋवर्ण होने से रपर सिद्ध हो जायगा ।

ऐसा नहीं हो सकता । ऋवर्णान्त को रपर मानने में कर्ता हर्ता (कृ ह-तृष्) । किरति गिरति (कृ गृ श तिप्) यहा रपर नहीं प्राप्त होता । क्योंकि ऋवर्णान्त के स्थान में अकार इकार नहीं हुए हैं बल्कि ऋवर्ण के स्थान में हुए हैं ।

कर्ता हर्ता आदि में ऋवर्ण के स्थान में हुए अकार इकार को भी व्यपदेशिवद्भाव से ऋवर्णान्त के स्थान में हुआ मान लेंगे । अमुख्य में मुख्यवत् व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं ।

व्यपदेशिवद्भाव अर्थवान् से होता है, अनर्थक से नहीं । कर्ता हर्ता किरति गिरति में कृ आदि के अर्थवान् होने पर भी केवल ऋवर्ण के अनर्थक होने से व्यपदेशिवद्भाव नहीं होगा तो रपर प्राप्त नहीं होता । इस लिये ऋवर्णान्त के स्थान में रपर नहीं मान सकते । उस अवस्था में खट्वर्द्य माल्दर्थ में रपर नहीं प्राप्त होता तो एकादेश मे रपर का उपसख्यान ही करना चाहिये । उपसख्यान करने के साथ ही मातृ पितृ यहाँ एकादेश मे रपर का निषेध भी कहना चाहिये । अन्यथा मातृ ङस् इस अवस्था मे कृत उत् से मातृ के ऋ और ङस् प्रत्यय के अकार के स्थान में हुए उकार एकादेश में रपर प्राप्त होता है । उ को रपर हो कर ङस् के स् को ङ हो जायगा तो रोरि

न चेदेवमुपसंख्यानं कर्तव्यम् । च रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।  
मातुः पितुरिति ।

उभयं न वक्तव्यम् । यो द्वयोः पृष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे  
भवति लभतेऽसावन्यतरतो दशम् । तद्यथा देवदत्तस्य पुत्रः ।  
देवदत्तायाः पुत्र इति ।

कथं मातुः पितुरिति ?

अस्त्यश्च रपरत्वम् । विसर्गसिद्धिः । रात्सस्येति सकारस्य लोपः ।  
रेफस्य विसर्जनीयः ।

नैष शक्यम् । इह, मातुः करोति पितुः करोतीति । अप्रत्यय-  
विसर्जनीयस्येति पत्वं प्रसङ्गम् ।

अप्रत्ययविसर्जनीयस्येत्युच्यते । प्रत्ययविसर्जनीयश्चायम् ।

से पूर्व रेफ का लोप और टूलोने पूर्वस्य० से दीर्घ हो कर मातुः पितुः ऐसा अनिष्ट  
रूप प्राप्त होगा । एकादेश में रपर न मानने पर तो उ से परे इस् के सकार  
को स्वर विसर्ग हो कर मातुः पितुः यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है ।

एकादेश में रपर का उपसंख्यान और मातुः पितुः के एकादेश में रपर  
का निषेध इन दोनों के ही कहने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि जो दो के स्थान  
में होता है वह उन दोनों में से किसी का भी कहा जा सकता है । जैसे देवदत्त  
और देवदत्ता के पुत्र को दोनों में से किसी का भी कह सकते हैं । तो अ के  
और आ के स्थान में हुए एकादेश को हम अ के स्थान में हुआ भी कह  
सकते हैं । इस लिये खट्वर्त्य माल्द्व्य में रपर हो जायगा ।

एकादेश में रपर होने पर मातुः पितुः कैसे बनेंगे ?

मातुः पितुः में भी उकार एकादेश को रपर हो कर मातुर् स् ऐसा होगा  
तो स्वर के असिद्ध होने से रात्सस्य से स का लोप और खरवसानयो० से रेफ  
को विसर्ग हो कर मातुः पितुः बन जायेंगे ।

ऐसा नहीं हो सकता । इस प्रकार मातुः करोति पितुः करोति यहां मातुः पितुः  
के प्रत्यय भिन्न विसर्ग हो जाने से उससे करोति का कवर्ग पर होने पर इदुदुपवस्य  
वाप्रत्ययस्य से पत्व प्राप्त होगा ।

प्रत्ययभिन्न विसर्ग को पत्व कहा है । मातुः पितुः में प्रत्यय का विसर्ग

लुप्यतेऽत्र प्रत्ययो रात्सस्येति ।

एवं तर्हि ।

भ्रातृपुत्रग्रहण ज्ञापकमेकादेशः । तात् पत्वप्रतिषेधस्य ।

यद्यं 'कस्कादिषु' भ्रातृपुत्रशब्द पठ्यते ; तज्ज्ञापयत्याचार्यो नैकादेश-  
निमित्तात् पत्वं भवतीति ।

किं पुनरयं पूर्वान्तः, आहोस्विस्त्वादिः, आहोस्विदभक्तः ?

कथं चायं पूर्वान्तः स्यात्, कथं वा परादिः, कथं वा अभक्तः ?

यद्यन्त इति वर्तते ततः पूर्वान्तः । इत्यादिरिति वर्तते ततः परादिः ।

अथोभयं निवृत्तम् । ततोऽभक्तः ।

५६

है । यहाँ हस् प्रत्यय के अवयव अकार के स्थान में ऋत उत से हुए उकार को रपर हुआ है । उस रेफ के विसर्ग को प्रत्यय मान कर प्रत्यय का विसर्ग हो जायगा तो पत्व न होगा ।

हस् प्रत्यय के अवयव सकार का तो रात्सस्य से लोप हो गया । शेष अकार का ऋ के साथ एकादेश हो कर उसे रपर हो गया । फिर प्रत्यय कहाँ रहा जिस का विसर्ग हो ?

अच्छा तो फिर कस्कादिषु च इस सूत्र से पठित कस्कादिगण में भ्रातृपुत्र शब्द का पाठ इस बात का ज्ञापक होगा कि एकादेश को निमित्त मान कर ह्रदुपध बने हुए विसर्ग को पत्व नहीं होता । अन्यथा भ्रातृ शब्द में भी भ्रातृ के ऋ और ऊम् के अकार के स्थान में उकार एकादेश हो कर रपर हुआ है । तत्स्थानिक विसर्ग के प्रत्ययभिन्न ह्रस्व उकार उपधा वाला होने से ह्रदुपधस्य चाप्रत्ययस्य से ही पत्व सिद्ध हो जाता फिर पत्व के लिये उसका कस्कादिगण में पाठ करना व्यर्थ है ।

रपर कह कर हुआ यह रेफ क्या पूर्व का अन्तावयव माना जाता है या पर का भावि अवयव या अभक्त अर्थात् दोनों में से किसी का भी अवयव नहीं माना जाता ?

कैसे तो वह पूर्व का अन्तावयव हो सकता है । कैसे पर का भावि अवयव और कैसे अभक्त ?

आद्यन्तौ टकितौ से यदि अन्त की अनुवृत्ति करें तो पूर्वान्त हो सकता है । आदि की अनुवृत्ति करें तो परादि हो सकता है । और आदि अन्त में से किसी की भी अनुवृत्ति न करें तो अभक्त हो सकता है ।

कश्चात्र विशेषः ।

अभक्ते दीर्घत्वयः । स्वरहलादिः शेषविसर्जनीयप्रतिषेधः ।

यथाव्यवस्था च ।

यद्यभक्तः दीर्घत्वं न प्राप्नोति गीः पूः । रेफवकारान्तस्य धातोरिति दीर्घत्वं न प्राप्नोति ।

किं पुनः कारणं रेफवकाराभ्यां धातुर्विशेष्यते न पुनः पङ् विशेष्यते रेफवकारान्तस्य पदस्येति ।

नैनं शक्यम् । इति प्रसज्येत—अग्निर्यायुरिति ।

एवं तर्हि रेफवकाराभ्यां पङ् विशेष्यमाणा धातुनेकम् । रेफवकारान्तस्य पदस्येको धातुर्न प्राप्नोति ।

एवं प्रियं ग्रामीणि कुलमस्य प्रियग्रामणिः प्रियसेनानिः अत्रापि प्राप्नोति । तस्माद् धातुरेष विशेष्यते । धृतौ च विशेष्यमाणे इह

इन तीनों पक्षों में क्या विशेष है ?

रेफ को अभक्त मानने पर दीर्घ हरद्वय, यक् और अभ्यस्त का स्वर, हलादिः शेष, विसर्ग का निषेध और प्रत्यय की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती। गीः पूः ( गृ पृ क्रिश्चिश्चि ) यहाँ गिर पुर शब्दों में रेफ के अभक्त होने से रेफान्त धातु न होगा। बोलपथाया दीर्घ इक् से इक् को दीर्घ नहीं प्राप्त होता ।

क्या कारण है जो बोलपथाया ० सूत्र में रेफ और वकार से धातु को विशेषित किया है अर्थात् रेफवकारान्त धातु के इक् को दीर्घ माना जाता है, रेफवकारान्त पद के इक् को दीर्घ क्यों न माना जाय । गीः पू में रेफ के धातु का अभक्त होने पर भी रेफान्त पद होने से दीर्घ हो जायगा ।

ऐसा नहीं हो सकता । रेफ वकारान्त पद के इक् को दीर्घ मानने पर अग्निर्यायुर् यहाँ भी रेफान्त पद होने से इक् को दीर्घ प्राप्त होता है ।

शब्दा तो रेफ वकार से पद विशेषित करेंगे और धातु से इक् को । अर्थात् रेफवकारान्त पद के धातुसम्बन्धी इक् को दीर्घ होता है ऐसा अर्थ मानेंगे ।

ऐसा मानने पर भी प्रियं ग्रामणि कुलमस्य स प्रियग्रामणिः । प्रियं सेनानि कुलमस्य स प्रियसेनानिः यहाँ प्रियग्रामिर् प्रियसेनानिर् इस रेफान्त पद में नी धातु का इक् होने से दीर्घ प्राप्त होता है । इस लिये रेफवकारान्त धातु के इक् को ही दीर्घ मानना होगा । वैसा मानने पर गीः पूः में रेफ के धातु

दीर्घत्वं न प्राप्नोति गीः पूः ॥ दीर्घं ।

लत्व । लत्वं च न सिध्यति । गीः ल्यते । 'प्रो यङीति' लत्वं न प्राप्नोति ।

नैप दोषः । अ इत्यनन्तरयोगैषा पप् ।

एवमपि स्वर्जेल्यते इत्यत्रापि प्राप् ।

एवं तर्हि यङा आनन्तर्यं विशेषणीयम् । अथवा अ इति पञ्चमी । लत्व ।

यक्स्वर । यक्स्वरश्च न सिध्यति । गीयंते स्वयमेव पूर्यंते स्वयमेव । 'अच कर्तृयकी'त्येष स्वरो न प्राप्नोति रेफेण व्यवहितत्वात् ।

नैप दोषः । 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानम् भवतीति' नास्ति

का अभक्त होने से दीर्घ नहीं प्राप्त होता ।

रेफ को अभक्त मानने पर हर भी नहीं सिद्ध होता । निजेगित्यते (नि गृ यङ् त) यहाँ गिर के रेफ के अभक्त होने से गृ का रेफ न होगा तो प्रो यङि से लत्व नहीं प्राप्त होता ।

यह कोई दोष नहीं । प्रो यङि में अ यह सम्बन्ध यङी न मान कर अनन्तर सगन्ध में पठ्ठी मानेंगे । उससे गृ के अनन्तर रेफ को लत्व हो जायगा ।

फिर भी स्वर्जेल्यते (स्वर् गृ-यङ् त) यहाँ गृ के अन्तर पूर्व स्वर शब्द के रेफ को भी लत्व प्राप्त होता है ।

अष्टा तो यङ् पर रहते गृ के अनन्तर रेफ को लत्व मानेंगे । अथवा प्रो यङि में अः को पञ्चमी मान कर गृ से परे रेफ को लत्व मानेंगे तो कहीं पर दोष न होगा । उससे अभक्त पक्ष में भी निजेगित्यते में लत्व हो जायगा ।

रेफ को अभक्त मानने पर यक् स्वर भी सिद्ध नहीं होता । गीयंते पूर्यंते (गृ पू-यक् त) यहाँ यक् पर रहते गिर पुर में रेफ के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो अच कर्तृयकी से आशुदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता ।

यह कोई दोष नहीं । स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानम् इस परिभाषा से

व्यवधानम् । यक्स्वर ।

अभ्यस्तस्वर । अभ्यस्तस्वर इव न सिध्यति । मा हि स्म ते पिपरुः । मा हि स्म ते विभरुः । अभ्यस्तस्वराणां आदिस्वरात्तो भवति अजादौ लसार्वधातुके इत्येष स्वरः न प्राप्नोति । रेफेण व्यवहितत्वात् ।

नैप दोषः । 'स्वरा' व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवतीति नास्ति व्यवधानम् । अभ्यस्तस्वर ।

हलादिः शेषः । ह्रस्वः शेषश्च न सिध्यति । वृत्ते वृद्धे । अभ्यासस्येति हलादिः रेफः न प्राप्नोति । हलादिः शेषः ।

विसर्जनीय । विसर्जनीयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । नार्कुटो नार्पत्यः । 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्जनीयः प्राप्नोति । विसर्जनीयः ।

स्वर करने में रेफ व्यञ्जन अविद्यमान मान कर व्यवधान न होगा तो यक् स्वर हो जायगा ।

रेफ को अभक्त मानने पर अभ्यस्तस्वर भी सिद्ध नहीं होता । मा हि स्म ते पिपरुः (पृ-र-स्-तु) । मा हि स्म ते विभरुः (मृ-र-ह्-स्-ति) । यहाँ पृ मृ को जुसि च से गुप्त होने पर रेफ के अभक्त होने से उसका व्यवधान हो जायगा तो अभ्यस्तस्वर हलादि से विधीयमान अजादौ लसार्वधातुक जुस् पर रहते आधुनात स्वरिये प्राप्त होता । यहाँ माह् का योग अजागम को रोकने के लिये है । अभ्यस्तस्वर का स्वर हो जाता । का योग हि च से क्रिया के निघात को रोकने के लिये है ।

यह कोई दोष नहीं । यहाँ भी स्वरविधी व्यञ्जनमविद्यमानवन इस परिभाषा से रेफ को अविद्यमान मानि कर अभ्यस्त स्वर हो जायगा ।

रेफ को अभक्त मानने पर हलादिः शेष भी सिद्ध नहीं होता । वृत्ते वृद्धे (वृत् वृद्ध-लिट् त्) यहाँ अभ्यास में उरद्वच को रपर हो कर रेफ के अभक्त होने से अभ्यास का अण्वय रेफ न होगा तो हलादि शेष से उसकी निवृत्ति नहीं प्राप्त होती ।

रेफ को अभक्त मानने पर विसर्ग का प्रतिषेध कहना होगा । नार्कुटः नार्पत्यः (नृकुट्या नृपतौ वा भवः) वहाँ उद्धित पर रहते आदिबुद्धि हो कर नार् शब्द का रेफ है । वह पदसञ्ज्ञक नृ शब्द का अभक्त हो कर भी तदादि सुबन्त होने से पद हो जायगा तो खरवसानय विसर्जनीयः रेफ को विसर्ग प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा ।

प्रत्ययाव्यवस्था च, प्रत्यये च स्थानं न प्रकल्पते । किरतः  
गिरतः । रेफोऽप्यभक्तः प्रत्ययोपि, तत्र स्थानं न प्रकल्पते ।

एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते ।

पूर्वान्तर्व्यवधारणं विसर्जनीयप्रतिषेधो यकृत्स्वरश्च ।

यदि पूर्वान्तः रोऽव्यवधारणं कर्तव्यम् । 'रोः सुपि' रोरेव सुपि  
नान्यस्य । सर्पिषु धनुषु । इह मा भूत्-गीर्षु ।

परादावपि सत्यव्यवधारणं कर्तव्यम् । चर्जा इत्येवमर्थम् ।

विसर्जनीयप्रतिषेधः । विसर्जनीयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

रेफ को अभक्त मानने पर प्रत्यय की व्यवस्था से बच नहीं होती । किरत  
गिरत. (कृ गृ-श-तस्) यहाँ विकरण सज्ञक श प्रत्यय और इत्त्व की प्राप्ति  
में पर होने से इत्त्व पड़ेले ही जाता है । उसको रपर र रेफ के अभक्त होने  
से श प्रत्यय की व्यवस्था ही बनती । क्योंकि कि गिर में रेफ के धातु  
का अवयव न होने से उसमें व्यवधान हो जायगा तो श प्रत्यय न हो सकेगा ।  
रेफ भी अभक्त है श विकरण भी । यदि रेफ से पूर्व रे प्रत्यय करें तो रेफ  
इकार रूप अण से पर न रहेगा ।

अच्छा तो रेफ को पूर्वान्त मान लें ।

रेफ को पूर्वान्त मानने पर र का अवधारण करना ही अर्थात् रोः सुपि  
यह सूत्र नियमार्थ बनाना है । जिससे सप्तमी बहुवचन र के ही रेफ को  
विसर्ग हो अन्य रेफ को न हो । उससे गीर्षु पूर्षु ( गिर सुप् ) यहाँ र का  
रेफ न होने से खरवसानयो० से विसर्ग नहीं होता है । र्षु धनुषु (सर्पिस्  
धनुस् सुप्) यहाँ स् को र हो कर र का रेफ हो जाने से विसर्ग हो जाता  
है । परादि में तो रेफ पदान्त ही नहीं इस लिये वहाँ विसर्ग की प्राप्ति न होने  
से रो. सुपि यह नियम सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं ।

रो. सुपि यह नियम सूत्र तो रेफ को परादि जानने पर भी बनाना  
होगा । जिससे चतुर्थ (चतुर् सुप्) में चतुर् शब्द के पदान्त रेफ को  
खरवसानयो० से विसर्ग न हो जावे । चतुर् शब्द का रेफ स्वतः प्रातिपदिक का  
है वह रपर नहीं है जो गर्धु पूर्षु की तरह परादि माना जाय । अभक्त पक्ष  
में भी रो. सुपि यह नियम सूत्र बनाना अनिवार्य है । वहाँ भी लदादि वचन से  
अभक्त रेफ भी पदान्त हो जायगा तो विसर्ग प्राप्त होता है । इस प्रकार  
रोः सुपि इस नियम सूत्र का बनाना सब पक्षों में आवश्यक है ।

रेफ को पूर्वान्त मानने पर नार्हुटः नार्पत्यः (मुकुट्यां नृपतौ वा भव.) यहाँ

नार्कुटः नार्पत्यः सरस्वसानयोर्विर्जनीयः प्राप्नोति ।

परादावपि विसर्जनीयः । प्रतिपेधो वक्तव्यः । नार्कल्पिरित्येव-  
मर्थम् । कल्पपदसंघातभक्तोऽपि विसर्जनीयः । अतस्त्वहतेऽवयवस्य पदान्ततां विहन्तुमिति  
विसर्जनीयः प्राप्नोति ।

यक्स्वरः । यक्स्वरश्च सिध्यति । गीर्यते स्वयमेव । स्तीर्यते  
स्वयमेव । “अचः कर्तृयकीत्येव” इति सूत्रे न प्राप्नोति ।

नैप दोषः । उपदेश इति सूत्रे ।

नार् शब्द के पदान्त रेफ को, सरस्वसानयोर्विर्जनीय से विसर्ग प्राप्त होता है  
उसका निषेध कहना होगा ।

रेफ को परादि मात्रा पर भी नार्कल्पि में सरस्वसानयोः से विसर्ग  
प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा । नृकल्पस्य नार्कल्पि । (नृकल्प-  
इन्) यहाँ नृकल्प शब्द इन् प्रत्यय पर रहते आदि वृद्धि और रपर  
हो कर नार्कल्पि बनता है । परादि हो कर भी कल्पि इस इजन्त प्रत्यय  
समुदाय का अवयव होगा । कल्पि के अवयव कल्प नहीं । क्योंकि कल्पप्  
प्रत्यय पर रहते स्वादिष्ण (अस्थाने से विधीयमान नृ) की पदसंज्ञा तदादि  
इस अधिकार से रेफ नार् शब्द की होगी । रेफ कल्पि के प्रति  
परादि हो कर भी कल्पि प्रति अपनी पदान्तता नष्ट नहीं कर सकता  
इस लिये कल्प पर रहते रेफ होने से उसको विसर्ग प्राप्त होता है ।<sup>१</sup>

रेफ को पूर्वान्त में नार्कल्पि पर यक् स्वर नहीं मिलेगा । गीर्यते स्तीर्यते  
(गृ स्तृ-यक्-त्) यह गृ स्तृ धातु में रेफ के पदान्त होने से गृ स्तृ धातु  
अजन्त न रहेंगे तो कर्तृयकि से यक् पद रहते आद्युदात्त स्वर नहीं  
प्राप्त होता ।

अच कर्तृयकि में उपदेशात् विदुः उपदेशात् । उपदेश ग्रहण ही अनुवृत्ति  
कर के उपदेशावस्था में अच धातु लिया जाएगा । गृ स्तृ उपदेशानुस्था में  
अजन्त है ही । बाद में रेफ होने पर भी अच कर्तृयकि से यक्स्वर  
हो जायगा ।<sup>२</sup>

१. यहाँ पद से पारिभाषिक पद का ग्रहण नहीं । पल्लवेऽनेनार्थ इति पद  
प्रत्यय इस व्युत्पत्ति के आश्रयण रेफ का उच्चारण यहाँ प्रत्यय है ।

२. तीनों पक्षों में विसर्ग प्रतिषेध कहना पड़ेगा । अन यह कोई दाग नहीं  
यह भाष्य-तत्पर्य है ।

३. इस प्रकार पूर्वान्त पक्ष में कोई दोष न होगा । से सुपि यह नियम



अथवा पुनरस्तु परादिः ।

परादावकारलोपोत्त्वपुक्प्रतिषेधश्च । स्वत्वमिटोऽव्यवस्थाऽभ्यास-  
लोपोऽभ्यस्ततादिस्व । धित्वं च ।

यदि परादिः । अकारलोपः प्रतिषेधः । कर्ता हर्ता । 'अतो लोप  
आर्धधातुके' इत्यकारलोपः प्राप्नोति ।

नैप दोषः । उपदेश इति वर्तते ।

यद्युपदेश इति वर्तते, धिनुतः कृणुः अत्र लोपो न प्राप्नोति ।

नोपदेशग्रहणेन प्रकृतिरभिसम्बध्यते । के तर्हि । आर्धधातुकमभि-

अथवा रेफ को परादि ही मान लें ।

रेफ को परादि विनने में अकारलोप और पुक् का निषेध, चह्युपधाहस्व, हृद् की कर्त्ता स्थिति, अभ्यासलोप, अस्त्वन्, तादिस्वर और दीर्घ सिद्ध नहीं होते । अकारलोप का निषेध जैसे—कर्ता । (कृ हृ तृच्) यहाँ कृ हृ को अर्धगुण हो कर रेफ के परादि होने से अकारान्त अङ्ग हो जायगा तो अतो लोपः से आर्धधातुक पर रहते अकार को प्राप्त होता है । उस का निषेध कहना होगा ।

यह कोई दोष नहीं । अतो लोप. में अनुदात्त नति० से उपदेश की अनुवृत्ति आती है उससे उपदेशावस्था में जो अकार उसका लोप होगा । कर्ता हर्ता में कृ हृ इस उपदेशावस्था में अकार न होने से रेफ का लोप न होगा ।

यदि अतो लोपः में उपदेश की अनुवृत्ति है, उपदेशावस्था में अकारान्त का लोप होगा तो धिनुतः कृणुतः (धिन्व् कृण्व्) यहाँ धिन कृण के अकार का लोप नहीं प्राप्त होता । क्योंकि धिन्व् के उपदेशावस्था में अकारान्त नहीं हैं ।

अतो लोपः में उपदेश के सम्बन्ध प्रकृति धातु से नहीं है । अपितु

सूत्र बनाया हुआ है ही । अमक्त परादि पर भी यह बनाना आवश्यक है । नार्कटः नार्कट्यः में स्वरवसानयो० ई० अन्तरात् के प्रति बहिरङ्ग वृद्धि के असिद्ध होने से नार्क का रेफ दीखेगा नहीं । उसे विसर्ग न होगा । जिस प्रकार मिदचोऽन्यात्परः यदा मित आद्य को दीर्घ होने के कारण पूर्वान्त स्वीकार किया गया है उसी प्रकार यहाँ उरण् रपरः मन्त्र में अण् को होने वाला रपर भी निर्दीप होने से पूर्वान्त ही स्वीकार किया गया है ।

सम्यध्यते आर्धधातुकोपदेशे यन् आन्तमिति । अकारलोप ।

औत्स्व । औत्स्वं च प्रतिषेधः । अकार जहार । आत औ णल् इत्यौत्वं प्राप्नोति ।

नैप दोषः । निर्दिश्यमानादेशा भवन्तीत्येवं न भविष्यति ।

यस्तिर्हि निर्दिश्यते तस्मात्स्मान् भवति ।

रेफेण व्यवहितत्वात् ।

पुक्प्रतिषेधः । पुक् च प्रतिषेध्यः । कारयति हारयति । आतः पुगिति पुक् प्राप्नोति । पुक् प्रत्ययः ।

चरुपधाहस्य । उपधाहस्यत्व च न भविष्यति । अर्चीकरत् ।

आर्धधातुक प्रत्यय से है । आर्धधातुक प्रत्यय की रक्षावस्था में जो अकारान्त है उसके अकार का लोप होता है । धिनुत वृणुन में आर्धधातुक उ प्रत्यय की उपदेशावस्था में ही धिनि-वृणोत्च सूत्र द्वारा अकारान्तादेश होता है । इस लिये आर्धधातुकोपदेशका अर्थ धिनु वृण के अकारान्त होने से वहाँ अकार लोप हो जायगा ।

रेफ को परादि मानने पर औत्स्व का नियम कहना होगा । जैसे—अकार जहार ( ह ह-निष् ) यहाँ ह ह को हर् हो कर रेफ के परादि होने से अकारान्त अङ्ग हो जायगा तो आत औ णल् को औकार प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं निर्दिश्यमानस्यादेशात् । अतः इस परिभाषा से सूत्र में पड़ी विभक्ति से निर्दिष्ट किये हुए णल् के अकार को ही औकार होगा । यहाँ रेफ विशिष्ट णल् हो औकार नहीं होगा ।

इसका निर्देश है उस णल् को ही रेफ छोड़ कर क्यों नहीं औकार होता ?

उसको रेफ का व्यवहार होने से न होगा । इस प्रकार औत्स्व का दोष तो हट गया ।

रेफ को परादि मानने पर पुक् प्रत्यय कहना होगा । कारयति हारयति ( ह ह णिष् तिप् ) यहाँ ह ह को हर् हो कर रेफ के परादि होने से अकारान्त अङ्ग हो जायगा तो अर्चीकीरत् का आगम प्राप्त होता है ।

रेफ को परादि मानने पर चरु पर रहते उपधाहस्य भी सिद्ध नहीं

इत्युच्यते । च तत्रोपास्यते । वेदेपि । सोमस्य स्थाने  
पूतीकृतान्युपादितं भवति । ननु सोमो भूतपूर्वो भवति ।

कार्यविपरिणामाद्वा ।

अथवा कार्यविपरिणामात् सिद्धमेत

किमिदं कार्यविपरिणामादिति ।

कार्या बुद्धिः सा विपरिणम्यते ।

ननु च कार्यविपरिणामादिति भवितु

सन्ति चेजोत्तरपदिकानि ह्रस्वानि । पि च बुद्धि सम्प्रत्यय

उपाध्याय काम करता था वहा उसके अभाव में वही शिष्य काम करे । वेद में भी जैसे—सोमलता के अभाव में उसके न मिलने पर सोमलता के स्थान में पूतीक नामक घास शिष्य का अभिषेक कर ऐसा प्रयोग होता है । वही सोमलता हृदायी नहीं जाती बल्कि कहने का एक ढंग है कि सोमलता से अभिषेक होता था वहा उसके अभाव में पूतीक से कर लेते । इससे यह आवश्यक नहीं है कि पहले हो कर पीछे न होने वाले अर्थ में ही स्थान शब्द का प्रयोग होता है । जहां भूतपूर्व अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग होता है वहां उक्त उदाहरणों द्वारा अभूतपूर्व अर्थ में भी स्थान शब्द का प्रयोग इष्टिगोचर होता है इस लिये शब्द अनित्य नहीं होंगे । नित्य ही रहेंगे ।

अथवा कार्य का = बुद्धि का विपरिणाम होना ही स्थानी या आदेश समझा जायगा तो शब्द अनित्य न होंगे । बुद्धि का परिवर्तन मात्र ही स्थानी-आदेश-भान है । शब्द उसी प्रकार व्यवस्थित रहते हैं केवल हमारी बुद्धि ही स्थानी या आदेश रूप से परिवर्तित होता है ।

यह कार्य विपरिणामात् क्या है ?

कार्याया विपरिणामात् कार्यविपरिणामात् । कार्य बुद्धि नाम है । उसके विपरिणाम को परिवर्तन को कार्यविपरिणाम कहते हैं । उससे हेतु में पञ्चमी हो कर कार्यविपरिणामात् ऐसा बनता है ।

फिर तो कार्यविपरिणामात् ऐसा होना चाहिये । कार्यविपरिणामात् कैसे हुआ ?

उपाधो. संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् इस सूत्र में बहुल ग्रहण से औत्तरपदिक (उत्तर पद पर रहते) ह्रस्व हो कर कार्यविपरिणामात् बन जायगा । अथवा बुद्धि और सम्प्रत्यय (ज्ञान) ये दोनों अर्थान्तर हैं । एक ही अर्थ के वाचक हैं । क्रिया-

इत्यनर्थान्तरम् । कार्यं बुद्धिः । कार्यस्य सत्यस्य  
विपरिणामः कार्यविपरिणामः क. वप. नीमादि ।

परिहारान्तरमेवेदं मत्वा ।

कथं चेदं परिहारान्तरं सत्यम् ।

यदि भूतपूर्वं स्थानशब्देन ।

भूतपूर्वं चापि स्थानशब्दो वितीर्णः । कथम् । बुद्ध्या । तद्यथा कश्चित्  
कचिदुपदिशति प्राचीनं ग्रामं नूतना इति । तस्य सर्वत्रात्रबुद्धिः प्रसन्ता ।  
ततः पश्चादाह ये क्षीरिणोऽस्तेऽहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधा इति । स  
तत्रात्रबुद्ध्या न्यग्रोधबुद्धिं विपश्यते । स ततः पश्यति बुद्ध्या आन्नांश्चाप-

नियन्त होने में बुद्धि कार्य है । उनमें पुंलिङ्ग सम्प्रत्यय शब्द  
का समानाधिकरण कार्य शब्द मान कर कार्यस्थ सम्प्रत्ययन्य विपरिणाम कार्य-  
विपरिणाम तस्मान् कार्यविपरिणामात् यह निदेश बन जायगा । दोनों में अर्थ  
समान है । बुद्धिविपरिणाम मात्र ही स्थान्यादेशभाज है और उक्त नहीं ।

आपने कार्यविपरिणामाद्वा मिदम् यह समाधान दूसरा मान कर किया है ।  
वा कहने से यही भाव निकलता है कि पहले समाधान के अतिरिक्त यह दूसरा  
समाधान भी है ।

यह समाधान दूसरा किस प्रकार बन सकता है ।

यदि स्थान शब्द का प्रयोग भूतपूर्व अर्थ में भी मान लें । पहला समाधान  
तो अभूतपूर्व अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग मान कर किया गया था अब कार्य-  
विपरिणामाद्वा यह दूसरा समाधान भूतपूर्व अर्थ में स्थान शब्द का प्रयोग मान कर  
होना चाहिये ।

भूतपूर्व अर्थ में भी स्थान शब्द का प्रयोग होता है । कैसे ? बुद्धि से । क्योंकि  
किसी को हटा कर उसके स्थान में किसी को करना यह सब बुद्धि का ही  
परिणाम है । शब्द परिणत नहीं होते बल्कि बुद्धि ही परिणत होती है । जैसे  
कोई किसी से कहता है कि गाव से पूर्व को चोर आम के वृक्ष हैं । यह सुन  
कर वह सब वृक्षों को आम समझने लगता है । फिर उसे वह कहता है कि जो  
दूध वाले नाच को उतरी हुई नाखाभा वाले और चोड़े पत्ते वाले हैं वे वृक्ष  
के वृक्ष हैं । यह सुन कर आमों का रयाल छोड़ देता है वृक्षों का

कृष्यमाणं न न्यग्रोधः । नित्या एव च स्वस्मिन् विषये  
 आन्नाः । गश्च न्यग्रोधाः । विषय विपरिणम्यते । एवमिहाप्य-  
 स्तिरस्मात्पदशेषेणोपदिष्टस्तस्य सर्वस्त्वुद्धिः प्रसक्ता । सोऽस्तेभू-  
 रित्यनेनास्तिबुद्ध्या भवतिबुद्धिं प्रति । स ततः पश्यति बुद्ध्या  
 अस्ति चापकृष्यमाणं भवति चोपधीनम् । नित्य एव च स्वस्मिन्  
 विषयेऽस्ति, नित्यो भवतिश्च । बुद्धिस्तु विपरिणम्यते ।

अपवादप्रसङ्गस्तु स्याद्वत्त्वात् ।

अपवादे उत्सर्गकृतं च प्राप्नोति । कर्मण्यण्, आतोऽनुपसर्गे क इति  
 कपि अण्कृतं प्राप्नोति । किं कारणम् । स्थानिवत्त्वात् ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् । 'विषयेण तु नानालिङ्गकरणैः सिद्धमिति' । अथवा

ख्याल करने लगता है । तब उसे आम हटते हुए और बड़ उनके स्थान में  
 संनिहित हुए प्रतीत होते हैं । वस्तुतः आम अपनी जगह और बड़ अपनी जगह  
 नित्य अग्रस्थित हैं । न आम हटते हैं और न बड़ आते हैं । केवल उसकी  
 बुद्धि बदलती जाती है । वैसे यहाँ भी अस् घातु के सामान्य उपदेश से इस  
 अध्येता को सब जगह अस् का ही ख्याल होने लगता है । अस्तेभूः से अस् के  
 स्थान में भू कहने से अस् का ख्याल छूट कर भू का ख्याल हो जाता है ।  
 उसकी बुद्धि में अस् हटता हुआ और भू उपस्थित हुआ अनुभव होता है ।  
 वस्तुतः अस् और भू अपने २ विषय में अवस्थित ही हैं । केवल बुद्धि के परिवर्तित  
 होने से स्थानी या आदेश प्रतीत होते हैं ।

यदि बुद्धि परिवर्तन मात्र ही स्थानिवद्भाव है तो अपवाद सूत्र के कार्य में  
 उत्सर्ग सूत्र का कार्य भी प्राप्त होता है । जैसे कर्मण्यण् यह उत्सर्ग सूत्र है ।  
 आतोऽनुपसर्गे क इसका अपवाद है । उत्सर्ग अण् प्रत्यय की बुद्धि में अपवाद  
 क प्रत्यय के बुद्धिपरिवर्तन को स्थानिवद्भाव मान कर अस्तेभूः की तरह क प्रत्यय  
 में भी अण् का कार्य होना चाहिये ।

अपवाद में उत्सर्ग का कार्य नहीं होता इस विषय में पहले ज द उण्

१. वस्तुतः अर्कष (हटाना) तथा उपधान (लगाना) यह बुद्धि के धर्म हैं,  
 ये बुद्धि में होते हैं, दृष्टों में इनका आरोप हो जाता है । इसी प्रकार बुद्धि में ही  
 उत्पत्ति और विनाश तथा स्थान्यादेश भाव है, शब्दों में उसका आरोप होता है ।

सिद्ध तु पष्ठीनिर्दिष्टस्योऽशः ।

सिद्धमेतत् । कथम् । उपपत्तिर्निर्दिष्टस्योऽशः । निवदिति वक्तव्यम् ।

तत्तर्हि पष्ठीनिर्दिष्टग्रहणं व्यर्थम् ।

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते ।

क प्रकृतम् ?

पष्ठी स्थानेयोगेति । अथवा आचार्यप्रवृत्तिर्नापयति नापवादे उत्सर्गकृतं भवतीति यद्यप्यन्नादीन् काश्चित् शितः करोति । इयन् इन्म इना श इनुरिति ।

सूत्र के भाष्य में कह चुके हैं—विषयेण तु नानाविह्वलकरणान् सिद्धम् । उससे सूत्रों में अलग २ ण कट आदि अनुबन्ध रूप लिङ्ग लगाने से क प्रत्यय में अण का कार्य नहीं होगा । अथवा पष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानवत् ऐसा कह कर जहाँ पष्ठी विभक्ति का निर्देश होगा वहीं स्थानिवद्भाव हाता है ऐसा मानेंगे । उससे आतोनुपसर्गों कः इत्यादि प्रत्यय विधि में पष्ठी विभक्ति का निर्देश न होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो क में अण का कार्य नहीं प्राप्त होगा ।

तो फिर इस सूत्र में पष्ठीनिर्दिष्ट का ग्रहण कर देना चाहिये ।

ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं । ऊपर से अनुवृत्ति कर लेंगे ।

कहा से अनुवृत्ति करेंगे ।

पष्ठी स्थानेयोगा से पष्ठी की अनुवृत्ति करेंगे । उससे पष्ठी विभक्ति के निर्देश में ही आदेश स्थानिवद्भाव हाता अन्यत्र नहीं । अथवा आचार्य का व्यवहार इस बात का शापक है कि अपवाद में उत्सर्ग का कार्य नहीं होता । उन्होंने राष्ट्र के अपवाद इयन् इन्म इना श इनु आदि में जा । शत् किया है उससे यह बात सिद्ध होती है । अन्यथा उत्सर्ग राष्ट्र प्रत्यय का शस्त्र इयन् आदि में स्थानिवद्भाव से का ही जाता तो इयन् आदि को ज्ञात करना व्यर्थ है ।

१ इसी प्रकार गापोट्क में क प्रत्यय के अपवाद टक प्रत्यय का कित्व भी इस बात का शापक है कि अपवाद में उत्सर्ग का कार्य नहीं होता । अन्यथा क प्रत्यय का कित्व ट्क में आ ही जाता तो फिर ट्क को कित्व करना व्यर्थ है । यद्यपि पष्ठीनिर्दिष्ट में ही स्थान्यादेश भाव मानने पर नाभि नभं च, विश्रवण रवण इत्यादि में पष्ठी का निर्देश न होने से नाभि के स्थान में नभ आदेश तथा विश्रवस्

उभयप्रतिषेधः ।

तस्य लक्ष्यस्य दोषः । उभयप्रतिषेधो वक्तव्यः ।  
उभये देवमनुष्याः । तयपो ग्रहणेन त्रिं जसि विभाषा प्राप्नोति ।

नैष दोषः । अयच् प्रत्ययान्तरम् ।

यदि प्रत्ययान्तरम्, उभयी इति इकारो न प्राप्नोति ।

मा भूदेवम् । मात्रच इत्येवं भविष्यति । कथम् । मात्रजिति नेदं  
प्रत्ययग्रहणम् । किं तर्हि । प्रत्याहारग्रहणम् । क संनिविष्टानां प्रत्याहारः ।  
मात्रशब्दात् प्रभृति आ अयचश्चकारात् ।

अत्र स्थानितसूत्र के दोष गिनाते हैं । तयप् के आदेश में उभय शब्द  
का प्रतिषेध कहना होगा । उभये देवमनुष्याः । यहाँ उभ शब्द से परे तयप् के  
के स्थान में उभाडुदातो नित्यम् से अयच् आदेश हो कर उभय शब्द बनता  
है । अयच् आदेश को इस सूत्र से स्थानित्व मान कर तयप् समझा जायगा  
तो उभय से जस् परे रहते प्रथमचरमतयात्पार्थ० सूत्र से सर्वनामसंज्ञा का  
विकल्प प्राप्त होता है । सर्वादीनि सर्वनामानि से नित्य सर्वनामसंज्ञा इष्ट है ।

यह कोई दोष नहीं । उभय शब्द में तयप् को अयच् आदेश न मान कर  
स्वतन्त्र अयच् प्रत्यय मानेंगे । उस अवस्था में स्थानित्वज्ञात्र का प्रश्न ही  
नहीं उठता ।

यदि अयच् को स्वतन्त्र प्रत्यय मानेंगे तो उभयी में तयप् न होने से  
टिड्ढाणन्० से ङीप् नहीं प्राप्त होता ।

उभयी में तयप् न होने के कारण ङीप् न हो, किन्तु मात्रच् होने के कारण ङीप्  
हो जायगा । क्योंकि मात्रच् को प्रत्यय न मान कर प्रत्याहार मानेंगे । प्रत्याहार  
कहाँ से कहाँ तक होगा ? प्रमाणे द्वयसज दध्न्ञ् मात्रचः के मात्र शब्द से छे कर

के स्थान में विध्रवण रवण ये आदेश नहीं प्राप्त होते तो नाभि नभं च यहाँ  
नाभि यह पंक्ति के अर्थ में सौत्र प्रथमा समझनी चाहिये । विध्रवण रवण तो  
विध्रवस् के स्थान में आदेश न मान कर स्वतन्त्र शब्दान्तर मान लिये जायेंगे ।  
क्योंकि शिवादिगण में स्वतन्त्र ही पड़े गये हैं । जिस प्रकार वदर्थ शब्द में विदूर  
यह शब्दान्तर माना जाता है । वालवाय के स्थान में विदूर आदेश नहीं है । आदेश  
मानने पर तो वहाँ भी पंक्तिनिर्देश आवश्यक है । इस विषय में सर्वादीनि सर्वनामानि  
सूत्र भाष्य में शब्दादेशाः इत्यन्नादयः करिष्यन्ते इस पर टि० भी द्रष्टव्य है ।



उद्याब्रह्मणेऽदीर्घ आदेशो स्थानिवदिति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । निष्कौशाम्बिः । अतिखट्वदि । उद्याब्रह्मणेन ग्रहणात् सुलोपो मा भूदिति ।

ननु च दीर्घादित्युच्यते ।

तन्न वक्तव्यं भवति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

स्थानिवद्भाष्यप्रतिषेध एव ज्यायान् । इदमपि सिद्धं भवति अतिखट्वाय अतिमालाय । याडाप इति याङ् न भवति ।

उस बहुत्व को कहने के लिये बहुवचन भ्यस् हो कर व्रीहिभ्यः यह बहुत्वार्थक शब्द प्रयुक्त होता है । उससे व्रीहिभ्य मे डे के स्थान में भ्यस् आदेश न होने से गुण का क ई प्रसङ्ग ही नहीं ।

की और आप् के ग्रहण मे अदीर्घ दीर्घभिन्न अर्थात् ह्रस्व आदेश के स्थानिवद्भाव का निषेध कहना होगा । निष्कौशाम्बिः ( निरुतः कौशाम्ब्याः ) । आतिखट्व ( खट्वात्मसिक्रान्त ) । यहाँ गोत्रिग्रयोरपसर्जनस्य से ह्रस्व हुप् छयन्त आवन्त कौशाम्बी और खट्वा शब्द को स्थानिवद्भाव से छयन्त आवन्त मान कर हल्छयाप्० सूत्र से सु का लोप प्राप्त होता है । वह न होवे ।

हल्छयाप्० सूत्र में तो दीर्घ ग्रहण किया हुआ है । दीर्घ की और आप् से परे सु का लोप होगा । निष्कौशाम्बिः अतिखट्व. मे दीर्घ न होने से सुलोप कैसे होगा ।

यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध कर देने से हल्छयाप्० सूत्र में दीर्घ ग्रहण नहीं करना पड़ेगा ।

इन दोनों मे कौन अधिक अच्छा है । यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध करें या वहाँ दीर्घ ग्रहण करें ?

यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध कर देना ही अधिक अच्छा है । इससे दो लाभ होंगे । एक तो हल्छयाप्० सूत्र मे दीर्घग्रहण नहीं करना पड़ेगा । दूसरा अतिखट्वाय अतिमालाय यहाँ अतिखट्व अतिमाल शब्द को स्थानिवद्भाव से आवन्त मान कर याडापः से याङ् न होगा । क्योंकि स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से अतिखट्व अतिमाल ये आवन्त न रहेंगे ।



अथेदानीमसत्यपि स्था ~~निवद्वावे~~ <sup>निवद्वावे</sup> भूतपूर्व  
इति कृत्वा याद् कस्मान्न भर्वा ।

‘लक्षणप्रतिपदोक्तयोः । दीक्तस्यैवेति ।

ननु चेदानीं सत्यपि स्थानिवद्भावे एतया परिभाषया शक्यमिहो  
पस्थातुम् ।

नेत्याह । न तर्हीदानीं कचिदपि स्थानिवद्भावः स्यात् ।

तत्तर्हि वक्तव्यम् ।

न वक्तव्यम् । प्रश्निष्टनिर्देशात् सिद्धम् । प्रश्निष्टनिर्देशोऽयम् ।  
ई ई ईकारान्तात् । आ आप् आकारान्तादिति ।

आहिभुयोरीट्प्रतिषेध ।

अच्छा तो अतिखट्वाय अतिमालाय यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने  
पर भी य पर रहते सुपि च से हुए दीर्घ आ, और पहले रह चुके आप  
के पकार को मिला कर आप् हो जाने से याडाप से याट क्यों नहीं होता ?

लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा बल से लक्षण से निःपन्न लाक्षणिक आप्  
को आप् न माना जायगा तो अतिखट्वाय अतिमालाय में आवन्त न होने से याट्  
नहीं होता ।

यू तो निष्कौशाम्बि. अतिखट्व. में भी स्थानिवद्भाव से माना हुआ इयन्त  
आवन्त लाक्षणिक हो जाता है तो लक्षण प्रतिपदोक्त परिभाषा को यहाँ भी उपस्थिति  
हो कर ये भी इयन्त आवन्त नहीं मानने चाहिये ।

ऐसी बात नहीं है । ऐसा माने पर तो फिर कहीं भी स्थानिवद्भाव न  
होगा । क्योंकि जहाँ स्थानिवद्भाव किया जायगा वही लाक्षणिक हो जायगा ।

इस लिये कथाप् ग्रहण में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये ।

कथाप् ग्रहण में स्थानिवद्भाव के निषेध कहने को कोई आवश्यकता नहीं ।  
निष्कौशाम्बि अतिखट्व यहाँ ह्रस्व इयन्त आवन्त में सु का लोप नहीं होगा ।  
क्योंकि हल्कथाप्० सूत्र में टी ई = डी । आ आप् = थाप् । इस प्रकार दीर्घ ई  
आ का प्रश्निष्ट निर्देश मानेंगे । उससे दीर्घ इयन्त आवन्त से परे ही सु का  
लोप होगा । ह्रस्व से परे नहीं । ई आ के प्रक्षेप से सूत्र में दीर्घग्रहण भी न  
करना पड़ेगा ।

आहिभुवोरीदः चत्तः आत्थ अभूत् । १. १. १०  
ग्रहणादीद् प्राप्नोति ।

आहेस्तावन्न वक्तव्यः । आचार्येणान्तिर्ज्ञापयति नाहेरीद् भवतीति ।  
यदयमाहस्थ इति श्रुत्यादिप्रकरणे यत्वं शोभते ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ।  
भूतपूर्वगतित्यथा विज्ञायेत । श्रुत्यादियौ भूतपूर्व इति ।

यद्येवं यवचनमनर्थकं स्यात् । आथिमेवायमुच्चारयेत् । प्रव-  
पञ्चानामादित आथो द्रव्यः इति ।

आह, भू मे ईद का निषेध कहना होगा । आत्थ (भू-लट् तिप् थल्) यहाँ  
भू धातु के स्थान में भुवः पञ्चानामादितः० से हुए आह आदेश को स्थानिवद्भाव  
से भू मान कर भुव ईद से थल् को ईद प्राप्त होता है । अभूत् (भस्-लुङ्)  
यहाँ भस् के स्थान में अस्तेर्गू से हुए भू आदेश को स्थानिवद्भाव से भस् मान  
कर अस्तिसिचोऽपृक्तं से तिप् को ईद प्राप्त होता है ।

आह मे तो ईद के निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । आहस्थः सूत्र से  
जो आह के प्रकार को जल् पर रहते प्रकार कहा है वह आचार्य का व्यवहार इस  
बात का ज्ञापक है कि ईद नहीं होता । अन्यथा थल् को ईद हो कर जल् पर  
न होगा तो प्रकार कहना ध्यर्थ है ।

यह कोई ज्ञापक नहीं । जल् पर रहते प्रकार विधान का प्रयोजन तो ईद  
करने पर भी रह सकता है । क्या ? जो पहले श्रुत्यादि रह चुका है उस प्रत्यय  
के पर रहते आह को प्रकार हो । वह केवल थल् ही है क्योंकि जल् अतुस्  
उस् अधुस् इन चारों में भूतपूर्व श्रुत्यादि कोई भी नहीं । इस लिये ईद करने पर  
भी भूतपूर्व श्रुत्यादि मान कर थल् के पर रहते आह को प्रकार हो सकता है ।

तब तो आहस्थ से प्रकार विधान करना ही ध्यर्थ है । भुवः पञ्चानामादितः०  
इस सूत्र में आचार्य आह आदेश न कह कर आप् आदेश ही कह देते ।  
भूतपूर्व गति से श्रुत्यादि मानने पर जल् अतुस् उस् थल् अधुस् ये पाँचों ही  
तिप् तन त्रि तिप् थस् के स्थान में होने से श्रुत्यादि बन जाते हैं । इस लिये  
आहस्थः सूत्र में भूतपूर्व गति से श्रुत्यादि नहीं माने जायेंगे तो आत्थ में ईद होने  
पर श्रुत्यादि न होगा । श्रुत्यादि पर न रहने से प्रकार न हो सकेगा । प्रकार विधान  
सामर्थ्य से ईद का अभाव हो जायगा उसके लिये स्थानिवद्भाव के निषेध की  
आवश्यकता नहीं ।

भवतेऽपि न वक्तव्यः ~~अस्तिस्मिचोऽपृक्ते~~ इति द्विसकारको  
निर्देशः । अस्ते. सकारान्तादि।  
वध्यादेशे वधकं वृद्धित्वप्रतिषेध

वध्यादेशे वृद्धित्वयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः । वधकं पुष्करमिति ।  
स्थानिवद्भावाद् वृद्धित्वे प्राप्नुतः ।

नैप दोषः । उक्तमेतत्—नाय ण्वुल् । अन्योऽयमकशब्दः किदौणा-  
दिको रुचक इति यथेति ।

इङ्गविधिश्च ।

इङ् विधेयः । आवधिपीष्ट । एकाच उपदेशेऽनुवात्तादितीद्

भू में भी ईद् के निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । अस्तिसिचोऽपृक्ते सूत्र  
में अस्तिसिचोऽपृक्ते' इस प्रकार असून यह दो सकार वाला प्रदिएष्ट निर्देश है ।  
उससे सकारान्त अस् धातु से परे ही अपृक्क हलादि सार्वधातुक को ईद् होगा ।  
अन्नेर्भू से हुए भ आदेश वाले अस से ईद् नहीं होगा ।

हन् को वधादेश होने पर वृद्धि और तकार का निषेध कहना होगा ।  
वधकम् यहाँ हन्-ण्वुल् इस अत्रस्था में बहुल ताण इस धार्मिक से हन् के स्थान  
में हुए वध् आदेश को स्थानिवद्भावात् से हन् मान कर हनस्तोचण्णलोः से तकार  
और उपधावृद्धि प्राप्त होती है ।

यह कोई दोष नहीं । इसी सूत्र में पहले कह चुके हैं कि वधक में ण्वुल्  
प्रत्यय नहीं है । अपितु ण्वुल् से अन्य यह औणादिक वयुन् प्रत्यय है जो कित्  
है जैसे—रुचक यहाँ वयुन् के कित् होने से लृपूपधगुण नहीं होता वैसे  
वधकम् में वयुन् प्रत्यय के णित् न होने से उपधावृद्धि और तकार नहीं होंगे ।

हन् को वध् आदेश होने पर इद् का निधान भी करना होगा । आवधिपीष्ट  
(आङ् हन्-सीयुद् सुट् लिङ्) यहाँ आङ्पूर्वक हन् धातु से आओ यमहनः  
से आरम्भेपद होता है । आरीलिङ् में हना वव लटि से अगले आरम्भेपदेध्वन्य-

१ यहा नामेश न अस्तिसिचो० इस प्रकार द्विसकारान्त निर्देश वाला सूत्र  
पाठ स्वीकार किया है । वह मय्यमणिन्याय या देहलीर्दापक न्याय से सकार का  
मम्बन्ध अस्ति और सिच दोनों म जोड़ना चाहते हैं । उसमें अभून् में अत् के साथ  
ही सिच मी छुद् होने से वयमान नहीं है अतः सर्वथा ईद् न होगा ।



नैप दोषः । लीभियो प्रा ~~लिभियोः प्रलिप-~~  
निर्देशोऽयम् । ली ई ईकारान्तस्त्वं वपुः ई ईकारान्तस्येति ।

लोडादेशे शाभावजनावधित्वहिलोपैत्वप्रतिषेधः ।

एषां लोडादेशे प्रतिषेधो यक्तव्यः । शिष्टात् । हतात् । भिन्तात् ।  
कुरुतात् । स्तात् । लोडादेशे कृत शाभावो जभावो धित्वं हिलोप एत्व-  
मित्येते विधयः प्राप्नुयन्ति ।

नैप दोषः । इदमिह सम्प्रधार्यम् । लोडादेशः क्रियतामेते विधय  
इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्वाल्लोडादेशः ।

अथेदानीं लोडादेशे कृते 'पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् कस्मादेते विधयो

वज्राव से ली भी मान कर लीलोर्नुग्लुकावन्त्य० से ली में लुक् का आगम और  
भयो हेतुभये पुक् से भी मे पुक् का आगम प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । लीलोर्नुग्लुका० में और भियो हेतु० में ली ई ली और  
भी ई भी इस प्रकार ईकार का प्रदिशनिर्देश मान कर ईकारान्त ली भी मे ही  
लुक् पुक् आगम होंगे । विलापयति, भाषयते में ईकारान्त ली भी न होने से लुक्  
पुक् नहीं होंगे ।

लोड् एकार के हि के स्थान में तातड् आदेश होने पर शाभाव, जभाव,  
धित्व, हिलोप और एत्व में विधियाँ प्राप्त होती हैं उनका निषेध कहना होगा ।  
शिष्टात् हतात् भिन्तात् कुरुतात् स्तात् यहाँ क्रम से शास् हन् भिद् ह और  
अस् के लोड् एकार में सिप् की हि के स्थान में हुप् तातड् आदेश को  
स्थानिवज्राव से हि मान कर शास् को शा हौ से शा आदेश, हन् को हन्तेर्ज,  
से ज आदेश, भिद् से परे हुञ्जल्भ्यो० से हि को धि आदेश, कृ से परे  
उतदथ प्रत्ययादसंयोगपूर्वान् से हि का लुक्, और अस् को षसोरेद्धावभ्यासलोपद्व  
से एत्व प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । यहाँ यह विचारिये कि हि के स्थान में तातड् आदेश  
पहले करें या शास् आदि का शा आदेश आदि कार्य पहले करें । क्या करना  
चाहिये । दोनों में पर होने से हि के स्थान में तातड् पहले हो जायगा तो  
हि के न रहने से उसके पर रहते होने वाले शा आदेश आदि कार्य स्वतः निवृत्त  
हो जायेंगे ।

पहले तातड् आदेश होने पर भी स्थानिवज्राव से तातड् को हि मान

न भवन्ति ।



‘सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितमेवेति कृत्वा ।

त्रयादेशे सन्तप्रतिषेधः ।

त्रयादेशे सन्तस्य प्रतिषेधो वस्तव्यः । तिसृभावे कृते त्रेस्त्रय इति त्रयादेशः प्राप्नोति ।

नैष दोषः । इदमिह सम्प्रधार्यम्, तिसृभावः क्रियतामाहोस्वित् त्रेस्त्रय इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्वात् तिसृभावः ।

अथेदानीं तिसृभावे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् त्रयादेशः कस्मान्न भवति ।

मान कर पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् इस परिभाषा द्वारा फिर सा भाव आदि कार्य क्यों नहीं होते । इस परिभाषा का अर्थ है कि विप्रतिषेध में परस्व से बाधा हो कर भी यदि बाधित सूत्र की पुनः प्राप्ति संभव हो तो वह फिर हो जाती है । तातद् आदेश द्वारा परत्वात् बाधित होने पर भी सा आदि आदेश स्थानिवद्भावे से तातद् को ही मान कर पुनः प्राप्त है ।

सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधित तद् बाधितमेव इस परिभाषा से पुनः प्रसङ्गविज्ञान की बाधा है । जायगी तो तातद् द्वारा एक बार बाधे जाने पर सा भाव आदि फिर नहीं हो सकते । इस परिभाषा का अर्थ है कि एक बार प्रवृत्त विप्रतिषेध में जो बाधा गया वह बाधा गया ही समझना चाहिये । वह फिर नहीं प्रवृत्त हो सकता । पुनः प्रसङ्ग विज्ञान न्याय और सकृद्गतिसिद्धये ये दोनों लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं । इष्टसिद्धि के लिये जिस न्याय की जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ वही न्याय मान लिया जाता है ।

त्रयादेश कहने में स्र शब्दान्त तिस्र शब्द का निषेध कइना होगा । तिस्रणाम् यहाँ स्त्रीलिङ्ग में त्रिचतुरो स्त्रिया तिस्रचतस्र से त्रि के स्थान में हुए तिस्र आदेश को स्थानिवद्भावे से त्रि मान कर त्रेस्त्रय से त्रयादेश प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । यहाँ यह निश्चय करना चाहिये कि त्रि शब्द के स्थान में तिस्र आदेश पहले करें या त्रय आदेश पहले करें । क्या करना चाहिये । पर होने से तिस्र आदेश पहले हो जायगा तो त्रि के न रहने से त्रय आदेश न होगा ।

तिस्र आदेश पहले करने पर भी पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय से फिर त्रयादेश

सहृद्गतौ विप्रतिपेधे यद् वाधित तद् वाधितमेवेति ।

आर. उपपन्नं च ।

आम्बिधौ स्रन्तस्य प्रतिपेधो वस्तव्यः । चतस्रस्तिष्ठन्ति । चतस्र्भावे कृते चतुरनङ्गहोरासुदात्त इत्याम् प्राप्नोति ।

नैप दोष । इदमिह सम्प्रधार्यम्, चतस्र्भावः त्रियतामाहोस्वित् चतुरनङ्गहोरासुदात्त इत्याम् इति । किमत्र कर्तव्यम् । परत्यात् चतस्र्भावः ।

अथेदानीं चतस्र्भावे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानाद् आम् फरमान्न भवति ।

सहृद्गतौ विप्रतिपेधे यद् वाधित तद् वाधितमेवेति ।

स्थरे प्रसादेशे ।

स्थरे प्रसादेशे प्रतिपेधो वक्तव्यः । विदुषः पद्य । 'शतुरुमु

क्या नहीं होता । स्थानिवद्भावे से तिम को त्रि मान कर प्रसादेश प्राप्त है ।

सहृद्गतिन्याय से तिष्ठ आदेश द्वारा एक बार त्रय आदेश क बाध जान से फिर त्रयादेश नहीं होगा ।

चतुरनङ्गहोरासुदात्त से आम् करने में स्र शब्दान्त चतस्र् शब्द का निरुध करना होगा । चतस्र (चतुर-न्त) यद्वा चतुर शब्द के स्थान में स्त्रालिङ्ग में त्रिचतुरो म्रिया० में हुए चतस्र् आदेश को स्थानिवद्भावे स चतुर मान कर चतुरनङ्गहोरासुदात्त से आम् प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । यद्वा यह विचारना चाहिये कि चतुर शब्द क स्थान में चतस्र् आदेश पहले करें या चतुरनङ्गे० में चतुर को आम् भागम पहले करें । क्या करना चाहिये । पर होने से चतस्र् आदेश पहले हा पावगा तो अम् भागम न होगा ।

चतस्र् आदेश पहले करने पर भी पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय स फिर आम् भागम क्यों नहीं होता । स्थानिवद्भावे से चतस्र् को चतुर मान कर आम् प्राप्त है ।

सहृद्गति न्याय से चतस्र् आदेश द्वारा अम् भागम के एक बार बाध जाने पर फिर आम् भागम नहीं होगा ।

यसु आदेश करने पर स्वर का निषेध कहना होगा । विदुषः पद्य (विद्वत्-

नद्यजादी' अन्तोदात्तते ।

नैष दोषः । अनुम् इति प्राप्तिः विध्यति ।

अनुम् इत्युच्यते न चात्र नुमं पक्ष्यामः ।

अनुम् इति नेदमागमग्रहणम् । किं तर्हि । प्रत्याहारग्रहणम् ।  
क सनिविष्टानां प्रत्याहारः । उकारात् प्रभृति आ नुमो मकारात् ।

यदि प्रत्याहारग्रहणं, लुनता पुनता अत्रापि प्राप्नोति ।

नानुमग्रहणेन शत्रन्त विशेष्यते । किं तर्हि शतेव विशेष्यते शता

शस्) यहाँ विद्स् शब्द में विद् से परे शतृ प्रत्यय के स्थान में विदे, शतुर्वसुः से हुए वसु भादेश को स्थानिवद्भावे से शतृ मान कर शतुरनुमो नद्यजादी से शस् विभक्ति को उदात्त स्वर प्राप्त होता है । अन्तोदात्त शतृ प्रत्यय से परे नदी और अजादि सर्वनामस्थान भिन्न विभक्ति को उदात्त किया जाता है ।

यह कोई दोष नहीं । शतुरनुम् • सूत्र में अनुमः कहने से विदुष में स्वर का निषेध हो जायगा ।

अनुम् कहा है । उसका अर्थ नुम् भिन्न है । नुम् भिन्न अन्तोदात्त शतृ प्रत्यय से परे विभक्तिस्वर होता है । विदुषः में नुम् है नहीं तो यह भी नुम् भिन्न है । उस अवस्था में अनुम् यह निषेध कैसे हो जायगा ।

अनुम् का अर्थ नुम् भिन्न नहीं है । नुम् आगम का वहाँ ग्रहण नहीं है । किन्तु उम् प्रत्याहार का ग्रहण है । न उम् = अनुम्, अनुमः इस प्रकार उम् प्रत्याहार भिन्न अन्तोदात्त शतृ प्रत्यय से परे विभक्तिस्वर होगा । कहाँ से कहाँ तक उम् प्रत्याहार है । तनादिङ्गन्त्य उ सूत्र के उकार से लेकर इदितो नुम् धातो- में नुम् के मकार तक उम् प्रत्याहार बनता है । उसमें विदे शतुर्वसुः यह वसु भादेश भी आ लिया है इस लिये वसु के उम् भिन्न न होने से विदुषः में विभक्ति स्वर नहीं होगा । यद्यपि शतृ भी उम् प्रत्याहारान्तर्गत होने से उम् भिन्न नहीं है फिर भी यह तो शतृ- इस वचन से गृहीत हो जायगा ।

यदि शतुरनुम् सूत्र में अनुम् का अर्थ नुम् भिन्न न मान कर उम् भिन्न मानेंगे तो लुनता पुनता (लुनन् पुनन्-त्) यहाँ ए पू धातुओं से शतृ पर रहते विहित इना मिकरण भी उम् प्रत्याहारान्तर्गत होने से उम् भिन्न न होगा तो विभक्ति स्वर नहीं प्राप्त होता । अनुम् यह निषेध प्राप्त होता है ।

शतुरनुम् सूत्र में अनुम् ग्रहण से शतृप्रत्ययान्त को विशेषित नहीं



योऽनुम्क इति । अवश्यं चैतदेवं गोः शब्दोऽनुम्कत्वे गोः हि सतीह प्रस-  
ज्येत-मुञ्चता मुञ्चते इति ।

गो. पूर्वणित्वात्प्रत्ययस्य ।

गो. पूर्वणित्वात्प्रत्ययस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । चित्रग्वग्रम् ।  
शबलग्वग्रम् । सर्वत्र विभाषा गोरिति विभाषा पूर्वत्वं प्राप्नोति ।

नैप दोषः । एङ् इति वर्तने । तत्रानलविधायिति प्रतिषेधो

किया जाता । अर्थात् अनुम् यह शतृ प्रत्ययान्त का विशेषण नहीं है बल्कि  
शतृ प्रत्यय का विशेषण है । उम् रहित जो शतृ प्रत्यय तदन्त अन्तोदात्त  
शब्द से परे विभक्तिस्वर हाता है । लुनता पुनता में शतृप्रत्ययान्त लुन्त  
पुनन् शब्द के उम् भिन्न न होने पर भी शतृ प्रत्यय उम् भिन्न ही है । शतृ  
प्रत्यय में कहीं उम् नहीं है । इना प्रत्यय शतृ प्रत्यय से परे नहीं विहित हुआ  
है । शतृ प्रत्यय स्वयं उम् होता हुआ भी शतृः इस वचनसामर्थ्य से गृहीत  
होगा तो अनुम् यह निषेध न लगने से लुनता पुनता में स्वर हो जायगा ।  
यह बात यहाँ अवश्य माननी भी चाहिये कि शतृ प्रत्यय ही उम् भिन्न लिया  
गया है । शतृ प्रत्ययान्त नहीं लिया गया है । अनुम् का अर्थ नुम् भागम  
भिन्न मानने पर भी शतृ प्रत्यय का ही विशेषण नुम् माना जायगा, शत्रन्त  
का नहीं । अन्यथा मुञ्चना मुञ्चते ( मुच्-ता शतृ-टा, दे ) यहाँ भी मुञ्चन् यह  
शतृप्रत्ययान्त शब्द नुम् भिन्न नहीं है । शतृप्रत्यय तो नुम् भिन्न है । इस  
लिङ्ग शतृ प्रत्ययान्त का विशेषण मानने पर मुञ्चता मुञ्चते में भी नुम् भिन्न  
न होने से विभक्तिस्वर नहीं प्राप्त होता । वहाँ भी अनुम् यह निषेध प्राप्त  
होगा । जब नुमागमभिन्न अर्थ मानते हुए अनुम् को शतृप्रत्यय का ही विशेषण  
मानते हैं, शत्रन्त का नहीं तो उम् प्रत्याहार भिन्न अर्थ मानते हुए भी उम्  
को शतृ प्रत्यय का ही विशेषण समझेगे शत्रन्त का नहीं । इस प्रकार कहीं  
दोष न होने से विदुष में विभक्तिस्वर न होगा ।

गो शब्द का पूर्वरूप, णित्वा आत्य और स्वर करने में निषेध कहना होगा  
चित्रगु+अग्रम्=चित्रग्वग्रम् । शबलगु+अग्रम्=शबलग्वग्रम् । यहाँ चित्रगु, शबलगु  
शब्दों में गो शब्द के स्थान में गोहिगोहोत्पसर्जनस्य से हुए हम्ब आदेश को स्थानिवद्भावात्  
से गो मान कर सर्वत्र विभाषा गो से पूर्वरूप अथवा प्रकृतिभाव का विकल्प  
प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । सर्वत्र विभाषा गोः में एङ्. पदान्तादिति से एङ्

भविष्यति ।

एवमपि हे चित्रगो अग्रम् यहाँ प्राप्नोति ।

णित्वम् । चित्रगुः । चित्रगू । चित्रगवः । 'गोतो णिदि'ति णित्वं प्राप्नोति । आत्वम् । चित्रगु पश्य । शबलगुं पश्य । आ ओत इत्यात्वं प्राप्नोति ।

नैप दोषः । तपरकरणात् सिद्धम् । तपरकरणसामर्थ्यात् णित्वात्वे

की अनुवृत्ति आती है । उससे गो शब्द के एङ् को पूर्वरूप का विकल्प होगा । गो शब्द को नहीं । एङ् के अल होने से अलविधि हो जायगी तो चित्रगु यहाँ ह्रस्व आदेश में गो का एङ् स्थानिवद्भाव से नहीं आ सकता । एङ् न होने से चित्रगवप्रम् में पूर्वरूप का विकल्प भी न होगा ।

चित्रगवप्रम् में स्थानिवद्भाव से एङन्त गो शब्द न होने से वहाँ दोष न होने पर भी हे चित्रगो अग्रम् यहाँ सम्बोधन में चित्रगु को गुण हो कर गो शब्द हो जाने से पूर्वरूप का विकल्प प्राप्त होता है । यद्यपि सम्बोधन में गुण हो कर बना हुआ गो शब्द लाक्षणिक है इस लिये लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा से सर्वत्र विभाषा गोः में इसका ग्रहण न हो कर पूर्वरूप का विकल्प प्राप्त नहीं होता तो भी स्थानिवद्भाव से गो शब्दत्वं ला कर पूर्वरूप का विकल्प प्राप्त होता है उसके लिये स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये ।

णत्व जैसे—चित्रगु । चित्रगू । चित्रगव । यहाँ गो शब्द के स्थान में हुए ह्रस्व आदेश को स्थानिवद्भाव से गो मान कर गोतो णित् से सर्वनामस्थान विभक्ति को णित्व प्राप्त होता है । चित्रगुम्, शबलगुम् यहाँ औतोम्शसो से आकार एकादश प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । गोतो णित् और औतोम्शसो में गोतः ओतः

१. यहाँ भाष्यकार ने हे चित्रगो अग्रम् के दोष का परिहार नहीं किया उससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस दोष का परिहार हो ही नहीं सकता । यहाँ भी एङ् पना स्थानिवद्भाव से नहीं आ सकता केवल ओ पना ही आ सकता है इस लिये गो शब्द का एङ् न होने से हे चित्रगो अग्रम् में भी पूर्वरूप का विकल्प नहीं होगा । गुण का ओकार तो लाक्षणिक है । वस्तुतः यदि सर्वत्र विभाषा गो में समस्त असमस्त लाक्षणिक अलाक्षणिक सब प्रकार का एङन्त गो शब्द मानें तो हे चित्रगो अग्रम् यहाँ पूर्वरूप का विकल्प हो जाने में भी कोई हानि नहीं है ।

न भविष्यतः ।

स्वरः । बहुगुमान् । 'न' चपधूपधगुणं प्रतिषेधः ।

स्वरः । बहुगुमान् । 'न' चपधूपधगुणं प्रतिषेधः ।

करोतिपिवत्योः प्रतिषेधः ।

करोतिपिवत्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः । कुरु पियेति । स्थानिवद्भाव-  
वाल्लघूपधगुणः प्राप्नोति ।

इस प्रकार तपर करने से द्विमात्रा काल वाला ओकार दिया जायगा । चित्रगु मे ओकार है नहीं इस चित्रे णित् और आत्वं दोनों ही न होंगे । स्थानिवद्भाव से भी गो पना आ सकता है । ओ पना नहीं । ओकार का आश्रयण करने से अहविधि हो जायगा । अहविधि मे स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा ।

स्वर कैसे—बहुगुमान् । ( बहुव गायो यस्य स बहुगु । बहुगुर्विद्यते यत्र स बहुगुमान् ) यहाँ गो शब्द के स्थान में हुए ह्रस्व नादेश को स्थानिवद्भाव से गो मान कर न गोदन् सावर्णराडङ्कुट्दुभ्य से मत्तुप के उदात्त स्वर का निषेध प्राप्त होता है । बहुगु यह बहुव्रीहि समाम वहोर्नञ्वदुत्तरपदभुम्नि से अन्तोदात्त है उससे परे मत्तुप को ह्रस्वगुण्य मत्तुप् से उदात्त होता है । न गोदन्० स उसका निषेध प्राप्त होता है ।

कुरु, पिय यहा कृ और पा धातु के प्रयोगो मे स्थानिवद्भाव का निषेध करना होगा । कुर, पिय इनके लघूपध होने से लघूपधगुण प्राप्त होता है । कृ के स्थान में हुए कुर की और पा के स्थान में हुए पन् की स्थानिवद्भाव से अङ्गसंज्ञा हो कर लघूपधगुण होना चाहिये ।

१ इस प्रकार भाष्यकार ने स्थानिवत्त्वं मे प्राप्त सभी दोषों का समाधान कर दिया है । केवल यह बहुगुमान् वाला स्वर का दोष रह गया है । उसका भी समाधान हो सकता है । यदि गोतो णित् के गकार की तरह न गोश्चन्० मे गो का गकार भी अविवक्षित मान कर उसे ओकारान्त का उपलक्षण समझें तो ओकार अविधि होने से बहुगु मे स्थानिवद्भाव द्वारा ओकारान्तता नहीं आ सकती । ओकारान्त न होने से बहुगुमान् मे मत्तुप् के उदात्त स्वर का निषेध न होगा । वेद मे ऋषि इस आशुदात प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि ओकारान्त यो शब्द में भी न गोश्चन्० की प्रगति हो कर विभक्ति स्वर का निषेध हुआ करता है । अन्यथा यदि में गो शब्द न होने से सावेकाचस्ततीत्यादि० से प्राप्त विभक्तिस्वर का न गोश्चन्० यह निषेध कैसे कर सकता है । गो शब्द को उपलक्षण



किमुक्तम् । 'करोति' तपरकर इशात् सिद्धम् । पिविरदन्त  
इति ।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥११॥५७॥

अच इति किमर्थम् ?

प्रश्नो विश्वः । दृत्वा स्यूत्वा । आक्राष्ट्याम् । आगत्य । प्रश्नो विश्वः  
इत्यत्र छकारस्य शकार. परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाच्चे चेति तुक्

इस दोष का समाधान पहले इसी सूत्र में कहा जा चुका है कि  
अत उत्सार्वाधातुने सूत्र में उत् में तपर करने से कुर में ह्रस्व उकार ही रहेगा  
उसे गुणादि विकार न होंगे । पिबादेश के अदन्त होने से पिव में भी गुण न  
होगा । पिव इस प्रकार अकारान्त पिव शब्द में लघु इकार के उपधा में न  
आने से लघूपधगुण नहीं होगा ।

सूत्र में अच्ग्रहण किस लिये किया है ।

परस्मिन् पूर्वविधौ इतना सूत्र होने पर प्रश्न विद्म (प्रच्छ, विच्छ-नह्)  
यहाँ प्रच्छ से परे नह् प्रत्यय को निमित्त मान कर च्छवो शृष्टनुनासिके च  
से प्रच् क हल् छकार के स्थान में शकार आदेश हुआ है उसके स्थानिवद्  
होने से छे च से छ स पूर्व तुक् प्राप्त होता है । अच् ग्रहण करने पर नहीं

मान कर ओकारान्त से परे प्राप्त विभक्तिस्वर या मत्तुप् प्रत्यय स्वर आदि सभी  
स्वरों का निषेध होता है ऐसा मानने में कहीं दोष नहीं आता ।

१. स्थानिवद्भावादेशोऽनल्विधौ यह पहला सूत्र अल्विधि में स्थानिवद्भाव  
का निषेध करता था । अच परस्मिन्० यह सूत्र अल्विधि में स्थानिवद्भाव करने  
के लिये बनाया है । इसी लिये ववश्च (ग्रश्-लट् तिप् णल्) में ग्रश् को लिट्यभ्या-  
सस्योभयेषाम् से अभ्यास में ग्रश् सम्प्रसारण हो कर उरदत्त्व करने पर अच  
परस्मिन् सूत्र से उरदत्त्व को स्थानिवत् होता है । उसमें ऋकार रूप अल् के  
परे हो जाने पर न सम्प्रसारण सम्प्रसारणम् से अभ्यास वकार को सम्प्रसारण का  
निषेध सिद्ध हो जाता है । अचितीक, सुचितीक (अविद्यमाना शोभना वा चित्ति-  
यस्य सः) यदा बहुव्रीहि समास में कप् परे रहत चित्ते. कपि से चिति शब्द के  
इकार को दीर्घ होता है उसको इस सूत्र से स्थानिवत् हो कर अलृत्प ह्रस्व इकार अन्त  
में हो जायगा तो ह्रस्वान्तेऽन्यात्पूर्वम् से अभीष्ट स्वर सिद्ध हो जाता है ।

प्राप्नोति । अच इति वचनान्न स्मृतिः ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । अप्रवृत्तौ अपि अचग्रहणे अवश्यमत्र तुगभावे यत्नः कर्तव्यः । अन्तरङ्गत्वादि तुक् प्राप्नोति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । द्यूत्वा स्यूत्वा । वकारस्य ऊट् परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावादचीति यणादेशो न प्राप्नोति । अच इति वचनाद् भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । स्वाश्रयमत्राचूत्वं भविष्यति । अथवा

होता । क्योंकि अच के स्थान में शकार आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो तुक् नहीं होगा ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । अचग्रहण करने पर भी प्रश्न विद्वांस में तुक् रोकने के लिये अवश्य ध्यान करना होगा । अन्यथा प्रश्न इस अवस्था में श आदेश की अपेक्षा अन्तरङ्ग होने से छे च से छ से पूर्व तुक् प्राप्त होता है ।

अच्छा तो यह प्रयोजन लीजिये । द्यूत्वा स्यूत्वा ( दिव्, सिव् क्त्वा ) यहाँ दिव् से परे क्त्वा प्रत्यय को निमित्त मान कर च्छ्वा शब्द से दिव् के इह् वकार के स्थान में ऊट् आदेश हुआ है । उसके स्थानिवत् होने से इको यणचि से यणादेश नहीं प्राप्त होता । अच् ग्रहण करने से हो जाता है । क्योंकि अच् के स्थान में ऊट् आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् न होगा तो यण हो जायगा ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । ऊट् आदेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं अच् होने से द्यूत्वा में यण हो जायगा । अथवा जो आदेश हुआ है अर्थात् समुदाय-

१. वह यत्न यही है कि च्छ्वा शब्द में च्छ् इस प्रकार च्छ मिला कर तुक्महित छकार का निर्देश करके उसके स्थान में श आदेश मानेंगे तो तुक्महित छकार निर्देश के सामर्थ्य से फिर तुक् न होगा । उसी यत्न से प्रश्न विद्वांस में तुक् रक् जायगा । तुक्महित छकार स्थानी के निर्देश सामर्थ्य से ही अलोन्त्य-विधि भी न होगी । विश्व में प्राप्त रूपधगुण के रोमने के लिये नप् प्रत्यय को छिन् करना भी तर्फी चरितार्थ हो सकता है जब विच्छ में तुक्महित छकार के स्थान में श आदेश हो । अन्यथा तुक् के अवशिष्ट रटने से लघु दकार उपधा में न होगा तो गुण प्राप्त ही नहीं उमके लिये नह् को छित करना व्यर्थ है ।

२. वाच्यो इत्यादि में तो इको यणचि से हुए वकाररूप आदेश में स्वाश्रय

योऽत्रादेशो नासावाध्रीयते  आदेशः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । आकाष्टम् । अचो लोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् 'पढोः क. सी'ति क्तत्वं प्राप्नोति । अच इति वचनान्न भवति ।

रूप ऊट्, उसका यणादेश में आश्रयण नहीं किया गया । और जिसका आश्रयण किया गया है अर्थात् अच् वह आदेश नहीं हुआ है । ऊट में उकार के अच् होने पर भी वह आदेश नहीं, आदेश का अवयव है । उस लिये यणादेश में स्थानिवद्भाव न होगा ता यण् हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । आनाष्टम् (आ कृप्-सिच्-ताम्) यहाँ कृप् धातु से लुट् लकार में सिच पर रहते ताम् को निमित्त मान कर शलो शलि से मिच् क हल् सकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से सकार पर हो जायगा तो पटो, क सि से कृप् के पकार को ककार प्राप्त होता है । अच् प्रदूषण करने पर नहीं होता । क्योंकि अच् के स्थान में लोप रूप आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत् नहीं होगा तो मिच् का सकार पर न मिलने से य को क नहीं होगा ।

बल् होने पर भी लोपोऽप्योर्बलि मे य का लोप नहीं होता क्योंकि यणादेश के बहिरङ्ग होने से अमिद्धता हो जायगी । यूवा में बहिरङ्ग होने पर भी ऊट् आदेश असिद्ध नहीं होगा । नाजानन्तर्ये बहिष्वप्रकल्पितः इम परिभाषा से अमिद्ध परिभाषा का निषेध हो जायगा तो ऊट् पर मिल जाने से यण् हो जायगा । ऊट् को स्थानिवत् मान कर लोपोऽप्योर्बलि से यण् के यकार का लोप होने की शङ्का तो नहीं करनी चाहिये क्योंकि ऊट होने पर यण् हुआ है । उससे पूर्व नहीं था । तो पूर्वविधि न होने से ऊट् को स्थानिवत् नहीं हो सकता ।

१. यदि करो योऽसावाध्रीयते यश्चाध्रीयते नासावादेशः ऐमा मानते हैं तो ख्याञ् आदि आदेश भी अनुबन्ध रहित हुए आदेश नहीं माने जायेंगे तबमें स्थानिवद्भाव न हो कर ख्या आदि भी धातुसंज्ञा नहीं होनी चाहिये । क्योंकि ख्या आदि ग्याञ् आदि आदेश का अवयव होने से आदेश नहीं है तो इसका उत्तर है कि घस्त्व आदेश में लुटिकरणरूप ज्ञापक से अनुबन्ध रहित होने पर भी ख्या आदि को आदेश मान कर धातुसंज्ञा हो जायगी । घस्त्व में लुटित् का प्रयोजन पुषादियुवायलुटित् ० से अवसत् में स्त्रि को अट् करना है । वह धातुसंज्ञा हुए बिना हो नहीं सकती ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । इत्यनेन पूर्वत्रासिद्धे न स्थानि-  
वदिति ।

वचनम्

इदं तर्हि प्रयोजनम् । आगत्य । अभिगत्य । अनुनासिकलोपः  
परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वस्येति तुक् न प्राप्नोति । अच  
इति वचनाद् भवति ।

अथ परस्मिन्निति किमर्थम् ?

युवजानिः । वधूजानि । द्विपदिका । धैयान्नपद्यः । आदीध्ये ।  
युवजानिः वधूजानिः इति जायाया निङ् अपरनिमित्तकः । तस्य स्थानि-  
वद्भावाद् वलीति यलोपो न प्राप्नोति । परस्मिन् इति वचनाद् भवति ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । आगे न पदान्तद्विवचन० सूत्र में यह धार्तिक  
कहेंगे कि पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् । इसका अर्थ है कि अष्टाध्यायी के पूर्वत्रासिद्धीय  
प्रकरण के कार्य में स्थानिवद्भाव नहीं होता । पटोः क० सि सूत्र के पूर्वत्रासिद्धीय  
प्रकरण का होने से उसके कार्य में स्थानिवत् न होगा तो सकार परे न मिलने  
से ए को क न नहीं होगा ।

अच्छा फिर यह उदाहरण लीजिये । आगत्य अभिगत्य ( आ, अभि गम्-ल्यप् )  
यहाँ गम् से परे ल्यप् को निमित्त मान कर वा ल्यपि से गम् के हल् मकार  
का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से मकारान्त हो जायगा तो ह्रस्व न  
रहने से तुक् का आगम नहीं प्राप्त होता । अच ग्रहण करने पर हो जाता है ।  
क्योंकि अच् के स्थान में लोप रूप आदेश नहीं हुआ है इस लिये स्थानिवत्  
न होगा तो ह्रस्वान्त मिल जाने से ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् से तुक् का आगम  
हो जायगा ।

परस्मिन् ग्रहण किस लिये किया है ?

अच, पूर्वविधौ इतना सूत्र होने पर युवजानि वधूजानिः ( युवतिर् जाया  
यस्य, वधूर्जाया यस्य ) यहाँ बहुव्रीहि समास में जायाया निङ् से वृत् परे  
निमित्त न मान कर जाया शब्द के अन्तिम आकार के स्थान में निङ् आदेश  
हुआ है । उसके स्थानिवत् होने से वल् परे न रहेगा तो लोपो व्योर्बलि से  
जाया के यकार का लोप नहीं प्राप्त होगा । परस्मिन् ग्रहण करने पर हो जाता  
है । क्योंकि निङ् आदेश के परनिमित्तक न होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो वल्  
परे मिल जाने से यलोप हो जायगा ।

१. युवजानिः में जाया के अन्तिम आकार को निङ् आदेश हो कर उसके

नैतदस्ति प्रयोजनम् । स्वाश्रयमत्र बलत्वं भविष्यति । अथवा योऽत्रादेशो नासावाधत्तः, न नासावादेशः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । द्विपदिका । त्रिपदिका । पादस्य लोपोऽपरनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावात् पद्भावो न प्राप्नोति । परस्मिन् इति वचनाद् भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । पुनर्लोपवचनसामर्थ्यात् स्थानिवद्भावो

यह कोई प्रयोजन नहीं । निह् आदेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं बल होने से जाया के य का लोप हो जायगा । अथवा यहां जो आदेश है अर्थात् निह्, वह बल् नहीं । लोपो व्योर्वलि में निह् का आश्रय नहीं है । वलो में नकार का ही पाठ है निह् का नहीं । और जो बल् है अर्थात् नकार, वह आदेश का अवयव है, आदेश नहीं । इस लिये स्थानिवद्भाव न होगा तो बल् पर मिल जाने से य का लोप हो जायगा ।

अच्छा तो द्विपदिका, त्रिपदिका यह उदाहरण लीजिये । द्वौ द्वौ पादौ द्विपदिका । यहां पादशतस्य संप्रदायोप्ताया तुन् लोपश्च से कुछ परे निमित्त न मान कर दीप्ता अर्थ में पाद् शब्द से तुन् प्रत्यय और पाद् के अन्तिम अच् अकार के स्थान में लोप रूप आदेश हुआ है । इसके स्थानिवत् होने से हलन्त पाद् शब्द न रहेगा तो पाद्ः पत् से पद् आदेश नहीं प्राप्त होता । परस्मिन् ग्रहण करने पर हो जाता है । क्योंकि पाद् के अकार का लोप परनिमित्तक न होने से स्थानिवत् न होगा तो हलन्त पाद् शब्द मिल जाने से पद् आदेश हो जायगा ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । द्विपदिका में यस्येति च से पाद के अकार

पर रहते लोपो व्योर्वलि से जाया के य का लोप हो जाता है । यदि कहो जाया शब्द जन् धातु से औणादिक यक् प्रत्यय कर के ये विभाषा से आत्व हो कर बनता है । निह् आदेश को स्थानिवत् मानने से आहार दीक्षेगा । वह यक् प्रत्यय के साथ हुए टाप् के सवर्णदार्थ एकादेश को पूर्वान्तवद्भाव मान कर अजादि क्ति आर्धधातुक है । उसके परे रहते जन् के स्थान में हुए आकार का आतो लोप इटि च से लोप प्राप्त होता है । ये विभाषा और आतो लोप इटि च दोनों के आसीम होने पर भी समानाश्रय न होने से असिद्धवद्भावात् से ये विभाषा से हुए आत्व की असिद्धता भी नहीं हो सकती तो इसका उत्तर है कि उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि इस वचन से औणादिक शब्द अव्युत्पन्न माने जाते हैं । जाया शब्द को जन् धातु से यक् प्रत्यय करके निष्पन्न नहीं मारंगे तो जा के आकार का लोप नहीं होगा ।



न भविष्यति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । वैयाघ्रपञ्च

ननु चात्रापि पुनर्लोपवचनसामर्थ्यादेव भविष्यति ।

अस्ति ह्यन्यत् पुनर्लोपवचने प्रयोजनम् । किम् । यत्र भसज्ञा न, व्याघ्रपाद्, श्येनपाद् इति । इदं चाप्युदाहरणम्-आदीध्ये, आवेन्ये ।

का लोप सिद्ध होने पर फिर जो पादजनस्य सत्यादे० से लोप विधान किया है उसके सामर्थ्य से स्थानिवद्भाव न होगा । पुन लोप विधान का यही तात्पर्य समझा जायगा कि पाद के अकार का लोप ही रहे । उसका श्रवण न हो । इस लिये स्थानिवद्भाव की स्वतः व्यावृत्ति हो जायगी । स्थानिवद्भाव न होने से पद आदेश निर्बाध हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । वैयाघ्रपञ्च । व्याघ्रस्येव पादौ यस्य स व्याघ्रपाद् । व्याघ्रपदोऽस्य वैयाघ्रपञ्च (व्याघ्रपाद्-यत्र) यहा व्याघ्रपाद् इस बहुव्रीहि समास में पादस्य लोपोऽहम्यादिभ्य से कुछ परे निमित्त न मान कर व्याघ्रपाद् शब्द के अन्तिम अच अकार का लोप हुआ है । उसके स्थानिवत् होने से यञ् प्रत्यय परे रहते भसज्ञा होने पर पाद पञ् से पद आदेश नहीं प्राप्त होता । परस्मिन् ग्रहण करने पर हो जाता है । क्योंकि पादस्य लोपोऽह० स हुआ पाद के अकार का लोप परनिमित्तक न होने से स्थानिवत् न होगा तो पाद् शब्द मिल जाने से पद आदेश हो जायगा ।

वैयाघ्रपञ्च में भी यत्येति च से पाद के अकार का लोप सिद्ध होने पर फिर जो पादस्य लोपो० से लोपविधान किया है उसके सामर्थ्य से स्थानिवद्भाव न होगा और पद आदेश सिद्ध हो जायगा ।

पादस्य लोपोऽहम्यादिभ्य से पुन लोपविधान करने का अर्थ प्रयोजन है । क्या ? जहा भसज्ञा नहीं है वहा पाद् शब्द के अकार का लोप यत्येति च से नहीं हो सकता । क्योंकि वह भसज्ञा में ही अकार के लोप का विधान करता है । जैसे व्याघ्रपाद्, श्येनपाद् । (व्याघ्रस्येव पादौ यस्य स ) यहा बहुव्रीहि समास वाले व्याघ्रपाद् शब्द में भसज्ञा न होने से पाद के अकार का लोप यत्येति च से नहीं हो सकता । यहा पाद के अकार का लोप करने के लिये पादस्य लोपोऽहम्यादिभ्य सूत्र की आवश्यकता है । इस लिये लोपविधान में सामर्थ्य न होने से यह स्थानिवद्भाव को रोक नहीं सकता । उस अवस्था में वैयाघ्रपञ्च में अकार लोप के स्थानिवत् होने से पद आदेश नहीं प्राप्त होता, उसके लिये परस्मिन् ग्रहण

इकारस्य एकारोऽपरि- स्थानिवद्भावाद् यीवर्णयोर्दीधी-  
वेन्योरिति लोपः प्राप्नोति । परस्मिन् भवति वचनान्न भवति ।

अथ पूर्वविधाविति किमर्थम् ?

हे गौ । वाभ्रमीयाः । नेधेयः । हे गौरित्यौकारः परनिमित्तकस्तस्य  
स्थानिवद्भावाद् एहहस्वात्सबुद्धेरिति लोपः प्राप्नोति । पूर्वविधाविति  
वचनान्न भवति ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न सम्बुद्धिलोपे  
स्थानिवद्भावो भवतीति । यद्यमेहहस्वात्सबुद्धेरित्येङ् प्रहण करोति ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । गोऽर्थमेतत् स्यात् ।

करना चाहिये । इसके अतिरिक्त आदीष्ये आवेभ्ये यह उदाहरण भी लीजिये ।  
(आ दीधी एद् इट ए ) यहां दीवी से परे इद् प्रत्यय के इकार अच् के स्थान  
में कुछ परे निमित्त न मान कर इट आत्मनेपदाना टेरे से एकार हुआ है । उसके  
स्थानिवत् होने से इकार परे मिल जायगा तो यीवर्णयोर्दीधीवेन्यो से दीधी के  
ईकार का लोप प्राप्त होता है । परस्मिन् ग्रहण करने पर नहीं होता । क्योंकि इट  
आत्मनेपदाना० से होने वाला टेरेत्व परनिमित्तक नहीं है इस लिये स्थानिवत् न होगा  
तो दीधी के ईकार का लोप नहीं होगा ।

पूर्वविधी यह किस लिये ग्रहण किया है ?

अब परस्मिन् इतना सूत्र होने पर हे गौ यहाँ गो शब्द से परे सम्बुद्धि के  
णित् सु प्रत्यय को निमित्त मान कर गो शब्द के ओकार के स्थान में अचो ङिति  
से औ वृद्धि हुई है । उस के स्थानिवत् होने से ओकार मिल जायगा तो एहहस्वात्  
सम्बुद्धि से सम्बुद्धिसंज्ञक सु का लोप प्राप्त होता है । पूर्व विधि ग्रहण करने पर  
नहीं होता । क्योंकि यहां सम्बुद्धि लोप आदेश से पूर्व का कार्य नहीं है इस लिये  
स्थानिवत् न होगा तो ओकार न मिलने से सम्बुद्धि संज्ञक सु का लोप नहीं होगा ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि  
सम्बुद्धिलोप करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता । यह जो एह हस्वात् सम्बुद्धे  
में एङ् ग्रहण किया है उस से यह बात मालूम होती है । अन्यथा हे अग्ने हे वायो  
इत्यादि में एकार ओकार को स्थानिवत् होने से हस्व मान कर ही सम्बुद्धि का  
लोप हो जाता तो एङ् ग्रहण व्यर्थ है । इस लिये एङ् ग्रहण के ज्ञापक से हे गौ । में  
ओकार को स्थानिवत् नहीं होगा तो उस से परे सम्बुद्धि संज्ञक सु का लोप न होगा ।

हे गौ में सम्बुद्धिलोप को रोकने के लिये एङ् ग्रहण कोई ज्ञापक नहीं ।

यत्तर्हि प्रत्याहारग्रहण करोति । इत्तुर्त्तुः प्रोहस्वादित्येव द्र्यात् ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । वाभ्रवीयाः । माधवीयाः । वान्तादेशः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् हल्स्तद्धितस्येति यलोपो न प्राप्नोति । पूर्वविधाविति वचनाद् भवति ।

गो शब्द से परे अनिट सम्बुद्धि लोप करने के लिये एट् ग्रहण रह सकता है । क्योंकि हे अग्न हे वायो इत्यादि में स्थानिवत् मानने से ह्रस्व मिल जायगा इस लिये वहाँ ह्रस्व ग्रहण से सिद्ध होने पर भी हे गौ में स्थानिवत् हं कर भी जो मिलेगा । ह्रस्व नहीं मिलेगा । वहाँ सम्बुद्धि लोप करने के लिये एट् ग्रहण की आवश्यकता हो सकती है इस लिये यह ज्ञापक नहीं बन सकता ।

एट् प्रत्याहार में यदि ओकार को गो आदि ओकारान्त शब्दों के लिये रख कर व्यर्थ न भी मानें तो भी एट् प्रत्याहार ग्रहण में एकार तो व्यर्थ ही है । अन्यथा ओहस्वान् सम्बुद्धे इतना ही सूत्र कह देते । वैसा न कह कर जो एट् प्रत्याहार ग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि सम्बुद्धिलोप में स्थानिवत् नहीं होता । इस लिये पूर्वविधि ग्रहण किये बिना भी हे गौ में स्थानिवत् नहीं होगा ।

अच्चा तो यह उदाहरण लीजिये । वाभ्रवीया । माधवीया । यभ्रो मधो वां अयं वाभ्रव्य । माधव्य । (यभ्रु मधु-यन्) । तस्य छाना वाभ्रवीयाः माधवीयाः (वाभ्रव्य, माधव्य-उ) । यहाँ यभ्रु को ओर्गुण से ओ गुण हो कर यभ्रो हुआ । उस से पर यन् को निमित्त मान कर यभ्रो के ओकार के स्थान में वान्तो यि प्रत्यये से अच् आदेश होता है । उस अवादेश के स्थानिवत् होने से ह्र् न रहेगा तो हल्स्तद्धितस्य की अनुवृत्ति करक छ प्रत्यय पर रहते होने वाला आनत्यस्य च ताद्धतेऽज्ञात सूत्र से यकार का लोप नहीं प्राप्त होता । पूर्वविधि ग्रहण करने पर हो जाता है । क्योंकि य का लोप अवादेश से पूर्व का कार्य नहीं है पर का कार्य है अतः स्थानिवत् न होगा तो ह्र् मिल जाने से य का लोप हो जायगा ।<sup>१</sup>

१ यदि वही वाभ्रवीया माधवीया यहाँ सनिपात परिभाषा से यलोप होना हा नहीं चाहिये क्योंकि जिस यन् प्रत्यय ने सम्बन्ध से अच् आदेश हुआ है वह अवादेश ह्र् बन कर यगण का निमित्त नहीं बन सकता उससे सनिपात परिभाषा का विरोध होता है तो इसका उत्तर है कि सनिपात परिभाषा की अनित्य मानने से यह दोष न होगा । वाभ्रवीया माधवीया में सनिपात पारभाषा की प्रवृत्ति न होगा तो यलोप हो जायगा ।

एतदपि नास्ति प्रत्ययेऽयम् । स्वाश्रयमत्र हल्त्वं भविष्यति । अथवा योऽत्रादेशो नासावाधीयते, यश्चाधीयते नासावादेशः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । नैधेयः । आकारलोपः परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावाद् द्वयजलक्षणो ढक् न प्राप्नोति । पूर्वविधाविति वचनाद् भवति ।

अथ विधिग्रहण किमर्थम् ?

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । अवादेश में स्वाश्रय अर्थात् स्वयं हल् होने से य लोप हो जायगा । अथवा जो यहाँ आदेश है अर्थात् अच्, वह हल् नहीं । क्योंकि हलो में वकार का पाठ है अच् का नहीं । और जो हल् है अर्थात् वकार, वह आदेश का अवयव है आदेश नहीं, इस लिये स्थानिवद्भाव ही न होगा । य लोप में निय का आश्रयण किया है वह आदेश नहीं है और जो आदेश है उस का आश्रयण नहीं किया गया है । इस लिये वाञ्छनीया माधवीयाः में स्थानिवद्भाव न होने से य लोप हो जायगा ।

तब तो यह उदाहरण लीजिये । नैधेय । (निधेरपयम्, नैधेयः) नि पूर्वक था धातु स कि प्रत्यय हो कर निधि शब्द बनता है । उस में था धातु के आकार का लोप आने लोप इटि च से कि-प्रत्यय को निमित्त मान कर हुआ है उस के स्थानित् होने से निधि शब्द में दो अच् न रह कर तीन अच् हो जायेंगे तो इतथानिज से दो अच् मान कर होने वाला अपत्यार्थक ढक् प्रत्यय नहीं प्राप्त होता । पूर्वविधि ग्रहण करने पर हो जाता है । क्योंकि यहाँ ढक् प्रत्यय आकार लोप रूप आदेश से पूर्व का कार्य न हो कर पर का कार्य है इस लिये स्थानित् न होगा तो दो अच् मिल जाने से ढक् हो जायगा ।

विधि ग्रहण किस लिये किया है ?

१ यत्र ५ नैधेय में स्थानिवद्भाव से तीन अच् हो जाने पर भी स्वाश्रय द्वयत्वं मान कर इतथानिज से ढक् हो सकता है तो भी लौकिकी गौण्यप्युत्तरा सरया पूर्वा सरया बाधते अथवा न हि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभते इन न्यायों के अनुसार तीन अच् वाले का दो अच् वाला नहीं कहा जा सकता । तीन सरया दो की विरोधिनी होने से दो को बाध लेगी । स्थानिवद्भाव से अविरुद्ध कार्य का ही अतिदेश होता है, विरुद्ध का नहीं । जो स्वाश्रय कार्य अतिदिष्ट कार्य से विरुद्ध है वह अनिदेश द्वारा बाधित हो जाता है । इस लिये यहाँ अतिदिरयमान प्रयत्न से स्वाश्रय द्वयत्वं की बाधा हो जायगी तो ढक् प्राप्त नहीं होता ।

सर्वविभक्त्यन्तः समासो यथा विश्रायेत । पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः ।  
पूर्वस्माद् विधिः पूर्वविधिरिति ।

कानि पुनः पूर्वस्माद् विधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ।

वेभिदिता चेच्छदिता । माथितिकः । अपीपचन् । वेभिदिता  
चेच्छदितेति अकारलोपे कृते एकाज्जक्षण इत्प्रतिषेधः प्राप्नोति । स्थानि-  
वद्भावाच्च भवति । माथितिक इत्यकारलोपे कृते तान्तात् क इति कादेशः  
प्राप्नोति स्थानिवद्भावाच्च भवति । अपीपचन् इत्येकादेशे कृते अभ्यस्तात्

जिस से पूर्व शब्द में सब विभक्तियों वाला समास समझ लिया जाय  
इस लिये विधिग्रहण करने पर दो पद हो जायेंगे । तभी यथेष्ट समास संभव है ।  
पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः यह पन्जी समास है । इसका अर्थ है—पूर्व का कार्य ।  
पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः, पञ्चमी समास है । इस का अर्थ है—पूर्व से परे  
का कार्य अर्थात् पर का कार्य । दोनों प्रकार की विधियों में स्थानिवद्भाव  
करने के लिये विधिग्रहण की आवश्यकता है ।

पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः इस प्रकार पञ्चमी समास में स्थानिवद्भाव  
मानने के क्या प्रयोजन हैं ?

वेभिदिता चेच्छदिता । माथितिकः । अपीपचन् । ये पञ्चमीसमास में स्थानि-  
वद्भाव मानने के प्रयोजन हैं । वेभिदिता (वेभिद्यन्तृ) यहाँ वेभिय इस यन्त  
भिद् घातु के उपदेश में एकाच् होने से यह के अकार का अतो लोप से  
लोप होने पर एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् से इद् का निषेध प्राप्त होता है ।  
पञ्चमी समास मानने से पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव हो जायगा तो  
यह के अकारलोप को स्थानिवत् मान कर उस के व्यवधान में तृच् को इद्  
का निषेध नहीं होगा । माथितिक<sup>१</sup> (मथित ण्यमस्य, मथित-ठक्-इक) यहाँ  
मथित शब्द से परे ठ प्रत्यय के पूरे ठ शब्द को ठ्येकः से इक आदेश हुआ  
है उसके परे रहते मथित के अकार का यस्येति च से लोप हो कर मथित्  
यह तकारान्त हो जाता है । इक आदेश को स्थानिवदादेशो से ठ मान कर  
उस के स्थान में इसुस्तान्तात् न से क आदेश प्राप्त होता है । पञ्चमी  
समास मानने से पर कार्य में भी स्थानिवद्भाव हो जायगा तो मथित के

१. षाष्ठ द्वित्व द्विः प्रयोग (दोबार उच्चारण मात्र) है, इससे घातु अनेकाच् नहीं  
हो जाता ।

२. मठा बेचने वाला ।

शेर्जुस् भवतीति जुस्भावः प्राप्नोति स्थानिवद्भावाच्च भवति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । प्रातिपदिकनिर्देशोऽयम् । प्रातिपदिक-निर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति । न कांचित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति । तत्र प्रातिपदिकार्थं निर्दिष्टे यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या ।

भकारलोप को स्थानिवत् मान कर तकारा-त न रहने से क आदेश नहीं होगा । अर्पीपचत् ( पच्-णिच्-चच्-लुङ् स्ति ) यहाँ णिजन्त पच् धातु के णिच् का चङ् पर रहते णेरनिटि से लोप होता है । चङ् के अकार का स्ति के स्थान में हुए अन्त आदेश के साथ अतो गुणे से पररूप एकादेश हो जाता है । द्वित्व हो कर अभ्यस्त बने हुए पच् से परे अन्त आदेश को स्थानिवदादेश,—से स्ति मान कर सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च से जुस् प्राप्त होता है । पञ्चमी समास मानने से पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव हो जायगा तो णिच् के लोप और अतो गुणे से हुए पररूप एकादेश को स्थानिवत् मानने से उन के व्यवधान में जुस् नहीं होगा ।

विधिग्रहण के ये कोई प्रयोजन नहीं । विधिग्रहण के बिना भी अचः परस्मिन् पूर्व ऐसा सूत्र बनायेंगे । उसमें पूर्व यह लुप्तविभक्तिक प्रातिपदिक का निर्देश समझा जायगा । प्रातिपदिक के निर्देश अर्थप्रधान होते हैं । मुख्यतया किसी विशेष विभक्ति के अर्थ का आश्रयण नहीं करते । उसमें पूर्व इस प्रातिपदिक के सामान्य अर्थ निर्देश में जिस २ विभक्ति के अर्थ के निकालने की इच्छा होगी वही २ विभक्ति उसके आगे लगी हुई समझ ली जायगी । पूर्व इसके आगे पूर्वान् और पूर्वस्य ये पञ्चमी और पञ्ची विभक्ति लगी हुई समझ कर पूर्व के कार्य में और पूर्व से परे के कार्य में स्थानिवद्भाव होता है यह अर्थ निकल आयगा । उससे बेमिदिता चेच्छिदिता इत्यादि पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव सिद्ध हो जायगा ।<sup>१</sup>

१. इतदच से इकार का लोप होने पर भी एकदेशविकृतन्याय से स्ति ही समझा जायगा ।

२. यदि वही पर के कार्य में भी स्थानिवद्भाव मानने पर हे गौः बाभ्रवीयाः नैधेयः ये पूर्वोक्त उदाहरण कैसे सिद्ध होंगे तो उसका उत्तर है कि वहाँ अच् से जो पूर्व है उसको निमित्त मान कर विधि करने में स्थानिवद्भाव माना जायगा । अच् अथवा अच् के स्थान में हुए आदेश को निमित्त मान कर विधि करने में

इदं तर्हि प्रयोजनम् । विधिमात्रे स्थानिवद्भावो यथा स्यात्, अनाश्रीयमाणायामपि प्रकृतौ । वाय्वोः अघ्वय्वोः, लोपो व्योर्वलिः यलोपो मा भूदिति ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

[ अपरविधाविति तु ]

अपरविधाविति तु घन्तन्यम् । किं प्रयोजनम् । स्वविधावपि स्थानिवद्भावो यथा स्यात् ।

अच्छा तो विधिग्रहण का यह प्रयोजन है कि विधिमात्र में स्थानिवद्भाव हो जाय । चाहे उस विधि में प्रकृति (स्थाना) आश्रीयमाण हो या न हो । अर्थात् स्वाश्रय कार्य की निवृत्ति हो कर स्थानित्व ही रहे । जैसे वाय्वो अघ्वय्वो (वायु अघ्वयु-ओस्) यहाँ वायु अघ्वयु शब्दों से ओस् पर रहते इको यणपि से वकार यणादेश हुआ है । उस वकार के परे रहते लोपो व्योर्वलि से यलोप प्राप्त होता है । विधिमात्र में स्थानित्व होने से यणादेश स्थानित्व मान लिया जायगा तो वल परे न रहने से यलोप नहीं होता । यहाँ विधिग्रहण से यह लाभ हुआ कि यणादेश के स्वाश्रय बल रूप होने से जो यलोप प्राप्त होता था वह विधिग्रहण सामर्थ्य से रूक गया । यलोप विधि में यणादेश की प्रकृति उकार का कार्य के निमित्त के रूप में आश्रयण नहीं किया गया है ता भी वहाँ स्थानिवद्भाव हो गया । इस प्रकार विधिग्रहण से सर्वत्र स्थानिवद्भाव हो जायगा । चाहे वहाँ स्थानिवद्भाव से शास्त्र लगता हो या रूकता हो ।

विधिग्रहण का यह प्रयोजन है तो, किन्तु पूर्वविधौ की जगह अपरविधौ ऐसा कह देना चाहिये । जिस से पर विधि को छोड़ कर शेष सप्त विधियों में चाहे आदेश से पूर्व का कार्य हो या स्वविधि अर्थात् स्वयं आदेश की ही कार्य करता हो वहा भी स्थानित्व हो जावे । न परविधौ=अपरविधौ । अर्थात् परविधि में स्थानिवद्भाव न होवे ।

स्थानिवद्भाव नहीं माना जायगा । हे गौ में गो शब्द के ओकार रूप अच् से पूर्व गकार है उसको निमित्त मान कर सुलोप नहीं प्राप्त होता इस लिये वहा स्थानिवद्भाव नहीं होगा । बाभ्रवीया. में भी बभ्रो के ओकार रूप अच् से पूर्व रेफ है और नैधेय में भी निधि के घा घात्वस्थ आकार रूप अच् से पूर्व धकार है उसको निमित्त मान कर यलोप लघव टक् प्रत्यय नहीं विहित है अतः स्थानिवद्भाव नहीं होगा ।

कानि पुनः स्वविधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ?

आयन् । आसन् । धिन्वन्ति । कृण्वन्ति । दध्यत्र मध्यत्र । चक्रतुः चक्रुः । इह तावद् आयन् आसन् इति इणस्त्योर्यण्लोपयोः कृतयोरनजादित्वादाडजादीनामित्याद् न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति । धिन्वन्ति कृण्वन्ति । यणादेशे कृते वलादिलक्षण इद् प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति । दध्यत्र मध्यत्र । यणादेशे कृते सयोगान्तस्य लोपः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति । चक्रतुः चक्रुः । यणादेशे कृतेऽनच्कत्वाद् द्विर्यचनं न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

स्वविधि मे स्थानिवद्भाव के क्या प्रयोजन हैं ?

आयन् । आसन् । धिन्वन्ति कृण्वन्ति । दध्यत्र मध्यत्र । चक्रतुः चक्रुः ये स्वविधि मे स्थानिवद्भाव के प्रयोजन हैं । आयन् आसन् (इण्, अस्-उद् स्ति) यहा आयन् में इणो यण् से इण् को यणादेश और आसन् में अस् के अकार का इनसोरलोप से लोप होने पर अजादि न रहने से आडजादीनाम् से आडागम नहीं प्राप्त होता । स्वविधि में स्थानिवद्भाव होने से अजादि मान कर आद् हो जाता है । यहां आदेश से पूर्व कुछ न होने से स्वयं आदेश को ही आडागम कार्य करना है ।

धिन्वन्ति कृण्वन्ति (धिन्-उ-अन्ति, कृण्-उ-अन्ति) यहां धिन् कृण् धातुओं से परे आर्धधातुक उ प्रत्यय को इका यणचि से वकार यणादेश हुआ है । उस के वलादि आर्धधातुक हो जाने से आर्धधातुकस्येवलादे. से इद् प्राप्त होता है । आदेश से पूर्व को कुछ कार्य न होने से स्वयं वकार आदेश को ही इडागम रूप कार्य प्राप्त है । तो स्वविधि मे स्थानिवद्भाव हो कर वलादि न रहने से इडागम नहीं होता । दध्यत्र मध्यत्र (दधि, मधुअत्र) यहां इको यणचि से यणादेश हो कर ध् य् का संयोग हो जाने से संयोगान्तस्य लोप से य का लोप प्राप्त होता है । स्वयं यणादेश को ही कार्य होने से स्वविधि मे स्थानिवद्भाव हो कर य का लोप नहीं होता ।

चक्रतुः चक्रुः (कृ-लिट् तस् अतुस, शि उत्स) यहां कृ के क् को इको यणचि से रेफ यणादेश हो कर अच् न रहने से लिटि धातोरनभ्यासस्य से एकाच् को कहा गया द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्वयं आदेश को ही कार्य होने से स्वविधि मे स्थानिवद्भाव मान कर अच् आजाने से द्वित्व हो जाता है ।

१ यदि कहे कि अपरविधौ कहने पर यद्यपि स्वविधि में स्थानिवद्भाव



यदि तर्हि स्वविधावपि स्थानिवद्भावाद् भवति । द्वाभ्यां देयं लवनम् अत्रापि प्राप्नोति । द्वाभ्यामित्यत्रात्वस्य स्थानिवद्भावाद् दीर्घत्वं न प्राप्नोति । देयमितीत्वस्य स्थानिवद्भावाद् गुणो न प्राप्नोति । लवनमित्यत्र गुणस्य स्थानिवद्भावादवादेशो न प्राप्नोति ।

यदि स्वविधि में भी स्थानिवद्भाव मानते हैं तो द्वाभ्याम् । देयम् । लवनम् यहां भी स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है ।

द्वाभ्याम् में द्वि शब्द के इकार को त्यदादीनामः से अकार हो कर स्वयं अकार आदेश को ही सुवि च से दीर्घ करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो अकार न रहने से दीर्घ नहीं प्राप्त होता ।

देयम् (दा-यत्) में दा के आ को ईगति से ईकार हुआ है । स्वयं ईकार आदेश के ही कार्य करने में स्थानिवद्भाव हो जायगा तो इगन्त न रहने से सार्वधातुक गुण नहीं प्राप्त होता ।

लवनम् (लू-ल्युद्+अन) में लू धातु के उकार को ओकार गुण हुआ है । स्वयं ओकार रूप आदेश के कार्य में ही स्थानिवद्भाव हो जायगा तो ओकार न रहने से एचोऽयवायावः से अवादेश नहीं प्राप्त होता ।

सिद्ध हो जाता है तो भी बेभिदिता चेष्टिदिता इत्यादि परविधियों में स्थानिवद्भाव कैसे सिद्ध होगा तो उस का उत्तर है, उक्त स्थलों में निमित्त की अपेक्षा परविधि मानी जायगी । बेभिदिता में यङ् के अकारलोप का निमित्त तुच् आर्धधातुक है उस से परे कोई विधि नहीं करनी बल्कि उसी को इडागमरूप विधि करनी है इसलिये स्थानिवद्भाव हो जायगा । इसी प्रकार माथितिक, अपीपचन् ये भी स्वविधि बन जायेगी । परविधि न होगी तो वहा भी स्थानिवद्भाव हो जायगा । हे गौ । में यग्रि अग्रविधि हो जान से स्थानिवद्भाव प्राप्त है क्योंकि वहा णिन् सु प्रत्यय रूप निमित्त से परे किसी की कोई विधि नहीं करनी इस लिये अग्रविधि होने से स्थानिवद्भाव हो जायगा तो सुल्लेन प्राप्त होगा तो भी वहा एङ् प्रत्याहार ग्रहण सामर्थ्य से दोष न होगा । चाभ्रवीय में योऽत्रादेशो नासावाश्रयते यह पूर्वोक्त समाधान है ही । नैधेयः में भी निवि के इकार रूप निमित्त से परे टक् प्रत्यय का विधान करना है इस लिये परविधि हो जाने से स्थानिवद्भाव न होगा । इस प्रकार पूर्वविधौ या अपरविधौ इन दोनों न्यासों में कहीं दोष नहीं आता ।

नैष दोषः । स्वाश्रया अव्रैते विधयो भविष्यन्ति ।

तत्तर्हि वक्तव्यम् अपरविधाविति ।

न वस्तव्यम् । पूर्वविधावित्येव सिद्धम् । कथम् । न पूर्वग्रहणेनादेशोऽभिसम्बध्यते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्था निबद्ध्यति । कुतः पूर्वस्य, आदेशादिति । किं तर्हि, निमित्तमभिसम्बध्यते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद् भवति । कुतः पूर्वस्य, निमित्तादिति ।

अथ निमित्तेऽभिसम्बध्यमाने यत्तदस्य योगस्य मूर्धाभिपिष्यतमुदा-

यह कोई दोष नहीं । द्वाभ्याम् इत्यादि विधियाँ स्वाश्रय हो जायेगी । स्वाश्रय का अर्थ यहाँ ज्ञापकाश्रय है । विधिग्रहण का प्रयोजन स्वाश्रय कार्य की निवृत्ति पहले कह चुके हैं इस लिये यहाँ स्व शब्द से आदेश का ग्रहण नहीं करना बल्कि अपने १ ज्ञापको के सहारे द्वाभ्याम् इत्यादि बत जायेंगे । किं यत्तदो निर्धारण द्वयोरेकस्य इतरच् य । द्वयो यह निर्देश द्वाभ्याम् में स्थानि वद्भाव के निषेध का ज्ञापक समझा जायगा । देयम् में देयमृणे इस ज्ञापक से तथा लवनम् में किरतौ लवन इस ज्ञापक से स्थानियज्ञात् नहीं होगा ।

तो फिर पूर्वविधौ की जगह अपरविधौ कह दिया जाय ? हम तो समझते हैं कि—

अपरविधौ कहने की आवश्यकता नहीं । पूर्वविधौ से ही काम चल जायगा । उसीसे स्वविधि में भी स्थानियज्ञात् सिद्ध हो जायगा । कैसे ? पूर्वविधौ में पूरे शब्द का सम्बन्ध आदेश के साथ कर के यह अर्थ नहीं करेंगे कि पर को निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, यह आदेश से पूर्व को कार्य करने में स्थानिवत् होता है । बल्कि पूर्वविधौ में पूर्व शब्द का सम्बन्ध निमित्त के साथ कर के सूत्र का यह अर्थ करेंगे कि पर निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, यह निमित्त से पूर्व को कार्य करने में स्थानिवत् होता है । उससे आयन् अमन् आदि स्वविधियों में भी स्थानिवत् हो जायगा । जब आदेश से पूरे की विधि करने में स्थानिवत् मानते हैं तब स्वविधि में स्थानियज्ञात् कहना पड़ता है । निमित्त ॥ पूर्व को विधि करने में स्थानिवत् मानने पर स्वविधि में भी स्थानिवत् सिद्ध हो जाता है उसके लिये अलग स्थानियज्ञात् कहने की आवश्यकता नहीं रहती । क्योंकि आयन् आसन् आदि सब विधियाँ निमित्त से पूर्व विधियाँ हैं ।

निमित्त से पूर्व को कार्य करने में स्थानिवत् मानने पर इस सूत्र का जो

हरणं तदपि संगृहीतं भवति ?

पट्वया मृद्व्येति ।

थादं संगृहीतम् ।

ननु च ईकारव्या व्यावहितत्वात् नाम्नौ निमित्तात् पूर्वो भवति ?

व्यवहितेपि पूरंगन्धो वर्तते । तद्यथा पूर्वं मधुगया. पाटलिपुत्रमिति ।  
अथवा पुनरस्तु आदेश एवामिसम्यध्यते इति ।

कथं यानि स्वविधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि ?

नेतानि सन्ति । इह तावत्—आयन् आसन् धिन्वन्ति कृण्वन्ति

मूर्धाभिरिक् सप्त से प्रसिद्ध मुख्य उदाहरण है क्या वह भी संगृहीत हो जाता है ? उसकी सिद्धि भी हो जाती है या नहीं ?

यह कौन सा उदाहरण है ? (भाष्य में अथ इन्द्र प्रत्ययार्थक है) ।

पट्वया मृद्व्या ।

हां, पट्वया मृद्व्या यह प्रसिद्ध उदाहरण भी निमित्त से पूर्व विधि में स्थानिवत् मानने पर ठीक सिद्ध हो जाता है ।

पट्वया मृद्व्या ( पटु ईं आ, मृदु ईं आ ) यद्वा पटु ईं आ इस अवस्था में टा के आ को निमित्त मान कर इसे यण्वि से ईं को यण होता है । उस यणादेश को इय सूत्र से स्थानिवत् मान कर पटु के उकार को भी यण हो जाता है । किन्तु पटु का उकार निमित्त भूत आ से अव्यवहित पूर्व में नहीं है । उसके बीच में ईं क यण का व्यवधान है इस लिये निमित्त से पूर्वविधि में स्थानिवत् मानने पर यहाँ स्थानिवत् कैसे होगा ?

पूर्वइन्द्र का प्रयोग व्यवधान में भी होता है । जैसे मथुरा से पूर्व पटना है ऐसा कहते हैं पर बीच में बहुत से अन्य नगरों का व्यवधान होता है । इसी प्रकार पट्वया में पटु का उकार व्यवधान होने पर भी है तो आ से पूर्व ही । परे तो नहीं है । इस लिये निमित्तभूत आ से पूर्वविधि मान कर स्थानिवत् हो जायगा । अथवा आदेश से पूर्वविधि में ही स्थानिवद्भाव मानिये । उसमें भी दोष न होगा ।

आदेश से पूर्वविधि में स्थानिवद्भाव मानने पर स्वविधि में कैसे स्थानिवद्भाव होगा । स्वविधि के आयन् आयन् आदि प्रयोजन कैसे सिद्ध होंगे ?

आयन् आगन् आदि जो स्वविधि में स्थानिवद्भाव के प्रयोजन कहे हैं वे

इति । अयं विधिशब्दोऽस्त्येव कर्मसाधनो विधीयते विधिरिति । अस्ति भावसाधनः । विधानं विधिरिति । तत्र कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने न सर्गमिष्टं संगृहीतमिति कृत्वा भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादानं विज्ञास्यते । पूर्णस्य विधानं प्रति पूर्वस्य भावं प्रति, पूर्वः स्यादिति स्थानिवद् भवतीति । एवमाद् भविष्यति । इद् च न भविष्यति । दध्यत्र मध्यत्र चक्रतु चक्रुर्न्यत्र परिहारं वक्ष्यति ।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ?

कुछ नहीं । उनकी अन्यथा सिद्धि हो जायगी । पहले आयन् आसन् धिन्वन्ते कृष्यन्ति इनको लीजिये । इनकी सिद्धि इस प्रकार होगी कि हम पूर्वविधी में विधि शब्द को कर्मसाधन न मान कर भावसाधन मान लेंगे । क्योंकि विधि शब्द एक तो कर्मसाधन है । विधीयते इति विधि इस प्रकार कर्मवाच्य में कि प्रत्यय करके बनता है । एक भावसाधन है । विधानमेव विधि इस प्रकार भाव में कि प्रत्यय करके बनता है । कर्मसाधन पक्ष में पूर्वविधि शब्द का अर्थ होता है—पूर्व को के ई विधि (=कार्य) करने में आदेश स्थानिवत् होता है । भावसाधन पक्ष में अर्थ होगा—पूर्व का विधान करने में, पूर्वता लाने में, किसी को पूर्व बनाने में स्थानिवत् होता है । कर्मसाधन पक्ष में आयन् आसन् आदि इष्ट सिद्ध नहीं होते क्योंकि वहाँ आदेश से पूर्व कुछ है ही नहीं जिसको विधि करनी हो । इस लिये भावसाधन पक्ष वहाँ मर्जित । उससे आयन् आसन् में आद् की पूर्वता लाने में यणादेश और अल्लोप को स्थानिवद्भाव हो जायगा सो आद् हो जायगा । धिन्वान्त कृष्यन्ति में इद् की पूर्वता लाने में यणादेश स्थानिवत् हो जायगा तो वलादि न रहने से इद् न होगा । दध्यत्र मध्यत्र, चक्रतु चक्रु यहाँ भी आगे समाधान कहेंगे ।

इस सूत्र के क्या प्रयोजन है ?

१ वर ममाधान यही है कि दध्यत्र मध्यत्र में प्राप्त सयोगान्त लोप का सयोगान्तलोपे यण प्रतिषेधो वाच्य इस वार्तिक से निषेध हो जायगा । चक्रतु चक्रु म कृ को यण हो कर अन् रहित हो जाने पर भी द्विर्वचनेचि सूत्र से यणादेश को स्थानिवत् मान कर कृ रूप हो जाने से द्वित्व सिद्ध हो जायगा । द्विर्वचनेचि सूत्र में कार्यातिदेश न मान कर रूपातिदेश माना गया है । उससे कृ इस रूप का ही स्थानिवत् स अतिदेश हो जाता है । इस प्रकार स्वविधि के सब प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं । वही दोष नहीं रहता । अतः अपरविधी न बह कर पूर्वविधी कहना ही टीका है ।

स्तोष्याम्यह पादिकमौदवाहिं तत श्वोभूते शातनीं पातनीं च ।

नेतारावागच्छत धारणिं रावणिं च तत पद्मात् सस्यते ध्वंस्यते च ॥

इह तावत् पादिकम्, औदवाहिम्, शातनीम्, पातनीम्, धारणिम्, रावणिम् इति । अकारलोपे कृते पद्मावः, ऊट्, अल्लोपः, टिलोपः इत्येते विधयः प्राप्तुवन्ति । स्थानिवद्भावात् भवन्ति । सस्यते ध्वंस्यते इत्यत्र णिलोपे कृते अनिदितां हल उपधायाः किञ्चितीति नलोपः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् भवतीति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । 'असिद्धवद्भावादि'त्यनेनाप्येतानि

हे श्वोभूति नामक शिष्य ! और नेता नामक दोनों शिष्य ! तुम आओ । मैं तुम्हें इस सूत्र के प्रयोजन करूँगा । पादिक, औदवाह, शातनी पातनी, धारणि रावणि, सस्यते ध्वंस्यते ये इस सूत्र के प्रयोजन हैं । पादिक (पादोस्यास्तीति, पाद ठञ्) यहाँ पाद शब्द से मत्वर्थाय ठञ् प्रत्यय पर रहते यस्येति च से पाद के अकार का लोप हो कर पाद पञ् से पदादेश प्राप्त होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । औदवाहि (उदवाहस्यापत्यम्, उदमाह इञ्) यहाँ उदवाह शब्द से इञ् पर रहते यस्येति च से उदवाह के अकार का लोप हो कर वाह ऊट् से ऊठ आदेश प्राप्त होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । शातनी पातनी (शातन पातन-डीप्) यहाँ शातन पातन शब्द जो गौरादिगण पठित हैं उनसे स्त्रीलिङ्ग में डीप् पर रहते यस्येति च से अकार लोप हो कर अल्लोपोऽन से अन् के अकार का लोप प्राप्त होता है । अकार लोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । धारण रावणि (धारणस्य रावणस्य अपत्यम्, धारण रावण-इञ्) यहाँ धारण रावण शब्दों से इञ् पर रहते यस्येति च से अकार का लोप हो कर नस्तद्धिते से दिसश्चक अन् शब्द का लोप प्राप्त होता है । अकारलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता । सस्यते ध्वंस्यते (सस् ध्वस्-णिच् यक् त) यहाँ णिन्त सस् ध्वस् धातुओं से यक् पर रहते णेरनिटि से णि का लोप हो कर सस् ध्वस् का नकार उपधा में आ जाने से अनिदिता हल उपधायाः किञ्चितीति से नकारलोप प्राप्त होता है । णिञोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता ।

ये कोई प्रयोजन नहीं । असिद्धवद्भावात् इस सूत्र से भी ये सब सिद्ध हैं ।

१. उदकस्येद संज्ञायाम् इस सूत्र से उदक को उद आदेश हुआ है । उदवाहो नाम कश्चिन् ।

सिद्धानि ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । याज्यते वाप्यते णिलोपे कृते यजादीनां कितीति सम्प्रसारणं प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् न भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । यजादिभिरत्र कित् विशेषयिष्यामः । यजादीनां यः किदिति । कश्च यजादीनां कित् ? यजादिभ्यो यो विहित इति । न चायं यजादिभ्यो विहितः ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । पठव्या मृद्व्येति । परस्य यणादेशे कृते पूर्वस्य न प्राप्नोति । ईकारयणा व्यवहितत्वात् । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

किं पुनः कारणं परस्य तावद् भवति न पुनः पूर्वस्य ?

नित्यत्वात् । नित्यः परयणादेशः । कृतेपि पूर्वयणादेशे प्राप्नोति ।

यहाँ कि पाठ पठ् वाह उठ आदि सभी सूत्र आभीय प्रकरण के हैं । उनके करने में यस्येति च और णरानटि स हुप् अकारलोप तथा णिलोप भी आभीय होने से असिद्ध हो जायेंगे तो पाठिन औदवाह आदि में पदादि आदेश नहीं होगा ।

अच्छा तो यह प्रयोजन लीजिये । याज्यते वाप्यते ( यञ् वप्-णिच् यक-त् ) यहाँ णिञन्त यञ् वप् धातुओं से यक पर रहते णि का लोप हो कर वचिरवार्त्ता से सम्प्रसारण प्राप्त होता है । णिलोप के स्थानिवत् होने से नहीं होता ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । वचिस्त्वपि सूत्र में यजादि धातुओं से कित् प्रत्यय का विशेषित करेंगे । यजादि सम्बन्धी कित् परे होन पर सम्प्रसारण होता है । जो किन् प्रत्यय यजादियों से विहित है ऐसा मानेंगे । याज्यते वाप्यते में यञ् वप् धातुओं से कित् प्रत्यय यक् का विधान नहीं है किन्तु णिञन्त याजि वापि से है इस लिये यहाँ सम्प्रसारण नहीं होगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । पठव्या मृद्व्या । यहाँ पठु ई आ इस अवस्था में आ पर रहते पहले ई को यणादेश हो कर उस का व्यवधान हो जाने से पूर्ववर्ती पठु के उकार को यणादेश नहीं प्राप्त होता । ई के यण् को इस मूत्र से स्थानिवत् मान कर हो जाता है ।

क्या कारण है जो पठव्या मृद्व्या में आप पहले ई को यण् करते हैं पठु के उकार को नहीं करते ?

पठव्या, मृद्व्या में हम नित्य होने से पहले ई को यण् करते हैं । ई का यण् नित्य है । पठु के उकार को यण् करने पर भी प्राप्त होता है ।

अकृतेपि प्राप्नोति । नित्यत्वात् परस्य यणादेशो कृते पूर्वस्थ न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । 'असिद्ध बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे' इत्यसिद्धत्वाद् बहिरङ्गलक्षणस्य परयणादेशस्य अन्तरङ्गलक्षणः पूर्वयणादेशो भविष्यति । अत्रय चैषा परिभाषा आश्रयितव्या स्वार्थम् । कर्त्या हर्ष्येति । 'उदात्तयणो हल्पूर्वाद्' इत्येष स्वरो यथा स्यात् ।

अनेनापि सिद्धः स्वरः । कथम् ।

आरभ्यमाणे नित्योऽसौ ।

और न करने पर भी । इस लिये पदु के उकार को पहले यण न कर के नित्य होने के कारण ई को यण करना पड़ता है । ई को यण करने पर उस का व्यवधान हो जाने से पदु उ उकार को यण नहीं प्राप्त होता । स्थानिवत् मान कर हो जाता है ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्ग इस परिभाषा से परवर्ती ई का यण बहिरङ्ग होने से असिद्ध हो जायगा । पूर्ववर्ती पदु के उकार का यण पूर्व पूर्वमन्तरङ्ग पर पर बहिरङ्गम् इस न्याय के अनुसार प्रथमोपस्थित होने से अन्तरङ्ग ई । इस लिये पहले बड़ा होगा । ई का यण उस के बाद में होगा । असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्ग इस परिभाषा का अर्थ है कि बहिरङ्ग लक्षण कार्य अन्तरङ्ग लक्षण कार्य करने में असिद्ध रहता है । अन्तरङ्ग से पहले बहिरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । इस लिये पहले पदवी बना कर फिर पटव्या बनाया जायगा । उस में स्थानिवत् की आवश्यकता ही नहीं है । असिद्ध परिभाषा का मानना स्वर के लिये भी आवश्यक है । जिस से कर्त्या हर्ष्या यद्वा उदात्तयणो हल्पूर्वात् से या विभक्ति को उदात्त स्वर सिद्ध हो सके । कर्तु ई आ इस अवस्था में अन्तरङ्ग होने से कर्तु के ऋ को पहले यणादेश रेफ हो कर फिर ई को यण होगा तो उदात्तयणो हल्पूर्वात् से ई को उदात्त हो कर फिर आ विभक्ति को भी उसी सूत्र से उदात्त सिद्ध हो जायगा । अन्यथा पहले ई को यण हो कर फिर ऋ को यण होगा तो ई के यण का व्यवधान होने से आ विभक्ति को उदात्त न हो सकेगा ।

कर्त्या, हर्ष्या में विभक्ति स्वर तो इस सूत्र से भी सिद्ध हो जायगा । कैसे ? अत्र परस्मिन् पूर्वविधौ इस स्थानित्सूत्र के बना देने पर पूर्वयणादेश

१. कर्तु हर्तु वृजन्त होने से अन्तोदात्त हैं । चित सूत्र से ऋ उदात्त है ।

आरभ्यमाणे त्वस्मिन् योमे नित्यः पूर्वयणादेशः । कृतेपि परयणादेशो प्राप्नोति । अकृतेऽपि ।

परयणादेशोऽपि नित्यः । कृतेपि पूर्वयणादेशो प्राप्नोति, अकृतेपि ।

परश्चासौ व्यवस्थया ।

व्यवस्थया चासौ परः ।

युगपत् सभावो नास्ति ।

न चास्ति यौगपद्येन सभावः । कथं च सिध्यति ।

बहिरङ्गेण सिध्यति ।

असिद्ध बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे इत्यनेन सिध्यति ।

एव तर्हि योऽनोदात्तयण् तदाश्रयः स्वरो भविष्यति ।

ईकारयणा व्यग्रहितस्यास्य प्राप्नोति ।

भी नित्य हो जायगा । कर्तृ ईं आ इस अवस्था में परवर्ती ईं के यण् को स्थानिवत् मान कर पूर्ववर्ती ऋ का यण् भी नित्य हो जाता है । ईं को यण् करने पर भी प्राप्त होता है और न करने पर भी । नित्य होने से ऋ का यण् ही पहले हो जायगा तो विभक्ति स्वर निर्वाच्य है ।

क-र्या, ह-र्या अथवा पट्-र्या, मृट्-र्या में परवर्ती ईं का यण् भी नित्य है । पूर्ववर्ती ऋ अथवा उकार को यण् करने पर भी प्राप्त होता है और करने पर भी । दोनों के विप्रतिषेध की व्यवस्था से ईं का यण् परे भी है । एक साथ दोनों यणा का सम्भव नहीं है । ऐसी विषम स्थिति में कैसे सिद्ध होगा ? असिद्ध परिभाषा से ही सिद्ध होगा । परवर्ती ईं का यण् बहिरङ्ग होने से असिद्ध है । उस क असिद्ध होने के कारण पहले पूर्ववर्ती ऋ अथवा उकार का यण् हो जायगा । उस से क-र्या ह-र्या में स्वर भी अप्याहृत रहेगा और पट्-र्या मृट्-र्या में स्थानिवत् के बिना ही काम चल जायगा ।

असिद्ध परिभाषा न भी माने तो भी क-र्या ह-र्या में स्वर सिद्ध हो जायगा । कर्तृ ईं आ इस अवस्था में पहले ईं का यण् करने पर फिर ऋ को यण् हो जायगा । ऋ का यण् उदात्त स्थानिक होने से उदात्तयण् है उस स परे विभक्ति को उदात्त स्वर सिद्ध हो जायगा ।

ईं के यण् का व्यवधान होने से क-र्या ह-र्या में विभक्ति को उदात्त



सुहृदां ततः सम्बन्धिनाम् । प्रातिपदिक चाप्युपदिष्ट सामान्यभूतेऽर्थे वर्तते । सामान्ये वर्तमानस्य व्यक्तिरुपजायते । व्यक्तस्य सतो लिङ्सस्याभ्यामन्वितस्य बाह्यनार्थेन योगो भवति । यथेव चानुपूर्व्याऽर्थानां प्रादुर्भावस्तथेव शब्दानामपि, तद्वत् कार्यरपि भवितव्यम् ।

इमानि तर्हि प्रयोजनानि । पठयति । लघयति । अवधीत् । बहुखट्वकः । पठयति लघयतीति णिचि टिलोपे कृते 'अत उपधाया' । इति वृद्धिः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् भवति । अवधीदित्यकारलोपे कृते 'अतो हलादलघोरिति विभाषा वृद्धिः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् भवति । बहुखट्वक इति 'आपोऽन्यतरस्यामि'ति द्वस्ये कृते ह्रस्वान्तेऽन्त्या-

अन्य सम्बन्धियो क काम दखता है । इसी प्रकार यहा शास्त्र म प्रातिपदिक भी पहले सामान्य अर्थ का वाचक होता है । सामान्य स विशेष व्यक्ति (द्रव्य) का । फिर उस का लिङ्ग और सख्या के साथ योग हो कर बहिर्भूत कर्ता कम करण आदि अर्थ जो दूसर का (क्रिया की) अपेक्षा रखन वाल हैं उन स योग हो जाता है । जिस क्रम से पदार्थों का प्रादुर्भाव होता है उसी क्रम स शब्दों का तथा तत्सम्बन्धी कार्यों का योग भी होना चाहिये । इस प्रकार लोकसिद्ध असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा का आश्रयण कर क पठ्या मृद्व्या मे पहले पूर्ववर्ती पठु क उकार को यण् हा कर पठ्वा बनायेंगे । फिर आ परे रहत ई को यण् हो कर पठ्वा बन जायगा । प्रथमोपस्थित यणादश अन्तरङ्ग है इस लिये पहले वही होगा । उस अवस्था में स्थानिवत् की आवश्यकता नही रहती ।

अच्छा तो ये प्रयोजन लीनिये । पठयति लघयति । अवधीत् । बहुखट्वकः । पठयति लघयति (पठु लघु वा आचष्टे पठु लघु णिच्) यहा पठु शब्द स णिच पर रहते ट स पठु क टि सञ्ज्ञक उकार का लोप हो कर उपधा में अकार हो जान से पठ् की अत उपधाया से उपधावृद्धि प्राप्त होती है । उकारलोप क स्थानिवत् होने से नहीं होती । अवधीत् (हन्+वध् सिन्-उक्) यहा सिच पर रहते वध के अकार का अतो लोप से लोप हो कर अतो हलादलघो स विकल्प स वृद्धि प्राप्त होती है । अकारलोप क स्थानिवत् होने स नहीं होती । बहुखट्वक (बहुध खटवा यास्मन् स) यहा बहुधीहि समास में

१ उपजायत का अर्थ उत्पद्यत उत्पन्न होता है नहीं । जोर का विषय होता है ऐसा अर्थ है ।

तूर्वमि'ति एष स्वरः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावात् न भवति ।

इह वैयाकरणः सौवश्व इति व्योः स्थानिवद्भावादायावौ प्राप्नुत-  
स्तयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

अच. पूर्वविज्ञानादैचो. सिद्धम् ।

योऽनादिप्रादच. पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावः । आदिप्रा-  
दचैपोऽच. पूर्वः ।

किं वक्तव्यमेतत् ?

कप् परे रहते खद्वा को आपोऽन्यतरस्याम् से ह्रस्व हो कर ह्रस्वान्तेऽन्यात्पूर्वम् से द्वा से पूर्व 'ख' को उदात्त स्वर प्राप्त होता है । स्थानिवत् होने से ह्रस्व न रहेगा तो ख पर स्वर न हो कर अपि पूर्वम् से द्वा को इष्ट उदात्त स्वर सिद्ध हो जाता है ।

वैयाकरणः सौवश्व. ( वि आ करणम्=व्याकरणम् । व्याकरणमधीते वेद वा ।  
सु अश्वः=स्वश्व. । स्वश्वे भव । व्याकरण, स्वश्व-अण् ) यहाँ वि आ करण, सु  
अश्व इस अवस्था में इको यणचि से हुए यकार वकार आदेश को इस सूत्र  
से स्थानिवत् मान कर अच् परे हो जाने से (ऐच् आगम हो जाने पर) वे  
और सौ के ए औ को आय् आव् आदेश प्राप्त होते हैं उन का निषेध  
कहना चाहिये ।

वैयाकरणः, सौवश्व. में आय् आव् आदेश के निषेध की आवश्यकता  
नहीं । क्योंकि यहाँ पूर्वविधि न होने से यकार वकार आदेश स्थानिवत् न  
होंगे । अनादिष्ट जो अच् है अर्थात् जब तक अच् के स्थान में आदेश नहीं  
हुआ उस से पूर्व विद्यमान को कार्य करने में ही स्थानिवद्भाव होता है ।  
आदिष्ट हुए अच् से पूर्व विद्यमान को कार्य करने में स्थानिवत् नहीं होता ।  
यहाँ यकार वकार आदेश होने के बाद न ध्याभ्या पदान्ताभ्या पूर्वी तु ताभ्यामैच्  
से ऐ औ हुए हैं । इस लिये आदिष्ट अच् से पूर्व ऐ औ होने से यहाँ स्थानिवद्भाव  
न होगा तो आय् आव् आदेश न होंगे ।

क्या यह बात कहनी होगी कि अनादिष्ट अच् से पूर्व विधि में ही  
स्थानिवद्भाव होता है, आदिष्ट अच् से पूर्व की विधि में नहीं होता ?

१. अनादिष्टादच. —अविद्यमानम् आदिष्टमादक्षो यस्याचः, तस्मात् । आदिष्ट  
यहाँ भावे क्त समझना चाहिये ।

नहि ।

कथमनुच्यमानं गंस्यते ?

अच इति पञ्चमी । अच. पूर्वस्य ।

यद्येवमादेशोऽविशेषितो भवति ।

आदेशश्च विशेषितः । कथम् । न ब्रूमो यत् पष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं तत् पञ्चमीनिर्दिष्टं कर्तव्यमिति ।

किं तर्हि । अन्यत् कर्तव्यम् ?

अन्यच्च न कर्तव्यम् । यदेवाद्ः पष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं तस्य दिक्शब्दैर्योगे पञ्चमी भविष्यति । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधिं प्रति स्थानिवद् भवति । कुतः पूर्वस्य ? अच इति । तद्यथा आदेशः

इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं ।

बिना कहे कैसे समझी जायगी ?

अच परस्मिन् पूर्वविग्री इस सूत्र में अचः यह पञ्चमी पष्ठी दोनों का रूप संभव है । हम अच को यहाँ पञ्चमी मानेंगे । सूत्र का अर्थ होगा अच् से जो पूर्व है उस को विधि करने में स्थानिवद् होता है । आदेश से जो पूर्व है उस को विधि करने में स्थानिवद् नहीं होगा तो वैयाकरणः सौवश्व-इकार उकार रूप अच् से पूर्व ऐ औ ॐ न होने से स्थानिवत् नहीं होगा ।

यदि अचः को पञ्चमी मानेंगे तो पष्ठी न रहने से अच् के स्थान में जो आदेश यह स्थानिवत् होता है यह अर्थ नहीं निकल सकेगा । अच् द्वारा आदेश विशेषित न होगा तो इल् के स्थान में हुआ आदेश भी स्थानिवत् होने लगेगा ।

अच् से आदेश भी विशेषित हो जायगा ? कैसे ? हम यह नहीं कहें कि अच परस्मिन् में अचः जो पष्ठी विभक्ति का निर्देश है उसे पञ्चमी विभक्ति का निर्देश बना लिया जाय ।

तो फिर क्या दूसरा अच यह पञ्चमी विभक्ति के लिये पढ़ना चाहिये ?

पञ्चमी के लिये दूसरा अच पढ़ने की आवश्यकता नहीं । पष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट यह अच. शब्द ही पूर्व इस दिक्शब्द के योग में पञ्चमी विभक्त्यन्त बन जायगा । पर को निमित्त मान कर हुआ जो अच् के स्थान में आदेश यह पूर्व विधि करने में स्थानिवत् होता है । किस से पूर्व को विधि करने

प्रथमानिर्दिष्ट । तस्य दिक्शब्दयोगे पञ्चमी भवति । अजादेश  
परनिमित्तक पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद् भवति । कुत पूर्वस्य ?  
आदेशादिति ।

तत्रादशलक्षणप्रतिषेध ।

तत्रादेशलक्षण कार्यं प्राप्नोति । तस्य प्रतिषेधो वक्तव्य । वाय्वो  
अध्वर्य्वो । 'लोपो व्योर्बली'ति लोप प्राप्नोति ।

असिद्धवचनात् । सद्धम् ।

मैं स्थानिवत् हाता है जब यह विचार होगा ता साक्षात् उचरित अच शब्द  
ही पञ्चमी में बदल जायगा । अर्थ हाता—अच क स्थान में हुआ आदेश,  
अच से पूर्व का विधि करन में स्थानिवत् होता है । जिस प्रकार अब सूत्र  
क अर्थ म (पूर्वसूत्र स अनुवृत्त) प्रथमा निर्दिष्ट आदेश शब्द पूर्व इस दिक् शब्द क  
याग म पञ्चमा म बदल जाता है । सूत्र का अर्थ हाता है—पर को निमित्त  
मान कर हुआ 'ता' अच क स्थान म आदेश वह आदेश स 'तो' पूर्व है  
उस का विधि करन में स्थानिवत् होता है । इस प्रकार एक 'ता' अच यह  
शब्द आदेश को भी विनाशित कर दगा और पर्वता में निमित्त भी बन जायगा ।

आदेश का स्थानिवत् क'न में स्वयं आदेश के आश्रित 'ता' कार्य हैं वे  
भा प्राप्त होते हैं । क्योंकि स्थानिवत् इस अतिदेश स स्थानी क कार्य आदेश  
में हो जायें किंतु आदेश क अपन कार्य भी हात रहें । उनका निरर्थक कहना  
चाहिये । तब—वाय्वा अध्वर्य्वो यहा वायु अध्वर्यु शब्द स भास पर रहते  
इको यण्वि स वकार रूप यणादेश हुआ है । उसका स्थानिवत् मान कर भी  
वकार आदेश क स्वयं बलादि होने स उसक पर रहत 'गेयो व्योव'ि स  
यकार का हाप प्राप्त हाता है ।'

१ यह बात वार्तिककार का तरफ स समझना चाहिये । भाव्यकार तो  
विधिग्रहण को स्वाध्यायनिरूप्यार्थ पहच कह चुक ह । उन क मत में यह बात  
नहीं आता । विधिग्रहण क सामान्य से ग्याना के काय हा आदेश म अतिदिष्ट  
होंगे । आदेश सम्बन्धा अपन कार्यों की निवृत्ति हो जायगा । यहा भाव्यकार  
का वह वचन स्मरण रखना चाहिये—

विधिमात्र स्थानिवद्भावा यथा स्यात् । अनाश्रयमाणायामपि प्रकृतौ ।  
वाय्वा अध्वर्य्वो इति ।

अजादेशः परनिमित्तक पूर्वस्य विधिं प्रत्यसिद्धो भवतीति वक्तव्यम् ।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेदुत्सर्गलक्षणानामनुदेशः ।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेदुत्सर्गलक्षणानामनुदेशः कर्तव्यः । पटव्या, मृद्व्येति ।

ननु चेतदप्यसिद्धवचनात् सिद्धम् ।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेन्नान्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य भावः ।

असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेत् तन्न । किं कारणम् । नान्यस्या-

आदेश को स्थानिवत् न कह कर असिद्ध कहना चाहिये उससे उक्त दोष न होगा । वाच्यो अवच्यो में यकार रूप आदेश क असिद्ध होने से वकार परे न होगा तो यकार का लोप न होगा । सूत्र का अर्थ इस प्रकार करेंगे—पर को निमित्त मान कर हुआ अच् के स्थान में आदेश पूर्व को कार्य करने में असिद्ध होता है ।

यदि स्थानिवत् की जगह असिद्ध कह कर उक्त दोष का समाधान करेंगे तो उत्सर्गलक्षण कार्य नहीं सिद्ध होते । उन का अतिदेश भी करना होगा । यही उत्सर्ग का अर्थ स्थानी है । आदेश में इन स्थानी के कार्य भा चाहते हैं और आदेश के स्वाश्रय कार्यों की निवृत्ति भी चाहते हैं । स्थानिवत् की जगह असिद्ध कहन से केवल आदेशाश्रित कार्यों की निवृत्ति तो हो जायगी । किन्तु स्थाना के कार्य न हो सकेंगे क्योंकि स्थानिवद्भावे वाच्य मानते ही नहीं । उस में पटव्या मृद्व्या इन पूर्वोक्त उदाहरणों में परवर्ती ई के यण आदेश को स्थानिवत् न होने से पूर्ववर्ती पटु मृदु के उकार का यण न हो सकगा । असिद्ध कहने से ई का यण असिद्ध हो जायगा तो परे अच् न मिलन से पूर्व उकार को यण कैसे होगा ।

पटव्या मृद्व्या में भा असिद्ध कहन से दोष न होगा । क्योंकि पटु ई भा इस अवस्था में शास्त्रासिद्धत्व पक्ष का मानते हुए परवर्ती ई क स्थान में प्राप्त यणादेश विधायक दास्य को ही असिद्ध कर देंगे तो अच् परे मिल जाने से पूर्ववर्ती उकार को यण भा जायगा ।

पटव्या मृद्व्या में जो समाधान किया है वह नहीं बनता । क्योंकि अन्य के

१. अनुदेशः—अतिदेशः ।

२. उत्सर्ज्यते निवर्त्यते इत्युत्सर्गः स्थानी ।

सिद्धवचनादन्यस्य भावः । न ह्यन्यस्यासिद्धत्वादित्यस्य प्रादुर्भावो भवति ।  
तद्यथा नहि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति ।

तस्मात् स्थानिवद्वचनमसिद्धत्वं च ।

तस्मात् स्थानिवद्भावो वक्तव्यः असिद्धत्वं च । पटव्या मृद्व्येति  
स्थानिवद्भावः । वाय्वोरध्वर्वोरित्यत्रासिद्धत्वम् ।

उक्तं वा ।

किमुक्तम् । 'स्थानिवद्वचनानर्थक्यं शास्त्रासिद्धत्वादि'ति ।

विषय उपन्यास । युक्तं तत्र यदेकादेशशास्त्रं तुक्शास्त्रे असिद्धं  
स्यात् । अन्यदन्यस्मिन् । इह पुनर्युक्तम् । कथं हि तदेव नाम तस्मि-  
न् असिद्धं स्यात् ।

असिद्ध कहने से अन्य की सत्ता नहीं हो सकती । पटव्या में हुए ई के यणादेश  
के विधायक सूत्र को असिद्ध कहने से ईकार नहीं आ सकता । ई को तो यणादेश  
मध्य कर चुका है । अब उस नष्ट करने वाले का नष्ट करने में कसे  
प्रादुर्भूत हो सकता है । उस देवदत्त को मारने वाले का मार देने पर देवदत्त  
जीवित नहीं हो सकता । इस लिये कबल असिद्ध न कह कर स्थानिवत् भी  
कहना चाहिये । आदेश स्थानिवत् होता है और असिद्ध भी होता है । लक्ष्या  
नुरोध से व्यवस्था होन पर पटव्या मृद्व्या में स्थानिवत् हो जायगा और वाय्वो,  
अध्वर्वो में असिद्ध हो जायगा ।

पञ्चतुरासद सूत्र पर यह उचन कहा गया है कि स्थानिवद्वचनानर्थक्य  
शास्त्रासिद्धत्वात् ॥ कार्यासिद्धत्वं पक्ष न मान कर हम शास्त्रासिद्धत्वं पक्ष मानेंगे ।  
उस में यन् विधान करने वाला इका यणचि यह शास्त्र ही असिद्ध हो जायगा  
तो कार्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता । पटव्या मृद्व्या में ई का यण करने के  
लिये प्रवृत्त हुए इको यणच को ही असिद्ध कर देंगे तो ईकार के अव्याहत  
रहने से परे ईकार मिल जायगा । उस से पूर्ववर्ती उच्चार को यण सिद्ध  
हो जायगा ।

पञ्चतुरासद के असिद्ध वचन के समान यह असिद्ध वचन नहीं हो  
सकता । वहाँ तो एकादेशविधायक सूत्र अन्य है । और तुक् विधायक अन्य  
है । इस लिये तुक् शास्त्र करने में एकादेश शास्त्र असिद्ध हो सकता है ।  
अन्य शास्त्र का अन्य शास्त्र के प्रति असिद्ध होना युक्त है । किन्तु यहाँ पटव्या

तदेव चापि तस्मिन्नसिद्ध भवति । वक्ष्यति ह्याचार्यः 'चिणो लुकि तग्रहणानर्थस्य संघातस्याप्रत्ययत्वात् तलोपस्य चासिद्धत्वादि'ति । चिणो लुक् चिणो लुक्प्येवासिद्धो भवति ।

काममतिदिश्यता वा सच्चासच्चापि नेह भारोस्ति ।

कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्य वक्तव्यार्थान हि ॥

अथवा वृत्तिनिर्देशोऽयम् । कामचारश्च वृत्तिनिर्देशे वाक्यशेष समर्थयितुम् । तद्यथा उशीनरवन्मद्रेषु यवाः । सन्ति न सन्तीति । मातृ-  
घदस्याः कलाः । सन्ति न सन्तीति । एवमिहापि । स्थानिवद् भवति  
स्थानिवन्न भवतीति वाक्यशेषं समर्थयिष्यामहे । इह तावत् पटव्या  
मृद्व्यति यथा स्थानिनि यणादेशो भवति एवमादेशेपि भवति । इहेदानीं

मृद्व्या में एक ही इको यणचि शास्त्र स्वयं इको यणचि शास्त्र के प्रति असिद्ध कैसे होगा ?

वही शास्त्र स्वयं अपने प्रति भी असिद्ध हो जाता है । आगे चिणो लुक् सूत्र पर यह यत्न करेंगे कि चिणो लुक् चिणो लुक्प्येवासिद्धो भवति । वहाँ चिणो लुक् शास्त्र को स्वयं चिणो लुक् शास्त्र के प्रति ही असिद्ध माना गया है । वैसे यहाँ भी पटव्या मृद्व्या में ई को यण करने वाला इको यणचि शास्त्र उ को यण करने वाले इको यणचि के प्रति असिद्ध हो जायगा । अथवा असिद्ध न कह कर स्थानिवत् ही रहने दीजिये । स्थानिवत् में वृत्तिप्रत्यय का निर्देश है । और वृत्तिप्रत्यय में प्रयोग करने वाले की इच्छा है—वद् भाव या अभान दोनों में किसी का भी अतिदेश कर लेवे । कामम्=इच्छानुसार । अति-  
दिश्यताम्=अतिदेश कर लेवे । सच्च असच्च अपि=भाव और अभान का भी ।  
नेह भारोऽस्ति=इस सूत्र में अभान का अतिदेश करने में कोई भार या कष्ट नहीं है अर्थात् कोई अधिक सूत्र नहीं बनाना पड़ता । क्योंकि वाक्य पक्षा के अधीन होगा है इस लिये यह अपनी इच्छा के अनुसार वाक्यलोप की कल्पना कर ले । जैसे मद्र देत में उशीनर देश की तरह यत्र है ऐसा कहने पर यह अर्थ समझा जाता है कि यदि मद्र देत में यव है तो उशीनर में भी है । यदि वहाँ नहीं है तो वहाँ भी नहीं है । माता के समान इस कन्या के भर्त्ता हैं ऐसा कहने पर यही समझा जाता है कि यदि माता के भर्त्ता सुन्दर हैं तो इसके भी हैं । यदि वे सुन्दर नहीं हैं तो इसके भी नहीं हैं । इसी प्रकार स्थानिवत् कहने पर यह समझा जायगा कि जैसा स्थानी है वैसा

वाय्योरध्वयोरिति यथा स्थानिनि यलोपो न भवति एवमादेशेऽपि न भवतीति ।

किं पुनरनन्तरस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावः, आहोस्वित् पूर्वमात्रस्य ।  
कश्चात्र विशेषः ?

अनन्तरस्य चेदेकाननुदात्तद्विगुस्वरगतिनिघातेषूपसंख्यानम् ।

अनन्तरस्येति चेदेकाननुदात्तद्विगुस्वरगतिनिघातेषूपसंख्यानं कर्तव्यम् । एकाननुदात्तं—लुनीह्यत्र । पुनीह्यत्र । अनुदात्तं पदमेकवर्ज-

भादेश है । यदि स्थानी में स्थानी के रहते किसी कार्य की सत्ता है तो आदेश में भादेश होने पर भी उस की सत्ता का अतिदेश हो जायगा । और यदि स्थानी में कोई कार्य नहीं दीखता तो आदेश में भी उस के अभाव का अतिदेश समझा जायगा । उस से पट्ठ्या मृट्ठ्या में स्थानी में यण दीप्तता है तो आदेश में भी यण का भावातिदेश हो जायगा । वाजोः अथर्वजोः में स्थानी उ के परे रहते य का लोप नहीं दीखता तो आदेश में भी उसके अभाव का अतिदेश हो जायगा ।

क्या अनन्तर अर्थात् व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में ही स्थानिरत् होता है या पूर्वमात्र में अर्थात् व्यवधान सहित पूर्व के कार्य में भी ?

दोनों पक्षों में क्या विशेष है ?

यदि व्यवधानरहित पूर्व के कार्य में ही स्थानिवत् मानते हैं तो एकाननुदात्त= एक अक्षर को छोड़ कर सारे पद को अनुदात्त करने वाले अनुदात्त पदमेकवर्जम् इस सूत्र के स्वर में तथा इगन्तरालकपालभगालक्षरविषु द्विगौ इस द्विगुस्वर में ओर तिङि वादात्तवाने से निधेयमान गति के निघात स्वर में स्थानिवत् कहना होगा । एकाननुदात्त जैसे— लुनीयत्र पुनीयत्र । (लुनीहि+अत्र पुनीहि+अत्र) यहाँ लुनीहि पुनीहि में सर्वपञ्च से हुआ सिप् के स्थान में द्वि आदेश अपित् कहा गया है । इस लिये अनुदात्तौ सुप्पितौ से वह अनुदात्त न हो कर आनुदात्तश्च इस प्रत्ययस्वर से उदात्त है । उस के स्थान में इको

१ एकम् अननुदात्तं यस्मिन् स एकाननुदात्तः स्वरः । एक है अनुदात्त-भिन्न अर्थात् उदात्त या स्वरित स्वर जिस में वह जाम्नीय स्वर एकाननुदात्त कहाता है । उदात्त या स्वरित को छोड़ कर शेष निघात करने वाले सूत्र को एकाननुदात्त स्वर कहते हैं ।



मित्येप स्वरो न प्राप्नोति । द्विगुस्वर—पञ्चारत्न्यः । दशारत्न्यः । इगन्त-  
कालेत्येप स्वरो न प्राप्नोति । गतिनिघात—यत् प्रलुनीह्यत्र । यत् प्रपुनीह्यत्र ।  
तिङि चोदात्तवतीत्येप स्वरो न प्राप्नोति ।

अस्तु तर्हि पूर्वमात्रस्य ।

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाहस्वत्वम् ।

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाहस्वत्वं यक्तव्यम् । वादितवन्तं प्रयोजितवान् ।

यणचि से यणादेश हो कर उदात्त न रहने से शेष अर्धों को अनुदात्त पद-  
मेववर्जम् से अनुदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता । यदि स्थानिवद्भाव से उदात्त  
अच् माँ से लुनी, पुनी के व्यवधान रहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि  
नहीं है । द्विगुस्वर जैसे—पञ्चारत्न्य दशारत्न्य । (पञ्च अरत्न्यः प्रमाणमेषा ते ) यहां प्रमाण रूप तद्धित के अर्थ में पञ्चन् भरलि  
शब्दों का द्विगुसमास हो कर प्रमाणे द्वयसञ् दणच् मात्रचः से मात्रच् प्रत्यय  
होता है । प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम् से मात्रच् का लुक् हो जाता है । पञ्चा-  
रलि शब्द से जस् पर रहते जसि च से प्राप्त गुण का जसादिपु छन्दसि  
वा वचनं प्राह् जी चङ्गुपधायाः इस वचन द्वारा अभाव होकर इको यणचि से  
यणादेश होता है । यणादेश हो कर इगन्त न रहने से इगन्तकालकालः इस  
सूत्र से द्विगुसमास में होने वाला पूर्वपदप्रकृति स्वर नहीं प्राप्त होता । यदि स्थानि-  
वद्भाव से इगन्त माँ से लुनी, दशन् शब्दों के व्यवधानरहित पूर्व में न  
होने से पूर्वविधि नहीं है । गतिनिघात जैसे—यत् प्र लुनीह्यत्र । यत् प्र पुनीह्यत्र ।  
यहां लुनीहि पुनीहि ये तिङन्त क्रियायें हैं । प्र उपसर्ग गति संज्ञक है । यत्  
शब्द का योग तिङ्गतिङ् से प्राप्त निघात को रोकने के लिये है । क्योंकि  
निघातैर्यदिहन्तकुविशेषेत् । इस सूत्र से तिङन्त क्रिया के निघात का यत्  
के योग में निषेध होता है । लुनीहि के उदात्त हि शब्द में इको यणचि से  
यणादेश होकर उदात्त न रहने से तिङि चोदात्तवति से विहित गति संज्ञक  
प्र शब्द को निघात (अनुदात्त) नहीं प्राप्त होता । यदि स्थानिवद्भाव से उदात्त  
तिङ् पर माँ से प्र शब्द के व्यवधानरहित पूर्व में न होने से पूर्वविधि नहीं  
है । इस प्रकार व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवद्भाव मानने पर स्वर-  
सम्बन्धी उक्त तीनों स्थलों में स्थानिवद्भाव नहीं प्राप्त होता । यहां स्थानि-  
वद्भाव का उपसंख्यान करना होगा ।

तो फिर पूर्वमात्र में स्थानिवद्भाव मान ले ।

यदि व्यवधान सहित पूर्व के कार्य में भी स्थानिवत् मानते हैं तो

अवीवदद् वीणां परिवादकेन ।

किं पुनः कारण न सिध्यति ॥

योऽसौ णो णिर्लुप्यते तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्व न प्राप्नोति ।

गुरुसज्ञा च ।

गुरुसज्ञा च न सिध्यति । श्लेषश्च । पित्तश्च । दशध्व । मशध्व । 'हलोऽनन्तरा सयोग' इति सयोगसज्ञा । 'सयोगे गुरु' इति गुरुसज्ञा । गुरोरिति प्लुतो न प्राप्नोति ।

ननु च यस्याप्यनन्तरस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावस्तस्याप्यन-

उपधाह्रस्वत्व कहना होगा । वादितवन्त प्रगच्छितवान् = भवन्तः । (वर्णिन्-गिन्-चल्-लुक् तिर) यद्वा णिन्त वादि धातु उ उपधाभूत आकार को णौ चङ्गुनधाया ह्रस्व स उपधाह्रस्व नहीं प्राप्त होता । वह कहना होगा ।

क्या कारण है जो अवावदन् में उपधाह्रस्वत्व नहीं प्राप्त होता ?

अवावदन् में णिन्त वद् धातु स दूसरा णिच पर रहत जो पहल णिच् का णरनाट से छाप हुआ है उस का स्थानिवत् मान क/ णिच का व्यवधान हो जायगा तो वादि क आकार क उपधा में न रहने स णौ चङ्गुनधाया से उपधा ह्रस्वत्व नहीं प्राप्त होता । इनक भवितरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवत् मानने पर गुरुसज्ञा भी नहीं सिद्ध होती श्लेषश्च । पित्तश्च । श्लेषाण पित्त वा हन्ति इति तन्मन्बुद्धौ प्लुतः) यद्वा हन् धातु स अननुचक्रृक च स विहित टक प्रत्यय पर रहत गमहनन खन० से हुए अकारलोप को स्थानिवत् मानने स ध्व शब्द का सयोगसज्ञा न होगी तो सयोग गुरु स पूर्व की गुरु सज्ञा नही प्राप्त होती । गुरुसज्ञा न होने से गुरोरनृत० स प्लुत न हो सकगा । इसी प्रकार दशध्व । मशध्व व । यद्वा दधि मधु क यणादेन का स्थानिवत् मानने से य, ध्व शब्दों का सयोग सज्ञा न होगा । क्योंकि हलोऽनन्तरा सयोग. सूत्र स व्यवधानरहित हलो की सयोगसज्ञा होती है सयोगसज्ञा न होने स पूर्व की गुरु सज्ञा न होगा । गुरु सज्ञा न होने से गुरोरनृत से प्लुत नहीं प्राप्त होता ।

गुरुसज्ञा की असिद्धिरूप दोष तो व्यवधान रहित पूर्व के कार्य में स्थानिवत् मानने में भा है । क्योंकि व्यवधान रहित ह्रस्व का सयोग सज्ञा कही है । वह व्यवधान रहित पूर्व का कार्य है । उसमें अकार लोप और यणादेश

न्तरलक्षणो विधिः सयोगसञ्ज्ञा विधेया ।

न वा सयोगस्यापूर्वविधित्वात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । सयोगस्यापूर्वविधित्वात् । न पूर्वविधिः सयोगः । किं तर्हि । पूर्वपरविधिः सयोगः ।

एकादेशस्योपसंख्यानम् ।

एकादेशस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । श्रायसौ गौमतो । चातुरौ ।

को स्थानिवत् मानन से व्युत्पन्न हो जायगा तो स्नेष्प, प्ल, द, ध्यस्व यद्वा अनन्तर हल् न होने से सयोग सञ्ज्ञा न हो सकेगी । सयोग सञ्ज्ञा न होने से गुरु सञ्ज्ञा न होगी और गुरु सञ्ज्ञा न होने से प्लुत नहीं प्राप्त होता । इस लिये दोनों पक्षों में गुरुसञ्ज्ञा की असिद्धि रूप दोष का उचित समाधान यही है कि—

स्नेष्प, प्ल, द, ध्य यद्वा प्ल और ध्य की सयोगसञ्ज्ञा केवल पूर्वविधि नहीं है बल्कि परविधि भी है । अकारलोच और यणादेश से पूर्व घू और ध हैं । उनसे पर न और य हैं । दोनों मिल कर सयोग होते हैं । इस लिये सयोगसञ्ज्ञा में केवल पूर्वविधि न हान से स्थानिवत् न होगा तो सयोगसञ्ज्ञा हो कर गुरुसञ्ज्ञा और प्लुत सिद्ध हो जायगा । इस प्रकार दोनों पक्षों में गुरुसञ्ज्ञा की असिद्धि रूप दोष का समाधान हो जाता है ।<sup>१</sup>

पूर्व पर के स्थान में हुए एकादेश में स्थानिवद्भाव कहना चाहिये । सूत्र में परास्मिन् यह अन्वयार्थ है । अर्थ है—आदेश के केवल परनिमित्तक होने पर ।

१ पूर्वमान में स्थानिवद्भाव मानने पर केवल अवीवद्वाला दाप रहता है । उमका भा समाधान आग न पदा तद्विर्वचन० सूत्र पर करें—किन्तुगुणधात्व-चङ्परनिर्वासमुत्वरूपसंख्यानम् इस वार्तिक से चङ्परक णि परे रहते उपधा ह्रस्व करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता । उससे अवीवद्वा में पहला गिलोप स्थानिवत् न होगा तो वाद का आकार उपधा में आ जाने से भी चङ्गुपधायाः से उपधाह्रस्व निर्गम्य सिद्ध हो जायगा । इस प्रकार पूर्वमात्र में स्थानिवद्भाव मानने में कोई दोष नहीं रहता । बलुन अनन्तर पूर्व वाच में स्थानिवद्भाव मानने में ना कोई दोष नहीं है । एकादशतन्त्रादे तानो दोष असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे इस परिभाषा का साध्यण न करने से प्राप्त होता है । लुनीछात्र आदि तानो स्वरस्थलों में द्विपदस्थ हान म य् बहिरङ्ग हो कर असिद्ध हो जायगा तो उदात्त अन् मित्रन से अन्ट म्बर सिद्ध हो जायेंगे ।

आनडुहौ । पादे । उदवाहे । एकादेशे कृते जुमामौ पद्मावः ऊर् इत्येते विधयः प्राप्नुवन्ति ।

किं पुनः कारण न सिध्यन्ति ?

उभयनिमित्तत्वात् ।

अजादेशः परनिमित्तक इत्युच्यते । उभयनिमित्तश्चायम् ।

उभयादेशत्वाच्च ।

अच आदेश इत्युच्यते । अचोश्चायमादेशः ।

धायसौ गौमतौ (ध्रेयसि गोमति च भवौ । ध्रयस्, गोमन् अण्) यहा ध्रेयस् गोमन् शब्द भ्रम स इयसुन् और मनुप् प्रत्ययान्त है । उनसे भवार्थ में तद्धित अण् प्रत्यय कर के धायस गौमत बनते हैं । और विभक्ति पर रहते वृद्धि एकादेश होता है । उसे परादिवद्भाव से औ मान कर धायस गौमन् का उगिदचा० से जुम् प्राप्त होता है । वृद्धि एकादश को स्थानिवत् मानने से अकार का व्यवधान हो जायगा तो जुम् नहीं होता । चातुरी आनडुहौ (चतुर्थ, अनडुहि च भवौ । चतुर, अनडुह अण्) यहा भवार्थक अण् प्रत्ययान्त चातुर आनडुह शब्दों से औ विभक्ति पर रहते वृद्धि एकादेश होता है । उस परादिवद्भाव से औ मान कर चातुर आनडुह का चतुरनडुहोरामुदत्त से आम् प्राप्त होता है । वृद्धि एकादेश को स्थानिवत् मानने से अकार का व्यवधान हो जायगा तो आम् नहीं होता । पादे उदवाहे । यहाँ पाद और उदवाह शब्दों से ङि विभक्ति पर रहते गुण एकादश होता है । उस को परादिवद्भाव स ङि मान कर भस्त्रक पाद् को पाद पन् से पदादश उदवाह को वाह ऊर् से ऊर् आदेश प्राप्त होता है । गुण एकादेश को स्थानिवत् मानने से अकार का व्यवधान हो जायगा तो पदादेश और ऊर् आदेश नहीं होता ।

धायसो गौमतो आदि एकादेश में स्थानिवद्भाव द्वारा जुम् आदि का अभाव क्यों नहीं सिद्ध होता ? अच परस्मिन् सूत्र से ही स्थानिवत् सिद्ध है तब एकादश में स्थानिवद्भाव के उपसर्गान की क्या आवश्यकता है ?

धायसो गौमतो आदि एकादश के स्थलों में अचः परस्मिन् सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं सिद्ध होता । क्योंकि परनिमित्तक अच् के स्थान में हुआ

१. ध्रेयसि भव. ध्रायस । अण् । द्विकाशिशपा—इत्यादि सूत्र से ए के आकार हुआ है ।

नैप दोषः । यत्तावदुच्यते उभयनिमित्तत्वादिति । इह यस्य ग्रामे नगरे वा अनेक कार्य भवति, शक्नोत्यसौ ततोऽन्यतरतो व्यपदेशम् । तद्यथा गुरुनिमित्तं वसामः । अध्ययननिमित्तं वसाम् । इति । यदप्युच्यते- उभयादेशत्वाच्चेति । इह यो द्वयोः पृष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे भवति, लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम् । तद्यथा देवदत्तस्य पुत्रः देवदत्तायाः पुत्र इति ।

आदेश स्थानित्व कहा है । ध्रायसौ आदि में उभयनिमित्तक अजादेश है । ध्रायस का अकार और औ विभक्ति का औकार ये दोनों मिल कर आदेश हुआ है । उस में जहाँ पर ओ को निमित्त मान कर आदेश हुआ है वहाँ पूर्व अकार को भी निमित्त मान कर हुआ है । क्योंकि पूव पर के स्थान एकादश होता है । इस लिये केवल पर को निमित्त मान कर अजादेश न होने से अच. परस्मिन् सूत्र से स्थानिवद्भाव नहीं सिद्ध होता । इस के साथ यह भी है कि एक अच के स्थान में आदेश नहीं हुआ है बल्कि पूर्व और पर इन दो अचों के स्थान में हुआ है । अच के स्थान में होने वाला आदेश स्थानिवत्त्व कहा है । यहाँ अचों के स्थान में आदेश है । अतः उक्त सूत्र से स्थानिवद्भाव की सिद्धि न होने से एकादेश के उपसख्यान की आवश्यकता है ।

एकादेश में स्थानिवद्भाव के उपसख्यान की कोई आवश्यकता नहीं । अच. परस्मिन् सूत्र से ही स्थानिवद्भाव सिद्ध हो जायगा । यह जो कहा कि एकादेश, पूर्व और पर दोनों को निमित्त मान कर होता है केवल पर को निमित्त मान कर नहीं होता तो यह कोई बात नहीं । जैसे किसी मनुष्य को गाव या नगर में अनेक काम होते हैं । वह उन में किसी एक काम का नाम लेकर भी कह सकता है कि मैं यहाँ पढ़ने के लिये रह रहा हूँ या गुरु की सेवा के निमित्त रह रहा हूँ । उसी प्रकार पूर्व और पर दोनों को निमित्त मान कर होने वाला एकादेश, पर को निमित्त मान कर होने वाला भी कहा जा सकता है । और जो यह कहा कि दो अचों के स्थान में आदेश होने के लिये केवल अच् के स्थान में आदेश नहीं, सो भी कुछ नहीं । जो दो पृष्ठीभिन्नार्थों के स्थान में होता है वह उन दोनों में से किसी का भी कहा जा सकता है । जिस देवदत्त और देवदत्ता से हुआ पुत्र उन दोनों में से किसी का भी कहा जायगा वैसे दो अचों के स्थान में हुआ एकादेश, दोनों में से किसी भी अच् का माना जायगा इस लिये अच. परस्मिन् सूत्र से ही स्थानिवद्भाव सिद्ध होने पर एकादेश के लिये पृथक् उपसख्यान व्यर्थ है ।

अथ हलचोरादेशः स्थानिवद् भवति उताहो न ।

कश्चात्र विशेषः ?

हलचोरादेशः स्थानिवदिति चेद् विंशतेस्तिलोपे एकादेशः ।

हलचोरादेशः स्थानिवदिति चेद् विंशतेस्तिलोपे एकादेशो वक्तव्यः ।  
विंशकम् । विंश शतम् । विंशः ।

हल् और अच् दोनों के स्थान में हुआ आदेश अत्रादेश मान कर स्थानिवद् होता है या नहीं ? क्योंकि उस मिश्रित आदेश में अच् का भी सम्बन्ध है ।<sup>१</sup>

इस में क्या विशेष है ?

यदि हल् और अच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवद् होता है तो ये दोष भते हैं—विंशति शब्द के ति का लोप होने पर पररूप एकादेश कहना होगा । विंशकम् । (विंशत्या श्रौतम् । विंशति-ङ्वुन्) यहा विंशति शब्द से श्रौत अर्थ में विंशतिविंशद्भ्या इजुन्नसज्ञायाम् से ङ्वुन् प्रत्यय हो कर तिविंशतेर्ङिति से ति शब्द का लोप हुआ है । वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवद् हो जायगा तो अतो गुणे से पररूप एकादेश नहीं प्राप्त होता । वह कहना हागा । ति शब्द में तकार और इकार ये हल् अच् हैं इनका लोप-रूप आदेश हुआ है । इसी प्रकार विंश शतम् (विंशति अधिका यस्मिन् शते । विंशति-ङ) यहा विंशति शब्द से शदन्विंशतेर्ङ से ङ प्रत्यय हो कर ति का लोप हुआ है । विंश (विंशते पूरण । विंशति ङट्) यहा तस्य पूरण ङट् से ङट् प्रत्यय हो कर ति का लोप हुआ है । उसका स्थानिवद् मानने से पररूप नहीं प्राप्त हाता । स्थूल आदि शब्दा का यणादिलोप होने पर अत्रादेश कहना हागा । स्थवायान् । दवायान् (अयमनया भतिरथेन स्थूल वूरे वा । स्थूल, वूर ईयसुन्) यहा स्थूल वूर शब्दा से ईयसुन् प्रत्यय परे रहते

१ शास्त्र में दोनों प्रकार का व्यवहार दाखता ह । उरण रपर में अण् को रपर करते हुए अण और अण्ण के समुदाय का अण नहीं माना गया है । इसी लिये सौधातकि यहा मुघाट्ट के ऋ के स्थान में हुए अक् आदेश को रपर नहीं हाता । इसके विरुद्ध नाग्लोपिशास्त्रदिताम् में अक् अनक् ङ लोप में अक् लोप को स्वीकार किया है । जैस जत्यररान्त् (राजानमतिक्रान्तवान्) यहा राजन् की अन् सज्ञक टि के लोप को अक्लोप मान कर उपधा ह्रस्व का निषेध होता है । इस प्रकार हल् अच् के आदेश को अच् आदेश मान कर वहा स्थानिवद्भाव की शङ्का समभव है ।

स्थूलादीनां यणादिलोपेऽवादेशः ।

स्थूलादीनां यणादिलोपे कृते अवादेशो वक्तव्यः । स्थचीयान् दवीयान् ।

केकयमित्रयोरियादेशे एत्वम् ।

केकयमित्रयोरियादेशे कृते एत्वं न सिध्यति । कैकेयः । मैत्रेयः । अचीत्येत्वं न सिध्यति ।

उत्तरपदलोपे च ।

उत्तरपदलोपे च दोषो भवति । दध्युपसिक्ताः सक्तवो दधिसक्तवः । अचीति यणादेशः प्राप्नोति ।

यङ्लोपे यणियङुवङः ।

यङ्लोपे यण् इयङ् उवङो न सिध्यन्ति । वेच्यः । नेन्यः । वेक्षियः ।

स्थूलदूरयुषहस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः से स्थूल दूर के लर शब्दों का लोप और स्थू दू को गुण होता है । लर शब्दों का लोप हल् अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो उससे पूर्व स्थो दो को अवादेश नहीं प्राप्त होता । वह कहना होगा ।

केकय मित्रयु शब्दों में ह्यादेश होने पर एत्व नहीं सिद्ध होता । वह कहना होगा । कैकेयः मैत्रेयः । (केकयस्य मित्रयोश्च अपत्यम् । केकय-अन् । मित्रयु-अण्) यहाँ केकय मित्रयु शब्दों में केकय शब्द जनपदक्षत्रिय बाची है । उससे अपत्य अर्थ में जनपदसब्दान् क्षत्रियादय् से अच् प्रत्यय और मित्रयु से सामान्य प्राग् व्यतीय अण् प्रत्यय पर रहते केकयमित्रयुप्रलयानो यादेरियः से यथाक्रम य यु शब्दों के स्थान में इय आदेश हुआ है । वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अच् परे न रहने से आद् गुणः से एकार गुण नहीं प्राप्त होता । वह कहना होगा ।

उत्तरपद का लोप होने पर भी दोष होगा । दधिसक्तवः (दध्ना उपसिक्ताः सक्तवः) यहाँ दधि से परे उपसिक्त शब्द का लोप समानाधिकरणाधिकारोक्त-मूर्तीयापूर्वपद उत्तरपदलोपश्च इस वाकिक से हुआ है । वह हल् और अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो अच् परे हो जाने से दधे यणचि नि दधि के इकार को यण् प्राप्त होता है । वह रोकना होगा ।

यह् का लोप (हृक्) होने पर यण् इयङ् उवङ् नहीं सिद्ध होते । वे कहने

चेक्रियः । लोलुवः । पोपुवः । अचीति यण् इयङ् उवङो न सिध्यन्ति ।

अस्तु तर्हि न स्थानिवत् ।

अस्थानिवत्त्वे यङ्लोपे गुणवृद्धिप्रतिषेधः ।

अस्थानिवत्त्वे यङ्लोपे गुणवृद्धयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः । लोलुवः पोपुवः । सरीसृपः मरीमृज इति ।

नैप दोषः । 'न धातुलोप आर्धधातुके' इति प्रतिषेधो भविष्यति ।

किं पुनराश्रीयमाणायां प्रकृतौ स्थानिवद् भवति आहोस्ति-

होंगे । चेच्यः नेन्यः । चेचीयते नेनीयते इति चेच्यः नेन्यः । (चचीय, नेनीय भच्) यद्वा यङ्न्त चेचीय नेनीय धातुभों से पचाशच् परे रहते यञोचि च से यङ् का लुक् होता है । वह हल् और भच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् हो जायगा तो भच् परे न रहने से एरनेकाचो० से यण् नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार चेक्रिय चेक्रिय (चेक्रीयते चेक्रीयते-भच्) यद्वा यङ् लुक् क स्थानिवत् होने से अचिरुधातु० से इयङ् नहीं प्राप्त होता । लोलुव पोपुव (लोलूयते पोपूयते-भच्) यद्वा यङ् लुक् के स्थानिवत् होने से उवङ् नहीं प्राप्त होता ।

हल् और भच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता । केवल भच् के स्थान में हुआ आदेश ही स्थानिवत् होता है ऐसा मानने पर ये दोष न होंगे ।

यदि हल् और भच् क स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता है तो लोलुव पोपुवः सरीसृप मरीमृज यद्वा यङ् का लुक् होने पर गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं । उन का निषेध कहना होगा । (लोलूयते पोपूयते सरीसृप्यते मरीमृज्यते-भच्) लोलूय आदि यङ्न्त धातुभों से पचाशच् कर क उस क परे रहते यञोचि च से यङ् का लुक् होता है । वह हल् और भच् क स्थान में आदेश होने से स्थानिवत् न होगा तो क्ति पर न रहने से लोलुव पोपुव में सार्वधातुकगुण, सरीसृप में लघूपधगुण और मरीमृज में मृत्तृदि स वृद्धि प्राप्त होती है । स्थानिवत् होने पर तो क्ति च से गुण वृद्धि का निषेध सम्भव है ।

यह कोई दोष नहीं । लोलुव आदि में यङ् लुक् के स्थानिवत् न होने पर भी गुण वृद्धि नहीं होगे । न धातुलोपे आर्धधातुक स गुण वृद्धि का निषेध हो जायगा । इस लिये हल् और भच् के स्थान में हुआ आदेश स्थानिवत् नहीं होता यही पक्ष निर्दोष होने से ग्राह्य है ।

क्या जिस कार्य में स्थानी का आश्रयण किया है वहीं स्थानिवद्भाव



विशेषेण ?

कश्चाच्च विशेषः ?

अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिः ।

अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिर्न सिध्यति ।  
 स्लेष्मश्च । पित्तश्च । दशैध्वश्च । मशैध्वश्च । 'हलोनन्तराः संयोग'  
 इति संयोगसंज्ञा । 'सयोगे गुरु' इति गुरुसंज्ञा । गुरोरिति प्लुतो न प्राप्नोति ।

द्विवचनादयश्च प्रतिषेधे ।

द्विवचनादयश्च प्रतिषेधे वक्तव्याः । द्विवचनवरेयलोप इति ।

होता है या सामान्यतया सर्वत्र । जहाँ स्थानी का आश्रयण नहीं किया है वहाँ भी स्थानिवद्भाव होता है । प्रकृति = स्थानी । तात्पर्य यह है कि शास्त्रीय कार्य में ही स्थानिवद्भाव मानते हैं या शास्त्रीय अशास्त्रीय दोनों में ही । यहाँ स्थानिवत् मानने से शास्त्र रुकता है वह अशास्त्रीय कार्य है क्योंकि शास्त्र की प्रवृत्ति का न होना अशास्त्रीय है । और जहाँ स्थानिवत् मानने से शास्त्र लगता है उस की प्रवृत्ति होती है वह शास्त्रीय कार्य है । इस प्रकार आश्रीयमाण और अनाश्रीयमाण स्थानियो में स्थानिवद्भाव संभव है ।

जिस कार्य में स्थानी का आश्रयण नहीं किया गया अथवा स्थानी को निमित्त नहीं माना है यदि वहाँ भी स्थानिवत् होता है तो छोप और यणादेश होने पर गुरु संज्ञा का कार्य नहीं सिद्ध होता । स्लेष्मश्च, दशैध्वश्च, यहाँ क्रम से हन् के अकारलोप और यणादेश का स्थानी अकार और इकार संयोगसंज्ञा में निमित्त नहीं माना गया है । क्योंकि अचों के व्यवधान से रहित हलों की संयोगसंज्ञा होती है । वहाँ भी स्थानिवत् हो जायगा तो भच् का व्यवधान होने से संयोग संज्ञा नहीं प्राप्त होती । संयोग संज्ञा के न होने से गुरु संज्ञा और गुरु संज्ञा के न होने से प्लुत नहीं प्राप्त होता ।

अनाश्रीयमाण प्रकृति में स्थानिवद्भाव मानने पर न पदान्तद्विवचन० सूत्र में द्विवचनवरेयलोप आदि भी पढ़ने होंगे । जिस से वहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध हो सके । अन्यथा दृष्ट्यर्थ यहाँ यणादेश का स्थानी इकार अनाचि च से द्वित्व करने में निमित्त नहीं माना गया है क्योंकि वह भच् परे होने पर द्वित्व का निषेध करता है इस लिये वहाँ स्थानिवत् हो जायगा तो भच् परे हो जाने से अकार को द्वित्व नहीं प्राप्त होता । नायावरः (यायाय-वरच्) यहाँ यदन्त या धातु से वरच् प्रत्यय परे रहते अतो लोपः से यह

क्सलोपे लुग्वचनम् ।

स्सलोपे लुग् वक्तव्यः । अदुग्ध अदुग्धाः । 'लुग्वा दुहदिहलिह-  
गुहामात्मनेपदे दन्त्ये' इति ।

हन्तेर्घत्वम् ।

हन्तेर्घत्व वक्तव्यम् । घ्नन्ति । घ्नन्तु । अघ्नन् ।

अस्तु तद्भाश्रीयमाणायां प्रकृताचिति ।

के अकार का लोप हो कर लोपो व्योर्वाल स य का लोप हो जाता है । यह के अकारलोप का स्थानी अकार लोपो व्यो० मे निमित्त नहीं माना गया है तो वहा स्थानिवत् हो कर अकार का व्यवधान हो जाने से य का लोप नहीं प्राप्त होता उस क लिये न पदान्त सूत्र मे वरेयलोप कह कर स्थानिवद्भाव का निषेध कहना होगा ।

अनाश्रीयमाण प्रकृति मे स्थानिवद्भाव मानने पर क्स का लोप न कह कर लुक कहना होगा । जिससे स्थानिवद्भाव का शृङ्गा ही मिट जाय । अदुग्ध, अदुग्धा ( दुह्-क्स-लुङ् त, धास ) यहा दुह धातु से लुक् मे त, यास् परे रहते लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये से क्स का लुक होता है । यदि क्स का लुक न कर के घोर्लोपो लेटि या से अनुवृत्त लोप ही विकल्प से विधान कर दें तो अलोन्य परिभाषा से क्स के नन्त्य अकार का लोप हो कर शेष स् शब्द का झलो झलि से लोप होने स इष्ट रूप बन सकता है किन्तु क्स के अकारलोप का स्थानी अकार झलो झलि मे निमित्त नहीं माना गया है इस लिये स्थानिवत् हो कर झल पर न रहने से क्स के सकार का लोप नहीं प्राप्त होता । उसके लिये लुक् ग्रहण कर के सम्पूर्ण क्स शब्द का लुक करना होगा । वैस अदुहहि अधुक्षवहि यहा वहि प्रत्यय परे रहते क्स का वैकल्पिक लुक करना आवश्यक भी है । क्योंकि वहि का वकार झल् नहीं है । उसके पर रहते झलो झलि से क्स का लोप नहीं प्राप्त होता ।

अनाश्रीयमाण प्रकृति मे स्थानिवद्भाव मानने पर हन् क हकार को घकार कहना होगा । घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् । यहा गमहनजनखन० से हुण उपधालोप का स्थानी अकार, हो हन्तेर्णिन्नेपु मे निमित्त नहीं माना गया है इस लिये स्थानिवत् हो कर अकार का व्यवधान हो जाने से हन् के ह को घ नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो फिर आश्रीयमाण प्रकृति मे ही स्थानिवद्भाव मान लीजिये । जिस कार्य मे स्थानी का आश्रयण किया गया है अथवा उसे निमित्त माना गया

ग्रहणेपुं स्थानिवदिति चेज्जगध्यादिआदेशप्रतिषेध ।

ग्रहणेपु स्थानिवदिति चेद् जगध्यादिपु आदेशस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।  
निराद्य, समाद्य । 'अदो जग्धिर्त्यप् ति किति' इत्यदो जग्धिभाव  
प्राप्नोति ।

यणादेशे युलोपत्वानुनासिकात्त्वप्रतिषेध ।

यणादेशे युलोपेत्त्वानुनासिकात्त्वाना प्रतिषेधो वक्तव्यः । यलोप—  
वाय्वो. अभ्यर्च्यो. । 'लोपो व्योर्वलो'ति यलोपः प्राप्नोति । उलोप—  
अकुर्वि आशाम् अकुर्व्याशाम् । 'नित्य करोते ये चे'त्युकारलोप प्राप्नोति ।  
ईत्व—अलुनि आशाम् अलुन्याशाम् । 'ई हल्यघो'रितीत्य प्राप्नोति ।  
अनुनासिकात्त्व—अजङ्घि आशाम् अजङ्घ्याशाम् । 'ये विभापे'त्यनुनासि-  
कात्त्व प्राप्नोति ।

है वहा स्थानिवद्भाव होता है अन्यत्र नहीं पसा मान लेवें ।

जहां स्थानी का ग्रहण किया गया अथवा उस निमित्त माना गया है  
यदि वहाँ स्थानिवद्भाव होता है तो जग्धि आदि आदेश का निषेध कहना  
होगा । निराद्य समाद्य । (निर सम् अद् णिच्-त्यप्) यद्वा णिन्त अद् धातु स  
त्यप् पर रहते णरिनाट स णि का लोप हुआ है । णि लोप का स्थानी णि  
अदो जग्धिर्त्यप् ति किति स जग्धि आदेश करने में निमित्त नहीं माना गया  
है तो स्थानिवत् न हान स णि का व्यवधान न होगा इस लिये त्यप् पर  
रहते जग्धि आदेश प्राप्त होता है । यणादेश होने पर यणेप, उलोप, ईत्व,  
और अनुनासिक को हाने वाला आत्व का निषेध कहना होगा । वाय्वो अभ्यर्च्यो  
(वायु, अभ्यर्च्यो) यद्वा इका यणादि से हुए यणादेश का स्थानी उकार लोपो  
व्योर्वन्ति में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवत् न हाने स यद् पर  
हो कर यकार का लोप प्राप्त होता है । अकुर्वि आशाम्=अकुर्व्याशाम् (कृ-उ  
लृ इट्) यद्वा यणादेश का स्थानी इकार ये च में निमित्त नहीं माना गया  
है तो स्थानिवत् न हाने स यकार परे हो कर कृ धातु के उकार का लोप  
प्राप्त होता है । अलुनि आशाम्=अलुन्याशाम् । (लृ-भा लृट् इट्) यद्वा इट्  
प्रत्यय क स्थान में हुए यणादेश का स्थानी इकार ई हल्यघो में निमित्त नहीं  
माना गया है तो स्थानिवत् न होने से यकार परे हो कर धा क आकार को

१ ग्रहणेपु = गृहमाणपु स्थानिपु । स्थानियों के गृहात हान पर । यद्वा  
बहुल ग्रहण स कर्म में ल्युट् हुआ है ।

### रायात्वप्रतिषेधश्च ।

रायात्वस्य च प्रतिषेधो वक्तव्यः । रायि आशाम् राय्याशाम् ।  
'रायो हली'त्यात्वं प्राप्नोति ।

दीर्घे यलोपप्रतिषेधः ।

दीर्घे यलोपस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । सौर्ये नाम हिमवतः शृङ्गे ।  
तद्वात् सौर्या हिमवानिति । सौ इच्चाश्चये दीर्घे कृते 'सूर्यतिप्येति' यलोपः  
प्राप्नोति ।

अतो दीर्घे यलोपवचनम् ।

अतो दीर्घे यलोपो वक्तव्यः । गार्गाभ्याम् । वात्साभ्याम् । दीर्घे

ईकार प्राप्त होता है । अजसि आशाम्=अजत्याशाम् । (जन् लङ् इद्) यहाँ जौहोत्यादिक  
जन् धातु से लङ् में वैदिक व्यत्यय से आत्मनेपद् इद् प्रत्यय हो कर शप्  
को श्नु हुआ है । श्लौ से धातु को द्वित्व हो गया । इद् के स्थानमें हुप्  
यणादेश का स्थानी इकार ये विभाषा में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवद्  
न होने से यकार परे हो कर जन् के अनुनासिक नकार को आवृत्त प्राप्त होता  
है । रायो हलि से होने वाले आवृत्त का निषेध कहना होगा । रायि आशाम्=  
राय्याशाम् । (रै-ङि) यहाँ ङि के स्थान में हुप् यणादेश का स्थानी इकार  
रायो हलि में निमित्त नहीं माना गया है तो स्थानिवद् न होने से हल् परे  
हो कर रै शब्द को आवृत्त प्राप्त होता है ।

दीर्घ होने पर यलोप का निषेध कहना होगा । सौर्या हिमवान् । सूर्येण  
एकदिक् सौर्यम् । (सूर्य-अण्) । सौर्ये शृङ्गे विद्येते यस्य सः सौर्या (सौर्य-इनि)  
यहाँ इजन्त सौर्यिन् शब्द से सु परे रहते सौ च से दीर्घ हुप् इन् प्रत्यय का  
स्थानी इस्व इकार सूर्यतिप्यागस्त्यमत्स्याना य उपधायाः में निमित्त नहीं माना  
गया है तो स्थानिवद् न होने से ईकार परे हो कर सूर्य के य का लोप  
प्राप्त होता है ।<sup>१</sup>

अकार को दीर्घ करने पर यलोप कहना होगा । गार्गाभ्याम् । वात्साभ्याम् ।  
गार्गा अपत्यम् गार्ग ताभ्याम् । (गार्गी-ण) यहाँ गात्र स्त्रीप्रत्ययान्त गार्गी शब्द  
से युवापत्य में गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च से ण प्रत्यय हुआ है । भ्याम् परे

१. यदि व्हो सूर्यतिप्यागस्त्य० में तो डी की ई परे रहते यलोप का विधान  
है यहाँ डी की ई नहीं है तब तो यह दोष हट जायगा ।

कृते 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनातो'ति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

नैष दोषः । आर्थायते तत्र प्रकृतिस्तद्धित इति ॥ सर्वेषामेव परिहारः । उक्तं विधिग्रहणस्य प्रयोजनम्—विधिमात्रे स्थानिवद् यथा स्याद् अनाथीयमाणायामपि प्रकृताविति ।

अथवा पुनरस्त्वविशेषेण स्थानिवदिति । ननु चोक्तम्—'अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिः । द्विवचनादयश्च प्रतिषेधे । फसलोपे लुग्यचनम् । हन्तेर्घत्वम् इति' । नैष दोषः । यत्ता-चदुच्यते—अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिरिति । उक्तमेतत् । 'न वा संयोगस्यापूर्वविधित्वादिति' । यदप्युच्यते द्विवचनादयश्च प्रतिषेधे यस्तन्या इति । उच्यन्ते न्यास एव । फसलोपे

रहते उसे गुण च से दीर्घ हो गया है । दीर्घ हुण् ण प्रत्यय के आकार का स्थानी ह्रस्व भकार आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति में निमित्त नहीं माना गया है क्योंकि वहाँ अनाति कह कर अकार पर रहते यलोप का निषेध किया गया है । तो स्थानित् न होने से आकार पर हो जायगा उससे गार्ग्यशब्दस्थ यकार के लोप का निषेध प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति सूत्र का यह अर्थ नहीं है कि आकार पर रहते आपत्य सम्बन्धी तद्धित यकारलोप का निषेध होता है बल्कि यह अर्थ है—आकारभिन्न तद्धित पर रहते आपत्यसम्बन्धी यलोप का विधान होता है । अनाति शब्द में प्रसज्यप्रतिषेध न मान कर पर्युदात्त मानेंगे । तो गार्गाभ्याम् में ण प्रत्यय को दीर्घ हुण् आकार का स्थानी ह्रस्व भकार आकारभिन्न तद्धित है ही । उसका स्थानी में आश्रयण होने से स्थानिवत् हो जायगा । उससे यलोप निर्गम सिद्ध है । इस पक्ष में कहें गये अन्य सब दोषों का भी यह समाधान है—पहले सूत्र में विधिग्रहण का यह प्रयोजन कह चुके हैं कि विधिमात्र में स्थानित्ज्ञाय होता । जहाँ स्थानी को निमित्त माना गया है वहाँ भी और जहाँ निमित्त नहीं माना गया है वहाँ भी । जहाँ स्थानी को निमित्त माना गया है वहाँ स्थानित्ज्ञाय मानने में भी कोई दोष नहीं होगा । लोप यणादेशे गुरुविधि । द्विवचनादयश्च प्रातेर्घ स्मलोपे लुग्यचनम् । हन्तेर्घत्वम् ये

२. गार्गी शब्द से ण प्रत्यय होने पर भस्यादि तद्धित से पुंवद्भाव हो कर गार्गे प्रकृति बन जाती है । गार्गे न भ्याम् इस स्थिति में सुषि च से दीर्घ हो कर यलोप की अप्राप्ति है ऐसा मननना चाहिये ।

लुग्वचनमिति । क्रियते न्यास एव । हन्तेर्घत्वमिति सप्तमे परिहारं वक्ष्यति ।

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वार-  
दीर्घजश्चरविधिषु ॥१॥१॥५८॥

पदान्तविधिं प्रति न स्थानिवदित्युच्यते । तत्र वेतस्वानिति हः प्राप्नोति ।

जो चार दोष उस पक्ष में कहे थे उनका समाधान इस प्रकार होगा कि श्लेष्मश्च, दश्च्यश्च में सयोगसज्ञा होने में कोई बाधा न होगी । क्योंकि सयोगसज्ञा बनाने में उक्त स्थलो में केवल पूर्वविधि ही नहीं है अपितु परविधि भी है । पूर्वविधि न होने से स्थानिवद्भाव न होगा तो सयोगसज्ञा बन जायगी । उससे गुह्यसज्ञा और गुह्यप्रयुक्त प्लुत भी हो जायगा । द्विर्वचनवरेयलोप आदि न पदान्तसूत्र में पड़े ही हैं । इस लिये उनकी भी सिद्धि हो जायगी । दध्धन्, यायावरः आदि में स्थानिवद्भाव निषेध करने के लिये नया वचन नहीं कहना पड़ेगा । अधुग्ध, अधुग्धा यहाँ क्स का लुक् पहले ही लुग्वा दुहदिहलिह० सूत्र से विहित है अतः लुक् का विधान भी अपूर्व नहीं कहना पड़ेगा । प्लान्त प्लन्तु, अचन् में हन् के हकार को वकार करने का समाधान भी सप्तमाध्याय में हो हन्तेर्णिग्नेषु सूत्र पर कहेंगे, इस लिये वह भी कोई दोष नहीं ।

इस सूत्र द्वारा पदान्तविधि में अधान् (पदान्त विधि शब्द को भाव साधन निर्देश मानकर) पदान्तता का विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है । उस से वेतस्वान् में स को ह प्राप्त होता है । क्योंकि वेतस शब्द से कुमुदनव्वेतसेभ्यो इन्तुप् से तदस्मिन्नस्ति इस चातुरार्थिक अर्थ में इन्तुप् प्रत्यय कर के टे से टिसञ्जक वेतस के अकार का लोप होता है । स्वादि-ष्मसर्वनामस्थाने से पूर्व की पदसज्ञा हो जाती है । उस अकारलोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कर देने से सकार पदान्त हो जाता है । इस लिये सकार की पदान्तता का विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध हो कर सकार पदान्त हो जायगा तो सप्ततुपो ह से सकार को स्त्व प्राप्त होता है ।

१. वहाँ यह समाधान है कि घ्नन्ति घ्नन्तु अघ्नन् में उपधा लोप को स्थानिवत् मान कर चाहे अकार का व्यवधान बौद्धिक हो जाय पर ध्रौत अव्यवधान तो स्पष्ट है । लिखने सुनने बोलने में तो घ्नन्ति आदि में ह से पर सीमा व्यवधान रहित नकार है ही । स्थानिवद्भाव से तो बुद्धिकृत व्यवधान होगा । ध्रुतिकृत तो

नैष दोषः । भसंज्ञाऽत्र बाधिका भविष्यति तसौ मत्वर्थे इति ।

अकारान्तमेतद् भसंज्ञां प्रति । पदसंज्ञां प्रति तु सकारान्तम् ।

ननु चैवं विज्ञायते यः सम्प्रतिपदान्त इति ।

कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने एतदेवं स्यात् । अयं च

यह कोई दोष नहीं । अकारलोप के स्थानियद्भाव का निषेध हो कर वेतस् शब्द सकारान्त हो जायगा तो पद संज्ञा की बाधक तसी मत्वर्थे से भसंज्ञा हो जायगी उस से पदान्त सकार न होने से ख़द नहीं होगा । तदस्मिन्नस्ति इस अर्थ में होने वाला वेतस्वान् में इमतुर् प्रत्यय भी मत्वर्थ में स्पष्ट है ।

भसंज्ञा के विधान में तो अकारलोप के स्थानियद्भाव का निषेध न होगा । इस लिये भसंज्ञा के प्रति अकारान्त ही वेतस् शब्द होगा, सकारान्त नहीं । पदसंज्ञा के विधान में सकार को पदान्त बनाना है इस लिये स्थानियद् भाव का निषेध हो जायगा । तब अकारलोप स्थानियत् न होगा तो सकारान्त वेतस् शब्द के स्वादिष्वसर्वनामस्थाने से पदसंज्ञक होने से ख़द प्राप्त होता है ।

पदान्तविधि का अर्थ सम्प्रतिपदान्त<sup>१</sup> की विधि करने में स्थानियत् नहीं होता ऐसा यदि माने तो वेतस्वान् में दोष न होगा । सम्प्रतिपदान्त से तात्पर्य है जो स्थानियद्भाव के निषेध के बिना ही पदान्त बना हुआ रिष-मान है जैसे गी स्त, कानि सन्ति इत्यादि में उस को कोई कार्य करना हो तो स्थानियत् का निषेध होता है । पदान्तता का विधान करने में नहीं होता । वेतस्वान् में वतस् यह सकारान्त पद स्थानियद्भाव के निषेध से पहले नहीं बना हुआ है । इस लिये पदान्तविधि न होने से अकारलोप के स्थानियद्भाव का निषेध न होगा । तब अकारलोप स्थानियत् हो जायगा । उस से पदान्त सकार न मिलने से ख़द न होगा ।

कर्मसाधन विधि शब्द को मानने पर सम्प्रतिपदान्त की विधि करने में स्थानियद्भाव नहीं होता यह अर्थ हो सकता है । किन्तु भाव साधन विधि

अव्ययान्ता है । अन्यथा हन् के द्वार से पर सीधा नगर नहीं पर भी न मिलने से हो हन्ते० में नगर पर रहते कहा हुआ कुत्वविधान व्यर्थ हो जाता है । इस लिये पदा नगर पर रहते कुत्व विधान के सामर्थ्य से श्रुतिकृत आनन्तर्य माना जायगा उसमें ध्वनि आदि में ह को घ निर्वाप सिद्ध है ।

१ सम्प्रति शब्द या पद शब्द के साथ मुष्पुषा समास होकर भन्त शब्द के साथ पट्टी समास होता है ।

विधिशब्दोऽस्त्येव कर्मसाधनः । विधीयते इति विधिरिति । अस्ति च भावसाधनो विधानं विधिरिति । तत्र भावसाधनस्य विधि-  
शब्दस्योपादाने एष दोषो भवति । इदं च ब्रह्मबन्धा ब्रह्मबन्ध्वे धकारस्य  
जश्त्वं प्राप्नोति ।

शब्द को मानने पर उक्त अर्थ नहीं हो सकता । कर्मसाधन का अर्थ कर्मवाच्य है । वि पूर्वक धा धातु से कर्मवाच्य में उपसर्गे धो कि से प्रत्यय करके विधि शब्द बनाये तो अर्थ होगा—विधीयते इति विधि । पदान्तस्य सत विधि पदान्तविधि । पदान्तस्य यह शैषिकी पन्थी है । पहले से विद्यमान पदान्त को कोई विधि करनी हो तो स्थानिवद्भाव का निषेध होता है । विधि शब्द एक तो कर्मवाच्य है । जैसा कि अभी दिखाया है । और एक भाववाच्य भी है । भाव में कि प्रत्यय करके विधि शब्द बनायेंगे तो अर्थ होगा—विधान विधि । पदान्तस्य विधान पदान्तविधि । यहा पदान्तस्य यह कर्म में पन्थी है । पदान्तता का विधान करने में स्थानिवद्भाव का निषेध होता है । भाववाच्य विधि शब्द मानने पर वेतस्वान् में दोष आता है । उसमें पदान्तता का विधान करन में किसी को नया पदान्त बनाने में स्थानिवद्भाव नहीं होगा तो वेतस्वान् में सकार को पदान्त बनाने के लिये स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा उससे पदान्त सकार हो जाने से रुत्व प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त भाववाच्य विधि शब्द मानने पर ब्रह्मबन्धा, ब्रह्मबन्ध्वे यहा धकार को क्षर्ग जशोन्ते से जश भी प्राप्त होता है । क्योंकि ब्रह्मबन्धु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङुत से ऊङ् प्रत्यय कर के सवर्णदीर्घ एकादेश होता है तो ब्रह्मबन्धू ऐसा बनता है । उससे टाडे विभक्ति पर रहते यण् हो जाता है । यहा ब्रह्मबन्धु के उकार के साथ ऊङ् प्रत्यय के दीर्घ एकादेश को परादिवद्भाव से ऊङ् मान कर उसके परे रहते पूर्व धकार को स्वादिन्वसर्वनामस्थाने से पदान्त बनाना है इस लिये पदान्तविधि होने से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जायगा तो धकार पदान्त को जश् प्राप्त होता है । भसज्ञा के विधान में तो स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होगा इस लिये एकादेश स्थानिवत् हो जायगा । उससे भजादि ऊङ् परे होने पर ब्रह्मबन्धु उकारान्त रहेगा । उस अवस्था में भ और पद दोनों को अलग २ अवधि हो जाने से ऊङ् परे होने पर भी भसज्ञा पदसज्ञा को बाध नहीं सकेगी । इस प्रकार पदान्त विधि में धकार को पदान्त बना कर जश् प्राप्त होता है ।



अस्ति पुनः किंचिद् भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने सतीष्ट  
संगृहीतम् । आहोस्विद् दोषान्तमेवेति ।

अस्तीत्याह । इह कानि सन्ति यानि सन्ति कौ स्तः यौ स्तः इति ।  
योऽसौ पदान्तो यकारो वकारो वा श्रूयेत न स श्रूयते । पडिकश्चापि सिद्धो  
भवति ।

याचिकस्तु न सिध्यति ।

भावसाधन विधिशब्द के मानने में कोई इष्ट संगृहीत होता है क्या ? उस  
से कोई लाभ भी है या दोष ही दोष है ?

भावसाधन विधि शब्द मानने में लाभ भी है । कानि सन्ति, यानि  
सन्ति । कौ स्तः, यौ स्तः । यद्वा सन्ति और स्त में इनसोरलोपः से हुआ  
अस् धातु के अकार का लोप स्थानिवत् हो जाता है तो कानि में इको यणचि  
से इ को यकार और कौ में एचोऽयवायाव से औ को आव् हो कर यकार  
वकार पदान्त बन सकते हैं । उन की पदान्तता के विधान में स्थानियन्नाव  
का निषेध हो जाने से अच् परे न मिलेगा तो यकार वकार पदान्त नहीं  
सुनाई देते । अर्थात् पदा-तविधान में स्थानियन् न होने से कानि सन्ति कौ  
स्त में यणादेश और आयादेश नहीं होते । इस के अतिरिक्त पडिक भी सिद्ध  
हो जाता है । अज्ञात पडङ्गुलिदत्त पडिक । (पप्-ठच् इक) यद्वा पडङ्गुलिदत्त  
शब्द से अज्ञातादि अर्थ में बहचो मनुष्यनाम्नऽञ् या से ठच् प्रत्यय करक  
ठाजादावूर्ध्व द्वितीयादयः से पड के दूसरे अच् उकारोत्तरार्त्ता अकार से परे सारे  
एगुलिदत्त शब्द का लोप हो कर पड क अकार का यस्येति च से लोप होता है । समास  
में पप् (अन्तर्वर्तिनी रिभक्ति को लेकर) के सुबन्त होने के कारण पहले ही उसकी पद  
सज्ञा है । उसके द्वितीय प् को नया पदान्त नहीं बनाना है इस लिये पदान्तविधि न  
होने से स्थानियन्नाव का निषेध न होगा तो अकारान्त पप् की ठच् परे रहते असज्ञा  
रहेगी । पदसज्ञा तो पहले से ही पर इस परान्त की है । इस प्रकार अलग अलग  
अर्थ होने से अपने विषय में भी भसंज्ञा पदसज्ञा को न बाध सकेगी तो  
पद सज्ञा होने से सप्त जशन्ते से प् को इ होकर पडिक बन जाता है ।

पर याचिक यह प्रयोग तो सिद्ध नहीं होता । भावसाधन विधि शब्द  
मानने पर याचिक की सिद्धि नहीं होती । क्योंकि पडिक की तरह यद्वा भी अज्ञातः

१. यह दोनों पक्षों ( विधि शब्द से भाव साधन अथवा कर्म साधन मानने )  
में साम्य प्रयोजन है ।

२. यह विधि शब्द भाव साधन है इस पक्ष में ही प्रयोजन बनता है ।

अस्तु तर्हि कर्मसाधनः ।

यदि कर्मसाधनः, पङ्क्तिको न सिध्यति ।

अस्तु तर्हि भावसाधनः ।

वाचिको न सिध्यति ।

वाचिकपङ्क्तिकौ न सवदेते ।

कर्तव्योऽत्र यत्नः ।

वागाशीर्दत्तः वाचिकः वाच्-ठच् इक । इस प्रकार वागाशीर्दत्त शब्द से भजातादि अर्थ में ठच् प्रत्यय पर रहते ठाजादा० से शीर्दत्त शब्द का लोप हो कर अवशिष्ट वागा के आकार का यस्येति च से लोप होता है । समास में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को लेकर वाच् पहले ही सुबन्त होने से पद है । इस लिये उस की पदान्तता का विधान न होने से आलोप के स्थानिवद्भावात् का निषेध न होगा तो ठच् प्रत्यय पर रहते आकारान्त वाच् की भसज्ञा और चकारान्त की पदसंज्ञा रहेगी । दोनों की अलग अलग अवधि होने से भसंज्ञा पदसंज्ञा को न बाधेगी तो पदसंज्ञा हो कर चोः कु से कुन्व प्राप्त होता है ।

तो फिर कर्मसाधन विधि शब्द मान लें ।

यदि कर्मसाधन विधि शब्द मानते हैं तो पङ्क्ति नहीं बनता । क्योंकि कर्मसाधन विधि शब्द मानने पर पदान्त को कोई विधि करने में स्थानिवद्भावात् का निषेध होगा तो पङ्क्तिः में पप् के पदान्त प् को जश् करने में स्थानिवद्भावात् का निषेध हो कर अकार अन्त में न रहने से भसंज्ञा और पदसंज्ञा दोनों पप् इस प्रकारान्त की हो जायगी । उस समय दोनों की एक अवधि हो जाने से भजादि ठच् पर रहते अपने विषय में भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध लेगी तो पप् के पद न होने से जश् नहीं प्राप्त होता ।

अच्छा तो भावसाधन विधि शब्द मान ले ।

भावसाधन विधि शब्द मानने पर वाचिक नहीं बनता ।

ये वाचिक और पङ्क्तिक दोनों एक साथ मेल नहीं खाते ।

इनके लिये यत्न करना चाहिये । वह यत्न यही है कि वाचिक में तो एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः इस वार्तिक से उत्तरपद आशीर्दत्त शब्द का लोप मानेंगे । वहाँ अच् के स्थान में आदेश न होने से स्थानिवद्भावात् का

१. दोनों एक पक्ष का आश्रयण करने से सिद्ध नहीं होते ।

कथं ब्रह्मवन्ध्वा, ब्रह्मवन्ध्वै ।

‘उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्’ इति ।

कथं चेत्स्वान् ? ।

नैनं विज्ञायते पदस्यान्तः पदान्तः । पदान्तस्य विधिः पदान्तविधिः ।

प्रश्न ही नहीं उठता । भसंज्ञा और पदसंज्ञा दोनों चकारान्त वाच् शब्द की हो जायगी । तब अपने विषय में भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध लेगी । उससे वाच् के पद न होने से उत्तर नहीं होगा । पठिक में परगुणजादिवचनात् सिद्धम् इस वचन से ठाग्रादापूर्व० से द्गुलिद्वच शब्द का लोप कर के अश्लिष्ट पङ् के अकार का यस्येति च से लोप मानेंगे । वहाँ अच् के स्थान में आदेश होने से स्थानिवद्भाव हो कर अकारान्त की भसंज्ञा और पप् इस प्रकारान्त की पदसंज्ञा रहेगी । इस प्रकार अलग २ अवधि हो जाने में भसंज्ञा पदसंज्ञा को न बाधेगी तो पद मान कर प् को द् हो जायगा ।

भारसाधन विधि शब्द में ब्रह्मवन्ध्वा, ब्रह्मवन्ध्वै कैसे बनेगे ?

उभयत आश्रयणे नान्तादिवत् इस परिभाषा से ब्रह्मवन्ध्वा ब्रह्मवन्ध्वै में दोष न होगा । वहाँ ऊङ् का एकादेश परादिवद्भाव से ऊङ् नहीं माना जायगा । उक्त परिभाषा का अर्थ है कि जिस विधि में पूरं और पर के स्थान में हुप् एकादेश को पूर्व के अन्तावयव की तरह भी मानना पड़े और पर के आदि अवयव की तरह भी मानना पड़े यहाँ अन्तादिवद्भाव नहीं होता । क्योंकि स्वादिपु० मूत्र से पदसंज्ञा प्रत्यय पर रहते पूर्व की होती है उस में पूर्व और पर दोनों का नाशयन होता है । इस लिये सवर्ण दीर्घ हुप् एक ही ऊ को पूरं ब्रह्मवन्धु का उ और पर ऊ प्रत्यय का ऊ एक साथ नहीं माना जा सकता तो ब्रह्मवन्धु के अकारान्त रहने से धकार अन्त में न मिलेगा इस िये ऊङ् नहीं होगा । ठा है विभक्ति पर रहते तो भसंज्ञा निर्बाध है । ऊङ् पर रहते सवर्ण दीर्घ एकादेश को परादि-पद्भाव मान कर जो धकार की पदान्ताता के विधान में स्थानिवद्भाव का निषेध प्राप्त होता है उस अन्तादिवद्भाव के निषिद्ध हो जाने से व्यर्थ हो जाता है । ब्रह्मवन्धु का उकार ऊङ् प्रत्यय के साथ मिल कर भी ऊङ् नहीं कड़ावेगा तो ऊङ् के पर रहते ब्रह्मवन्धु के उकार की भसंज्ञा ही रहेगी । भ और पद दोनों की अवधि भव ब्रह्मवन्धु का उकार ही होने से अपने विषय में भसंज्ञा पदसंज्ञा को बाध लेगी ।

भारसाधन विधिशब्द मानने में चेत्स्वान् कैसे बनेगा ?

पदान्तविधि शब्द में पदस्यान्तः पदान्तः तस्य विधिः प्रति इस प्रकार

पदान्तविधिं प्रतीति । कथं तर्हि पदे अन्तः पदान्तः । पदान्तस्य विधिः पदान्तविधिः । पदान्तविधिं प्रतीति । अथवा यथैवान्यान्यपि पदकार्याण्युपप्लवन्ते इत्वं जश्त्वं च, एवमिदमपि पदकार्यमुपप्लोप्यते । किम् । भसञ्चा नाम ।

यरे यलोपविधिं प्रति न स्थानिवद्भवतीत्युच्यते तत्र ते 'अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्' इति । अवर्णलोपविधिं प्रति स्थानिवत् स्यात् ।

पण्डितमास मान कर पद का अन्तावयव करने में स्थानिवत् का निषेध होता है ऐसा अर्थ नहीं मानने बल्कि पदे अन्तः पदान्त, तस्य विधिं प्रति इस प्रकार सप्तमीसमास मान कर पद पर रहते किसी को अन्तावयव करने में स्थानिवत् का निषेध होता है ऐसा अर्थ मानने तो वेतस्वान् में भी दोष न होगा । वेतस्वान् में वेतस से परे इमतुप् प्रत्यय है, पद नहीं है । इस लिये पदान्त-विधि न होने से स्थानिवत् का निषेध न होगा तो स्थानिवत् हो कर अन्त में सकार न मिलने से इत्वं नहीं होगा ।

अथवा जैसे पद का अन्तावयव करने में स्थानिवत् का निषेध मानने से वेतस्वान् में स् को रु ब्रह्मबन्धा मे घ को जगत्वं ये अन्य पद के कार्य प्राप्त होते हैं ऐसे भसञ्चा भी पद का कार्य होने से पदान्तविधि हो जायगी । क्योंकि पद हो कर भसञ्चक होता है इस प्रकार भसञ्चा भी पद का कार्य है । तो भसञ्चा करने में स्थानिवत् का निषेध हो कर सकारान्त की भसञ्चा हो जायगी उस से वेतस्वान् में स् को रु नहीं होगा । उपप्लवन्ते=प्राप्त होते हैं । उपप्लोप्यते=प्राप्त हुं जायगी । मान ली जायगी । किम्=क्या । भसञ्चा । इस प्रकार पदान्तविधि शब्द में विधि को भावसाधन या कर्मसाधन कुछ भी मान लें, कहीं दोष नहीं आता ।

सूत्र में त्ररे यलोपविधि शब्द से वरच् प्रत्यय पर रहते यकार के लोप में ही स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है । उससे याथावर ( यायाय वरच् ) यहाँ यञन्त या धातु से वरच् प्रत्यय पर रहते अतो लोपः से हुण् यङ् के अकारलोप को स्थानिवत् मान कर अजादि किन् द्वित् आर्धधातुक पर हो जाने से आतो लोप इटि च से या के अकार का लोप प्राप्त होता है । इस लिये जैसे लोपो व्योर्वलि से यलोप करने में अकार लोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है वैसे आलोप करने में भी अकार लोप के स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये ।

नेप दोषः । नैवं विज्ञायते चरे यलोपविधिं प्रति न स्थानिवदिति ।  
कथं तर्हि । चरे अयलोपविधिं प्रतीति । किमिदमयलोपविधिं प्रतीति ।  
अवर्णलोपविधिं प्रति, यलोपविधिं च प्रतीति ।

अथवा योगविभागः करिष्यते । 'चरे लुप्तं न स्थानिवत्' ततो  
'यलोपविधिं प्रति न स्थानिवदिति ।

यलोपे किमुदाहरणम् ?

कण्डूयत्तेरप्रत्ययः कण्डूः इति ।

नैतदस्ति । यथौ लुप्तं न स्थानिवत् ।

यह कोई दोष नहीं । वरेयलोप में अकार का प्रत्यय रर के चरे अयलोप  
ऐसा समझेंगे । उससे वरच् प्रत्यय पर रहते अवर्णलोप और यलोप दोनों में  
स्थानियन्त्र का निषेध हो जायगा । तो यायावर में या के आ का लोप न होगा ।

अथवा वरयलोप को एक पद न समझ कर वरे यह योगविभाग समझेंगे ।  
वरे यह पृथक् है । यलोप पृथक् है । वरे का अर्थ होगा कि वरच् पर रहते जो भी  
लुप्त हुआ है वह स्थानियन्त्र नहीं होता । उससे यायावरः में वरच् पर रहते  
अकारलोप स्थानियन्त्र न होगा । तो आतो लोप इटि च से आलोप न होगा  
और लोपो व्योर्वलि से यलोप हो जायगा । यलोप विधि का अर्थ होगा कि यलोप  
करने में जा भी अजादेता है वह स्थानिवत् नहीं होता । उसका उपयोग वरच्  
प्रत्यय से अन्यत्र भी हो सकेगा ।

यलोपविधि में क्या उदाहरण है ?

कण्डूयतीति उट्टः । ( कण्डूय क्तिप् ) यहाँ इच्छास्वन्नन्त कण्डूय धातु से  
क्तिप् प्रत्यय हुआ है । कण्डूयादिभ्यो यक् से यक् कर के यगन्त कण्डूय से तो  
क्तिप् नहीं होता । क्योंकि भाव्यकार ने कण्डूयादिभ्यो यक् सूत्र पर स्वयं यह  
कहा है कि—नेनेभ्य स्तिप् दस्यते इति । अप्रत्यय का अर्थ अविद्यमान प्रत्यय  
है । अविद्यमान प्रत्यय अप्रत्ययः । जो प्रत्यय सर्वथा लुप्त हो कर विद्यमान नहीं  
रहता जैसे क्तिप्, क्तिन्, क्तिट, क्तिष् आदि, वह अप्रत्यय कहा जाता है ।  
यहाँ कण्डू में क्तिप् पर रहते य के अकार का अतो लोपः से लोप हुआ है ।  
उसको स्थानियन्त्र मान कर लोपो व्योर्वलि से य का लोप नहीं प्राप्त होता । यलोप  
विधि में स्थानियन्त्र का निषेध हो जाने से हो जाता है ।

यह कोई उदाहरण नहीं । क्तिप् पर रहते क्तिट्गुणरात्रचत्परनिर्हागुत्तपू-  
पसंयानम् इस वाकिक से स्थानियन्त्र का निषेध किया गया है उसीसे यहाँ

इदं तर्हि प्रयोजनम् । सौरी बलाका ।

नैतदस्ति । उपधात्वविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । आदित्यः ।

नैतदस्ति । 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । कण्डूतिर्वल्गूतिः ।

अच्छा यह उदाहरण लीजिये । सौरी बलाका । सूर्येण एकदिक् सौरी (सूर्य अण् ङीप्) । यहाँ अण् प्रत्ययान्त सूर्य शब्द से ङीप् परे रहते अण् के अकार का और अण् परे रहते सूर्य के अकार का यस्येति च से लोप हुआ है । उन दोनों के स्थानिवत् होने से यकार उपधा में न रहेगा तो सूर्य-तिप्यागस्त्यमन्स्याना य उपधायाः से यकार का लोप नहीं प्राप्त होता । यलोप विधि में स्थानिवत् का निषेध हो जाने से अण् के अकार लोप को समानाश्रय होने के कारण असिद्धवदत्रामात् से असिद्ध मान कर यकार उपधा में मिल जायगा तो य का लोप हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । यहाँ उपधा का कार्य होने से किलुगुपधात्व चङ्पर० से ही स्थानिवत् का निषेध हो जायगा ।

तो फिर यह उदाहरण लीजिये । आदित्यः । आदित्ये भव आदित्य । आदित्य (आदित्य-अण्) यहाँ आदित्य शब्द से भव अर्थ में दित्यदित्यादित्य० से हुप् ण्य प्रत्यय के परे रहते यस्येति च से आदित्य के अकार का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत् मान कर हलो यमा यमि लोप से आदित्य के यकार का लोप नहीं प्राप्त होता । यलोप में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । यहाँ भी हलो यमा यमि लोप यह सूत्र पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण का है । और पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण के पायों में पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् इस वाकिक से ही स्थानिवत् का निषेध कहा गया है । उसी से सिद्ध हो जाने से इस की आवश्यकता नहीं ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । कण्डूतिः वल्गूतिः । (कण्डूय-चिन्) यहाँ यक्प्रत्ययान्त कण्डूय धातु से चिन् परे रहते अतो लोपः से यक् के अकार का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत् मान कर लोपो व्यो० से यलोप नहीं प्राप्त होता । यलोप विधि में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

नेतदस्ति प्रयोजनम् । कण्डूया वल्गूया इति भवितव्यम् ।

इदं तर्हि-कण्डूयतेः किल् । ब्राह्मणकण्डूतिः । क्षत्रियकण्डूतिः ।

प्रतिपेधे स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानियत् ।

प्रतिपेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवदिति धत्तव्यम् । स्वर—आकर्षिकः । चिकीर्षकः जिहीर्षकः । यो ह्यन्य आदेशः स्थानियदेयासौ भवति । पञ्चारत्न्यो दशारत्न्यः । स्वर । दीर्घ—प्रति-

यह भी कोई उदाहरण नहीं । क्योंकि कण्डूवादियगन्त कण्डूय धातु प्रत्ययान्त है । उस से स्त्रीलिङ्ग में इत्यां चिन् को बाध कर अ प्रत्यय से अ प्रत्यय होगा । उस के बाद टाप् हो कर कण्डूया वल्गूया ये रूप बनेंगे । वण्डूति वण्डूति नहीं ।

तब तो ब्राह्मणकण्डूति, क्षत्रियकण्डूति यह उदाहरण लीजिये । यहाँ यगन्त कण्डूय धातु से कर्ता में । चच्च्ञी च सत्तायाम् स किल् प्रत्यय हुआ है । उस के पर रहते अतो लोप से हुप् अकार लोप को स्थानियत् मान कर यलोप नहीं प्राप्त होता । यलोपविधि में स्थानियत् का निरोध कहने से हो जाता है । कण्डूत शब्द का ब्राह्मण शब्द के साथ पञ्चसमास मान कर ब्राह्मणकण्डूति यह रूप बनता है ।

स्वर, दीर्घ और यलोपविधि में लोप रूप अजादेश ही स्थानियत् नहीं होता यह कहना चाहिये । लोप से भिन्न अन्य अजादेश तो स्थानियत् ही होते हैं । स्वर जैसे—आकर्षिक । आर्षेण चरति (आकर्षेण) यहाँ आकर्ष शब्द से प्लु प्रत्यय पर रहते वस्थिति च से आकर्ष क अकार का लोप हुआ है । उस को स्थानियत् मान कर अकार का ध्यग्धान हो जायगा तो छिति से ककार क अकार का उदात्त स्वर नहीं प्राप्त होगा । स्वर में लोप रूप आदेश होने से स्थानियत् का निरोध हो कर ककार के अकार को उदात्त हो जाता है । इसी प्रकार चिकीर्षक जिहीर्षक (चिकीर्षे जिहीर्षेणुः) यहाँ सञ्जन्त चिकीर्ष धातु में णुः पर रहते सन् क अकार का अतो लोप से लोप हुआ है उस को स्थानियत् मान कर अकार का ध्यग्धान हो जान से छिति से की शब्द क ईकार को उदात्त नहीं प्राप्त होगा । स्वर में लोपरूप आदेश क स्थानियत् का निरोध होने से ईकार को उदात्त ॥ जाता है । किन्तु पञ्चारत्न्यः दशारत्न्यः यहाँ तो लोपरूप आदेश नहीं है इस लिये यह स्थानियत् ही हो जायगा । पञ्चारत्नि

दीप्ता। प्रतिदीप्ते। यो ह्यन्य आदेशः स्थानिवदेवासौ भवति।  
कियोंः गियोंः। दीर्घ। यलोप- ब्राह्मणकण्वृतिः क्षत्रियकण्वृतिः। यो  
ह्यन्य आदेशः स्थानिवदेवासौ भवति। वाय्वोः अव्यय्योः इति।

तत्तर्हि वक्तव्यम्।

न वक्तव्यम्। इह हि लोपोपि प्रकृतः। आदेशोपि। विधि-  
ग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते। दीर्घादयोपि निर्दिश्यन्ते। केवलं तत्राभि-

शब्द से जस् पर रहते जसादिपु छन्दसि वा वचनं प्राङ्णौ चङ्मुनघायाः इस  
वार्तिक से जसि च के प्राप्त गुण का अभाव हो कर इको यणचि से वेद में  
यणादेश होता है। यह लोप रूप नहीं है। उसके स्थानिवत् होने से इगन्त हो  
जायगा तो इगन्तकालकपालभगाल० से पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो जाता है। दीर्घ का  
उदाहरण प्रतिदीप्ता, प्रतिदीप्ते है। यहाँ अग्नन्त प्रतिदिक्त् शब्द से टा के विभक्ति  
पर रहते अलोपोऽन से अन् के अकार का लोप हुआ है। उस को स्थानिवत्  
मान कर हलि च से दीर्घ नहीं प्राप्त होता। लोप रूप आदेश होने से स्थानिवद्भाव  
का निषेध हो जायगा तो दीर्घ हो जाता है। किन्तु कियोंः गियोंः ( किरि गिरि-  
ओस् ) यहाँ किरि गिरि शब्दों से ओस् पर रहते द्रको यणचि से यण् रूप  
आदेश हुआ है। उस के लोपरूप न होने से स्थानिवत् का निषेध न होगा  
तो रेफान्त न मिलने से हलि च से दीर्घ नहीं होता। यलोप का उदाहरण  
ब्राह्मणकण्वृति क्षत्रियकण्वृति, यह कड़ ही जुके हैं। कण्वृति में यक् के  
अकार का लोप हुआ है। उस के लोप रूप आदेश होने से स्थानिवद्भाव का  
निषेध हो जायगा तो वल् पर मिलने से लोपो व्योर्वलि से यलोप हो जाता है।  
किन्तु वाय्वोः अव्यय्योः यहाँ वायु अव्ययु शब्दों से ओम् पर रहते इको  
यणचि से यणादेश हुआ है। उस के लोप रूप न होने से स्थानिवद्भाव का  
निषेध न होगा तो स्थानिवत् हो कर वल् पर न मिलेगा। उस से लोपो व्या० से  
यलोप नहीं होता है।

तो क्या स्वर दीर्घ यलोप विधि में लोपरूप आदेश ही स्थानिवत् होता  
है अन्य नहीं यह वचन कहना होगा ?

इस वचन के अलग कहने की आवश्यकता नहीं। यहाँ लोप, आदेश, विधि  
ग्रहण और स्वर दीर्घ यलोप आदि सभी पढ़े हुए हैं। सूत्र में सभी का  
निर्देश है। केवल इन सब का आपस में सम्बन्धमात्र करना है कि स्वर



सम्बन्धमात्र कर्तव्यम् । स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानियदिति ।

आनुपूर्व्येण सनिविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धः शस्यते कर्तुम् ।  
न चेतान्यानुपूर्व्येण सनिविष्टानि ।

अनानुपूर्व्येणापि सनिविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति ।  
तद्यथा 'अनङ्वाहमुदहारि या त्य हरसि शिरसा कुम्भ भगिनि सा  
र्चानमभिधावन्तमद्राक्षीः' इति । तस्य यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति  
उदहारि भगिनि या त्य कुम्भ हरसि शिरसा अनङ्वाह सार्चान-  
मभिधावन्तमद्राक्षीः इति ।

दायं और यलोप विधि में लोपरूप अजादेश ही स्थानियत् नहीं होता । अन्य आदेश तो स्थानियत् ही होते हैं ।

किसी आनुपूर्वी एवं क्रम से रख हुए शब्दों का ही आपस में यथेष्ट सम्बन्ध किया जा सकता है । यहाँ लोप आदेश, स्वर, दायं भादि का कोई क्रम नहीं है । ये किसी आनुपूर्वी से निर्दिष्ट नहीं हैं इस लिये इन का अभीष्ट सम्बन्ध कैसे किया जा सकता कि स्वर दायं यलोपविधि में लोप रूप अजादेश स्थानियत् नहीं होता ।

आनुपूर्वी अधरा क्रम से रहित रखे हुए शब्दों का भी यत्ना की इच्छा ता यथेष्ट सम्बन्ध होता है । जैसे—अनङ्वाहमुदहारि या त्य हरसि शिरसा कुम्भ भगान सार्चानमभिधावन्तमद्राक्षा इस वाक्य में पदों का कोई आनुपूर्व्य नहीं है । य किसी उचित क्रम से नहीं रख हुए हैं । फिर भी य ता अपनी उद्दिष्ट इन का उचित सम्बन्ध कर के यू रखता है कि—उदहारि भगिनि या त्य शिरसा कुम्भ हरसि सार्चानमभिधावन्तमद्राक्षीः । इस वाक्य का अर्थ है कि हे उठ जाने वाली बहिन ! तो तू सिर पर जल का पशाला रहा है, क्या तू न हथर ऊपर टक मटक दौड़ता हुआ बैक देखा है ? इस प्रकार वाक्य रचना में यद्यपि विच्छेद दोष तो है फिर भी अभीष्ट अर्थ का सम्बन्ध हो ही जाता है । यहाँ भी बिना कड़े ही स्वर दीर्घ यलोप विधियों में लोप रूप अजादेश के स्थानरद्राव का निरर्थक समझ लिया जायगा । उस के लिये भ्रष्ट वचन की आवश्यकता नहीं । मृगोपात्त शब्दों का ही उद्दिष्टान् अपने अनुरूप अन्वय कर के शिक्षित अर्थ निकाल लगा । तब के पाठ्यन से अर्थजनन पलान् होता है ।

किलुगुपधात्वचङ्परनिर्हासकुत्वेषूपसंख्यानम् ।

किलुगुपधात्वचङ्परनिर्हासकुत्वेषूपसंख्यानं कर्तव्यम् ।

कौ किमुदाहरणम् ?

कण्डूयतेरप्रत्ययः कण्डूरिति ।

नेतदस्ति । यलोपविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि पिपडिपतेरप्रत्ययः पिपडी ।

नेतदस्ति । दीर्घविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि लावयते लाः । पावयतेः पौः ।

किप्, लृक्, उपधाकार्यं, चङ् परे होने वाला इस्व, और कुत्वं इन विषयो में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये ।

किप् के विषय का क्या उदाहरण है ?

क्यन्त कण्डून् शतु से किप् प्रत्यय करके वण्ड यह रूप बनता है जो किप् का उदाहरण है । यहा किप् परे रहते क्यच् के अकार का अतो लोप हो लोप होता है । उस अकारलोप को स्थानिवत् मान कर लोपो व्यो० से दलोप नहीं प्राप्त होता । किप् में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह कोई उदाहरण नहीं । यलोप विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है उसी से यह सिद्ध हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । पिपडी । यहा सन्तन्त पिपडिप धातु से किप् प्रत्यय परे रहते सन् के अकार का अतो लोप से लोप होता है । उस को स्थानिवत् मान कर वोरुपधाया दीर्घ इक् से दीर्घ नहीं प्राप्त होता । किप् में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । दीर्घविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है उसी से यह सिद्ध हो जायगा ।

अच्छा तो यह उदाहरण लीजिये । लौ पौः । ( लृ णिच किप् ) यहा णिजन्त लृ धातु से किप् परे रहते वृद्धि और आवादेश हो कर णिच का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत् मानने से णि का व्यवधान हो जायगा तो लाव् के वकार को च्च्वो गृह्युनासिके च स उद् नहीं प्राप्त होता । किप् में स्थानिवत् का निषेध कहन से हो जाता है ।

नतदस्ति । अरुत्वा वृद्धयावादशौ णिलोप । प्रत्ययलक्षणेन वृद्धिर्भविष्यति ।

इदं तर्हि ल्यमाचष्टे लवयति । लवयतेरप्रत्यये लौः । स्थानि यद्भावाद् णरुद् न प्राप्नोति । 'को लुप्त न स्थानिवदिति' भवति ।

एवमपि न सिध्यति । कथम् । कौ णिलोपो णायकारलोप । तस्य स्थानियद्भावाद् न प्राप्नोति ।

नप दोष । नेच विज्ञायते कौ लुप्त न स्थानिवदिति । कथं तर्हि ।

यह भी काह उदाहरण नहीं । यहा ( लृणिच-क्विप् ) इस अवस्था में दू का वृद्धि और भावाद्भा न करक पहले णि का लोप करेंगे । उसको प्रत्यय ण्य प्रत्यय णम् स प्रत्ययलक्षण मान कर लृ का वृद्धि हा नायगी । एचोऽयवायव स हान गाला भाव भादृग तो अच् रूप वर्ण क भावित हान स प्रत्ययलक्षण मान कर नहीं होगा क्योंकि वर्णाश्रये नास्त प्रत्ययलक्षणम् इस परिभाषा स वर्णाश्रित काय म प्रत्ययलक्षण नहीं हुआ करता । उस स ी वी घन नायगे इस प्रक्रिया म स्थानिवत्भाव का प्रसङ्ग ही नहीं ।

भाष्य ता यह उदाहरण लाजिय । ल्यमाचष्टे लवयति । लवयताति ली । यहा ण्य प्रतिपदिक स तन्वरोति तन्वरोत् इस वाकिक स ण्य प्रत्यय हुआ है । ण्य पर रहता ट स टिसलक ल्य क अकार का लोप हा कर ल्यद् यह णिच न धातु घन नाता है । उस स क्विप् प्रत्यय पर रहत णि का लोप हाता है । ण्यार का स्थानियत् मान कर च्वा श्रुतुनासिक ण स हान पाग यकार का उठ नहीं प्राप्त हाता । क्विप् पर रहत लुप्त में स्थानिवत्भाव का निरपेक्ष कदन स हा नाता है ।

उन प्रक्रिया म भा णी वी म उठ नहीं सिद्ध हाता है । क्योंकि ( लृणिच क्विप् ) इस अवस्था म क्विप् पर रहत णि का लोप हुआ है । और णिच पर रहत ण्य क अकार का लोप हुआ है । णिलोप क स्थानियत्भाव का निरपेक्ष हान पर भी अकारलोप क स्थानियत्भाव स उठ नहीं प्राप्त हाता । वी यह निरपेक्ष ता क्विप् पर रहत हुए णिलोप क स्थानियत्भाव का ही राक सकता । णिच पर रहत हुए धकारलोप क स्थानियत्भाव का नहीं राक सकता ।

यह काह दाख नहीं । कि उगुण- इस वाकिक स क्विप् पर रहत जा उस हुआ है उसी म स्थानियत्भाव का निरपेक्ष नहीं माना जाता बल्कि क्विप् पर रहत

कौं विधिं प्रति न स्थानिवदिति ।

लुकि किमुदाहरणम् ?

बिम्बम् । बदरम् ।

नैतदस्ति । पुवद्भावेनाप्येतत् सिद्धम् ।

इदं तर्हि आमलकम् ।

नैतदस्ति । वक्ष्यत्येतत् 'फले लुग्वचनानर्थक्य प्रकृत्यन्तर-

कोई भी विधि करने में स्थानिवद्भाव का निषेध माना जाता है । लौ वी में बिप् परे है ही । उस क पर रहते णिच् है । णिच् परे रहते अकारलोप हुआ है वह बिप् परे रहते डुप् विधि है उस में स्थानिवद्भाव का निषेध हो नायगा ता णिलोप और अकारलोप दोनों ही स्थानिवत् न होंगे । फिर ऊर् निर्बाध है ।

लुक् विषय में क्या उदाहरण है ?

लुक् विषय में बिम्बम् । बदरम् । ये उदाहरण हैं । ( बिम्ब्या बदर्याश्च फलम् ) यद्वा बिम्बी बदरी शब्दों से विकार अर्थ में अनुदात्तादेश्च से अन् प्रत्यय हो कर उस का फले लुक् से लुक् हाता है । साथ ही टुक् तद्धितलुकि से बिम्बी बदरी के ङाप् स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् हो जाता है । ङीप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर यत्येति च से बिम्ब बदर क अकार का लोप प्राप्त हाता है । लुक् में स्थानिवत् का निषेध कहने से नहीं होता ।

यह कोई उदाहरण नहीं । यह तो पुवद्भाव से भी सिद्ध है । बिम्बी बदरी से अन् प्रत्यय हुआ है । यह अज्ञादि है । उस के परे रहते पूर्व की भसशा हो नायगी तो भस्याडे तद्धित इस बातक से बिम्बी बदरी का पुवत् हो कर बिम्ब बदर शब्द बन जायेंगे । तब ङाप् क लुक् का प्रसङ्ग ही न होने से स्थानिवद्भाव प्राप्त ही नहीं ।

तां फिर आमलकम् यह उदाहरण लीजिये । आमलक्या फलम् इस अर्थ में आमलकी शब्द के इदमश्रक होने से नियम वृद्धशरादिभ्य से मयद् प्रत्यय हा कर उय का फले लुक् से लुक् हा जाता है । मयद् प्रत्यय के अज्ञादि न होने से उस क परे रहते पूर्व की भसशा न होगी तो आमलकी को भस्याडे तद्धित से पुवत् न हो कर लुक् तद्धितलुकि से ङप् का लुक् ही करवा होगा । लुक् होने पर उस स्थानिवत् मान कर आमलक क अकार का लोप प्राप्त होता है । लुक् में स्थानिवत् का निषेध कहने से नहीं होता ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । फललुक् सूत्र पर कहेग कि फले लुक् सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं । आमलकम् । बिम्बम् बदरम् ये शब्द आमलकी बिम्बी बदरी इन स्त्रीलिङ्ग शब्दों से बने डुप् नहीं हैं । वरिष्ठ स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तर हैं ।

त्यादि'ति ।

इदं तर्हि पञ्चभिः पद्वीभिः क्रीतः पञ्चपटुः दशपटुरिति ।

ननु चेत्तदपि पुंवद्भावेनेव सिद्धम् ।

कथं पुंवद्भावः ?

‘अस्यादे तद्धिते’ पुंवद् भवतीति ।

अस्येत्युच्यते । यजादौ च भसंज्ञा भवति । न चात्र यजादिं पश्यामः ।

प्रत्ययलक्षणेन यजादिः ।

‘उणांश्चये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्’ ।

स्वतन्त्र अलग शब्द हैं ; उन में स्त्रीप्रत्यय के लुक् का प्रश्न ही नहीं उठता ।

अस्मा तो यह उदाहरण लीजिये । पञ्चभिः पद्वीभिः क्रीतः पञ्चपटुः । दशभिः पट्वीभिः क्रीतः दशपटुः । यहाँ क्रीत अर्थ में हुए भाईयि ठक् प्रत्यय का अयर्पूर्वङ्गोऽगसङ्गायाम् से लुक् हो कर लुक् तद्धितलुकि से पट्वी के ङीप् का लुक् हो जाता है । ङीप् के लुक् को स्थानियत् मान कर इसी यणचि से पटु के उकार को यणादेश प्राप्त होता है । लुक् में स्थानियत् का निरोध कहने से नहीं होता ।

पञ्चपटुः यह उदाहरण भी तो पुंवद्भाव से सिद्ध हो सकता है ?

यह पुंवद्भाव कैसे होगा ?

अस्यादे तद्धिते इस वातिक से पञ्चपटुः में पट्वी को पुंवद्भाव हो जायगा । इस वातिक का अर्थ है—टभिन्न तद्धित प्रत्यय पर होने पर भसञ्ज्ञक स्त्री शब्द क पुंवा होता है ।

अस्या न दो यह वातिक तो भसञ्ज्ञक स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवा करता है । और भसंज्ञा यनि नम् मूत्र से यकारादि अजादि प्रत्यय पर रहते होती है । पञ्चपटु में यकारादि अजादि प्रत्यय उठ नहीं दीयता ।

प्रत्ययलक्षणे प्रत्ययलक्षणम् में लुक् हुए ठक् (इक) प्रत्यय को प्रत्ययलक्षण मान कर अजादि पर हो जायगा तो पूरे की भसंज्ञा हो जायगी ।

पुं के नाशित कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होता । भसंज्ञा में यकारादि अजादि रूप पुं के आश्रयण किया है इस लिये भसंज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तो अजादि पर न मिलने से पूरे की भसंज्ञा न हो सकेगी । भसंज्ञा न होने में ‘अस्यादे’ से पुंभाव नहीं प्रप्त होगा ।

एवं तर्हि 'ठक् छसोश्च' इत्येव भविष्यति ।

ठक्छसोश्चेत्युच्यते । न चात्र ठक्छसौ पश्यामः ।

प्रत्ययलक्षणेन ।

'न लुमता तस्मिन्निति' प्रत्ययलक्षणस्य प्रतिषेधः ।

न खल्वप्यवश्यं ठगेव क्रीतप्रत्ययः । क्रीताद्यर्था एव वा तद्धिताः । किं तर्हि, अन्येपि तद्धिता ये लुक् प्रयोजयन्ति । पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्मेति पञ्चेन्द्रः । दशेन्द्रः । पञ्चाग्निः । दशाग्निः ।

पञ्चपदु. में अस्याडे से न सही, ठक्छसोश्च इस वातिक से पुंवज्ञाव हो जायगा । इस में स्पष्ट ही ठक् और छस् प्रत्यय पर रहते पुवद्भाव का विधान किया गया है । पञ्चपदु. में ठक् प्रत्यय है ही ।

ठक्छसोश्च इस वातिक में ठक् और छस् प्रत्यय पर होने पर पुवत् कहा है । पञ्चपदु. में ठक् छस् कुछ नहीं परे दीयता । जो ठक् प्रत्यय किया था वह लुप्त हो चुका है ।

प्रत्ययलक्षण मान कर पञ्चपदु. में ठक् प्रत्यय परे है । क्योंकि प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् से लुप्त होने पर भी प्रत्ययनिमित्त कार्य हो सकता है ।

न लुमताज्ञस्य सूत्र पर कहे हुए न लुमता तस्मिन् इस वातिक से प्रत्यय-लक्षण का निषेध हो जायगा तो पञ्चपदु. में ठक् प्रत्यय को निमित्त मान कर पुंवज्ञान नहीं हो सकता । वहाँ अन्ततो गत्वा लुप्ततद्धितलुकि से ङीप् का लुक् ही मानना होगा । ङीप् के लुक् को स्थानिवत् हो कर पदु के उकार को यण् प्राप्त होता है । उस का रोकने के लिये लुक् में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना आवश्यक है । न केवल यह पञ्चपदु. ही क्रीतार्थक नार्हीय ठक् प्रत्यय वाला लुक् का उदाहरण है या क्रीतार्थक तद्धित ही लुक् विषय में स्थानिवद्भाव निषेध के उदाहरण है बल्कि और नयीं वाले भी तद्धित हैं जो लुक् के उदाहरण में प्रयोजन रखते हैं । जैसे पञ्चेन्द्रः । पञ्चाग्निः । यहाँ पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्मि हविषः इस देवता अर्थ में सास्त्र देवता से अण् प्रत्यय होता है । इन्द्राणी शब्द इन्द्रस्य स्त्री इस प्रयोग अर्थ में इन्द्रवरुण० से ङीप् प्रत्यय तथा आनुक आगम कर के बनता है । इसी प्रकार पञ्च अप्राण्यः देवता अस्मि स पञ्चाग्निः । यहाँ अप्राणी शब्द वृषाकर्मणि० से अग्नेः स्त्री इस अर्थ में ङीप् प्रत्यय तथा ऐकार आदेश करके बनता है । देवता रूप तद्धितार्थ में पञ्चेन्द्राणी तथा पञ्चाग्राणी ये दोनों द्विगु समास हैं ।

उपधात्वे किमुदाहरणम् ?

पिपटिपतेरप्रत्ययः पिपटीरिति ।

नैतदस्ति । दीर्घविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि सौरी बलाका ।

इमं से विधीयमानं अण् प्रत्यय का द्विगोर्लुगनभ्ये से लुक् हो जाता है । लुक् तादृत्तलुकि ॥ पञ्चन्द्राणां मे टाप् का तथा पञ्चान्नायी में वीर् का लुक् भी साथ ही हो जाता है । टाप् के साथ सनियोगशिष्ट आनुक् भागम का तथा वीर क माथ सनियोग शिष्ट ऐकार आदेश का लुक् स्वयमेव प्रत्ययों के साथ ही हो जाता है । क्योंकि सनियोग शिष्टानामन्यतराभावे उनयोरप्यभाव इस परिभाषा से सनियोग शिष्ट=एक साथ विहित कार्यों में एक का अभाव होने पर दूसरे का अभाव भी स्वतः होता है । टाप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर आनुक् भागम का ध्रवण प्राप्त होता है । इसी प्रकार टाप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर ऐकार का ध्रवण प्राप्त होता है । लुक् में स्थानिवद्भाव का निरर्थक कहन स नहीं होता । चन्द्राणां अन्नायी शब्दों के भाष्यतपुस्क न हाने से उन्हें पुनर्त्त ना नहीं हो सकता । इसलिए यहाँ आनुक् भागम अथवा ऐकार आदेश का ध्रवण रोकन के लिये स्थानिवद्भाव के निषेध का अत्यन्त आवश्यकता है । यदि टाप् टाप् के अभाव में आनुक अथवा ऐकार आदेश न भी प्राप्त हों तो भी टाप्, टाप् के लुक् को स्थानिवत् मान कर पञ्चन्द्र पञ्चानिः में भग्नि और इन्द्र क इकार अकार का यत्यति च से लोप तो सर्वथा प्राप्त है ही उस को भी रोकने के लिये लुक् में स्थानिवत् का निषेध करना आवश्यक है ।

उपधा विषय मे क्या उदाहरण है ?

निर्गुण यह उपधा विषयक उदाहरण है । यहाँ सक्रान्त विपटिप धातु से द्विप्र प्रत्यय पर रहते अतो लोपः से सन् के अकार का लोप हुआ है । उस का स्थानिवत् मान कर उपधा मे इक् न रहेगा तो बौद्धधाया ३ पं ६८ स दीर्घ नहीं प्राप्त होता । उपधा कार्य मे स्थानिवत् का निरर्थक कहने स हो जाता है ।

यह कोई उदाहरण नहीं । दीर्घ विधि मे स्थानिवत् का निषेध किया है यह उसा म मित्र हा जायगा ।

तो फिर यौती कट का यह उदाहरण लाजिय । सूत्र एङदिह्, सूत्रो देवता भग्ना वा । ( मूर्ध्व-अण् टाप् ) यहाँ टाप् पर रहत अण् क अकारलोप को, और अण्

नैतदस्ति । यलोपविधिं प्रति न स्थानिवत् ।

इदं तर्हि पारिखीयः ।

‘चङ्परनिर्हासे चोपसंस्थानं’ कर्तव्यम् । वादितवन्तं प्रयोजितवान् ।  
अवीवदत् वीणां परिवादकेन ।

किं पुनः कारणं न सिध्यति ?

योऽसौ णौ णिर्लुप्यते तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति ।

परे रहते सूर्य के अकारलोप को स्थानिवत् मान कर उपधा में यकार न मिलने से सूर्यतिष्यागस्त्य० से यकार का लोप नहीं प्राप्त होता । उपधाकार्य में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

यह भी कोई उदाहरण नहीं । यलोपविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा है उसी से यह भी सिद्ध हो जायगा ।

तो फिर पारिखीयः यह उदाहरण लीजिये । परिखाया अवूरभव पारिख । पारिखे भवः पारिखीयः । यहाँ परिखा शब्द से अवूरभव अर्थ में चातुरर्थिक अण् प्रत्यय पर रहते यस्येति च से परिखा के आकार का लोप हुआ है । फिर पारिख शब्द के वृद्धसंज्ञक और खकार उपधा वाला होने से उस ण पर वृद्धादकेकान्तलोपधात् से शैथिल्य छ प्रत्यय होता है । परिखा के आकार लोप को स्थानिवत् मान कर पारिख शब्द के खकार उपधा वाला न रहने से छ प्रत्यय नहीं प्राप्त होता । उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से हो जाता है ?

चङ् पर रहते होने वाले ह्रस्व में भी स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये वादितवन्तं प्रयोजितवान्=अवीवदत् । यहाँ णिजन्त यद् धातु से दूसरा णिच् हुआ है । णेरनिष्ठि से दोनों णिच् प्रत्ययों का लोप हो जाता है । चङ्-परक णि पर रहते णौ चङ्नुपधाया ह्रस्व- से वाद् के उपधाभूत आकार को ह्रस्व होता है ।

क्या कारण है जो अवीवदत् में चङ् पर होने वाला ह्रस्व नहीं सिद्ध होता । जिस के लिये स्थानिवद्भाव के निषेध की आवश्यकता है ।

अवीवदत् में दूसरा णिच् पर रहते जो पहले णिच् का लोप हुआ है उस को स्थानिवत् मान कर वादि में आकार के उपधा में न आने से णौ चङ्नुपधायाः से उपधाह्रस्व नहीं प्राप्त होता । चङ् पर होने वाले ह्रस्व में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से णि का व्यवधान न रहेगा तो ह्रस्व हो जाता है ।



ननु चैतदप्युपधात्वविधिं प्रति न स्थानिवदित्येव सिद्धम् ।

विशेषत एव तद् वक्तव्यम् । क । प्रत्ययविधौ इति । इह मा भूत् । पठयति लघयति ।

कुत्ये चोपसंख्यानं कर्तव्यम् । अर्चयतेर्कः । मर्चयतेर्मर्कः ।

नैतद् घञन्तम् । औणादिक एष कप्रत्ययः । तस्मिन् आप्टमिर्कं कुत्यम् ।

एतदपि णिच् व्यवहितत्वात् प्राप्नोति ।

अवीवदत् में उपधा ह्रस्व भी तो उपधाकार्य में स्थानिवद्भाय के निषेध कथन से ही सिद्ध है । फिर उस के लिये चङ्परक ह्रस्व में वृषक् स्थानिवद्भाय के निषेध कथन की क्या आवश्यकता है ?

उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध विनियोग कार्य के लिये कहना होगा । कहाँ ? जो प्रत्यय विधि है । अर्थात् जहाँ उपधा मान कर प्रत्यय का विधान किया जायगा वहीं उपधाकार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध होगा । सर्वत्र नहीं । जैसे—पारिणीयः इस पूर्वोक्त उदाहरण में पारिण शब्द को रोपध मान कर उ प्रत्यय का विधान करने में आकारलोप का स्थानिवत् नहीं माना गया है । किन्तु जहाँ उपधा कार्य में किसी प्रत्यय का विधान नहीं है वहाँ स्थानिवत् का निषेध नहीं होगा । जैसे—पठयति लघयति । पठ् लघु वा आचष्ट । ( पठ् लघु-णिच् ) यहाँ उपधावृद्धि रूप उपधाकार्य में पठ् के उकार लोप में स्थानिवत् का निषेध न होगा तो उकार लोप के स्थानिवत् होने से उपधावृद्धि नहीं होती । इस लिये अवीवदत् यहाँ चङ्परक ह्रस्व में वृषक् स्थानिवद्भाय का निषेध कहना आवश्यक है ।

पुरष में भी स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये । अर्चयते इति अर्कः । मर्चयते इति मर्कः । यद्वा णञन्त अर्चं मर्चं धातुभो से घञ् प्रत्यय पर रहते णेरनिदि से णि का लोप हुआ है । उस को स्थानिवत् मान कर णि का व्यवधान हो जायगा तो यञो, उणिज्यञो, से अर्चं मर्चं के चकार को पुरष नहीं प्राप्त होता । पुरष विधान में स्थानिवत् का निषेध कहने से हो जाता है ।

अर्चं मर्चं इन उदाहरणों को घञ् प्रत्यय कर के नहीं बनायेंगे । अपि तु णिञन्त अर्चं मर्चं धातुभो से औणादिक क प्रत्यय करके बनायेंगे । क प्रत्यय के सटादि होने से उस के पर रहने अष्टमाध्यायस्थ चोः कुः से चकार को पुरष सिद्ध हो जायगा । णिञोप भी क प्रत्यय पर रहते हो ही जायगा ।

नो पुः से विधीयमान पुरष भी अर्चि मर्चि में णिच् का व्यवधान होने से

पूर्वत्रासिद्धे च ।

‘पूर्वत्रासिद्धे च न स्थानिवदिति’ वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

प्रयोजनं कसलोपः सलोपे ।

कसलोपः सलोपे प्रयोजनम् । अदुग्धं अदुग्धाः । ‘लुग्व्वा दुहदिह-  
लिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये’ इति लुग्ग्रहणं न कर्तव्यं भवति ।

दध आकारलोप आदिचतुर्थत्वे ।

दध आकारलोप आदिचतुर्थत्वे प्रयोजनम् । घत्से घद्ध्वे घद्ध्वम् ।  
दधस्तथोद्घेति चकारो न कर्तव्यो भवति ।

नहीं प्राप्त होता । इस लिये कुत्व विधान में स्थानिवद्भावात् क निषेध को सर्वथा आवश्यकता है ।

पूर्वत्रासिद्धम् इस सूत्र से दे कर समाप्ति पर्यन्त अष्टाध्यायी के पिछले तीन पाद पूर्वत्रासिद्धीय या त्रिपादी कहते हैं । उस प्रकरण के सूत्रों के कार्य में भी स्थानिवद्भावात् का निषेध कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? कस के अकार का लोप सलोप में प्रयोजन है । अदुग्ध, अदुग्धा ( दुह् कस् लुङ् त, धास् ) यहाँ दुह् धातु से लुङ् में चिह्न को कस होता है । त, धास् पर रहते लुग्व्वा दुहदिहलिहगुहा० से कस् का लुक् न कर के यदि कस के अकार का लोप करे तो भी दोष न होगा । पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण में स्थानिवत् का निषेध कहन से पूर्वत्रासिद्धीय सलोप श्लि सूत्र से कस के अवशिष्ट सकार का लोप करने में कस का अकार लोप स्थानिवत् न होगा तो श्लो पर मिल जाने से कस के सकार का लोप हो जाता है और लुग्व्वा दुहदिह० सूत्र में लुक् ग्रहण भी नहीं करना पड़ता । यद्यपि अदुहदिह यद्वा वहि प्रत्यय के लिये तो लुक् ग्रहण करना अनिवार्य है क्योंकि वहि में वकार के श्लो न होने से श्लो श्लि से वहाँ कस के सकार का लोप नहीं हो सकता । फिर भी त धास् ध्वम् इन तीन दन्त्य आत्मनेपद प्रत्ययों के परे रहते लुक् ग्रहण करना व्यर्थ है । वहाँ कस के लोड से भी काम चल जायगा । कस के अकार लोप में स्थानिवत् का निषेध हो जायगा तो श्लो श्लि से सकार का लोप निरर्थक सिद्ध हो जायगा ।

द्वित्व हुए धा धातु के अकार का लोप उस के दकार को आदिचतुर्थे धकार अक्षर करने में प्रयोजन है । घत्से । घद्ध्वे । घद्ध्वम् । ( धा-लट् से, ध्वे लोट्-ध्वम् )

हलो यमा यमि लोपे ।

हलो यमां यमि लोपे प्रयोजनम् । आदित्यः । हलो यमां यमि लोपः सिद्धो भवति ।

अल्लोपणिलोपौ सयोगान्तलोपप्रभृतिषु ।

प्रयोजनम् । पापच्यतेः पापकिः । यायज्यतेर्यायष्टिः । पाचयतेः पाकिः । याजयतेर्यायष्टिः ।

द्विर्वचनादीनि च ।

द्विर्वचनादीनि च न पठितग्यानि भवन्ति । पूर्वप्रासिद्धेनैव सिद्धानि भवन्ति । किमचिशेषेण ? नेत्याह ।

यहां धा धातु से हट्ट लोट्ट में से ध्ने पर रहते दध् को हलु हो कर द्विस्त्र हो जाता है । अनान्यमनयोरान्त से धा के आकार का लोप हो कर दध् होता है । पूर्वप्रासिद्ध कार्य में स्थानियन् का निषेध कहने से पूर्वप्रासिद्धीय एकाचो यशो भप् से दध् के दकार को धकार करने में धा का आकारलोप स्थानियत् न होगा तो सप्तम्व हो जान से एकाचो यशो भप् से द को ध हो जाता है । इस से दधस्तथोद्व में धकार भी नहीं लगाना पड़ता । क्योंकि से ध्ने पर रहते एकाचो यशो भप् से ही द का ध हो जायगा ।

हलो यमा यमि लोप में यकार का लोप होना प्रयोजन है । आदित्यः । आदित्य नर ( आदित्य-ग्य ) यहां आदित्य शब्द से भर अर्थ में दियदित्या-दिव से ण्य प्रत्यय पर रहते ययेति च से आदित्य के अकार का लोप हुआ है । पूर्वप्रासिद्धीय हलो यमा यमि लोप से आदित्य के यकार का लोप करने में अकार का लोप स्थानियन् न होगा तो यम् से परे व्यसधानरहित यम् हो जाने से आदित्य के यकार का लोप हो जाता है ।

सयोगान्तलोप आदि करने में अकारलोप और णिलोप प्रयोजन हैं । पात न । ययट । पाकि । याष्टि । यहां ययन्त पापच्य यायज्य धातुओं में णिन् पर रहते अतो लोप से यष्ट् के अकार का लोप हुआ है । इसी प्रकार पात याट णिजन्त पष् यत् से णिन् पर रहते णिलोप हुआ है । पूर्वप्रासिद्धीय प्रकरण के ॥ १ ॥ मरभ्रमृगृजृन्मृ० मूर्ध्नी में मरय पत्य करने में अकार-लोप और णिलोप स्थानियत् न होमे तो मरत् पर हो जाने से पातष्टि में मरय और यायष्टि में पत्य हो जाता है । इसी तरह पाकिः में कुत्वं और याष्टि में

वरे यलोपस्वरवर्जम् ।

वरे यलोपं स्वरं च वर्जयित्वा ।

तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु ।

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु । संयोगा-  
दिलोपे-काव्यर्थम् । वास्यर्थम् । 'स्कोः संयोगाद्योरिति' लोपः प्राप्नोति ।

परव होता है । स्कन्दयतीति स्कन् । काष्ठ तक्षयतीति काष्ठतक् । रोहयतीति  
धोक् । लेहयतीति लेट् । इत्यादि प्रयोगों में णिलोप को स्थानिवत् न मान कर  
संयोगान्त लोप घस्र ढस्र आदि पूर्वत्रासिद्धीय कार्य हो जाते हैं । पदान्तविधि  
में स्थानिवद्भाव के निषेध से भी स्कन् आदि में संयोगान्त लोप आदि सिद्ध हो  
सकते हैं इसी लिये भाव्यकार ने ये उदाहरत नहीं किये ।

पूर्वत्रासिद्धीय कार्य में स्थानिवत् का निषेध कहने से न पदान्त० सूत्र  
में द्विवचन आदि भी नहीं पढ़ने पढ़ेंगे । क्योंकि प्रायः सभी पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण  
के हैं । क्या सामान्यतया सभी नहीं पढ़ने पढ़ेंगे ? नहीं । वरे यलोप और स्वर  
को छोड़ कर । न पदान्त सूत्र में द्विवचन सवर्णानुस्वार दीर्घ जश् और चर्  
विधिये सब पूर्वत्रासिद्धीय प्रकरण की होने से इन के पढ़ने की आवश्यकता  
नहीं । पर वरे यलोप स्वर विधि तो पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण की न होने से सूत्र में  
पढ़नी ही होंगी ।

पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण के कार्य में स्थानिवद्भाव का निषेध कहने से  
संयोगादिलोप, लस्व और णस्व में दोष प्राप्त होता है । क्योंकि ये कार्य भी  
पूर्वत्रासिद्ध प्रकरण के हैं किन्तु इन में स्थानिवद्भाव का निषेध इष्ट नहीं  
है । संयोगादिलोप जैसे—काव्यर्थम् । वास्यर्थम् । ( कासी+अर्थम् । वासी+अर्थम् )  
यहां इरो यणचि से यणादेश हुआ है । उस से क् स्क् इस पदान्त संयोग  
में ककार सकार के आदि में हो जाने से स्को संयोगाद्योरन्ते च से ककार  
सकार का लोप प्राप्त होता है । यणादेश को स्थानिवत् माने तो पूर्वत्रासिद्धे  
न स्थानिवत् यह पूर्वोक्त निषेध प्राप्त होता है । उस निषेध का संयोगादिलोप  
में निषेध हो कर स्थानिवत् हो जाता है तो संयोगादि ककार सकार न मिलने  
से लोप नहीं होता । लस्व जैसे—निगार्यते निगात्यते । ( नि गृ णिच् यक् लट् त )  
यहां णिजन्त गृ धातु से यक् पर रहते णिच् का लोप हुआ है । उस से अच्

१. दोष = अतिप्रसक्ति । संयोगादिलोप आदि विधियों में स्थानिवद्भाव का  
प्रतिप्रवचन (निषेध का निषेध) करना चाहिए ।

लत्वम्-निगार्यते निगाल्यते । 'अचि विभाषेति' लत्वं न प्राप्नोति ।  
णत्वम् मापवपनी । ऋहिवपनी । 'प्रातिपदिकान्तस्येति' णत्वं प्राप्नोति ।

द्विवचनेऽचि ॥११॥५९॥

आदेशे स्थानिवदनुदेशात् तद्धतो द्विवचनम् ।

आदेशे स्थानिवदनुदेशात् तद्धतः । क्रियतः । आदेशयतो द्विवचनं प्राप्नोति ।

तत्र को दोषः ?

तत्राभ्यामरूपम् ।

तत्राभ्यासरूप न सिध्यति । चक्रतुः चक्रुः इति ।

परे न रहने से अचि विभाषा से गु के रेफ का विकल्प से हरत्र नहीं प्राप्त होता ।  
णितोष का स्थानित् मांने ता पूर्वनासद्धे न स्थानित् यह पूर्वोक्त निषेध  
प्राप्त होता है । उस निषेध का हरत्र में निषेध हो कर स्थानित् हो जाता है तो  
अच् परे मिल जान से एत्र विकल्प से हो जाता है । णत्व जैसे—मापवपनी  
मीहिरवपनी । ( मापवपनी मीहीणां वा वपनी ) यद्वा ल्युङ्गन्त वपन शब्द से णीप्  
परे रहते यन्मार्ग से अकार वा लोप हुआ है । उस में वपन शब्द के नकारान्त  
हो जाने से प्रातिपदिकान्तगुण्यनञिषु च स वैकल्पिक णत्व प्राप्त होता है ।  
अकारलोप का स्थानित् मांने ता पूत्रानिदे न स्थानित् यह पूर्वोक्त निषेध  
प्राप्त होता है । उस निषेध का णत्व में निषेध हो कर स्थानित् हो जाता है  
तो प्रातिपदिक के अन्त में नकार न रहने से णत्व प्रकृत नहीं होता ।

अत्र ररिगन् पूर्वपि गी की तरह इस सूत्र से विधीयमान स्थानित्भाव  
को भी सार्यादिना मानवे हुए प्रश्न करते हैं कि आदेश में स्थानी के समान  
कार्य का भविद्यत होने से तद्धत=उस वाक्य को । नियत=इस वाले को ।  
आदेशयत=आदेश माने शब्द को ही द्विर प्राप्त होता है । अर्थात् आदेश में  
रहाना क कार्य का भविद्यत होने पर नी द्विर तो आदेश वाले शब्द को ही होगा ।

उस में क्या दोष है ?

उस में अभ्यास का रूप नहीं सिद्ध होता । जैसे—चक्रतुः चक्रुः । यद्वा  
पृ-भगुण द्वय भवत्वा मे द्यो यर्णात् से यण् हो कर कृ में अच् न रहने से  
चि ट धातरन्त्यात्मय से द्विर नहीं प्राप्त होता । द्विवचनेति से स्थानित्भाव  
ज्ञाता यण में क के अत्र कार्य का भविद्यत होने पर नी कृ रूप न होने से यण्  
पुनः क का ही द्विर होगा, जिस से अभ्यास में अकार नहीं मुनाई देगा ।

१ यदपि स्थानित्भाव हानि पर द्विवचन इत्यत्र दे, यण् नी तो नियत दे,  
जी भी पर देने से पढ़े यण् होगा ।

अज्ग्रहण तु ज्ञापक रूपस्थानिदभावस्य ।

यद्यमज्ग्रहण करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो रूपं स्थानिवद्भवतीति ।  
कथं कृत्वा ज्ञापकम् । अज्ग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम् । इह मा भूत् जेघ्रीयते  
देघ्रीयते । यदि च रूपं स्थानिवद् भवति ततोऽज्ग्रहणमर्थवद् भवति ।  
अथ हि कार्यं नार्थोऽज्ग्रहणेन । भवत्येवात्र द्विवचनम् ।

तत्र गाड्प्रतिषेधः ।

तत्र गाडः प्रतिषेधो वक्तव्यः । अधिजगे । इवर्णाभ्यासता  
प्राप्नोति ।

यह कोई दोष नहीं । द्विवचनेचि सूत्र में अज्ग्रहण इस बात का ज्ञापक  
है कि इस सूत्र से पूर्व सूत्र के समान आदेश में स्थानी के कार्य का अतिदेश  
न होकर स्थानी के रूप का अतिदेश होता है । यह सूत्र कार्यातिदेश नहीं  
बल्कि रूपातिदेश है । अज्ग्रहण कैसे ज्ञापक हुआ ? क्योंकि अज्ग्रहण का यह  
प्रयोजन है कि जेघ्रीयते देघ्रीयते ( ग्रा, ध्मा यङ ) यहा ग्रा धातु से यङ परे  
रहते ई प्राभो से हुआ ग्रा के आ को ईकार आदेश स्थानिवत् न होवे । यह  
प्रत्यय भजादि न होकर हलादि है इस लिये उस क परे रहते स्थानिवत् नहीं  
होता । यदि यहा रूप स्थानिवत् होकर ईकार आदेश में ग्रा के आकार रूप  
का अतिदेश होगा तो अभ्यास में ईकार का रूप हट कर आकार रूप  
आ जाने से जाघ्रीयते दाघ्रीयते ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है उस को रोकने  
के लिये अज्ग्रहण करना सार्थक बनता है । अन्यथा यदि कार्य का अतिदेश है  
तो ईकार आदेश में ग्रा स्थानी के अथ कार्य का अतिदेश होकर घी शब्द को ही  
द्वित्व हो जायगा । उस से जेघ्रीयते देघ्रीयते यह शुद्ध रूप बने रहने से अज्ग्रहण  
व्यर्थ है । अच् का कार्य द्वित्व तो घी को हो ही रहा है । फिर अच् ग्रहण ने  
क्या व्यावर्त्य किया । इस लिये चक्रतु चक्रु मे कृ रूप का अतिदेश होगा तो  
अभ्यास में अकार सुनाई दे जायगा ।

इस सूत्र से विधीयमान स्थानिवद्भाव में रूपातिदेश मानन पर इह के  
स्थान में हुप् गाड् आदेश में स्थानिवद्भाव का निषेध कहना चाहिये । अधि-  
जगे । ( अधि इह गाड्-लिट व एश् ) यहा अधिपूर्वक इह धातु से लिट  
में द्वित्वनिमित्तक अच् प्रत्यय एश् परे रहते गाड् णिटि से इह को गाड्  
आदेश हुआ है । उसको द्विवचनेचि स स्थानिवत् हो जायगा तो अभ्यास में  
इकार रूप का भ्रवण प्राप्त होता है ।

न यकन्यः । गाड् लिटि इति द्विलकारको निर्देशः । लिटि लकारादाविति ।

कृत्येजन्तदिवादिनामधातुष्वभ्यासरूपम् ।

कृत्येजन्तदिवादिनामधातुष्वभ्यासरूप न सिध्यति । पृति—अचि-  
कीर्तित् । एजन्त—जग्ल मग्ले । दिवादि—दुष्पति । नामधातु—भयन-  
मिच्छति भयनीयति । भयनीयतेः सन् विभनीयपति ।

गाड् भादेन मे स्थानियज्ञार के निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । गाड् लिटि में गाड् लिटि इस प्रकार दा एकार वाला निर्देश समझ कर एकारादि लिट् की लारस्था में ही इह् का गाड् भादेन किया जायगा । एस् पर रहते नहीं । तो द्वित्व का निमित्त अच पर न हाने से स्थानियज्ञार न होगा ।

द्विष्येनेऽचि सूत्र का यदि यह अर्थ करते हैं कि अच् पर रहते हुआ जो भर्त् के स्थान में आदत, यह द्वित्व करने में स्थानियत् होता है तो निजन्त कृति धातु, एजन्त, दिवादि, और नामधातुओं में अभ्यास का रूप नहीं सिद्ध होता । कृति जैसे—अचिर्धर्त् । ( कृत् निरुचद्-लुङ् १४२ ) यहाँ धृतादिगण-पठित् कृत् धातु से लुङ् में निच् पर रहते उभावात्त से कृत् के ऋकार को इकार भादत हुआ है । उस का द्विष्येनेति से द्वित्व करने में स्थानियज्ञार हो जायगा तो अभ्यास में इकार न सुनाई दकर अपभर्त्तन् ऐमा अनिट रूप प्राप्य होता है ।

एजन्त जैसे—गले मले । ( ग्लै म्लै लिट् व एष् ) यहाँ ग्ले धातु से कर्मण्य लिट् में एष् पर रहते आदेय उपदेशेऽनिति से ग्लै के ऐ का भाकार हुआ है । उस का द्विष्येनेति से द्वित्व करने में स्थानियज्ञार हो जायगा तो अभ्यास में भाकार न सुनाई दकर गिले मिले ऐसा अनिट रूप प्राप्य होता है ।

दिवादि जैसे—दुष्टात्त सुसूता ( दिव्, सिव् सन् ) यहाँ सन्तन्त दिव् धातु में हन्तात्त स सन् को क्ति हाकर उस के पर रहते च्चो. श्चनुनासिके च से दिव् के वकार का ऊर्द्ध होता है । ऊर्द्ध पर रहते इय यणिति से हुआ यणादेन द्विष्येनेति से द्वित्व करने में स्थानियत् हो जायगा तो अभ्यास में इकार सुनाई दकर दिव्ति सिव्ति ऐमा अनिट रूप प्राप्य होता है ।

नामधातु जैसे—भयना मन इच्छति भयनीयति । ( भयन भम्-नयत् ) भयन-  
इच्छति भयनीयति । यहाँ यजन्त भयनीय नामधातु से सन् पर रहते भयन-  
रन्त में नू का दुष् भा गुण का द्विष्येनेति से द्वित्व करने में स्थानियज्ञार हो जायगा तो अभ्यास में उकार सुनाई दकर भुनयनादिनि ऐमा अनिट रूप प्राप्य होता है ।

१ इय सूत्र के अर्थ में पाँच पक्ष प्रभव होते हैं । (१) अच् पर रहते हुआ

एवं तर्हि प्रत्यय इति वक्ष्यामि ।

प्रत्यय इति चेत् कृत्येजन्तनामधातुष्वभ्यासरूपम् ।

प्रत्यय इति चेत् कृत्येजन्तनामधातुष्वभ्यासरूप न सिध्यति ।  
दिवाद्य एके परिहृताः ।

एवं तर्हि द्विर्वचननिमित्ते अन्त्यजादेशः स्थानिवदिति वक्ष्यामि ।

अच्छा तो द्विर्वचनेऽचि सूत्र मे प्रत्यय शब्द जोड़ कर द्विर्वचनेऽचि प्रत्यये ।  
ऐसा सूत्र बना देंगे । उसका अर्थ होगा—अजादि प्रत्यय पर रहते हुआ जो अच्  
के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है । उस से दोष  
न होगा ।

द्विर्वचनेचि प्रत्यये । ऐसा सूत्र बना देने पर भी निजन्त कृत् धातु, एजन्त  
और नामधातुओं में दोष रहता है । केवल दिवादियों का ही परिहार हो सकेगा ।  
क्योंकि दुगुपति सुस्युपति में ऊड़ अजादि प्रत्यय नहीं है बल्कि आदेश है ।  
अचिकीर्तत् में णिच्, जगले मगले में एङ्, और विभवनीयिपति में भवन शब्द  
का व्युद्ध (अन) प्रत्यय ये सब अजादि प्रत्यय हैं । इन में अभ्यासरूप नहीं  
सिद्ध होता ।

तो फिर द्विर्वचननिमित्तक अच् पर रहते अच् के स्थान में आदेश स्थानिवत्  
होता है ऐसा कहेंगे । अचिकीर्तन में णिच्, विभवनीयिपति में व्युद्ध, और दुगुपति  
में ऊड़ द्वित्व के निमित्त नहीं हैं इस लिये स्थानिवत् न होने से दोष न होगा ।  
जगले मगले का परिहार तो अब भी न हा पाया क्योंकि एङ् द्वित्व का निमित्त  
अच् है । उस का परिहार आगे करेंगे ।

जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है । (२) अजादि  
प्रत्यय पर रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में स्थानिवत्  
होता है । (३) द्वित्व निमित्तक अच् पर रहते हुआ जो अच् के स्थान में आदेश,  
वह स्थानिवत् होता है । (४) द्वित्वनिमित्तक अच् पर रहत अच् के स्थान में आदेश  
का निमित्त होता है । अर्थात् आदेश नहीं होता । (५) द्वित्वनिमित्तक अच् पर रहते  
हुआ जो अच् के स्थान में आदेश, वह द्वित्व करने में ही स्थानिवत् होता है उस  
के बाद नहीं । अथवा—द्वित्वनिमित्तक अच् पर रहते द्वित्व करने तक ही अच् के  
स्थान में आदेश नहीं होता । उसके बाद हो जाता है । इन में पाचवा पक्ष ही निर्दोष  
होने से स्वीकार किया गया है । कम से पाचों पक्षों को दिखाते हुए पहले प्रथम पक्ष  
को उपस्थित करते हैं—कृत्येजन्त० इत्यादि ।



स तर्हि निमित्तशब्द उपादेयः । नह्यन्तरेण निमित्तशब्द निमित्तार्थो गम्यते ।

अन्तरेणापि निमित्तशब्द निमित्तार्थो गम्यते । तद्यथा दधिघ्नपुस प्रत्यक्षो ज्वरः । ज्वरनिमित्तमिति गम्यते । नङ्वलोदक पादरोगः । पादरोगनिमित्तमिति गम्यते । आयुर्धृतम् । आयुषो निमित्तमिति गम्यते ।

अथवा अरारो मत्वर्थीयः । द्विवचनमस्मिन् अस्ति सोऽयं द्विवचनः । द्विवचने इति ।

द्विवचननिमित्तक मच्च पर रहते स्थानियत् मानने में सूत्र में निमित्त शब्द पढ़ना चाहिये । द्विवचनेऽचि के स्थान में द्विवचननिमित्तेऽचि ऐसा सूत्र बनाना चाहिये । क्योंकि निमित्त शब्द बिना पढ़ निमित्त का अर्थ नहीं जाना जायगा ।

निमित्त शब्द बिना पढ़े जो निमित्त का अर्थ समझ लिया जायगा । जैसे—दधिघ्नपुस प्रत्यक्षो ज्वर ऐसा कहते हैं । उस का अर्थ है—दही और सीरे का एक साथ भाजन प्रत्यक्ष ज्वर है । यहाँ निमित्त शब्द के बिना भी प्रत्यक्ष ज्वर का निमित्त है यह समझ लिया जाता है । नङ्वलोदक=रसाती नङों का पानी पैर का रोग है । निमित्त शब्द के बिना भी पैर के रोग का निमित्त समझ लिया जाता है । पा आयु है । यहाँ निमित्त शब्द के बिना भी आयु का निमित्त समझ लिया जाता है । इसी प्रकार यहाँ भी द्विवचनेऽचि में द्विवचननिमित्तक मच्च समझ लिया जायगा । स्मृत्वा अचि । द्विवचन । द्विवचननिमित्ते इत्यर्थः ।<sup>१</sup> उस से द्विवचन का निमित्त मच्च पर होने पर अत्रादेश स्थानियत् होता है यह अर्थ निकल जायगा ।

अथवा द्विवचन शब्द में अर्ग आदि को । आहूतिगण मान कर मत्वर्थीय मच्च प्रत्यय करके ता अर्थ होगा—द्विवचनमस्मिन् अस्ति स द्विवचन प्रत्यय । तस्मिन् द्विवचन आत्र प्रत्यय । द्विवचन जिस के पर होता है, जिस में द्विवचन है, जो द्विवचन का निमित्त है वह अत्रादि प्रत्यय द्विवचन कहायगा । उस से द्विवचन मच्च अत्रादि प्रत्यय पर होने पर अत्रादेश स्थानियत् होता है यह अर्थ निकल जायगा ।

१ द्विवचन से निमित्त होने से मच्च से ही द्विवचन कह दिया गया है ।

अथवा अधिहरण में श्रुत मान कर ( द्विवचनेऽचि न्ननि द्विवचनम् ) द्विवचन मच्च अत्रादि प्रत्यय का अर्थ होगा । अस्मिन् यह निमित्त मच्चो समझी जायगी ।

एवमपि न ध्यायते कियन्तमसौ कालं स्थानिवद्भवतीति । यः पुनराह द्विवचने कर्तव्ये इति, कृते तस्य द्विवचने स्थानिवन्न भविष्यति ।

एवं तर्हि प्रतिषेधः प्रकृतः सोऽनुवर्तिष्यते । क प्रकृतः । न पदान्त-द्विवचनेति । द्विवचननिमित्ते अचि अजादेशो न भवतीति ।

एवमपि न ध्यायते कियन्तमसौ कालमजादेशो न भवतीति । यः पुनराह द्विवचने कर्तव्ये इति । कृते तस्य द्विवचने अजादेशो भविष्यति ।

एवं तर्हि उभयमनेन क्रियते प्रत्ययश्च विशेष्यते द्विवचनं च ।

द्विवचन शब्द का अर्थ द्विवचननिमित्त मान लेने पर यह नहीं मालूम होगा कि कितने समय तक अजादेश स्थानिवत् रहता है । द्विवचन का अर्थ जो द्वित्व करना मानता है उस के मत में तो द्वित्व करने में स्थानिवत् होगा । द्वित्व करने के बाद स्थानिवत् न रहेगा । किन्तु जब द्विवचन शब्द का अर्थ द्वित्व करना न होकर द्विवचन का निमित्त हो गया तब द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है यह अर्थ नहीं निकल सकता । द्विवचनेऽचि में पठित द्विवचन शब्द एक ही है उस से एक ही अर्थ निकल सकता है । या तो द्विवचन का निमित्त अच् या द्वित्व करना । द्विवचन का निमित्त अच् पर रहते अजादेश द्वित्व करने में स्थानिवत् होता है यह अर्थ एक द्विवचन शब्द से नहीं निकलेगा तो कब तक स्थानिवत् होता है यह नहीं मालूम हो सकेगा ।

अच्छा तो ऊपर से निषेध की अनुवृत्ति कर लेगे । ऊपर कहा से निषेध आ रहा है ? न पदान्तद्विवचनवोर्यलोप० इस अनन्तर सूत्र से । निषेध की अनुवृत्ति कर के सूत्र का अर्थ होगा—द्वित्व निमित्तक अच् पर रहते अच् के स्थान में आदेश नहीं होता । उस अग्रस्था में आदेश का निषेध हो जाने से आदेश ही न होगा तो स्थानिवद्भाज का प्रश्न ही न उठेगा कि कब तक स्थानिवत् होता है ।

द्वित्व-निमित्तक अच् पर रहते अजादेश का निषेध मानने में भी यह नहीं मालूम होता कि कितने समय तक अजादेश का निषेध रहता है । जो तो द्विवचन शब्द का अर्थ द्वित्व करना मानता है उस के मत में तो द्वित्व करने में आदेश का निषेध होगा । द्वित्व करने के बाद निषेध न होगा तो आदेश हो जायगा ।

अच्छा तो द्विवचनेचि में पठित इस द्विवचन शब्द से दोनों बातें की जायेंगी ।

कथं पुनरुक्तेन यत्नेनोभयं लभ्यम् ?

लभ्यमित्याह । कथम् । एकशेषनिर्देशात् । एकशेषनिर्देशोऽयम् ।  
द्विवचनं च द्विवचनश्च द्विवचने । द्विवचने कृतं च द्विवचने अचि  
प्रत्यये इति ।

द्विवचननिमित्तोऽचि स्थानिवदिति चेष्णौ स्थानिवद्वचनम् ।

द्विवचननिमित्तोऽचि स्थानिवदिति चेष्णौ स्थानिवद्भाषो वक्तव्यः ।  
अनुनासिकपिपति अनुचुक्षायपिपति ।

यह बात प्रत्यय का विसर्पण भी बनगा और द्वित्व का वाचक भी होगा । द्विवचन  
निमित्तक अनादि प्रत्यय पर रहता द्वित्व करने में ही अनादित्व स्थानियत् होगा ।  
द्वित्व का वाद नहीं ।

एक द्विवचन शब्द से उक्त दोनों अर्थ कैसे निकल सकेंगे ?

एक ही द्विवचन शब्द से उक्त दोनों अर्थ निकल आयेंगे । कैसे ? दो  
द्विवचन शब्दों में एकान्वय का निदर्श मानने से । द्विवचनेचि में जो द्विवचन  
शब्द है यह एकान्वय का निदर्श है । द्विवचन र द्विवचनश्च इति द्विवचनम् ।  
तस्मिन् द्विवचन प्रत्यय का विसर्पण एक द्विवचन शब्द पुल्लिङ्ग है । द्वित्व वाचा  
तुल्यक है । द्विवचनानामत्तक अथ प्रत्यय पर रहता और द्विवचन करने में  
अनादित्व स्थानियत् होता ॥ यह अर्थ एकशेषनिर्देश मान कर सिद्ध हो जाता ।

द्विवचनानामत्तक अथ पर रहता स्थानियत् कहने में जि पर रहता भी  
स्थानियत् कहना चाहिये । क्याकि जि द्वित्व का निमित्त नहीं है । अनुनासिकपिपति ।  
अनुचुक्षायपिपति । ( अनुचुक्षायि-सन् ) यही निमित्त तुल्य धातुभाषा से सन्  
प्रत्यय जुड़ा है । सन् पर रहता मन्थः से तुल्य का प्राप्त द्वित्व यद्विरक्त है ।  
जि पर रहता तुल्य का प्राप्त वृद्धि और भाव भादत अन्तर है । हम जि  
वृद्धि और भाव भादत पहचान हो जाता है । जिन् क द्वित्व का निमित्त न  
होने से द्वित्व में द्वित्व करने में स्थानियत् न होगा तो नार्क्षार् शब्दों  
का अर्थ : मैं द्वित्व हाकर अभ्यास में उकार नहीं सुनाई देगा । जि पर  
रहता स्थानियत्ताय कहने में स्थानियत्ताय हो जायगा तो तुल्य का उकार अभ्यास  
में सुनाई दे जाता है ।

१ गणितिका के अनुसार जो भाषा द्विवचन शब्दों से विभक्त प्रत्यय एकान्वय  
वाचकता और एकान्वय वाचकता से ही भाषा में द्विवचन प्रत्यय से  
संज्ञित है । संप्रदानि सवनामानि सूत्र भाष्य पर दो मर्द जिन्ही दिये ।

न वक्तव्यः ।

ओः पुयण्जिषु वचन ज्ञापक गौ स्थानिवद्भास्य ।

यद्यमोः पुयण्ज्यपरे इत्याह तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवति णो स्थानिवद्भास्य इति ।

यद्येतज्ज्ञाप्यते अचिकीर्तत् अत्रापि प्राप्नोति ।

तुल्यजातीयस्य ज्ञापकम् । कश्च तुल्यजातीयः । यथाजातीयकाः पुयण्जयः । कथं जातीयकाश्चेते । अत्रणपराः ।

णि परे रहते स्थानिवद्भास्य कहने की आवश्यकता नहीं । ओ पुयण्ज्यपरे सूत्र में पु अर्थात् पवर्ग, यण् ( य र ण् व ) प्रत्याहार, और जकार का ग्रहण करना इस बात का ज्ञापक है कि णि परे रहते स्थानिवत् होता है । अन्यथा विभावायपति वियावयिपति विरावयिपति लिवावायपात निजवयिपति ( भू, यु, रु, लू, उ णिच्-सन् ) यहा णिच परे रहते भू आदि को हुआ घृद्धि और भाव् भादेश द्वित्व करने में स्थानिवत् न होगा तो अभ्यास में उकार न मिल कर अकार ही मिलेगा । वहां सन्यत से ही इत्थ सिद्ध हो जायगा । पवर्ग यण् प्रत्याहार और जकार ग्रहण करना व्यर्थ है ।

यदि ओ पुयण् के ज्ञापक से णि परे रहते स्थानिवद्भास्य होता है यह बात ज्ञापित होती है तो अचिकीर्तत् यहा भी स्थानिवद्भास्य प्राप्त होता है । ( कृत्-णिच्-लुङ् तिप् ) कृत् धातु से णिच परे रहते उपवायाश्च ओ हुआ कृत् की ऋ को इकारादेश स्थानिवत् हो जायगा तो अचिकीर्तत् ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा ।

ओ पुयण्ज्यपरे यह ज्ञात तुल्यजातीय का है । अपने समान विषय वाले का है । तुल्यजातीय कौन है ? जिस प्रकार के पुयणनि ( पवर्ग, यण्, और जकार )

१. विरविपते विरविपति ( पूङ्, यु-इद् सन् ) यहा अपवायपते में स्मिपूङ्-रज्ज्वशा सनि से सन् को इद् होता है । विरविपति में सनीयन्वर्थे से पाप्मक इद् होता है । द्वित्वनिमित्तक अत्रादि सन् परे रहते पू पु को हुआ सार्वधातुक्त्युण और अवदेश द्वित्वचनेषि ■ द्वित्व करने में स्थानिवत् हो जायगा तो अभ्यास में उकार मिलेगा उसे इकार करने के लिये ओ पुयण् में पू यु का ग्रहण करना आवश्यक है । उस के लिय ओ. पर्यायोः इतना सूत्र पर्याप्त है । शेष पवर्ग, यण् प्रत्याहार तथा जकार का ग्रहण तो सर्वथा इस बात का ज्ञातक है कि णि परे होने पर भी स्थानिवद्भास्य होता है ।

कथं जग्ले मग्ले ।

अनेमित्तिकमात्वं, शिति तु प्रतिषेधः ।

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ?

पपतुः पपुः । तस्थतुः तस्थुः । जग्मतुः जग्मुः । आटिटत् ।

हैं । पुष्पाञ्जि किस प्रकार के हैं ? अण्परक हैं । अर्थात् परगं यण् जकार के तुल्यजातीय अण् में ही जि पर रहते स्थानियज्ञाय होगा । जिस प्रकार पिनावपिपति आदि में जि पर रहते वृद्धि आत् आदेश होकर भात् पात् रात् जात् में अण्परक पुष्पाञ्जि हैं वैसे जहाँ अवर्ण पर होगा वही णिच् में स्थानियज्ञाय होगा । अत्रिग्रेतृ में इकारादेश के अण्-परत्वसम्प्रादक न होने से वहाँ स्थानियज्ञाय नहीं होगा ।

जग्ले मग्ले कैमे चनेगे । यहाँ द्वित्वनिमित्तक भच् एद् पर रहते आदेश उपदेशोऽशात् से ग्ले के णे को भाकार हुआ है । द्विवचनेचि से द्वित्व करने में स्थानियज्ञाय प्राप्त होता है ।

जग्ले मग्ले में आदेश उपदेश से ग्ले को भाकार आदेश अनेमित्तिक होता है एन प्रत्यय को निमित्त मान कर नहीं हुआ । यत्कि एद् आने से पहले ही बिना किसी निमित्त के हो जाता है । उस से द्वित्व निमित्तक भच् पर रहते आदेश न होने से स्थानियज्ञाय नहीं होगा । आदेश उपदेशोऽशिति में अशिति यह पर्युदास न हो कर प्रगज्यप्रतिषेध है । निदुभिन्न प्रत्यय पर रहते भाकार नहीं होता । यत्कि बिना निमित्त के होता है । निद् पर रहते भाकार का निषेध होता है । इस प्रकार द्विवचनेचि मूय के अर्थ में उक्त सभी दोषों का समाधान हो जाता है ।

इस मूय के क्या प्रयोजन हैं ?

पपतुः पपुः । तस्थतुः तस्थुः । जग्मतुः जग्मुः । चरतुः चरुः । ( पा, स्था, गम्, ट् लिट् भुगम् उम् ) ये इस मूय के प्रयोजन हैं ।

पपतुः यहाँ पा-भुम् इस अवस्था में जाओ जीव इटि न से भा का छोर होकर भच् न रहने से लिटि पाओरन् से द्वित्व नहीं प्राप्त होता । द्विवचनेचि में द्वित्व करने में स्थानियज्ञाय हो कर स्थानिरूप पा को द्वित्व हो जाता है ।

जग्मतुः यहाँ गम्-भुम् इस अवस्था में गनदनजनगनपगो से उपधा-छोर हो कर भच् न रहने से लिटि पाओरन् से द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्थानियज्ञाय से हो जाता है ।

आशिषत् । चक्रतुः चक्रुरिति । आल्लोपोपधालोपणिलोपयणादेशेषु कृतेष्वनञ्कत्वाद् द्विवचनं न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद् भवति ।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । पूर्वविप्रतिषेधेनाप्येतानि सिद्धानि ।  
प्रथमं ? वक्ष्यति ह्याचार्यः—‘द्विवचनं यणयवायावादेशाल्लोपोपधालोपणि-  
लोपकिक्नोरुत्वेभ्यः’ इति ।

स पूर्वविप्रतिषेधो न पठितव्यो भवति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

चक्रतुः यहाँ कृ भक्तुस् इस अवस्था में इको यणवि से यणादेश होकर अञ् न रहने से द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्थानिवद्भाव से हो जाता है ।

आटिटत् आशिषत् यहाँ णेरनिटि से णि का लोप होकर अट् धातु में दूसरा भञ् न रहने से चङि से टि शब्द को द्वित्व नहीं प्राप्त होता । स्थानिवद्भाव से हो जाता है । इन सब उदाहरणों में द्वित्व की अपेक्षा आलोप उपधालोप आदि निरपेक्ष हैं इस लिये द्वित्व को बाध कर उस से पहले हो जायेंगे । फिर द्वित्व प्राप्त नहीं होता । उस के लिये इस सूत्र से स्थानिवद्भाव की आवश्यकता है ।

ये कोई प्रयोजन नहीं । पूर्व विप्रतिषेध से भी ये सब सिद्ध हो जायेंगे । कैसे ? दाह्वान् साह्वान् मीढ्वाश्च सूत्र पर आचार्य यह वार्तिक कहेंगे कि—द्विवचनं यणयवायावादेशः इत्यादि । इस वार्तिक का अर्थ है—यण्, अय्, अय् आय् नान् आदेश, आकारलोप, उपधालोप, णिलोप और किं किन् प्रत्ययों में उत्त्वं इन सब को पूर्व विप्रतिषेध से बाध कर द्वित्व होता है । यह पूर्वविप्रतिषेध वाचनिक है । अन्यथा अनित्य द्वित्व, नित्य आकारलोप आदि से पहले कैसे हो सकता है । इस वचन के सामर्थ्य से आकारलोप उपधालोप आदि से पहले द्वित्व हो जायगा । उस के बाद आकारलोप आदि किये जायेंगे तो पपुः पपुः आदि सब ठीक बन जायेंगे ।

इस सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान कर देने से उस पूर्वविप्रतिषेध के पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती ।

इन दोनों बातों में कौन अधिक उपयोगी है ? यह स्थानिवद्भाव विधान करे या वह पूर्वविप्रतिषेध पढ़े ?

स्थानिवज्जाव एव ज्यायान् । पूर्वप्रतिषेधे हीदं वक्तव्यं स्यात्—  
ओदौदादेशस्य उद् भवति चुटुतुशरादेरभ्यासस्येति ।

ननु च त्वयापीत्त्व वक्तव्यम् ।

परार्थं मम भविष्यति सन्यत इद् भवतीति ।

ममापि तर्हि उत्त्वं परार्थं भविष्यति । 'उत्परस्यातस्ति चेति' ।

इस सूत्र से स्थानिवज्जाव विधान करना ही अधिक उपयोगी है । पूर्वविप्रति-  
षेध पढ़ने पर यह भी कहना होगा कि—ओदौदादेशस्य० इत्यादि । इस वचन  
का अर्थ है—जहाँ ओ ओ को कोई आदेश हुआ है ऐसे अक्षर का जो चरगं टवर्ग  
तरंग और शद् प्रत्याहार के अक्षर आदि में रखनेवाला अभ्यास है उस के  
अकार को उकार होता । उस से चुष्ठावयिपति ऊर्णुनावयिपति तुनावयिपति  
तुतावयिपति शुभावयिपति पुस्फारयिपात् ( ध्रु, ऊर्णु, तु, त्रु, ध्रु, स्फुद्-णिच्-सन् )  
इत्यादि में अभ्यास के अकार को उकार किया जाता है । यहाँ ध्रु तु आदि  
णिन्त धातुओं से सन् प्रत्यय हुआ है । सन् पर रहते द्वित्व प्राप्त है ।  
और णिच् पर रहते वृद्धि आव् आदेश आदि प्राप्त हैं । अन्तरङ्ग होने के  
कारण पहले वृद्धि आव् आदि आदेश, इस वाचनिक पूर्वप्रतिषेध के होते हुए भी  
किय जाते हैं । धाव् नाव् ताव् स्फार आदि शब्दों को द्वित्व होकर अभ्यास में  
मिले अकार को सन्यत से इत्त्व की प्राप्ति में उकार विधान किया गया है ।  
स्थानिवज्जाव कहने से तो णिच् पर रहते वृद्धि आव् आदि आदेश को द्वित्व करने  
में स्थानिवत् हो जायगा तो द्वित्व होकर अभ्यास में उकार ही मिलने से ओदौ-  
दादसस्य० इस वचन की आवश्यकता न होगी ।

स्थानिवज्जाव मानने वाले आप को भी णिच् में शपक द्वारा स्थानिवज्जाव  
सिद्ध करने के लिये ओ पुण्यपरं यह इत्त विधायक सूत्र बनाना पड़ेगा ।  
अन्यथा णिच् में स्थानिवज्जाव न होने से अवनुनावयिपति आदि में भी सन्यत से  
इत्त्व प्राप्त होगा ।

स्थानिवज्जाव मानने वाले मुझे ओ पुण्य० सूत्र द्वारा किसी नये इकार  
का विधान नहीं करना । किन्तु सन्यत से कहा गया इकार ही मेरे मत में  
परार्थं नर्थात् दूसर विभावयिपात् आदि में करने के लिये और चुष्ठावयिपति  
आदि में रक्ते के लिये ओ पुण्य० सूत्र में उपयुक्त होगा ।

पूर्वविप्रतिषेध मानने वाले मुझे भी ओदौदादेशस्य० यह वचन बना कर

इत्त्वमपि त्वया वक्तव्यम् । यत् समानाश्रयं तदर्थम् । उत्पिप-  
विपते संयियविपतीत्येवमर्थम् । तस्मात् स्थानिवदित्येष एव पक्षो  
ज्यायान् ।

किसी नये उकार का विधान नहीं करना । किन्तु उत्तरस्यात् ति च इस सूत्र में  
कहा गया उकार ही भरे मठ में परार्थ अर्थात् दूसर अवनुनावयिपति आदि में  
करने के लिये और बिभावयिपति आदि में रोकने के लिये ओदौदादेशस्य० इस वचन  
में उपयुक्त होगा ।

पूर्वविप्रतिषेध मानने वाले आप को ओदौदादेशस्य० इस वचन के साथ  
ओः पुयण्० सूत्र द्वारा इकार भी कहना पड़ेगा । जहाँ द्वित्व और भ्र् आवेश  
आदि दोनों समानाश्रय हैं । समान निमित्त वाले हैं । दोनों में कोई अन्तरज्ञ  
नहीं है उस के लिये इत्त्व विधान करना होगा । जैसे — उत्पिपविपत । संयियविपति ।  
( उव् पूङ्-इद् सन् ) ( सन् यु इद् सन् ) यहाँ पूङ् और यु धातुओं से सन् परे  
रहते स्मिपूङ्ग्वशां सनि और सनावन्तर्ध्रस्त्र० इन सूत्रों से यथाक्रम इद् का  
आगम होता है । पू यु को सार्वधातुक गुण हो कर द्वित्व और अवादेश दोनों  
एक साथ प्राप्त होते हैं । पूर्वविप्रतिषेध से अवादेश को बाध कर पहले द्वित्व  
हो जायगा तो अभ्यास में पू यु का उकार सुनाई देगा । उस को रोकने के लिये  
ओः पुयण्० सूत्र से इत्त्व विधान करना होगा । इस प्रकार पूर्वविप्रतिषेध मानना  
गौरवग्रस्त है । इस लिये उसे न मान कर स्थानिवद्भाव का मानना ही अधिक  
युक्त है ।

१ यहाँ भाष्यकार ने अवनुनावयिपति, बिभावयिपति, दुष्पति, भक्षिकीर्तत्  
इत्यादि प्रयोगों की इष्ट सिद्धि के लिये बहुत कुछ ऊहापोह नर के स्थानिवद्भाव का  
विधान ही श्रेयस्कर माना है । जो स्थानिवद्भाव से भी सिद्ध नहीं हुआ उसे तुल्यजातीय  
ज्ञापक का आश्रयण करके समाहित किया है । परन्तु प्राचीन आचार्यों ने इस सूत्र से  
विध्यमान स्थानिवद्भाव पर आश्रित न रह कर पूर्वविप्रतिषेध आदि द्वारा इष्ट  
प्रयोगों की सिद्धि का यत्न किया है । इन दोनों के मध्यस्थ होकर यदि हम अति सुगम  
रीति से पक्षपात छोड़ कर प्रयोगसाधन पर विचार करें तो कुछ अद्भुत तथ्यों का  
पता लगता है । जिज्जन्त सन्नन्त आदि मिश्रित प्रक्रिया में यथा सामान्य प्रयोगों में  
यदि हम मान लें कि अन्तरज्ञ एव नित्य सभी विधियों को बाध कर पहले द्वित्व हो  
जाता है तो इस में विचारना चाहिये कि कहा दोष आना है । पपत्तु. चक्रतु. जम्मतु.  
आदि में नित्य आकारलोप आदि को बाध नर पहले द्वित्व हो जायगा तो इष्ट ही सिद्ध



इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादेऽष्टमाह्निकम् ।

यहाँ अष्टम आह्निक का सविवरण अनुवाद समाप्त हुआ ।

होगा । अवनुनासयिपति आदि में अन्तरङ्ग वृद्धि को बाध कर द्वित्व होने से इष्ट सिद्धि ही होती है । विभाषयिपति यियावयिपति आदि में भी पहले द्वित्व होकर अभ्यास में उवर्ण को ओ पुयण् से इत्व क्रिया गया है । वस्तुतः भाषा विज्ञान की दृष्टि से विभाषयिपति आदि की अपेक्षा युभावयिपति युषाययिपति आदि ही अधिक अच्छे ज्ञवते हैं । इसी प्रकार दुष्पति सुस्पति की अपेक्षा दिष्पति सिस्पति का प्रयोग ही अधिक अच्छा लगता है । ओ. पुयण्यपरे यह सूत्र भी सचेत देता है कि अन्तरङ्ग और निय विधि को बाध कर पहले द्वित्व करो । फिर उम के बाद जो विधि प्राप्त हो वह कर ली जावे । परन्तु सर्वत्र द्वित्व को प्रथम मानने से इयाय अचिकीर्तत् इत्यादि रूप नहीं बनेंगे । इयाय में पहले द्वित्व कर के पिछले इ शब्द को वृद्धि करने पर उसके स्थानिवत् होने से पूर्व अभ्यास के इ से इय् नहीं प्राप्त होता । अचिकीर्तत् के स्थान में अचकीर्तत् प्राप्त होता है । इस लिये लक्ष्यानुरोध से द्वित्व गुण वृद्धि आमारलोप आदि की व्यवस्था माननी होगी । उनके लिये वही स्थानिवद्भाव, वही पूर्वविप्रतिपत्, वही अभ्यास को इत्त्व, वही उत्त्व ये सभी यथास्थिति समादरण्य हैं ।

## नवम आह्निक में प्रतिपादित विषय का संक्षिप्त सार

इस आह्निक में अदर्शन लोप ॥१११६०॥ इस सूत्र से ले कर एह प्राचा देशे ॥१११७५॥ इस सूत्र तक विभिन्न विषयों पर सङ्कासमाधान सङ्गित ।वचार किया गया है । क्रमशः प्रत्येक सूत्र के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त सार यह है—

**अदर्शन लोपः ॥१११६०॥** (क) अदर्शन अर्थ की लोप संज्ञा सिद्ध करके उसमें प्राप्त इतरेतराश्रय दोष का समाधान किया है ।

(ख) लोप संज्ञा में अतिव्याप्ति दोष को हटाने के लिये प्रसक्त के अदर्शन की लोप संज्ञा मानी है ।

**प्रत्ययस्य लुक् श्लु लुप ॥१११६१॥** प्रत्यय ग्रहण का प्रयोजन उत्तरसूत्रार्थ सिद्ध किया है ।

**प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥१११६२॥** (क) प्रथम प्रत्यय ग्रहण को अन्यथा सिद्ध कर के उस का खण्डन किया है । साथ ही द्वितीय प्रत्यय ग्रहण का प्रयोजन स्वीकार किया है ।

(ख) सूत्र का सामान्य प्रयोजन बता कर लुक्शुपसंख्यानम् इस वार्तिक का खण्डन किया है ।

(ग) यथास्थित सूत्र में प्राप्त दोषों का समाधान करने के लिये स्थानिसंज्ञा-म्यभूतस्यानलमिधौ इस न्यास को प्रदर्शित कर के उस का भी खण्डन कर दिया है । साथ ही वर्णान्तर्य में प्रत्ययलक्षण का निषेध स्वीकार किया है ।

(घ) सूत्र के विनिष्ट प्रयोजन बता कर उन की स्थानिवद्भाव से अन्यथासिद्धि का है । स्थानिवद्भाव ॥ सिद्ध होने पर सूत्र को निचनार्थ माना है कि जहाँ प्रत्ययलोप में प्रत्यय का असाधारण रूप आधीयनाण है वहीं प्रत्ययलक्षण होता है सर्वत्र प्रत्यय-लोप में नहीं ।

**न लुमताद्वस्य ॥१११६३॥** यथास्थित सूत्र में प्राप्त दोषों के समाधान के लिये न लुमता तस्मिन् इस न्यास को दिखाया है । साथ ही उत्तरपक्षे चापदादि-विधौ इस वार्तिक की व्याख्या की है । अन्त में न लुमता तस्मिन् का खण्डन करके न लुमताद्वस्य स ही सब दोषों का समाधान कर दिया है ।

अलोऽन्यात् पूर्वं उपधा ॥१११६५॥ (क) अल् ग्रहण को अन्त्य का विशेषण मानने में प्राप्त दोष का समाधान लोक व्यवहार से किया है ।

(ख) नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकार इस परिभाषा के प्रयोजन बता कर उस का खण्डन भी साथ ही कर दिया है ।

(ग) अलः को प्रथमा बहुवचन या पष्ठी एकवचन न मान कर पञ्चमी का एकवचन स्वीकार किया है ।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥१११६६॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥१११६७॥ (क) दोनों सूत्रों के सामान्य विशेष दोनों प्रकार के उदाहरण बता कर निर्दिष्ट ग्रहण का प्रयोजन बताया है ।

(ख) दोनों सूत्रों का प्रयोजन बता कर उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमी-निर्देशः इस परिभाषा के प्रयोजन बताये हैं ।

(ग) पश्चान्तर में दोनों परिभाषासूत्रों को नियामक न मान कर पष्ठीविभक्ति का प्रकल्प भी स्वीकार कर लिया है ।

स्व रूप शब्दस्याशब्दसज्ञा ॥१११६८॥ (क) रूप ग्रहण को व्यर्थ कर के उस से अर्थवद्ग्रहणे नानर्थक्यस्य इस परिभाषा को ज्ञापित किया है ।

(ख) सूत्र का प्रयोजन बता कर उस का खण्डन कर दिया है । सूत्र की सत्ता में भी सिन् पिन् जिन् सिन् य निर्देश कुछ विशेष सूत्रों के कार्यार्थ स्वीकार किये हैं ।

अणुदिरसवर्णस्य चाप्रत्यय ॥१११६९॥ (क) अप्रत्यय के स्थान में अप्रत्यया-देशदित् किम्मितः को पड कर उस का भी भाव्यमानेन सर्वर्णानां ग्रहण न इस परिभाषा द्वारा खण्डन कर दिया है । फिर अप्रत्यय ग्रहण से ही उक्त परिभाषा ज्ञापित की है ।

(ख) सूत्र का प्रयोजन बता कर उस की सत्ता में भी अक सशर्णे दीर्घः इत्यादि अङ् प्रवाहार में प्रत्याप्यमान इकारादि द्वारा अपने सवर्ण ईमरादि का अग्रहण रूप दोष दिखाया है । साथ ही अस्य च्चौ इत्यादि में अकार के प्रत्याहारचिह्नस्थ अण् न होने से वहाँ सवर्णग्रहण की अप्राप्त दिखाई ई । इस प्रकार व्यक्ति पक्ष में प्राप्त उक्त दोषों का समाधान के लिये अन्त में जाति पक्ष को स्वीकार कर सूत्र का खण्डन कर दिया है ।

तपरस्तत्कारस्य ॥१११७०॥ (क) उत्कालस्य निर्देश को शुद्ध सिद्ध कर के इस सूत्र को अण् अनण् सर्वत्र तपरों में व्यापृत मानते हुए निष्कर्ष स्वीकार किया है ।

(ख) ध्वनि और स्फोट ये दो प्रकार के शब्द मान कर ध्वनि भिन्न होने पर भी स्फोट की अभिन्नता सिद्ध की है। उस से द्रुत विलम्बित आदि शक्तियों के भेद होने पर भी शब्द में कोई भेद नहीं होता यह सिद्धान्त व्यवस्थित किया है।

आदिरन्त्येन सहेता ॥१११७१॥ आदिरिता सह तन्मध्यस्य इम न्यास का लोक व्यवहार से खण्डन न क यथास्थित सूत्र से ही सज्ञा के साथ सज्ञा का भी निर्देश अर्थादापन्न सिद्ध किया है।

येन विधिस्तदन्तस्य ॥१११७२॥ (क) इको यणचि इत्यादि में तदन्तविधि रोकने के लिय बनाये गये प्रकृते तदन्तविधि इस नये न्यास का खण्डन किया है।

(ख) ग्रहणोपाधीना तदन्तोपाधिप्रसङ्ग इस वार्तिक का खण्डन कर के समास-प्रत्ययविधौ प्रतिषेध, उगिद्वर्णग्रहणवर्णम् इन वार्तिकों को स्वीकार किया है।

(ग) सर्वकै विरक्त उच्चकै नीचकै, भिनति छिन्नात् मे तदन्तविधि सिद्ध करते हुए तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते इस परिभाषा को नेदमवसोरको इस शापक से सिद्ध किया है।

(घ) सूत्र के प्रयोजन बताते हुए पूर्वोक्ति सपूर्वाच्च इन मूलों से व्यपदेशि-वज्जावोप्प्रातिपदिकेन यह परिभाषा ज्ञापित की है।

(ङ) पदाङ्गाधिकारे तस्य तदुत्तरपदस्य च ग्रहणम् प्रत्ययग्रहणे चापन्वन्म्या, भनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति इन परिभाषाओं के प्रयोजन बताने हुए अलैवानर्थकेन इस वार्तिक की सोदाहरण व्याख्या की है।

(च) यस्मिन् विधिस्तदादावल् ग्रहणे इस परिभाषा के प्रयोजन बताये हैं।

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥१११७३॥ (क) मूल का पदकृत्य दित्वा कर वृद्धसंज्ञायामसंज्ञानवेशादनादिस्त्वम् इस वार्तिक का खण्डन किया है।

(ख) वा नामधेयस्य, गोत्रान्वाद्वाऽसमस्तवल् इन वार्तिकों की सोदाहरण व्याख्या की है।

त्यदादीनि च ॥१११७४॥ पूर्व सूत्र से यस्याचामादिः ग्रहण की अनुवृत्ति माली है किन्तु उस का इस मूल से असम्बन्ध सिद्ध किया है।

एङ् प्राचां देशे ॥१११७५॥ एङ् प्राचां देशे जैयिकेऽु इस वार्तिक की सोदाहरण व्याख्या की है।

## नवम आह्निक

अदर्शनं लोपः ॥१॥१॥६०॥

अर्थस्य सज्ञा कर्तव्या । शब्दस्य भा भूदिति । इतरेतराश्रय च भवति । का इतरतराश्रयता । सतोऽदर्शनस्य सज्ञया भवितव्यम् । सज्ञया चादर्शनं भाव्यते । तदितरतराश्रय भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ।

छापसञ्ज्ञायामर्थसत्तास्त्वम् ।

किमुक्तम् । अर्थस्य तावदुक्तम्— इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थं' इति । सतोऽप्युक्तम् । सिद्धं तु नित्यशब्दं वादिति । नित्या शब्दा ' नित्येषु शब्देषु च सतोऽदर्शनस्य सज्ञा विद्यत न हि सज्ञया अदर्शनं भाव्यते ।

अदर्शन शब्द का जो अर्थ है न दासना न मुनाई दना अर्थात् दण का विद्यमान न रहना इस अर्थ की छाप सज्ञा कहनी चाहिय जिस स अदर्शन इस शब्द की छाप सज्ञा न है । अन्यथा स्व रूप शब्दस्य क नियम स अदर्शन इस शब्द स्वरूप की छाप सज्ञा प्राप्त होता है । इस क अतिरिक्त छापसज्ञा में इतरतराश्रय दाण भी प्राप्त होता है । कैसा इतरेतराश्रय दोष ? अदर्शन होने पर वो छाप सज्ञा हागी । और छाप सज्ञा द्वारा अदर्शन होता है । यह इतरतराश्रय दोष है । एक दूसरे क सहार स हा सकन वाला कार्य इतरतराश्रय कहाता है । इतरतराश्रय या अश्वोन्माश्रय स होन याग कार्य नि रख ता हा सकन ।

छाप सज्ञा में ता दोष कह है उनक श्रिय स पहल समाधान कर चुक है । अदर्शन अर्थ की छाप सज्ञा कहनी चाहिय इस क श्रिय स ता नरति । भाषा सूत्र स इतिररणाऽर्थान्दर्शात् एसा कहा है । पैस नरेति में इति शब्द छगन स निषध और विक्रम इन अर्थों की विभाषा सज्ञा हाती है न ता अदर्श की नहीं हाती उसा प्रकार उस दत्त शब्द का यहा छाप सज्ञा स भी अनुवृत्ति कर क अदर्शनमिति रूप एसा समझग । उस का अर्थ होगा कि अदर्शन इस शब्द स ता अर्थ निरुलता है । लोक स अदर्शन कहन पर जो न दीयता अर्थ प्रतात होणा है उस का छाप सज्ञा होता है उस स अदर्शन शब्द की छाप सज्ञा न

सर्वप्रसङ्गस्तु सर्वस्यान्यत्रादृष्टत्वात् ।

सर्वप्रसङ्गस्तु भवति । सर्वस्यादर्शनस्य लोपसंज्ञा प्राप्नोति । किं कारणम् । सर्वस्यान्यत्रादृष्टत्वात् । सर्वो हि शब्दो यो यस्य प्रयोग-विषयः स ततोऽन्यत्र न दृश्यते । त्रपु जतु इत्यत्राणोऽदर्शनं तत्रादर्शनं लोप इति लोपसंज्ञा प्राप्नोति ।

तत्र को दोषः ।

तत्र प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः ।

तत्र प्रत्ययलक्षणं कार्यं प्राप्नोति । तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

होकर अदर्शन अर्थ की लोपसंज्ञा सिद्ध हो जायगी । सर्व अर्थात् विद्यमान अदर्शन की लोपसंज्ञा विधान में जो इतरेतराश्रय दोष कहा है उस का भी समाधान पहले शब्दरादेश सूत्र पर कह चुके हैं । अतः तु निश्चयशब्दत्वात् । अर्थात् हम शब्दों को नित्य मानते हैं । नित्य शब्दों में पहले से विद्यमान अदर्शन अर्थ मान कर उस की लोपसंज्ञा की जाता है । लोपसंज्ञा द्वारा नये अदर्शन अर्थ का विधान नहीं किया जाता । प्रागभाव तो अनादि है । वर्णों का अभाव, अदर्शन, अवयव अनुच्चारण पहले से विद्यमान है । उस को विद्यमान मान कर लोपसंज्ञा हो जायगी । लोप कह कर किसी वर्ण का अदर्शन कहने में नये अदर्शन का विधान नहीं होता इस लिये इतरेतराश्रय दोष न हागा ।

सब अदर्शन की लोपसंज्ञा प्राप्त होती है । क्योंकि सब शब्दों का अपने प्रयोगविषय से अन्यत्र अदर्शन है । निम्न शब्द का जो प्रयोग का विषय है उस से अन्यत्र वह दिखाई नहीं देता इस लिये अदर्शन होने से उस की वहा लोपसंज्ञा प्राप्त होती है । त्रपु जतु ( त्रपु-जतु सु ) यहा नपुसक लिङ्ग त्रपु जतु शब्दों में तद्धित अण् प्रत्यय या कृदन्त अण् प्रत्यय का अदर्शन है उस की लोपसंज्ञा हो जानी चाहिये ।

यहा क्या दोष है । सभी अदर्शनों की लोपसंज्ञा होने में क्या हानि है ?

यहा प्रत्ययलक्षण कार्यं प्राप्त होता है । उस का निषेध कहना होगा ।

१ इतरेतराश्रय दोष को हटान के लिय शब्द निम्नव पक्ष का आश्रयण कर स्वभाव से अप्रयुक्त का अन्वयान्वयानात्र शास्त्र करता है, अपूर्व अदर्शन विधान नहीं करता है ऐसा मानन पर भी यह वातक्येक दोष आता है इसका समाधान होना चाहिये ।

‘अचो ङ्नितीति’ वृद्धिः प्राप्नोति ।

नेप दोषः । ङ्नित्यङ्गस्याचो वृद्धिरुच्यते । यस्मात्प्रत्ययविधि-  
स्तदादि प्रत्ययेऽङ्गं भवति । यस्माच्च प्रत्ययविधिर्न तत् प्रत्यये परतः ।  
यच्च प्रत्यये परतः, न तस्मात् प्रत्ययविधिः ।

किपस्तर्ह्यदर्शनम् । तत्रादर्शनं लोप इति लोपसंज्ञा प्राप्नोति ।  
तत्र को दोषः । तत्र प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः । तत्र प्रत्ययलक्षण कार्यं  
प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । ह्रस्वस्य पिति कृति नुगिति तुक्  
प्राप्नोति ।

सिद्धं तु प्रसक्तादर्शनस्य लोपसंज्ञत्वात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीति चकच्यम् ।

त्रुप् जतु में अण के अदर्शन से अण् की लोपसंज्ञा दो जायगी तो प्रत्ययलोप प्रत्यय-  
लक्षणम् से प्रत्ययलक्षण मान कर णित् परे हो जाने से अचो ङ्नितीति से त्रुप् जतु  
को वृद्धि प्राप्त होती है ।

त्रुप् जतु में अचो ङ्नितीति से वृद्धि नहीं हो सकती । क्योंकि णित् णित्  
प्रत्यय पर रहते अङ्ग को वृद्धि कही है । और अङ्गसंज्ञा यस्मान् प्रत्ययविधिस्तदादि  
प्रत्ययऽङ्गम् इस सूत्र द्वारा जिस से जो प्रत्यय किया जाय उस प्रत्यय के परे रहते  
ही उस को होती है । त्रुप् जतु में जिस त्रुप् जतु शब्द से गु प्रत्यय किया है  
उस गु के परे रहते ही त्रुप् जतु अङ्ग है । वह सुप्रत्यय णित् णित् नहीं है । और  
जो अण प्रत्यय णित् णित् है वह त्रुप् जतु से किया नहीं गया है इस लिये अण्  
का अदर्शन होने पर भी अङ्ग न होने से त्रुप् जतु में वृद्धि नहीं होगी ।

अच्छा तो अण् के अदर्शन में दोष न सही । त्रुप् जतु में णिप् प्रत्यय का  
भी तो अदर्शन है । उस की लोपसंज्ञा प्राप्त हो कर प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध  
कहना होगा । त्रुप् जतु ह्रस्वान्त है । उस से परे णिप् मान कर ह्रस्वस्य पिति कृति  
तुक् से तुक् प्राप्त होता है । तुक् उर्णाध्रय कार्य है, अङ्ग नहीं है इस लिये  
उस में अङ्ग का अङ्गड़ा नहीं है । णिप् परे रहते त्रुप् जतु के अङ्ग न होने पर भी  
तुक् हो जाना चाहिये ।

किसी से प्रसक्त अर्थात् प्राप्त या विहित के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानने  
से उक्त दोष न होगा । त्रुप् जतु में णिप् किसी से प्रसक्त नहीं है । विहित नहीं

यदि प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यते । ग्रामणीः सेनानीः ।  
अत्र वृद्धिः प्राप्नोति ।

प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवति पष्ठीनिर्दिष्टस्य । पष्ठीनिर्दिष्टस्ये-  
त्युच्यते ।

पष्ठीनिर्दिष्टस्येत्युच्यते । चाहलोप एवेत्यवधारणम् । चादिलोपे  
विभाषा । अत्र लोपसंज्ञा न प्राप्नोति ।

अथ प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यमाने कथमिवेतत् सिध्यति ?

को हि शब्दस्य प्रसङ्गः । यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुज्यते ।

है । अशिद्धि हाने से उसका स्वतः अदर्शन है । भत ऐसे अदर्शन की लोपसंज्ञा  
न होगी तो तुक् न होगा ।

यदि प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानते हैं तो ग्रामणां सेनानीः  
यहां वृद्धि प्राप्त होता है । ग्रामं नयनीनि ग्रामणाः । यहां ग्राम पूर्वक नी धातु  
से उपपदसमास में कर्मण्यण् प्राप्त है । उम को बाध कर सत्सुद्धिपद्मु० से  
किप् होता है । प्रसक्त अण् का अदर्शन होने से लोपसंज्ञा हो जायगी तो प्रत्यय-  
लक्षण से णित् पर मान कर अचो णिति वृद्धि हो जानी चाहिये ।

पष्ठीनिर्दिष्ट में ही प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानेंगे । ग्रामणी सेनानी.  
में प्रसक्त अण् का अदर्शन पष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट नहीं है इस लिये वृद्धि न  
होगी ।

यदि पष्ठीनिर्दिष्ट में ही प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानते हैं तो  
चाहलोप एवेत्यवधारणम् चादिनापे विभाषा' यहां लोपसंज्ञा नहीं प्राप्त होती ।  
यहां भी च आदि शब्दों में पष्ठी विभक्ति का निर्देश करके लोप नहीं कहा गया  
है बल्कि जहां च आदि का अर्थ तो गम्यमान है पर च आदि शब्दों का प्रयोग  
नहीं होता उसे चादिलोप मान कर प्रथम तिङ् विभक्ति का निघात दिक्लप कहा  
है । यहां लोपसंज्ञा न होने से शुक्ला ग्रीह्यो भवन्ति श्वेता या आग्न्याय बृहन्नि  
इस वाक्य में भवन्ति इस प्रथम तिङ् विभक्ति को निघात दिक्लप न हो  
सकेगा ।

यदि पष्ठीनिर्दिष्ट विशेषण दृष्ट कर केवल प्रसक्त के अदर्शन की ही लोपसंज्ञा  
मानें तो भी चाहलोप एवेत्यवधारणम्, चादिनापे विभाषा यहां आप लोपसंज्ञा कैसे  
सिद्ध करेंगे ?

यहां हम शब्द का प्रसङ्ग या प्रसक्ति क्या मानेंगे ? यही कि जैसा आप



अस्तु तर्हि प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्येव ।  
 कथं ग्रामणीः सेनानीः ?  
 योऽत्राणः प्रसङ्गः किपासौ वाध्यते ।

प्रत्ययस्य लुक् श्लुलुपः ॥१॥१॥६१॥

प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् ?

लुमति प्रत्ययग्रहणमप्रत्ययसंज्ञाप्रतिषेधार्थम् ।

लुमति प्रत्ययग्रहणं कियते । अप्रत्ययस्यैताः संज्ञा मा भूयन्निति ।  
 किं प्रयोजनम् ।

ने कहा जहाँ च का अर्थ तो गम्यमान है, प्रतीत होता है किन्तु च शब्द का प्रयोग नहीं होता । यही शब्द की प्रसक्ति है । प्रसक्त च शब्द का अदर्शन होने से उस की लोपसंज्ञा हो जायगी ।

तो फिर प्रसक्त के अदर्शन की ही लोपसंज्ञा मान लीजिये ।

ग्रामणी सेनानी, कैसे बनेंगे ?

जो यहाँ प्राप्त अण् का प्रसङ्ग है अथवा अण् की प्राप्ति है वह विप् द्वारा बाध ही जाती है । अतः अण् प्रसक्त ही नहीं हुआ । उस का विधान ही नहीं हुआ तो उस के अदर्शन की लोपसंज्ञा कैसे होगी । लोपसंज्ञा न होने से वृद्धि प्राप्तिरूप दोष भी न होगा । इस प्रकार प्रसक्त के अदर्शन की लोपसंज्ञा मानने में कहीं दोष नहीं आता ।

प्रत्ययग्रहण किस लिये किया है ?

लुक् श्लु लुप इन तीनों लु शब्द वाले अदर्शनों में प्रत्यय ग्रहण इस लिये किया है कि प्रत्ययभिन्न के अदर्शन की ये संज्ञायें न हो जावें । केवल प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् आदि संज्ञायें होंगे । क्या प्रयोजन है ? तद्धित का लुक् होने पर लुक् तद्धितलुकि से विधीयमान स्त्रीप्रत्यय का ही लुक् हो गोरिप्रयोगसर्जनस्य से अनुवृत्त गो शब्द का न हो । क्योंकि गोरिप्रयोगः को

१. पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चैन्द्रः यहाँ स्त्रीप्रत्ययान्त इन्द्राणी शब्द में निदिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इम परिभाषा से केवल आनुक् आगम संहित स्त्रीप्रत्यय णीप् न ही लुक् होता है । स्त्रीप्रत्ययान्त इन्द्राणी शब्द का लुक् नहीं होता ।

प्रयोजन तद्धितलुकि कमायपरशव्ययोर्लुकि च गोप्रकृतिनिवृत्त्यर्थम् ।

तद्धितलुकि गोनिवृत्त्यर्थम् । ऋषीयपरशव्ययोश्च लुकि प्रकृति-  
निवृत्त्यर्थम् । 'लुक्तद्धितलुकी'ति गोरपि लुक् प्राप्नोति । प्रत्ययग्रहणात्  
भवति 'कसीयपरशव्ययोर्ग्रजौ लुक् चे'ति प्रकृतेरपि लुक् प्राप्नोति ।  
प्रत्ययग्रहणात् भवति ।

गोनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः ।

योगविभागात् सिद्धम् ।

योगविभागः करिष्यते । 'गोरुपसर्जनस्य' । गोस्तस्य प्रातिपदिकस्यो-  
पसर्जनस्य ह्रस्वो भवति । ततः 'स्त्रियाः' । स्त्रीप्रत्ययान्तस्य प्रातिपदिक-  
स्योपसर्जनस्य ह्रस्वो भवति । ततो 'लुक्तद्धितलुकी'ति । स्त्रिया इति  
वर्तते । गोरिति निवृत्तम् ।

अनुवृत्ति से स्त्रीप्रत्यय की तरह गो शब्द का लुक् भी प्राप्त होता है ।

इसा प्रकार ऋषीयपरशव्ययोर्यजनना लुक् च विधीयमान लुक् कसीय  
और परशव्य में स्थित छ और यत् प्रत्ययों का ही हो, उस और परशु प्रकृतियों  
का न हो । प्रत्ययग्रहण करने से लुक् ताद्धितलुकि में गो शब्द का और कसीय  
परशव्ययो० में कन परशु प्रकृतियों का लुक् न होगा ।

गोशब्द के लुक् की निवृत्ति के लिये तो प्रत्ययग्रहण की आवश्यकता नहीं ।  
गास्त्रियोदसन्नस्य सूत्र में यागविभाग करेंगे । गोरुपसर्जनस्य यह एक सूत्र  
होगा । उस का अर्थ होगा—उपसर्जन गोनदान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व होता  
है । जैसे—चित्रगु । उस के बाद अन्यथा यह दूसरा सूत्र होगा । उस का

१ यदि कटो लुक्तद्धितलुकि में गो शब्द का भा लुक् मानन पर पञ्चभिः  
गोभिः क्रीत पट पञ्चगु यदा क्रीतार्थक तद्धित टच् प्रत्यय का अध्वर्धपूर्वगोर्लुग०  
से लुक् होन पर लुक्तद्धितलुग में गो शब्द का भा लुक् न जायगा तो गो शब्द  
अन्त में न रहने से गोरतद्धितलुकि में समासान्त टच् प्रत्यय स्वतः ही प्राप्त न  
होगा उस के लिये अतद्धितलुकि यह नियम व्यर्थ हो जाता है । वह व्यर्थ न हो  
इस लिये गो शब्द का लुक् स्वयमेव रक्त जायगा सो भी यान नही । समासान्त  
टच् करके फिर गो शब्द का लुक् संभव है । वह न हो बल्कि टच् करन से  
पहले ही गो का लुक् हो जावे इस लिये भी अतद्धितलुकि यह नियम रह मरना  
है । उस के व्यर्थ न होने से वह हम यान में आपन नहीं हो सकता कि गो शब्द  
का लुक् नहीं होता ।

कमायपरशययोमिश्रिष्टनिर्देशात् सिद्धम् ।

कसायपरशययोमिश्रिष्टनिर्देश कर्तव्य । कसायपरशययोमिश्रिष्टो भवतइत्यतादय लुग भवतीति । स चाप्यय मिश्रिष्टनिर्देश कर्तव्य । क्रियमाणऽपि न प्रत्ययग्रहणे उकारसमारयोर्मा भूदिति । स्मे. स कस । परान् शृणाताति परशु इति ।

नैव दोष । उणादयोऽनुत्पन्नानि प्रातिपदिकानि । स एषोऽनन्यार्थो मिश्रिष्टनिर्देश कर्तव्य । प्रत्ययग्रहण न कर्तव्यम् ।

अथ हागा—उपमचन स्वाप्रत्ययान्त प्रातिपदिक का इत्य हागा है । जैम—अन्तिग्रन्थ । निरुपायम् । तन्मन्तर तु क नदिनतुकि सूत्र में कस सिद्धि सूत्र का अनुवृत्ति होगी । उस स स्वाप्रत्यय का ही लुग हागा । गा शब्द का अनुवृत्ति न इन स उम का लुग न होगा । कायपरशययो० में ना मिश्रिष्ट निर्देश करने स दप न हागा । सूत्र का अर्थ ऐसा करग—कसाय परशय शब्दा स उकार अयय अथ में कस स यज अच् प्रत्यय हात है साथ ही कसाय परशय में लिख उ और यन् का लुग भा हा गाता है । उस स उ और यन् का मिश्रिष्ट निर्देश कर इन स उन्हीं स लुग हागा । प्रवृत्ति का न होगा । उ और यन् क लुग का मिश्रिष्ट निर्देश करना आवश्यक ना है । अन्यथा लुग में प्रत्ययग्रहण कर इन पर ना कम और परशु शब्दों न लिखा और उ प्रत्यय का ना लुग प्राप्त हाता है । यह न हा हम लिख उ और यन् का मिश्रिष्ट निर्देश करना चाहिये । कम स और आपरया जानूँ वो डित्त इन उणादि सूत्रों स कम स स स उ प्रत्यय कर कम और परशु शब्द बनत है । कसाय इति क, । अथा का उस्तु है । परान् शृणाति इति परशु । आ दूसरा का इनन कर यह परशु है । प्रत्यय का लुग कहन पर स और उ प्रत्ययों का लुग ना प्राप्त हाता है । उस शेरुन क लिख उ यन् प्रत्ययों का मिश्रिष्ट निर्देश आवश्यक है ।

यद ७२ तय नदी । कम और परशु में स और उ प्रत्ययों क लुग की ता प्राप्त हा नही । क्योंकि उणादोऽनुत्पन्नानि प्रातिपदिकानि इस परिभाषा स

१ उर अन् प्रचो स । निशानमानय न लुग न हागा । यदि लुग न करने स उ यन् क साथ बन अम का भा लुग हा जावता तन स विधान करने न चाहिये ।

• अथ एकमिष्टमनुत्पन्नानाम् सूत्र न इति कम दोनों का नद उ निर्देश

उक्त वा ।

किमुक्तम् । 'ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहणमङ्गमपदसंज्ञार्थं यच्छयोदच लुगर्थमिति ।

पष्ठीनिर्देशार्थं तु ।

पष्ठीनिर्देशार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम् । पष्ठीनिर्देशो यथा प्रकल्पेत ।

अनिर्देशे हि षष्ठ्यर्थप्राप्तिरिति ।

अक्रियमाणे हि प्रत्ययग्रहणे षष्ठ्यर्थस्याप्रसिद्धिः स्यात् । कस्य । स्थानेयोगत्वस्य ।

से उणादि शब्द अत्युत्पन्न माने जाते हैं । उन में किसी प्रकृति प्रत्यय का विभाग नहीं होता । इस लिये कस और परशु शब्द स और उप्रत्ययान्त न होंगे तो स और उ प्रत्ययों का लुक् नहीं प्राप्त होगा । उस अवस्था में उ और यत् प्रत्यय के विशिष्ट निर्देश का और कोई प्रयोजन नहीं रहता सिनाय इस के कि वह कंस और परशु इन प्रकृतियों के लुक् को रोके । उस के लिये यहाँ सूत्र में प्रत्ययग्रहण करे या वहाँ उ यत् के लुक् का विशिष्ट निर्देश करे । कोई भेद नहीं पड़ता ।

कसीयपरशव्ययो.० सूत्र में उ यत् का विशेष निर्देश किया ही हुआ है जो कि ङ्याप्प्रातिपदिकान् के अधिकार का प्रयोजन है । वातिकार ने स्वयं कहा है—ङ्याप्प्रातिपदिकग्रन्थमङ्गमपदसंज्ञार्थं यच्छयोदच लुगर्थम् । इस लिये यहाँ प्रत्ययग्रहण व्यर्थ है ।

अष्टः तो पष्ठी विभक्ति के निर्देश के लिये प्रत्ययग्रहण करना चाहिये । प्रत्ययस्य कहने से पष्ठी का निर्देश हो जाता है । उस से प्रत्यय के स्थान में हुआ जो भर्त्सन उस की लुक् श्लु लुप् संज्ञाये हो जायेगी । यदि प्रत्ययस्य नहीं पड़ते हैं तो पष्ठी के अर्थ का अवगमन नहीं होता । पष्ठी का अर्थ क्या है ? स्थानेयाग । षष्ठी स्थानेयोग के नियम से प्रत्यय के स्थान में हुआ जो भर्त्सन यह अर्थ बिना प्रत्ययग्रहण किये नहीं हो सकता ।

करना ही उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि इस परिभाषा का शापक है । अन्यथा कंस शब्द के कम् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण कर्मग्रहण से ही कंस का ग्रहण भी हो जाता । देनो का पृथक् २ निर्देश यह सिद्ध करता है कि उणादि शब्द अव्युत्पन्न होते हैं ।

अथ क्रियमाणेऽपि प्रत्ययग्रहणे कथमिव लुक् श्लु लुपः सर्वादेशा लभ्याः ।

वचनप्रामाण्यात् । प्रत्ययग्रहणसामर्थ्यात् ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्नापयति लुक् श्लु लुपः सर्वादेशा भवन्तीति । यद्य 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' इति लोपे प्रकृते लुक् शास्ति ।

उत्तरार्थं तु ।

उत्तरार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम् ।

क्रियते तत्रेव प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमिति ।

द्वितीयं कर्तव्यम् । कृत्स्नप्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात् । एकदेशलोप मा भूदिति । आप्नीत । स रायस्पोपेण ग्मीयेति ।

प्रत्ययग्रहण करने पर लुक् श्लु लुप् कैसे सर्वादेश हो सकेंगे ?

वचन के प्रमाण से । प्रत्ययस्य इस वचन के सामर्थ्य से यह समझा जायगा कि अजन्य की बाधा हा कर सम्पूर्ण प्रत्यय के स्थान में लुक् श्लु लुप् आदेश होते हैं । अन्यथा प्रत्ययस्य कहना व्यर्थ है ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का शापक है कि लुक् श्लु लुप् ये सर्वादेश होते हैं । क्योंकि आचार्य जो पोलेंगे ऐटि वा से लोप का अनुवृत्ति जान पर भा लुग्वा दुहदिहलिह० सूत्र में लुक् ग्रहण करते हैं उससे यह बात सिद्ध होती है । यदि लोप के समान लुक् आदि भी भन्त्य के स्थान में आदेश हों तो लुक् ग्रहण करना व्यर्थ है ।

भट्टा तो उत्तर सूत्र के लिये यह प्रत्ययग्रहण करना चाहिये । जिस से प्रत्ययगो प्रत्ययलक्षणम् इस उत्तरसूत्र में प्रत्यय की अनुवृत्ति हो सके ।

यह भी प्रयोजन नहीं । उत्तर सूत्र में प्रत्ययग्रहण किया ही हुआ है ।

यहाँ दूसरा प्रत्ययग्रहण करने के लिये यहाँ प्रत्ययग्रहण करना चाहिये । जिस से सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप होन पर प्रत्ययलक्षण हो । प्रत्यय के एकदेश या भन्त्य का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण न हो । आप्नीत ( भाट्ट हन् सीयुद लिष्ट ) लुग्वा ( सम् गम्-सीयुद लिष्ट हृद ) यहाँ भाट्ट पूरक हन् धातु और सम् पूरक गम् धातुओं से मिथिलिष्ट में सायुद प्रत्यय के सकार का लोप हुआ है । वह

## प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥१॥१॥६२॥

प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् ?

लोपे प्रत्ययलक्षणम् इतीयत्युच्यमाने सौरथी वैहतीति गुरुपोत्तम-  
लक्षणः व्यङ् प्रसज्येत ।

प्रत्यय के एकदेश का लोप है । सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप नहीं है इस लिये वहाँ प्रत्ययलक्षण न होगा तो झलादि सीयुद् को मान कर अनुदात्तोपदेश वनतितनोत्यादीना० से इन् गम् के अनुनासिक नकार मकार का लोप नहीं होता ।

प्रत्ययग्रहण किस लिये किया है ?

लोपे प्रत्ययलक्षणम् इतना सूत्र होने पर सौरथी वैहती ( सुरभस्य विहृतस्य चापत्यं गोत्र स्त्री ) वहाँ अणिजोरनार्पयोगुरुपोत्तमयो व्यङ् गोत्रे से गुरुपोत्तम मान कर होने वाला व्यङ् आदेश प्राप्त होगा । क्योंकि सुरभ विहृत शब्दों से गोत्र में अत इन् से इन् प्रत्यय करके सौरथी वैहति रूप होते हैं । रम् धातु से कथन् प्रत्यय पर रहते मकार का लोप हो कर रथ शब्द बनता है । और इन् धातु से क्त प्रत्यय पर रहते नकार का लोप होकर हत शब्द बनता है । मकार नकार प्रत्यय नहीं है । उनके रहते गुरुपोत्तम होने से जैसे—इजन्त सौरथी वैहति शब्दों के इन् को अणिजोरनार्पयो० से स्त्री अपत्य में व्यङ् आदेश प्राप्त होता है ( गुरुपोत्तम शब्द का अर्थ है—त्रिप्रभृतीनामन्यमक्षरमुत्तमम् । तस्य समीपे यत् तदुपोत्तमम् । उपोत्तमं गुरु यस्मिन् प्रातिपदिके तद् गुरुपोत्तमम् । जिस प्रातिपदिक में तृतीय आदि अक्षर के समीपस्थ द्वितीय आदि अक्षर गुरु हो उसे गुरुपोत्तम कहते हैं । ) वैसे लोप होने पर भी वह व्यङ् आदेश हो जायगा । अर्थात् व्यङ् प्रत्यय का प्रादुर्भाव हो जायगा । जिससे भौरध्या वैहत्या ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । सिद्धान्ततः स्त्री अपत्य में इतो मनुष्यजाने से ङोष् होकर सौरथी वैहती ये इष्ट रूप बनते हैं ।

१. प्रत्ययस्य लक्षणं दर्शनं प्रादुर्भावः प्रत्यय का लक्षण अर्थात् दर्शन, प्रादुर्भाव ऐसा अर्थ कल्पनाकर यह कहा जा रहा है । सूत्रार्थ यह होगा—जिस किसी का लोप है उसके रहते जो प्रत्यय होता है, उसका लोप होने पर भी उस प्रत्यय का प्रादुर्भाव हो जाता है ।

नेप दोषः । नैव विधायते लोपे प्रत्ययलक्षणं भवति प्रत्ययस्य प्रादुर्भाव इति । कथं तर्हि प्रत्ययो लक्षण यस्य कार्यस्य तत् लुप्तेऽपि भवति ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । सति प्रत्यये यत् प्राप्नोति तत् प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात् । लोपोत्तरफालं यत् प्राप्नोति तत् प्रत्ययलक्षणं मा भूदिति ।

किं प्रयोजनम् ?

ग्रामणिकुल सेनानिकुलम् इत्यत्रोत्तरपदिके ह्रस्वत्वे वृत्तं ह्रस्वस्य पिति वृत्तिरिति तु गिति तुक् प्राप्नोति स मा भूदिति ।

यदि तर्हि यत् सति प्रत्यये प्राप्नोति तत् प्रत्ययलक्षणेन भवति,

यह कोई दोष नहीं । प्रत्ययलक्षण का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्यय का लक्षण दर्शन अथवा प्रादुर्भाव होना । बल्कि प्रत्यय है लक्षण निमित्त जिस कार्य का वह कार्य प्रत्ययलक्षण कहाला है । लोप होने पर प्रत्ययनिमित्तक कार्य का होना ही प्रत्ययलक्षण है । सोरबा बहता में प्रत्यय को निमित्त मान कर कोई कार्य नहीं करना है इस लिये मकार नकार का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण नहीं होगा ।

अच्छा तो प्रत्ययग्रहण का यह प्रयोजन है कि प्रत्यय के रहते जो कार्य प्राप्त हो वह उस प्रत्यय के लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण अर्थात् प्रत्यय को निमित्त मान कर ही जाय । प्रत्यय का लोप होने पर जो कार्य प्राप्त हो वह प्रत्ययलक्षण से न होय ।<sup>१</sup>

क्या प्रयोजन है ?

ग्रामणिकुलम् सना निकुलम् (ग्रामण्य सेनान्य कुलम्) यहा पष्ठा समास में कुल शब्द उत्तरपद पर रहते ङिप् प्रत्ययान्त ग्रामणा सनाना इत्त्वं को दस ह्रस्वाऽऽन्ता गाल्पस्य स ह्रस्व करण पर ह्रस्वस्य त्रिंश वृत्त से तुक् प्राप्त होता है यह न हावे । क्योंकि ङिप् प्रत्यय के रहते तुक् प्राप्त नहीं था यह ङिप् का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण से नहीं होगा ।

यदि प्रत्यय के पोर रहते जो कार्य प्राप्त हो वही (प्रत्ययलोप होने पर)

१ प्रत्ययलोप प्रत्ययलक्षणम्—यहाँ प्रत्ययलोप से प्रत्यय शब्द से ग्रन्था का उद्गम मान कर प्रत्यय सति वल्लोप एसा तात्पर्य गनता जाना है ।

लोपोत्तरकाल यत् प्राप्नोति तन्न भवति, जगत् जनगदित्यत्र तु न प्राप्नोति । लोपोत्तरकाल एव तुगागमः । तस्मान्नार्थ एवमर्थेन प्रत्यय-ग्रहणेन ।

कस्माच्च भवति ग्रामणिकुलं सेनानिकुलम् ।

बहिरङ्ग ह्रस्वत्वम् । अन्तरङ्गस्तुक् । असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे ।

इदं तर्हि प्रयोजनम् । इत्स्नप्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षण यथा स्याद् एकदेशलोपे मा भूदिति । आघ्नीत । स रायस्पोषेण ग्रीय ।

पूर्वस्मिन्नपि योगे प्रत्ययग्रहणस्येतत् प्रयोजनमुक्तम् । अन्यतरच्छ-  
प्यमकर्तुम् ।

प्रत्ययलक्षण से होता है और प्रत्यय का लोप हान पर जो कार्य प्राप्त हो वह प्रत्ययलक्षण से नही होता तो जगत् जनान् ( गच्छतीति जगत् । जन गच्छतीति जनगत् । गम् क्तिप् ) यहा क्तिप् प्रत्ययान्त गन् धातु से तुक नहीं प्राप्त होता । क्योंकि यहा अन्तरङ्ग होने के कारण पहले क्तिप् का लोप हो जाता है । उसके बाद गन को स गम् क मकार का लोप होकर ह्रस्वान्त वन जान से तुक् होता है । क्तिप् प्रत्यय के परे रहत तुक प्राप्त नहीं था ता क्तिप् का लोप होने पर भी प्रत्ययलक्षण स नहीं होना चाहिये । इस लिये एम दोषयुक्त प्रत्ययग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं । लोप होने पर सर्वत्र प्रत्ययग्रहण नान करना चाहिये ।

ग्रामणिकुलम् सेनानिकुलम् मे क्तिप् प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण से तुक क्यों नहीं जाता ?

यहा दोनो ह्रस्व ० स हुआ ह्रस्व बहिरङ्ग है और तुक् अन्तरङ्ग है । असिद्ध परिभाषा स च हरङ्ग ह्रस्व असिद्ध हो जायगा तो तुक नहीं होगा ।

ता फिर प्रत्ययग्रहण का यह प्रयोजन है कि सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण हा । प्रत्यय के एकदेश या अवयव का लोप होने पर न हा । य जात स ग्नाय ( जाड इन्-धीयुट् लिट् । सम् गन्-सायुट् लिट् इदं ) यहा सायुट् प्रत्यय के एकदेश सकार का लोप हुआ है सम्पूर्ण सायुट् का लोप नहीं हुआ है इस लिये प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तो कलदि सायुट् का साध कर अनुपच्छादेन-  
वनति ० से अनुनासिक नकार मकार का लोप नहीं होता ।

पहले सूत्र से भी प्रत्ययग्रहण का यही प्रयोजन कहा था । इस प्रत्ययग्रहण का भी आप यही कह रहे हैं । दोनो ने से कोई एक प्रत्ययग्रहण आवश्यक है ।

१. इस प्रकार भाष्यकार ने यहा प्रथम प्रत्ययग्रहण का सङ्केत कर दिया है ।



अथ द्वितीयं प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् ।

प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात् । वर्णलक्षणं मा भूदिति । गवे हित गोहितम् । रायः कुल रैकुलमिति ।

द्वितीय प्रत्ययग्रहण किस लिये किया है ?

प्रत्यय का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण कार्य ही हो । वर्णलक्षण कार्य न हो इस लिये प्रत्ययलक्षणम् यह द्वितीय प्रत्ययग्रहण किया है । गवे हितं गोहितम् । रायः कुल रैकुलम् । यहाँ गो रै शब्दों के पद्यसमास में छे इस् विभक्तियों का लुप् हुआ है । उस को प्रत्ययलक्षण मान कर अच् पर हो जाने से एगोश्चरायायः से अच् भाव भादस प्राप्त होते हैं । वे अच् रूप वर्ण लक्षण कार्य है । प्रत्यय को निमित्त मान कर होने वाला नहीं है इस लिये प्रत्ययलक्षण नहीं होगा तो अच् भाव भादस नहीं होते ।

१ एतन्मूढक ही वर्णाश्रयं नास्ति प्रत्ययलक्षणम् यह परिभाषा है । जहाँ वर्ण का प्राधान्य है अर्थात् प्रधान रूप से जहाँ वर्ण का आश्रयण किया है वही प्रत्ययलक्षण का निमित्त होता है । किन्तु जहाँ वर्ण प्रधान न होकर प्रत्यय प्रधान है और अप्रधानता में वर्ण का आश्रयण किया है वही प्रत्ययलक्षण का निमित्त नहीं होता । जैसे—अनृणद् । यहाँ नृद् शब्द से लङ् में तिप् का लोप होने पर उसे प्रत्ययलक्षण मान कर नृणद् इम् से इमागम हो जाता है । इमागम करने वाले सूत्र में हल्दि किन् मातृशतुक प्रत्यय की प्रधानता है हल् रूप वर्ण की प्रधानता नहीं है । यहाँ हल् उर्ण मातृशतुक का विशेषण है इस लिये वर्ण की अप्रधानता होने से वर्णाश्रय होने पर भी प्रत्ययलक्षण का निमित्त नहीं होता । वर्ण की प्रधानता में प्रत्ययलक्षण निमित्त वे समान ही लोपो व्योम्बलि से होने वाला बहार बहार का लोप वत् रूप उन से निमित्त मान कर होने से वर्णाश्रय कल्याण है, प्रत्ययाश्रय नहीं । इसीलिये भास्वमाणम् ( आर्-सिन्-मनिन् ) में सिन् के बहार का लोप होने पर त्रिधातुलोप आर्धाधातुक में प्राप्त सार्वधातुगुण का निमित्त प्रत्ययाश्रयस्यो-न्वय सिद्धम् ऐसा उद्देश्य राख गया है । वही लोपो व्योम्बलि से हुआ बहार का लोप आर्धाधातुक मानने प्रत्यय की निमित्त मान कर नहीं हुआ । वलिक मनिन् में र्त् रूप वर्ण को निमित्त मान कर हुआ है । आर्धाधातुनिमित्तक लोप न होने से गुण निमित्त नहीं होता यह सिद्ध किया है । यदि इसी प्रकार सुपूर्वक धिन् कृष् भातु से त्रिधातु प्रत्यय छरे और विन् का सार्वधातु लोप हो जाने पर प्रत्ययलक्षण में विन् पर मनि तो लोपो व्यो० से होने वाला धिन् कृष् के बहार का लोप आर्धाधातुक विन् प्रत्ययाश्रय न होकर वल् रूप वर्णाश्रय होगा । उस अवस्था में

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणवचन सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य ।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमित्युच्यते । सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य ।  
सच्छास्त्रेणान्वारयायते । सतो वा शास्त्रमन्वारयायक भवति । सदन्वा  
ख्यानाच्छास्त्रस्य । 'उगिद्वा सर्वनामस्थानेऽधातोरिति' इहेव स्यात्  
गोमन्तौ यत्रमन्तौ । गोमान् यवमान् इत्यत्र न स्यात् । इष्यते च  
स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्न न सिध्यतीत्यतः प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षण-  
वचनमित्येवमर्थमिदमुच्यते ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् यह सूत्र इस लिये बनाया है कि शास्त्र सत् का  
ही निमित्तत्वन अन्वारयान करता है । अमन् का नहीं । शास्त्र द्वारा विद्यमान  
का ही प्रतिपादन हाता है अविद्यमान का नहीं या विद्यमान ही शास्त्र द्वारा  
प्रतिपादित किया जाता है । जैसे — उगिद्वा सर्वनामस्थानेऽधाता इस शास्त्र स  
सर्वनामस्थान पर रहत नुम् का विधान किया है वह गामन्ता, यवमन्तौ ( गोमन्,  
यवमन्-न्तौ ) यहा सर्वनामस्थानसङ्गक औ प्रत्यय के विद्यमान होन पर हा हो  
सकता ह । गामान् यवमान ( गोमन् यवमन्-सु ) यहा सु सर्वनामस्थान क  
विद्यमान न होन से नुम् प्राप्त नहीं हो सकता । इष्ट ई यहा भी नुम् हो । वह बिना  
यत्न क सिद्ध नहीं होता इस लिय प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् यह सूत्र बनाया है ।

आधधातुक अनितक धातुलोप न होने से न धातुलोप सूत्र मे लघूपगुण का  
निषेध न हो सकगा ता गुण हाकर सुधेन् सुकरुण होग । प्रथमा एकवचन सु परे  
रहत नु लोप नलोप ने जायग तब सुध सुक ये इष्ट रूप बनग । न धातुलोप स  
गुणनिषेध मान कर ता सुधिन् न सौ च से इन्नन्त को दार्घ्य होकर विनाशी का तरह  
सुधी एमा वानष्ट रूप प्राप्त हागा । और सुकृष् में नान्त का उपग को सर्वना-  
मस्थान चासम्बुद्धौ से दाध होकर उपधायाश्च से इच्च रपर हो जायगा तो वोरुप-  
धाया दार्घ्य इक स पदान्त न दाध होकर गी की तरह सुका यह अनिष्ट रूप प्राप्त  
होगा । यद्यपि एचाज्यवायाव के उक्त उदाहरण गोदितम् रैकुलम् में अच रूप  
वर्णाश्रय होन पर भी अतत के कस् प्रत्ययों का आश्रय भा है पर वह शब्दोपात्त  
नहीं है इस लिये वहां मुख्य रूप से वर्ण का हा आश्रय मान कर प्रत्ययलक्षण  
नहीं होता ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

लुक्पुसस्मानम् ।

लुक्पुसस्यान कर्तव्यम् । पञ्च सप्त ।

किं पुनः कारण न सिध्यति ।

लोपे हि विधानम् ।

लोपे हि प्रत्ययलक्षणं विधीयते तेन लुकि न प्राप्नोति ।

न वा दर्शनस्य लोपसञ्ज्ञित्वात् ।

न वा कर्तव्यम् । किं कारणम् । अदर्शनस्य लोपसञ्ज्ञित्वात् ।  
अदर्शनं लोपसञ्ज्ञं भवतीत्युच्यते । लुमत्सञ्ज्ञाभाष्यदर्शनस्य त्रियन्ते ।  
तेन लुक्पुसि भविष्यति ।

यद्येवम् ।

प्रत्ययादर्शनं तु लुमत्सञ्ज्ञम् ।

प्रत्ययादर्शनं तु लुमत्सञ्ज्ञमपि प्राप्नोति ।

मृत् का यह प्रयोजन का है किन्तु लुक् में भी प्रत्ययलक्षण कहना चाहिये ।  
पञ्च मत् ( पञ्च, सप्तन् इत्येवम् ) यद्वा पद् सञ्ज्ञं पञ्चन् सप्तन् शब्दों से  
पर पञ्चत्वात् पुर स उम इत्येवम् का लुक् हुआ है । लोप नहीं हुआ है । इस लिये  
प्रत्ययलोप न होने से प्रत्ययलक्षण प्राप्त नहीं होता । प्रत्ययलक्षण न होने से पद  
सञ्ज्ञा न होगी जो न प न हो सकगा । लुक् में भी प्रत्ययलक्षण कहने से पद  
सञ्ज्ञा होकर भगवद् हा जाता है ।

यदा कारण है तो लुक् में प्रत्ययलक्षण नहीं प्राप्त होता ?

लोप में प्रत्ययलक्षण कहा है इस लिये लुक् में प्रत्ययलक्षण नहीं प्राप्त होता ।

लुक् में भरण प्रत्ययलक्षण कहने की आवश्यकता नहीं । क्योंकि अदर्शन  
की लोपसञ्ज्ञा कही गई है । लुक् इत्येवम् लुक् इत्येवम् य सञ्ज्ञा में भी अदर्शन  
की ही होता है । उस से अदर्शन सामान्य को लेकर लुक् में भी प्रत्ययलक्षण  
हो जायगा ।

तब तो प्रत्यय के अदर्शन सामान्य को लेकर लुक् इत्येवम् सञ्ज्ञा में भी  
एक हो जाना चाहिये ।

तत्र को दोषः ?

तत्र लुकि श्लुविधिः प्रतिषेध्यः ।

तत्र लुकि श्लुविधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः । अस्ति हन्ति ।  
श्लुविति द्विवचनं प्राप्नोति ।<sup>१</sup>

न वा पृथक् सज्ञाकरणात् ।

न वा एष दोषः । किं कारणम् । पृथक् सज्ञाकरणात् । पृथक्  
सज्ञाकरणसामर्थ्याल्लुकि श्लुविधिर्न भविष्यति । तस्माददर्शनसामान्या-  
ल्लोपसज्ञा लुमत्संज्ञा अवगाहते ।

यद्यैव तर्हि अदर्शनसामान्याल्लोपसंज्ञा लुमत्संज्ञा अवगाहते एव  
लुमत्संज्ञा अपि लोपसंज्ञामपगाहेरन् ।

यद्वा क्या दोष है ?

यहाँ लुक् में श्लु का कार्य प्राप्त होता है । उसका निषेध कइना होगा ।  
अस्ति हन्ति यदा अदिप्रसूतिभ्य शप् से हुए शप् क लुक् को रतु मान कर  
श्लु से द्वित्व प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । लुक् श्लु लुप इस प्रकार भलग २ सज्ञाये करने  
के सामर्थ्य से लुक् में श्लुविधि न होगी । लुक् भादि सज्ञाओं में साकार्य न होगा ।  
इस लिये अदर्शन सामान्य का लेकर लोपसज्ञा लुक् भादि सज्ञाओं को ध्याप्त  
कर लेगी । उनको अपनी लपेट में ले लेगी । अर्थात् लोप शब्द से लुक् भादि का  
भी ग्रहण हो जायगा तो लुक् में प्रत्ययटक्षण क उपसख्यान की आवश्यकता नहीं ।

निस प्रकार अदर्शन सामान्य को लेकर लोपसज्ञा में लुक् भादि सज्ञाये  
गृहीत हो जाती हैं उसी प्रकार लुगादि सज्ञाओं से भी लोपसज्ञा गृहीत हो  
जानी चाहिये ।

१ यह उपलक्षण है । रतु म लुक् का लुप म लुक् का, लुक् म लुप् का इस प्रकार  
तीनों का साकार्य प्राप्त होन से उभय निवृत्त कइना होगा । जैसे—उद्गोत में उद्गोत्यादिभ्य  
श्लु से हुए रतु को लुक् मान कर उतो अदिर्लुकि हलि से हु को अदि प्राप्नोति होती  
है । हरातक्या फल हरीतक्य, यद्वा हरीतक्यादिभ्यश्च से हुए ऋप् क लृप् को  
लुक् मान कर लुक् तदितलुकि से हरीतकी में स्थित स्त्रीप्रत्यय का लुक् प्राप्त होता  
है । लवणेन ससृष्ट लवण सृप् यद्वा लवणाल्लुक् से हुए ठक् क लृक् को लृप् मान  
कर लुपि युक्त्वद्व्यक्तियचने से युक्त्वद्वाव प्राप्त होता है ।

तत्र को दोषः ।

अगोमती गोमती सम्पन्ना गोमती भूतेति 'लुक् तद्धितलुकी'ति  
टीपो लुक् प्रसज्येत ।

ननु चात्रापि न वा वृथक् संज्ञाकरणादित्येव सिद्धम् ।

यथैव तर्हि वृथक् संज्ञाकरणसामर्थ्यादत्र लुप्तसंज्ञा लोपसंज्ञा  
नायगादन्त एव लोपसंज्ञापि लुप्तसंज्ञा नायगाहेतुः । तत्र स एव दोषो  
लुप्त्युपसंख्यानमिति ।

अस्यन्यल्लोपसंज्ञाया वृथक् करणे प्रयोजनम् । किम् । लुप्तसंज्ञासु  
यदुच्यते तल्लोपमात्रं मा भूदिति ।

यदा क्या दोष है ।

अगोमती गोमती सम्पन्ना गोमतीभूता ( गोमती स्त्रि, भू ) यदा अभूततद्भार  
अर्थ में च्यप्रत्ययान्त गोमती शब्द से परे स्त्रि का सर्वोपहारी लोप हुआ है ।  
उसे लुक् मान कर उस तद्धितलुकि स गोमती में स्त्रीप्रत्यय टीप् का लुक् प्राप्त  
होता है ।

यदा भी लोपसंज्ञा और लुक्त संज्ञा के अलग २ विधान करने के सामर्थ्य  
में लोपसंज्ञा में लुक्त संज्ञा का कार्य नहीं होगा ।

जब लोपसंज्ञा और लुक्तसंज्ञा के अलग २ विधान करने के सामर्थ्य स  
यदा लोपसंज्ञा में लुक्त संज्ञा का कार्य नहीं होगा ऐसे लुक् भादि संज्ञाओं में  
भी लोपसंज्ञा का कार्य नहीं होना चाहिये । उस भवस्था में यही दोष है कि  
लुक् में प्रत्ययपक्षण का उपसंख्यान करना होगा ।

लोपसंज्ञा के वृथक् विधान करने का तो एक अन्य प्रयोजन है । यदा !

१ अगोमती महती सम्पन्ना महद्भूता की तरह अगोमती गोमती सम्पन्ना  
गोमतीभूता में पुनर्भाव नहीं होता । क्योंकि नदावाचक गोमती शब्द भी वही लुक्  
नहीं है । महति शब्द तो 'लुक्' होना ही मान्यतुच्छ है । प्रशङ्गाकार धीरेपट तो  
ही दृष्टि में तो अगोमती और गोमती में मानानाधिहरण न होने पर पुनर्भाव का  
अभाव है । वे अगोमती एवं महती में गोमती एवं विहृत में वृथक् मानने हैं । यदि  
माना गति में महती की भी प्राप्ति मान ल अथवा महति विहृत में अनेक विरणा छ  
है तब भी मानाधिहरण बन जान से पुनर्भाव प्राप्त है । यह भाषितपुच्छ न  
है न से ही यह मरणा है ।

## लुमिति प्रतिषेधाद्वा ।

अथवा यदयं 'न लुमताङ्गस्ये'ति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेध शस्त्रित  
तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवति लुकि प्रत्ययलक्षणमिति ।

सतो निमित्ताभावात् पदसज्ञाभावः ।

सन् प्रत्ययो येषां कार्याणामनिमित्तं राज्ञः पुत्र्य इति, स लुप्तोऽ-  
पनिमित्तं स्याद् राजपुत्र्य इति ।

अस्तु तस्या अनिमित्तं या स्यादौ पदमिति पदसज्ञा । या तु  
लुप्तिङन्त पदमिति पदसज्ञा सा भविष्यति ।

प्रत्यय और अप्रत्यय सभी के अदर्शन की लोप सज्ञा होती है । लुक आदि  
सज्ञायें केवल प्रत्यय के अदर्शन की ही होती हैं । जो कार्य लुक आदि सज्ञाओं  
में कहा गया है वह लोप मात्र में नहीं हो सकता । लोपसज्ञा व्यापक है । वह  
अदर्शनसामान्य की होती है । उस से लुक आदि सज्ञायें व्याप्त हो जायेंगी किन्तु  
लुक आदि सज्ञाओं में लुक आदि शब्द से भावित प्रत्यय का अदर्शन होता है  
इस लिये वे लोप सज्ञा में व्यापक नहीं हो सकतीं । अर्थात् लुक आदि से लोप  
का ग्रहण नहीं हो सकता ।

अथवा न लुमताङ्गस्य सूत्र द्वारा जो लुमान् शब्द से लुप्त हुण् प्रत्यय में  
प्रत्ययलक्षण का निषेध किया है वह आचार्य का व्यग्रद्वार इस बात का शापक  
है कि लुक में भी प्रत्ययलक्षण होता है । इस लिये लुक में उपमर्यान की  
आवश्यकता नही है ।

विद्यमान प्रत्यय त्रिंशत् कार्यों का निमित्त नहीं है वह लुप्त होकर भी उनका  
निमित्त नहीं होना चाहिये । जैसे—राज्ञ पुत्र्य यदा राक्ष्य में राज्ञ इति में  
विद्यमान इस् प्रत्यय राजन् की पदसज्ञा का निमित्त नही है यह राजपुत्र्य इस  
समास में लुप्त हुआ भी पदसज्ञा का निमित्त नहीं होना चाहिये । पदसज्ञा न  
होने से नलोप नहीं प्राप्त होता ।

ठीक है । राजपुत्र्य में लुप्त हुआ इस प्रत्यय स्वारिष्वसर्वनामस्वाने से  
होने वाली पूर्व की पदसज्ञा का निमित्त न होवे किन्तु सुप्तिङन्त पदम् से होने  
वाली सुबन्त की पदसज्ञा तो निर्बाध है । यह पदसज्ञा रह जायगी तो नलोप  
हो जायगा ।

सत्येतत् प्रत्यय आसीत् । अनया भविष्यत्यनया न भविष्यति ।  
लुप्त इदानीं प्रत्यये यावत् एवावधेः स्वादौ पदमिति पदसञ्ज्ञा तावत्  
एव सुबन्त पदमिति । अस्ति च प्रत्ययलक्षणेन यजादिपरतेति कृत्वा भसञ्ज्ञा  
प्राप्नोति ।

तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकयोगलक्षणत्वात् परिवार इति ।

तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधो नोपपद्यते । क । परिशीरिति ।  
किं कारणम् । एकयोगलक्षणत्वात् । एनयोगलक्षणे हि तुग्दीर्घत्वे ।  
इह लुप्ते प्रत्यये सार्याणि प्रत्ययाध्यानि सार्याणि पर्यवपन्नानि भवन्ति ।  
तान्येतेन प्रत्युत्थाप्यन्ते । अनेनैव तुक् । अनेनैव च दीर्घत्वमिति ।  
तदेकयोगलक्षण भवति एकयोगलक्षणानि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ।

इस् प्रत्यय क विद्यमान रहते तो यह कड़ा जा सकता था कि इसस पद  
सञ्ज्ञा होगी इसस न होगी । क्योंकि इस पर रहते स्वादिन्वसर्व० से प्राप्त पूर्व  
राज् शब्द की पदसञ्ज्ञा को भसञ्ज्ञा बाध रही है । इस् सहित राज् की  
सुबन्त होने से पदसञ्ज्ञा स्पष्ट ही है । इस लिये इस् का विद्यमानता में तो राज्  
का न होगी, राज् का होगा यह जाना जा सकता है परन्तु जब इस् लुप्त हो  
गया तब राज् ही सुबन्त है और राज् ही पूर्व है । दोनों की एक राज् ही  
अवधि है । तिसरी अवधि की सुबन्त पद् स पदसञ्ज्ञा होनी है उसनी को  
स् दिवमर्व० से प्राप्त है । लुप्त हुए इन का प्रत्ययलक्षण से जान कर अच् पर हो  
जायगा तो यवि भन् से दोनों पदसञ्ज्ञाओं को बाध कर भसञ्ज्ञा प्राप्त होता है ।  
इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि—

तुक् और दीर्घत्व में विप्रतिषेध नहीं बनता । क्या ? परिवार यद्वा ।  
( परि ध्यज क्रिप् ) परि पूर्वक ध्यज् धातु से क्रिप् प्रत्यय हुआ है । यवि स्वप०  
से सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप होकर इधर हल् से दाज प्राप्त होता है उधर  
ह्रस्वस्य पिति होने तुक् से तुक् । क्रिप् क लोप को प्रत्ययलक्षण से जान कर दोनों  
कार्य एक साथ प्राप्त होत हैं । तुक् और दीर्घ यद्वा दोनों एकयोगलक्षण हैं ।  
प्रत्ययलोप प्रत्ययलक्षणम् इस एक सूत्र द्वारा ही होने बाल है । क्योंकि यद्वा  
क्रिप् प्रत्यय क लुप्त हो जान पर सार प्रत्ययाश्रित कार्य नष्टप्राय से हो जाव

१ स्वादिन्वसर्व० से प्राप्त पदसञ्ज्ञा का तो पर होने से भसञ्ज्ञा बाधनी,  
सुबन्त पदम् से प्राप्त की अपवाद हान से बाधना

सिद्ध तु स्थानिसंज्ञानुदेशादन्यभाष्यस्य ।

सिद्धमेतत् । कथम् । स्थानिसंज्ञाऽन्यभूतस्य भवतीति वक्तव्यम् ।  
किं कृतं भवति । सत्तामात्रमनेन क्रियते । यथा-गते तुग्दीर्घत्व भविष्यतः ।

तद् वक्तव्यं भवति ।

यद्यप्येतदुच्यते । अयमेतर्हि स्थानिवद्भावो नारभ्यते । 'स्थानि-  
संज्ञान्यभूतस्यानन्विधावि'ति वक्ष्यामि ।

हैं । वे सभ इस प्रत्ययलक्षण सूत्र से एक साथ पुन उदाहरित किये जाते हैं ।  
इसी से तुक् और इसी से दीर्घ । यह एकषोडश्रण समस्या है । एक ही  
योग से एक साथ होने वाले कार्य नहीं बन पाते । यहाँ कम तो कोई है ही नहीं;  
कैसे जाने कि परिवा में पहले दीर्घ होगा, तुक् न होगा ।

स्थानिमज्ञानुदेश आन्यभाष्यस्य वा स्थानिमज्ञान्यभूतस्य ऐसा ( न्या )  
वचन बना देंगे । उस से उन दोष न होगा । इस वचन का अर्थ है कि आन्य-  
भाष्य (=अन्यभाव) अन्यभूत या अन्य वस्तु को लोपादि आदेश है उसको  
क्रिप् आदि रूप स्थानी की जो संज्ञा पितृ कृत् प्रत्यय इत्यादि को व्यपदेश  
उसका अतिदेश होता है । भाष्य पूर्य आदेश की स्थानिमज्ञा का अतिदेश कहने  
से क्या होगा तो उसका उत्तर है—यह सूत्र प्रत्ययलक्षण कार्य न करके स्थानी  
का सत्ता मात्र कर देगा लुप्त हुआ क्रिप् स्थानी उपस्थित समझा जायगा ।  
उसकी उदाहरति में वप्रतिषेध पर कार्य से तुक् और दीर्घत्व में तो परस्वाद्य  
प्राप्त होगा वह हो जायगा । पर होने से हल से दीर्घ पहले हो जायगा तो परिवा  
बन जायगा ।

यह भा. गौरव ही है कि प्रत्ययलक्षण की जगह स्थानिमज्ञान्यभूतस्य यह  
वचन कहना होगा ।

यद्यपि यह वचन कहना होगा फिर भी उस वचन से एक लाभ हो  
जायगा कि अलग स्थानिवद्भाव नहीं कहना पड़ेगा । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानन्-  
विधौ ऐसा सूत्र बना देंगे । इसी से स्थानियुद्देशोऽनन्विधौ का काम चल  
जायगा ।

१ अनुदेशान्=अतिदेशान् ।

२ आन्यभाष्यस्य अन्यभाव एवान्यभाष्यम्, तस्य । स्वार्थे ष्यन् । अन्यभाव=  
अन्यवस्तु, अर्थान् आदेश ।



यधेयमाडो यमहन इत्यात्मनेपद भवतीति हन्तेरेव स्यात् वधेर्न स्यात् । नहि काचिद् हन्त सञ्ज्ञास्ति या वधेरतिदिश्येत ।

हन्तरपि सञ्ज्ञास्ति । ऋ । हन्तिरेव । कथम् । 'स्व रूप शब्दस्या शब्दसञ्ज्ञे'ति वचनात् स्व रूप शब्दस्य सञ्ज्ञा भवतीति हन्तेरपि हन्ति सञ्ज्ञा भविष्यति ।<sup>१</sup>

भसना डाप् ष्फ-गारात्वषु च सिद्धम् ।

भसज्ञा डीपष्फ गोरात्वषु च सिद्ध भवति ।

भसज्ञा—राज्ञ पुरुष राजपुरुष प्रत्ययलक्षणन यचीति भसज्ञा प्राप्नोति । स्थानिसञ्ज्ञान्यभूतस्यानलविधायिति वचना न भवति ।

डीप—चित्राया जाता चित्रा । प्रत्ययलक्षणेनाणतादितीरार प्राप्नोति । स्थानिसञ्ज्ञान्यभूतस्यानलविधायिति वचना न भवति ।

स्थानिसञ्ज्ञान्यभूतस्यानलविधायि इस वचन म यह दोष होगा कि आडो यमहन म हन् स कहा हुआ आ मनप हन् स ही हो सकगा । वध स न हो सकगा । क्योंकि हन् की क ह सञ्ज्ञा नहीं तो उसक स्थान म हुप् वध आदे० को भतिदि० की गय ।

हन् की भी सञ्ज्ञा है । क्या ? हन् ही । कैसे ? स्व रूप शब्दस्य० इस वचन स शब्द का धपना स्वरूप सञ्ज्ञा हाता है इस लिये हन् की हन् ही सञ्ज्ञा हो जायगी । इस वचन का यह लाभ भी है कि भसना, डीप, ष्फ और गा शब्द को आ र करन म भी राननन यभूतस्यानलविधायि इस वचन स ही इष्ट सिद्ध हो जायगा । भसना जैसे—राज पुरुष राजपुरुष । यहा समास मे लुप्त हुप् उस को प्रत्ययलक्षण स मान कर अधि भम् स भसज्ञा प्राप्त होती है । उसस नगप न हो सकगा । किन्तु स्थानिसञ्ज्ञान्य० इस वचन मे अन० वधौ कहने स भसना नहीं होगी । क्योंकि अनादि प्रत्यय का आश्रयण करन स भसना अविविध है । अलविधि म लुक् का स्थानासञ्ज्ञा न हमी तो हस् परे न हान स भसना न होगी उसस नगप हो जायगा डीप जैसे—चित्राया जाता चित्रा । यहा चित्रा शब्द स तत्र जात अथ म हुप् अण का चित्रारवतारोहिणीभ्य स्त्रियामुपमगमानम् स लुक् हुआ है । उस को प्रत्ययलक्षण स मान कर चित्र शब्द अण्णत्त हो जायगा ता टाप का बाध कर टिङ्गणञ० स डीप् प्राप्त होता है ।

प्फ—वतण्डी । प्रत्ययलक्षणेन यत्र तादिति प्फः प्राप्नोति । स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भवति ।

गोरात्यम्—गामिच्छति गव्यति । प्रत्ययलक्षणेनामि औतोम्-  
शसोस्त्वितात्वं प्राप्नोति । स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न  
भवति ।

तस्य दोषो डौ नकारलोपेऽप्येव प्रियः ।

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः । डौ नकारलोपः । आर्द्रं चर्मन् लोहिते  
चर्मन् । प्रत्ययलक्षणेन यचीति भसञ्ज्ञा सिद्धा भवति । स्थानिसज्ञान्य  
भूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति । इत्थम्—आशी । प्रत्यय-

स्थानिमज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से न होगा । क्योंकि ङङ्ढाणञ्०  
सूत्र में अङ्गत्तष्टाप् से अकारान्त की अनुवृत्ति आने से ङीप् अनल्विधि है ।  
इस लिये लुक् की अण् सज्ञा न होगी तो यञन्त न होने से ङीप् न होगा ।  
एक जैसे—वतण्डी । ( वतण्डस्य गोत्रात्तस्य स्त्री ) यद्वा वतण्डाच्च से यञ् प्रत्ययान्त  
वातण्डय शब्द से स्त्री अपत्य अर्थ में लुक् स्त्रियाम् से यञ् का लुक् हुआ है ।  
उस प्रत्ययलक्षण से यञन्त मान कर आवट्यायनी की तरह प्राचा एफ तद्धित  
स एफ प्राप्त होता है । स्थानिसज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से नहीं  
होता । क्योंकि प्राचा एफ० में अङ्गत्तष्टाप् से अकार की अनुवृत्ति आने से एफ  
अल्विधि है । इस लिये लुक् की यञ् सज्ञा न होगी तो यञन्त न होने से एफ  
न होगा । गा शब्द का आत्व जैसे—गामिच्छति गव्यात् । गो अम् व्यच् ) यद्वा  
नामधातु में मुषो ध तु प्रातिपदिकयो से अम् का लुक् हुआ है । उस प्रत्यय-  
लक्षण में मान कर औतोम्शमा, ये गो शब्द को आत्तर प्राप्त होता है ।  
स्थानिमज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से नहीं होता । क्योंकि औतोम्-  
शसा में दको यणचि से अच् की अनुवृत्ति आने से आत्व अल्विधि है । इस  
लिये लुक् की अम् सज्ञा न होगी तो अम् पर न होने से आत्व नहीं होगा ।

स्थानिसज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ इस वचन के बनाने में भी दोष है । हि  
पर रहते नकारलोप, इत्थ और इम्विधि नहीं सिद्ध होती । आर्द्र चर्मन् यद्वा  
चर्मन् हि इस अवस्था में गुण सुलृ० स लृक् हुए हि को प्रत्ययलक्षण से  
मान कर यच्चि अम् से चर्मन् की भसज्ञा हो जाती है तो नलोप का अभाव सिद्ध  
हो जाता है । किन्तु स्थानिसज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से भसज्ञा  
नहीं प्राप्त होती । क्योंकि वह अज्ञादि प्रत्यय का आश्रयण करने से अनल्विधि

लक्षणेन हलीति इत्वं सिद्धं भवति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाधिति वचनान्न प्राप्नोति । इम्—अतृणेद् । प्रत्ययलक्षणेन 'हली'ति इम् सिद्धो भवति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाधिति वचनान्न प्राप्नोति । सूत्रं च भिद्यते ।

यथान्यासमेवास्तु ।

ननु चोक्तं सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभावः । तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकयोगलक्षणत्वात् परिवीरिति ।

नेप दोष । वक्ष्यत्यत्र परिहारम् । इहापि परिवीरिति । शास्त्रं परविप्रतिषेधेन परत्यात् दीर्घत्वं भविष्यति ।

है । भसज्ञा न होने से नलोप प्राप्त होता है उसके लिये न विसम्बुद्धयोः यह सूत्र बनाना पड़ता है । आशी ( आशास क्तिप् ) यहाँ लुप्त हुप् क्तिप् को प्रत्ययलक्षण से मान कर हल परे हो जाता है तो शास इदङ्गलो शास की उपधा को इत्वं सिद्ध हो जाता है । कि तु स्थानिसंज्ञान्य० इस वचन में अनल्विधौ कहने से इत्वं नहीं प्राप्त होता । क्योंकि हलादि प्रत्यय का आश्रयण करने से इत्वं अलविधि है । उसके लिये आशास ऋतुपसंज्ञानम् यह वातिक बनाना पड़ता है । अतृणट् ( तृह् इनम् लङ् तिप् ) यहाँ हल्ङ्ङाप्० सूत्र से लुप्त हुप् तिप् को प्रत्ययलक्षण से मान कर हल परे हो जाता है तो तृणह् इम् से इनम् विशिष्ट तृह् धातु को इमागम सिद्ध हो जाता है । किन्तु स्थानिसंज्ञान्यभूत० इस वचन में अनल्विधौ कहने से इम् नहीं प्राप्त होता । क्योंकि हलादि पितृ सार्वधातुक का आश्रयण करने से इम् अलविधि है । इन दोनों के साथ स्थानिसंज्ञान्यभूत० इस वचन के बनाने से प्रत्ययलक्षण सूत्र भी दृढ़ता है ।

अच्छ तो यथान्यास ही रहने दीजिये । प्रत्ययनोपे प्रत्ययलक्षणम् यह सूत्र ही ठीक है ।

प्रत्ययलक्षण सूत्र में सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभाव और तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्ति ये जो दोष कहे थे उनका क्या समाधान है ?

यह कोई दोष नहीं । सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभाव इस दोष का समाधान तो अभी इसी सूत्र पर आगे कहेंगे । तुग्दीर्घत्वयोश्च वाले परिवी में भी उपद्रव शास्त्रों के विप्रतिषेध में पर होने से दीर्घ हो जायगा तुक् न होगा ।

प्रयोजनमपृक्तशिलोपे नुममामौ गुणवृद्धी दीर्घत्वमडाद्शनम्विधयः ।

अपृक्तलोपे शिलोपे च कृते नुम् अमामौ गुणवृद्धी दीर्घत्वम्  
इम् अडादौ श्नम्विधिरिति प्रयोजनानि ।

नुम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री पधस्था । ता ता पिण्डानाम् ।

अमामौ—हे अनड्वन् । अनड्वान् ।

गुणः—अधोक् । अलेद् । वृद्धिः—न्यमाद् ।

दीर्घत्वम्—अग्ने त्री ते वाजिना त्री पधस्था । ता ता पिण्डानाम् ।

इम्—अतृणेद् ।

अडादौ—अधोक् । अलेद् । ऐयः । औनः ।

श्नम्विधिः—अभिनोऽत्र । अच्छिनोऽत्र । अपृक्तशिलोपयोः कृतयो-  
रेते विधयो न प्राप्नुवन्ति । प्रत्ययलक्षणन भवन्ति ।

परिवीय ( परि घ्येन्-ल्यप् ) इत्यादि में प्रत्यय की अविद्यमानता में भी दीर्घ ही होगा । यद्यपि ह्रस्वस्य पिति कृत तुक् और हल् ये दोनों प्रत्ययलक्षण से उत्थापित होते हैं । उनके एकयोगलक्षण होने पर भी प्रवृत्ति में पूर्व पर का क्रम बन जायगा । दोनों के क्रम में पर होने से दीर्घ ही हो जायगा तुरु न होगा ।

अपृक्त का लोप और शि का लोप हो जाने पर नुम्, अम्, भान्, गुण, वृद्धि, दीर्घत्व, इम्, अद्, आद् और श्नम् का होना प्रयोजन है । अग्ने त्री ते इस वेदमन्त्र में त्रीणि के स्थान में त्री यह वैदिक प्रयोग है । शेदञ्दसि बहुलम् से शि का लोप होकर फिर नुम् उपधादीर्घ और नलोप हो जाता है । लुप्त हुप् शि की प्रत्ययलक्षण से मान कर सर्वनामस्थान पर हो जायगा । तो नपुसकन्य झलचः से नुम् और सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से उपधादीर्घ हो जाता है । इसी प्रकार वाजिनानि=वाजिना । सधस्थानि=सऽस्था । तानि तानि=ना ता । ये समहने चादिये । हे अनड्वन् ! यहाँ अनड्वद् शब्द से परे सम्बुद्धि के सु का हल्-ह्याप्० से लोप होता है । उसे प्रत्ययलक्षण से मान कर सम्बुद्धि परे हो जायगा तो अद्सम्बुद्धौ से अनड्व् को अमागम हो जाता है । अनड्वान् में हल्-ह्याप्० से हुप् सुलोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर चतुरनड्वहोरासुदात्त आमागम हो जाता है । अधोक् अलेद् ( दुह्, लिह्-लृट् तिप् ) यहाँ हल्-ह्याप्० से हुप् तिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर दुह् लिह् धातुओं को लघूपधगुण और लृट् लृट् लृट्-स्वद्विदात्तः से अडागम

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । स्थानिवद्भावेनाप्येतानि सिद्धानि ।

न सिध्यन्ति । आदेशः स्थानिवदित्युच्यते । न च लोप आदेशः ।

लोपोऽप्यादेशः । कथम् । आदिश्यते यः स आदेशः । लोपोऽप्यादि-  
श्यते । दोषः खल्वपि स्याद् यदि लोपो नादेशः स्यात् । इहाचः  
परस्मिन् पूर्वविधावित्येतस्य भूयिष्ठानि लोप उदाहरणानि तानि न स्युः ।

यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः ।

हो जाता है । न्यनार्द्ध ( नि मृञ्-लङ् तिप् ) यहां हल्ङ्वाप्० से हुप् तिप् के  
लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर मृञ् को मृञ्-र्द्धि से वृद्धि हो जाती है । भृणोद्  
( तृणह्-लङ् तिप् ) यहां हल्ङ्वाप्० से हुप् तिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से  
मान कर हलादि सार्वधातुक परे हो जायगा तो तृणह् इम् से इमागम हो जाता  
है । ऐयः औन ( ऋ-लङ् तिप् । उन्द्-लङ् सिप् ) यहां हल्ङ्वाप्० से हुप्  
तिप् सिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर आङ्जार्दीनाम् से ऋ और उन्द्  
को भाद् भागम हो जाता है । अभिनः अचिञ्जः ( भिद् छिद्-लङ् सिप् ) यहां  
हल्ङ्वाप्० से हुप् सिप् के लोप को प्रत्ययलक्षण से मान कर सार्वधातुक परे  
हो जायगा तो रुधादिभ्य इन्म् से इन्म् हो जाता है । सर्वप्रथम भृणोत्सङ्गक  
सु ति सि का लोप तथा णि का लोप होने पर तुम् भादि उक्त विधियाँ नहीं  
सिद्ध होतीं । प्रत्ययलक्षण से सिद्ध हो जाती हैं ।

ये कोई प्रयोजन नहीं हैं । ये तो स्थानिवद्भावन से भी सिद्ध हैं ।

स्थानिवद्भाव से ये सिद्ध नहीं हो सकते । क्योंकि आदेश को स्थानिवद्  
कहा है । और लोप आदेश है नहीं ।

लोप भी आदेश है । कैसे ? जो आदिष्ट किया जाय वही आदेश है ।  
लोप भी आदिष्ट किया जाता है, विधान किया जाता है इस लिये वह भी  
आदेश है । यदि लोप को आदेश नहीं मानेंगे तो दोष भी होगा । यहां पहले  
व्याख्यात अचः परस्मिन् पूर्वविधौ इस सूत्र में बहुत अधिक उदाहरण लोप  
रूप आदेश के ही हैं वे सब गड़ बड़ हो जायेंगे । इस लिये लोप को भी आदेश  
मानना चाहिये ।

अच्छ उहां स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता वहां के लिये यह प्रत्ययलक्षण  
सूत्र कहना चाहिये ।

क च स्थानिवद्भावो नास्ति ।

योऽल्विधिः । किं प्रयोजनम् ।

प्रयोजनं ङी नकारलोपेत्वेन्मिधयः ।

भसंज्ञाङीप्फगोरात्वेषु च दोषः ।

भसंज्ञा ङीप्फगोरात्वेषु च दोषो भवति ।

भसंज्ञायां तावन्न दोषः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न प्रत्ययलक्षणेन भसंज्ञा भवतीति । यद्य 'न ङिसम्बुद्धयोर्'ति ङी नलोपप्रतिषेधः शास्ति । ङीप्यपि नेच विज्ञायते अण्णन्तादकारान्तादिति । कथं तर्हि ? अण् योऽफार इति । फोऽपि नेच विज्ञायते यजन्तादकारान्तादिति । कथं तर्हि यज् योऽकार इति । गोरात्वेऽपि नेच विज्ञायते अमि अचीति । कथं तर्हि अच्यमीति ।

स्थानिवद्भावः कहाँ नहीं हो सकता ?

जो अल्विधि है । अल्वसम्बन्धी विधि में अनल्वविधौ इस वचन से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है इस लिये वहाँ प्रत्ययलक्षण सूत्र की आवश्यकता है । क्या प्रयोजन है ? पूर्वोक्त ङि परे रहते नकार का शेष, इत्, और इम्विधि ।

परन्तु प्रत्ययलक्षण सूत्र में पूर्वोक्त भसंज्ञा, ङीप्, फ और गो राट् के भाव में दोष भी तो है ?

भसंज्ञा में कोई दोष नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञात है कि प्रत्ययलक्षण से भसंज्ञा नहीं होती । यह जो न ङिसम्बुद्धया सूत्र द्वारा ङि परे रहते नलोप का निषेध करते हैं । उस से यह बात सिद्ध होती है । अन्यथा आर्द्रं चर्मन् यहाँ चर्मन्-ङि इस अवस्था में गुणमुल्लङ्घ्य पूर्व सर्वणा० से ङि का लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण से ङि परे हो जायगा तो यच्चि भम् से चर्मन् की भसंज्ञा होकर पद न रहने से नलोप की प्राप्ति ही नहीं रहती । फिर ङि परे रहते नलोप निषेध करना व्यर्थ है । उससे राजपुरुष यहाँ प्रत्ययलक्षण से भसंज्ञा न होगी तो सुबन्त की पद संज्ञा होने से नलोप निर्वाच सिद्ध हो जायगा । सतो निमित्ताभावात् पदसंज्ञाभावः इस पूर्वोक्त दोष का यहाँ यह समाधान हो जाता है । ङीप् में भी दोष नहीं है । क्योंकि टिड्ढाणश्च सूत्र का यह अर्थ नहीं करेंगे कि अण्णन्त जो अकारान्त प्रातिपदिक उससे परे ङीप् होता है यत्कि

प्रयोजनान्यपि तर्हि नैतानि सन्ति । यत्तावदुच्यते टौ नकारलोप इति । क्रियते एतन्न्यास एव, न छि सम्बुद्धयोरिति । इत्थमपि, चक्ष्यत्थेतत्—शाम इत्थे आशासः काविति । इम्विधिरपि हलीति निवृत्तम् ।

यदि हलीति निवृत्तम् । तृणहानि अत्रापि प्राप्नोति ।

एव तर्हि अचि नेत्यनुवर्तिष्यते ।

प्रातिपदिक के अण् का जो अकार उससे परे डाप् होता है । उससे चनाभा जाता चिन्ता यहाँ डाप् न होगा । क्योंकि अण् रूप अकार के वर्ण होने से तदाश्रय कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होगा । यह प्रत्ययग्रहण का प्रयोजन पहले कह चुके हैं कि वर्णाश्रय कार्य में प्रत्ययलक्षण नहीं होता । यही बात फ्र में भी समझ लेनी चाहिये । वहाँ प्राचा फ्र० का यह अर्थ नहीं करेंगे कि यजन्त जो अकारान्त प्रातिपदिक उससे परे फ्र होता है बल्कि यन् का जो अकार उस से परे फ्र होता है । उससे घतण्डी में फ्र न होगा । अकाररूप वर्ण का आश्रयण करने से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा । गो शब्द के आत्व में भी दोष नहीं । आत्व करने वाले औतोमृदासो. सूत्र का यह अर्थ नहीं करेंगे कि अजादि अम् प्रत्यय पर रहते पूर्व पर को आत्व होता है बल्कि अम् सम्बन्धी अच् पर रहते पूर्व पर को एकादश आत्व होता है । उससे गव्यति में आत्व नहीं होगा । क्योंकि अच् रूप वर्ण का आश्रयण करने से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा ।

इस प्रकार तो प्रत्ययलक्षण सूत्र क प्रयोजन भी अन्यथा सिद्ध हो जाते हैं । यह जो छि पर रहते नकारलोप प्रयोजन कहा है उसके लिये न छिसम्बुद्धपा. यह सूत्र बनाया ही हुआ है । आशा. में इत्थ क लिये भी शाम इद्वल्लो. सूत्र पर आशाम. ज्ञानुपस. गानम् यह वाकिक कहेंगे । अनृणट् मे इम्विधि भी सिद्ध हो जायगी । हम तृणह इम् में उतो रुद्विर्लुकि हलि से हलि की अनुवृत्ति नहीं करेंगे । पित् सार्वधातुक पर रहते तृणह का इम् कह देंगे । उससे तित् आदि पित् सार्वधातुक का लोप होने पर भी उसको स्थानित् मान कर इनागम हो जायगा ।

यदि तृणह इम् में हलि की अनुवृत्ति नहीं करेंगे तो तृणहानि ( तृणह-लोट् आट् सिप् ) में अजादि पित् सार्वधातुक पर रहते भी इनागम प्राप्त होगा ।

तो फिर नान्यस्तस्याधि पिति सार्वधातुक से अचि न की अनुवृत्ति करेंगे उसका अर्थ होगा—अजादि पित् सार्वधातुक पर रहते इनागम नहीं होता उससे तृणहानि मे इम् नहीं होगा ।

न तर्हीदानीमय योगो वक्तव्यः । वक्तव्यश्च । किं प्रयोजनम् । प्रत्यय गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात् । शब्द गृहीत्वा यदुच्यते तत् प्रत्ययलक्षणेन मा भूदिति । किं प्रयोजनम् । शाभना द्यपदोऽस्य ब्राह्मणस्य सुदपद् ब्राह्मणः । 'सोर्मनसी अलो-मोपसी' इत्यप स्वरो मा भूत् ।

न लुमताङ्गस्य ॥१॥१६३॥

लुमति प्रतिषेधे एकपदस्वरस्योपसख्यानम् ।

लुमति प्रतिषेधे एकपदस्वरस्योपसख्यानं कर्तव्यम् । एकपदस्वरे च लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम् ।

ता क्या फिर यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये । हम तो समझते हैं कि बनाना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? प्रत्यय का नाम लेकर 'ता' कार्य कहा गया है वही प्रत्ययलक्षण है । जो प्रत्यय अप्रत्यय साधारण शब्द का लेकर कार्य कहा गया है वही प्रत्ययलक्षण न हो । स्थानिवद्भावे से सिद्ध होने पर यह सूत्र नियमार्थ है कि जहां प्रत्यय का असाधारण रूप आध्रीयमाण है वही प्रत्ययलक्षण होगा । 'ता' तो प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों के साधारण रूप का आध्रयण है वही प्रत्ययलक्षण न होगा । उससे शोभना द्यपदोऽस्य ब्राह्मणस्य त सुदपद् ब्राह्मण यद्वा बहुमीहि समास में शोभन (४) तस द्यपद् तस इस अवस्था में सुतो वासुप्रातःशब्दको से एक रुप तस को प्रत्ययलक्षण से मान कर सुदपद् यह असम्भन नहीं बनेगा ता सोर्मनसा अगेनोपसा स विधायमान उत्तरपद आशुदात्त स्वर नहीं होगा । यह इष्ट सिद्ध हो जायगा । क्योंकि सोर्मनसा० सूत्र में अनिनननन् प्रहणान्यर्थवता चानयन च तदन्तविधि प्रयोज्यति इस परिभाषा बल से नन् और अस ये अर्थवान् या अनर्थक प्रत्ययाप्रत्ययसाधारण शब्द लिये गये हैं । अत् प्रत्यय भी हो सकता है और प्रत्ययभिन्न भी । केवल प्रत्यय का ही असाधारण रूप यद्वा आध्रीयमाण नहीं है । इस लिये लुप्त अस वाले मुग्पद् शब्द में स्थानिवद्भावे उत्तरपदत्वं हात हुए भी प्रत्ययलक्षण से असम्भत्व न होगा तो उत्तरपद आशुदात्तस्वर न होकर नञ्नुभ्याम् से उत्तरपद अन्तोदात्त स्वर सिद्ध हो जायगा ।

लुमान् के प्रत्ययलक्षण प्रतिषेध में एकपदाश्रय स्वर में भी प्रत्ययलक्षण का निषेध कहना चाहिये । अर्थात् एक पद के स्वर में 'ता' लुमान् शब्द से प्रत्यय लुप्त हुआ है वही भा प्रत्ययलक्षण नहीं होता ऐसा कहना चाहिये ।

१ स्वर का कार्य अवाधिकाराय न होने से वही न लुमताङ्गस्य यह निषेध



क्रिमयिदोषेण ?

नेत्याह ।

सर्गामन्त्रितसिज्जुक्स्वरवर्जम् ।

सर्वस्वरमामन्त्रितस्वरं सिज्जुक्स्वरं च वर्जयित्वा । सर्वस्वर—  
सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः । 'सर्वस्य सुपी'त्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात् ।  
आमन्त्रितस्वर—सर्पिरागच्छ । सप्तागच्छत् । 'आमन्त्रितस्य चे'त्याद्यु-

क्त्या सामान्यतया सभी एकपद के स्वरो में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहना  
चाहिये ?

नहीं । सर्वस्वर आमन्त्रितस्वर और सिज्जुक्स्वर को छोड़ कर ।

सर्वस्वर जैसे—सर्वस्तोम, सर्वपृष्ठः । ( सर्व, स्तोम, पृष्ठं वा यस्य स. ) यहाँ  
घटुर्माहिसमास में घटुर्माही प्रत्यया पूर्वपदम् से होने वाला पूर्वपद प्रत्यय स्वर  
सर्वस्य सुप् से सुप् पर विहित आगुदात्त है । समास में विभक्ति का लुक् हो  
जाता है । उससे यह लुमान् शब्द से प्रत्यय का भदर्शन है । सुप् पर न रहने से  
सर्व इस एकपद का विधायमान आगुदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता । एकपदस्वर  
में प्रत्ययलक्षण का निषेध सर्वस्वर को छोड़ कर होगा तो यहाँ प्रत्ययलक्षण से  
सुप् पर मान कर हो जाता है । सर्वस्तोम, सर्वपृष्ठ में प्रत्ययलक्षण होकर जिसमें  
आगुदात्त हो मके रूप लिए एकपद के स्वर विषयक प्रत्ययलक्षणनिषेध में सर्वस्वर  
को छोड़ा गया है ।

आमन्त्रितस्वर जैसे—सर्पिरागच्छ । सप्तागच्छत् ( सर्पिस्-सु । सप्तान्-जम् )  
यहाँ सर्पिस् सप्तान् शब्दों के सम्बोधन में विभक्ति का लुक् हुआ है । वह लुमान्  
शब्द में प्रत्यय का भदर्शन है । उससे आमन्त्रित (=सम्बोधन प्रधान) पर न

प्राप्त नहीं होता इसी लिये यह पूर्वपदप्रत्यय स्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहा जा  
रहा है । एकपद स्वर में ही प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से द्विपदप्रत्यय स्वर में  
प्रत्ययलक्षण हो ही जायगा । उससे दृष्टि तिष्ठति यहाँ तिद्ध भक्तिरु, ने विधीयमान  
अतिरु ने परे 'त' से निधान द्विपदप्रत्यय है इन लिये दधि ने परे लुप्न दुए गु में  
प्रत्ययलक्षण हो जायगा ता दहि के पद बन जाने से उमम पर तिष्ठति को निधान  
निद्ध हो जाता है । इसी प्रकार अच्छे रविधौ यह आय आनि वाला वार्तिक भी  
अत्र विधाय सर्व में बाहर होने के कारण प्रत्ययलक्षण निषेध की अप्राप्ति में विधान  
दिया गया मानसता चाहिये ।

दात्तत्वं यथा स्यात् । सिञ्जलुस्वर—मा हि दाताम् । मा हि धाताम् ।  
'आदिः सिचोऽन्यतरस्यामि'त्येष स्वरो यथा स्यात् ।

किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनं निनिक्लिप्तिकिं स्वराः ।

निनिक्लिप्त्स्वरा लुकि प्रयोजयन्ति । गर्गा वन्ता । यिदा उर्वाः ।

रहने से दशाध्यायस्य आनन्वितस्य च इस सूत्र से सिचिस् मप्त् आदि एकपद को विधीयमान आणुदात्तस्वर नहीं प्राप्त होता । एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का प्रतिबंध आनन्वितस्वर को छोड़ कर होगा तो यहाँ प्रत्ययलक्षण से आनन्वित पर मान कर हो जाता है ।

सिञ्जलुस्वर जैसे—मा हि दाताम् । मा हि धाताम् । ( माङ् हि दा धा-  
सिञ्ज लुङ् तस् तान् ) यहाँ दा धा धातुओं से लुङ् में अडागम निषेध क लिये  
माङ् का योग है । तिङ्ङितिङ् से निरात रोकने क लिये हि इङ्ङ का योग है ।  
हि च सूत्र से तिङ् के निरात का निषेध होता है । गातम्यानुपा० से सिञ्  
का लुङ् हुआ है । सिञ् पर न रहने से यदि सिचोऽन्यतरस्याम् से विधीयमान  
दा धा आदि एकपद को आणुदात्तस्वर नहीं प्राप्त होता । एकपदस्वर में  
प्रत्ययलक्षण का निषेध सिञ्जलु स्वर को छोड़ कर होगा तो यहाँ प्रत्ययलक्षण से  
सिञ् पर मान कर हो जाता है ।

एकपद के स्वर में प्रत्ययलक्षण प्रतिषेध का क्या प्रयोजन है ?

प्रत्यय का लुक् होने पर प्रत्ययलक्षण से प्राप्त जित् नित् कित् इन  
एकपद के स्वरों का न होना प्रयोजन है ।

१. मा हि दाताम्, मा हि धाताम् यहाँ सिञ्जलुस्वर में तो ज्ञापक से भी  
प्रत्ययलक्षण का होना सिद्ध हो जाता है । क्योंकि गातिस्या० सूत्र ने च्लि का लुक्  
न विधान करके जो सिञ् का लुक् विधान किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि  
सिञ्जलु में प्रत्ययलक्षण होता है । अन्यथा च्लि के लुक् में लाघव था । मन्त्रे  
घसङ्करणतः इस उत्तर सूत्र में ले ग्रहण भी न करना पड़ता । लाघव का छोड़ कर  
जो गोरव का आश्रयण किया है वह सिञ् का लुक् होने पर भी सिञ् क कार्य करने में  
ही ज्ञापक हो सकता है ।

उष्प्रीया वामरज्जु । न्निर्तीत्याद्युदात्तत्वं मा भूदिति । इह चात्रय-  
'न्नि' इत्यन्तोदात्तत्वं मा भूदिति ।

पथिमयाः सर्वनामस्थानं लुकि ।

पथिमयो सर्वनामस्थाने लुकि प्रयोजनम् । पथिमयो सर्वनाम-  
स्थाने लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति उक्तव्यम् । पथिप्रियो  
मथिप्रिय । पथिमयो सर्वनामस्थाने इत्येष स्वरो मा भूदिति ।

त्रि स्वर त्रैम—गर्गा यस्या । विदा उवा उष्प्रीया वामरज्जु । (गगस्थ उत्पश्य  
च गात्राप्त्यानि बहूनि ) यदा गगादि दन्त गग वत्स शब्दाः स प्रथमायद्वयचन  
त्रस् पर रहत यनना स यन् का लुक् दुभा है । उसको प्रत्ययलक्षण स मान  
कर निम्न यन् पर हा जायगा ता नित्यादिर्नियम् स गग वत्स का भावुदात्त  
स्वर प्राप्त होता है । एकपद के स्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहन स नहीं  
होता हुआ प्रथम विदा उवा ( गिरिस्थ उत्पश्य च गात्राप्त्यानि बहूनि ) यदा  
विदादि अन्तप्रत्ययान्त द्विद उर्बे शब्दाः स यन् पर रहत यननाथ स यन् का  
लुक् दुभा है । उसको प्रत्ययलक्षण स मान कर निम्न पर हा जायगा ता नित्यादिर्नि-  
यम् स भावुदात्त प्राप्त होता है । एकपदस्वर स प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने  
स नहीं होता ।

उष्प्रीया इव उष्प्रीया । वामरज्जुरव वामरज्जु । यदा उष्प्रीया वामरज्जु  
शब्दाः स इराध में दन प्रागल्भ्या स हुण क् प्रत्यय का दन्तयादिभ्यः स लुक्  
दुभा है । उसको प्रत्ययलक्षण स मान कर निम्न पर हा जायगा ता नित्यादि-  
स भावुदात्त प्राप्त होता है । एकपदस्वर में प्रत्ययलक्षण का निषेध कहन स  
नहीं होता ।

अथ यदा त्रि स यन् प्रागल्भ्य न हा इस लिए भी एकपदस्वर में  
प्रत्ययलक्षण का निषेध कहा है । अत्राप्यानि बहूनि इमं भर्गु में इत्यादिभ्यः से  
इक् प्रागल्भ्या अत्रि शब्द स यन् पर रहत अदिगुणः स इक् का लुक् दुभा है ।  
उसको प्रत्ययलक्षण स मान कर निम्न पर हा जायगा ता नित्यादिभ्यः स भावुदात्त  
प्राप्त होता है । एकपदस्वर स प्रत्ययलक्षण का निषेध कहन स नहीं होता ।

अथ यदा त्रि स यन् प्रागल्भ्य न हा इस लिए भी प्रत्ययलक्षण का  
निषेध प्रयोजन है पथिप्रय मथिप्रिय ( पथा मन्था प्रिया दन्त्य ) यदा यदुर्वादि  
सनाम में पाप्म मथिप्रय पर यु विभक्ति का लुक् दुभा है । उस प्रत्ययलक्षण स मान

अहो रविधौ ।

अहो रविधाने लुमता लुसे प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम् ।  
अहर्द्दाति । अहर्भुङ्क्ते । रोऽसुपीति प्रत्ययलक्षणेन प्रतिषेधो मा  
भूदिति ।

उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ ।

उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ लुमता लुसे प्रत्ययलक्षणं न भवतीति

कर सर्वनामस्थान परे हो जायगा तो पथिमधो. सर्वनामस्थाने से आद्युदात्त प्राप्त होता है । पूर्वपदप्रकृतिस्वर में वही सुनाई देना चाहिये, किन्तु प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से आद्युदात्त न होकर अन्तोदात्त पथि मथि शब्द ही पूर्वपदप्रकृति-स्वर में रह जाते हैं ।

अहन् शब्द क नकार को रेफ विधान करने में भी लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण का निषेध कइना चाहिये । अहर्द्दाति । अहर्भुङ्क्ते ( अहन्-सु ) यहा अहन् शब्द से परे स्वमोर्नपुंसकात् से सु का लुक् हुआ है । उसको प्रत्ययलक्षण से मान कर सुप् परे हो जायगा तो रोऽसुपि से विधीयमान रेफ का असुपि यह निषेध प्राप्त होता है । प्रत्ययलक्षण का निषेध कहने से सुप् परे न होगा तो रेफ सिद्ध हो जाता है ।

उत्तरपद को पद बनाने में भी लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में

१. रोऽसुपि में असुपि यह प्रत्ययप्रतिषेध माना गया है । पर्युदात्त नहीं । प्रत्यय में अर्थ होगा—अहन् के नकार को सुप् परे रहने रेफ नहीं होता । और पर्युदात्त में अर्थ होगा—अहन् के नकार को सुप्भिन्न परे रहने रेफ होता है । पर्युदात्त मानने में यह दोष होगा कि दीर्घमह यस्मिन् निदाघे स दीर्घाहा निदाघ यहा सुप्भिन्न निदाघ शब्द परे रहते भी रेफ हो जायगा तो दीर्घाहनिदाघ. ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है । वस्तुतः यहा अहन् सूत्र से नकार को हत्व इष्ट है । क्योंकि दीर्घाहन् से परे सु का हल्ङ्गाप् से लोप होकर प्रत्ययलक्षण हो जायगा तो सुप् परे हो जाने में असुपि यह निषेध लग जायगा । उससे रेफ न होकर हत्व होगा । अहर्द्दाति यहा तो स्वमोर्नपुंस्कात् से सु का लुक् हुआ है । वह लुमान् शब्द से प्रत्यय का अदर्शन है इस लिये अहो रविधौ इस वचन से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा तो सुप् परे न रहने में रेफ ही होगा । अहरहो रौति । यहा तो अहन् अहन्-रौति इस अवस्था में रोऽसुपि से प्राप्त रेफ रूपरात्रिरथन्तरेषु हत्व वाच्यम् इस वचन द्वारा शब्दित हो जाता है । यहा एप् आदि शब्द रेफमान के उपलक्षण हैं । पक्षान्तर में तो दूसरा समागम द्वैतना होगा ।

यत्तद्व्यम् । परमवाचा परमवाचे । परमगोदुहा परमगोदुहे । परमद-  
लिहा परमद्वलिहे । पदस्येति प्रत्ययलक्षणेन कुत्वादीनि मा भूवन्निति ।

अपदादिविधायिति किमर्थम् ?

दधिवेचौ दधिसेचः । सात्पदाद्यो'रिति प्रतिषेधो यथा स्यात् ।

यद्यपदादिविधावित्युच्यते उत्तरपदाधिकारो न प्रकल्पेत ।

प्रायस्लक्षण का निषध कहना चाझिये । पदादिविधि को छोड़ कर । जहाँ पद क  
भादि भक्षर का कोई कार्य करना हो जहाँ उत्तरपद में प्रायस्लक्षण का निषध  
नहीं होता । अर्थात् यहाँ उत्तरपद प्रत्ययलक्षण से पद बना नहीं रहता है । परमवाचा  
परमवाचे । परमगोदुहा परमगोदुहे । परमद्वलिहा परमद्वलिहे । ( परमा चासौ  
याक, परमश्चासौ गाधुक, परमश्चासौ इवलिह् ) यहाँ कर्मधारय समास में उत्तरपद  
वात् गाधुह, इवलिह् को प्रायस्लक्षण से सुपन्त मान कर क्रम से चा उ',  
दादर्शनाय, दाड ■ दुरर घरर वरर प्राप्त होते हैं । उत्तरपद के पदर में  
प्रायस्लक्षण का निषध कहने से नहीं जाने । दा ड विभक्ति पर रहने तो नसझा  
दान य कुत्वादि प्राप्त हो नहीं ।

पदादिविधि को क्यों छोड़ा गया ?

विमल दशमची, दशमेर यहाँ पठ्यसमास में उत्तरपद सेच शब्द  
का प्रायस्लक्षण न सुपन्त मान कर पदादि सकार हो जायगा तो सावशयो  
न परनिषेध सिद्ध हो जाता है । दशमची यहाँ पठ्यासमास है । उपपदसमास  
नहीं । पदल निचा इत मची । इस प्रकार निष्पपद सिप् धातु में विरू  
प्रापय करक गुग हाकर सेची बनाया । फिर दान सेची दशमची यह पठ्य  
समास किश । दश निम्नर इस प्रकार उपपदसमास में विरू प्रापय करके  
बनाने में तो गतिघरधरगनो हृष्टि गद समाकरण प्राह् सुपन्त इस परिभाषा  
क नियम में सुपुनति से पूरे सङ्ग इस विरू प्रापयान् दृष्ट-य स हो दधि का  
समास हो जान में भेष् दृष्ट पद न बनगा तो पदादि सकार के अकार में  
पदादिविधि से परनिषध न हो सकेगा ।

यदि उत्तरपद के पदर में पदादिविधि का छोड़ कर प्रायस्लक्षण का  
निषध कहत हैं तो उत्तरपदाद यह समासपरनिषधक उत्तरपद के अधिकार  
पाठा प्रकरण ही पडवह हो जायगा । क्योंकि यहाँ भी उत्तरपद के भादि भक्षर

तत्र को दोषः ?

‘कर्णो वर्णलक्षणादि’त्येवमादिविधिर्न सिध्यति ।

यदि पुनर्नलोपादिविधौ प्लुत्यन्ते लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षण न भवतीत्युच्येत ।

नैवं शक्यम् । इह राजकुमार्यौ राजकुमार्यः इति शाकलं प्रसज्येत ।

नैव दोषः । यदेतत् सिति शाकलं नेति । एतत् प्रत्यये शाकलं नेति वक्ष्यामि ।

को कोई विधि नहीं करनी इस लिये प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर उत्तरपद नहीं बनेगा । उत्तरपदादि, सूत्र का अर्थ है उत्तरपद के आद्युदात्त का यहाँ से अधिकार किया जाता है ।

वहाँ क्या दोष होगा ?

कर्णो वर्णलक्षणात् इत्यादि सूत्रों से कर्ण आदि उत्तरपद को विधीयमान आद्युदात्त स्वर नहीं सिद्ध होगा ।

यदि उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ की जगह नलोपादिविधौ प्लुत्यन्ते ऐसा कह दे तो केसा रहेगा ? इस वचन का अर्थ होगा—‘नलोप’ प्रातिपदिकान्तस्य से विहित नलोप से लेकर वाक्यस्य टे प्लुत उदात्त इस प्लुतप्रकरण की समाप्ति तक सब विधियों में लुमान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण नहीं होता । उस से ओः कुः आदि विधियों के तद्-तर्गत हो जाने से परमराचा आदि में प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर कुत्वादि न होंगे ।

ऐसा नहीं कह सकते । तत्र तो राजकुमार्यौ राजकुमार्यः यहाँ उत्तरपद कुमारी में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होकर कुमारी पदान्त बन जायगा तो इकोऽसवर्णे शाक-यस्य ह्रस्वसे शाकल एवं प्रकृतिभाव प्राप्त होगा । इकोऽसवर्णे० यह सूत्र नलोपादि प्लुत्यन्त विधियों से बाहर है ।

यह कोई दोष नहीं । इकोऽसवर्णे० सूत्र पर जो सिति शाकलं न यह वचन पड़ा है उसकी जगह प्रत्यये शाकलं न ऐसा पठ देंगे । उमरा अर्थ होगा—न केवल सित् प्रत्यय पर रहते प्रकृतिभाव का निषेध होता है, बल्कि प्रत्ययमात्र के पर रहते प्रकृतिभाव का निषेध होता है । उससे राजकुमार्यौ राजकुमार्यः में औ, जस् प्रत्यय पर रहते प्रकृतिभाव का निषेध होकर दण् हो जायगा ।

यदि प्रत्यये शाकल नेत्युच्यते, दधि अधुना । मधु अधुना ।  
अत्रापि प्राप्नोति ।

प्रत्यये शाकल न भवति, कतरस्मिन्, यस्माद्यः प्रत्ययो विहित  
इति ।

इह तर्हि परमदिवा परमदिने । दिव उदित्युच्य प्राप्नोति ।

अस्तु तर्ह्यविशेषेण ।

ननु चोक्तम् उत्तरपदाधिकारो न प्रकल्पेतेति ।

वचनानुत्तरपदाधिकारो भविष्यति ।

यदि प्रत्यय शाकल न पड़े तो दधि अधुना मधु अधुना यहा अधुना प्रत्यय  
पर रहते भा प्रकृतिभाज का निषेध प्राप्त होगा ।

प्रत्यय शाकल न भवात यह निषेध किस प्रत्यय के परे रहते लगेगा । निम  
स जो प्रत्यय विधान किया गया होगा, न कि प्रत्यय प्रत्यय के परे रहते । राजकुमारी  
में तो भी प्रत्यय राजकुमारी स ही विधान किया गया है इस लिये वही प्रकृतिभाज  
का निषेध हो जायगा । किन्तु दधि अधुना में अधुना प्रत्यय दधि स नहीं किया  
गया है इस लिये वही प्रकृतिभाज का निषेध नहीं हुआ ।

तो फिर परमदिवा परमदिने ( परमा दी ) यही कर्मधारयमभास में  
उत्तरपद दिव शब्द में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होकर दिव् पदान्न बन जायगा  
ता दिव न्त स उकार प्राप्त होता है । क्योंकि दिव उन् भी नगोशादभ्युच्यन्त  
विधियों स बाहर है ।

अत्रां ता नगोशादिविधौ व्युत्पन्ना यह वचन न मान कर सामान्य रूप से  
उत्तरपद न वाचशादिविधौ यहा वचन मान लायिये ।

उस वचन में उत्तरपदाधिकार की भविष्यि का जो दोष कहा था उसका क्या  
समाधान है ?

वचनसामर्थ्य में उत्तरपदाधिकारविहित कायों का सिद्धि हो जायगी ।  
यदि उत्तरपदाधिकारविहित उत्तरपद के आगुशाकस्वर में प्रत्ययलक्षण का  
निषेध हो जाय तो उत्तरपद न मिलन स किसे आगुशाक करेंग । इस लिये भी और  
वन्तु पदादि शब्द होने में भी उत्तरपदाधिकार में प्रत्ययलक्षण का निषेध न होगा ।  
एता वन्तुपदादि इत्यादि इतरविधायक मूल उत्तरपद के भादि भक्षर को ही

तत्तर्हि वक्तव्यम् ।

न वक्तव्यम् । अनुवृत्तिः करिष्यते । इदमस्ति 'यस्मात्प्रत्यय-  
विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' । 'सुप्तिङन्तं पदम्' यस्मात् सुप्तिङ्विधि-  
स्तदादि सुवन्तं तिङन्त च । 'नः क्ये' । नान्त क्ये पदसंज्ञ भवतीति ।  
यस्मात् क्यविधिस्तदादि सुवन्तं च । सिति च । पूर्व पदसंज्ञ भवति ।  
यस्मात् सिद्धिविधिस्तदादि सुवन्तं च । स्वादिष्वसर्वनामस्थाने पूर्व  
पदसंज्ञ भवति । यस्मात् स्वादिविधिस्तदादि सुवन्तं च । यचि भम् ।  
यजादिप्रत्यये पूर्व भं भवति । यस्माद् यजादिविधिस्तदादि सुवन्तं च ।

इदं तर्हि परमवाक्य । असर्वनामस्थाने इति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

अस्तु तस्या प्रतिषेधः या स्यादौ पदमिति पदसंज्ञा । या तु  
सुवन्त पदमिति पदसंज्ञा सा भविष्यति ।

उदात्त करत है । स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् इस परिभाषा से झुक्लर्ण,  
इत्यादि में ककार व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने से स्वर पदादिविधि हो  
जाता है ।

तो फिर उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ यह वचन कह दिया जाय ?

कहने की कोई आवश्यकता नहीं । हम परमवाचा परमवाचे इत्यादि का  
समाधान अन्य ढंग से करेंगे । वह यह है कि अनुवृत्ति की जायगी । पहल  
यस्मा प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् यह सूत्र है । इसके बाद सुप्तिङन्त पदम् है ।  
उसमें यस्मात्प्रत्ययविधि० से तदादि ग्रहण की अनुवृत्ति करके जिसमें सुप् तिङ  
क्रिये जायें वह, और तदादि वह है आदि में जिसके ऐसे सुवन्त तिङन्त भी  
पद संज्ञक होते हैं ऐसा अर्थ करेंगे । आगे न क्ये सिति च, स्वादिष्वसर्वनाम-  
स्थाने, यचि भम् इन सब सूत्रों में तदादि ग्रहण की अनुवृत्ति होगी तो यचि भम्  
का अर्थ होगा—यादि अजादि प्रत्यय पर रहते पूर्व की तथा जिससे यादि अजादि  
प्रत्यय क्रिये हैं वह है आदि में जिसके ऐसे सुवन्त की भी भसंज्ञा होती है ।  
उससे परमवाचा आदि में टा पर रहते पूर्व सुवन्त की भसंज्ञा होकर पदसंज्ञा की  
बाधा हो जायगी तो कुत्वादि न होंगे ।

फिर भी परमवाक्य यहां प्रत्ययलक्षण से ॥ सर्वनामस्थान पर रहते  
असर्वनामस्थाने यह निषेध हो जायगा तो स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥ सुव त की  
पदसंज्ञा नहीं प्राप्त होती ।

हो जाये उस पदसंज्ञा का निषेध, जो स्वादिष्वसर्व० से होती है । जो तो



सत्येतत् प्रत्यये आसीत् । अनया भविष्यत्यनया न भविष्य-  
तीति । लुप्त इदानीं प्रत्यये यावत् एवाऽधेः स्यादौ पदमिति पदसंज्ञा,  
तावत् एवाऽधेः सुबन्त पदमिति । अस्ति च प्रत्ययलक्षणेन सर्वनाम-  
स्थानपरतेति कृत्या प्रतिषेधाच्च यत्नोपायो भवन्तीति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

नाप्रतिषेधात् ।

मायं प्रसज्यप्रतिषेधः सर्वनामस्थाने नेति । किं तर्हि पशुंदासोऽयं  
यदन्यत् सर्वनामस्थानादिति । सर्वनामस्थाने अव्यापारः । यदि केनचित्  
प्राप्नोति तेन भविष्यति । पूर्वेण च प्राप्नोति ।

अप्राप्तेर्ना ।

अयम् अनन्तरा या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते । कुत एतत् ।  
'अनन्तरस्य त्रिविधा भवति प्रतिषेधो ये'ति । पूर्वा प्राप्तिरप्रतिषिद्धा तथा  
भविष्यति ।

परमवाक्ये मे परम मु वाच् मु=परमवाक्य । परमवाक्य-मु यहाँ सुबन्त पदम् से  
परमवाक्य ही होने का ही पदसंज्ञा है यह रह जायगी ।

मु प्रत्यय की विद्यमानता से तो यह कहा जा सकता था कि इसमें पदसंज्ञा  
होगी, इसमें न होगी । अब जब कि मु प्रत्यय लुप्त हो गया है परमवाक्य यह  
अवधि दानी का धर्म्म का अन्तर्गत की भी और गुप्तिऽन्तर्गत की भी समान  
है । उस अवस्था में एवाऽधे की भी प्राप्ति हो जाती है । लुप्त हुए मु प्रत्यय  
को प्रत्ययलक्षण से मान कर सर्वनामस्थान पर हो जायगा तो निषेधाच्च यत्नोपायो  
नान्त इस परिभाषा के से असर्वनामस्थान यह निषेध प्राप्त होगा ही ।

सर्वनामस्थान को हम प्रसज्यप्रतिषेध नहीं मानेंगे जिससे यह भयं हो  
कि सर्वनामस्थान पर रहते पूर्व की पदसंज्ञा नहीं होती । भविष्य पशुंदास मान  
कर यह भयं हमें कि सर्वनामस्थाननिष्ठ प्रत्यय पर रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती  
है । पशुंदास मानने से सर्वनामस्थान में पदसंज्ञा का व्यापार नहीं रहता ।  
उस पक्ष में सर्वनामस्थाननिष्ठ में पदसंज्ञा का व्यापार रहेगा । सर्वनामस्थान में  
यदि किसी में प्राप्ति होती है तो हो जायगी । गुप्तिऽन्तर्गत पदम् इस पूर्व सूत्र से  
प्राप्त होता है यह हो जायगी । यदि पश्चात्तर में असर्वनामस्थाने को प्रसज्य  
प्रतिषेध ही मान ले तो भी परमवाक्य में पदसंज्ञा का निषेध न होगा । क्योंकि

ननु चेयं प्राप्तिः पूर्वा प्राप्तिं बाधेत ।

नोत्सहते प्रतिषिद्धा सती बाधितुम् ।

यद्येवं परमवाचौ परमवाच इति सुप्तिटन्तं पदमिति पदसंज्ञा प्राप्नोति ।

एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते । स्वादिषु पूर्वं पदसंज्ञं भवति । ततः सर्वनामस्थाने अयच्चि । पूर्वं पदसंज्ञं भवति । ततो भम् । भसंज्ञं भवति यज्ञादावसर्वनामस्थाने इति ।

अनन्तरस्य विविधा भवात् प्रतिषेधो वा इस परिभाषाबल मे अनन्तर अव्यवहित जो पदसंज्ञा है उसी का भसर्वनामस्थाने से निषेध होगा । व्यवहित पदसंज्ञा का नहीं । स्वादिषु से प्राप्त पदसंज्ञा अनन्तर है । सुप्तिटन्तम् से प्राप्त व्यवहित है । इस लिये स्वादिषु की पदसंज्ञा का निषेध होना पर भी सुप्तिटन्तम् की पदसंज्ञा रह जायगी । वह अप्रतिषिद्ध है ।

स्वादिषु वाली पदसंज्ञा सुप्तिटन्तम् वाली पदसंज्ञा को बाध देने और सर्वनामस्थान में स्वयं निषिद्ध हो जाने तो परमवाक् में कैसे पदसंज्ञा हो सकेगी ?

असर्वनामस्थाने से प्रतिषिद्ध होने वाली स्वादिषु यह पदसंज्ञा सुप्तिटन्तम् इस पदसंज्ञा को कैसे बाध सकती है । जो स्वयं बाध्य है वह दूसरे की बाधक कैसे होगी इस लिये परमवाक् में सुप्तिटन्तम् वाली पदसंज्ञा निबन्ध सिद्ध है ।

इस प्रकार तो परमवाचौ परमवाच यहाँ भी, जस् परे रहते परमवाक् इस सुबन्त की सुप्तिटन्त पदम् से पदसंज्ञा प्राप्त होती है । उससे कृत्वा प्राप्त होगा ।

अच्छा तो योगविभाग करेंगे । स्वादिष्वसर्वनामस्थाने में स्वादिषु इतना एक सूत्र होगा । उसका अर्थ होगा—स्वादिप्रत्यय परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है । इसके बाद असर्वनामस्थाने का अकार यच्चि भम् क यच्चि में मिला कर सर्वनामस्थाने अयच्चि ऐसा सूत्र बनायेंगे । उसका अर्थ होगा—यादि अजादि भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होती है । या यौ कहिये कि यादि अजादि सर्वनामस्थान परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा नहीं होती । उससे परमवाचौ परमवाच. परमवाचम् इन सब अजादि सर्वनामस्थानों के परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा न होगी । केवल परमवाक् यहा इत्यादि सु सर्वनामस्थान के परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा होगी । यह कितने लाघव से दृष्ट सिद्ध किया गया है । इसके बाद भम् यह सूत्र

यदि तर्हि सावपि पदं भवति । एचः प्लुतविकारे पदान्तग्रहणं चोदयिष्यति । इह मा भूत् भद्रं करोषि गौरिति । तस्मिन् क्रियमाणेपि प्राप्नोति ।

वान्यपदयोरन्त्यस्येत्येवं तत् ।

इह तर्हि दधिसेचः<sup>१</sup> 'सात्पदायो'रिति पदादिलक्षणः पत्वप्रतिषेधो न प्राप्नोति ।

मा भूदेय पदस्यादिः पदादिः पदादेर्नेति । रुधं तर्हि पदादादिः पदादिः पदादेर्नेत्येवं भविष्यति ।

होना । जिसका अर्थ होगा—सर्वनामस्थानभिन्न यादि अत्रादि परे रहने परे पूर्ण की भसजा होती है । पदसज्ञा में नप् का सम्बन्ध यनि के साथ है । भगना में सर्वनामस्थान के साथ है । इस प्रकार न पद सज्ञाओं का संकल्प हट कर कहीं दोष न होगा ।

उक्त प्रकार से यदि गु सर्वनामस्थान परे रहते भी पूर्ण की पदसज्ञा मानते हैं तो एनोऽप्रशम्यादुगादपूर्व पूर्ण श्रयादुत्तरग्येदुती इस मूल में जो एचो को इकार उकार रूप प्लुतविकार करने में पदान्त ग्रहण किया है जिससे नद करोषि गोः यही गोसम्बन्ध औकार के पदान्त न होने से वही उकार रूप प्लुत विकार नहीं होता यह भव्य पदान्त ग्रहण करने पर भी प्राप्त होता है । क्योंकि गोः यही गु परे रहने गो की पदसज्ञा हो जायगी गो औकार के पदान्त हो जान से प्लुत-विकार प्राप्त होता है ।

समस्त वाक्यस्थ पदों के अन्त में आने वाले एंओं को वह प्लुतविकार कहा गया है । गोः यही गो का औकार पदान्त होने पर भी भद्र करोषि गोः इस समस्त वाक्य के अन्त में नहीं है । वाक्य के अन्त में तो विगर्ग है । इस विवे गु पर रहने पदसज्ञा होने पर भी गो में प्लुतविकार न होगा ।

विर भी दशमिती दधियेच यही औ जम् पर रहने उत्तरपद मेन् अन्त की पदसज्ञा न होने से पद का भावि सज्ञा को मान कर देने से पदा तादायो से पद का निश्चय नहीं प्राप्त होता ।

१। तादायो, मे पदस्यादि पदादि पदादेः ( पद का भावि जो गकार ) इस

१. उत्तरपदार्थे इमं वार्तिक करहने पर अपवादविधी ऐसा कहने में नद दोष नहीं आता । वार्तिक का प्रकाशमान होने पर दोष है ।

नेय शक्यम् । इहापि प्रसज्येत । ऋक्षु वाक्षु कुमारीषु किशोरी-  
प्यति ।

सात्प्रतिपद्यो ज्ञापक स्वादिषु पदत्वेन येषां पदसङ्गा, न तेभ्य  
प्रतिपद्यो भवताति ।

इह तद्दि बहुसचौ बहुसेच । बहुयय प्रत्यय । तत्र पदादादि  
पदादि पदादन्त्युच्यमानेऽपि न सिध्यति ।

एव तद्दि ।

उत्तरपदत्वं च पदादिष्वौ ।

लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं भवतीति वक्ष्यामि । तन्नियमार्थं  
भविष्यति पदादिविधावपि । न पदान्तविधाविति ।

प्रकार पठो समास मान कर दधिसचां म पदत्वं न हान स पदानपथ न हाव  
किन्तु पठात् आदि पदात् पठात् ( पद स पर ना आदि सकार ) इस प्रकार  
पञ्चमी समास मान कर पदानपथ हो जायगा । क्योंकि दधिसचौ म णि इस  
पद पद स परे सेच का आदि सकार है ।

ऐसा नहीं हो सकता । सापदागो म पठात् पठात् इस प्रकार पञ्चमी  
समास नहीं मान सकते । ऐसा मानन पर ऋक्षु वाक्षु कुमारापु किशोरापु यदा भी  
स्वादिष्वसर्वं स पदसङ्गा ऋक्ष वाक्ष आदि स पर सुष का आदि सकार होन  
स पदप्रतिपद्यो प्राप्त होगा ।

सात्प्रतिपद्यो म सात् प्रत्यय पर रहत ना पदानपथ किया है वह इस  
वाक्य का ज्ञापक है कि स्वादिष्वसर्वं स निनकी पदसङ्गा है उनस पर सकार का  
पदानपथ नहा हाता । अन्यथा आग्निसात् यदा भी सात् प्रत्यय पर रहत अग्नि  
शब्द की स्वादिष्वसर्वं स पदसङ्गा हान स पायो ॥ ही पदानपथ सिद्ध है  
ता सात् ग्रहण व्यर्थ है ।

फिर भी बहुसचौ बहुसेच ( इपदसमाप्तौ सचौ बहुसचौ ) यदा सेच  
शब्द स इपदसमाप्ति अर्थ म विभाषा सुषो बहुच पुरस्तात् स बहुच प्रत्यय  
हुआ है । वह प्राप्तपदिक स पूर विहृत होता है । प्रत्यय है । पद नहीं है ।  
उसस परे सच क सकार को पदादि पठादि इस प्रकार पञ्चमी समास मानन  
पर भी पदानपथ नहा प्राप्त हाता ।

अच्छा तो उत्तरपदत्वं च पदान्तविधौ प्रत्ययलक्षणं भवति । ऐसा वचन कह



इहाभूवन्निति प्रत्ययलक्षणेन जुस्भावः प्राप्नोति ।

सिचि जुसोऽप्रसङ्ग आकारप्रकरणात् ।

सिचि जुसोऽप्रसङ्गः । किं कारणम् । आकारप्रकरणात् । आत इति वर्तते तन्नियमार्थं भविष्यति । आत एव सिज्जुगन्तान्नान्यस्मादिति ।

इह च इति युष्मत्पुत्रो ददाति । इत्यस्मत्पुत्रो ददाति इत्यत्र प्रत्यय-लक्षणेन युष्मदस्मदोः पष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वाभावौ इति धांनायादयः प्राप्नुवन्ति ।

युष्मदस्मदोः स्थग्रहणात् ।

स्थग्रहणं तत्र क्रियते । तच्छ्रूयमाणविभक्तिविशेषणं विज्ञास्यते ।

अभूवन् ( भू-सिच् लुङ् शि ) यहाँ भू धातु से लुङ् में गतिस्था० से सिच् का लुङ् हुआ है । उसे प्रत्ययलक्षण से मान कर सिच् परे हो जायगा तो सिज्जन्तविदिभ्यश्च से शि को जुस् आदेश प्राप्त होता है ।

अभूवन् में सिच् का मान कर जुस् का अप्रसङ्ग है । जुस् की अप्राप्ति है । क्योंकि भाकार का प्रकरण है । आत यह सूत्र नियमार्थ है कि सिच् का लुङ् पर यदि शि को जुम् हो तो भाकारान्त धातु से ही हो । भू के भाकारान्त न होगा । यदि प्रत्ययलक्षण से सिच् मान कर सिज्जन्तविदि-तो आत यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है । अदु अधु आदि भाक. भी प्रत्ययलक्षण से सिच् मान कर सिज्जन्त० से जुम् हो सकता है । इह लय आतः सूत्र के नियमार्थ होने से अभूवन् में जुम् नहीं होगा ।

इति युष्मत्पुत्रो ददाति, इत्यस्मत्पुत्रो ददाति यहाँ युष्मत् पुत्र युष्मत्पुत्र । अस्माक पुत्र. अस्मत्पुत्रः इस पष्ठीसमास में युष्मद् अस्मद् से परे विभक्ति का लुङ् हुआ है । उसे प्रत्ययलक्षण से परे मान कर युष्मदस्मद पष्ठी० की अनुवृत्ति द्वारा बहुवचनस्य वसतो से वस् नस् आदेश प्राप्त होते हैं । पद से परे युष्मद् अस्मद् को दिखाने के लिये इत शब्द का प्रयोग किया है ।

युष्मदस्मदो. पष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो० इस सूत्र में स्थग्रहण ■ युष्मत्पुत्र. अस्मत्पुत्रः में वस् नस् आदेश नहीं होंगे । सूत्र में स्थग्रहण किया है । उसका यही प्रयोजन है कि विभक्ति के श्रूयमाण होने पर ही वाम् नौ आदि आदेश हो । पष्ठी चतुर्थी द्वितीया विभक्तिस्य युष्मद् अस्मद् को आदेश कहने से उक्त विभक्तियाँ लुप्त होने पर आदेश नहीं होंगे ।

नामि लिलोपात् तस्य चानिघातस्तस्माच्च निघात ।

आमि लिलोपात्तस्य चानिघात तस्माच्च निघात सिद्धो भविष्यति ।

अङ्गाधिकार इटा विधिप्रतिपधौ ।

अङ्गाधिनार इटो विधिप्रतिपधो न सिध्यत । निगमिप । सनि वृत्स । अङ्गस्यताटो विधिप्रतिपधौ न प्राप्नुत ।

ऋमेर्दीर्घत्व च ।

किं च ।

इटश्च विधिप्रतिपधो ।

हाता है । और याचयाम् क अतिङ्न्त न हान स उसस पर चकार इस तिङ्न्त का निघात नहीं प्राप्त हाता । याचयाम् म णिङ्न्त धन धातु स लट् पर रहत कास्त्रयवाचन० स याम् प्रिकरण हुआ है । याम स प्राप्त लट् क लुक का परत्वन बाध कर पड़ल लिट् क स्थान म तिप करक फिर उसका याम स लुक करने स याचयाम् यह प्रत्ययलक्षण स तिङ्न्त धन जाता ह ।

याचयाम् में लिट् क स्थान में तिप करने स पढ़ल ही याम स लिट् का लुक हो याचया ता याचयाम् क तिङ्न्त न हान स उस निघात न हागा और उसस पर चकार इस तिङ्न्त का निघात सिद्ध हा याचया ।

अङ्गाधिकार म प्रत्ययलक्षण का निषध मानन पर इट का विधान और नरध नहा सिद्ध हात । निगमिप ( गम् सन्-लोट सिप ) य ा सन्न्त गम् धातु स लट् में अता ह स हि का लुक करने पर परस्मैपद् पर न रहन स गमरिन् परस्म पन्तु ॥ सन् का इट नहीं प्राप्त हाता । प्रत्ययलक्षण स प स्मैपद् पर मान ता उसका न तुमताङ्गस्य स निषध प्राप्त होता है । इसी तरह सविट्स ( सम् वृत् सन् लोट सिप ) यहा सम् पूर्वक सन्न्त वृत् धातु स वृत्त्य स्थानो ॥ परस्मपद् हाता है । लट् म अतो ह स हि का लुक हान पर परस्मैपद् पर न रहन स न वृत्त्यवृत्त्य स सन् को इट का निषध नहीं प्राप्त हाता । प्रत्ययलक्षण का न तुमताङ्गस्य स निषध हा जाता है इसक अतिरिक्त ऊम् धातु को दाघरर भी नहीं सिद्ध हाता ।

और क्या नहीं सिद्ध होता ?

इट् का विधान और निषध ।

नेत्याह । अदेशेऽयं चः पठितः । क्रमेच्च दीर्घत्वम् । उत्क्राम  
संक्रामेति ।

इह किंचिदङ्गाधिकारे लुप्तता लुप्ते प्रत्ययलक्षणेन भवति । किंचिच्चान्यत्र न भवति । यदि पुनर्न लुप्तता तस्मिन्नित्युच्यते ।

अथ न लुप्तता तस्मिन्नित्युच्यमाने किं सिद्धमेतद् भवति, इटो विधिप्रतिषेधौ क्रमे दीर्घत्वं च ।

यादृ सिद्धम् । न इटो विधिप्रतिषेधौ परस्मैपदेष्वित्युच्यते । कथं

नहीं, ऐसा नहीं । वमर्शपत्तं च यहाँ च शब्द अयुक्त स्थान में पड़ा गया है । उसके स्थान में क्रमश्च दीर्घत्वम् ऐसा पढ़ना चाहिये । उससे समुच्चयमान क्रम् धातु की ठीक प्रतीति होगी । अर्थ यह निकलेगा कि इट् का विधान और निषेध तो अन्यत्र अङ्गाधिकार में सिद्ध नहीं होता और क्रम् धातु में केवल दीर्घत्व नहीं सिद्ध होता । उ नाम, सक्राम । यहाँ उट् सम् पूर्वक क्रम् धातु से लोट् में हि का लुक् होने पर परस्मैपद परे न रहने से क्रम परस्मैपदेषु से क्रम् को दीर्घ नहीं प्राप्त होता । प्रत्ययलक्षण से परस्मैपद परे माने तो उसका न लुप्तताङ्गत्वं से निषेध प्राप्त होता है ।

यहाँ कुछ तो ऐसे कार्य हैं जैसे जिगमिष संविभृत्स उत्क्राम आदि जो अङ्गाधिनारीय हैं फिर भी ये लुप्तान् शब्द से लुप्त प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण से हो रहे हैं । अर्थात् यहाँ न लुप्तताङ्गत्वं यह निषेध नहीं लग रहा । और कुछ ऐसे कार्य हैं जैसे पूर्वोक्त त्रित् त्रित् क्रित् स्वर आदि जो अङ्गाधिकार से बाहर हैं फिर भी वे लुप्तान् शब्द से लुप्त प्रत्यय में प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाने से नहीं हो रहे । इन सब के समाधान के लिये यदि न लुप्तताङ्गत्वं की जगह न लुप्तता तस्मिन् ऐसा सूत्र बना दें तो कैसे रहगा । न लुप्तता तस्मिन् में अङ्गाधिकार का झगड़ा न रह कर उसका अर्थ सब के लिये समान होगा कि लुप्तान् शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय को निमित्त मान कर जो कार्य प्राप्त है चाहे वह अङ्गाधिकार का हो या उससे बाहर का हो प्रत्ययलक्षण से नहीं होता ।

न लुप्तता तस्मिन् बना देने पर भी क्या जिगमिष संविभृत्स उत्क्राम सक्राम ये रूप सिद्ध हो जायग । क्या वहाँ प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं प्राप्त होगा ।

हां, जगश्च सिद्ध हो जायेगे । जिगमिष संविभृत्स में क्रम से इट् का विधान और इट् का निषेध परस्मैपद परे रहते नहीं कहा गया है बल्कि सकारादि



तर्हि । सकारादापिति । तद्विशेषण परस्मैपदग्रहणम् । न यत्न्यपि  
अमेदाघृत्य परस्मैपदेष्वित्युच्यते । कथं तर्हि । शितीति । तद्विशेषण  
परस्मैपदग्रहणम् ।

न लुमता तस्मिन्निति चेद् हनिणिडादेशास्तराप ।

न लुमता तस्मिन् इति चेद् हनिणिडादेशास्तरलोपे न सिध्यन्ति ।  
अवधि भयता दस्यु अगायि भयता ग्राम । अधगायि भयतानुवाक ।  
तलोप कृते लुडाति हनिणिडादेशा न प्राप्नुवन्ति ।

नय दोष । न लुटीति हनिणिडादेश उच्यन्ते । किं तर्हि ।  
आर्यधातुक इति तादृशेषण लुग्रहणम् ।

पर रहत कहा गया है । परस्मैपद ता सकारादि का विशेषण है । मुख्य निमित्त  
ता सकारादि है । यह सकारादि सत्र प्रत्यय पर है ही । हि का लुङ हो तान पर  
भी काई हानि नहीं । प्रत्ययलक्षण का भा आदेशकता नहीं । इसा तरह उक्तान  
सक्रान में कम परस्मैपद स हानवाला दार्घ्य भा परस्मैपद पर रहत नहीं कहा  
गया बल्कि शित् पर रहत कहा गया है । परस्मैपद ता शित् का विशेषण है ।  
मुख्य निमित्त शित् हा है । न न सनाम म शित् प्रत्यय शप पर है ही ।

यदि न लुमता तस्मिन् घनातर्हे ता यह दाप है कि तत्राप हान पर हन्  
इण इड धातुओं के स्थान में कम सत्रय न आर गाड आद न नहीं सिद्ध  
हात । अवधि न हन् धातु स कर्मराध्य लुङ म चिण हुआ है । उन्स  
पर । गा उ स तप्रयय का उरु हो जाता है । न का उरु हान पर न लुमता  
तस्मिन् स प्रत्ययलक्षण का निरध हा नायगा तो उरु परे न रहने स लुङि च  
स हन् का उध आदेश नहीं प्रप्त होता । गायि यहा इण धातु म कमराध्य  
लुङ म चिण स पर त का लुङ हान पर न लुमता तस्मिन् स प्रत्ययलक्षण का  
निरध हा नायगा तो लुङ परे न रहने स इणो गा उरुि स इण का गा आदेश  
नहीं प्राप्त हाता । अगाय यहा अधिपूर्वक इड धातु स कर्मराध्य लुङ में  
चिण स पर न का लुङ हान पर न लुमता तस्मिन् स प्रत्ययलक्षण का निरध हो  
नायगा तो लुङ पर न रहने स उभापा लल्लो स उड का गा आदेश नहीं  
प्राप्त हाता ।

य काई दाप नहीं । अवधि आदि में उरु सूत्र स वध आदि आदेश लुङ  
पर रहत नही कहे गये हैं बकि नाधधातुक पर रहत कह गये हैं । लुङ ता

इह च सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः 'सर्वस्य सुपी'त्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति । तच्चापि वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् । न लुमताङ्गस्येत्येव सिद्धम् । कथम् । न लुमता लुप्तेऽङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते । किं तर्हि । योऽसौ लुमता लुप्यते तस्मिन् यदङ्गं तस्य यत् कार्यं तन्न भवति ।

एवमपि सर्वस्वरो न निध्यति ।

कर्तव्योऽत्र यत्नः ।

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥१॥१६५॥

किमिदमल्ग्रहणमन्त्यविशेषणम् ।

आर्धधातुक का विशेषण है । मुख्य निमित्त आर्धधातुक ही है । अग्नि आदि में आर्धधातुक प्रत्यय चिन्ना परे है ही ।

इसके अतिरिक्त न लुम-। तस्मिन् इस नये सूत्र में यह भी दोष है कि सर्वस्तोम सर्वपृष्ठ यही पूर्वोक्त सर्वस्य सुपी से होने वाला आद्युदात्त स्वर नहीं प्राप्त होता । साथ ही न लुमताङ्गस्य सूत्र छोड़ कर नया न लुमता तस्मिन् सूत्र बनाना पड़ता है । इस से अच्छा तो यह है कि यह नया सूत्र न बनाया जाय । न लुमताङ्गस्य से ही सब दृष्ट सिद्ध हो जायेंगे । कैसे ? न लुमताङ्गस्य में अङ्गस्य का अर्थ अङ्गाधिकार्याय कार्य नहीं लेने बल्कि लुमान् शब्द से जो प्रत्यय लुप्त हुआ है उससे पर रहते या अङ्ग है उसका जो कार्य अङ्गाधिकार्याय है या अङ्गाधिकार से बाहर है वह प्रत्ययलक्षण से नहीं होता ऐसा अर्थ करेंगे । इससे सर्वत्र लुमान् में प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जायगा । तुमति प्रतिषेधे एकपदम्बरस्यापमंरय नमः, अहो रावर्गो उत्तरपदन्ते चान्तराद्विधौ द्वन्द्वेऽन्त्यस्य इत्यादि वचनों का कोई आवश्यकता न होगी ।

न लुमताङ्गस्य सूत्र द्वारा सर्वत्र लुमान् में प्रत्ययलक्षण का निषेध मानने पर भी सर्वस्तोम सर्वपृष्ठ में सर्वस्य सुपी से आद्युदात्त स्वर नहीं सिद्ध होता ।

इसके लिये यत्न करना चाहिये ।

क्या यह अल्ग्रहण अन्त्य का विशेषण है । अर्थात् क्या अन्त्यान् के समान

१ वह यत्न महा है कि सौवर्ष्य सप्तम्यस्वदन्तसप्तम्य मानी गई है । उससे सुनन्त सर्व शब्द का आद्युदात्त होगा । सुप् परे रहने न होगा तो सर्वस्तोमः के सुनन्त होने से सर्वस्वर सिद्ध हो जायगा ।

एवं भवितुमर्हति ।

उपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत् संघातप्रतिषेधः ।

उपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत् प्रतिषेधो वक्तव्यः ।  
संघातस्य उपधासंज्ञा प्राप्नोति ।

तत्र को दोषः ?

‘शास् इद्द्दहलोः’ शिष्टात् शिष्टाम् । संघातस्येत्वं प्राप्नोति ।

यदि पुनरलन्त्यादित्युच्यते ।

अलः यह पञ्चमी का एकवचन है या प्रथमा बहुवचन अथवा पष्ठी का एकवचन है। अन्त्य विशेषण में सूत्र का अर्थ होगा—अन्त्य अल् से पूर्व की उपधासंज्ञा होती है। प्रथमा बहुवचन में अर्थ होगा—अन्त्य से पूर्व अलों की उपधासंज्ञा होती है। उस पक्ष में पूर्व उपधा इस सन्धि में पूर्व के समान पूर्वं भी निकल सकता है। अन्त्यात् पूर्वं अलः उपधा। पष्ठी के एकवचन में अर्थ होगा—अल् के मध्य में जो अन्त्य है उससे पूर्व की उपधासंज्ञा होती है। इस प्रकार तीनों पक्ष संभव हैं।

ऐसा हो सकता है। अन्त्य का विशेषण अल् संभव है।

उपधासंज्ञा में अल्ग्रहण यदि अन्त्य का विशेषण है तो संघात की उपधा संज्ञा प्राप्त होती है। उसका निषेध कहना होगा। संघात का अर्थ अल्समुदाय है।

अल्समुदाय की उपधासंज्ञा होने में क्या दोष है ?

शास् इद्द्दहलो से शास् की उपधा को इव कहा है। जैसे शिष्टान् । शिष्टाम् ( शास् लोट् तातङ् ताम् ) यहाँ अन्तिम अल् शास् का सकार है। उसमें पूर्व शा यह अल्समुदाय है। उसकी उपधासंज्ञा प्राप्त होगी तो शा को इव होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

यदि अलः के स्थान में अल् यह प्रथमा का एकवचन पढ़ कर अलन्त्यात् पूर्व उपधा ऐसा सूत्र बनायें तो कैसा रहेगा। उस पक्ष में अन्त्य से पूर्व जो अल् उसकी उपधा संज्ञा होगी। संघात की उपधासंज्ञा न होने से इष्ट विद् हो जायगा।

१. अन्त्यनिर्देशः—निर्दिश्यतेऽभिधीयतेऽनेनेति निर्देशः । जिसका अभिधान है अर्थात् यदि अन्यग्रहण से अन्त्य का बोध होता है। अल् अन्त्य का विशेषण रहा, पूर्व का विशेषण नहीं रहता।

एवमप्यन्त्योऽविशेषितो भवति ।

तत्र को दोषः ?

संघातादपि पूर्वस्योपधासंज्ञा प्रसज्येत । तत्र को दोषः । शास् इदद्दहलोः । शिष्टः शिष्टवान् । शकारस्य इत्वं प्रसज्येत । सूत्रं च भिद्यते ।

यथान्यासमेवास्तु ।

ननु चोक्तमुपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत् संघातप्रति-  
पेध इति ।

नेप दोषः ।

अलन्त्यात् पढ़ने में भी अन्त्य विशेषित नहीं होता । अन्त्य का विशेषण भल् नहीं रहता । अन्त्य जो है वह भल् लेना है या भल्समुदाय लेना है इसका परिज्ञान कुछ न हो सकेगा । अल इस पञ्चमी के एकवचन में तो नि सन्वेह अन्त्य विशेषित हो जाता था ।

यहां क्या दोष है । यदि अन्त्य स पूर्व भल् की उपधा संज्ञा माँ में तो क्या हानि है ?

उस पक्ष में संघात से भी पूर्व की उपधा संज्ञा प्राप्त होती है । वहां क्या दोष है ? शास् इदद्दहलो स विधीयमान इत्वं शिष्ट शिष्टवान् ( शास्-क्त क्ववत् ) यहाँ शास् में अन्त्य भास् स पूर्व भल् शकार को प्राप्त होगा । इसके साथ सूत्रभेद तो रहेगा ही । अलन्त्यात् की जगह अलन्त्यात् पढ़ने में सूत्र दृष्टता है ।

अच्छा तो वैसा सूत्र रहे वैसा ही रहने दीजिये । अलन्त्यात् न पढ़िये ।

अलन्त्यात्पूर्व उपधा इस यथान्यास सूत्र में जो संघात की उपधासंज्ञा प्राप्ति रूप दोष कहा था उसका क्या समाधान है ?<sup>१</sup>

यह कोई दोष नहीं । संघात में भी जो अन्त्य है उसकी उपधासंज्ञा समझ

१. अल्समुदाय की उपधासंज्ञा नहीं होती इस विषय में ज्ञापक भी है । पियति में पिब आदेश को जो अदन्त माना है वही इस बात का ज्ञापक है कि अल्संघात की उपधासंज्ञा नहीं होती । अन्यथा पिब के इलन्त मानने पर भी अल्संघात की उपधासंज्ञा पक्ष में पिब के इत्कार के उपधा न होने से लघूपथ गुण की प्राप्ति ही नहीं तो उसकी निवृत्ति के लिये पिब को अदन्त मानना व्यर्थ है ।

## अन्त्यविज्ञानात् सिद्धम् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यन्त्यस्य भविष्यति ।

अन्त्यविज्ञानात् सिद्धमिति चेन्नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ।

अन्त्यविज्ञानात् सिद्धमिति चेत् तन्न । किं कारणम् । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे । अनर्थकेऽलोन्त्यस्य विधिर्नैत्येपा परिभाषा कर्तव्या ।

किमविशेषेण ।

नेत्याह । अनभ्यासविकारे । अभ्यासविकारान् वर्जयित्वा । भृशामित् । अतिपिपत्योश्चेति ।

कान्येतस्या परिभाषायाः प्रयोजनानि ?

की जायगी । अलोन्त्यस्य इस परिभाषा के नियम से अन्त्य अल् से पूर्व जो अल् सघात उसके अन्त्य अक्षर की उपधा सज्ञा हो जायगी तो गिष्ठ शिष्टवान् में शास् के अन्त्य अल् सकार से पूर्व शा सघात के अन्त्य आकार की उपधासज्ञा हो जाने से उसे इत्थ होकर इष्ट रूप बन जायगा ।

यदि सघात के अन्त्य की उपधासज्ञा मानेंग तो वह नहीं बनती । क्योंकि अनर्थक शब्द में अलोन्त्यविधि नहीं हुआ करती । शास यह समुदाय अर्थवान् है । उसका एकदेश आस् या शा य अनर्थक हैं । उनमें अलोन्त्य० का नियम नहीं हो सकता । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकार यह परिभाषा है । इसका अर्थ है—अनर्थक शब्द में अलोन्त्य परिभाषा नहीं लगती ।

क्या सामान्य रूप से सभी अनर्थको में अलोन्त्य परिभाषा नहीं लगती ?

नहीं । ऐसा नहीं । अभ्यासविकारों को छोड़ कर । अभ्यास में क्योंकि शब्द की ही आवृत्ति होती है, अर्थ की नहीं । इस लिये अभ्यास अनर्थक माना जाता है । उस में तो अलोन्त्यविधि इष्ट है । अन्य अनर्थको में नहीं । जैसे—भृशामित्, अतिपिपत्योश्च इन अभ्यासविकार सूत्रों के उदाहरण विभर्ति पिपर्ति मे भृ पृ के अनर्थक अभ्यास जो भ प हैं उनके अन्त्य अक्षर अकार को इकार होता है ।

नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे इस परिभाषा के क्या प्रयोजन हैं ?

प्रयोजनमव्यक्तानुकरणस्यात् इती ।

अव्यक्तानुकरणस्यात् इतावित्यन्त्यस्य प्राप्नोति । अनर्थकेऽलोन्त्य-  
विधिर्नेति न दोषो भवति ।

नैतदस्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नान्त्यस्य पररूप  
भवतीति । यद्य 'नाप्नेडितस्यान्त्यस्य तु वे'त्याह ।

ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ।

ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चेत्यन्त्यस्य प्राप्नोति । अनर्थकेऽलोन्त्य-  
विधिर्नेति न दोषो भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । पुनर्लोपवचनसामर्थ्यात् सर्वस्य  
भविष्यति ।

अव्यक्तानुकरणस्यात् इती यह सूत्र प्रयोजन है । पटत् इति पठिति । यद्वा  
इति शब्द परे रहते अव्यक्तानुकरण पटत् शब्द के अनर्थक अत् शब्द को कहा  
हुभा पररूप उसके अन्त्य तकार को प्राप्त होता है । नानर्थकेऽलोन्त्य० से अन्त्य  
को न हो कर सर्वादेश हो जाता है ।

यह कोई प्रयोजन नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है  
कि पटत् के अन्त्य तकार को पररूप नहीं होता । यह जो नाप्नेडितस्यान्त्यस्य तु वा  
इस उत्तर सूत्र द्वारा अन्त्य तकार को विकल्प से पररूप विधान करता है ।  
उससे यह बात सिद्ध होती है ।

ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च यह सूत्र प्रयोजन है । देहि धेहि यद्वा घुसज्जक वा  
धा धातुभो से लोट में हि परे रहते ध्वसोरेद्धा० से विधीयमान दा धा के अभ्यास  
का लोप उनक अन्त्य अक्षर भाकार को प्राप्त होता है । नानर्थकेऽलोन्त्य० से  
अन्त्य को न होकर सर्वादेश हो जाता है ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । लोपो यि से लोप की अनुवृत्ति जाने पर

१ नानर्थकऽलोत्त्यविधि० इस परिभाषा में अनभ्यासविकारे यह निषेध  
अभ्यासलोप में नहीं लगता । क्योंकि वह निषेध अभ्यास के रूपवान् विकार में ही  
है । अभ्यास का लोप तो रूप रहित होता है इस लिये अभ्यास विचार में अभ्यास  
का लोप नहीं माना जायगा तो ध्वसोरेद्धा० से विधीयमान अभ्यासगेर भी नानर्थक०  
इस परिभाषा का प्रयोजन बन जाता है । लोप और विकार में भेद होता है इस विषय  
में लोपागमवर्णविकारश्च यह भाष्यकार का वचन ही प्रमाण है ।

अथवा शिल्लोपः करिष्यते । स शित्सर्वस्येति सर्वादेशो भविष्यति ।

स तर्हि शकारः कर्तव्यः ।

न कर्तव्यः । क्रियते न्यास एव । द्विशकारको निर्देशः । 'घसो-  
रेद्धावभ्यालोपश्दचेति' ।

आपि लोपोऽनोऽनचि ।

तिष्ठति सूत्रम् ।

अन्यथा व्याख्यायते ।

आपि हलि लोप इत्यन्त्यस्य प्राप्नोति । अनर्थकेऽलोन्त्यविधिर्नेति न दोषो भवति ।

धमारेद्धा० में फिर जो लोप वचन कहा है उसके सामर्थ्य में सर्वादेश हो जायगा ।

अथवा अभ्यास लोप को शिन् किया हुआ समझेगे । उसमें अनकाल्पित्वान्वय स सर्वादेश हो जायगा ।

तो फिर अभ्यास लोप में शिन् निर्देश करना चाहिये ।

शिन् निर्देश की भग्न आवश्यकता नहीं । धमारेद्धा० सूत्र में ही दो शकारवाला अभ्यासलोपश्च इस प्रकार निर्देश किया हुआ है । एक शकार सर्वादेश के लिये समझ लिया जायगा ।

आपि लोपोऽनोऽनचि यह सूत्र प्रयोजन है । यह हलि लोप (७१-११३) सूत्र का मर्यानुवाद है ।

क्या आपि लोपोऽनोऽनचि से हलि लोपः सूत्र की सत्ता रह जाती है । हलि लोप सूत्र का स्थिति तो यह नहीं है । उसकी आकृति अन्य है ।

हलि लोप यह सूत्र ही आपि लोपोऽनोऽनचि कह कर अन्यथा व्याख्यात किया है । हलि लोप सूत्र को ही तदर्थक अन्य शब्दों में कह दिया है । अनापक्र से आपि, अक्र ये दो पद लेकर हलि क स्थान में अनाव करके आपि लोपोऽनोऽनचि यह निर्देश कर दिया है । हमारा वातार्थ हलि लोप सूत्र में ही है । आभ्याम् यहा इदम् शब्द से हलादि विभक्ति भ्याम् पर रहते हाल लोप. से विधीयमान इदम् के इद् भाग का लोप इद् के अन्त्य दकार को प्राप्त होता है । नानर्थकेऽनोन्त्य० से अन्त्य दकार का लोप न होकर सम्पूर्ण इद् भाग का लोप हो जाता है ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । अत्र एव लोपं वक्ष्यामि ।

तदनो ग्रहण कर्तव्यम् ।

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क प्रकृतम् । अनाप्यक इति ।

तद्वे प्रथमानिर्दिष्टं पष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः ।

हलौत्येषा सप्तमी अनिति प्रथमायाः पष्ठी प्रकल्पयिष्यति तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति ।

अत्र लोपोऽभ्यासस्य ।

अन्त्यस्य प्राप्नोति । नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरिति न दोषो भवति ।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । अत्र ग्रहणसामर्थ्यात् सर्वस्य भविष्यति ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । हलि लोप सूत्र से इद् भाग का लोप न कह कर अनाप्यक से हुए अन् आदेश का ही लोप कह देंगे । आभ्याम् में इदम् के मकार को न्यदाश्रय पररूप होकर इद-भ्याम् इस स्थिति में अनाप्यक से इद् को अन् आदेश होकर हाउ लोप से अन् क अभ्यस्य नकार का लोप हो जायगा तो दोष दोनो अकारों के पररूप हो जाने से आभ्याम् यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा ।

फिर तो हलि लोप में अन् ग्रहण करना होगा ।

अत्र ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं । ऊपर से प्रकृत चला आ रहा है । कहा से ? अनाप्यक स । उसी का अनुवृत्ति हलि लोप में हो जायगी ।

यह तो प्रथमात्रिभक्ति से निर्दिष्ट है । यहाँ पष्ठी से प्रयोजन है ।

हाउ लोप में हलि यह सप्तमी अन् इस प्रथमा को तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य के नियम से पष्ठी में बदल दगी तो अर्थ होगा—हलादि त्रिभक्ति पर रहते इदम् के स्थान में हुए अन् का लोप होता है ।

अत्र लोपोऽभ्यासस्य यह सूत्र प्रयोजन है । मित्सति दित्सति इत्यादि मन्त्रन्तो में नी ना पु आदि धातुओं के अभ्यास का अन्त्य अक्षर का लोप प्राप्त होता है । नानर्थकेऽलोन्त्य० में अन्त्य का न होकर सम्पूर्ण अभ्यास का लोप हो जाता है ।

यह भी कोई प्रयोजन नहीं । अत्र लोपोऽभ्यासस्य में अत्र ग्रहण के सामर्थ्य

१ इदम्—यह सार्वक शब्द रूप है, इसका इद्—यह भाग अनर्थक है ।



अस्त्यन्यदत्रग्रहणस्य प्रयोजनम् । किम् । सन्नधिकारोऽपेक्ष्यते ।  
इह मा भूत् ददौ दधौ ।

अन्तरेणाप्यत्र ग्रहणं सन्नधिकारमपेक्षिष्यामहे ।

संस्तर्हि सकारादिरपेक्ष्यते । सनि सकारादाविति । इह मा  
भूत्-जिज्ञपयिषति इति ।

अन्तरेणाप्यत्रग्रहणं सन्न सकारादिमपेक्षिष्यामहे ।

प्रकृतयस्तर्ह्यपेक्ष्यन्ते । एतासां प्रकृतीनां लोपो यथा स्यात् ।  
इह मा भूत् पिपक्षति । यियक्षति ।

से सम्पूर्ण अभ्यास का लोप हो जायगा ।

अत्र ग्रहण का तो अन्य प्रयोजन है । क्या ? सनि मीमांसुरमल्भ० से प्रका-त सन् प्रत्यय का अधिकार अपेक्षित है । अत्र=यहां ; अर्थात् सन् प्रत्यय में ही अभ्यास का लोप हो । ददौ, दधौ यहां सन् भिन्न प्रत्यय में अभ्यास का लोप न हो इसके लिये अत्र ग्रहण रह सकता है ।

अत्र ग्रहण के बिना भी सन् प्रत्यय का अधिकार स्वरित्तन प्रतिज्ञा से अपेक्षित किया जा सकता है ।

तो फिर अत्र ग्रहण का प्रयोजन यह है कि सकारादि सन् में ही अभ्यासलोप हो । इडादि सन् में न हो । जैसे—क्षपयितुमिच्छति । चत्तपायपति यहा णिचन्त क्षपि धानु से सन् पर रहते सनीवन्तर्धभ्रस्वदम्भु० से पक्ष में इडागम हुआ है । सकारादि सन् परे न होने से अभ्यासलोप नहीं होता । इडभाव पक्ष में सकारादि सन् होने से क्षीप्सति यहा अभ्यासलोप हो जाता है ।

अत्र ग्रहण के बिना भी सकारादि सन् की अपेक्षा हो जायगी ।

तो फिर अत्र ग्रहण का प्रयोजन यह है कि मी मा पु रन् लन् आदि प्रकृतियों से ही सन् में अभ्यासलोप हो । अन्य प्रकृतियों से न हो । जैसे—पक्तुमिच्छति पिपक्षति । यष्टुमिच्छति यियक्षति यहा पक्ष यन् धानुओ से सन् परे रहते अभ्यासलोप नहीं होता ।

२ अत्र ग्रहण के सामर्थ्य से । सनि मी मा—इत्यादि सूत्रों में सन् का निर्देश होने पर जो दुवारा अत्र शब्द से सन् का परामर्श किया है उसका यही प्रयोजन है कि सन् परे रहते जितना भी अभ्यास करके गृहीत होता है उस सारे का लोप होता है ।

अन्तरेणाप्यत्रग्रहणमेताः प्रकृतीरेपेक्षिष्यामहे ।

विषयस्तर्ह्यपेक्ष्यते । 'मुचोऽकर्मकस्य गुणो वे'ति । इह मा भूत्-  
मुमुक्षति गाम् इति ।

अन्तरेणाप्यत्रग्रहणमेतं विषयमपेक्षिष्यामहे । कथम् । अकर्मक-  
स्येत्युच्यते । तेन यत्रैवायं मुचिरकर्मकस्तत्रैव भविष्यति । तस्मा-  
न्नार्थोऽनया परिभाषया नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरिति ।

अलोन्त्यान्पूर्वोऽलुपधेति वा ।

अथवा व्यक्तमेव पठितव्यम् । अलोऽन्त्यात् पूर्वोऽल् उपधामंष्ट्रो  
भवतीति ।

अत्र ग्रहण के दिना नी नी ना पु र्न् ल्न् आदि प्रकृतिरां प्रकरण से समझ  
ली जायेगा ।

तो फिर अत्र ग्रहण का यह प्रयोजन है कि निश्चित विषय में ही निश्चित  
प्रकृतियों में सन् में अभ्यास का लोप हो । जैसे—मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा इस  
सूत्र से अकर्मक विषय में ही मुच् धातु से सन् में अभ्यासलोप होता है ।  
मोजने वन् स्वयमेव यहा अकर्मक होने से अभ्यासलोप हो गया । किन्तु मुमुक्षति  
गाम् यहा सकर्मक होने से मुच् धातु के अभ्यास का लोप नहीं होता ।

अत्र ग्रहण के दिना नी निश्चित विषय समझ लिया जायगा । कैसे ?  
मुचोऽकर्मकस्य० में अवर्गवत्त्व कहा है तो जहा मुच् धातु अकर्मक होगी उन्ही  
विषय में अभ्यासलोप होगा । अभ्यत्र न होगा । इस लिये सब प्रयोजनों के  
अभ्यधा सिद्ध हो जाने से नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविधौरे इस परिभाषा की  
कोई आवश्यकता नहीं है ।<sup>१</sup>

अथवा अलोन्त्यात् पूर्वोऽल् उपधा इस प्रकार स्पष्ट ही एक और अल्  
ग्रहण कर देना चाहिये । जिसमें उपधा सज्ञा में अन्त्य नी अल ही लिया  
जाय और उससे पूर्व नी अल् ही लिया जाय । जब कहीं दोष न होगा ।

१ यहा भाष्यकार ने प्रयोजनों की अन्यथासिद्धि दिखा कर नानर्थके० इस  
परिभाषा का खण्डन कर दिया है । इससे अल्मघात में नी अलोन्त्यविधि मान कर  
शिष्ट. शिष्टवान् इत्यादि वन जायेगे ऐसा भाष्यकार की संमत नाह्य होता है ।

तत्तर्हि वक्तव्यम् ।

न वक्तव्यम् ।

अनचनाल्लोकनिज्ञानात् सिद्धम् ।

अन्तरेणापि वचन लोकाविज्ञानात् सिद्धमेतत् । तद्यथा लोके  
अमीषां ब्राह्मणानामन्त्यात्पूर्व आनीयतामित्युक्ते यथाजातीयकोऽन्त्यस्त-  
थाजातीयकोऽन्त्यात्पूर्व आनीयते ।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥१॥६६॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥१॥६७॥

किमुदाहरणम् ?

तो फिर अलोऽन्त्यात् पूर्वोऽल्लुगधा ऐसा कह देना चाहिये ।

नहीं कहना चाहिये । बिना कहे ही लोक-व्यवहार से यह बात जान ली  
जायगी । जैसे लोक में इन ब्राह्मणों में अन्त्य से पूर्व को लाइये ऐसा कहने पर  
निस प्रकार का अन्त्य है उसी प्रकार का उससे पूर्व लाया जाता है । ब्राह्मणों  
में अन्त्य यदि ब्राह्मण है तो उससे पूर्व भी ब्राह्मण ही लाया जायगा ।  
अथवा जैसे ब्राह्मणों में अन्त्य मनुष्य है तो उससे पूर्व भी मनुष्य ही लाया  
जायगा, पशु आदि नहीं लाया जायगा । य. भी अन्त्य अल से पूर्व अल ही लिया  
जायगा, अल् समुदाय नहीं । इस प्रकार सूत्र से ही इष्ट उपधासज्ञा होकर काम  
चल जायगा ।<sup>१</sup>

इन सूत्रों के क्या उदाहरण है ?

१ भाष्यकार ने वहा अल ग्रहण को अन्य विशेषण मान कर उक्त दोष के  
समाधान द्वारा अल यह पञ्चमी एवञ्चन स्वीकार किया है । यदि अल को  
प्रथमा बहुवचन या निर्धारण पष्ठी का एवञ्चन मान लें तो भी उक्त लोकव्यवहार  
से दोष न होगा । प्रथमा पक्ष में अलः यह जाति में बहुवचन निर्देश है । अवधि  
और अवधिमत् को तुल्यजानाय मानने से अन्य अल् से यही अर्थ अवगत होगा ।  
पष्ठी पक्ष में निर्धारण तुल्यनार्तीय का होता है इस कारण अलों में जो अन्त्य है  
वह अल् हा लिया जायगा । उससे पूर्व भा तज्जातीय अल् ही ग्रहीत होगा इस  
प्रकार तीना पक्ष निर्दोष सिद्ध हो जाते हैं ।

इह तावत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति 'इको यणचि' दध्यत्र मध्यत्र । इह तस्मादित्युत्तरस्येति 'द्वयन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईत्' । द्वीपम् । अन्तरीपम् । समीपम् ।

अन्यथाजातीयकेन शब्देन निर्देशः क्रियते । अन्यथाजातीयक उदाह्रियते ।

किं तदुदाहरणम् ?

इह तावत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकावि'ति । तस्मादित्युत्तरस्येति । 'तस्माच्छतो नः पुंसो'ति ।

इह चाप्युदाहरणम् इको यणचि, द्वयन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईदिति । रुथम् । सर्वनाम्नायं निर्देशः क्रियते । सर्वनाम च सामान्यवाची । तत्र सामान्य निर्दिष्टे विशेषा अप्युदाहरणानि भवन्ति ।

किं पुनः सामान्यं, को विशेषः ?

तस्मिन्निति निर्दिष्ट पूर्वस्य के तो इको यणचि दध्यत्र मध्यत्र ये उदाहरण हैं । और तस्मादित्युत्तरस्य के द्वयन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईत् द्वीपम् । अन्तरीपम् । समीपम् । ये उदाहरण हैं इको यणचि में अचि सप्तमी है । उसके परे रहते अप्यवहित पूर्व दक् के स्थान में यण् हो जाता है तो दध्यत्र मध्यत्र बन जाते हैं । द्वयन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईत् में द्वयन्तरूपसर्गेभ्य यह पञ्चमी है । उससे अव्यवहित परे अप् पद के अकार के स्थान में ईकार हो जाता है तो द्वीपम् अन्तरीपम् समीपम् बन जाते हैं ।

अन्य प्रकार के शब्द से सूत्रों में निर्देश किया है । अन्य प्रकार के आप उदाहरण दे रहे हैं । ये सूत्र निर्देशानुरूप उदाहरण नहीं हैं ।

फिर सूत्र निर्देशानुरूप उदाहरण क्या होने चाहिये ?

तस्मिन्निति निर्दिष्टे का तो तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ और तस्मादित्युत्तरस्य का तस्माच्छतो नः पुंसे ये उदाहरण होने चाहिये ।

ये भी उदाहरण ठीक हैं—इको यणचि, द्वयन्तरूपसर्गेभ्योऽप ईत् । क्योंकि तस्मिन् सूत्रान् ये सर्वनामसङ्गक तद् शब्द के निर्देश हैं । और सर्वनामशब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं । उनसे सभी का बोध हो जाता है । उससे सामान्य तद् शब्द के निर्देश में विशेष उदाहरण भी हो सकते हैं ।

सामान्य क्या है और विशेष क्या है ?

गौः सामान्य कृष्णो विशेषः ।

न तर्हादानीं कृष्णः सामान्य गौर्विशेषो भवति ।

भवति च ।

यदि तर्हि सामान्यमपि विशेषो विशेषोपि सामान्य, सामान्य विशेषौ न प्रकल्पेते ।

प्रकल्पेते च । कथम् । विविक्षितः । यदास्य गौ सामान्येन विवक्षितो भवति कृष्णो विशेषत्वेन, तदा गौः सामान्य कृष्णो विशेष । यदाऽस्य कृष्णः सामान्येन विवक्षितो भवति गौर्विशेषत्वेन तदा कृष्णः सामान्य, गौर्विशेषः ।

कृष्ण (काला) बैज यहा गौ सामान्य हे कृष्ण विशेष है ।

क्या कृष्ण गौ यहा कृष्ण सामान्य और गौ ( बैल ) विशेष नहीं हो सकता ?

हो भी सकता है ।

जब सामान्य विशेष और विशेष सामान्य हो सकता है तब सामान्य विशेष का ही निश्चय नहीं होता । इनकी निश्चित व्यवस्था नहीं बनती ।

बनती भी है । कैसे ? विवेका से । जब जना का इच्छा गा का सामान्य और कृष्ण का विशेष कहन की होती है तब गौ सामान्य और कृष्ण विशेष हो जाता है । और जब जना की इच्छा कृष्ण का सामान्य और गौ को विशेष कहन का हाता है तब कृष्ण सामान्य और गौ विशेष हो जाता है । तारन यह है कि जहा गौ परिच्छेद है और कृष्णत्व परिच्छेदक है उहा कृष्णत्व विशेष है गोत्व सामान्य है । जहा कृष्णत्व परिच्छेद है गोत्व परिच्छेदक है वहा गोत्व विशेष है कृष्णत्व सामान्य है । इसी बात का अन्य आचार्य इस प्रकार कहत हैं कि सामान्य विशेष की व्यवस्था बन सकती है । किस प्रकार ? पिता पुत्र की तरह । जैसे वही किसी के प्रति पिता और किसी के प्रति पुत्र हाता है वैसे यहा भी वही किसी के प्रति सामान्य और किसी के प्रति विशेष हो जाता है । अर्थशोध के लिये प्रयुक्त किय जाने वाले शब्दों में ये सब स उत्तम प्रयोग हैं जो सर्वनाम सज्ञक शब्दों के होते हैं । इन स बहुत अधिक विषय व्याप्त हो जाता है । इसी लिये सप्तमीनिदिष्टे पूर्वस्य पञ्चननिर्दिष्ट उत्तरस्य ऐसा निर्देश न करके तमिन् तन्मान् यह सर्वनाम स निदेश किया है ।

अपर आह—प्रकल्पेते च । कथम् । पितापुत्रवत् । तद्यथा स एव कचित् प्रति पिता भवति । रुचित् प्रति पुत्रो भवति । एवमिहापि स एव कचित् प्रति सामान्यं कचित् प्रति विशेषः । एते खल्वपि नर्देशिकानां वार्ततरका भवन्ति ये सर्वनाम्ना निर्देशाः क्रियन्ते । एतेहि बहुतरकं व्याप्यते ।

अथ किमर्थमुपसर्गनिर्देशः क्रियते ?

शब्दे सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य कार्यं यथा स्यात् । अर्थे मा भूत् । जनपदे अतिशायने इति ।

किं गतमेतदुपसर्गेण । आहोस्विच्छब्दाधिन्यादर्थधिन्यम् ।

गतमित्याह । कथम् । निरर्थं बहिर्भावे । तद्यथा निष्क्रान्तो देशात् निर्देशः । बहिर्देश इति गम्यते । शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतः । अर्थोऽबहिर्भूतः ।

निर्दिष्ट शब्द में निर्द उपसर्ग सहित दिशु धातु का निर्देश किस लिये किया है । अर्थात् सूत्र में निर्दिष्ट ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? तस्मिन्निति पूर्वस्य इतना ही सूत्र क्यों न बना दिया ?

तस्मिन्निति पूर्वस्य इतना सूत्र होने पर सप्तमी के अर्थ में भी अप्यवहित पूर्व को कार्य प्राप्त हो जायगा । इष्ट है कि सप्तमी विभक्ति निर्दिष्ट शब्द में ही अप्यवहित पूर्व को कार्य हो । सप्तमा से कोई हुए अर्थ में पूर्व को कार्य न हो । जैसे—जनपदे लुप अतिशायने तमविष्टनी यहाँ जनपद अतिशायन ये सप्तमी निर्दिष्ट अर्थ हैं इनो यणचि आदि में अचि आदि की तरह शब्द नहीं हैं । इस लिये यहाँ जनपद पर रहते या अतिशाय पर रहते अप्यवहित पूर्व को कार्य होता है यह अर्थ न होगा ।

क्या यह अर्थ उपसर्ग विधिष्ट निर्दिष्ट शब्द से निकल भी जाता है या केवल शब्द के आधिक्य से अर्थ के आधिक्य की कलना की जा रही है ।

निर्दिष्ट शब्द से यह अर्थ निकल जाता है । क्योंकि निर्द यह उपसर्ग बहिर्भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है । जैसे—देशात् । नर्गतः निर्देशः । यहाँ देश से बाहर निकला हुआ अर्थ समझा जाता है । शब्द से शब्द ही बाहर निकला हुआ होता है अर्थ नहीं । अर्थ तो शब्द के साथ नित्य सम्बद्ध रहता है इस लिये निर्दिष्ट ग्रहण से सप्तमी विभक्ति वाले शब्द में ही अप्यवहित पूर्व को कार्य होगा । सप्तमी के अर्थ में पूर्व को कार्य न होगा ।



यमारम्भः । ग्रामे देवदत्तः । पूर्वः पर इति सन्देहः । ग्रामाद् देवदत्तः  
पूर्वः पर इति सन्देहः । एवमिहापि दध्युदकं पचत्योदनम् । उभाधिकौ ।  
उभाघचौ । अचि पूर्वस्य अचि परस्येति सन्देहः । तिङ्ङितिङ्ङ इति  
अतिङ्ङः पूर्वस्य अतिङ्ङः परस्येति सन्देहः । इष्यते चाचि पूर्वस्य  
स्यात् । अतिङ्ङश्च परस्येति । तच्चातरेण यत्नं न सिध्यतीति नियमार्थं  
वचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति । अथ यत्रोभयं निर्दिश्यते  
किं तत्र पूर्वस्य कार्यं भवति आहोस्यत् परस्येति ।

उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशः ।

उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पञ्चमीनिर्देशो भविष्यति ।

सप्तमी और पञ्चमी के निर्देश में पूर्व पर का सन्देह है । ग्रामे देवदत्तः या  
ग्रामाद् देवदत्त येना कहने पर यह नहीं पता लगता कि ग्राम में देवदत्त पूर्व है या  
पर है । ग्राम से देवदत्त पूर्व है या पर है । पूर्व और उत्तर अर्थात् पर इन  
दोनों अर्थों में अग्रिम है । कोई विरोध नहीं मालूम होता । इसी तरह यहाँ  
भी दध्युदकम् ( दधि+उदकम् ) पचत्योदनम् ( पचति+ओदनम् ) में दोनों ही  
इक है । दोनों ही अच् हैं । दधि का इकार इक् भी है अच् भी है । उदकम्  
का उकार इक् भी है अच् भी है । इसी यणधि से इक् को यण् करने में सन्देह  
है कि अच् में इक् को यण् हो । पूर्व इक् को या पर इक् को । पचति ओदनम्  
या ओदन परति यहाँ नङ्ङितिङ्ङ से तिङ्ङ को निघात करने में सन्देह है कि  
अतिङ्ङ से पूर्व तिङ्ङ को निघात हो या पर तिङ्ङ को । इष्ट है कि अच् पर  
रहने पूर्व इक् को यण् हो, पर इक् को न हो । अतिङ्ङः से परे तिङ्ङ को निघात  
हो । पूर्व तिङ्ङ को निघात न हो । यह बात बिना श्रम के सिद्ध नहीं होती  
इस लिये ये दोनों सूत्र नियमार्थ बनाये हैं ।

सूत्रों का यह प्रयोजन ठीक है किन्तु जहाँ सप्तमी और पञ्चमी दोनों  
विभक्तियों का एक साथ निर्देश है उहाँ क्या पूर्व को कार्य होता है या पर को ?

दोनों विभक्तियों के एक साथ निर्देश में तस्मादित्युत्तरस्य इस पञ्चमी-  
निर्देश के मूल क्रम में पर होने से विप्रतिषेधे परं कार्यम् के नियम से पञ्चमी  
का निर्देश ही बलवान् माना जायगा उससे पूर्व को कार्य न होकर पर को ही  
कार्य होगा । उभयनिर्देशे विप्रतिषेधान् पञ्चमीनिर्देशः यह परिभाषा है ।



किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनमतो लसार्वाधातुकानुदात्तत्वे ।

वक्ष्यति तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशोऽभ्यस्तसिजर्थ' इति । तस्मिन् क्रियमाणे तास्यादिभ्यः परस्य लसार्वाधातुकस्य लसार्वाधातुके परतत्तास्यादीनामिति सन्देहः । तास्यादिभ्यः परस्य लसार्वाधातुस्य ।

बहोरिष्ठादीनामादिलेपे ।

बहोरुत्तरेषामिष्टमेयसाम् । इष्टमेय सु परतो बहोरिति सन्देहः । बहोरुत्तरेषामिष्टमेयसाम् ।

गोतो णित् ।

गोत परस्य सर्वनामस्थानस्य सर्वनामस्थाने परतो गोत इति सन्देहः । गोतः परस्य सर्वनामस्थानस्य ।

उभयनिर्देश विप्र तपेयान्० इस परिभाषा क क्या प्रयोजन है ?

तास्यनुगते ऋदुप-शान्त्वाम्-धातुकमनुद तम-दन्वन्तो यह सूत्र प्रयोजन है । तास्यनुदात्तेन० सूत्र में तास अनुगतम् किन् अदुपदशान् यह पञ्चमी निर्दिष्ट है । लमावधातुकम् यह प्रथमान्त है । किन्तु अ ग अभ्यस्तानानादि आदि तास सूत्रों के लिये लसावधातुकम् इस प्रथमान्त को सप्तम्यन्त बनाने के लिये यह वचन कहेंगे कि—तास्यादिभ्योऽनुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशोऽभ्यस्तसिजर्थ इति । उससे लसार्वाधातुक यह सप्तमी निर्दिष्ट हो जायगा । अब दोना स सन्देह हाता है—तासि आदि स परे लसार्वाधातुक को अनुदात्त हो या लसार्वाधातुक पर रहत तासि आदि को अनुदात्त हो । पञ्चमी निर्देश के बलवान् होने स पर का कार्य होगा तो लसार्वाधातुके यह सप्तमी पछा म बदल जायगी । उससे लसार्वाधातुक का अनुदात्त हो जाता है ।

बहोरिष्ठा भूच बहो यह सत्र प्रयोजन है । यहा बहो यह पञ्चमी है । पूर्वानुक्रान्त इष्टमेयसु यह सप्तमी है । दोनो म सन्देह है कि बहु रन्द स पर इष्टन् इमानच ईयश्च का लप हा या इष्टन् आदि पर रहत बहु शब्द का लोप हो, पञ्चमीनिर्देश क बलवान् होने स पर को कार्य हागा तो बहु शब्द स परे इष्टन् आदि का लोप हो जाता है ।

गोतो णित् यह सूत्र प्रयोजन है । गोत यह पञ्चमी है । पूर्वानुक्रान्त

रुदादिभ्यः सार्वधातुके ।

रुदादिभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य । सार्वधातुके परतो रुदादीना-  
मिति सन्देहः । रुदादिभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य ।

आने मुगीदासः ।

आस उत्तरस्यानस्य । आने परत आस इति सन्देहः । आस  
उत्तरस्य आनस्य ।

आमि सर्वनाम्नः सुट् ।

सर्वनाम्न उत्तरस्यामः । आमि परतः सर्वनाम्न इति सन्देहः ।  
सर्वनाम्न उत्तरस्यामः ।

सर्वनामस्थाने यह सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि गो शब्द से परे सर्वनाम-  
स्थान को णिद्वत् होता है या सर्वनामस्थान पर रहते गो शब्द को णिद्वत् होता  
है । पञ्चमी निर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो गो शब्द से परे  
सर्वनामस्थान को णिद्वत् हो जाता है ।

रुदादिभ्यः सार्वधातुके यह सूत्र प्रयोजन है । रुदादिभ्यः यह पञ्चमी है ।  
सार्वधातुके सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि रुदादि से परे सार्वधातुक को  
इट् हो या सार्वधातुक से परे रुदादि को इट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान्  
होने से पर को कार्य होगा तो रुदादि से परे बलादि सार्वधातुक को इट् हो  
जाता है ।

ईशास यह सूत्र प्रयोजन है । आस यह पञ्चमी है । आने मुक् से अनु-  
वृत्त आने सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि आस् से परे आन को ईकार हो  
या आन पर रहते आस् को ईकार हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर  
को कार्य होगा तो आस से परे आन को ईकार हो जाता है ।

आमि सर्वनाम्न सुट् यह सूत्र प्रयोजन है । आमि यह सप्तमी है ।  
सर्वनाम्नः पञ्चमी है । दोनों में सन्देह है कि सर्वनाम से परे आम् को सुट् हो  
या आम् पर रहते सर्वनाम को सुट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने  
से पर को कार्य होगा तो सर्वनाम से परे आम् को सुट् हो जाता है ।

घेडिन्ध्याण् नद्याः ।

नद्या उत्तरेपां डितां, डित्सु परतो नद्या इति सन्देहः । नद्या उत्तरेपां डिताम् ।

याडाप ।

आप उत्तरस्य डितः, डिति परत आप इति सन्देहः । आप उत्तरस्य डितः ।

डमो हस्त्रादचि डमुण् नित्यम् ।

डम उत्तरस्याच, अचि परतो डम इति सन्देहः । डम उत्तर-  
स्याच ।

विभक्तिविशेषनिर्देशानवकाशत्वादप्रतिषेधः ।

विभक्तिविशेषनिर्देशस्यानवकाशत्वाद्युक्तो यिप्रतिषेधः । सर्व-  
त्रेशात्र कृतसामर्थ्या सप्तमी । अठनसामर्थ्या पञ्चमीति कृत्वा पञ्चमी-  
निर्देशो भविष्यति ।

आण् नद्या. यह सूत्र प्रयोजन है । नद्या पञ्चमी है । घेडिति स अनुवृत्त  
डिति सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि नदी सञ्जक से परे डित् विभक्ति को  
आट् हो या डित् विभक्ति पर रहते नदीसञ्जक को आट् हो । पञ्चमीनिर्देश क  
बलवान् होने से पर को कार्य होगा तो नदीसञ्जक से परे डित् विभक्ति को आट्  
हो जाता है ।

याडाप यह सूत्र प्रयोजन है । आप पञ्चमी है । घेडिति से अनुवृत्त  
डिति सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि आपन्त से परे डित् विभक्ति को आट्  
हो या डित् विभक्ति पर रहते आपन्त को आट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान्  
होने से पर को कार्य होगा तो आपन्त स परे डित् विभक्ति को आट् हो जाता है ।

डमो हस्त्रादचि डमुण् नित्यम् यह सूत्र प्रयोजन है । डम यह पञ्चमी है ।  
अचि सप्तमी है । दोनों में सन्देह है कि डम् से परे अच् को डमुट् हो या  
अच् पर रहते डम् क' डमुट् हो । पञ्चमीनिर्देश के बलवान् होने से पर को कार्य  
होगा तो डम् से परे अच् को डमुट् हो जाता है ।<sup>१</sup>

उक्त सूत्रों वाले सप्तमी पञ्चमी विभक्तियों के एक साथ निर्देश में

१ ये प्रयोजन उदाहरणमात्र हैं । परिगणन नहीं किया गया है । दीडो  
युडचि विडिति, ड सि धुद, हस्वनयापो जुट् आदि अन्य अनेक प्रयोजन हैं ।

यथार्थं वा पठ्यनिर्देशः ।

यथार्थं वा पठ्यनिर्देशः कर्तव्यः । यत्र पूर्वस्य कार्यमिष्यते तत्र पूर्वस्य पठ्यं कर्तव्यम् । यत्र परस्य कार्यमिष्यते तत्र परस्य पठ्यं कर्तव्यम् ।

स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः ।

न कर्तव्यः । अनेनैव प्रकृत्युत्पत्तिर्भविष्यति । तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य पठ्यं । तस्मादित्युत्तरस्य पठ्यं ।

तत्तर्हि पठ्याग्रहणं कर्तव्यम् ।

न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क प्रकृतम् । 'पठ्यं स्थानयोगे'ति ।

पञ्चमा विभक्तिः क विशेष रूप से अनवकाश होने के कारण यह विप्रतिषेध अनुक्त है । दोनों का विप्रतिषेध ठीक नहीं बनता । जब दोनों सावकाश हों तभी विप्रतिषेध होता है । यहां उक्त सभी उदाहरणों में सप्तमी वृत्तसामर्थ्य है, सावकाश है । उसका सामर्थ्य अन्यत्र क्षीण हो चुका है । किन्तु पञ्चमी अकृत-सामर्थ्य है । उसका सामर्थ्य कहीं उरहीन नहीं हुआ । वह अनवकाश है । इस लिये अनवकाश होने से अवशद् होकर सप्तमी की स्वतः याचक हो जायगी ।

या फिर अर्थानुसार पठा विभक्ति का निर्देश कर देंगे । उदा पूर्व को कार्य इष्ट है वहा पूर्व में पठी और उदा पर को कार्य इष्ट है वहा पर में पठी विभक्ति लगा देंगे ।

फिर अर्थानुसार पठ्य विभक्ति का निर्देश कर दें ।

पठ्य का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं । इन्हीं सूत्रों से पठ्य की निश्चित हो जायगी । प्रकृत्युत्पत्तिः, निश्चिति । सप्तमा के निर्देश में पूर्व को कार्य होने से पूर्व में पठी और पञ्चमा के निर्देश में पर को कार्य होने से पर में पठा इन्हीं सूत्रों से सिद्ध हो जायगी ।

तो फिर इन्हीं सूत्रों में पठ्य का ग्रहण कर दें । जिसमें य पठ्य की निश्चित कर सकें ।

उसकी भी आवश्यकता नहीं । पठ्य ग्रहण प्रकृत चला भा रहा है । कहां से ? पठा स्थानयोगा से ।

प्रकल्पकमिति चेन्नियमाभावः ।

प्रकल्पकमिति चेत् नियमस्याभावः । उक्त चैतन्नियमार्थोऽयमारम्भ इति । प्रत्ययविधौ खल्वपि पञ्चम्यः प्रकलिताः स्युः । तत्र को दोषः । 'गुप्तिज्जिह्वः सन्' । गुप्तिज्जिह्व इत्येषा पञ्चमी सन्निति प्रथमायाः षष्ठौ प्रकल्पयेत् तस्मादित्युत्तरस्येति ।

अस्तु । न रुचिद्वय आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते तत्रान्तर्यतः सन्ः सन्नेव भविष्यति ।

नैव शक्यम् । इत्संज्ञा न प्रकल्पेत । उपदेश इतीत्युच्यते ।

प्रकृतिविकाराव्यवस्था च ।

प्रकृतिविकारयोश्च व्यवस्था न प्रकल्पते । इको यणचि, अचीत्येषा सप्तमी यणिति प्रथमायाः षष्ठौ प्रकल्पयेत् तस्मिन्निति निर्दिष्टं पूर्णस्येति ।

यदि इन सूत्रों को पढ़ी का प्रकल्पक या निष्पादक मानते हैं तो ये नियम सूत्र नहीं रहते । उहा पढ़ी नहीं है वहा ये पढ़ी नियम करेंगे । किन्तु जहा पढ़ी पहले से विद्यमान है वैसे—इको यणचि यहा इक, वहा पढ़ी प्रकल्पित की आवश्यकता न होने से नियम न हो सकेगा । एक साथ दो व्यापार ये सूत्र नहीं कर सकते । इधर पढ़ी का निष्पादन भी और उधर नियम भी । अभी ऊपर कह चुके हैं कि ये नियमार्थ बनाये हं । प्रकल्पक मानने पर ये नियमार्थ नहीं रहते ।

दूसरा दोष यह भी है कि प्रत्ययविधि में भी पञ्चमी विभक्तिचा पढ़ी की प्रकल्पिका बन जायेगा । उसमें क्या दोष है ? यही कि गुप्तिज्जिह्वः सन् से गुप्तिज्जिह्वः यह पञ्चमा सन् इस प्रश्ना का तस्मादित्युत्तरम् क बचन से पढ़ी बना दगी ।

अच्छा बना दवे । सन् से और कोई आदेश तो कहा ही नहीं इसलिये अन्तरतम परिनाम से सन् क स्थान में सन् ही आदेश हो जायेगा ।

ऐसा नहीं हो सकता । आदिष्ट हुए सन् में नकार की इत्संज्ञा नहीं हो सकेगी । इत्संज्ञा से उपदेश में हल का इत्संज्ञा कही गई है । आदिष्ट सन् उपदेश नहीं है । तसरा दोष यह भी है कि—

प्रकृति और विकार की व्यवस्था नहीं बनेगी । प्रकृति=स्थानी । विकार=

सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्र षष्ठी प्रकल्पितस्तत्रोभयकार्यप्रसङ्गः ।

सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्र षष्ठी प्राप्नोति । तास्यादिभ्य इत्येपा पञ्चमी लसार्धधातुके इत्यस्याः षष्ठीं प्रकल्पयेत् । तस्मादि त्युत्तरस्येति । तथा लसार्धधातुके इत्येपा सप्तमी तास्यादिभ्य इति पञ्चम्याः षष्ठीं प्रकल्पयेत् तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति । तत्र को दोषः । तत्रोभयकार्यप्रसङ्गः । तत्र उभयो कार्य प्राप्नोति ।

नैष दोषः । यत्तावदुच्यते प्रकल्पकमिति चेन्नियमाभाव इति । मा भून्नियमः । सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य षष्ठी प्रकल्प्यते । पञ्चमीनिर्दिष्टे परस्य । यावता सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य षष्ठी प्रकल्प्यते पञ्चमीनिर्दिष्टे परस्य नोत्सह्यत सप्तमीनिर्दिष्टे परस्य कार्य भवितुम् । नापि पञ्चमी- निर्दिष्ट पूर्णस्य । यदप्युच्यते प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पकाः स्युरिति ।

भादरा । इति यणचि मे इह यह प्रकृति है । यण विकृति है । अचि यह सप्तमी यण इत प्रथमा को षष्ठी बना देगी ता इह क समान यण भी प्रकृति हो जायगी । चौथा दोष यह भी है कि—

सप्तमी पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ जहाँ एक साथ निर्दिष्ट हैं वहाँ दोनों एक दूसरे को षष्ठी बना देगी तो दोनों के कार्य एक साथ प्राप्त होंगे । तास्यनु- दात० सूत्र में तासिअनुदातनृदिदुअदुपदेशात् यह पञ्चमो वक्ष्यमाण लसार्धधातुके यह सप्तमा क तस्मादत्युत्तरस्य क वचन से षष्ठी बना देगी और लसार्धधातुके यह सप्तमा तान्यनुदातनृदिदुपदेशात् इस पञ्चमो को तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य क वचन से षष्ठी बना देगी तो वहाँ दोनों विभक्तियों के कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं ।

य कोई दोष नहीं है । यह जो पहला दोष कहा कि इन सूत्रों को षष्ठी का प्रकल्पक मानने पर य नियम नहीं रहेगा । सो नियमार्थ न रहे । प्रकल्पक ही रहे । सप्तमी निर्देश में पूरे को षष्ठी प्रकल्पित होगी पञ्चमानिर्देश में पर का । उस अवस्था में जहाँ षष्ठी की प्रकल्पित हुई है उससे अन्य को कार्य वैय हो सकता है । सप्तमी निर्देश में पूरे को षष्ठी बनाया है तो पूरे को ही कार्य होगा, पर को कदापि नहीं हो सकता । पञ्चमी निर्देश में पर को षष्ठी बनाया है तो उहाँ पर को ही कार्य होगा । पूर्व को कदापि नहीं हो सकता । जहाँ षष्ठी पहले से विद्यमान है वहाँ भी सप्तमा निर्देश में पूरे को ही षष्ठी और

सन्तु प्रकल्पिका । ननु चोक्त गुप्तिजकिद्भ्य सन् इत्येषा पञ्चमी सन्निति प्रथमाया पष्ठौ प्रकल्पयेत् तस्मादित्युत्तरस्येति । परिहृतमेतत् । न कश्चिदन्य आदश प्रतिनिर्दिश्यत तत्रान्तर्यत सन् सन्नेव भविष्यति । ननु चोक्त नैव शन्यमित्सञ्ज्ञा न प्रकल्पेत । उपदेश इति इत्सञ्ज्ञाच्यते । स्यान्नेव दोषो यदीत्सञ्ज्ञा आदेश प्रताक्षेन । तत्र खलु कृतायामित्सञ्ज्ञाया लापे च कृत आदेशा भविष्यति । उपदेश इति हात्मज्ञाच्यत । अत्रानुपपत्तेरिति प्रकल्प्या भवितव्यम् । यदा चात्रानु सन् तदा कृतसामर्थ्या पञ्चमीति कृता प्रकल्पितेन भविष्यति । यदप्युच्यते प्रवृत्तिविशेषादयस्य चिति । अत्रापि प्रप्तो पष्ठौ इव इति । यदुक्तौ प्रथमा यणिति । यत्र च नाम सोत्रा पष्ठो नास्ति तत्र प्रकल्प्या भवितव्यम् । अत्रानुस्तु तावदिको यणिति यत्र नाम सोत्री पष्ठो यदि चेदनामचायेषा सप्तमा यणिनि प्रथमाया पष्ठौ प्रकल्पयेत् तस्मिन्निति निर्दिष्ट पूर्वस्यति । अस्तु । न कश्चिदन्य आदश प्रति निर्दिश्यत तत्रान्तर्यतो यणो यणत्र भविष्यति । यदप्युच्यत सप्तमी पञ्चन्योदच आत्रादुभयत्र पष्ठौ प्रकल्पितस्त्रोभयकार्यप्रसङ्ग इति । तत्र दोष आचार्यप्रवृत्तिज्ञापयति मोमे युगपत् प्रकल्पिके भवत इति । यदयमक पूर्वपरयोरिति पूर्वपरग्रहण करोति

पञ्चमादेश म पर का ही पन्नी बनाया जायगा । इस प्रकार य दाना सूत्र पन्नी प्रकल्पित रूप एक ही व्यापार करेंग । ता कार्य नियम मान कर हाना है वह प्रकल्पक मान कर हा जायगा । दूसरा ता दाप कहा था कि प्रत्ययविधि म भा पञ्चमा विभक्तिया पन्नी का प्रकल्पिका बन जायगा सा बन जाव । क्या हानि है । यह तो कहा था कि गुप्तजकिद्भ्य सन् म गुप्तिज कभ्य यह पञ्चमी सन् इस प्रथमा का पन्नी बना दगी ता उसका उत्तर द दिया गया था कि सन् का सन् ही आदश हा जायगा । फिर ता कहा था कि आदश हुए सन् म नकार की इत्सञ्ज्ञा न हा सकगी ता उसका उत्तर यह है कि यह दाप तब हा तब इत्सञ्ज्ञा आदश का प्रताक्षा कर । सन् म आदश हान स पड़ल हा उपदेशावस्था म नकार का इत्सञ्ज्ञा और लाप हाकर फिर स का स आदश हा जायगा । इत्सञ्ज्ञा उपदा काल में हा हा जाता है । वह आदश का प्रतीक्षा नहीं करता अवश गुप्तज कभ्य सन् इस सूत्र स तत्र तक सन् उत्पन्न नहीं हुना तत्र तक उस पन्ना नहीं बनाया जा सकता तत्र उत्पन्न हो गया तत्र गुप्तज कभ्य यह पञ्चमा चरितार्थ हो चुकी इस लिय प्रत्ययविधि में स्वत हा पञ्चमी विभक्ति पन्नी का प्रकल्पिका नहीं बन सकती । तासरा तो

## स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' ॥१॥६८॥

रूपग्रहणं किमर्थम्? न स्वं शब्दस्याशब्दसंज्ञा भवतीत्येव रूपं शब्दस्य संज्ञा भविष्यति । न ह्यन्यत् स्वं शब्दस्यास्ति, अन्यदतो रूपात् ।

दोष कहा था कि प्रकृतक मानने पर प्रकृति और विकार की व्यवस्था नहीं बनती । यहाँ भी यह उत्तर है कि प्रकृति में तो इक्, यह पड़ी है । विकृति में यण् यह प्रथमा है । दोनों की व्यवस्था स्पष्ट है । जहाँ किसी सूत्र में पड़ी नहीं है वही ये दोनों पड़ी के प्रकृतक होंगे । इको यणचि सूत्र में तो सौरी पड़ी ध्रुयमाण है वहाँ प्रकृत्युक्ति की क्या आवश्यकता है । यदि मान भी लें कि सौरी पड़ी में भी प्रकृत्युक्ति होती है तो भी इको यणचि में दोष नहीं । भच् पर रहते यण् यह प्रथमा तस्मिन्निति० के वचन से पड़ी बन जायगी । बन जावे । यण् के स्थान में अन्य कोई आदेश कथित न होने से आन्तर्य से यण् ही हो जायगा । चौथा जो दोष कहा था कि सप्तमी पञ्चमी दोनों के एक साथ निर्देश में दोनों प्रकृत्युक्ति बन जायेंगी तो दोनों के कार्य एक साथ प्राप्त होंगे वह भी कोई दोष नहीं । आचार्य का व्यवहार इस बात का शापक है कि सप्तमी पञ्चमी दोनों एक साथ पड़ी प्रकृत्युक्ति नहीं बनतीं । एकः पूर्वपरयो. में जो पूरे पर ग्रहण किया है उससे यह बात सिद्ध होती है । अन्यथा आद्यगुण इत्यादि में आत् यह पञ्चमी पूर्वानुक्रान्त अचि इस सप्तमी को पड़ी बना देगी और अचि यह सप्तमी आत् इस पञ्चमी को पड़ी बना देगी तो पूर्व पर के स्थान में एनादेश स्वतः सिद्ध हो जाने से पूर्व पर ग्रहण व्यर्थ है ।<sup>१</sup>

रूपग्रहण जिस लिये किया है । क्यों न स्वं शब्दस्याशब्दसंज्ञा इतना ही सूत्र बना दिया । उससे शब्द का अपना रूप ही संज्ञा हो जायगा । क्योंकि रूप से अन्य शब्द का अपना कुछ नहीं है ।

१ निगी की यह भ्रान्त हो सकती है कि दीर्घात् छे च यक्ष दीर्घात् यह पञ्चमी अनवकाश होने से छे इस सावकाश सप्तमी से बाध लेगी तो तस्मादि-त्युत्तरस्य के नियम से दीर्घ से परे छ को तुक् प्राप्त होना चाहिये उसका समाधान यह है कि दीर्घात् यह पञ्चमी नहीं है बल्कि पष्ठी है । व्यय से पष्ठी ही जगह पञ्चमी कर ली है । इस में विभाषा सेनासुराच्छाया० सूत्र में गुराच्छ या यह छ पर रहने तुक् ही शापक है । इस लिये छ पर रहते दीर्घ को तुक् होता है । दीर्घ ने परे छ को तुक् नहीं होना ।

२. उ३ व्याख्याकारों के मत में यह परिभाषा-सूत्र है क्योंकि शब्द के उच्चारण



एवं तर्हि सिद्धे सति यद् रूपग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—  
अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति । किं पुनस्तत् । अर्थः ।

किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् ।

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येत्येषा परिभाषा न कर्तव्या भवति ।

तो फिर रूपग्रहण के बिना भी सिद्ध होने पर जो रूपग्रहण किया है वह आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है कि रूप से अन्य भी शब्द का कुछ है । वह क्या है ? अर्थ है ।

इस बात क ज्ञापक करने का क्या प्रयोजन है ?

अर्थवद्ग्रहण नानर्थकस्य यह परिभाषा इस रूपग्रहण स स्वतः सिद्ध

में उसके स्वरूप, उसके पर्यायवाची, विशेषवाची शब्द, तथा अर्थ इन सबका ग्रहण प्राप्त होने पर केवल शब्द के स्वरूप को ग्रहण करने के लिये यह नियमार्थ बनाया गया है । अन्यो के मत में यह सज्ञा सूत्र ही है । क्योंकि परिभाषा का कोई लिङ्ग या अव्यन्तर शेषभाव इसमें प्रतीत नहीं होता । इसे सज्ञा सूत्र मानते हैं । इसका अर्थ है—शब्द का अपना रूप सज्ञा होता है, ग्राहक होता है । शब्द सज्ञा को छोड़ कर । यहाँ शब्दस्य यह मज्ञा है । स्व रूप यह मज्ञा है । मद्भान्तकौमुदीकार ने जो स्व रूप को मज्ञा माना है वह भाष्य विरुद्ध होने से चिन्त्य है । आगे भा अणुदित् यह सज्ञा है सवर्णस्य सज्ञा है । तपर यह सज्ञा है, तत्कालस्य सज्ञा है । यन विधि सज्ञा है तदन्तस्य सज्ञा है । भाद्रित्येन सहेता यह सम्पूर्ण सूत्र सज्ञा है उसमें सज्ञा का निर्देश नहा है । भूद्विर्यस्याचामादि में यस्य सज्ञा है वृद्ध सज्ञा है । व्याकरणशास्त्र में जो टि धु भ आदि सज्ञायें की गई हैं वहा स्वरूप ग्रहण नहीं जाता । बाल्क जिनकी व सज्ञायें ह उन साक्ष्यों का वहा ग्रहण होता है । अन्यत्र सर्वत्र शब्द विषय म उसक स्वरूप का ग्रहण होगा । न तो उनके पर्यायों का, न विशेषवाचा शब्दों का और न अर्थ का । शब्द का अपना स्वरूप क्या है इस विषय में भा बहुत कुछ मत भेद है । कुछ लोग व्यक्ति को ही शब्द का स्वरूप कहते हैं । कुछ जाति को । जैसा कि वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने कहा है—स्व रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्ति सज्ञाभिधीयते इत्यादि । वस्तुतः व्यक्ति पदार्थ में भा जाति पदार्थ अवश्य अपेक्षित है । और जाति म भी व्यक्ति की अनन्त अपेक्षा है इस लिये व्यक्ति और जाति उभयामभित पदार्थ ही शब्द का स्वरूप मानना उचित है । रूपसूत्र में भाष्यकार न स्वयं कहा भी है—न ह्याकृति-पदार्थकस्य द्रव्य न पदार्थ, न वा द्रव्यपदार्थकस्याऋतिर्न पदार्थ उभयोरुभय पदार्थ इत्यादि ।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

शब्देनार्थावगतेः अर्थे कार्यस्यासम्भवात् तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम् ।

शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते । गामानय दध्यशानेति अर्थ आनीयते अर्थश्च भुज्यते । अर्थे कार्यस्यासम्भवात् । इह च व्याकरणे अर्थे कार्यस्यासम्भवः । अग्नेर्देगिति न शक्यतेऽङ्गारेभ्यः परो ढक् कर्तुम् । शब्देनार्थावगतेरर्थे कार्यस्यासम्भवात् यावन्तन्तद्वाचिनः शब्दास्तावद्भ्यः सर्वेभ्य उत्पत्तिः प्राप्नोति । इष्यते च तस्मादेव स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वरूपवचनम् एवमर्थमिदमुच्यते ।

न वा शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययस्तस्मादर्थनिवृत्तिः ।

न वा एतत् प्रयोजनमस्ति । किं कारणम् । शब्दपूर्वको ह्यर्थे

होकर अलग नहीं बनानी पड़ेगी । इसका अर्थ है कि अर्थान् शब्द के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता । शब्द के स्वरूप के साथ मिले सम्बद्ध अर्थ भी है इस लिये अर्थ वाले शब्द स्वरूप के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होगा या बाने बुझे वज में अनर्थक से शब्द का श सूत्र में ग्रहण न होने से बड़ी प्रगृह्यसज्ञा नहीं होगी । किन्तु दित आ मनेपदानो टेरे यहाँ अनर्थक टि का पृथ विधान न तथा अनर्थक वर्णग्रहण में यह परिभाषा नहीं लगती इस लिय पचन आदि में अनर्थक टि का भी टेरेव हो जाता है ।

यह सूत्र किम लिये बनाया है ?

क्याकि लोक में उच्चारित क्रिय हुए शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है । गामानय दध्यशान यह शब्द कहने पर गो पदार्थ हा लाया जाता है । दही पदार्थ हा लाया जाता है । किन्तु यहाँ व्याकरण शास्त्र में कथित कार्य का अर्थ में असम्भार है । अनेट् सूत्र द्वारा अग्नि शब्द से परो ढक् प्रत्यय कहा है । यह अग्नि शब्द के अर्थ जो अगरे हैं उनसे भरे नहीं क्रिया जा सकता । तो उम शब्द के जितने पर्यायवाची शब्द हैं उन सब से ढक् की उत्पत्ति प्राप्त होती है । इष्ट है कि उसी अग्नि शब्द से ही ढक् हो । यह बात बिना यत्न के सिद्ध नहीं होती इस लिय शब्द के पर्यायवाची अन्य शब्दों में यह कार्य रोकने के लिय स्वरूपसज्ञाविधायक यह सूत्र बनाया है ।

यह कोई प्रयोजन नहीं है । क्योंकि शब्द पूर्वक ही अर्थ का ज्ञान होता है ।

सम्प्रत्ययः। आतश्च शब्दपूर्वकः। योपि ह्यनावाह्यते नाम्ना। नाम च यदानेन नोपलब्धं भवति तदा पृच्छति किं भवानाहेति। शब्द-पूर्वकद्वयार्थस्य सम्प्रत्ययः। इह च व्याकरणे शब्दे कार्यस्य संभवः, अर्थोऽसंभवः तस्मात् तदर्थनिवृत्तिर्भविष्यति।

इदं तर्हि प्रयोजनम्। अशब्दसंज्ञेति वक्ष्यामीति। इह मा भूत् दाधा च्चदाप्। तरप्तमपौ घ इति।

शब्दसंज्ञाप्रतिषेधनार्थस्य वचनप्रामाण्यात्।

शब्दसंज्ञायाः प्रतिषेधोऽनर्थकः। शब्दसंज्ञाया स्वरूपविधिः कम्मान्न भवति। वचनप्रामाण्यात्। शब्दसंज्ञावचनसामर्थ्यात्।

ननु च वचनप्रामाण्यात् सञ्ज्ञिनां सम्प्रत्ययः स्यात् स्वरूप ग्रहणाच्च संज्ञायाः।

पहले शब्द बोला जाता है तत्पश्चात् उससे अर्थग्रोध होता है। इस हेतु से तो और भी अच्छी तरह शब्दपूर्वक अर्थ का बोध होता है कि जिस किसी को भी आप नाम लेकर बुलाते हैं उसे तब तक अपना नाम नहीं सुनाई देता वह तब तक यह पूछता है कि आप ने क्या कहा। इससे मालूम हुआ कि शब्द श्रवण के बाद अर्थ का ज्ञान होता है। उससे पूर्व नहीं। किन्तु इस व्याकरण शास्त्र में केवल शब्द में ही कार्य का संभव है, अर्थ में असंभव है। इस लिये अर्थ में कार्य का सर्वथा असंभव होने से अर्थ की निवृत्ति स्वतः होकर प्रत्यासत्त्या उच्चारित शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण हो जायगा।

तो फिर इस सूत्र का यह प्रयोजन है कि सूत्र में अशब्दसंज्ञा लगा कर शब्दसंज्ञा में स्वरूपग्रहण का निषेध करेंगे। जिससे दाधा च्चदाप्, तरप्-तमपौ घ इन धु घ आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूप का ग्रहण न हो।

अशब्दसंज्ञा लगा कर शब्दसंज्ञा में स्वरूपग्रहण का निषेध करना भी व्यर्थ है। आप पूछें कि फिर धु घ आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूपग्रहण क्यों नहीं होता तो उसका उत्तर है—वचनप्रमाण से। शब्दसंज्ञा के वचन-सामर्थ्य से वही स्वरूपग्रहण नहीं होता। सञ्ज्ञियों का ग्रहण होता है।

शब्दसंज्ञाओं में शब्दसंज्ञा के वचनसामर्थ्य से तो सञ्ज्ञियों का ग्रहण हो जावे किन्तु स्वरूपग्रहण से संज्ञा का भी ग्रहण हो जावे जो कि अनिष्ट

एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न शब्द-  
संज्ञायां स्वरूपविधिर्भवतीति । यद्यप्यणान्ता पडिति पकारान्तायाः  
संख्यायाः पट्संज्ञां शास्ति । इतरथा हि वचनप्रामाण्याच्च नकारा-  
न्तायाः संख्यायाः सम्प्रत्ययः स्यात् । स्वरूपग्रहणाच्च पकारान्तायाः ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । नहि पकारान्ता संज्ञा । ना तर्हि । डकारान्ता ।

असिद्ध जज्ञत्व, तस्यासिद्धत्वात् पकारान्ता ।

मन्त्राद्यर्थे तर्हिदि चक्षुष्यम् । मन्त्रे ऋचि यजुषीति यदुच्यते  
तन्मन्त्रशब्दे ऋक्षशब्दे यजुःशब्दे च मा भूत् ।

हे उसे रोकने के लिये अशब्दमन्त्र लगाना अत्यावश्यक होगा । उसके सामर्थ्य  
से मन्त्रों में स्वरूपग्रहण रक जायगा । अतः सूत्रारम्भ अर्थवान् है ।

ऐसा नहीं हो सकता । आचार्य का व्यवहार इस बात का ज्ञापक है  
कि पुष्प आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूपग्रहण नहीं होता । यह जो पणान्ता पट्  
सूत्र में पकारान्त संज्ञा पप शब्द की पट् संज्ञा की है उससे यह बात सिद्ध  
होती है । अन्यथा संज्ञा वचन सामर्थ्य से तो नकारान्त मन्त्री का ग्रहण हो  
जायगा और स्वरूप ग्रहण से पकारान्त पप संज्ञा का । उस अवस्था में पकार-  
ग्रहण व्यर्थ है । नान्ता पट् इतना सूत्र ही पर्याप्त है ।

यह कोई ज्ञापक नहीं । पकारान्त कोई संज्ञा नहीं है । कौन है ?  
डकारान्त है । पट् संज्ञा है, पप नहीं है । संज्ञा पप् है । उसका ग्रहण पट्संज्ञा  
से नहीं हो सकता ।

पट् संज्ञा में पप् को झली बोलते से हुआ जगत् अतिद्व है । उस  
के असिद्ध होने से पप ही दीरेगा तो पप् का स्वरूपग्रहण पप् संज्ञा से  
सम्भव है । इस लिये पकारग्रहण व्यर्थ होकर इसी बात का ज्ञापक रहा कि शब्द  
संज्ञा में स्वरूपग्रहण नही होता ।

अप्यतो मन्त्र आदि शब्दसंज्ञाओं में स्वरूपग्रहण रोकने के लिये  
अशब्द संज्ञा ग्रहण करना चाहिये । मन्त्रे ऋचि यजुषि आदि शब्दों से जो  
मन्त्रादि सूत्रों में कार्यार्थ उपात्त हैं वही मन्त्रादि शब्द स्वरूप में कार्य न हो  
भरि नु उनका वाच्य अर्थ में हो ।

मन्त्राद्यर्थमिति चेच्छास्त्रसामर्थ्यादर्थगते सिद्धम् ।

मन्त्राद्यर्थमिति चत् तत्र । किं कारणम् । शास्त्रस्य सामर्थ्या  
दर्थस्य गतिर्भविष्यति । मन्त्र ऋचि यजुर्पीति यदुच्यते मन्त्रशब्दे  
ऋक् शब्दे यजु शब्दे च तस्य कार्यस्य सभावो नास्तीति दृष्ट्वा मन्त्रादि-  
सहचारितो योऽर्थस्तस्य गतिर्भविष्यति साहचर्यात् ।

सित्तिदिश्याणा वृक्षाद्यर्थम् ।

सित्तिर्दिश इत्यर्थः । ततो यत्कस्य तद्विशेषाणा ग्रहणं भवतीति ।  
किं प्रयोजनम् । वृक्षाद्यर्थम् । विभाषा वृक्षमृगेति । प्लक्षन्त्यग्रोध प्लक्ष  
न्यग्रोधा ।

मन्त्र आदि सज्ञार्था क लिय भा अतन्द्र सज्ञा की आवश्यकता नहीं ।  
क्योंकि शास्त्र के सामर्थ्य से वहाँ मन्त्र आदि शब्द न लेकर उनका सह  
चरित अर्थ<sup>१</sup> लिय जायेंगे । मन्त्र भाव शब्द पर रहते विधीयमान काय का  
असंभव है इस लिय मन्त्रादिसहचरित अर्थ लेकर उसमें कार्य हो जायगा ।<sup>३</sup>

सित् निर्दिश करना चाहिये । वृक्षस मृगस इस प्रकार सकार लगाना  
चाहिये और फिर कहना चाहिये कि यहाँ शब्द के स्वरूप का ग्रहण न होकर  
उसके विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । किस लिये ? वृक्ष आदि के लिये ।  
विभाषा वृक्षमृगनृगान्यव्यपनरगु० यह सूत्र उदाहरण है । यहाँ वृक्ष मृग

१ ऋचितु नुच०, मन्त्र घसह्वरणश० द्वसुम्नयोर्धजुपि इत्यादि स्वर्गो  
म ऋच आदि शब्द पर हान पर धारण का प्रशुति का सम्भव है नहीं अत  
वहाँ ऋच् आदि का स्वरूप ग्रहण नहीं होगा ।

२ शब्द का अर्थ के साथ ऐसा साहचर्य है कि शब्द ॥ अनुविद्ध ( ओत  
प्रोत ) अर्थ का बंध होता है, शब्द से प्रत्येक अर्थ का वर्ण नहीं । अतएव  
भावान् भवति वाक्यप्रदाय में कहते हैं—

न सोस्ति प्रत्यया लोक य शब्दानुगमादत ।

अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वे शब्दन भासते ॥

३ इस प्रकार स्व रूप शब्दस्य के साथ ही अशब्दसज्ञा की भी आवश्यकता  
नहीं है यह कह कर भाष्यकार तथा वातकार दोनों न सूत्र का खण्डन कर  
दिया है ।

पितर्यायचनस्य च स्वाद्यर्थम् ।

पित्रिर्देशः कर्तव्यः । ततो वक्तव्यम् । पर्यायचनस्य च तद्विशेषाणां च ग्रहणं भवति स्वस्य च रूपस्येति । किं प्रयोजनम् । स्वाद्यर्थम् । 'स्व पुपः' । स्वपोपं पुष्यति । रपोपम् । धनपोपम् । अक्षपोपम् । गोरोपम् ।

जितर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ।

जित्रिर्देशः । कर्तव्यः । ततो वक्तव्यम् । पर्यायचनस्यैव ग्रहणं भवति । किं प्रयोजनम् । राजाद्यर्थम् । सभा राजाऽमनुष्यपूरा । इनसभम् । ईश्वरसभम् । तस्यैव न भवति । राजसभा । तद्विशेषाणां च न भवति । पुष्यमित्रसभा । चन्द्रगुप्तसभा ।

आदि शब्दों का ग्रहण न होकर वृद्धादि के विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । जैसे—एष्ययम्राध एष्यन्यम्रोधा । ( एष्याश्च न्यम्रोधाश्च ) एष्य न्यम्रोध ये वृद्धविशेष हैं इनके दृष्ट में विरुद्ध से पुरुषज्ञात हो जाता है ।

पितृ निर्देश करना चाहिये । स्वप् इस प्रकार प्रकार लगाना चाहिये । नीर फिर कहना चाहिये कि यहाँ उसका पर्यायवाची विशेषवाचा तथा उसके स्वरूप का भा ग्रहण होता है । किस लिये । स्व आदि के लिये । स्व पुप यह सूत्र उदाहरण है । यहाँ स्व शब्द के स्वरूपग्रहण के साथ उसके पर्यायवाची तथा विनाशार्थी शब्दों के उपपत्ति होने पर भी पुप् धातु से अनुद् हो जाता है । स्वपोम् रपोपम् धनपोपम् इत्यादि ।

जित् निर्देश करना चाहिये । राजन् उ इस प्रकार प्रकार लगाना चाहिये । नीर फिर कहना चाहिये कि यहाँ उसका पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है । किस लिये । राजादि के लिये । मना राजाऽमनुष्यपूरा यह सूत्र उदाहरण है । यहाँ राजन् शब्द के पर्यायवाचियों का ग्रहण होकर इनसभम्, ईश्वरसभम् इस सनातनान्त पक्ष तत्पुरुष समाम में नपुमकटिज्ञ हो जाता है । राजन् शब्द के स्वरूप का ग्रहण न होने से राजाना यहाँ नपुमकटिज्ञ नहीं होता । इस प्रकार राजन् के विनाशार्थियों का ग्रहण न होने से पुत्रनिर्देशना चन्द्रगुप्तना यहाँ भी नपुमकटिज्ञ नहीं होता ।

क्षित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याचार्यम् ।

क्षिन्निर्देशः । कर्तव्यः । ततो वक्तव्यं तस्य च ग्रहणं भवति तद्विशेषाणां चेति । किं प्रयोजनम् । मत्स्याद्यर्थम् । पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति । मात्स्यिकः । तद्विशेषाणाम् शाफरिक । शाकुलिक । पर्याय-वचनानां न भवति । अजिह्वान् हन्ति । अनिमिषान् हन्ति । अस्ये-कस्य पर्यायवचनस्येभ्यते—मीनान् हन्ति मेनिकः ।

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ॥१॥१.६९॥

अप्रत्यय इति किमर्थम् ?

सनाशसभिध उ । अ साम्प्रतिके ।

अत्यल्पमिदमुच्यते अप्रत्यय इति । अप्रत्ययादेशटित्किम्मितः इति वक्तव्यम् । प्रत्यये—उदाहृतम् । आदेशे—इदम् इश् । इत इह । टिति—लघिता लघितुम् । किति—वभूव । मिति—हे अनङ्चन् ।

क्षित् निर्देश करना चाहिये । मत्स्य स इस प्रकार सकार लगाना चाहिये और फिर कहना चाहिये कि यहा उसके स्वरूप का तथा विशेषवाचियों का ग्रहण होता है । किस लिये ? मत्स्य आदि के लिये । पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति यह सूत्र उदाहरण है । यहा मत्स्य क स्वरूप का तथा विशेषवाचियों का ग्रहण होकर मात्स्यिक शफरिक शाकुलिक में ठक् प्रत्यय हो जाता है । पर्यायवाचियों का ग्रहण न हान स अजिह्वान् हान्त आनानशान् हन्त यहा ठक न होकर वाक्य ही रह जाता है अनिद्रा अनमिष ये मत्स्य क पर्याय हैं । इस एक पर्यायवाची मीन शब्द से तो ठक प्रत्यय इष्ट है । मीनान् हन्ति मेनिक यहा ठक हो जाता है ।

अप्रत्यय ग्रहण किस लिये किया है ? क्या जो करल प्रत्ययसञ्ज्ञक अण् हैं उसका ही सवर्णग्रहण में निषेध है या जो प्रतीयते विधायत इति प्रत्यय इस प्रकार प्रत्यय शब्द को यौगिक मान कर कोई भी विधीयमान अण् हैं उनका भी सवर्णग्रहण में निषेध है ?

सनाशसभिध उ अ साम्प्रतिक इन सूत्रों से विधीयमान उ और अ ये प्रत्ययसञ्ज्ञक अण् हैं इनमें सवर्णग्रहण का निषेध हा जाता है तो दीर्घ प्लुत उ अ नहीं होते ।

अप्रत्यय यह तो बहुत थोड़ा कहा गया है । इससे केवल प्रत्यय में ही

टितः परिहारः—आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न रिता सवर्णानां ग्रहणं भवतीति । यद्य ग्रहोऽलिटि दीर्घत्वं शास्ति ।

नेतदस्ति ज्ञापकम् । नियमार्थमेतत् स्यात् । ग्रहोऽलिटि दीर्घं प्येति ।

यत्तिहि 'वृत्तो वे'ति विभाषां शास्ति । सर्वेषामेष परिहारः—  
भान्यमानेन सरणानां ग्रहणं नेत्येष न भविष्यति । प्रत्यये भूयान्

सवर्णग्रहण का निषेध होता है । इसकी जगह अप्रत्ययादेशटितकिन्मित ऐसा कहना चाहिये । उससे प्रत्यय आदेश टित् किन् मित् इन सब में भी सवर्णग्रहण का निषेध हो जायगा । प्रत्यय में तो अभी सनासत्स० यह उदाहरण दीये है । आदेश में—इदम् इति सूत्र का इति, यह यह उदाहरण है । यहाँ इदम् के स्थान में इति आदेश हुआ है उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से विमात्रिके इकार नहीं होता । टित् में लविता लवितुम् (लृप्त-इदं लृप्, वृमुन्) यहाँ लृधानुस लृप् वृमुन् को इडागम हुआ है । वह टित् है । उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से दीर्घ प्लुत इकार नहीं होता । किन् में—अभूत् । यहाँ लृधानुस लिट् में भुगे वृग्लुट्लिटो से वृक् का आगम हुआ है । वह किन् है । उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से सानुनासिक वृत्तर नहीं होता । मित् में है अनङ्गत्वं । यहाँ अनङ्गत्वं शब्द से सम्बोधन में अम् सम्बुद्धी से अम् हुआ है । यह मित् है । उसमें सवर्णग्रहण का निषेध हो जाने से दीर्घ प्लुत अकार नहीं होता ।

प्रत्यय के साथ आदेश टित् किन् मित् में भी तो आपने सरणग्रहण का निषेध कहा है उनमें टित् का तो यह समाधान है कि आचार्य के व्यवहार से टित् अपने सरणिया का ग्रहण नहीं करेगा । यह जो ग्रहोऽलिटि दीर्घं सूत्र से इदं का दीर्घ विधान किया है उससे यह बात निश्चि होती है । अन्यथा टित् इदं का आगम अपने सरणा दीर्घ का ग्रहण कर ही लेता तो दीर्घविधान व्यर्थ है ।

यह कोई ज्ञापक नहीं । ग्रहोऽलिटि० में दीर्घ विधान तो नियमार्थ भा हो सगता है कि ग्रह से परे लिट्भिन्न इदं को दीर्घ ही हो । इतर या प्लुत न हो ।

ग्रहोऽलिटि० सत्र न मही । उससे भागे भागे वाडे वृत्तो वा सूत्र में

१. इति के विनाशविहित होने से त्यदादत्व का बार दोसर विमात्रिक इदम् ७ स्थान में विमात्रिक आदेश प्राप्त होता है ।



परिहार—जननिधानान् प्रत्ययः सवर्णान् न ग्रहीयति । यान् हि प्रत्ययः सवर्णान् गृह्णीयान् न तेरयस्याभिधानं स्यात् । जननिधानान्न भविष्यति ।

इदं तर्हि प्रतीयन् । इह केचित् प्रतीयन्ते केचिन् प्रत्याच्यन्ते । ह्रस्वाः प्रतीयन्ते दीर्घाः प्रत्याच्यन्ते । यच्च तूते प्रत्याच्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति तावदप्रत्यय इति ।

क पुनर्दाघेः सवर्णग्रहणेन गृहीयात् ?

ह्रस्वम् ।

यत्नाधिन्याघ्न ग्रहीष्यति ।

प्लुत तर्हि गृहीयात् ।

अनण्स्याघ्न ग्रहीष्यति ।

एव तर्हि सिद्धं सति यदप्रत्यय इति प्रतिषेधः शास्ति तज्ज्ञाप-  
यन्त्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा भाज्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति ।

प्रत्याख्यमानं दाघं अपने किस सवर्णों को ग्रहण करेगा ।

ह्रस्व का ।

दिमात्रारूप मन क आधिक्य से वह एकमात्रिक ह्रस्व को ग्रहण नहीं  
कर सकता ।

तो फिर प्लुत को ग्रहण कर लेवे ।

अण न होने से प्लुत का भी ग्रहण नहीं कर सकता । अण प्रत्याहार में  
ह्रस्व अकार हा पठित है दाघ नहीं । इस लिये दाघ अकार अण न हान से  
प्लुत का ग्रहण नहीं करेगा ।

तब तो सिद्ध हान पर तो अप्रत्ययग्रहण किया है वह इस बात का  
प्रारम्भ है कि भाज्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न यह परिभाषा हाता है । अर्थात् प्रत्यय  
दाघ यहा रुद्धि न मान कर प्रतायत विधायने शत प्रत्यय इस प्रकार योगिक  
माना जाता है अप्रत्यय है अवधायमान है वह अण अपने सवर्णों का ग्रहण करगा  
विशेषमान नहीं करेगा । उससे भाज्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न यह परिभाषा  
स्वतः सिद्ध हो जाता है ।<sup>१</sup>

१ य परिभाषा अण के सवर्णग्रहण में ही भाज्यमान का निषेध करती  
है । उद्विग्न क सवर्णग्रहण न यह निषेध नहीं होगा तो कुहोरेषु यो कु यदी  
शिधायमान प्लुत कुहोरे जादिने सवर्ण का ग्रहण हाता है । दगा वि य प्लुत गण  
भाज्यमानाऽण सवर्णेषु गृह्णाति इस प्रकार इस परिभाषा का स्वरूप मान कर सकते  
हैं । अतएव अत्राभावात् भाज्यमानाऽप्युक्तं सवर्णान् गृह्णाति यह परिभाषा है ।  
दिव उक्त में उक्त क तर करन से सा पत होता है ।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

अण् सवर्णस्येति स्वरानुनासिक्यकालभेदात् ।

अण् सवर्णस्येत्युच्यते । स्वरभेदादनुनासिकभेदात् कालभेदाच्च अण् सवर्णांश्च गृह्णीयात् । इष्यते च ग्रहण स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमिदमुच्यते ।

अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

तत्र प्रत्याहारग्रहणे सवर्णाग्रहणमनुपदेशात् ।

तत्र प्रत्याहारग्रहणे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति । अकः सवर्णे दीर्घ इति । किं कारणम् । अनुपदेशात् । यथाजातीयकानां सञ्ज्ञा कृता तथाजातीयकानां सम्प्रत्यायिका स्यात् । ह्रस्वानां च क्रियते ह्रस्वानामेव सम्प्रत्यायिका स्यात् दीर्घाणां न स्यात् ।

यह सूत्र किस लिये बनाया है ?

अण् सवर्णस्य० यह सूत्र इस लिये बनाया है कि उदात्तादि स्वरभेद अनुनासिकभेद तथा मात्रा आदि काल भेद से अण् अपने सवर्णियों को ग्रहण नहीं कर सकता । इष्ट है कि यह अपने सवर्णियों को ग्रहण करे । यह बात बिना यत्न के सिद्ध नहीं होती इस लिये यह सूत्र बनाया है ।

सूत्र का यह प्रयोजन है तें, किन्तु अक् आदि प्रत्याहारों के ग्रहण में प्रतीयमान इकारादि के द्वारा अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं प्राप्त होता । क्योंकि अक् आदि में इकारादि का अनुपदेश है । साक्षात् उच्चारण नहीं है । अकः सवर्णे दीर्घः में साक्षादुच्चारित अकार अण् तो अपने दीर्घप्लुतादि सवर्णियों को ग्रहण कर लेवे किन्तु अक् में साक्षात् अनुपदिष्ट किन्तु प्रतीयमान इकार उकारादि अण् अपने दीर्घप्लुतादि सवर्णियों का ग्रहण नहीं कर सकते । प्रत्याहारग्रहण सवर्णाग्रहण० इस वार्तिक का यह भाव भी है कि अक में अनुपदिष्ट ईकार का अक् ग्रहण से ग्रहण नहीं प्राप्त होता । क्योंकि वर्णमाला या प्रत्याहार में

१. यह केवल अण् के विषय में प्रश्न है । उदित् के विषय में नहीं । अण् के सवर्णाग्रहण के सम्बन्ध में ही विचार करना है । उदित् में तो सवर्णाग्रहण अभीष्ट तथा वाचनिक सिद्ध माना है ।

ननु च ह्रस्वाः प्रतीयमाना दीर्घान् सम्प्रत्याययिष्यन्ति ।

ह्रस्वसम्प्रत्यायादिति चेदुच्चार्यमाणशब्दसम्प्रत्यायकत्वाच्छब्दस्यावचनम् ।

ह्रस्वसम्प्रत्यायादिति चेदुच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति न सम्प्रतीयमानः । तद्यथा ऋगित्युक्ते सपाठमात्रं गम्यते ।

एष तर्हि वर्णपाठ एवोपदेशः करिष्यते ।'

वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः ।

वर्णपाठक्रमे उपदेश इति चेद् अवरकालत्वात् परिभाषाया अनुपदेशः ।

दीर्घं प्लुत ईकार अनुपदिष्ट है । प्रत्याहार सज्ञा जिस प्रकार के वर्णों की की गई है वह उसी प्रकार के वर्णों की प्रादिका या बोधिका होगी । ह्रस्वों की सज्ञा की गई है तो भक स ह्रस्व इकार ही गृहीत होना चाहिये, दीर्घे प्लुत नहीं

अक मवर्ण० में प्रत्यायमान ह्रस्व इकारादि अपने सवर्णी दीर्घे प्लुत ईकारादि का सम्प्रत्यायन करा देगा । भक् स ह्रस्व इकार प्रतीत होकर अपने सवर्णा दीर्घे प्लुत ईकार का भी प्रतीत करा देगा ।

भक में प्रतीयमान ह्रस्व इकारादि अपने सवर्णियों का प्रत्यायन नहीं करा सकते । क्योंकि साक्षादुच्चार्यमाण वर्ण ही अपने सवर्णी का प्रत्यायक होता है । प्रतीयमान नहीं । जैसे ऋक् ऐसा कहने पर केवल ऋक् शब्द से सहित-पाठ मात्र ही गम्यमान होता है और उसमें अग्निमाळे इत्यादि मन्त्र सन्निवेशविशिष्ट नचा नहीं जाना पाती ।

अप्यतः वर्णमाला में ही ह्रस्व अकारादि के साथ दीर्घे अकारादि का भी उपदेश कर देंगे उपदेश से यही तात्पर्य प्रत्यायन स है । ह्रस्व अकारादि भवन सवर्णग्रहण सहित प्रत्याहार में उपदिष्ट समझे जायेंगे ।

यदि वर्णमाला में ही सवर्णग्रहण सहित अकारादि वर्णों का उपदेश मानेंगे तो वह बनवा नहीं । क्योंकि सवर्णग्रहण कराने वाले इस सूत्र की नि-नति अवरकाल है । प्रत्याहारपद्य के बाद सवर्णग्रहण होने से प्रत्याहार में

किं परा सूत्रात् क्रियते इत्यतोऽवरकाला ।

नेत्याह । सर्वथावरकालेव । वर्णानामुपदेशस्तावत् । उपदेशो  
चरकाला इत्सञ्ज्ञा । इत्सञ्ज्ञोत्तरकाल आदिरन्त्येन सहेते'ति प्रत्याहारः ।  
प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसञ्ज्ञा । सवर्णसञ्ज्ञोत्तरकाल'मणुदित्सवर्णस्य  
चाप्रत्यय' इति । सेपाऽवरकाला उपदेशोत्तरकाला वर्णानामुत्पत्तौ  
निमित्तत्वाय कल्पिष्यते इत्येतन्न ।

तस्मादुपदेश ।

कतञ्चयः ।

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सगर्णग्रहणमनण्त्वात् ।

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति । 'अस्य क्वौ' ।  
'यस्येति चे'ति । किं कारणम् । अनण्त्वात् । नह्यतेऽणो येऽनुवृत्तौ ।  
के तर्हि ? येऽक्षरसमाम्नाये उपदिश्यन्ते ।

ही सवर्णग्रहण कैसे होगा । प्रत्याहार विधायक सूत्र से यह सवर्णग्रहणपरभाषा-  
शान्त्र भयवा ग्रहणकशास्त्र पश्चात् निश्चय्य होता है । इस भिय प्रत्याहार में  
इस सूत्र से सवर्णग्रहण नहीं हो सकता ।

क्या प्रत्याहार सूत्रों के बाद इसका क्रम है इस लिये यह सूत्र अवरकाल है ?

नहीं, सर्वथा यह सूत्र अवरकाल ही है । न केवल सूत्र पाठ के क्रम ■  
अपितु आर्थिक क्रम से भी इसकी उत्पत्ति बाद में है । पहले वर्णों का उपदेश  
होता है । उपदेश के बाद इत्सञ्ज्ञा । इत्सञ्ज्ञा के बाद आदिरन्त्येन सहता से  
प्रत्याहार । प्रत्याहार के बाद सवर्णसञ्ज्ञा । सवर्णसञ्ज्ञा के बाद कहीं जा कर  
अणुदित्सूत्र से सगर्णग्रहण होता है । इस प्रकार उक्त वाक्यपरिसमाप्ति से सब  
के बाद में होने वाला यह ग्रहणकशास्त्र वर्णों के उपदेशकाल में ही सगर्णग्रहण  
करान में निमित्त बन जायगा ऐसा नहीं हो सकता । इस लिये प्रत्याहार में ही  
इस्व अकारादि के साथ दीर्घ प्लुत अकारादि भी उपदिष्ट कर देने चाहिये ।  
इस्व अकारादि का पाठ दीर्घप्लुतों का उपलक्षक होगा । उससे दीर्घप्लुत भी  
उपदिष्ट समझे जायेंगे तो अङ् में उच्चार्यमाण अकार से आकार के समान  
प्रतीयमान इकार से ईकार का भी ग्रहण स्वतः हो जायगा तो प्रत्याहारों के  
लिये इस ग्रहणक शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं । इसके साथ ही—

अनुवृत्ति निर्देशों में भी इस सूत्र से इष्ट सिद्धि नहीं होती । शास्त्रप्रवृत्त

एव तर्हि अनणत्वादनुवृत्तौ न, अनुपदेशाच्च प्रत्याहारे न ।  
उच्यते चेदमण् सवर्णान् गृह्णातीति तत्र वचनाद् भविष्यति ।

उचनाद् यत्र तनास्ति ।

नेद वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ।  
स्मिन् । य एते प्रत्याहारणामादितो वर्णास्ते, सवर्णानां ग्रहणं यथा  
स्यात् ।

एव तर्हि ।

सर्वर्णेऽणग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणात् ।

सर्वर्णेऽणग्रहणमपरिभाष्यम् । कुत । आकृतिग्रहणात् । अवर्णा-

क अनुवृत्त निर्देश का अनुवृत्ति निर्देश कहते हैं । जैसे अग्य च्चौ । यस्यति च ।  
यहा जो अकार इकार हैं इन में ण कृ क आदि प्रत्याहार धिद्ध न होने से  
य अण नहीं कहे जा सकते । अण न होने से अनुवृत्तिस्त्र से सर्वणग्रहण नहीं  
प्राप्त होता । अणादि प्रत्याहारों में तो प्रतीयमानों के अनुपदिष्ट होने से वहाँ  
इसकी प्रवृत्ति नहीं हाता और अस्य च्चौ आद्यगुण इत्यादि अनुवृत्ति निर्देशों में  
अकारादि क अण न होने से इसकी प्रवृत्ति नहीं होती इस प्रकार यह सूत्र  
दोनों भाग से गया । ये अण नहीं हैं जो अस्य च्चौ यस्योत च आदि अनुवृत्ति  
निर्देशों में हैं । क्योंकि इनमें प्रत्याहार का कोई धिद्ध नहीं है जिससे हम इन्हें  
अण समझें । अण कौन है ? जो भक्षरसमाभ्याय अथवा वर्णमाळा में प्रत्याहार  
संज्ञक पद है ।

अप्या ता अनुवृत्ति निर्देशों में अण न होने से प्रत्याहारों में अनुपदिष्ट  
हान से यदि यह सूत्र नहीं लगेगा तो अण् सर्वर्णों का ग्रहण करता है, यह  
वचन व्यर्थ हो जायगा । उस अवस्था में वचन सामर्थ्य से अस्य च्चौ आदि  
क अकार का भी अण मान कर सर्वणग्रहण कर लिया जायगा ।

उचन सामर्थ्य से यह बात नहीं हो सकती । क्योंकि इस वचन का  
अन्य प्रयोजन है । क्या ? अर् मज्जन्, इच्छा यन्त्रि इत्यादि भक् इक् प्रत्याहारों  
में ण आदि क अकार इकारादि वर्ण हैं ये अण होने से अपन सर्वर्णों का ग्रहण  
कर सक । एतर्था यह सूत्र रह सकता है ।

यह तो अति लघु प्रयोजन है । इससे तो अच्छा यही है कि ध्वनिपक्ष

१ वचन गान्धर्व से बड़ी मज्जन्ग्रहण होगा जहाँ अर् भा नहीं है और मागान्  
उच्चारण भा नहीं है, अर् अर् में तो दोनों हैं । ऐसा भाष्य का अधरार्थ है ।

कृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ।

ननु चान्ग आकृतिरकारस्य । अन्या चाऽऽकारस्य ।

अनन्यत्वान्च ।

अनन्याकृतिरकारस्याकारस्य च ।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकरः ।

यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासाधन्यत्वं करोति । तद्यथा न यो गोश्च गोश्च भेदः सोऽन्यत्वं करोति । यस्तु खलु गोश्चाश्वस्य च भेदः सोऽन्यत्वं करोति । अपर आह—

सर्वेणऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वं ।

सर्वेणऽण्ग्रहणमपरिभाष्यम् । आकृतिग्रहणादनन्यत्वं भविष्यति । अनन्याकृतिरकारस्याकारस्य च ।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकरः ।

यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासाधन्यत्वं करोति । तद्यथा न यो गोश्च गोश्च भेदः सोऽन्यत्वं करोति । यस्तु खलु गोश्च अश्वस्य च भेदः सोऽन्यत्वं करोति ।

को छेड़ कर भाकृतिपक्ष पर जाति पक्ष मान लिया जाय । उस पक्ष में इस सूत्र का यत्किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं होगी । सर्वणग्रहण करने के लिये अण्ग्रहण वाला यह अणुदिसूत्र अपरिभाष्य है । अवश्य है । यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये । क्योंकि आकृति पक्ष का मान लेगे । आकृति का अर्थ एकाकारानुगत जाति है । सर्वत्र अवर्ण की जाति का उपदेश मानेंगे वह अवजायाकान्त अवर्ण मात्र को ग्रहण कर लेंगे । हररक साथ दीर्घप्लुत आदि सब का ग्रहण हो जायगा । इसी प्रकार इरण् उरण् की आकृति का ग्रहण होने से सभी प्रकार के इ, उ का ग्रहण हो जायगा ।

जब अकार की आकृति ( आकार ) अन्य है और आकार की अन्य है तो अकार से आकार का ग्रहण कैसे होगा ।

अकार और आकार की आकृति अन्य नहीं है । एक ही है । जो अनियम से भेद है उससे अन्यता नहीं होती । अ और आ क ध्रुवण छलन में मात्रा भेद होने पर भी मूलतः अन्व जाति में कोई भेद नहीं है । अनेकान्तः

तद्वच्च हलप्रहणेषु ।

एवं च कृत्वा हलप्रहणेषु सिद्धं भवति । श्लो श्लि । अयात्ताम् ।  
अयात्तम् । अयात्त । यत्रेतन्नास्ति-अप् सवर्णान् गृह्णातीति ।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकर ।

इत्युक्तार्धम् ।

द्रुतमिलम्बितयोश्चानुपदेशात् ।

द्रुतमिलम्बितयोश्चानुपदेशान् मन्थ्यामहे आहृतिप्रहणात् सिद्ध-  
मिति । यदप्य कस्यां चिद् दृत्तौ वर्णानुपदिश्य सर्वत्र कृती भवति ।

अनिरत<sup>१</sup> । अवयवाननुगत जो भेद है वह अनन्यत्वकर=अभेद कारक होता है ।  
जो काली गौ या सफ़ेद गौ का भेद है वह दोनों गौओं में भेद नहीं करता  
किन्तु जो गौ और घोड़े का भेद है वह दोनों में भेद करता है । दूसरे भाषाएँ  
इसी बात को यूँ कहते हैं—सर्वजम्बुहण के लिये अणुदित्स्त्र अवच्छेद्य है ।  
क्योंकि आहृति पक्ष में ज्यों में अनन्यता एवं अनिष्टता हो जायगी । अकार  
और आकार की अन्व जाति एक ही है । भाग की व्याख्या पूर्व के समान है ।

आहृति का जाति पक्ष को मान कर ही हल प्रहणों में भी कार्य सिद्ध  
किया जाता है । यहाँ अणु न होने से अणुदित्स्त्र से सर्वजम्बुहण होने का प्रश्न  
ही नहीं उठता । जैसे स-१। श्रुति का उदाहरण अयात्ताम् अयात्तम् अयात्त है ।  
( वस् मिर्-मुक्त ताम्, तन्, त ) यहाँ वस् धातु से लुङ् में सिष् पर रहते  
गः ग्यारहवृत्त से ण् के सकार का ठकार हुआ है । दो ठकारों के मध्य में  
स्थित मिर् के सकार का श्रुते जाति में लोप करने में यह अड़पट आती है  
कि श्रुत् में पर शल् नहीं है । क्योंकि शल् प्रत्याहार में एक ही ठकार पड़ा है ।  
दूसरा ठकार को ना आहृतिपक्ष में श्रुत् मानकर श्रुते जाति से लोप सिद्ध हो  
जाता है । भेद अभेद ही होता है यह पहले कह चुके हैं ।

भाषाएँ द्वारा द्रुत और मिलम्बित वृत्तियों में वर्णों का उपदेश न  
करने में ना मध्यम वृत्ति में वर्णों का उपदेश करके सर्वत्र कृतार्थ हो जाते हैं  
उसका कारण यह आहृतिप्रहण ही है ।

१ यहाँ केवल भेद की ही प्रतीति न हो किन्तु अभेद की भी हो ।



अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

वृत्तिपृथक्त्व तु नोपपद्यते ।

वृत्तेः पृथक्त्वं नोपपद्यते ।

तस्मात् तत्र तपरनिर्देशात् सिद्धम् ।

तस्मात् तत्र तपरनिर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । क्रियते न्यास एव । अतो भिस् ऐस् इति ।

तपरस्तत्कालस्य ॥११७०॥

अयुक्तोऽयं निर्देशस्तत्कालस्येति । तदित्यनेन कालः प्रति निर्दिश्यते । तदित्ययं च वर्णः । तत्रायुक्तं वर्णस्य कालेन सह सामानाधिकरण्यम् ।

आहृति पक्ष का यह प्रयोजन तो ठीक है किन्तु उस पक्ष को मानने पर वृत्तियों की पृथक्ता नहीं बनती । मात्रा भेद से होने वाली ह्रस्व दीर्घ प्लुतादि वृत्तियों का भेद तो आवश्यक है । वह प्रयोगसाधन में आपको भी अभीष्ट है । परन्तु आहृति पक्ष को मानने पर वह भेद सिद्ध नहीं होता । ह्रस्व अकार से परे जो कार्य विहित है वह आहृति पक्ष में दीर्घ अकार से परे भी प्राप्त होता उससे खट्वाभि यहाँ खट्वा शब्द के आकार से परे भिस् को ऐस् हो जाना चाहिये ।

ह्रस्व दीर्घादि वृत्तियों के भेद के लिये वहाँ तपरनिर्देश कर देगे । तपर होने से तपरस्तत्कालस्य के नियम से तत्काल का ग्रहण हो जायगा तो आहृति पक्ष से प्राप्त दोष न रहेगा । वैसे तपरनिर्देश करने की आवश्यकता भी नहीं है । जहाँ तपर अभीष्ट है वहाँ सूत्र से पढ़ले से किया हुआ ही है । जैसे—अतो भिस् ऐस् यहाँ अत में तपर करने से ह्रस्व वृत्ति वाला अकार ही लिया जायगा । दीर्घ वृत्ति वाला न लिया जायगा तो खट्वाभि में भिस् को ऐस् न होगा ।

तत्कालस्य यह निर्देश ठीक नहीं है । क्योंकि तद् शब्द से आप काल को सामानाधिकरण रूप से विशेषित करते हैं । स कालो यस्य स तत्कालः । वह वर्ण है काल जिसका यहाँ तद् शब्द वर्ण का परामर्शक, बोधक है । उसमें वर्ण का काल के साथ सामानाधिकरण्य नहीं बनता । वर्ण काल कैसे हो सकता है ?

कथं तर्हि निर्देशः कर्तव्यः ।

तत्कालकालस्येति ।

किमिदं तत्कालकालस्येति ।

तस्य कालः तत्काल । तत्कालः कालो यस्येति सोऽयं तत्काल-  
कालः तत्कालकालस्येति ।

स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोऽत्र  
द्रष्टव्यः । न तथा उपद्रुमुत्तमिन् मुख्यस्य सोऽयमुपद्रुमुत्तः । त्वरमुखः ।  
एवं तत्कालकालः तत्कालः तत्कालस्येति । अथवा साहचर्यात् ताच्छब्दं  
भविष्यति । कालसहचरितो वर्णोऽपि काल एव ।

किं पुनरिदं नियमार्थमाहोस्यित् प्रापकम् ?

कथं च नियमार्थं स्यात् कथं वा प्रापकम् ।

ता किं कस्य निर्देशः करना चाहिये ।

न तत्कालकालस्येति ।

यह तत्कालकालस्येति क्या है ?

इस वर्ण का जो काल है । वह तत्काल हुआ । फिर उस वर्ण के काल  
के समान है काल जिसका यह तत्कालकाल बना । यही काल के समान काल  
हो सकता है इस लिये यह निर्देश दीक है ।

तो फिर तत्कालकालस्येति ऐसा निर्देश कर दिया जाय । इस को समझते हैं  
कं ई भाष्यकता नहीं । यही उत्तरपद का लोप हुआ समझना चाहिये ।  
श्रीम—उपद्रुमुत्तमिन् मुख्यस्य सोऽयमुपद्रुमुत्तः यही मन्त्रमुपनानपूर्वपदस्य वाच्यो वा  
चोत्तरपदस्य इति शक्तिः स उपद्रुमुत्तमिन् समास होकर उत्तरपद मुख्य पद का  
लोप होता है वैसे यही तत्कालके उत्तरपद काल पद का लोप हो गया है ।  
दूसरे काल पद का अर्थ सम्प्रदान होने से उसका अप्रयोग ही यही लोप  
समझिये । अथवा काट के साधनसे वर्ण को भी उपचार से काट पद का  
प्रयोजन हो जायगा । ता उपद्रुमुत्तमिन् । उस पद का प्रयोग ।

क्या यह मूल नियमार्थ है वा प्रापक है अर्थात् सिध्यर्थ है ।

कैसे यह नियमार्थ हो सकता है और कैसे सिध्यर्थ ?

यद्यप्राणग्रहणमनुवर्तते ततो नियमार्थम् । अथ निवृत्त तत-  
प्रापकम् ।

कश्चात्र विशेषः ।

तपरस्तत्कालस्येति नियमार्थमिति चेद् दीर्घग्रहणे स्वरभिन्नाग्रहणम् ।

तपरस्तत्कालस्येति नियमार्थमिति चेद् दीर्घग्रहणे स्वरभिन्नानां  
ग्रहणं न प्राप्नोति । केषाम् । उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकानाम् ।

अस्तु तर्हि प्रापकम् ।

प्रापकमिति चेद् ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतप्रतिषेध ।

प्रापकमिति चेद् ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः ।

यदि इसमें पूर्व सूत्र से अण् ग्रहण की अनुवृत्ति लात हैं तो नियमार्थ है । और यदि अण् की अनुवृत्ति न ला कर अण् अनण् सभी तपरो में इसकी प्रवृत्ति मानते हैं तो विध्यर्थ है ।

इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है ?

यदि यह सूत्र नियमार्थ है तो इसकी प्रवृत्ति तपर अणों में ही होगी । तपर अनणों में न होगी तो रुदिरादैव् में आत् यह तपर अनण् है । उसमें तत्काल का नियम न होगा तो उदात्त अनुदात्त स्वरित अनुनासिक भेद भिन्न छ प्रकार के सवर्णी आकारों की वृद्धि सज्ञा न हो सकेगी । केवल किसी एक दीर्घ आकार की ही वृद्धि सज्ञा होगी । अणुदिसूत्र तो अण् में ही सरणग्रहण करने से आत् इस अनण् में लग नहीं सकता । इस प्रकार नियमार्थ मानन पर दीर्घ के ग्रहण में स्वर भिन्नों का ग्रहण नहीं प्राप्त होता ।

तो फिर इसे प्रापक या विध्यर्थ मान लीजिये ।

यदि इस सूत्र को विध्यर्थ मानते हैं तो इसकी प्रवृत्ति अण् अनण सभी तपरो में होगी । तब ह्रस्व तपर अणां में अणुदिसूत्र से सवर्णग्रहण होकर दीर्घप्लुत का ग्रहण भी प्राप्त होता है उसका निषेध कहना होगा । जैसे अतो भिस् ऐस् में ह्रस्व तपर अण् अत में अकार है । उसमें सवर्णग्रहण होकर दीर्घप्लुत अकार से परे भी भिस् को ऐस् प्राप्त होगा । तपरस्तत्कालस्य यह सूत्र तो वहा तत्काल का नियम कर नहीं सकता क्योंकि यह दीर्घ अनण् तपरो में लगने से चरितार्थ है ।

न वक्तव्यः ।

विप्रतिषेधात् सिद्धम् ।

अण् सवर्णान् गृह्णातीत्येतदस्तु । तपरस्तत्कालस्य वा । तपरस्तत्कालस्येत्येतद् भवति विप्रतिषेधेन । अण् सवर्णान् गृह्णातीत्यस्यायमाशः ह्रस्वा अतपरा अणः । तपरस्तत्कालस्येत्यस्यावसादा दीर्घास्तपराः । ह्रस्वेषु तपरेषून्मये प्राप्नोति । तपरस्तत्कालस्येत्येतद् भवति विप्रतिषेधेन ।

यद्येवं ।

द्रुताया तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसद्वान् कालभेदात् ।

द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कर्तव्यं, तथा मध्यमायां द्रुतविलम्बितयोः, तथा विलम्बितायां द्रुतमध्यमयोः । किं पुनः कारणं न सिध्यति । कालभेदात् । ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिरास्ते मध्यमायां, ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिरास्ते विलम्बितायाम् ।

इस तरह अणों में दीर्घप्लुत के ग्रहण का निषेध कहने की आवश्यकता नहीं । विप्रतिषेध से सिद्ध हो जायगा । अतो निम् एम् यहाँ अतः में अणुद्विस्त्रु से मरणग्रहण करें या तपरस्तत्कालस्य में तरकाळ का विधान करें । दोनों का प्राप्ति में परविप्रतिषेध से तपरस्तत्कालस्य ही हो जायगा तो तरकाळ का विधान होकर दीर्घप्लुत भकार से परे निम् को एम् न होगा । अणुद्विस्त्रु का अरकात इस भरतर अण है । तपरस्तत्कालस्य का अरकात दीर्घ तपर है । तब तरां में दोनों प्राप्त होते हैं । पर होने से तपरस्तत्कालस्य हो जायगा ।

यदि यह सूत्र तरकाळ का विधान करके निषेध काळ की व्यावृत्ति करता है तो द्रुत वृत्ति में तरर करने पर मध्यम और विडम्बित वृत्तियों में तरकाळता नहीं प्राप्त होती । वहाँ तरकाळता कहनी होगी । इसी प्रकार मध्यम के तरर में द्रुत विडम्बित में और विडम्बित के तरर में द्रुत मध्यम में तरकाळता करना होगा । क्या कारण है जो उक्त वृत्तियों में तरकाळता नहीं सिद्ध होती ?

१. त्रिग वृत्ति में तरर दिया हो उनमें निषेध वृत्ति में प्रयोग में निम् से एम् आदेश की प्राप्ति न होने में एम् आदेश का उपन्यास करना चाहिए यह सिद्ध है ।

सिद्ध त्वग्रस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अवस्थिता वर्णा दुतमध्यमविलम्बितासु । किंरुतस्तर्हि वृत्तिचिंशेषः । वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते । वक्ता कश्चिदाश्वभिधायी भवति । आशु वर्णानभिधत्ते । कश्चिच्चिरेण । कश्चिच्चिरतरेण । कश्चिच्चिरतमेन । तद्यथा तमेवाध्वानं कश्चिदाशु गच्छति । कश्चिच्चिरेण कश्चिच्चिरतरेण कश्चिच्चिरतमेन । रथिक आशु गच्छति । आश्विकश्चिरेण । पदातिश्चिरतरेण । शिशुश्चिरतमेन ।

वियम उपन्यासः । अधिकरणमत्राध्वा प्रजिक्रियाया । तत्रायुक्तं यदधिकरणस्य वृद्धिहासौ स्याताम् ।

कालभेद होने से । दुत वृत्ति में जो वर्ण बोले जाते हैं मध्यम वृत्ति में उससे तीन हिस्से अधिक काल लगता है । और मध्यम वृत्ति में जो वर्ण बोले जाते हैं विलम्बित वृत्ति में उससे भी तीन हिस्से अधिक काल लगता है ।

दुत जादि वृत्तियों में तरकालता सिद्ध हो जायगी । क्योंकि तीनो वृत्तियों में वर्ण उसी प्रकार अवस्थित रहते हैं । उनका अपना अपना नियत काल है । फिर वृत्तिभेद क्या प्रतीत होता है ? वक्ता के देर या जल्दी में बोलने के कारण । वस्तुतः उच्चारण में ही भेद है । वर्ण की स्थिति में कोई भेद नहीं । कोई वक्ता जल्दी बोलने वाला होता है । जल्दी वर्णों को बोल जाता है । कोई देर में । कोई उससे देर में । कोई उससे भी देर में । जैसे एक ही रास्ते को कोई जल्दी पार कर जाता है । कोई देर में । कोई उससे देर में । कोई उससे भी देर में पार कर जाता है । रथवाला जल्दी पार कर जाता है । घोड़े वाला देर में । पैदल उससे देर में । और बच्चा उससे भी देर में पार करता है ।

यह मार्ग का दृष्टान्त ठीक नहीं बनता । मार्ग तो जाने का स्थिर स्थान बना हुआ है । वह बनाया नहीं जाता । जल्दी या देर में जाने से उसका क्या घटना बढ़ना । यहा तो वर्णों का उच्चारण प्रयत्न से करना होता है । उसमें जल्दी या देर करने से वर्णों पर प्रभाव पड़ता है । प्रयत्न भेद से वृत्ति भेद हो जाने से वर्णों के काल में भेद हो जाना चाहिये ।

१. चिर और अचिर काल पर्यन्त उपलब्धि का निमित्त वृद्धि व हास वर्णों में होना चाहिये ऐसा आशेषक का भाव है ।

एवं तर्हि स्फोटः शब्दः । ध्वनिः शब्दगुणः । कथम् ।

भेर्याघातप्रत् ।

तद्यथा भेर्याघातः भेरीमाहृत्य कश्चिद् विंशति पदानि गच्छति ।  
कश्चित् त्रिंशत् । कश्चिच्चत्वारिंशत् । स्फोटस्तावानेष भवति ।  
अनिरुता वृद्धिः ।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।

अल्पो महान्श्च केषांचिदुभयं तत् स्वभायतः ॥

भरणा तो स्फोट को शब्द मान लीजिये ध्वनि शब्द का गुण है । व्यञ्जक होने से उसका उपकारक है । कैसे ? भेर्याघात की तरह । भेरीमाहन्तीति भेर्याघात । नगाड़ा बजाने वाला । जैसे कोई नगाड़ा बजाने वाला नगाड़ा बजा कर इसकी ध्वनि को सुनाता हुआ बीस कदम जाता है, कोई तीस कोई चाबीस । ( त्रितमो दूर तक नगाड़ की आवाज़ जा सकती है वहाँ तक जा कर आगे आवाज़ पहुँचाने के लिये फिर नगाड़ा बजाता है ) स्फोट अर्थात् नगाड़े का विस्फोट सर्वत्र एक समान है । केवल ध्वनि ही घटती बढ़ती प्रतीत होती है । ध्वनि और स्फोट व्यञ्जक और व्यङ्ग्य—ये दो पदार्थ हैं । शब्दों की व्यञ्जक ध्वनि केवल बाह्य श्रवणन्द्रिय से भव्य जगत्वा महान् लक्षित होती है । स्फोट सब ध्वनियों में अभिन्न ही रहता है । व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनों स्वभाव से

१ ध्वनि दो प्रकार की है—प्राकृत तथा वैकृत । भर्तृहरि ने इनका ऐसे वर्णन दिया है—

पणस्य प्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरन्यते ।

यूषिभेदे निमित्तस्य वैकृतः प्रतिपद्यते ॥

शब्दोऽप्योर्ध्वमभिव्यक्तवृत्तिभेदाय वैकृतः ।

२ स्फोट व्यङ्ग्य है । ध्वनि व्यञ्जक है । स्फोट का अर्थ यही है कि शब्दावर्णोद्गमनात् । जिसके उच्चारण करने से अर्थ की शृङ्खला प्रतीति होती है वह अर्थ का प्रत्यक्ष व्यञ्जक शब्द का प्रत्यक्ष या वाच्यरूप है यही स्फोट है । वह निश्चय है । अब शब्दानुशासनम् सूत्र पर भावव्यक्ति ने येनोपचारितेन सास्त्राद्याङ्गुल-कटुरगुणितानिना सप्रत्ययों नयति स शब्दः और अथवा प्रतीत्यपदार्थको छोड़ ध्वनि शब्द इत्युच्यते यह कह कर दो प्रकार के शब्द के लक्षण पहले स्पष्ट किये हैं वन्दी को मदी मरण मचना चाहिये ।

## आदिरन्त्येन सहेता ॥११॥७१॥

आदिरन्त्येन सहेतेत्यसम्प्रत्यय सञ्ज्ञिनोऽनिर्देशात् ।

आदिरन्त्येन सहेतेति असम्प्रत्ययः । किं सारणम् । संज्ञिनोऽ-  
निर्देशात् । नहि संज्ञिनो निर्दिश्यन्ते ।

सिद्ध त्वादिरिता सह तन्मव्यस्येति वचनात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । आदिरन्त्येन सहेता गृह्यमाणः स्वन्व्य च  
रूपस्य ग्राहकः तन्मभ्यानां चेति यक्तव्यम् ।

सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यम् ।

सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यमेतत् । तद्यथा सम्बन्धिशब्दाः मातरि  
वर्तितव्यम् । पितरि शुभ्रपितव्यमिति । न चोच्यते स्वस्यां मातरि  
अवस्थित है । ( इनके अस्तित्व में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं ) व्यक्त शब्दों में  
तो स्फोट और ध्वनि दोनों विद्यमान होते हैं । क्योंकि वहाँ अर्थ का बोध होता  
है । किन्तु अव्यक्त शब्दों में अर्थवाचकत्व रूप शक्ति न होने से स्फोट नहीं  
होता । केवल ध्वनि ही होती है ।<sup>१</sup>

आदिरन्त्येन सहेता इस संज्ञा सूत्र में सञ्ज्ञी का निर्देश न होने से सूत्र  
का अर्थ स्पष्ट अवबुद्ध नहीं होता । इतना कहा है कि आदिरन्त्येन सहेता ।  
इसको अन्वित करके बोलें तो अन्त्येन इता सह आदि यह होता है । संज्ञा  
का प्रकरण होने से सूत्र का इतना ही अर्थ समझ में आ सकता है कि—  
अन्तिम इत्संज्ञक के साथ जो आदि यह संज्ञा होता है । किसकी संज्ञा होता  
है, उस सञ्ज्ञी का निर्देश ही नहीं किया । जैसे न्व रूप शब्दम्य म शब्दम्य,  
अणुद्विसवर्णस्य मे सवर्णस्य, तरस्तत्कालस्य मे तत्कालस्य, येन विप्रित्तन्तस्य मे  
तदन्तस्य इद्विर्यस्याचामाद मे यस्य, इन पष्ठी विभक्तियों से सञ्ज्ञी का निर्देश  
क्रिया है वैसे यहाँ भी पष्ठी विभक्ति से संज्ञी का निर्देश करना चाहिये ।

ठीक है । आदिरिता सह तन्मव्यस्य ऐसा सूत्र बना देंगे । उससे तन्मव्यस्य

१. यहाँ भेर्याघात का दृष्टान्त उपलब्धि की समानता दिखाने के लिये  
दिया गया है । जिस प्रकार प्रयत्न विशेष से उत्पन्न हुआ भेरी का शब्द कोई  
तो थोड़े समय तक सुनता है । कोई चिर तक और कोई अधिक चिर तक, इसी  
प्रकार दुतादि वृत्तियों में उपलब्धि का भेद है विषय ( वर्ण स्फोट ) का भेद नहीं ।

स्यस्मिन् पितरीति । सम्बन्धाच्च गम्यते या यस्य माता यो यस्य पितेति ।  
 एवमिहापि आदिरन्त्य इति सम्बन्धिशब्दाच्चेतौ । तत्र सम्बन्धादेतद्  
 गन्तव्यम् । य प्रति य आदिरन्त्य इति च भवति तस्य ग्रहणं भवति  
 तस्य च नृरस्यनि ।

इस सज्ञा का निर्देश स्पष्ट हो जायगा । अर्थ होगा—अन्तिम इत्सङ्ग के साथ  
 जो भादि वणं यह अपन मध्यगामी वणों का तथा स्वरूप का सज्ञा या  
 माहक होता है । सज्ञाभूत भादि अन्य वणों में स्वरूप भी भादि का ही लिया  
 जायगा, अन्य का नहीं । यह तो सज्ञी के प्रत्यायन में उपक्षीण होकर स्वयं  
 निवृत्त हो जायगा । इस प्रकार तन्मध्यस्य इस सज्ञी के निर्देश से अन्य सज्ञा  
 मूत्रों के समान इस सज्ञा मूत्र की रचना हो जायगी तो सूत्र का अर्थ स्पष्ट हो  
 जाता है ।

अथवा आदिरन्त्यन सहजा यही सूत्र रहने दीर्घव्य । सम्बन्धी शब्दों  
 के समान यहाँ भी सज्ञी का निर्देश स्वयं समस्त लिया जायगा । जैसे—माता  
 की भाजा मानना चाहिये । पिता की सेवा करना चाहिये इन वाक्यों में माता  
 पिता ये सम्बन्धी शब्द हैं । यहाँ अपनी माता या अपने पिता इस प्रकार  
 भजना चाहें न लगाने पर जो माता पिता के सम्बन्ध से यह बात समस्त छी  
 जाता है कि जो जिसका माता या जो जिसका पिता है उसको उसकी आज्ञा  
 माननी या सेवा करनी चाहिये । इसी प्रकार यहाँ भा आदि और अन्य ये  
 शब्द सम्बन्धी शब्द हैं । यहाँ सम्बन्ध से यह बात जान ली जायगी कि जिसके  
 प्रति जो भादि अन्य हो सकता है यह यहाँ सज्ञा है । भादि और अन्य ये  
 मनुजित मजा अपन मध्यगत सञ्चियों का आक्षेप स्वयं करा दूगी । उससे  
 अन्य इत्सङ्ग मङ्गित भादि वणं अपन मध्यवर्ती वणों और अपने स्वरूप  
 का माहक हो जायगा ।

१ यदपि भाष्यकार तथा चार्तिककार न इन प्रवाहार्थज्ञ विधायक सूत्र  
 में 'य' के निर्देश का व्यवहार उचित समझ कर उक्त ममाधान कर दिया है  
 यानी सूत्र में 'य' का व्यवहार करने पर यह स्पष्ट हो रहा है कि सज्ञी निर्देश के  
 बिना इन सूत्र में कोई मङ्गल अस्पष्ट रहता है । भाद्विनिता सह तन्मध्यस्य इन  
 शब्दों में 'य' का व्यवहार तथा अर्थ गौरव है । इनमें कोई मङ्गल नहीं कि यह चार्तिककार  
 ने करने का या कि सूत्रकार या निनि के इन सूत्र में मङ्गल अधिक स्पष्ट है ।



## येन विधिस्तदन्तस्य ॥११॥७२॥

इह कस्मान्न भवति । इको यणचि । दध्यत्र मध्वत्र ।

अस्तु । अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यन्त्यस्य भविष्यति ।

नैवं शक्यम् । येऽनेकाल आदेशास्तेषु दोषः स्यात्—एचोऽयवा-  
याव इति ।

नैव दोषः । यथैव प्रकृतितस्तदन्तविधिर्भवति एवमादेशतोऽपि  
भविष्यति । तत्रैजन्तस्यायाचन्ता आदेशा भविष्यन्ति ।

यदि चैवं कचिद् धैरूप्यं तत्र दोषः स्यात् । ब्रह्मोदकम् । ब्रह्मेन्द्रः ।

यहाँ दध्यत्र, मध्वत्र में यण् करने वाले इको यणचि में येन विधिरतदन्तस्य  
सूत्र से तदन्तविधि क्यों नहीं होती? तदन्तविधि होकर इजन्त के स्थान में  
यण हो अजादि पर रहते ऐसा अर्थ हो जाना चाहिये । अचि में सप्तमी होने  
से यस्मिन् विधिस्तदादाबल्ग्रहणे से तदादिविधि होकर अजादि अर्थ हो जायगा ।

हो जावे । अलोन्त्यस्य के नियम से इजन्त दधि मधु शब्दों के अन्त्य इकार  
उकार के स्थान में यण् हो जायगा ।

ऐसा नहीं हो सकता । इको यणचि में दोष न सही । परन्तु जो अनेकाल्  
आदेश हैं तदन्तविधि मानने पर उनमें दोष हो जायगा । जैसे—एचोय यावः  
यद् अय् भव् आदि आदेश अनेकाल् हैं । एचोऽयवायाव में तदन्तविधि होने  
पर एजन्त के स्थान में अयादि आदेश होंगे तो अनेक लृशित् सर्वस्य के नियम  
से अलोन्त्य को बाध कर सर्वादेश प्राप्त होगे । उस अवस्था में चयनम् के स्थान  
में अयनम् यह अनिष्ट रूप प्राप्त होता है ।

यह कोई दोष नहीं । जैसे प्रकृति से तदन्तविधि होगी वैसे आदेश से  
भी हो जायगी तो एजन्त के स्थान में अयाचन्त आदेश होकर चयनम् यही  
शुद्ध रूप रहेगा । प्रकृति=स्थानी ।

यदी इस प्रकार प्रकृति और आदेश दोनों में तदन्तविधि मानने से  
कहीं शब्द में विरूपता आ जायगी तो वहाँ दोष प्राप्त होता है । जैसे—ब्रह्म-दः ।  
ब्रह्मोदकम् । यहाँ आद्यगुणः सं होने वाले गुण एकादेश में पूर्व पर दोनों में  
तदन्त तदादिविधि हो जायगी तो सूत्र का अर्थ होगा—अवर्णान्त समुदाय से अजादि  
समुदाय पर रहते पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होता है तो अवर्णान्त

अपि चान्तरङ्गबहिरङ्गे न प्रकल्पोगताम् । तत्र को दोषः । स्योनः  
स्योना । अन्तरङ्गलक्षणस्य यणादेशस्य बहिरङ्गलक्षणो गुणो बाधकः  
प्रसज्येत । ऊनशब्दमाधित्य यणादेशो नशब्दमाधित्य गुणः ।

अलविधिश्च न प्रकल्पोत्त । यो पन्थाः स इति । तस्मात् 'प्रकृते  
तदन्तविधिरिति' नि उक्तव्यम् ।

समुदाय मन्त्र स पर भञ्जादि समुदाय इन्द्र उदक के रहते पूरे पर क स्थान  
में गुण है कर प भा रूप ही मुनाई देंग ।

इसके अतिरिक्त मंत्र तदन्तविधि मानने पर अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भी सिद्ध  
नहीं होंगे । उ भी गणवद्वा चायेंगे । जो अब अन्तरङ्ग है वह तदन्तविधि  
होन से बहिरङ्ग हो आयगा और जो बहिरङ्ग है वह अन्तरङ्ग हो आयगा । यही  
क्या द प है ? स. न स्योना ( सिक्-न ) यही अन्तरङ्ग यणादेश को बाध कर  
बहिरङ्ग लघुसधगुण हान लगगा । सिक् धातु में बीणादिक न प्रत्यय पर रहते  
लघुसधगुण, गगा च शत्रु स वकार का लोप, और चट्टो घृष्टनुनासिक च मे  
यकार का ऊर्ध्व भादन य लान कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं । उनमें ऊर्ध्व भादन  
बलोप का भरण है हान से और लघुसधगुण का अन्तरङ्ग हान से बाध लगा है ।  
ऊर्ध्व फान पर निऊन इस नरस्था में लघुसधगुण और यणादेश प्राप्त होते  
हैं । अब ता इस पन्थि इस यणादेश के अन्तरङ्ग होन से लघुसधगुण को बाध  
कर पड़ते यण हो जाता है । मू वनन पर सारंथातुक गुण हाकर स्योन बन  
जाता है । किन्तु इस पन्थि में तदन्त-नशदिरि र मानन पर इगन्त के स्थान  
में भञ्जादि पर रहते यण हागा ता निऊन इस स्थिति में भञ्जादि ऊन शब्द  
का मान कर ।। का यण प्राप्त होता है और न शब्द को निमित्त मान कर सिद्ध  
के लघुसधगुण प्राप्त होता है । दोनों में गुण के अन्तरङ्ग हो जान से बहिरङ्ग  
यण का बाध कर पड़ते लघुसधगुण हो आयगा ता अनिष्ट रूप प्राप्त होगा ।

मंत्र तदन्तविधि मानन पर अन्तविधि भी नहीं बनगी । ८ पन्थाः ॥  
( दिव, पथिन्, षट्-न्तु ) यही १.३ और्ध्व, पथिन्पट्नु तानात्, त्वशानन स  
हान शत्रु यकारन औ, ना, अ य भादन अब ता अञ्जोन्व परिभाषा के निषम  
स दिव के वकार पथिन् के नकार, षट् के दकार के स्थान में होते हैं । किन्तु  
५ मन्त्र मूत्र में ना तदन्तविधि होन पर मूत्र का अर्थ होगा—जो पथि-  
निर्दिष्ट है उसका मन्त्र अर्ध है अन्त में त्रिमक एव अन्य अष्टमसमुदाय को  
भादन होगा है । अब जी भादि म अन्य अर्ध के स्थान में भादन न होकर

न वक्तव्यम् । येनेति करण एषा तृतीया । अन्येन चान्यस्य विधिर्भवति । तद्यथा देवदत्तस्य समाश शरावेरोदनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते । तथा सग्राम हस्त्यश्वरथपदातिभिः । एवमिहाप्यचा धातोर्यत् विधत्ते । अकारेण प्रातिपदिकस्य इज विधत्ते ।

येन विधिस्तदन्तस्येति चेद् ग्रहणोपाधीना तदन्तोपाधिप्रसङ्गः ।

येन विधिस्तदन्तस्येति चेद् ग्रहणोपाधीना तदन्तोपाधिताप्रसङ्गः ।

दिष् भादि भग्न्य अलन्तसमुदाय को भादन प्राप्त होगे तो अनिष्ट रूप प्राप्त होगा । इस लिये प्रवृत्त म तदन्तविधि कहनी चाहिये । प्रवृत्त प्रस्तुत भर्थाव जहा तदन्तविधि अभीष्ट है उस प्रस्तुत विषय म ही तदन्तविधि होती है सर्वत्र नहीं होती ऐसा कहना चाहिये ।

प्रवृत्त म तदन्तविधि कहने की आवश्यकता नहीं । यन विधिस्तदन्तस्य यहा येन यह करण कारक में तृतीया है, कर्ता में नहीं है । करण कारक कर्ता का साधक या उपकारक होता है । एक में अन्य स अन्य का कार्य हुआ करता है । जैसे देवदत्त क घर होने वाले सहभान का यज्ञदत्त भादन शकोरे भादि पदार्थों से तैयार करता है । शत्रु क प्रति उसक सग्राम को हाथी घोड रथ तथा पैदल सवारों स तैयार करता है । वैसे यहा भी अचो यत् कह कर अच् साधन क द्वारा धातु से यत् विधान किया हे । यहा अच, धातु का विशेषण बन कर उसका उपकारक हाता है । उसस विशेषण म तदन्ताविधि होती है यह बात सिद्ध हो जाती है । इसा प्रकार नत इज कह कर अकारविशेषण द्वारा प्रातिपदिक से इज विधान किया है । तो अकार प्रातिपदिक का विशेषण बनता है । जहा विशेष्य का किता विशयण से विशयित किया जायगा वहा उस विशेषण म तदन्तविधि हो जायगा सर्वत्र नहीं हागी यह बात सूत्र से ही निकल आता है । उसस इो यणवि एच अवावाच में इक् भादि के विशेषण न होने से तदन्तविधि न होगा । वहा धातु या प्रातिपदिक का कोई विशेषण या उपकारक होगा वहा विशेषण म तदन्तविधि होगी सर्वत्र न होगी इस लिये प्रवृत्ते तदन्तावाध कहन की कोई आवश्यकता नहीं ।

यन विधिस्तदन्तस्य यह सूत्र हान पर यह दाप है कि जो ग्रहण की उपाधिया हैं वे तदन्त की उपाधिया प्राप्त होती हैं । सूत्र म जो सम्बद् ग्रहण किया है उसकी जो उपाधि एव विशेषण हैं वे तदन्तविधि होने पर सूत्रागृहीत

ये ग्रहणोपाधयः ते तदन्तोपाधयः स्युः । तत्र को दोषः । उतदच प्रत्ययादसयोगपूर्वादिति असयोगपूर्वग्रहणमुत्तरान्तविशेषण स्यात् । तत्र को दोषः । असयोगपूर्वग्रहणेन इहेन पयुदास स्यात्—अदणुहीति । इह न स्यात्—आप्नुहि शक्नुहीति । तथा 'उदोष्ठपूर्वस्ये'ति ओष्ठपूर्वग्रहणमुत्तरान्तविशेषण स्यात् । तत्र को दोषः । ओष्ठपूर्वग्रहणेन इह प्रमज्येत । सर्वार्थेण सर्गार्थमिति । इह च न स्यात् निपूर्ताः पिण्डा इति ।

मिदं तु विशेषणविशेष्ययोर्विधत्वात् ।

सिद्धमतम् । कथम् । यथेष्ट विशेषणविशेष्ययोर्विधौ भवति । यावता यथेष्टम् इह तावदुतदच प्रत्ययादसयोगपूर्वादिति नासयोगपूर्वग्रहणन उकारान्तविशेष्यतः । किं तर्हि उकार एव विशेष्यते । उकारो गच्छेद् भन्त म त्रिसक उभक्त उपाधिया प्राप्त होता है । यहाँ क्या दोष है । उकार प्रत्यय मय गूणा यहाँ अमयागूणा यह विशेषण भव ता सूत्र में पठित १ अर्थात् उकार का है । तदन्तविधि होने पर उकारान्त का हो जायगा तो मात्रापूर्वता से १ गुण १ गुण ( अक्ष, तद्ध इनु-लोट् सिप् ) यहाँ ही द्वित्व का निषेध हो सकता है । आप्नुहि शक्नुहि ( आप्, शक् इनु-लोट् सिप् ) में न हो सकता है । यथाक अङ्गुहि में उकारान्त इनु प्रत्यय से पूर्व ध का सयोग है । किन्तु १ गुण में उकारान्त इनु से पूर्व कल भारका प्रकार है, यह सयोग नहीं है । उकार से पूर्व सयोग मानने पर तो दाना जगह सयोग पूर्व में ही जान से द्वित्व का निषेध सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार उदात्तपूर्वत्व में भाट्टापूर्व यह विशेषण भव ता सूत्रादित्वात् अकार का है । तदन्तविधि होने पर अकारान्त का हो जायगा तो गणन् गणन् ( सम् कृ गृ त् ) यहाँ हार प्राप्त होगा यथाकि अकारान्त कृ गृ त् से पूर्व सम् का मकार भाट्टात् पूर्व में है । किन्तु निपूर्ता ( निपूर्वक ) यहाँ अकारान्त पूर्व में पूर्व नि का हकार भाट्टात् पूर्व में नहीं है, इस नियम यहाँ उत्तर न हो सकता है । अकार से पूर्व भाट्टात्त्व माना जा ता निपूर्ता न उत्तर हो जायगा । सङ्क्षेप में नहीं होगा ।

निदान और विशेष्य का सम्बन्ध यथेष्ट होने से उक्त दोष न होगा । अब यदि यह विशेष्यनाम हमारा द्विधा क अर्थान है तो इन उदात्त प्रत्ययों में अमयागूणा अक्ष का उकारान्त का विशेषण न बनाकर उकार का ही विशेषण बनायगा । गूण का अर्थ होगा—अमयागूणात् ता प्रत्यय का उकार तदन्त अक्ष से पर १६ का उक्त होता है । अतः अङ्गुहि और आप्नुहि दोनों प्रत्यय

योऽसंयोगपूर्वस्तदन्तात् प्रत्ययादिति । तथा उदोष्ठपूर्वस्येति नौष्ठपूर्वग्रहणेन ऋकारान्तं विशेष्यते । ऋकारान्तो यो धातुरोष्ठपूर्व इति । किं तर्हि । ऋकार एव विशेष्यते । ऋकारो य ओष्ठपूर्वस्तदन्तस्य धातोरिति ।

समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ।

समासविधौ प्रत्ययविधौ च प्रतिषेधो वक्तव्यः । समासविधौ तावत् । द्वितीया श्रितादिभिः समस्यते । कष्टश्रितः । नरकश्रितः । कष्ट परमश्रित इत्यत्र मा भूत् । प्रत्ययविधौ । नडस्यापत्यं नाडायनः । इह न भवति । सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः ।

किमविशेषेण ?

उकार से पूर्व संयोग होने से हि का लुक् नहीं होगा । उदोष्ठपूर्वस्य मे भी हम ओष्ठपूर्वग्रहण को ऋकारान्त का विशेषण न बना कर ऋकार का ही बनायेंगे तो सूत्र का अर्थ होगा—ओष्ठवर्ण है पूर्व मे जिसके ऐसा जो ऋकार तदन्त धातु को उत्पन्न होता है । उससे निपूर्ताः मे उत्पन्न हो जायगा । संकीर्णम् संगीर्णम् मे नहीं होगा ।

समासविधि और प्रत्ययविधि मे तदन्तग्रहण का निषेध कहना चाहिये । समासविधि मे जैसे—द्वितीया श्रितात्तानपतितः सूत्र से द्वितीया सुबन्त का श्रित भादि सुबन्तों के साथ तत्पुरुष समास होता है । वह कष्ट श्रित कष्टश्रितः नरक श्रित, नरकश्रितः यहाँ केवल श्रित के साथ हो जायगा किन्तु कष्ट परमश्रितः यहाँ श्रितान्त के साथ न होगा । समास न होकर कष्ट परमश्रित, यह वाक्य ही रह जायगा । प्रत्ययविधि मे जैसे—नडस्यापत्यं नाडायनः । यहाँ नडादिभ्यः फक् से गोत्रापत्य मे रिधीयमान फक् प्रत्यय केवल नड से तो हो जायगा परन्तु सूत्रनड यहाँ नडस्तदन्त से न होगा । तो सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः यहाँ फक् न होकर अन इन् से इन् हो जाता है । अनुशक्तिकादीनां च से उभयपद वृद्धि हो जाती है ।

क्या सामान्य रूप से सभी प्रत्ययविधियों मे तदन्तविधि का निषेध होता है ?

नेत्याह ।

उगिद्ग्रहणवर्गम् ।

उगिद्ग्रहण वर्णग्रहण च यजयित्वा । उगिद्ग्रहणम् 'उगितश्च' । भयती । अतिभयती । महता अतिमहती । वर्णग्रहणम् अत इम् । दाक्षि-  
प्याक्षि ।

अस्ति चेदानीं कथित् केयलोऽकारः प्रातिपदिक यदर्थो विधि  
स्यात् ।

नहीं । उगिद्ग्रहण और वर्णग्रहण वाली प्रत्ययविधियों को छोड़ कर ।  
उगिद्ग्रहण श्रम—उगित्च स विधायमान दाप्प्रत्यय नयती यहाँ यत्तु  
प्रत्ययान्त नयत्तु गन्ध स ता हाता ही है । तदन्तग्रहण हाकर अतिभयत्तु स  
नी हा जायगा ता अतिभयता बन जाता है । अतश्चायता नयता अतिभयता ।  
भयन्तम् अतिभयन्ता अतिभयता । उभयथा समास इष्ट है । शत्रु प्रत्ययान्त  
महता में श्रम दाप् हाता है वैसे तदन्तग्रहण हाकर अतिमहता में नी हा जाता  
है । महान्तरकता आनन्दता यह प्रादि समास है । उगितश्च सूत्र म  
अनु गन्धार् का अधिकार न होने से उत्पन्न म नी दाप् हा जाता है । वर्णग्रहण  
श्रम—ता इन सूत्र क उदाहरण दाति प्याक्षि है । ( दक्षस्य पृथक्स्य  
भयत्यम् ) यहाँ अत इन सूत्र म अत यह भकार वर्ण का ग्रहण है । उसमें  
तदन्तविधि हा जायगा ता भकारान्त दक्ष पृथक् शब्दों स दम् हाकर दा ।  
प्याक्षि बन जात है ।

यथा काह भक्त्या भकार रूप प्रातिपदिक ना है जिसके द्विष अत इम्

१ जो महत्त्व शब्द का गौरादिप्रत्यय न पाठ माना है उनका मत में महती  
न हर्तान पर भा अतिमहता में हर्तु नहीं प्राप्त होता । क्योंकि यहाँ  
अनुपसर्गनाम्न का अधिकार होने । उपसर्ग में हर्तु न हागा । उगितश्च स  
'विधायन' न हर्तु ता उ उदने म न हा जा गा । यहाँ अनुपसर्गनाम्न का अधिकार  
नहीं है । वास्तुतः गौरादिप्रत्यय महत्त्व शब्द का पाठ प्राप्तादिक है इन्में शत्रुशत्रुमो  
नयतादि पर वर्ण शब्द पृथक्पृथक् समर्थमानम् यह शराशरान्तक वर्तिक हा  
शब्द है । अन्यथा लोभ हान पर ना था उदात्तस्य स्वतः सिद्ध था उचक  
द्विष महत्त्व शब्द का प्रथम मान करना प्यथ है । इस द्विष अतिमहती क उभय  
महता में नी हर्तु हा करना इष्ट है । पाठ नहीं ।

अस्तीत्याह । अततेडः, अः । तस्यापत्यम् इः ।

अकच् इनम्बत. सर्वनामाव्ययधातुविधावुपसख्यानम् ।

अकञ्चतः सर्वनामाव्ययविधौ इनम्बतो धातुविधावुपसख्यानं कर्तव्यम् । अकञ्चतः—सर्वके । विद्वके । अव्ययविधौ—उच्चकैः नीचकैः । इनम्बतः—भिनत्ति छिनत्ति ।

सूत्र चरितार्थ हो सकता है । यदि नहीं तो स्वयमेव अकारान्त प्रातिपदिक लिया जायगा उसके लिये उण्वग्रहण में तदन्तविधि का बचन कहना व्यर्थ है ।

है । अकेला अकाररूप प्रातिपदिक भी है । जिसके लिये अन इन् सूत्र से इन् विधान चरितार्थ हो सकता है । जैसे—अततेड अ । तस्यापत्यम् इः । अत् धातु से उ प्रत्यय करके अ बनता है । उस अ इब्द से अपत्य अर्थ में इज् होकर इः बन जाता है । यस्यति च से अ शब्द का लोप होकर इज् प्रत्ययमात्र शेष रहता है ।

अकच् वाले शब्द की सर्वनाम और अव्ययसंज्ञा करने में तदन्तविधि कहनी चाहिये । और इनम् वाले शब्द की धातुसंज्ञा करने में तदन्तविधि कहनी चाहिये । अकच् वाले की सर्वनामसंज्ञा में जैसे—सर्वके विद्वके । अज्ञातः सर्वः सर्वक । यहां सर्व शब्द से अज्ञातादि अर्थ में अव्ययसर्वनाम्नामन् प्राक्टेः से अकच् हुआ है । वह सर्व की टि से पूर्व होने से सर्वक मध्य में आ गया है । यह सर्वक शब्द न तो सर्व ही है और न सर्वशब्दान्त है । दोनों से विलक्षण है । इसे तदन्तविधि से सर्वशब्दात् मान कर सर्वादीन सर्वनामानि से सर्वनाम संज्ञा हो जायगी तो उस शी से उस में शी होकर सर्वक निश्चय बन जाते हैं । अव्ययविधि में जैसे—उच्चकै नीचकै । यहां भी उच्चैन् नीचन् अव्ययों से अव्ययसर्वनाम्नाम् से टि से पूर्व अकच् हुआ है । उच्चकैन् शब्द न तो उच्चस् है और न उच्चैस् शब्दान्त है । तदन्तविधि से उच्चैस् शब्दान्त मान कर स्वरादिनिपातमव्ययम् से अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो जाती है । इनम् शब्द की धातु संज्ञा में जैसे—भिनत्ति छिनत्ति । यहां भिद् छिद् धातुओं से लट् में तिप् पर रहते इनम् विकरण हुआ है । वह भिदचोऽन्यात् पर क नियम से भिद् छिद् के अन्त्य अच् से परे होकर भिनद् छिनद् ऐसा बनता है । यह भिनद् न तो भिद् है और न ही भिद् शब्दान्त है । तदन्तविधि से भिद् शब्दान्त मान कर धातु संज्ञा हो जायगी तो बातों से अन्तोदात्त स्वर सिद्ध हो जाता

किं पुनः कारण न सिध्यति ।

इह तस्य वा ग्रहण भवति तदन्तस्य वा । न चेद तत् । नापि तदन्तम् ।

सिद्ध तु तदन्तान्तवचनात् ।

सिद्धमेतत् । नयम् । तदन्तान्तवचनात् । तदन्तान्तस्येति यक्तव्यम् ।

किमिदं तदन्तान्तस्येति ।

तस्यान्तः तदन्तः । तदन्तोऽन्तो यस्य तदिदं तदन्तान्तः, तदन्तान्तस्येति ।

स तर्हि तथा निदृश कर्तव्यः ।

है। यहाँ इनमें प्रत्यय हाँगा हुआ भी मिले जाने में आगम है। इस छिपे जायना जो भी आगम इस परिभाषा से प्रत्ययस्वर की बाधा होकर यह अनुदात्त रहगा या सतिशिष्ट धातुस्वर ही पृष्ठव्य होगी। यदि धातुस्वर को बाध कर यहाँ सतिशिष्ट इनमें प्रत्यय का स्वर ही पृष्ठव्य मान तो अभिन (भिनर्त्त मित्र) यहाँ यह स सिद्ध पर रहत दध से दकारान्त धातु को विधायमान रख करन क नियम भिनर्त्त का धातुसंज्ञा सर्वत्र आरक्ष्यक है।

यहाँ कारण है या अक्षर या अ और इनमें वाले अक्षर की उक्त संज्ञाएँ नहीं मिलें होती ?

यहाँ या या उक्त पठित दण्ड का ग्रहण होता है या तदन्त का । ( यह है अन्त में मिले उगका ) अक्षर और इनमें या अ दण्ड न तो यह है और न तदन्त है ।

यन नि अन्तान्त का उगह यन विविक्तदन्तान्तस्य कहन से उक्त दोष न हागा ।

यह अन्तान्त क्या है ।

उक्त दण्ड का अन्त अन्त हुआ। यह है अन्त में मिले यह तदन्तान्त हागा । यह दण्ड का अन्त अकार है। यह अक्षर या अ सर्वत्र दण्ड का अन्त में है हा। भिन् का अन्त दकार है। यह भिन् का अन्त न है हा। इस प्रकार अक्षर या अ और इनमें या अ दण्ड में भी उक्त संज्ञाएँ मिलें हा जायेंगी ।

ता विर यन विविक्तदन्तान्तस्य यथा गूत बना दें ।



न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोऽथ द्रष्टव्यं तद्यथा उष्ट्रमुखमिव  
मुखमस्य उष्ट्रमुखः । खरमुख । एवमिहापि तदन्तं अन्तो यस्य  
सोऽयं तदन्तः तदन्तस्येति ।

तदेकदेशविज्ञानाद्वा सिद्धम् ।

तदेकदेशविज्ञानाद्वा पुनः सिद्धमेतत् । तदेकदेशभूतः (तद्ग्रहणेन  
गृह्यते) तद्यथा गङ्गा यमुना देवदत्तेति । अनेका नदी गङ्गा यमुना च  
प्रविष्टा गङ्गायमुनाग्रहणेन गृह्यतः । देवदत्तास्थो गर्भो देवदत्ताग्रहणन  
गृह्यते ।

विषम उपन्यासः । इह कचिच्छब्दा अक्षपरिमाणानामर्थानां  
वाचका भवन्ति । य एत सख्याशब्दाः परिमाणशब्दाश्च । पञ्च  
सन्तेति । एकेनाप्यपाये न भवन्ति । द्रोण खारी जाडकमिति नेचा  
धिके भवन्ति न न्यूनैः । केचिद् यावदेव तद् भवति तावदेवाहुः ।  
य एत जातिशब्दा गुणशब्दाश्च । तैल घृतमिति । खार्यामपि भवति  
द्रोणेपि । शुक्लो नील वृष्ण इति हिमवत्यपि भवति वटकणिका  
मात्रेऽपि त्रये । इमाश्चापि सखा अक्षपरिमाणानामर्थानां क्रियन्ते ता  
केनाधिकृत्य स्युः ।

काई आवश्यकता नहीं । यन विधिसदन्तस्य स उत्तरपद भन्त शब्द  
का छाप हुआ समझिय । जैसे उष्ट्रमुखामिव मुख यस्य स उष्ट्रमुख खरमुख  
यहां उष्ट्रमुख क उत्तरपद मुख का छाप होता है वैसे यहां भी तदन्त शब्द  
क उत्तरपद भन्त शब्द का छाप हो गया है । उससे तदन्तात् का ही अर्थ  
निकल भाग्या ।

अथवा तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणन गृह्यत इस परिभाषा से क्या न होगा ।  
इस परिभाषा का अर्थ है 'ता जिसका एकद्वय एवं अत्यव्यवचना होना है वह  
उसके ग्रहण से गृहीत हो जाता है ।' जैसे गङ्गा यमुना देवदत्ता इन उदाहरणों  
से दृष्टव्यः । अनेक नदियां गङ्गा यमुना में मिलने पर गङ्गा यमुना कहलाती  
हैं । देवदत्ता स्त्री में स्थित गर्भ देवदत्ता कहलाता है । वहां सर्व में स्थित  
अक्ष और भिद् में स्थित इनम् भी सर्व एवं भिद् के ग्रहण से गृहीत हो  
जायेंगे ।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं । यहां कुछ शब्द निश्चित परिमाण वाले द्रव्य  
के वाचक होते हैं । जैसे जाय सख्या शब्द या परिमाण शब्द हैं । पांच या

एव तर्ह्यचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—तदेकदेशभूत तदग्रहणेन गृह्यते इति । यद्य 'नदमदसोरकोरि'ति सकारयोस्त्विदमदसोः प्रतिषेधः शास्ति ।

कथं दृष्ट्वा ज्ञापकम् ?

इदमदसोः कायमुच्यमान ए प्रसङ्गो यत् सकारयो स्यात् । पश्यति व्याचार्यस्तददशभूत तदग्रहणेन गृह्यत इति ततः सकारयोः प्रतिषेधः शास्ति ।

कानि पुनरस्य यागस्य प्रयोजनानि ?

साठ इत मक्या शब्दां म एक भा मक्या कम होन पर पाँच या साठ नहीं रहा । द्रण = १६ सर ) गारा ( ६४ सर ) भाठक ( ४ सर ) य परमाणु द्रव्य है । ता नवन सिद्धि परमाणु स न ता अधिक म प्रयुक्त हात है न न्यून न । उक्त मय शब्द हात है ता अधिक या न्यून गिना नी हा उस सय म प्रयुक्त हा जात है । स ता य जाति द्रव या गुण द्रव्य है । तैल या घा य जाति शक्क द्रव्य है । य गादे खास नर तैल हा या द्राण नर हा दानां में समान रूप स स्वरक्त हात है । सद्र काका नाग य गुण याचक द्रव्य है । य भा पादे सिमाठय मक्य हा या घट्टक का याचक सद्र हा दानां में समान रूप स प्रयुक्त हात है । यही व्याकरण शास्त्र में य सर्वनाम भावि सज्ञापे नी निश्चित परिमाण याच द्रव्य की, का जाता है ये अधिक का कैस हो सकता है । सर्वनामभक्त मयादिगम म सर्व शब्द का निश्चित परिमाण है । सर्वक का सर्व कैस समस्त मय है । दया प्रकार निनद्र का निद्र नहीं समस्त मक्य ।

भण्डा ता भाषाये काव्यरक्षत द्रव याच का जाचक है कि ता न न्यून हा प्रमाण है । यह परिभाषा हाता है । यह ता नदमदमारथ म मय कद कर जाति म द्रव्य भग्य म पर । य का एम् का निरप क्रिया है उमस यह याच मिद हाता है ।

न ता गो म मय कैस जाचक दुभा ?

कता ददन् ता का कहा दुभा कार्य ककारसहित ददन् भद्र का प्राप्ति हा सकता है । किन्तु भाषाये द्रव्य है कि ता जिमका एकद्व या भाषय वन जाता है य उमक द्रव्य म गृहीत हा जाता है ता भक्त सहित ददन् भद्र भी ददन् भद्र क द्रव्य म गृहीत हात है । उनन पर भिम का एम् राकन क विष भया यह प्रतिषेध करत है ।

हम मूत्र क क्या प्रयोजन है ?

प्रयोजन सर्वनामाव्ययसञ्ज्ञायाम् ।

सर्वं परमसर्वं । विश्वे परमविश्वे । उच्चैः परमोच्चैः । नीचैः परमनीचैरिति ।

उपपदविधौ भयादृचादिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । भयकरः । अभयकरः । आढ्यकरणम् । स्वाढ्यकरणम् ।

डाब्बिगुविद्ग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । भवती अतिभवती । महती अतिमहती ।

प्रतिषेधे स्वत्तादिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । स्वसा । परमस्वसा । दुहिता । परमदुहिता ।

सर्वनामसञ्ज्ञा और अव्ययसञ्ज्ञा में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । जैसे—सर्व यहा सर्वनामसञ्ज्ञा हाकर उस की हो जाता है वैसे सर्वशब्दान्त परमसर्व में भी हो जाता है । उच्च यहा चैस स्वरादिनिपात० से अव्ययसञ्ज्ञा होकर सुप् का लुक् हाता है वैसे तदन्तविधि से उच्चैस शब्दान्त परमोच्चैस से भी हो जाता है ।

भय आढ्य आदि उपपद वाले कृदन्ता में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । जैसे भयकर यहा भेषर्तिभेषु कृत् से भय उपपद होने पर खच् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से भयशब्दान्त अभय शब्द उपपद होने पर भी खच् प्रत्यय हाकर अभयकर बन जाता है । आढ्यकरणम् में चैस आढ्य उपपद होने पर आढ्य मुभग स्थूल० से ख्युन् प्रत्यय हाता है वैसे तदन्त विधि से आढ्य शब्दान्त स्वाढ्य करणम् में भा हो जाता है ।

उपपत्त्य से द्वीप कान में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । भवती में जैसे उपपत्त्य से द्वीप हाता है वैसे तदन्तविधि से अतिभवती में भी हो जाता है । महता के समान अतिमहता में भा हो जाता है ।

न पट् स्वत्तादिभ्यः से ङाप् निषध में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । स्वसा में जैसे न पट् स्व० से ङाप् का निषध होता है वैसे तदन्तविधि से परमस्वसा में भी हा जाता है । दुहिता की तरह परमदुहिता में भी हो जाता है ।

अपरिमाणविस्तादिग्रहणं च ।

अपरिमाणविस्तादिग्रहणं च ङीप्प्रतिषेधे प्रयोजनम् । 'अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुक्' इति । द्विविस्ता द्विपरमविस्ता । त्रिविस्ता त्रिपरमविस्ता । द्वाचिता द्विपरमाचिता ।

दिति ।

दिनिग्रहणं च प्रयोजनम् । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरपत्यमादित्यः । दित्यदित्यादित्येत्यदितिग्रहणं न कर्तव्यं भवति ।

रोप्या अण् ।

रोप्या अण् ग्रहणं च प्रयोजनम् । आजकरीणः । सैहिकरीणः ।

ङीप् का निषेध करने वाले अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुक् इस सूत्र में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । जैसे द्विविस्ता द्वाचिता यहाँ द्विगुलमास में विस्त आचित शब्दों से परे तद्धित का लुक् होने पर अपरिमाणविस्ताचित० से ङीप् का निषेध होता है वैसे तदन्तविधि से विस्त आचित शब्दान्त द्विपरमविस्ता द्विपरमाचिता में भी हो जाता है ।

दिति शब्द में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । दितेरपत्य दैत्यः । जैसे दित शब्द से अपत्य अर्थ में दित्यदित्यादित्यन्युत्तरपदान्यः से ण्य प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से दिति शब्दान्त अदिति से भी होकर आदित्यः बन जाता है । दित्यदित्या० सूत्र में अदिति ग्रहण भी नहीं करना पड़ता । तदन्तविधि से दित शब्द से ही अदिति का भी ग्रहण हो जायगा ।

रोणी शब्द से अण करने में तदन्त का ग्रहण होना प्रयोजन है । रोप्या अदूरभव रोण जैसे यहाँ केवल रोणी शब्द से रोणी इस सूत्र से चातुरार्थक अण् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से आजकरीणः सैहिकरीणः में भी हो जाता है ।<sup>१</sup>

१. आजकरीण सैहिकरीणः यहाँ अनुसृतिरुदि के आकृतिगण होने से उभयपद वृद्धि माननी चाहिये । अन्यथा आजकरीणः सैहिकरीणः यह पाठ भाष्यसम्मत मानना चाहिये । सभी मुद्रित भाष्य पुस्तकों में उभयपद वृद्धि वाला ही पाठ उपलब्ध होता है । वह विद्वानों द्वारा विमृश्य है ।

तस्य च ।

तस्य चेति चक्तव्यम् । रौणः ।

किं पुनः कारण न सिध्यति । न तदन्ताच्च तदन्तविधिना सिद्धं केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेन ।

व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

किं पुनः कारण व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

इह सूत्रान्तादृग् भवति । दशान्तादुो भवतीति केवलादुत्पत्तिर्मा भूदिति ।

तदन्तग्रहण के साथ उस शब्द के अपन स्वरूप का भा प्रहण होता है यह कहना चाहिये । उससे केवल रौणी शब्द से भी अण् प्रत्यय होकर रौणः बन जाता है ।

क्या कारण है जो रौणी आदि शब्दों में तदन्त के साथ उसके स्वरूप का भी प्रहण नहीं मिट होता ? क्या तदन्तविधि द्वारा रौणी शब्दान्त से और व्यपदेशिवद्भाव द्वारा केवल रौणी का ही रौणाशब्दान्त मान कर केवल रौणा से अण् सिद्ध नहीं हो सकता ?

अमुरय में मुख्यवत् व्यवहार को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं । व्यपदेशिवद्भाव से रौणी को रौणीशब्दान्त मान कर उससे अण् नहीं कर सकते । क्योंकि व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन यह परिभाषा है । इसका अर्थ है—प्रातिपदिक को छोड़ कर व्यपदेशिवद्भाव होता है । अर्थात् प्रातिपदिक से प्रत्यय करने में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता । उससे केवल रौणी शब्द रौणीशब्दान्त की तरह नहीं माना जा सकता । केवल से अण् करने के लिये तस्य च यह वचन आवश्यक है ।

क्या कारण है जो प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता ?

यहां कृत्वयादिसूत्रान्तादृक् इस सूत्र द्वारा सूत्र शब्दान्त से ठक कहा है । और तदस्मिन्नस्मिन्निति दशान्तादृ इस सूत्र द्वारा दशन् शब्दान्त से ड कहा है उसका प्रयोजन यह है कि केवल सूत्र या दशन् शब्द से ठक् या ड प्रत्यय न हो । यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव होवे तो केवल सूत्र या दशन् शब्द को भी सूत्रान्त दशान्त मान कर उक्त प्रत्यय प्राप्त हो जाने चाहिये उस अवस्था में अन्तग्रहण व्यर्थ है । यही अन्तग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता ।

१. माध्य में कारण शब्द प्रयोजन वाची है ।

नतदस्ति ज्ञापकम् । सिद्धमत्र तदन्ताच्च तदन्तविधिना केवलाच्च  
व्यपदेशिवद्भावेन । सोऽयमेव सिद्धे सति यदन्तग्रहण करोति तज्ज्ञाप  
यत्याचार्यः सूत्रान्तादेव दशान्तादेवेति ।

नात्र तदन्तादुत्पत्ति प्राप्नोति । इदानीमेव ह्युक्त समासप्रत्यय-  
विधौ प्रतिषेध इति ।

सा तद्व्यापारिभाषा कर्तव्या ।

न कर्तं या । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यपा परिभाषा व्यपदेशि-  
वद्भावोऽप्रातिपदिकनति । यद्य पूर्वादिनि सपूर्वाच्च त्याह ।

यह काह ज्ञापक नहीं । यहा सूत्र शब्दान्त या दशन् शब्दान्त स तो  
तदन्तविधिद्वारा उक्त प्रत्यय सिद्ध हैं । केवल सूत्र या दशन् स व्यपदेशिव  
द्भावद्वारा सूत्रान्त या दशन् शब्दान्त मान कर सिद्ध हैं फिर जो दोनों सूत्रों  
म अन्तग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि यहा सूत्रशब्दान्त या  
दशन् शब्दा त स ही उक्त प्रत्यय हो । केवल को व्यपदेशिवद्भाव स सूत्रान्त  
दशान्त मान कर न हो ।

उक्त दोनों सूत्रों मे अन्तग्रहण के बिना तो तदन्त स उक्त प्रत्यय प्राप्त  
ही नहा इ त । क्योंकि अभी ऊपर कह चुके हैं समासप्रत्ययावधौ प्रतिषेध ।  
अर्थात् प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती । इसी को दूसरे  
शब्दों म इस परिभाषा क नाम स कहत हैं ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्त-  
विधनास्त । जब प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक स तदन्तविधि का निषेध  
है तो उक्त दोनों सूत्रों म अन्तग्रहण किय बिना सूत्रान्त या दशान्त से  
प्रत्यय न होकर केवल सूत्र या दशन् शब्द स प्राप्त होंगे । ये केवल स न  
बल्कि सूत्रान्त या दशान्त से ही हों इस लिय वहा अन्तग्रहण करना सफल  
हो जाता है । उसम भी यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव द्वारा केवल सूत्र  
या दशन् को भी सूत्रान्त या दशान्त मान कर उक्त प्रत्यय करना चाहें तो  
अन्तग्रहण सर्वथा व्यर्थ हो जाता है । इस प्रकार इसी अन्तग्रहण स य दोनों  
परिभाषाय ज्ञापित हो जाती हैं कि—ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधनास्त  
और व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

तो फिर व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन यह परिभाषा बना दें ।

कोई आवश्यकता नहीं । अन्यत्र भी आचार्य क व्यवहार से यह परिभाषा

नतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ।  
सपूर्वादिनि वक्ष्यामीति ।

यत्तर्हि योगविभागं करोति । इतरथा पूर्वात् सपूर्वादिनिः इत्येव  
ब्रूयात् ।

किं पुनरयमस्यैव शेषस्तस्य चेति ।

नेत्याह । यद्यानुक्रान्तं यद्यानुकस्यते सर्वस्यैव शेषस्तस्य चेति ।

ज्ञापित हो जाती है । आचार्य ने जो पूर्वादिनि, सपूर्वाच्च यह दो सूत्र बनाये हैं  
वही इस परिभाषा का ज्ञापक है । यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव होता तो  
केवल पूर्वशब्द को ही व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्वक ( विद्यमानपूर्वक ) मान कर  
सपूर्वाच्च सूत्र से ही केवल पूर्व शब्द से भी इनि सिद्ध हो जाता । और पूर्वात्  
यह व्यर्थ होता ।<sup>१</sup>

यह कोई ज्ञापक नहीं । पूर्वादिनि सूत्र के पृथक् बनाने का तो अन्य  
प्रयोजन है । क्या ? यह कि आगे सपूर्वादिनि. ऐसा पढ़ेंगे उसमें पूर्वादिनिः  
के अन्तर्गत में विद्यमान पूर्वक पूर्वशब्द व्यवहृतिक से भी इनि प्रत्यय होने  
लगेगा, जो अनिष्ट होगा । पूर्वादिनि के रहने पर तो उसकी अनुवृत्ति होने पर  
विद्यमानपूर्वक पूर्व शब्दान्त से ही इनि होगा जिससे कृतपूर्वी ( कटम् ) इत्यादि  
इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे । अतः पूर्वात् यह अंश व्यर्थ न होने से ज्ञापक नहीं  
हो सकता ।

पूर्वादिनि के बनाने का यदि यही प्रयोजन है तो योगविभाग किस लिये  
किया है । फिर तो पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च ये दो सूत्र न बना कर पूर्वात् सपूर्वादिनिः  
यह एक सूत्र बनाना ही पर्याप्त है । उस एक सूत्र से भी पूर्वी और कृतपूर्वी  
यहां दोनों जगह इनि हो सकता है । योगविभाग से स्पष्ट है कि केवल  
पूर्व को व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्व नहीं माना जायगा । पूर्वादिनि सूत्र केवल  
पूर्व से ही इनि करेगा । इष्ट है कि विद्यमानपूर्वक से भा इनि हो । उसके  
लिये सपूर्वाच्च यह पृथक् सूत्र बनाना सफल हो जाता है ।

तस्य च यह वचन क्या केवल रोणी शब्द के ही स्वरूपग्रहण के लिये है ?

नहीं । जो कहे जा चुके या कहे जायेंगे उन सभी के स्वरूपग्रहण के  
लिये तस्य च यह वचन है ।

१. पूर्वादिनिः सूत्र में पूर्वात् यह अंश ज्ञापक है ।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ ।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ प्रयोजनम् । रथ्यः । परमरथ्यः । सीत्य  
परमसीत्यम् । हल्या परमहल्या ।

सुसर्गार्धदिक् शब्देभ्यो जनपदस्य ।

सुसर्गार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य प्रयोजनम् । सु—सुपाञ्चालकः  
सुमागधकः । सर्व—सर्वपाञ्चालकः सर्वमागधकः । अर्ध—अर्धपाञ्चालकः ।  
अर्धमागधकः । दिक्शब्द—पूर्वपाञ्चालक । अपरपाञ्चालकः । पूर्वमागधकः ।  
अपरमागधकः ।

ऋतोर्बृद्धिमद्विधावयवानाम् ।

ऋतोर्बृद्धिमद्विधावयवानां प्रयोजनम् । पूर्वशारदम् । अपरशारदम् ।  
पूर्वनैदाघम् । अपरनैदाघम् ।

रथ सीता हल शब्दों से यत् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे  
रथ्यम्, सीत्यम्, हल्या यद्वा क्रम से तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्, नीवयोधर्मावपमूल  
मूल०, मतजनहलात् ऋणनत्पक्षेषु इन सूत्रों से रथ सीता हल शब्दों से यत्  
होता है वैसे तदन्तविधि से परमरथ परमसीता परमहल से भी हो जाता है ।

सु सर्व अर्ध दिक् शब्दों से परे जनपदवाची शब्द से प्रत्यय करने में  
तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे पाञ्चालक मागधक यद्वा पञ्चाल मगध  
शब्दों से भव अर्थ में जनपदतद्वयोध से अनुवृत्त अरुदादि बहुवचनविषयात्  
से धुन् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से सुपञ्चाल सुमगध, सर्वपञ्चाल, सर्वमगध,  
अर्धपञ्चाल अर्धमगध, पूर्वपञ्चाल, पूर्वमगध शब्दों से भी हो जाता है । इन सब में  
सुसर्वार्वाजनपदस्य दिशोऽमन्त्राणम् इन सूत्रों से यथाविहित उत्तरपद वृद्धि भी हो  
जाती है ।

अवयवाद्वा से होन वाली उत्तरपदवृद्धि में ऋतु क अवयवों का तदन्त  
ग्रहण में प्रयोजन है । पूर्वशारदम् इत्यादि । जैसे शरदि भव शारदम् यद्वा सन्धिबेला-  
वृत्तनक्षत्रेभ्योऽण् से अण् होता है वैसे शरद पूर्वोऽवयव पूर्वशरत् । यद्वा  
एकदेशि तत्पुरुष समाम में शरत् शब्दान्त से भी तदन्तविधि से हो जाता है ।  
निशाघे भवम् नैदाघम् । पूर्वनिशाघे भवम् यद्वा सन्धिबेला० से अण् होकर  
पूर्वनैदाघम् बन जाता है । इन सब में अवयवान्तोः से उत्तरपद वृद्धि होती है ।



ठञ्विधौ सख्यायाः ।

ठञ्जिधौ संख्यायाः प्रयोजनम् । द्विपाष्टिकम् । पञ्चपाष्टिकम् ।

धर्मान्नञः ।

धर्मान्नञः प्रयोजनम् । धर्मं चरति धार्मिकः । अधर्मं चरति अधार्मिकः ।  
'अधर्मान्चे'ति न वक्तव्यं भवति ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम् ।

सख्याया सज्ञासङ्घपञ्चाध्यायनेषु इति सूत्र से सख्यावाची शब्द से ठञ् करने में तद्वन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे पाष्टि पारमाणमस्य पाष्टिकम् यहाँ पाष्टि शब्द में प्राग्वतीय ठञ होता है वैसे तदन्तविधि से द्विपाष्टि से भी हो जायगा तो द्विपाष्टिकम् बन जाता है । सख्याया सवन्तरसख्यस्य च से यहाँ उत्तरपद वृद्धि भी हो जाती है । द्विपाष्टि इति तद्वितार्थे द्विगु समास में द्वुप् ठञ् प्रत्यय का अध्यधपूर्वद्विगार्हगसज्ञायाम् से लुक् तो नहीं हाता । क्योंकि तदस्य-परिमाणम् में तद् यह पुन समर्थविभक्ति का जो निर्देश किया है उससे लुक् का भभाव ज्ञापित होता है । अन्यथा सोऽस्यासवस्तन्मृतय से सोऽस्य की अनुवृत्ति आ ही रही है । फिर तदस्य कहना व्यर्थ है ।

नञ् से परे धर्म शब्द से प्रत्यय करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे धर्मं चरति धार्मिक यहाँ धर्म शब्द स चरति अर्थ में ठक होता है वैसे तदन्तविधि से नञ् पूर्वक अधर्म शब्द स भी हो जायगा तो अधार्मिकः बन जाता है । तदन्त का ग्रहण हो जाने से यह लाभ भी होगा कि अधर्मान्चे यह धार्मिक नहीं बनाना पडगा ।

पदाधिकार और अङ्गाधिकार में उस पठित शब्द का तथा वह पठित शब्द है उत्तरपद में जिसके उसका भी ग्रहण होता है ऐसा कहना चाहिये ।<sup>१</sup>

१ यहाँ पदाधिकार शब्द से दोनों पद के आधार लिये गये हैं । एक तो पदस्य सूत्र से त्वहित अष्टमाध्यायस्थ पदाधिकार । दूसरा अनुगुत्तरपदे से विहित उत्तरपदाधिकार । उत्तरपद में उत्तर शब्द का लोप करके उसे भी पदाधिकार माना गया है । षष्ठ्याध्यायस्थ समस्त तृतीय पाद उत्तरपदाधिकार एव पदाधिकार यहाँ

पदाधिकारे किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनमिष्टकेपीकामालानां चिततूलभारिषु ।

इष्टकेपीकामालानां चिततूलभारिषु प्रयोजनम् । इष्टकचितं चिन्वीत । पकेष्टकचितं चिन्वीत । इपीकतूलन । मुञ्जेपीकतूलेन । मालभारिणी कन्या । उत्पलमालभारिणी कन्या ।

अङ्गाधिकारे किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनं महद्पृथक्सूनप्तृणा दीर्घविधौ ।

महान् । परममहान् । अप्—आपः तिष्ठन्ति स्वापस्तिष्ठन्ति । स्वसु—स्वसा स्वसारौ स्वसारः । परमस्वसा । परमस्वसारौ । परमस्सारः । नप्तृ—नप्ता नप्तारौ नप्तारः । एवं परमनप्ता परमनप्तारौ परमनप्तारः ।

पदयुष्मदस्मदस्थायनदुहो नुम् ।

पदभाषः प्रयोजनम् । द्विपदः पश्य ।

पदाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

इष्टकेपीकामालानां चिततूलभारिषु इस सूत्र में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे इष्टकचितम् इत्यादि में चित आदि उत्तरपद पर रहते ह्रस्व होता है वैसे तदुत्तरपद का ग्रहण होने से पकेष्टकचितम् आदि में भी हो जाता है ।

अङ्गाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

महत् अप् स्वसु नप्तृ शब्दों को दीर्घ करने में तदुत्तरपद का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे महान् यहाँ महत् अङ्ग को सान्तमहत् सयगस्य से दीर्घ होता है वैसे परममहान् यहाँ महदुत्तरपद पद में भी हो जाता है । आपः स्वसा नप्ता यहाँ जैसे अप्त्तृत्त्स्वसु से दीर्घ होता है वैसे स्वाप परमस्वसा परमनप्ता यहाँ तदुत्तरपद में भी हो जाता है ।

अङ्गाधिकार में पद आदेश, युष्मद् अस्मद् के आदेश, अस्थि आदि के आदेश, विवक्षित है । अङ्गाधिकार तो अङ्गस्य से विहित पष्ठाध्यायस्थ चतुर्थपाद स लेकर सम्पूर्ण सतमाध्याय तक प्रसिद्ध ही है ।

१. यहाँ पदयुष्मदस्मदस्थ्यादि यह एक समस्तपद है, अनदुहः यह दूसरा असमस्त पृथक् पद है । ऐसा होने पर ही नुम् का अन्वय अनदुहः के साथ ही होता है ।

अस्ति चेदानीं कश्चित् केवलः पाच्छब्दो यदर्थो विधिः स्यात् ।

नास्तीत्याह ।

एव तर्हि अङ्गाधिकारे प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा पदाधिकारस्य प्रयोजनमुक्तम् । 'हिमकापिहतिषु च' । यथा पत्कापिणौ पत्कापिणः । एवं परमपत्कापिणौ । परमपत्कापिणः ।

यदि पदाधिकारे पादस्य तदन्तविधिर्भवति । 'पादस्य पदाज्या तिगोपहतेषु' यथेह भवति पादेनोपहतं पदोपहतम् । अत्रापि स्यात्— दिग्धपादेनोपहतं दिग्धपदोपहनम् इति ।

और अनहुद् शब्द को नुम् आगम ये तदन्त ग्रहण के प्रयोजन हैं । पद्माव जैसे—द्विपद पर्य । यहा पाद् शब्दान्त द्विपाद् शब्द को पाद पत् से पद् आदेश हो जाता है । द्वी गद्दी यस्य स द्विपाद् । बहुवाहि समास मे संख्यासुपूर्वस्य से पाद शब्द के अन्य अकार का श्लोप ह कर पाद् बन जाता है । उसे शस् में पद् होता है ।

क्या कोई अकेला पाद् शब्द भी है जिसके लिये पाद, पत् यह सूत्र चरितार्थ हो सकता हो । यदि नहीं है तो स्वयमेव उत्तरपद में पद् आदेश होगा उसके लिये पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च इस वचन द्वारा पद्भाव प्रयोजन बताना व्यर्थ है ।

नहीं है । अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है ।

इस लिये अङ्गाधिकार मे यदि पद् आदेश प्रयोजन नहीं है तो पदाधिकार मे पदादेश का प्रयोजन कदा हुआ समझ लीजिये । हिमकापिहातपु च सूत्र से जैसे पत्कापिणौ पत्कापिण यहाँ केवल पाद् शब्द को पद् आदेश होता है वैसे पादशब्दोत्तरपद परमपत्कापिणो परमपत्कापिण यहाँ भी हो जाता है । हिमकापिहतिषु च यह सूत्र पट्टाध्यायस्थ तृतीय पाद के उत्तरपदाधिकार का है ।

यदि पदाधिकार मे पाद् शब्द से तदन्त का ग्रहण होता है तो जैसे पादेनोपहत पदोपहतम् यहाँ पादस्य पदायाति० से पद् आदेश होता है वैसे दिग्धपादेनोपहत यहाँ पादशब्दान्त से भी होकर दिग्धपदोपहत बन जाना चाहिये ।<sup>१</sup>

१. वस्तुतः हलन्त पद् आदेश करने में ही वार्तिक मे पाद से तदन्तविधि

एवं तर्ह्यङ्गाधिकार एव प्रयोजनम् ।

ननु चोक्तं न केवलः पाच्छब्द इति ।

अयमस्ति पादयतेरप्रत्ययः पात् । पद् । पदा । पदे ।

युष्मद् अस्मद् । यूयम् वयम् । परमयूयम् । परमवयम् । अस्थ्यादि ।

अस्थ्ना दध्ना सक्थ्ना । परमास्थ्ना । परमदध्ना । परमसक्थ्ना ।

अनङ्गुहो नुम् । अनङ्गवान् । परमानङ्गवान् ।

टीक है । इस लिये पदाधिकार को छोड़ कर अङ्गाधिकार में ही पद आदेश प्रयोजन समझिये ।

यह जो क. १ था कि अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है जिसके लिये पद आदेश प्रयोजन बनता है ।

अकेला पाद् शब्द भी है देखिये—पादयतेरप्रत्यय पाद् । णिन्त्य पादि धातु म द्विप् प्रत्यय पर रहते उपधावृद्धि और णिलोप होकर पाद् बन जाता है । त्रिप् का समावहारी लोप हो जाता है । अप्रत्यय = अविद्यमान प्रत्यय = क्तिप् आदि । पाद् शब्द से दास् आदि पर रहत भसज्ञा हाकर पद् आदेश हो जायगा तो पद् पदा पदे इत्यादि रूप बन जायगे । इस प्रकार पञ्चाव प्रयोजन अङ्गाधिकार में बन जाता है ।

इसके अतिरिक्त—युष्मद् अस्मद् क आदेशों में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे यूयम् वयम् यहा युष्मद् अस्मद् को यूय वय आदि आदेश होत हैं वैसे परमयूयम् परमवयम् यहा तदन्त में ना हो जात हैं । अभिदधि० सूत्र से अनङ् करन में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है ।

जैसे अस्थ्ना दध्ना सक्थ्ना में केवल अस्ति आदि शब्दों से भसज्ञा में अनङ् होता है वैसे परम स्थ्ना आदि तदन्त में भी हो जाता है ।

अनङ्गुह को नुम् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे अनङ्गवान् में भावनङ्गुह से नुम् होता है वैसे तदन्तग्रहण होकर परमानङ्गवान् में भी हो जाता है ।

या प्रयोजन बना है । तन्त पद आदेश करने में नहीं रहा गया है इस लिये दिग्धपादोपहतम् में पादशब्दात् में पद आदेश की प्रातिपदिका ही अनुपपन्न है ।

घुपाधिमधिपुगोसखिचतुरनडुत्त्रिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । घौः । सुघौः । पन्थाः सुपन्थाः<sup>१</sup> । मन्थाः परममन्थाः । पुमान् । परमपुमान् । गौः । सुगौः । सखा । सखायौ । सखायः । सुसखा । सुसखायौ । सुसखायः । परमसखा । परमसखायौ । परमसखायः । चत्वारः । परमचत्वारः । अनद्वाहः । परमानद्वाहः । त्रयाणां परमत्रयाणाम् ।

त्यदादित्रिभिभस्त्रादिस्त्राग्रहण च ।

प्रयोजनम् । सः । अतिसः । भस्त्रका । भस्त्रिका । बहुभस्त्रका । बहुभस्त्रिका । निर्भस्त्रका निर्भस्त्रिका । स्त्रीग्रहण च प्रयोजनम् । स्त्रियौ स्त्रियः । राजस्त्रियौ राजस्त्रियः ।

वर्णग्रहण च सर्वत्र ।

प्रयोजनम् । क । सर्वत्र । अङ्गाधिकारे चान्यत्र च । अन्यत्रोदाहृतम् । अङ्गाधिकारे 'अतो दीर्घो यञि सुपि च' । इहैव स्यान् आभ्याम् । घटाभ्याम् इत्यत्र न स्यान् ।

दिक् पथिन् मधन् पुंस गो सखि चतुर अनडुड और त्रि दब्दो मे अङ्गाधिकारीय कार्य करने मे तदन्त का प्र.ण प्रयोजन है । गौ मुगौः आदि सब उदाहरण स्पष्ट हैं । सब मे तदन्तत्रिभि होकर यथाविहित कार्य हो रहे हैं । सुपन्था मुगा. सुमखा यद्वा तत्पुरुष समास मे न पूजनात् से समासान्त निषेध हो जाता है । परमसखा परमसखायौ मे बहुव्रीहि समास है । तत्पुरुष ने तो समासान्त टच् प्राप्त होता है ।

त्यदादि भस्त्रादि और स्त्री शब्द के अङ्गाधिकारीय कार्य में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । सः । अतिम । गोमन. स. । यद्वा पूजार्थक अति शब्द मे तद् शब्द उपसर्जन नहीं है तो तदन्त ग्रहण से सर्वनामसज्ञा के कार्य हो जाते हैं । बहुभस्त्रका बहुभस्त्रिका में भस्त्रैपाजाज्ञादास्वा नन् पूर्वाणामपि से इत्त्व-विकल्प हो जाता है । तदन्तविधिका यह व्याप भी है कि नन्पूर्वाणाम् ग्रहण नहीं करना पड़ता । राजस्त्रियौ राजस्त्रियः मे स्त्रिया. से इयङ् हो जाना है ।

वर्णग्रहण में तदन्त का ग्रहण सब जगह प्रयोजन है । सब जगह कहाँ ?

१. न पूजनात् से यहाँ समासान्त का निषेध है । पूजार्थ में यहाँ अति का ही ग्रहण दृष्ट है ।

प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्याः ।

प्रत्ययग्रहणं च अपञ्चम्याः प्रयोजनम् । यजिज्ञोः फग् भवति ।  
गार्ग्यायणः । वात्स्यायनः । परमगार्ग्यायणः । परमवात्स्यायनः ।  
दाक्षायणः । परमदाक्षायणः ।

अपञ्चम्या इति किमर्थम् ?

अङ्गाधिकार में और अङ्गाधिकार से बाहर भी । अङ्गाधिकार से बाहर के उदाहरण पहले अत इन् दाक्षि. प्लाक्षिः ये दिये जा चुके हैं । अङ्गाधिकार का उदाहरण अतो दीर्घो यनि, सुपि च यह है । सुपि च में अतो दीर्घो यनि से अतः की अनुवृत्ति आती है । अत. में अकार यह वर्णग्रहण है । उसमें तदन्तविधि यदि न हो तो आभ्याम् ( इदम्, इद्, अ+भ्याम् ) यहाँ इदम् के अकार रूप वर्ण में ही सुपि च से दीर्घ होता । घटाभ्याम् यहाँ अकारान्त घट शब्द में न होता तदन्तग्रहण से हो जाता है ।

जहाँ पञ्चम्यन्त से परे प्रत्यय को कार्य विधान किया गया है उसे छोड़ कर अन्यत्र सर्वत्र प्रत्ययग्रहण में भी तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है ।<sup>१</sup> यजिज्ञोश्च छि युवापत्य मे फक् होता है वह जैसे गार्ग्यायणः वात्स्यायनः यहाँ गार्ग्य वात्स्य शब्दों से होता है जैसे परमगार्ग्यायणः परमवात्स्यायनः यहाँ गार्ग्य वात्स्य शब्दान्त प्रातिपदिक से भी हो जाता है ।<sup>२</sup>

पञ्चम्यन्त से परे कार्य विधानार्थ गृहीत प्रत्यय में तदन्तग्रहण का निषेध क्यों किया गया है ।

१. एतन्मूलक ही प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति । यह परिभाषा है । जो कि यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् सूत्र का परिशेष है । उसी का भावानुवाद है । नवीन लोग प्रत्ययग्रहणे तदन्ता प्राज्ञाः ऐसा भी पढ़ते हैं ।

इस वार्तिक का यह अर्थ नहीं कि जहाँ पञ्चम्यन्त से प्रत्यय का विधान है यहाँ तदन्तविधि नहीं होती किन्तु यह कि जहाँ पञ्चम्यन्त से परे कार्यान्तर विधान के लिये प्रत्यय का ग्रहण ( अनुवाद ) है वहाँ तदन्तविधि नहीं होती ।

२. प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति इस परिभाषा के निमग्न से परमगार्ग्य में भी यन्त तो गार्ग्य ही है । परमगार्ग्य नहीं

दृपत्तीर्णा । परिपत्तीर्णा ।

अलैवानर्थकेन ।

अलैवानर्थकेन तदन्तविधिर्भवति नाम्येनानर्थकेनेति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? हन्ग्रहणे प्लीहन् ग्रहण मा भूत् । उद्ग्रहणे गर्मुद्ग्रहणम् । स्त्रीग्रहणे शस्त्रीग्रहणम् । संग्रहणे पायसं करोतीति मा भूत् ।

इदत् तीर्णा, परिपत् तीर्णा यहां निष्ठा नत्व करने में केवल क प्रत्यय के तकार को ही नश्व होवे । सप्रत्ययान्त तीर्ण शब्द क तकार को नश्व न होवे इस लिये अपञ्चम्मा यह निषेध किया गया है । रदाभ्या निष्ठातो न पूर्वस्य च द. सूत्र मे रदाभ्याम् इस पञ्चमी से परे नश्वविधानार्थ निष्ठा प्रत्यय को ग्रहण किया है उसमें तदन्तविधि न होगी सो केवल तू धातु से विहित निष्ठा प्रत्यय क को ही नश्व होगा । निष्ठाप्रत्ययान्त तीर्ण के तकार को नश्व न होगा ।

अनर्थक से यदि तदन्तविधि हो तो अल् रूप अनर्थक वर्ण से ही हो । अन्य अनर्थक से न हो यह कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? हन् के ग्रहण

है इस लिय फक् प्रत्यय यजन्त गार्ग्य से ही होगा परम शब्द छूट जायगा । यदि परमगार्ग्य को यजन्त मानें ओ कि सर्वथा असम्भव है तो उससे फक् करने पर परमशब्द को आदिबुद्धि होकर पारमगार्ग्यायण ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है । इस अलम भाष्यकार का यहां यही तापर्य समझना चाहिये कि यजन्त स फक् करने में तदन्तविधि द्वारा यजन्तान्त प्रातिपदिक भी रख सकत हैं । किन्तु फक् प्रत्यय ता तदादिनियम से यजन्त से ही होगा । इसी प्रकार दाक्षायण परम-दाक्षायण ये इजन्त के तथा इजन्तान्त से फक् करके बन उदाहरण हैं । प्रत्यय-ग्रहणे यस्माद्० इस परिभाषा से लभ्य तदन्तग्रहण का येन विधिस्तदन्तस्य से लभ्य तदन्त ग्रहण से फलभेद नहीं होना चाहिये । प्रत्ययग्रहण परिभाषा का निषेध करने वाली दो परिभाषायें अन्यत्र प्रसिद्ध हैं । सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति । और उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण नास्ति । इन में सञ्ज्ञाविधौ० यह परिभाषा सुशिङ्गन्त पदम् में अन्तग्रहण से ज्ञापित होती है । और उत्तरपदाधिकारे प्रत्यय० यह हृदयस्य हल्लेखग्रहणलक्षणे में किये लेख ग्रहण से ज्ञापित होती है । अन्यथा रख शब्द के अण्प्रत्ययान्त होने से अण् ग्रहण से ही सिद्ध है तो लेखग्रहण व्यर्थ है । स्त्री प्रत्यये चानुपसर्जने न यद् परिभाषा भी प्रत्ययग्रहण परिभाषा का निषेध करती है । इस प्रकार उक्त तर्कों परिभाषाओं के विषय को छोड़ कर सर्वत्र प्रत्ययग्रहण मे प्रत्ययग्रहणपरिभाषा प्रवृत्त होती है ।

किमर्थमिदमुच्यते । न पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य  
चेत्येव सिद्धम् । न चेदं तत्, नापि तदुत्तरपदम् ।

तत्र वक्तव्यं भवति ।

किं पुनरत्र ज्यायः ?

तदन्तर्धिधिरेव ज्यायान् । इदमपि सिद्धं भवति । परमाति-  
महान् । एतद्धि नेव तत् । नापि तदुत्तरपदम् ।

मे प्लीहन् मे स्थित अनर्थक हन् का ग्रहण न होगा । क्योंकि यह अलरूप  
नहीं है अल्समुदाय है । उससे इन् हन् पूर्यम्णा शौ, सौ च यह हन् का दीर्घ  
नियम प्लीहन् मे न लगेगा तो प्लीहानौ प्लीहानः यहां उपधा दीर्घ हो जाता  
है । उद् के ग्रहण मे गर्मुद् के अनर्थक उद् का ग्रहण न होगा । क्योंकि यह  
अनर्थक अलरूप नहीं है अल्समुदाय है । उससे गर्मुत् स्थाता यहां उदः  
स्थाल्भो पूर्वस्य से पूर्वसर्जन नहीं होता है । स्त्री के ग्रहण मे शस्त्री के  
अनर्थक स्त्री शब्द का ग्रहण नहीं होगा । क्योंकि यह अनर्थक अल् रूप नहीं  
है । उससे शस्त्र्या शस्त्र्यः यहां स्त्रिया से इयक् नहीं होता है । सम् के  
ग्रहण मे पायसम् करोति के अनर्थक सम् का ग्रहण नहीं होगा । क्योंकि यह  
अनर्थक अलरूप नहीं है । उससे पायसं करोति यहां सम् से परे कृ को  
सम्परिभ्या कर्गेती भूदणे से सुद् नहीं होता है ।

अत्रैवानर्थकेन यह नियमार्थ वचन विशेषरूप से किस लिये बनाया  
है ? क्या पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च से इष्ट सिद्ध नहीं हो सकता ?  
क्योंकि प्लीहन् इत्यादि मे हन् इत्यादि न तो हन् भादि रूप ही हैं और न  
हन् भादि उत्तरपद गाड़े हैं । प्लीहन् मे समास न होने से हन् उत्तरपद मे  
नहीं है । इसी प्रकार गर्मुद्, शस्त्री, पायसम् में उद्, स्त्री और सम् उत्तरपद  
नहीं हैं ।

अत्रैवानर्थकेन इस नियम वचन के बना देने पर पदाङ्गाधिकारे तस्य० यह  
वचन नहीं बनाना पड़ेगा । इसी से सर्वत्र काम चल जायगा ।

इन दोनों वचनों मे कौन अधिक उपयुक्त है ।

अत्रैवानर्थकेन इस नियम वचन द्वारा विधि करना ही अधिक उपयुक्त  
है । हमसे परमातिमहान् भी सिद्ध हो जाता है अतिशयितो महान् अतिमहान् ।  
परमधामो अतिमहान् परमातिमहान् । यहां न तो केवल महत् शब्द है । और



अनिनस्मन्ग्रहणानि च ।

अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति । अन्—राज्ञेत्यर्थवता, साम्नेत्यनर्थकेन । इन्—दण्डीत्यर्थवता, वाग्मीत्यनर्थकेन । अस्—सुपयाः इत्यर्थवता सुप्ताताः इत्यनर्थकेन । मन्—सुशर्मा इत्यर्थवता, सुप्रधिमा इत्यनर्थकेन ।

यस्मिन् विविक्तदादावल्ग्रहणे ।

यस्मिन् विविक्तदादाविति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ? अचि श्रुधातुभ्रुवां व्योस्त्रिडुउडाविति इहं च स्यात् द्विर्वा । भ्रुवौ । धियो भ्रुयः इत्यत्र न स्यात् ।

न ही महत् शब्द उत्तरपद में है उत्तरपद में तो अनिमदत् शब्द है । इस लिये पदाङ्गाधिकारे तस्य च० से यह गृहीत नहीं होगा तो मन्मन्हन मय गम्य से दीर्घ नहीं सिद्ध होता । अन्वयानवयन से तदन्तविधि होकर दीर्घ सिद्ध हो जाता है ।

अन् इन् अस मन् ये अर्थवान् या अनर्थक कैसे भी हो तदन्तविधि में ल लिये जाते हैं । अन्—स—राजा । यहाँ राजन् में अन् शब्द कनिन् प्रत्यय रूप होन से अर्थवान् है । साम्ना यहाँ सामन् में मन् प्रत्यय का अवयव होने से अनर्थक है । दोनों को अन्तन्त मान कर अन्तोऽन से भ्रकारलोप हो जाता है । इन् जैसे—दण्डा । यहाँ दण्डिन् में इन् प्रत्यय अर्थवान् है । वाग्मी यहाँ वाग्मिन् में मिन् प्रत्यय का अवयव होने से अनर्थक है । दोनों को अन्तन्त मान कर सौ च से दीर्घ हो जाता है । अस जैसे—सुपय । यहाँ असुन् प्रत्यय का अस् अर्थवान् है । सुलोता यहाँ तुट आगम सहित अनर्थक है । दोनों को असन्त मान कर अन्वयान्तस्य चागता से दीर्घ हो जाता है । मन् जैसे—सुशर्मा । यहाँ मनिन् प्रत्यय का मन् अर्थवान् है । सुप्र यहाँ इतिच् का अवयव होने से अनर्थक है । दोनों का नान्त मान कर मयन मन्धान चात्पुद्गौ से उपधादीर्घ हो जाता है ।

वर्ण सम्बन्धी सप्तम्यन्त विभेदण पर रहते यदि कोई विधि का तावे तो उस विभेदण में तदादिविधि होता है ऐसा कइना चाहने । क्या प्रयोजन है ? अचि श्रुधातु० में अचि यह अच वर्ण सम्बन्धी सप्तमा विभक्ति प्रत्यय का विभेदण है उसमें तदादिविधि होकर अत्रादि प्रत्यय पर रहते यह अर्थ हो जायगा । नहीं तो अच् पर रहते यही अर्थ रहता । उससे धिर्वा भ्रुवौ यहाँ

## वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥१।१।७३॥

वृद्धिग्रहणं किमर्थम् ?

यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् इतीयत्युच्यमाने दाताः राक्षिताः  
अत्रापि प्रसज्येत । वृद्धिग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ।

अथ यस्यग्रहणं किमर्थम् ?

यस्येति व्यपदेशाय ।

अथाज्ग्रहणं किमर्थम् ?

वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धम् इतीयत्युच्यमाने इहेच स्यात्—ऐति-  
कायनीयाः । औपगवीयाः । इह न स्याद्—गार्गीयाः वात्सीयाः इति ।  
अज्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ।

नी रूप अच् पर रहते ही इयङ् उवङ् होत । किन्तु ध्रियः भ्रुव यहाँ जस्  
परे रहते न होते । क्योंकि उस् भजादि तो है पर अच् नहीं है । तदादिभिधि  
हो जाने में भजादि जस् पर रहते भी इयङ् उवङ् हो जाते हैं ।

वृद्धिग्रहण किस लिये किया है ?

यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् इतना सूत्र होने पर दाता. राक्षता. ( दत्तस्य  
रक्षितस्य च छात्रा. ) दत्त रक्षित अण् ) यहाँ भी वृद्धसंज्ञा प्राप्त होती है । वृद्धसंज्ञा  
होकर वृद्धाच्च से अण् का बाधक छ प्रत्यय प्राप्त होगा । वृद्धिग्रहण करने पर  
दोष नहीं होगा क्योंकि दत्त रक्षित शब्दों में भादि अच् वृद्धिसंज्ञक नहीं है ।

यस्य ग्रहण किस लिये किया है ?

यस्य ग्रहण संज्ञा के व्यपदेश एवं बोध के लिये किया है । जैसे—  
स्वै हर्ष शब्दस्य, अनुदिनसर्वणस्य, तपरस्तत्कालस्य, येन विविस्तृतस्य इत्यादि में  
पठो विभक्ति से संज्ञा का निर्देश है ऐसे ही यहाँ वृद्धसंज्ञा में भी यस्य यह  
पठो विभक्ति संज्ञा के निर्देश के लिये है । उससे सूत्र का अर्थ होगा—जिस  
शब्दसमुदाय के अर्चों में भादि अच् वृद्धिसंज्ञक है वह शब्द समुदाय वृद्धसंज्ञक  
होगा है ।

अच् ग्रहण किस लिये किया है ?

वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धम् इतना सूत्र होने पर ऐतिकायनीयाः औपगवीयाः

अथादिग्रहणं किमर्थम् ?

वृद्धिर्यस्याच्चां तद् वृद्धम् इतीयत्युच्यमाने सभासंनयने भवः  
सभासनयन इत्यत्रापि प्रसज्येत । आदिग्रहणे पुनः कियमाणे न दोषो  
भवति ।

वृद्धसंज्ञायामजसनिवेशादनादित्वम् ।

वृद्धसंज्ञायामजसनिवेशाद् आदिरित्येतन्नोपपद्यते । नह्यर्चा  
संनिवेशोऽस्ति ।

ननु चेव विज्ञायते अजेवादिरिति ।

( ऐतिकायनस्य औपगवस्य छात्रा । ऐतिकायन, औपगव छ ) यहाँ वृद्धसंज्ञा हो  
सकेगी । गार्गाद्या वात्सीयाः ( गार्ग्यस्य वात्स्यस्य छात्रा ) यहाँ न हो सकेगी ।  
क्योंकि अच् ग्रहण के अभाव में सूत्र का अर्थ होगा—जिस समुदाय का  
आदि अक्षर वृद्धिसंज्ञक है वह समुदाय वृद्धसंज्ञक होता है । उससे ऐतिका-  
यन औपगव के आदि में ऐ औ ये वृद्धिसंज्ञक अक्षर हैं इस लिये यहाँ तो  
वृद्धसंज्ञा हो जायगी किन्तु गार्ग्य वात्स्य के आदि में गकार बकार हैं यह  
वृद्धिसंज्ञक नहीं हैं इस लिये वहाँ वृद्धसंज्ञा न हो सकेगी । अच् ग्रहण करने  
पर दोष नहीं होगा । क्योंकि समुदाय में विद्यमान अचो के मध्य में आदि अच्  
लिया जायगा तो गार्ग्य वात्स्य समुदाय में विद्यमान अचों में आकार के आदि  
अच् होने से वृद्धसंज्ञा सिद्ध हो जाता है ।

आदिग्रहण किस लिये किया है ?

वृद्धिर्यस्याच्चां तद् वृद्धम् इतना सूत्र होने पर सभासनयन नर सभा-  
सनयन यहाँ सभासनयन की भी वृद्धसंज्ञा प्राप्त होगी । क्योंकि इस समुदाय  
में विद्यमान अचों में भी शब्द का आकार वृद्धिसंज्ञक है । आदिग्रहण करने  
पर तो दोष नहीं होता । सभासनयन में न शब्द का आकार वृद्धिमज्ज होना हुआ  
भी अच् समुदाय के आदि में नहीं है ।

वृद्धसंज्ञा में केवल अचों का ही समुदाय सनिविष्ट न होने से अचों के  
मध्य में आदि होना नहीं बनता । दल रहित कवल अचा का कनवान् समुदाय  
तो कहीं ( किसी प्रातिपदिक में ) सनिविष्ट है नहीं । उस अवस्था में आदि अच्  
का होना कैसे संभव है ।

यदि ऐसा मान लें कि अत्रलसमुदाय में वहाँ आदि अच् वृद्धि है वहाँ  
वृद्धसंज्ञा होती है तो क्या हानि ?

नैवं शक्यम् । इहेव प्रसज्येत औपगवीयाः । इह न स्याद् गार्गीयाः ।  
एकान्तादित्वं तर्हि विज्ञायते ।

एकान्तादित्वे च सर्वप्रसङ्ग ।

इहापि प्रसज्येत—सभासनयने भवः सभासनयनः इति ।

सिद्धमजाकृतिनिर्देशात् ।

सिद्धमेतत् । कथम् । अच् आकृतिर्निर्दिश्यते ।

ऐसा भी नहीं हो सकता । वैसा मानने पर औपगवीया में ही वृद्धसंज्ञा हो सकेगी । गार्गीया में न हो सकेगी । क्योंकि औपगव और गार्ग्य इन दोनों अज्झल्समुदायों में औपगव में ही आदि अच् ओंकार वृद्धिसंज्ञक है । गार्गीया, में नहीं है ।

तो फिर अज्झल्समुदाय में एकान्त एव अवयव बना हुआ आदि अच् वृद्धिसंज्ञक देख कर वृद्धसंज्ञा मान ले ।

अज्झल्समुदाय के अवयवभूत आदि अच् को वृद्धिसंज्ञक देख कर यदि समुदाय की वृद्धसंज्ञा मानेंगे तो उन सभी समुदायों की वृद्धसंज्ञा प्राप्त होगी जिनमें कहीं भी वृद्धिसंज्ञक आदि अच् अवयव बना हुआ है । उस भरत्था में सभासनयन शब्द की भी वृद्धसंज्ञा प्राप्त हो जायगी । क्योंकि सभासनयन इस अज्झल्समुदाय में भी वृद्धिसंज्ञक भा का आकार सनयन का आदि अवयव बना हुआ है ।

अच् की आकृति का निर्देश मान कर उक्त दोष न होगा । यहाँ हम अच् व्यक्ति न लेकर सम्पूर्ण अच् जाति लेंगे । जिस अज्झल्समुदाय में अच् जाति की अपेक्षा आदि अच् वृद्धिसंज्ञक होगा उस समुदाय की वृद्धसंज्ञा मानेंगे तो सभासनयन की वृद्धसंज्ञा न होगी । क्योंकि सभासनयन में भा का आकार सम्पूर्ण अर्चों के आदि में नहीं है ।<sup>१</sup>

१ यद्यपि प्रातिपदिक अज्झल्समुदाय है, तो भी अचाम् इस वचन से अजाकृति का ग्रहण होगा । हलाकृति विद्यमान होता हुई भी विवक्षित नहीं होगी तब सूत्रार्थ होगा—जिस शब्द<sup>१</sup> उसमें होने वाले सभी अर्चों की अपेक्षा आदि अच् वृद्धिसंज्ञक है वह शब्द वृद्ध संज्ञक होता है ।

एवमपि व्यञ्जनैर्व्यवहितत्वाच्च प्राप्नोति ।

व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वं यथान्यत्र ।

व्यञ्जनस्याविद्यमानवद्भावो वक्तव्यो यथान्यत्रापि व्यञ्जनस्या-  
विद्यमानवद्भावो भवति । कान्यत्र । स्वरे ।

वा नामधेयस्य ।

वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयाः । दैवदत्ताः । यज्ञदत्तीयाः । याज्ञदत्ता ।

गोत्रोत्तरपदस्य च ।

गोत्रोत्तरपदस्य च वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । कम्बलचारायणीया ।  
ओदनपाणिनीयाः । घृतरीढीयाः ।

फिर भी व्यञ्जनो की आकृति का व्यवधान होने से अब अब—आकृति  
के भादि में न मिल सकेगा ।

व्यञ्जनो की आकृति अविद्यमान मानी जायगी । जैसे अन्यत्र भी  
व्यञ्जन अविद्यमानवत् माने जाते हैं । अन्यत्र कहाँ ? स्वरप्रिय में । इस प्रकार  
सर्वत्र इष्ट विषय में वृद्धसंज्ञा सिद्ध हो जायगी ।

पौरुषेय नाम की वृद्धसंज्ञा विकल्प से कहनी चाहिये । देवदत्तीया  
दैवदत्ता । यज्ञदत्तीयाः याज्ञदत्ता । यहाँ दैवदत्त यज्ञदत्त इन पुरुषनामों की  
विकल्प से वृद्धसंज्ञा होकर वृद्धसंज्ञा पक्ष में शैपिक छ प्रत्यय हो जाता है ।  
वृद्धसंज्ञा के अभाव में शैपिक अण हो जाता है ।

गोत्र प्रत्यय ह उत्तरपद में जिसके ऐसे शब्द की भी वृद्धसंज्ञा कहनी  
चाहिये । कम्बलचारायणाद्या । ओदनपाणिनीया । घृतरीढीया । यद्वा चरस्य गणापत्य  
चारायण । पाणिनस्य गोत्रापत्य युवापत्य वा पाणिनिः । एतस्य गोत्रापत्य रौटिः ।  
ये गोत्रप्रत्ययान्त हैं । कम्बलप्रिय चारायण कम्बलचारायण । ओदनप्रिय  
पाणिनिः ओदनपाणिनि । घृतप्रधानो रौटिः घृतरीढि । तथा छाना कम्बल-  
चारायणीया, इत्यादि । यहाँ उत्तरपदलोपी कर्मधारय समास में वृद्धसंज्ञा  
होकर शैपिक छ प्रत्यय हो जाता है ।

गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत् ।

गोत्रान्ताद्वा असमस्तवत् प्रत्ययो भवतीति वक्तव्यम् । एताव्येवो-  
दाहरणानि ।

किमविशेषेण ?

नेत्याह ।

जिह्वाकात्यहरितिकात्यवर्जम् ।

जिह्वाकात्यं हरितिकात्यं च वर्जयित्वा । जैह्वाकाताः । हारितिकाताः ।

किं पुनरत्र ज्यायः ।

‘गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवदि’त्येव ज्यायः । इदमपि सिद्धं भवति ।  
पिङ्गलकाण्यस्य छात्राः पेङ्गलकाण्याः ।

अथवा गोत्रप्रत्ययान्त को असमस्त की तरह समास रहित की तरह स्वतन्त्र मान कर उससे यथाविहित प्रत्यय होता है ऐसा कहना चाहिये । यही पूर्वोक्त कम्बलचारायणीयाः आदि उदाहरण हैं । कम्बलचारायण आदि में गोत्रप्रत्ययान्त चारायण आदि को असमस्तवत् मानने पर चारायण आदि स्वयमेव श्रद्धिर्यस्याचामादि • में वृद्धसंज्ञक हो जायेंगे । अलग वृद्धसंज्ञा कहने की आवश्यकता न होगी ।

यद्यपि सामान्य रूप से सभी गोत्रप्रत्ययान्तों को असमस्तवत् मान लेना चाहिये ।

नहीं । जिह्वाकात्य और हरितिकात्य को छोड़ कर । एतस्य गोत्राप्रत्ययं कायः । जिह्वाप्रत्ययान् काय जिह्वाकात्यः । हरितवर्णं कात्य. हरितकायः । तस्य छात्राः जैह्वाकाता, हारितिकाता । यहाँ गोत्र प्रत्ययान्त कात्य शब्द को असमस्तवत् नहीं माना जायगा तो कात्य के वृद्ध न होने से वृद्धाच्छ से शैषिक छ प्रत्यय नहीं हुआ । यत्किं कृष्णादिभ्यो गोत्रे से शैषिक अण् प्रत्यय हो गया । आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति से कात्य के यकार का लोप हो जाता है ।

गोत्रोत्तरपदस्य च और गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत् इन दोनों वचनों में कौन अधिक उपयुक्त है ?

गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत् यही वचन अधिक उपयुक्त है । उससे पिङ्गल-  
काण्यस्य छात्राः पेङ्गलकाण्या. यह भी सिद्ध हो जाता है । कण्यस्य गोत्राप्रत्यय

## त्यदादीनि च ॥११॥७४॥

यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तते उताहो न ।

किं चातः ।

यद्यनुवर्तते, इह च प्रसज्येत त्वत्पुत्रस्य छात्राः त्वात्पुत्राः । इह च न स्यात् त्वदीयो मदीय इति ।

अथ निवृत्तम्, एङ् प्राचां देशे यस्याचामादिग्रहणं कर्तव्यम् ।

एवं तर्ह्यनुवर्तते ।

कथं त्वात्पुत्रा मात्पुत्रा इति ?

काण्व्य । पिङ्गल्कात्तौ काण्व्य पिङ्गल्काण्व्यः । तस्य छात्रा पैङ्गल्काण्वाः । यदा गोत्र प्रत्ययान्त काण्व्य शब्द को असमस्तवत् मानने से काण्व्य शब्द स्वतन्त्र हो जाता है तो वृद्धाच्छ से प्राप्त छ को कणादिभ्यो गोत्रे से विहित अण् प्रत्यय बाध लेता है । यदि असमस्तवत् न मान कर गोत्रोत्तरपदस्य च से वृद्धसज्ञा कर दें तो काण्व्य शब्द के स्वतन्त्र न होने से कणादिभ्यो गोत्रे से छ प्रत्यय की बाधा न होगी । तब वृद्धाच्छ से छ होकर अनिष्ट रूप प्राप्त होगा ।

पूर्वसूत्र से यदा यस्याचामादिग्रहण की अनुवृत्ति आती है या नहीं ?

इससे क्या ?

यदि अनुवृत्ति जाती है तो सूत्र का अर्थ होगा—जिस समुदाय के अन्तर्गत के मध्य में त्यदादि शब्द आदि में हो उस समुदाय की वृद्धसज्ञा होती है । उससे त्वत्पुत्रस्य छात्रा त्वात्पुत्रा यदा त्वत्पुत्र इस समुदाय के आदि में त्यदादि होने से वृद्धसज्ञा हो जायगी तो वृद्धाच्छ से अण् को बाध कर शैथिल्य उ प्रत्यय प्राप्त होगा । और त्वदीय मदीय (तव मम इदम्) यदा त्यदादि के किसी समुदाय के आदि में न होने से वृद्धसज्ञा न होगी तो छ प्रत्यय न हो सकेगा । यदि यस्याचामादिग्रहण की अनुवृत्ति यहाँ नहीं आती तो आगे आने वाले एङ् प्राचा देशे सूत्र में यस्याचामादिग्रहण करना होगा ।

यस्याचामादिग्रहण की अनुवृत्ति यदा आती है ।

त्वात्पुत्राः मात्पुत्रा कैसे बनेंगे ?

सम्बन्धमनुवर्तिष्यते । वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् । त्यदादीनि च वृद्धसंज्ञानि भवन्ति । वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् । एङ् प्राचां देशे यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तते । वृद्धिग्रहण निवृत्तम् । तद्यथा कश्चित् कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते । स यदा निष्कान्तकान्तारो भवति तदा सार्थं जहाति ।

एङ् प्राचां देशे ॥१॥७५॥

एङ् प्राचा देशे शैषिकेष्विति वक्तव्यम् ।

सैपुरिकी सैपुरिका स्कोनगरिकी स्कोनगरिकेति ।

सम्बन्ध का अनुवर्तन करेगा । वृद्धिर्यस्याचा० यह पहला सूत्र है । उसके बाद त्यदादीनि च यह सूत्र है । इसमें पूर्व सूत्र की सम्पूर्ण अनुवृत्ति आने पर भी केवल वृद्धम् इतने अंश का ही सम्बन्ध करेंगे । अन्य अंश का सम्बन्ध उसी के साथ रहेगा । तो इस सूत्र का अर्थ होगा—त्यदादि शब्दों की वृद्ध संज्ञा होती है । आगे एङ् प्राचा देशे यह सूत्र है । उसमें पूर्व सूत्र के यस्याचामादिग्रहण का ही सम्बन्ध होगा । वृद्धिग्रहण की निवृत्ति हो जायगी तो अर्थ होगा—त्रिस समुदाय के भादि में एङ् है वह समुदाय प्राग्देश के अभिधान में वृद्धमशक होता है जिस कोई मनुष्य भयकर जंगल आ जाने पर साथी को सहारे के लिये ले लेता है । वह जब जंगल से निकल जाता है तब आवश्यकता न होने से साथी को छोड़ देता है । इसी प्रकार यहाँ भी आवश्यकतानुसार सम्बन्ध का अनुवर्तन होगा ।

एङ् प्राचां देशे विधीयमान वृद्धसंज्ञा केवल शैषिक प्रत्यय करने में ही कहनी चाहिये । त्रिसं अत्य वरादि अन्य अर्थों में वृद्धसंज्ञा न हो । सैपुरिकी सैपुरिका । स्कोनगरिकी । स्कोनगरिका । ( सैपुरे स्कोनगरे च भवा ) यहाँ सैपुर स्कोनगर ये प्राचीन वाहिकग्रामनाची शब्द हैं । उनकी शैषिक प्रत्यय अभिधान में वृद्धसंज्ञा हो जायगी तो वाहिकग्रामेभ्यश्च से भव अर्थ में ट् प्रत्यय हो जाते हैं ।<sup>१</sup>

१ यहाँ प्रदीपकार श्री छैयट लिखते हैं कि कुणि नामक किसी प्राचीन व्याख्याकार ने इस सूत्र में प्राचाम् का अर्थ प्राचीन आचार्यों के मत में ऐसा किया है । अन्य व्याख्याकारों ने प्राचाम् को देश का विशेषण मान कर प्राच्य



नवाह्निक महाभाष्य सम्पूर्ण हुआ ।



देश के अभिधान में या प्राच्य देश के कवन में ऐसा अर्थ किया है। 'प्राचाम्' को आचार्य का विशेषण मानने पर तो चाहे प्राच्यग्राम हो या उदीच्य हो या दोनों स बहिर्भूत बाहीकग्राम हो सर्वत्र वृद्धसज्ञा हो जायगी। क्रेडे भन क्रौडः यहाँ उदीच्यग्राम में और देवदत्ते भव देवदत्त यहाँ बाहीक ग्राम में प्राप्त वृद्धसज्ञा व्यवस्थित-विभाषा से नहीं हुई। उनके मत में देवदत्त यह प्राच्यग्राम है और जो प्राग् देशाभिधान में वृद्धसज्ञा मानते हैं उनके मत में देवदत्त की वृद्धसज्ञा होकर काश्यादिगण में अठित होन से छ को बाध कर काश्यादिभ्य- ष्ठञ् जिठौ से ठन् मिट् हो जायगे तो देवदत्तकी देवदत्तिका ये रूप बनेंगे ॥

छात्राणामुपकुर्वती भृशमियं हयं हृदस्त्वन्वती  
 श्याकया बोधमभीप्सित प्रदिशती पूर्वापर युज्यती ।  
 भाष्यार्थं च विवृण्वती सुविशद प्रज्ञानभिव्यञ्जती  
 राराज्यात्सततं विमत्सरबुधा स्वान्त पर ग्रीणती ॥

इति श्रीचारुदेवशास्त्रिण कृतिषु नवाह्निकस्य व्याकरणमहाभाष्यस्य  
 सविवरणो हिन्धनुवाद पूतिमगात् ।

शुभ भूयादध्यापकानामध्यायकाना च ॥

desired alliance with thee but saw not how to ask for it in my fallen state. Now that the blessed Savitri is coming to me of her own accord I know for sure that Lakshmi's self is coming back unto our ancient house : So the marriage came to pass. Joyously Savitri passed from her palaces to the hermit's cottage. Eagerly she attended to the least wants of her aged father-in-law and mother-in-law, rejoicing to perform the humblest duties of the household and by her tender ways and loving words enslaved the heart of her husband. But ever underneath all this the fire of secret agony lighted by the words of Narada burned within her soul, and ever she counted the days of the prescribed year. At last the hour appointed for the death of Satya-vat was only four days distant. Then she resolved to seek the help of the Devas by fast and prayer. And all the three days she fasted, taking not a drop of water. Early she rose on the morning of the fateful day, finished the morning rites, and touched the feet of her elders. All the ascetics dwelling in that forest blessed her on that day, saying that she should never know the pangs of widowhood. And when the time came for Satya-vat to go forth with his axe upon his shoulder into the wood for work as usual, she made her heart strong and followed him. He asked in wonder why, but she said she wished to go with him that

कुल केशवदास<sup>१</sup> कहने वाले केशवदान इसके उदाहरण हैं। “प्रथम” और विधेवि” शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा प्रवृत्ति के अनुसार हिन्दी कान्न में तुक का प्रधान और विधिष्ट स्थान है। जाने उत्तम तुक के समतरी, विषमनरि और नष्टरि नाम से तीन भेद करना, मध्यम तुक को असयोगमिलित, स्वरमिलित और द्मिलित रूपों में देखना, मध्यम तुक का अमिल, सुमिल, आर्मिल, अन्तमत्त की दृष्टि से विचार करना एवं बीप्ता, याप और लाटिया के भी लक्षण-उदाहरण विस्तार से प्रस्तुत करना भिन्नारोदास की इस सम्बन्ध में अज्ञानान्तर उपलब्धि की सूचना है।

## रीति के अन्य आचार्य

जैसा कि कहा जा चुका है हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों की नामावलि बहुत लम्बी है और सबका विचार भी आवश्यक नहीं है। जिन चार आचार्यों का ऊपर विचार किया गया है उनमें रीतिकालीन आचार्यत्व का प्रतिनिधित्व देखा जा सकता है। रीतिकाल में तीन निरूपणशैलियाँ मिलती हैं। पहली मागोराग काव्य-निरूपणशैली, दूसरी शृङ्गार-निरूपणशैली और तीसरी अलंकार-निरूपणशैली। भिन्नारोदास का काव्य-निर्णय प्रथमशैली का उदाहरण है। दब का काव्य-रसग्रन्थ भी इन्हीं कीटि का है। केशवदास की “कविप्रिया” मतिराम का “रसरत्न” और भिन्नारोदास का शृङ्गार-निर्णय दूसरी शैली के अन्तर्गत है। महाराज जसवन्त सिंह का “भाषाभूषण” तीसरी शैली का उदाहरण है पर केशवदास की “कविप्रिया” को हम इस शैली का सबसे पहला प्रयोग मानते हैं। इन तीनों प्रकार की शैलियों का प्रतिनिधित्व हम उपर्युक्त चार आचार्यों में देख ही चुके हैं। फिर भी अवशिष्ट नामावली में से चिन्तामणि, कुशनि, और श्रीपति का उल्लेख कुछ विशेष काम का हो सकता है।

चिन्तामणि का प्रमुख लक्षण ग्रन्थ “कविकुलकल्पतरु” है। ऐतिहासिक ऋत में केशवदास के बाद और मतिराम से पहले चिन्तामणि का स्थान है। इन्होंने अपने शान्तीय ग्रन्थ में, काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, काव्य के गुण, रस, दृष्टार्थ-शक्ति, अलंकार आदि को विवेच्य विषय बनाया है और सामान्यतः इन विषयों के सम्बन्ध में बड़ी औचित्य प्रतिपादित किया जा सकता है जो पाँचे स्यात्स्थान अन्य आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थों में कहा जा चुका है। पर कुछ बातें इनकी विशेष भी हैं। उदाहरणार्थ काव्य-गुरु के रूप में इन्होंने रस को

<sup>१</sup> कविप्रिया, प्रभाव २, छन्द १७।

काव्य का जीवित कहा है, आत्मा नहीं ।<sup>१</sup> इसका औचित्य इस रूप में समझा जा सकता है कि आत्म-तत्त्व की दर्शन शास्त्र के अनुसार एक स्वतन्त्र स्थिति भी है जो भूत पिण्ड में कुछ मायना में निरपेक्ष भी कही जा सकती है पर जीवन की सत्ता तथा भूत पिण्ड में असम्पृक्त दशा में अकल्पनीय ही है । फलतः जीवन के आराप में रस की स्थिति भी लोक के सुख दुःखात्मक सस्कारों की प्राग्ज्ञा की अभिव्यक्ति के रूप में सिद्ध प्रामाणित्वाती है । रस वस्तुतः सातवें आचमान का दूक नहीं है वह हमारा ही सस्काररहित भावा की उद्बुद्ध प्रतिपत्ति है जो हमारे जीवन की भाँति ही इस लोक के सधर्म काउदात्त फल है ।

शब्द, अर्थ और रस के दोषों का संज्ञा चिन्तामणि ने इनके अपकर्ष के रूप में माना है । प्राचीन आचार्यों ने यहाँ इनका भेद है कि उन्होंने सभी प्रकार के दोषों को काव्य का अपकर्षक कहा था (शेषाम्पत्त्यापन्नकता)<sup>२</sup> जब कि चिन्तामणि यह मानते हैं कि जो जिस काव्यांग का अपकर्ष है वह उसी का दोष है । तत्पश्चात् दोषा वाना में काव्य उत्तर नहीं है । किसी भी काव्यांग का अपकर्षक दोष परम्परा काव्य का ही अपकर्षक दोष है इस सम्बन्ध में महा कहा जा सकता है कि चिन्तामणि ने परम्परा दृष्टि की अपेक्षा सामान्य दृष्टि का औचित्य अधिक समझा था ।

दोष-निर्हार के प्रसंग में चिन्तामणि ने अन्य बातों के साथ आनन्दवर्धन के वाक्य औचित्य<sup>३</sup> को ज्यों का त्यों सामान्य शब्दों में स्वीकार किया है ।

जहाँ हत परसिद्ध है तहाँ न रहे तन दोष ।

सब अदुष्ट अनुकरण में इनते नहीं नतोष ॥

चिन्तामणि गोपाल को वर्णन करे उगाइ ।

वक्तृदिक औचित्य से दोषों गुण हैं जाइ ॥

(कविकुलकल्पतरु, प्र० ४, ९६-९७)

कल्पति का लक्षणग्रन्थ “रस रहस्य” है । इसमें भी काव्य-लक्षण, काव्य-प्रमाणित काव्य भेद शब्दाथ निरूपण रस निरूपण, काव्य-वृत्तियाँ, काव्य-गुण, अन्तारनिरूपण और काव्य-शेष, यह विषय-संग्रह है । इन वाक्यांगों के

<sup>१</sup> सब नश्य तनु वर्णिन जीवित रस जिय जानि ।

(कविकुलकल्पतरु, प्र० १, ५-७)

<sup>२</sup> साहित्यदर्पण, परि० १, छन्द ३ ।

<sup>३</sup> शब्द अर्थ रस को तु इत देखि परे अपकर्ष ।

दोष कहत हैं ताहि कौ मुन घटनु है हर्ष ॥ (कविकुलकल्पतरु, प्र० ७, १५)

<sup>४</sup> ध्वन्यालोक, ३, ६ ।

नतदस्ति ज्ञापकम् । सिद्धमत्र तदन्ताच्च तदन्तविधिना केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेन । सोऽयमेव सिद्धे सति यदन्तग्रहण करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः सूत्रान्तादेव दशान्तादेवेति ।

मात्र तदन्तादुत्पत्तिं प्राप्नोति । इदानीमेव ह्युक्तं समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध इति ।

सा तह्येषा परिभाषा कर्तव्या ।

न कर्तं या । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकनति । यदयं पूर्वादिनि सपूर्वाच्च स्यात् ।

यह कह ज्ञापक नही । यहाँ सूत्र शब्दान्त या दशन् शब्दान्त से तो तदन्तविधिद्वारा उक्त प्रत्यय सिद्ध हैं । केवल सूत्र या दशन् से व्यपदेशिवद्भावद्वारा सूत्रान्त या दशन् शब्दान्त मान कर सिद्ध हैं फिर ना दोनों सूत्रों में अन्तग्रहण किया है वह इस बात का ज्ञापक है कि यहाँ सूत्रशब्दान्त या दशन्शब्दात् से ही उक्त प्रत्यय हो । केवल को व्यपदेशिवद्भाव से सूत्रान्त दशान्त मान कर न हो ।

उक्त दोनों सूत्रों में अन्तग्रहण के बिना तो तदन्त से उक्त प्रत्यय प्राप्त ही नहीं होता । क्योंकि अभी ऊपर कह चुके हैं समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध । अर्थात् प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती । इसी को दूसरे शब्दों में इस परिभाषा के नाम से कहते हैं ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधनात् । जब प्रत्ययविधि में प्रातिपदिक से तदन्तविधि का निषेध है तो उक्त दोनों सूत्रों में अन्तग्रहण किया बिना सूत्रान्त या दशान्त से प्रत्यय न हाकर केवल सूत्र या दशन् शब्द से प्राप्त होगा । य केवल से न बल्कि सूत्रान्त या दशान्त से ही हों इस लिये वहाँ अन्तग्रहण करना सफल हो जाता है । उसमें भी यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव द्वारा केवल सूत्र या दशन् का भी सूत्रान्त या दशान्त मान कर उक्त प्रत्यय करना चाहें तो अन्तग्रहण सबया न्यर्थ हो जाता है । इस प्रकार इसी अन्तग्रहण से ये दोनों परिभाषाय शपित हो जाती हैं कि—ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधनात् और व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ।

तो फिर व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन यह परिभाषा बना दें ।

कोई आवश्यकता नहीं । अन्यत्र भी आचार्य के व्यवहार से यह परिभाषा

नतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् ।  
सपूर्वादिनि वक्ष्यामीति ।

यत्तर्हि योगविभागं करोति । इतरथा पूर्वात् सपूर्वादिनि इत्येव  
व्यात् ।

किं पुनरयमस्यैव शेषस्तस्य चेति ।

नेत्याह । यद्यानुक्रान्तं यद्यानुक्रस्यते सर्वस्यैव शेषस्तस्य चेति ।

ज्ञापित हो जातो है । आचार्य ने जो पूर्वादिनि, सपूर्वाच्च यह दो सूत्र बनाये हैं  
वही इस परिभाषा का ज्ञापक है । यदि प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव होता तो  
केवल पूर्वशब्द को ही व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्वक (विद्यमानपूर्वक) मान कर  
सपूर्वाच्च सूत्र से ही केवल पूर्व शब्द से भी इनि सिद्ध हो जाता । और पूर्वात्  
यह व्यर्थ होता ।<sup>१</sup>

यह कोई ज्ञापक नहीं । पूर्वादिनि सूत्र के पृथक् बनाने का तो अन्य  
प्रयोजन है । क्या ? यह कि आगे सपूर्वादिनि ऐसा पदोग उसमें पूर्वादिनि  
क अभाव में विद्यमान पूर्वक पूर्वशब्द व्यतिरिक्त से भी इनि प्रत्यय होने  
लगेगा, जो अनिष्ट होगा । पूर्वादिनि के रहने पर तो उसकी अनुवृत्ति होने पर  
विद्यमानपूर्वक पूर्व शब्दान्त से ही इनि होगा तिससे कृतपूर्वी (कटम्) इत्यादि  
इष्ट प्रयाग सिद्ध हो जायगे । अतः पूर्वात् यह अर्थ व्यर्थ न होने से ज्ञापक नहीं  
हो सकता ।

पूर्वादिनि के बनाने का यदि यही प्रयोजन है तो योगविभाग किस लिये  
किया है । फिर तो पूर्वादिनि सपूर्वाच्च ये दो सूत्र न बना कर पूर्वात् सपूर्वादिनि  
यह एक सूत्र बनाना ही पर्याप्त है । उस एक सूत्र से भी पूर्वी और कृतपूर्वी  
यहाँ दोनों जगह इनि हो सकता है । योगविभाग से स्पष्ट है कि केवल  
पूर्व को व्यपदेशिवद्भाव से सपूर्व कहा माना जायगा । पूर्वादिनि सूत्र केवल  
पूर्व से ही इनि करेगा । इष्ट है कि विद्यमानपूर्वक से भी इनि हो । उसके  
लिये सपूर्वाच्च यह पृथक् सूत्र बनाना सफल हो जाता है ।

तस्य च यह वचन क्या केवल रोणी शब्द के ही स्वरूपग्रहण के लिये है ?

नहीं । जो कहे जा चुके या कहे जायेंगे उन सभी के स्वरूपग्रहण के  
लिये तस्य च यह वचन है ।

१ पूर्वादिनि सूत्र में पूर्वात् यह अर्थ ज्ञापक है ।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ ।

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ प्रयोजनम् । रथ्य । परमरथ्यः । सीत्य  
परमसीत्यम् । हल्या परमहल्या ।

सुसर्वाधदिक् शब्देभ्यो जनपदस्य ।

सुसर्वाधदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य प्रयोजनम् । सु—सुपाञ्चालकः  
सुमागधक । सर्व—सर्वपाञ्चालकः सर्वमागधकः । अर्ध—अर्धपाञ्चालकः ।  
अर्धमागधक । दिक्शब्द—पूर्वपाञ्चालक । अपरपाञ्चालकः । पूर्वमागधकः ।  
अपरमागधकः ।

ऋतोर्बृद्धिमद्विधावयवानाम् ।

ऋतोर्बृद्धिमद्विधावयवानां प्रयोजनम् । पूर्वशारदम् । अपरशारदम् ।  
पूर्वनैदाघम् । अपरनैदाघम् ।

रथ सीता हल शब्दों से यत् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे  
रथ्यम्, सीत्यम्, हल्या महा क्रम से तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् नौवयाधर्मावपमूल-  
मूल०, मतजनहगात् करणन्यक्केषु इन सूत्रों से रथ सीता हल शब्दों से यत्  
होता है वैसे तदन्तविधि से परमरथ परमसीता परमहल से भी हो जाता है ।

सु सर्वे अर्धे दिक् शब्दों से परे जनपदवाची शब्द से प्रत्यय करने में  
तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे पाञ्चालक मागधक यद्वा पञ्चाल मागध  
शब्दों से भव अर्थ में जनपदतद्वध्योश्च से अनुवृत्त अश्रद्धादपि बहुवचनविपयात्  
से पुन् प्रत्यय होता है वैसे तदन्तविधि से सुपञ्चाल सुमागध, सर्वपञ्चाल, सर्वमागध,  
अर्धपञ्चाल अधमागध, पूर्वपञ्चाल पूर्वमागध शब्दों से भी हो जाता है । इन सब में  
सुसर्वाधजनपदस्य दिशाऽमग्राणम् इन सूत्रों से यथाविहित उत्तरपद वृद्धि भी हो  
जाती है ।

अवयवाहता से होने वाली उत्तरपदवृद्धि में ऋतु के अवयवों का तदन्त  
ग्रहण में प्रयोजन है । पूर्वशारदम् इत्यादि । जैसे शरदि भव शारदम् यद्वा सधिवेला-  
वृत्तुनक्षत्रेभ्योऽण् ॥ अण् होता है वैसे शरद पूर्वोऽवयव पूर्वशरत् । यद्वा  
एकदेशि तरपुरुष समास में शरत् शब्दान्त से भी तदन्तविधि ॥ हो जाता है ।  
निदाघे भवम् नैदाघम् । पूर्वनिदाघे भवम् यद्वा भी सन्धिवेला० से अण् होकर  
पूर्वनैदाघम् बन जाता है । इन सब में अवयवाहता से उत्तरपद वृद्धि होती है ।

ठन्विधौ संख्यायाः ।

ठञ्जिधौ संख्यायाः प्रयोजनम् । द्विपाष्टिकम् । पञ्चपाष्टिकम् ।

धर्मान्नजः ।

धर्मान्नजः प्रयोजनम् । धर्मं चरति धार्मिकः । अधर्मं चरति अधार्मिकः ।  
'अधर्माच्च' इति न वक्तव्यं भवति ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च ।

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम् ।

संख्यायाः. संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु इस सूत्र से संख्यावाची शब्द से ठन् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे पष्टि पारमाणमस्य पाष्टिकम् यहाँ पष्टि शब्द में प्राग्वतीय ठज होता है वैसे तदन्तविधि से द्विपष्टि से भी हो जायगा तो द्विपाष्टिकम् बन जाता है । संख्यायाः सवन्सरसंख्यस्य च से यहाँ उत्तरपद वृद्धि भी हो जाती है । द्विपष्टि इस तद्विधौ द्विगु समास में हुए ठन् प्रत्यय का अभ्यर्थपूर्वद्विगोल्लेखसङ्ख्यायाम् से लुक् तो नहीं हाता । क्योंकि तदस्य-परिमाणम् में तद् यह पुनः समर्थविभक्ति का जो निर्देश किया है उससे लुक् का अभाव ज्ञापित होता है । अन्यथा सोऽस्यासवस्त्वभूतय से सोऽस्य की अनुवृत्ति आ ही रही है । फिर तदस्य कहना व्यर्थ है ।

नञ् ॥ परे धर्म शब्द से प्रत्यय करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे धर्मं चरति धार्मिकः यहाँ धर्म शब्द से चरति अर्थ में ठक होता है वैसे तदन्तविधि से नञ् पूर्वक अधर्म शब्द से भी हो जायगा तो अधार्मिकः बन जाता है । तदन्त का ग्रहण हो जाने से यह लाभ भी होगा कि अधर्माच्च यह वार्तिक नहीं बनाना पड़ेगा ।

पदाधिकार और अङ्गाधिकार में उस पठित शब्द का तथा वह पठित शब्द है उत्तरपद में जिसके उसका भी ग्रहण होता है ऐसा कहना चाहिये ।<sup>१</sup>

१ यहाँ पदाधिकार शब्द से दोनों पद के अधिकार लिये गये हैं । एक तो पदस्य सूत्र से विहित अष्टमाध्यायस्य पदाधिकार । दूसरा अलुगुत्तरपदे से विहित उत्तरपदाधिकार । उत्तरपद में उत्तर शब्द का लोप करके उसे भी पदाधिकार माना गया है । षष्ठाध्यायस्थ समस्त तृतीय पाद उत्तरपदाधिकार एव पदाधिकार यहाँ



पदाधिकारे किं प्रयोजनम् ?-

प्रयोजनमिष्टकोषाकामालानां चित्तुलभारिषु ।

इष्टकेपीकामालानां चित्तुलभारिषु प्रयोजनम् । इष्टकचित्तु चिन्नीत । पक्केष्टकचित्तु चिन्नीत । इपीकतूलन । मुञ्जेपीकतूलेन । माल-  
भारिणी कन्या । उत्पलमालभारिणी कन्या ।

अङ्गाधिकारे किं प्रयोजनम् ?

प्रयोजनं महदप्स्वसुनप्तृणा दीर्घविधौ ।

महान् । परममहान् । अप्—आप् । तिष्ठन्ति स्वापस्तिष्ठन्ति ।  
स्वस्व—स्वसा स्वसारौ स्वसारः । परमस्वमा । परमस्वसारौ । परम-  
स्वसारः । नप्तृ—नप्ता नप्तारौ नप्तारः । एव परमनप्ता परमनप्तारौ  
परमनप्तारः ।

पदयुष्मदस्मदस्थ्याद्यनदुहो नुम् ।<sup>१</sup>

पदभाज प्रयोजनम् । द्विपदः पश्य ।

पदाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

इष्टकेपाकामागानां चित्तुलभारिषु इस सूत्र में उदन्त का ग्रहण प्रयोजन  
है । जैसे इष्टकचित्तुम् इत्यादि में चित्तु आदि उत्तरपद पर रहते ह्रस्व होता  
है वैसे तदुत्तरपद का ग्रहण हान से पक्केष्टकचित्तुम् आदि में भी हो जाता है ।

अङ्गाधिकार में क्या प्रयोजन है ?

महत् अप् स्वस्व नप्तृ शब्दों को दीर्घ करने में तदुत्तरपद का ग्रहण  
प्रयोजन है । जैसे महान् यद्वा महत् अङ्ग को सान्तमहत् सप्तस्य स दीर्घ  
होता है वैसे परममहान् यद्वा महदुत्तरपद पद में भी हो जाता है । आप स्वसा  
नप्ता यद्वा नप्त अप्स्वसुनप्तृस्वस्व० स दीर्घ होता है वैसे स्वाप परमस्वमा  
परमनप्ता यद्वा तदुत्तरपद में भी हो जाता है ।

अङ्गाधिकार में पद आदेश, युष्मद् अस्मद् क आदेश, अस्थि आदि के आदेश,  
विवक्षित है । अङ्गाधिकार का अङ्गस्य से विहित पञ्चाध्यायस्थ चतुधवाद स लेकर  
सम्पूर्ण सतमा याव तक प्राप्त हो है ।

१ यहाँ पदयुष्मदस्मदस्थ्यादि यह एक समस्तपद है, अनदुह यह दूसरा  
असन्त पृथक् पद है । ऐसा होने पर ही नुम् का अन्वय अनदुह क साथ हो जाता है ।

अस्ति चेदानीं कश्चित् केवलः पाच्छब्दो यदर्थो विधिः स्यात् ।

नास्तीत्याह ।

एवं तर्हि अङ्गाधिकारे प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा पदाधिकारस्य प्रयोजनमुक्तम् । 'हिमकापिहतिषु च' । यथा पत्कापिणौ पत्कापिणः । एवं परमपत्कापिणौ । परमपत्कापिणः ।

यदि पदाधिकारे पादस्य तदन्तविधिर्भवति । 'पादस्य पदाज्या तिगोपहतेषु' यथेह भवति पादेनोपहतं पदोपहतम् । अत्रापि स्यात्— दिग्धपादेनोपहतं दिग्धपदोपहतम् इति ।

और अनङ्गुह शब्द को तुम् आगम ये तदन्त ग्रहण के प्रयोजन हैं । पञ्चाव जैसे—द्विपद पर्य । यहाँ पाद् शब्दान्त द्विपाद् शब्द को पाद पत् से पद् आदेश हो जाता है । द्वौ पादौ यस्य स द्विपाद् । बहुव्रीहि समास में संख्यासुपूर्वस्य से पाद् शब्द के अन्त्य अकार का लोप हु कर पाद् बन जाता है । उसे शस् में पद् होता है ।

क्या कोई अकेला पाद् शब्द भी है जिसके लिये पाद. पत् यह सूत्र चरितार्थ हो सकता हो । यदि नहीं है तो स्वयमेव उत्तरपद में पद् आदेश होगा उसके लिये पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च इत्यवचन द्वारा पद्भाव प्रयोजन यताना व्यर्थ है ।

नहीं है । अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है ।

इस लिये अङ्गाधिकार में यदि पद् आदेश प्रयोजन नहीं है तो पदाधिकार में पदादेश का प्रयोजन कहा हुआ समझ लीजिये । हिमकापिहतिषु च सूत्र से जैसे पत्कापिणौ पत्कापिण यहाँ केवल पाद शब्द को पद् आदेश होता है वैसे पादशब्दोत्तरपद परमपत्कापिणौ परमपत्कापिण यहाँ भी हो जाता है । हिमकापिहतिषु च यह सूत्र पष्ठाध्यायस्य तृतीय पाद के उत्तरपदाधिकार का है ।

यदि पदाधिकार में पाद शब्द से तदन्त का ग्रहण होता है तो जैसे पादेनोपहतं पदोपहतम् यहाँ पादस्य पदाज्याति० से पद् आदेश होता है वैसे दिग्धपादेनोपहतं यहाँ पादशब्दान्त से भी होकर दिग्धपदोपहतं बन जाना चाहिये ।

१. वस्तुतः हलन्त पद् आदेश करने में ही नार्तिक में पाद से तदन्तविधि

एवं तर्ह्यङ्गाधिकार एव प्रयोजनम् ।

ननु चोक्तं न केवलः पाच्छब्द इति ।

अयमस्ति पादयतेरप्रत्ययः पात् । पद् । पदा । पदे ।

युष्मद् अस्मद् । यूयम् वयम् । परमयूयम् । परमवयम् । अस्थ्यादि ।

अस्थ्ना दध्ना सक्थ्ना । परमास्थ्ना । परमदध्ना । परमसक्थ्ना ।

अनङ्गुहो नुम् । अनङ्गवान् । परमानङ्गवान् ।

ठीक है । इस लिये पदाधिकार को छोड़ कर अङ्गाधिकार में ही पद आदेश प्रयोजन समझिये ।

यह जो कहा था कि अकेला पाद् शब्द कोई नहीं है जिसके लिये पद आदेश प्रयोजन बनता हो ।

अकेला पाद् शब्द भी है देखिये—पादयतेरप्रत्यय पाद् । निजन्त पादि धातु से बिप् प्रत्यय पर रहते उपधातुदि और णिलोप होकर पाद् बन जाता है । बिप् का समापहारी लोप हो जाता है । अप्रत्यय = अविद्यमान प्रत्यय = बिप् आदि । पाद् शब्द से शस् आदि पर रहते भसज्ञा होकर पद् आदेश हो जायगा तो पद पदा पदे इत्यादि रूप बन जायेंगे । इस प्रकार पञ्जाव प्रयोजन अङ्गाधिकार में बन जाता है ।

इसके अतिरिक्त—युष्मद् अस्मद् के आदेशों में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे यूयम् वयम् यहाँ युष्मद् अस्मद् को यूय वय आदि आदेश होत हैं वैसे परमयूयम् परमवयम् यहाँ तदन्त में भी हो जाते हैं । शस्थिदधि० सूत्र से अनङ् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है ।

जैसे अस्थ्ना दध्ना सक्थ्ना में केवल अस्थि आदि शब्दों से भसज्ञा में अनङ् होता है वैसे परमास्थ्ना आदि तदन्त में भी हो जाता है ।

अनङ्गुह को नुम् करने में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । जैसे अनङ्गवान् में सावनङ्गुहः से नुम् होता है वैसे तदन्तग्रहण होकर परमानङ्गवान् में भी हो जाता है ।

या प्रयोजन कहा है । अजन्त पद आदेश करने में नहीं रखा गया है इस लिये दिग्धपादेनोपहतम् में पादशब्दान्त में पद आदेश की प्राप्तिशङ्का ही अनुपपन्न है ।

युपधिमथिपुगोसखिचतुरनहुत्तिग्रहणम् ।

प्रयोजनम् । घौः । सुघौः । पन्थाः सुपन्थाः<sup>१</sup> । मन्थाः परममन्थाः । पुमान् । परमपुमान् । गौः । सुगौः । सखा । सखायौ । सखायः । सुसखा । सुसखायौ । सुसखायः । परमसखा । परमसखायौ । परमसखायः । चत्वारः । परमचत्वारः । अनद्वाहः । परमानद्वाहः । त्रयाणां परमत्रयाणाम् ।

त्यदादिनिधिभस्त्रादिस्त्रीग्रहण च ।

प्रयोजनम् । सः । अतिसः । भस्त्रका । भस्त्रिका । बहुभस्त्रका । बहुभस्त्रिका । निर्भस्त्रका निर्भस्त्रिका । स्त्रीग्रहण च प्रयोजनम् । स्त्रियौ स्त्रियः । राजस्त्रियौ राजस्त्रियः ।

वर्णग्रहण च सर्वत्र ।

प्रयोजनम् । क । सर्वत्र । अङ्गाधिकारे चान्यत्र च । अन्यत्रोदाहृतम् । अङ्गाधिकारे 'अतो दीर्घो यञि सुपि च' । इद्वैव स्यान् आभ्याम् । घटाभ्याम् इत्यत्र न स्यान् ।

दिव् पथिन् न धन् पुंस गो सखि चतुर अनहुड और त्रि इन्दो मे अङ्गाधिकारीय कार्य करने मे तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । यौ. सुघौः नादि सब उदाहरण स्पष्ट हैं । सब मे तदन्तनिधि होकर यथाविहित कार्य हो रहे हैं । सुपन्था पुगा. सुसखा यज्ञो तत्पुरुष समास में न पूजनात् से समासान्त निषेध हो जाता है । परमसखा परमसखायौ में बहुव्रीहि समास है । तत्पुरुष मे तो समासान्त टच् प्राप्त होता है ।

त्यदादि भस्त्रादि और स्त्री शब्द के अङ्गाधिकारीय कार्य में तदन्त का ग्रहण प्रयोजन है । सः । अतिम । गोमन. स. । यज्ञो पूजार्थक अति शब्द में तद् शब्द उपसर्जन नहीं है तो तदन्त ग्रहण से सर्वनामसज्ञा के कार्य हो जाते हैं । बहुभस्त्रका बहुभस्त्रिका में भरुपाजाज्ञादास्या नन् पूर्वानामपि से इत्वं-विकल्प हो जाता है । तदन्तविधिका यह लाभ भी है कि नन्पूर्वानाम् ग्रहण नहीं करना पड़ता । राजस्त्रियौ राजस्त्रिय मे स्त्रिया. से इयङ् हो जाता है ।

वर्णग्रहण में तदन्त का ग्रहण सब जगह प्रयोजन है । सब जगह कहां ?

१. न पूजनात् से यहाँ समासान्त का निषेध है । पूजार्थ में यहाँ सु अति का ही ग्रहण दृष्ट है ।